

श्री

नानाधर्मनिष्ठ, निगमनामभद्रापरायण सौम्यमूर्ति, सद्गुरुविराजित

दानवीर

सर्पभी घाननीय भ पिप्रवर

श्रीकुडीलालजा महोदय सेक्रेटरिया क सौजन्य स

'श्रीगोविन्दरामचेरेटीट्रस्ट इन्वॉर' (मालवा)

द्वारा प्रकाशित

मत्स्यद्वारास्तपयिदशा

वि. सं. १०१०

श्री

महामण्डलवैद्य महाराज

श्रीगोविन्दरामजी मेकसरिया

की

विमलस्मृति का सम्बन्ध में दा शब्द

महाप्राण मरुमण्डलवैभवंश भेष्टिप्रवर

• स्व० श्रीगोविन्दरामजी सेकसरिया की विमिश्र स्मृति के सम्बन्ध में—

— प्रस्तुत प्रकरण में दो शब्द निवेदन कर देना भारतीय आर्यसनातन आम्नाय के द्वारा अनु-
 प्राप्ति 'वृत्तज्ञता-समर्पण' दृष्ट्या न केवल प्रासंगिक ही, अपितु आनुरासधर्मविधिया अनिशार्थ्य कर्त्तव्य
 भी माना जायगा। अनुमानतः वि० सं० १६८६ से आरम्भ कर वि० सं० १६९६ पर्यन्त (सन् १६०६
 से सन् १६१२ पर्यन्त) निगमपुरुष (वेदरात्र) की उपसना को सफ़ाई एवं सुफ़ाई बनाने की
 क्रमना से माविदात्त-करण इस कथि ने मन्त्रप्रणयन-प्रबन्धकारान-प्रचारयात्रामागमन से अत्रतत्र प्रचार
 आदि जिन बाह्य साधनों को प्रतीकविधा से माध्यम बनाया गया, उन साधनों को प्रमुख सीमापर्यन्त
 आन्तरिक प्रमाणित करने वाले माध्य सहयोगियों के परिगणन में महाराष्ट्रप्रान्त बङ्गप्रान्त एवं गुजरातप्रान्त के
 वतुप्रान्तीय साहित्यानुगामी ही प्रधान स्वम्भ प्रमाणित होते रहे। त्रयोदश (१३) व्यापारिक इस अवधि
 में घुणाकरन्यायेन यदि द्वि-त्रि-चक्रप्रान्तीय माध्य-सहयोगी उपलब्ध हुए भी, तो इसका भेय भी
 विशेषतः गुजरातप्रान्तीय प्रधान स्वम्भों की प्रेरणा का ही सुपरिग्राम था। अतएव इस दिशा में हम अपने
 अभिजन-देश की सम्पन्न विमृतियों के मार्मिक स्वरूप से प्रायः अपरिचित हो बने रहे।

हैं सम्भवतः सन् ३६ में पाटल-विषटित बङ्गयात्रा में मा० सर्वश्री वैशीशङ्करजी शर्मा के
 आलोचन्य 'लक्ष्मणाय' ग्रन्थ-परिचय कथा लघोयामा से श्रीकनेररायगौरव भेष्टिप्रवर माननीय स्व०
 श्रीविन्सीवरजी जालान महोदय से अवसर ही हमारा निकटतम सम्पर्क स्थापित हुआ था, जिनके
 महोदयकीयान् व्यक्तिस्व की महती स्मृति से हम सदा आत्मप्रिभार बने रहेंगे। आपही के सहयोग
 से तत्स य के प्रकरणों में सहस्रपुस्तक दो गीतान्तक कलकत्ता में ही प्रकाशित हुए थे। एव उस
 लघोय महानत्मा की वेसी सार्विक क्रमना की कि, हमें अपने अभिजनकेन्द्र (जयपुर) निवास का मोह

• हमारी वेसी क्रमना थी कि, पाश्चात्तिक शरीर से सर्वथा दूरा, किन्तु महाप्राण १२० सेक
 सरियाजी का तथा उनके सुपुत्र निगमागमिज्ञापरगण मौम्यमूर्ति सधर्म माननीय भेष्टिप्रवर
 भाकुं-साम्भजी सेकसरिया का पित्र भी प्रस्तुत प्रकरण में प्रकाशित किया जाता। किन्तु आम्ह करने
 पर भी मा० श्रीकुङ्किताजी ने इस खोकेपणरमक दृष्टिकोण का समर्थन न किया। अतएव बिबरातायरा
 हम अपनी इस प्रासंगिक क्रमता को हम प्रकरण में मूलतः न दे सके। अवसर ही किसी क्रमिम
 प्रकरण में इन दोनों महानुमाओं के पूर्ण परिचय के साथ विजयदशरत के सम्बन्ध में भी हमें अपनी
 सहस्र स्वतन्त्र मनोमूर्ति का अनुगामी बन हो जाना पड़ा।

परित्याग कर ब्रह्मभूमि का ही भविष्य के लिए केन्द्र बना लेना चाहिए। इसी संघा (शर्त) पर वे हमारे सम्पूर्ण साहित्यिक-संस्कृतों को सवात्मना अन्वर्ध बनाने के लिए सन्नद्ध भी हो गये थे, जो-सन्नद्धता में वनपति के एक सहस्र सहस्र वसात्र से अनुप्राणित थी। किन्तु अनेक क्षरकपरम्पराओं के निमग्ननुमह से व सम्मोहा अन्वर्ध रूप में परिणत न हो सके, जिसमें मुख्यकारण इस महानाम्ना का असमय में ही स्वर्ग गमन बन गया। तद्विपि इनके कनिष्ठप्राता माननीय भेष्टिप्रवर श्रीवैष्णवायजी जालान महोदय व गाङ्गेकरोत्प्रेयस निर्मल सीहाह यथापूर्व अधावधि प्रकल्प है, जिसके परित्यागस्वरूप इनका स्वाधिक महोत्सा यथा कदा हमारी हस्तद्वय को अभिगन्त करता रहता है।

अब विहित नैगमिक साहित्य अनुमानत वहिसहस्रद्वयावधि की सीमा का भी अतिशयत व गया तो इसके आत्मनायानुगत प्रचार की रिचरता के लिए एक 'विद्यापीठ' का संकल्प जगत्क दुष्म जिसे मूर्धरूप प्रधान की अमना से सब ४० के आरम्भ में 'बन्धव्यायत्र' लक्ष्य बनी जिसके कर्तव्य बने वत्रत्य मात्साङ्गान्तानिवासी बयाहुइ निवातनैष्ठिक सर्वभी भेष्टिप्रवर श्रीबलजी-कृपानजी देवें बाल (गुजरती)। इनकी प्रयुक्तता में ही अक्षरपूर्ति के लिए प्रधानतः गुजरसमाज में ही निरन्तर वीन मात्सप्यन्त प्रचारअर्थ्य प्रकल्प रहा। और इस मात्सिक महामानव के अक्षय-अक्षय अम्भवसा एवं प्रत्यस्ताक्षिस्तुत्पन्न के परित्यागस्वरूप यथा आभास होने लग्य इस प्रत्यन्विचार में कि, मानों अक्ष आत्मा परिपूर्ण गुजरती समाज के द्वारा ही 'गद्यप्रतीता बहैत, गद्यस्य तु न किञ्चन'। इस का सरखी के अनुसार सर्वसमा मही या अरात अक्षय हो अक्षरपूर्ति हो जायगी।

कात्रोपराममलप्रो में श्रीबलजी के द्वारा वह सुना गया कि, वे हमारा ही प्रत्य (रोक्तावादीमा के सुप्रसिद्ध न जगद् जगन्त) के किसी सुविद्ययत वनपति के समापदित्व में अक्ष को सर्वसम सफल बनाने की अमना से एक हस्तयोमन कर रहे हैं। प्राबाहिक-मात्सानुगतिक युगनुसार आत्मा आटोप के साथ परिपूर्ण हुआ। और इसी आयोजन में हमारा ध्यान महामहद्वयैकवय (कुंवर कृष्ण, किन्तु महाप्राण उस प्रतिमासम्पन्न मानवभेष्ट की ओर आर्कित हुआ जिसके आत्मि परिचय में ही हमने वह अनुभव कर लिया कि यदि इस महाप्राण व्यक्ति का ध्यान प्रस्तुत लक्ष्य और आर्कण हो सके तो राजपत्तनप्राप्त का अक्षिसमाज सम्पत्तिक्षेत्रवत् सारस्वतक्षेत्र में भी सर्वसम गौरवान्तर प्रमादित हो सकेगा।

अपनी ईश्वरप्रवृत्त महस्र अक्षयमायिकी प्रविभा के बल पर इस व्यक्ति ने आपनी आरम्भ सामान्यसंस्कृत का कालान्तर में आपन आपका किस महती निष्ठा पर प्रविष्टित कर लिया इस इति

+ गद्यस्य दाता हीयत, गद्यस्य तु न किञ्चन।

गद्यप्रतीता बहैत गद्यस्य तु न किञ्चन ॥

की रूपरेखा ने न केवल भारतीयों को ही, अपितु अमेरिका के धनपतियों को भी प्रभावित कर दिया था। अथर्व ही ऐसे मानव का इतिहास, ऐसे मानव के अव्यक्त छत्साइ का, सहस्रप्रतिभा का, प्रत्युत्पन्न-मतिराजिता का इतिहास व्यवसायक्षेत्रानुगामियों के लिए एक रहस्यपूर्ण राजपथ ही माना जायगा, जिसके आंशिक अनुसरण से भी इस क्षेत्र में आशाहीन सफलता प्राप्त की जा सकती है।

सर्वथा दुर्बलरारीर, किन्तु प्रशस्तललाट, मृतीरुण नेत्रपटल, मार्मिक सुसूक्ष्मेक्षण, सामान्यवैराग्य, सुप्रसिद्ध मरुप्रान्तीय उष्णीष (पगड़ी), जिसके पृष्ठभाग का बन्धन (पेच) यशस्वता सहस्रमात्र से स्तब्धित रहने वाला इत्यादि बाह्यकर्मप्रकारों से सहसा अपने महान् उभा रहस्यपूर्ण व्यक्तित्व से सहसा प्रभावित कर देने वाले मरुप्रान्तीय इस अप्रत्यक्षसायी मानव ने सर्वथा सामान्य स्थिति में मोह मयीनगरी (बम्बई) को अपने प्रतिमाप्रसार का केन्द्र बनाया। माननीय स्व० भीमोत्तारामजी, स्व० भीमकृष्णलालजी, स्व० भीरामनाथजी, अपन इन तीनों आत्मिक अनुजों के माध्यम से श्री गोविन्द रामजी न व्यवसायक्षेत्र में जैसी आश्चर्यकरिणी सफलता प्राप्त की वैसी अन्यत्र सहसा अनुपलब्ध है। सुनते हैं, एकबार वैरामाय्य सर्वभी गांधीजी ने आपका आविर्भाव महसूस करते हुए विनोद में जब आपसे यह प्रेरणा की कि, 'आप इतने धन का क्या करेंगे क्यों नहीं इसे राष्ट्रिय कोरा में दे डालते', तो आपने अपनी प्रतिमापूर्ण प्रत्युत्पन्नमति से उत्तर दिया कि 'महाराज' इस धन की कृता म ही तो आपने मेरे जैसे सामान्य व्यक्ति का आविर्भाव स्वीकार किया है। क्या यह राष्ट्रिय सेवा कम है"।

अपनी सहस्र प्रतिभा के बल पर अर्जित महान् धन की सुव्यवस्था के साथ साथ आपने जिस उदारता से भारतीय 'कौटुम्बिक व्यवस्था' के सनातन आदर्शों को सत्य में रूपांतरित हुए जिम 'सम विमज्जरेण' सिद्धान्त को अपनाया वह भी वर्तमानयुग के लिए एक महान् आदर्श का क्षेत्र प्रमाणित होग। सम्पूर्ण सम्पत्ति का अर्जन हुआ एकमात्र आपकी सहस्र प्रतिभा के बल पर एवं विभाजन हुआ इनका चार भागों में। वास्तव में वर्तमानयुग में दायविभागात्मक मंषों की दुलना में यह समीकरण आदर्श ही माना जायगा। अपने आर्थिक सत्ताकाल में आपने व्यवसाय प्रसार का अविरक्त राष्ट्रिय-सामाजिक कायों में अपनी मुक्तहस्तता का परिचय प्रदान करने के साथ साथ विविध शिक्षा-क्षेत्रों में भी पूर्ण सहयोग प्रदान किया है जिसका एक बहुत बड़ा इतिहास है। जीवन का अन्तिम वर्षों में आपने एक काठिपरिमित (एक कराइ) धन की राशि ट्रस्ट कर दी थी जो आज 'भीमोत्तारामचैरेटीट्रस्ट-इन्दार (मालवा)' नाम से प्रसिद्ध होता हुआ ट्रस्ट का सयोग्य मन्त्रालयों के द्वारा ट्रस्ट के माध्यम आपति सर्वभी कुशीलासजी सेक्युरिया की साप्ताहिक प्रेरणा-परामर्श म प्रतिवर्ष लाखों २० मन्त्रालयिक राष्ट्रिय एवं शिक्षा क्षेत्रों में उपयोग करता हुआ भीमोत्तारामजी के यशस्वीरूप का साक्ष्य प्रदान कर रहा है।

हमें दुःख है कि, परिचय के कुछ ही समयान्तर श्रीगोविन्दरायजी के विरगत हो जाने से वत्सलमय में हमें अपने साहित्यिक संकल्पों को अन्वर्थ बनाने का अवसर न मिल सका, और वो महत्त्वपूर्ण से प्राप्त वह महती सहयोगप्रदाना वत्सलमय में केवल संकल्परूप से ही सुरक्षित बनी रह गई। सन् ४२ से आरम्भ कर अनुमानतः सन् ४८ पर्यन्त पुनः 'पुनस्तप्रीवावलुम्बितोवेतास्त' की क्वासना प्रक्रमण रक्खनी पड़ी। अनन्तर सहसा सम्भवतः ही क्यों निरवधेनैव वस ६० महानात्मा की क्मना-प्रेरणा के अनुग्रह से ही वत्सलयोग्य पुनः श्रीकुर्वीकाशजी सेकसरिय का ध्यान एक मैट्रिक प्राथम-संस्कृतनिष्ठ महामानव के माध्यम से इस कार्य की ओर आकर्षित हुआ। श्रीसेकसरियाजी के विद्यार्थी सर्व्वी माननीय मदनमोहनजी शुर्मा (जो वर 'मास्टरसाह' (साहिब) अभिना से सुप्रसिद्ध हैं) के प्रति कृतज्ञता अभिव्यक्त करनी चाहिए। श्रीकुर्वीकाशजी के शुभचिन्तकों को जिनके सहायगनैरन्तर्य के अरव ही श्रीसेकसरियाजी अपनी वैज्ञिक आत्मा-महा-निष्ठा का उत्तरोत्तर प्रमित पन्नाबिन करने में समर्थ बन सके हैं। इसी मानवजोष की कर्तव्यीन आकर्षिक किन्तु सहायप्रेरणा से हमें श्रीसेकसरिया जी के निकट सम्पर्क में आने का महत्त्वपूर्ण प्राप्त हुआ जिससे सम्बन्धित अभावमात्रपरम्परानुप्राणित इतिवृत्त भी साहित्यसंविद्यों के लिए एक पत्रपर्याप्त आकाङ्क्ष प्रमाहित होगा।

वत्सलपुत्रा, सौम्यमूर्ति, मन्त्रहासमुत्तरित आकर्षक बाह्यरूप, आदि सौम्यमात्रों से आपत्तमस्तक मुसमन्वित प्रतीत होने वाले श्रीकुर्वीकाशजी के सहज व्यक्तित्व का पञ्चार्थस्वरूप परिचय प्राप्त कर लेना भी वैद्य ही दुरविकल्प है। जैसे कि इनके ६० पिताजी के सहज सामान्य बाह्य अनुबन्धमात्रों के आधार से वनक आध्यत्म्य प्राप्ति-स्वरूप सर्वसाधारण के लिए सर्व्वथा दुरविकल्प था। 'पिता मैं ज्योतः पुत्रः' इस विद्यान्त को अचररा परिचय सरने वाले श्रीकुर्वीकाशजी में वन समस्त वैज्ञिक गुणों का वीरगुरुत्वात् से समावेश हुआ है। गान्धर्व्वता है अनुकूल रहा-दुर्ग के द्वारा वन महत्त्व वीर को प्रुपित पञ्चवित करने के लिए वनवतावरणालुवर्गिनी युगधर्म्मनुगता अकर्मण्यपरम्परान्तों के निरोध की। श्रीवत्सलता जगन्मात्र स वही क्मना है कि, प्राथमसंस्कृत के संरक्षण-कर्म में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त हमारे इस आत्मीय महान् सहयोगी को वत्सलवर्गिणस में वह पूर्ण सफलता प्रदान करे। इसी संक्षिप्त विमलसूक्ति के अर्थ वह वत्सलवर्गिणकी परिचयरूपरेखा ऊपर हो रही है। हम आग्रह करेंगे ट्रस्ट के मन्त्र सञ्चालकों से इस सम्प्रदाय में कि श्रीगोविन्दरायजी के परा कल्पन के लिए मही अपितु मानव मात्र की सहज प्रतिभा को उद्बुद्ध करने में सर्व्वप्रथमा सहायक तथा पत्रपर्याप्त श्रीगोविन्दरायजी के सहज प्रतिभापूर्ण व्यवसायनिष्ठ जीवन क इतिवृत्त को शीघ्र से शीघ्र विविष्ट, तथा प्रचरित करने के अभिवाध्य कर्तव्य को ओर न आकर्षित होंगे।

श्रीमानवाभमसिधायि, दुर्गापुरा

आवण्युक्तवर्गोदरो वि स १

पारवाक —

मोदीचानशम्भा

भारद्वाज

अथ

स्येष्टचतुष्टयम्भक्त-‘आत्मविज्ञानोपनिषत्’ अथ
‘आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्’ नामक

प्रथमः खण्ड

१

प्रथमोऽध्यायः
एत विषया निरूपिता दृष्ट्या

१-अध्यात्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्	प्रथमा
२-अध्यात्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्	द्वितीया
३-यज्ञात्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्	तृतीया
४-विज्ञानात्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्	चतुर्थी
५-महानात्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्	पञ्चमी
६-प्राणात्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्	षष्ठी

प्रायश्चित्तनामका आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषदा आत्मव्यवस्था

ॐ
समर्पण

दिबंगल-चन्द्रलोकम्प-महानात्ममूर्ति-स्वर्गाय-
पितृ-श्रीवाल्मिकि-शस्त्री की
चपाहति (भावयुक्त-त्रयोदशी) के उपलक्ष में
आदरार्थी श्री श्री
अद्वैतार्थ समर्पित
समर्पक-
प्रधानाचार्यश्री
मोक्षानन्दशर्मा (आदरार्थी)
भावयुक्त-त्रयोदशी (चपाहति)
विक्रम सं० २ १०

प्रकरणम्—

मानवाकथपैराजिकमहाप्रकरणानिभागमहाप्रकरणम्—

मार्तिलालरायण, भारद्वाज

— (भामानवाभद्रशिवापीठ-दुर्गापुरा)—

[मर्वाधिकार सुगन्धित एव स्वगन्धित]

सम्पादकीय-वक्तव्य

आत्मनिवेदनात्मक सम्पादकीय

संस्कृत "मानवोपदेशिकाप्रदीप" (श्रीमानधाममविद्यापीठ) के निर्माण-सम्बन्धी इतस्तत् अनुपापन कर्म के अनुग्रह से विगत १० वर्षों से अवलम्ब्य प्रत्येकप्रधान-कार्य एक साप्ताहिक परिवार के अर्थात् साप्ताहिक सहयोग से पुनः प्रचलित हो रहा है, इस अनुमति से १। म सुविधा अनुभव करत हुए प्रस्तुत आत्मविज्ञान के 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथम खण्ड के साथ पुनः यह साहित्य-सेवा अपने सहयोगियों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है।

तदित्यं सूक्ष्म-कालान्तर प्रस्तुत 'प्रकाशन' के साथ आर्पण के सम्मुख उपस्थित होत हुए यह आवश्यक हो जाता है कि जो शब्दों में इस सुवार्थ विज्ञान का कारण स्पष्ट करते हुए प्रकाशन-कार्यविरोध में रुष्ट आत्मीय-सहयोगियों को भरण मुक्त करने का प्रयास किया जाय। सर्वथा लोकैयता-प्रवर्द्धित अनेक सन्न-विषय-समस्याओं के प्रलोभनों में आसक्त-आसक्त होत हुए भारा-प्रतीक्षामयी वृत्तपरिचित्र-पारा से सर्वात्मना आवल्ल पठि-निर्माण साफल्य के लिए इतस्तत् वदम्ब-मायामिच्छा लोकसक्ति के घातक निम्नहात्मक अनुग्रह से प्रकाशन-निरोध के साथ साथ कुछ एक वर्षों से (अनुमानतः ८-१० वर्षों में) स्वाभ्यासनिष्ठा वस्तुगत प्रत्येकप्रधान, व्यक्तित्व-आदि-आत्मिक प्रकाश आदि अभ्यास सहज लक्ष्यों से भी सर्वात्मना आलस-विश्रुत हो जाना पड़ा। यही नहीं अपनी इस जपम्बतमा सर्वस्वविपत्ति लोकैयता की कृपा ही 'मपथा-युक्ति-ज्ञानसा' से आविताम्ब-करत इस व्यासुक्त मानव को गत वर्षों में अनुग्रहपूर्ण आत्मिक प्रेरणाओं के आकर्षण से अप्रत्याशित अवैध यात्राक्रम, वस्तुगत प्रचुर अपेक्षानि, प्रकृत आत्मदत्तता का घातक आतिथ्य, पूर्वप्रकाशित-सञ्चित प्रत्येकप्रधान के शतशः महानुभावों का प्रति होने वाली 'मैत्र' परम्परा द्वारा विहित मातृ प्रकाशनकार्य निराध, वीर्यवान् से मरणा विपरीत हान जाने निरतिराध सम-परिणाम से शरीरमत्वात्म्य का आत्मिक घालगान, आदि आदि सर्वोच्च पुरुषार्थों में भाग्यपूर्ण होना पड़ा। सर्वस्वविपत्तिनी इस लाक्षण-मति से प्राप्त पाने के लिए इच्छा म ही उद्बोधन-विद्या भीगी गई। एवं गत क्षेत्र-नवरात्र में इच्छा ५ उद्बोधनात्मक अनुग्रह से तथाकथित विज्ञपरम्पराओं से प्राप्त पाने के लिए 'परमान' का मरत बिन्दु बनात हुए मविष्य के लिए यह निश्चय किया गया कि—

"मनाऽनुगता माधुका-ममाकृतिग बुद्धयनुगता-आपनिष्ठा-निराधक, वरमान भारतीय पाना परण में लोकैयता म विनिमुक्त रहत हुए सर्वसाधारण का अर्थात् साप्ताहिक-साप्ताहिक-साप्ताहिक-सहयोग प्राप्त

कर सना क्योंकि कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है, अतएव—‘सर्वान् परित्यजेद्दयान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः’ (मनु) इस मानव-आर्ष-आदेश का अनुगमन करते हुए दिक्-निदिक् से प्रस्फुरित किन्तु स्वाध्यायनिष्ठाविधातक, खोईपखाप्रसन्नक, आत्मस्वातन्त्र्यापहारक, तथाविध यन्त्रभाषत महयोगों को तथा उत्पन्नता-उत्पन्नसमुत्पन्न-सहयोगियों को स्तुतिपथ से भी सर्वथा विस्तृत करत हुए एकमात्र स्वाध्यायनिष्ठा का ही अनन्य-निष्ठा से अनुगमन किया जाय । हों यदि किसी तैद्विक-कार्य-मानव के द्वारा उपकार प्रत्युपकार की कुतिल भावना से एकान्तव-असंख्य रहता हुआ किञ्चिदसत्त्वभावापन्न तयोचित तैद्विक सहयोग सम्भाव्य से पुष्पावरम्भव से पराक्या उपलब्ध हो जाय तो एवंविध निरपह सहयोग का अवश्यमेव समन्तर कर लिया जाय, एवं तद्द्वारा यथाशक्त्वा प्रत्यप्रकारान-पत्र प्रकरण-पीठनिर्मास्य आदि साहित्यिक सहयोगों को यथावृत्ति प्रगतिशील बनाया जाय । तथाविध उन सभी सहयोगों को यात्राओं को, सहयोगों को तथा सहयोगियों का सर्वथा उपेक्षणीय ही माना जाय, जो सत्य, जो पात्रों को सहयोग एवं जो सहयोगी गतजावन में खोईपखलुगत अतएव परिष्कृत में खोईपखलुगत अतएव अन्तर्गतक आत्मस्वातन्त्र्ययन्त्रणा-आत्मनिष्ठा के विषयक ही ही प्रमाणित हुए हैं ।

ओमित्येतत् । किन्तु ‘निश्चय’ निश्चय कर लेने मात्र से ही वा सफल नहीं बन जाता । अथवा ही एवंविध निष्ठागतक ‘निश्चय’ को निश्चयार्थिक कार्यरूपा-अवस्था का अनुगामी बनाने के लिए किसी तथाविध ही निश्चित निष्ठाप्रवृत्ति से प्राणपण्य से अनुसरण अनिवार्य हो जाता है । जैसा कि, स्पष्ट किञ्च जानुका है—अपने खोईपखलुगत-सहयोगों के अनुग्रह से सम्पूर्ण-साधन समान हो जस व एवं—‘अकिञ्चनत्वं मूलं व्यनक्ति’ सर्वात्मना चरवार्य हो गया वा । परिणामस्वरूप स्वाध्यायनिष्ठा के साथ साथ प्रकरण-अर्थ की पुनः प्रवृत्ति भी असम्भव बन चुकी थी । यही क्यों सम्पूर्ण प्रेमपरिग्रह के पीठनिर्मास्य में आहुत हो जाने से ‘जीविका-माधन भी मन्त्राप्रप वा, जिस से सम्बन्धित पारिवारिक-समस्या की अटिलता से स्वाध्याय-निष्ठा की निश्चितता भी तथा विष्ठाप्रवृत्ति ही बन रही थी । इसी सब सम-विषय-समस्याओं के अनुग्रह से संकल्पित तैद्विक निश्चय कसत कालनिक रूप से ही सुरक्षित बना रह ।

इन अनिवार्य समस्याओं से आत्मब्रह्म करते हुए ‘निश्चय’ को अर्थरूप में परिणत करने के लिए अनुग्रह-आत्मिक-सहयोग प्राप्त करना अनिवार्य बन गया । इसी के माध्यम से निश्चयानुग्रह नास्तिक तैद्विक सहयोगियों के अर्थरूप के लिए कुछ वर्ष पूर्व शम्भारी के समस्त तनिक माननीय श्रीराममहायमसजी मोर के प्रेरणापत्र के आधार पर कसकता पात्र हुई । आज ही के निष्ठागतक अन्तर्गत सहयोग तथा प्रेरणापत्र से सम्भाव्यतुष्टिार्थिक इस ब्रह्मवा में सम्पूर्णनीय भोजनानुग्री आदि का नास्तिक सहयोग प्राप्त हुआ जिस सहयोग

का पूरा विवरण 'हमारी नैष्ठिक यात्रा, आर उसका परिणाम' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में प्रकाशित कर दिया गया है। इसी सहयोग के आधार पर मानवपीठ-निर्माण विद्या की वर्षों से अवकृष्ट स्थिति का अंशतः समुधार हुआ। सहयोग सर्वथा सामान्य था, अतएव इस से विशेष प्रगति का अनुगमन सम्भव न हो सका। अतएव, पुनः-गतवर्ष श्रीधरारम्भ में चिकित्सार्थ बम्बई-यात्रा का पथिक बनना पड़ा। मासव्याप्तिक इस यात्रा का पूरा विवरण भी तथाकथित निबन्ध में प्रकाशित हो चुका है। इस यात्रा में श्रीजगन्नाथप्रसाद से धीमे सहयोगी ब्यक्तियुक्त हुए, (जिन में माननीय श्रीजगदीशचन्द्रजी सेकसरिया माननीय श्रीमहावीरप्रसादजी मोदी, माननीय श्रीजगदीशप्रसादजी सेकसरिया आदि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं) जिन के द्वारा 'निबन्ध' पूर्णतः नहीं, तो अंशतः आकर लक्ष्यनुगामी बताया जासकता है। पठनिर्माण का अनुकूल उत्तरदायित्व उहाँ माननीय श्रीसेकसरिया जी ने उठाने का अनुग्रह किया वहाँ प्रकाशन-कार्य को प्रोत्साहित-व्यवस्था द्वारा पुनरुत्थित करने का मेघ माननीय श्रीमहावीरप्रसादजी मोदी तथा माननीय श्रीजगदीशप्रसादजी सेकसरिया ने प्राप्त किया। इस प्रकार आयोजित प्रकाशन-माधनों की पुनर्व्यवस्था के आधार पर ही वर्षों से अवकृष्ट प्रकाशन-कार्य गत वसन्तर्ष से पुन आरम्भ हुआ जिन का प्रथम परिणाम प्रस्तुत प्रथम कण्ड है।

सूरीयकालपर्यन्त ग्रन्थप्रकाशन-कार्य क्यों अवकृष्ट रहा?, इस प्रासंगिक प्रश्न समाधि के लिए तत्कालरेखितपुत्र का प्रासंगिक स्पष्टीकरण आवश्यक समझा गया। अब दो शब्दों में प्रस्तुत-ग्रन्थ की आवश्यकता का विगृहण कर देना भी असामयिक न माना जायगा। अनुमानतः आठ वष पूर्व सत्यवन्तुल्यव्यक्त आङ्गविज्ञान-ग्रन्थ की आवश्यकता के सम्बन्ध में 'किमपिप्रास्ताविकम्' रूप से १०० प्रस्ताविका प्रस्तावना प्रकाशित कर दी गई थी, जिसका सन्निवेश प्रस्तुत प्रथमकण्ड में कर दिया गया है। इसमें सभी दृष्टियों से सम्पादकता का स्पष्टीकरण हो गया है। प्रकृत में इस आवश्यकता के सम्बन्ध में यही स्पष्टीकरण पर्याप्त मान लिया जायगा कि,—

‘परलोकस्थ- (चान्द्रमण्डलस्थित) प्राक्कात्मक प्रत पितरों के लिए (पिता-पितामह-प्रपितामहादि के लिए) समन्वयक अद्यावर्तक पिण्डदान करना ही आद्य ई’ सनतान-आर्यप्रजा की इस शारद्वत आपेनिष्ठा के सम्बन्ध में वर्तमान-शिक्षाप्रचार के अनुग्रह से तथा गत शताब्दी में उत्पन्न स्वामी दयानन्दजी के निरतिशय मातृक-विचारों के आधारपरमणीय अनुग्रह से सर्वथा लक्ष्यभ्युत मातृक-प्रजा के अराष्ट्रीय धर्मामास प्रचार से अनेक प्रकार के संशय उत्पन्न हो गए हैं। इस निताम्त अराष्ट्रवाय औद्भिद मराधपरम्परा से आसिद्धप्रजा का महत्तामहीयाव अहित हुआ है। इस अहित से आतिठकन का ग्राह्य कर आद्यकर्म के नवापरिमापित शास्त्रीय-दृष्टिकोण को विशानदृष्टि से पुन प्रसिद्धि करने के लिए ही सत्यवन्तुल्यव्यक्त ‘आद्यविज्ञान’ नामक ग्रन्थ का संकल्प आत्र से

अठारह वर्ष पूर्व आकाशक बना। तब समयमें ही पितृ श्री क गत हो जाने से हम संकल्प को बिगड़ प्रेरणा बल प्राप्त हुआ। एवं परिणाम स्वरूप पितृ-श्री के प्रथम वार्षिक-आलोचक में प्रथम सर्वश्रेष्ठता सम्पन्न कर लिया गया। तब से पूर्व-विगृहीत घटना-समस्या-परम्पराओं के निपटानुमह से अठारह वर्षों के अनन्तर इस प्रथम का 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड बहिर्जगत की वस्तु बनने आरम्भ है।

सम्पादन-सीमा, एवं बाह्य आकार-मन्दर-सौन्दर्य के सम्बन्ध में हमें इस लिए कुछ भी निबधन करने का अधिकार नहीं है कि, सर्वथा एककी बन रहत हुए सर्वप्रपञ्चानुगति के अनुमह से सर्वविध-प्राप्त्यमाहित्य की स्वाभाविक-अर्थसंकल्पप्रत्यया में तत्वाविध-सविधाजनक ब्रह्मसाधनों के अभाव के कारण इस दृष्टिकोण से हमें तब तक के लिए अपने आपको दोषभाक् ही मानते रहना पड़ेगा, जब तक कि हम विश्व में अनुरूप सुविधा के अनुमह से कतिपय दम्भ-मह्यगियों का क्रियात्मक सहयोग हमें प्राप्त नहीं हो जाता।

प्रस्तुत प्रथम खण्डात्मक प्रकाशन इस बार अपनी चित्रपरम्परा के कारण निरतिशयरूप से मह्य बन गया है। आर्थिक-वैदिक-आर्यमन्त्र-रिषयों के रपटीकरण के लिए हम खण्ड में २५ देखा चित्रों का एवं ३ निरङ्ग चित्र का समावेश हुआ है। जिन के प्रकाशन में ही अनुमानत नवमहस्र की आहुति देनी पड़ी है, जिस में से अनुमानत त्रिसहस्रमित्रा ३००० आहुति का अनुमह हमारे आर्यीय सहयोगी माननीय श्रीमहोदयप्रसाद की मुरारका हाथ प्राप्त हुआ है, जिसके लिए बाह्यदेवता इनके प्रति कृतज्ञ रहेंगे। अलमतिविस्तारस्य। हमने कभी इन व्यावहारिक प्रपञ्चों से सम्बद्ध व्यावसायिक अर्थसुविधा-अर्थव्यवस्थाओं की सर्वसम्-मीमांसा का अनुगमन नहीं किया है। हमारे शास्त्रों में "यह वैदिक-वाङ्मयसाहित्य व्यापारानुगत आर्थिक-समतुलन की दृष्टि में कैसा अर्थलाभ का कारण बनगा?" मीमांसा हमारे लिए मर्यादा से असंश्लेष ही रही है। यथानुविधा, यथावसर प्राप्त आर्थिक सहयोग से वाङ्मयी के प्राणायाम स्वरूप का प्रकाशनद्वारा आर्थिक-स्वरूप प्रदान करने हुए वाङ्मयी की मूर्च्छापामना करत रहना ही जीवन का मुख्य लक्ष्य रहा है, जिस उपायमा की सफलता का उत्तरवाचिक एकमात्र श्रीव्यासमहादेवगुरुमा से ही सम्बद्ध है, हमी आधुनिक समसायिक आधुनिकवदन के माध प्रस्तुत सम्पादकीय उपरत हो रहा है।

भावागुस्तमत्रपाठनी

१६ ग २०३०

विषया मन्त्र-सम्पादन

मीमांसासम्पादन-भावागुस्त

॥

**महामाग्निक 'पितृस्वरूप' संस्मरणा
स्तुत्यात्मक, तथा स्वरूपधर्मानात्मक**





पितृम्यरूपवर्णनादिमहा नैगमिकस्तुति

- १—आश्रयास्तः पितरः सोम्यास्तः शिवे नो धातापृथिवी अनेहसा ।
पूया न पशु दुरिताष्टाहो रक्षा माकिर्नो अपशस ईश्वर ॥
- २—प्र वो माहे मदि नमो मरध्वमाङ्गं गूर्णं शम्भानम्य साम ।
येना न पूर्वे पितरः पदद्वा अर्चन्तो अत्रिरसो गा अकिन्दम् ॥
- ३—त्वं सोम प्र चिह्नितो मनीषा त्व रजिष्ठमनु नेपि पन्थाम् ।
त्वं प्रयीति पितरो न इन्दो देवेषु रत्नममञ्जन्त धीराः ॥
- ४—अवन्तु न पितरः सुप्रवाचना उठ देवी दक्षपुत्र श्रुताष्टया ।
१४ न दुर्गाष्टसप्तः सुदानवो विश्वम्भासो अहसो निष्पिर्तन ॥
- ५—नक्षिरा निन्दिता मर्त्येषु ये अस्मेर्क पितरो गोषु योषाः ।
इन्द्र एषा इ रिता माहिनाबानुवगोवाणि ससुजे ईसनाशान् ॥
- ६—अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अमि प्र सेदुष्टैरमाहुषाणाः ।
अममत्रहा सुदुषा वधे अन्तरुदुसा आशन्नुपसो दुषानाः ॥ ८
- ७—अथा यथा न पितरः परासाः प्रत्नामो अग्न श्वतमसुषाणाः ।
सुर्बादयन् दीधितिस्तु ध्याम चामा मिन्दन्तो अरुर्ध्वरिष बन् ॥
- ८—स्वादुपसह पितरो वयोषा कृष्णे अित शक्तीवन्तो नमीराः ।
चित्रसना इषुषा अमृषा सतोषीरा उरषो मातमादाः ॥
- ९—आ न पश्यन् वसुमक्षिरयपदरवावृगोमघषमत् सुषीयम् ।
भुय हि सोम पितरो मम स्थन दिवो मृषान प्रस्थिता वयस्कृत ॥
- १०—अरुणदुपमः पृथिनरमिय उषा विमर्षि भुषनानि माधयुः ॥
मापाविनो ममिग अस्य मायया नृषयमः पितरो गममादधु ॥

१—अक्षरं ६। ४१ ॥ २—अक्षरं १।६२० ॥ ३—अक्षरं १।६११ ॥ ४—अक्षरं १।१६१॥ ५—अक्षरं ३।६१४ ॥ ६—अक्षरं ४।११६॥ ७—अक्षरं ४।११६ ॥ ८—अक्षरं ६।११६ ॥ ९—अक्षरं ६।११६ ॥ १०—अक्षरं ६।११६ ॥

- ११—यमो नो गातु प्रथमो विवेद नैषा गन्धूतिरपमर्तषा उ ।
यथा न० पूर्वे पितरः परंपुरना अज्ञाना पथ्या अनु स्वा ॥
- १२—अङ्गिरसो न० पितरो नवम्वा अथवाणो मृगत्रः सोम्यास० ।
तेषां वष सुयतौ यंघ्रियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥
- १३—अपेत वीत विष सर्पसातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् ।
अहोमिद्विभरक्तुमिष्यक्त यमो ददात्यवसानमस्मै ॥
- १४—उत्ते स्तम्नामि पृथिवीं त्वत्परीम लोक निदधन्मो अहरिपम् ।
एतां स्पृणां पितरो धारयन्तु तेऽवा यमः साधना व मिनोतु ॥
- १५—महिम्न एषां पितरम् नेशिर दद्या दवेज्जदधुरपि क्रतुम् ।
समविष्यधुक्त यान्यत्विपुरां तनुषु नि विविशु पुन ॥
- १६—द्विषा हनवोऽसुर स्वर्दिदमाभ्यापयन्त तृतीयन० कर्मणा ॥
स्वां प्रजां पितर पिष्य सह आवरप्यङ्गुलन्तुमानतम् ॥
- १७—य उगाञ्चन् पितरो गोमय बभूवनामिन्दु परिवत्सरं प्लवम् ॥
दीपापृष्ठमङ्गिरसो यो अस्तु प्रतिगृम्हीत मानव सुमवस ॥
- १८—ध्रुवा एव व पितरो युग युगे क्षमकामास सदमा न युजत ।
अनुयामो हरिपाचो हरिद्विष आ घां रवण पृथिवीमशुब्रुवुः ॥
- १९—यो यमो विस्वतस्तन्तुमिस्तत् एकशतं स्वकर्मैरिपयत् ।
इम वयन्ति पितरो प्र आययु प्र वयाप वयमासत तवे ॥
- २०—वाक्छुभ्रे तन अपयो मनुष्या यत्र जात पितरो न पुराण ।
परयन्मन्ये मनमा वक्षमा तान्य इमं यत्रमयन्त पूर्वे ॥
- २१—यो न इन्दु पितरो इन्तु पीतोऽमन्यो मर्त्यो आपिवश ।
तस्मै मामाप हविषा विधम मर्त्तीक अस्य सुमर्तो म्याम ॥
—वीयतामनया मनुष्या पितृभ्यता

११—अक्षरं १०११११ ॥ १२—अक्षरं १०११११ ॥ १३—अक्षरं १०११११ ॥ १४—
अक्षरं १०११११ ॥ १५—अक्षरं १०११११ ॥ १६—अक्षरं १०११११ ॥ १७—अक्षरं १०११११ ॥ १८—
अक्षरं १०११११ ॥ १९—अक्षरं १०११११ ॥ २०—अक्षरं १०११११ ॥ २१—अक्षरं १०११११ ॥

आद्यानुगत-पितृयशोवर्णनारिमफा-आगमस्तुति

- १—आद्यात् परतरं नान्यद्-मेयस्वरश्चादृतम् ।
तस्मात् सर्वप्रपत्नेन आर्द्रं कृष्णादिष्वपद्यः ॥
- २—तस्मात्प्राज्ञं नरो यस्तथा शास्त्रैरपि यथाविधि ।
वर्धति भद्रया तस्य हृद्रे कश्चिन्न सीदति ॥
- ३—आचारमाचरेत्तत्र पितृमेवाभितं मरः ।
आयुषा-वन-पुत्रैश्च वर्धते नैव संशयः ॥
- ४—आयुः-पुत्रात्-पश-स्वर्ग-लोकि-पुष्टि-वर्त्त-भियस ।
पशून्-सौख्यं-वन-धान्यं-आयुषात् पितृपूजनात् ॥
- ५—अरोगः प्रकृतिस्परश्च विरायुः पुत्र-पौत्रवान् ।
अर्चयानर्चयोगी च आर्द्रहृदो भवेद्विह ॥
- ६—परत्र च परी पुष्टिं लोकार्थं विपुलान् दामान् ।
आर्द्रकृत् ममवाप्नोति पशुरश्च विपुलं मरः ॥
- ७—नम्रे-न्द्र-रुद्र-नाशस्य-मूर्ध्या-ग्नि-वसु-मास्तान् ।
विस्त्रेदेवान्-अपिगवान्-इषांसि-मनुजान्-पशून् ॥
- ८—सरोत्सुपान्-पितृगणान्-यथान्यत् भूतसंज्ञकम् ।
आर्द्रं भद्रान्वितः कुबर्त्तुर्वयस्यस्थितं जगत् ॥
- ९—वनं-वेदान्-मिवक-सिद्धि-कृष्यं-गा-आप्यवाविकम् ।
अश्वानां-पुत्रश्च-विचित्रयः आर्द्रं सम्प्रयच्छति ॥
- १०—कृषिश्चादिमरय्यमर्त्तं स कामानाप्युयादिमान् ।
आस्तिकः भद्रवानश्च पितुन् आद्रेन तर्पिता ॥
- ११—आयु-पुत्रा-वन-विद्या-स्वर्ग-मोक्ष-सुखानि च ।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं धीता मृगा पितामहाः ॥
- १२—यद्यन् इवाति विचित्रत् सम्पदं भद्रासमन्वितः ।
तच्चत् पितृणां भवति परवानन्तमप्ययम् ॥

- १३—वसुत्रादितिसुता पितरः भ्रातृदेवताः ।
प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितृन् भ्रातृभ्योऽर्पिताः ॥
- १४—कर्मनिष्ठास्तपोनिष्ठा पञ्चाभिर्भ्रातृचारिणः ।
पितृमातृपरास्त्वेव भ्रातृभ्याः भ्रातृसम्पदः ॥
- १५—पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ।
उपासतं सुतं ज्ञातं शकुन्ता इव पिप्पलासम् ॥
- १६—सन्तानवर्द्धनं पुत्रमुपेतं पितृकर्मणि ।
दत्तभ्रातृभ्यासम्भ्रममिनन्दन्ति पूर्वजाः ॥
- १७—तन्वन्ति पितरस्तस्य सुकृत्तैरिव कर्षकाः ।
यद्वृगयास्यो ददात्पन्नं पितरस्तनं पुत्रिणः ॥
- १८—नित्यं नैमिषिकं काम्यं हविर्भ्रातृमयापरम् ।
पार्वत्यं चेति विज्ञेयं भ्रातृ पञ्चविधं कुर्वैः ॥
- १९—कन्दमूलफलैर्वापि कर्त्तव्यं पितृर्त्तपणम् ।
अन्यथा दारुणं शापं दत्त्वा भान्ति पुष्टपिताः ॥
- २०—दिवस्याह्ने भागं मन्दं भवति भास्करः ।
स कालः कुतपो ह्ययं पितृणां दत्तमवयवम् ॥
- २१—एवं सन्तपिता कामैस्तर्पयन्त्यस्तपयन्ति च ।
ब्रह्म-विष्णु-शिवा-दित्य-मित्रा-वरुण-नामभिः ।

—स्मृतयः, पुराणानि च

— • —

राजर्षिभ्यो नमः श्रद्धाजगत्पितृस्वरूपोपवर्णनम्

- १—यस्मादुत्पत्तिरतर्पा सर्वेषामप्यशपतः ।
ये च धैर्यपूजया स्तुनियमैस्ताभिश्चोषतः ॥
- २—मनोहरैरयगमस्य यं मरीच्यादयः सुताः ।
तपामूर्षीणां सर्वेषां पुत्रा पितृगणा स्मृताः ॥
- ३—विराट्सुताः सोमसदः साप्पानां पितरः स्मृताः ।
अग्निष्वापाञ्च दधानां भारीत्याः श्लोकविभवाः ॥

- ४—दैत्यदानमयद्यासां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
सुपर्शकिमराणाञ्च स्मृता बर्हिषदोऽग्निना ॥
- ५—सोमपा नाम विप्रार्था, अग्निमासां इविष्टुः ।
वैस्यानामान्यपा नाम, शूद्राणां च मुक्कसिनः ।
- ६—सोमपास्तु कस्येः पुत्राः इविष्मन्तोऽग्निरसः सुता ।
पुष्टस्त्यस्याज्यपा पुत्राः, बसिष्ठस्य मुक्कसिनः ॥
- ७—अग्निदग्धानग्निदग्धान् कश्यपान् बर्हिषदस्तथा ।
अग्निष्वाचारश्च सौम्यारश्च विप्रालामश्च निर्दिशत् ॥
- ८—य एते तु गणा मृक्याः पितृणां परिकीर्तिताः ।
तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तरम् ॥
- ९—रात्रर्तर्मात्रनरेषामयो वा राजतान्निर्त ।
वार्त्यपि भद्रया दक्षमक्षयापोपकल्पते ॥
- १०—दैवाघन्तं तदीहत पित्राघन्तं न क्लृमवेत् ।
पित्राघन्तं स्वीहमानः क्षिप्रं नश्यति सान्धवः ॥
- ११—अत्रक्षयपु षोडशे नदीतीरेषु येष हि ।
विवेक्तेषु च तुष्यन्ति दक्षेन पितरः सदा ॥
- १२—यद्यददाति विधिवत् सम्यक् भद्रासमन्वितं ।
तत्तद् पितृणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥
- १३—बभूवुः कदन्ति तु पितृन् रुद्रार्षेयः पितामहान् ।
प्रपितामहान्मत्वाडित्यान्, अतिरथा सनातनी ॥
- १४—इषमप्याह द्विजालीनां पितृकाम्यं विशिष्यते ।
इह हि पितृकाम्यस्य पूर्वमाप्यापनं भूतम् ॥
—मनुस्मृति—

आप्यापयस्व—(पुराण)—सम्मत पितृसगस्वरूपापवर्णनम्

पितृणां सम्मर्षं राजन् ! कथ्यमानं निषोद्य म ॥

पूर्वं प्रजापतिप्रदा सिमुषुर्विनिधाः प्रजा ॥ १ ॥

पञ्चप्रनालस मप्याम्यन्मात्रा मनसा बहिः ॥

इत्था परमर्कं प्रस ध्यापन् सध्वेषु रूपकैः ॥ २ ॥

तस्यात्मनि तदा योगं गतस्य परमेष्ठिनः ॥
 तन्मात्रा निर्य्ययुद्धं हाडू धूमवर्षाकृतस्त्रिपः ॥ ३ ॥
 'पिवाम' इति आपन्तः सुरा सोममितोऽसक्तम् ॥
 ऊर्ध्वं त्रिगमिपन्तो वै अघ-सस्थास्तपस्विनः ॥ ४ ॥
 तान् द्रष्टुं सहसा ब्रह्मा तिर्य्यक्संस्थास्तदोद्भूतान् ॥
 मबन्त पितरः सन्तु सर्वेषां गृहमेधिनाम् ॥ ५ ॥
 ऊर्ध्ववक्त्रास्तु यं तत्र ते नान्दीमुखसंमिताः ॥
 इत्युक्त्वा तु तदा ब्रह्मा तेषां पन्थानमाकरोत् ॥
 दक्षिणापनसंक्रान्तु पितृष्वान्तु पितामहः ॥ ६ ॥
 त्वय्यीं ससर्ज भूतानि तमूचुः पितरस्ततः ॥
 इति नो देहि भगवन् । यथा विन्दामहे सुखम् ॥ ७ ॥

ब्रह्मोवाच

अमात्रास्यादिनं वोऽस्तु तस्यां कुरु-विश्वो-वर्कः ॥
 तर्पिता मातुपैस्त्वयि परा गच्छन्त मान्यया ॥ ८ ॥
 सिन्धो देवास्तथैतस्माद्भूपोप्य पितृमक्षितः ॥
 परमं तस्य सन्तुष्टाः परं यच्छन्त मा क्षिरम् ॥ ९ ॥



प्रवर्त्तन्त वराः कश्चिद्देवानां सोमवर्द्धनाः ॥
 त मरीच्यसाद्य सुताः सप्त स्वर्गे ते पितरः स्मृताः ॥ १० ॥
 चत्वारो मूर्धिमन्तो वै त्रयस्त्वन्य द्यमूर्त्तयः ॥
 तेषां लोकनिसंगाः त्रिस्तरेण निबोध मे ॥ ११ ॥
 धर्ममूर्धिषरास्तथा त्रयोऽन्ये परमा गणाः ॥
 तेषां नामानि श्लोकांश्च कीर्त्तयिष्यामि तच्छृणु ॥ १२ ॥
 श्लोका सन्तानकप्रमाय यत्र तिष्ठन्ति माम्बराः ॥
 धमूर्त्तयः पितृगणास्तत्र पुत्रा प्रजापतेः ॥ १३ ॥
 विराजस्य प्रजाः भेष्टास्त 'वैराजा' इति स्मृताः ॥
 दवानां पितरस्ते हि तान् यजन्तीह दंवता ॥ १४ ॥
 एते वै श्लोकविघ्नटा लोकान् प्राप्य सनातनान् ॥

पुनर्गुणशतान्तपु जायन्त ब्रह्मवादिनः ॥१५॥
 ते प्राप्य तां स्मृतिं मूयं सिद्धियोगमनुचमम् ॥
 चिन्त्ययोगगतिं शुद्धां पुनरावृत्तिदुर्लभाः ॥१६॥
 एतेऽस्मिन् पितरः भ्रात्रे योगिनां योगबद्धनाः ॥
 आप्यायितास्तु ते पूर्व्ये येऽपि योगबद्ध रताः ॥१७॥
 तस्मात् भ्रात्रानि वयानि योगिनां योगिसत्तमैः ॥
 एष वै प्रथमः सर्गः सोमपानमनुचमम् ॥१८॥
 एतं तु पश्यन्तबो वर्धन्ते द्विजसत्तमाः ॥
 मूर्खोऽज्ञासिनां यान्या मृगलोका निवासिनः ॥१९॥
 स्वर्गलोका मरीच्यापास्तेषां यान्या महर्गताः ॥
 कल्पवासिकल्पज्ञानां तपामपि जन स्थिताः ॥२०॥
 सनकापास्तसम्बोर्षा वैराजान्तपसि स्थिताः ॥
 तेषां सत्यगताः प्रोक्ता इत्येषा पितसन्ततिः ॥२१॥
 सप्तधा सप्तलाकेषु भाद्रिमन्वन्तरक्रिया ॥
 अन्येषां वमनं साध्या रुद्रादित्याश्विनाश्रितिः ॥२२॥
 अग्नौ सवैश्वानां साधारण्येन सस्थिताः ॥
 अथयश्च तदुत्पन्ना इति सप्तविधा गणाः ॥२३॥
 तेषां कन्यास्तु मंत्रज्ञा महती पितृसन्ततिः ॥
 अग्निष्वापाश्च मारीक्षा वैराजा बर्हिर्मज्जिताः ॥२४॥
 सुकृता नमः पितरो बहिष्ठस्य प्रजापत ॥
 तऽपि याज्यामित्रिबर्ह्यर्न शत्रुश्च पृथक् कृतम् ॥२५॥
 वसुश्रयाभ्यनुज्ञातः शत्रुः सव्यान् पितन् यजेत् ॥
 न तु तस्य पृथक् मन्त्रि पितरः शद्रजानय ॥२६॥
 सुरुचेतनका मरुतः ॥ न चरन्तं पितृष्वपि ॥
 विग्रहशाम्भवाद्यास्तु पुरास्थानाञ्च दर्शनात् ॥२७॥
 एषं अपिस्तुर्गः शास्त्रैर्ज्ञात्वा याजकसम्भवान् ॥
 स्वयं सृष्ट्या पृथुर्निर्गन्धा पुत्राणां ब्रह्मणा कृतः ॥२८॥

पर निर्वाणमापन्नास्तेऽपि क्षान्तिन एव च ॥
 वैश्यादीनां कृत्यपाद्या वर्णानां वसवाम्भ्य ॥२६॥
 अग्निशपथ विघ्नेषा गन्धर्व्याद्या अपि ध्रुवम् ॥
 एष ते पैतृकः सर्ग उद्देशेन महामुने !
 कथितो नान्त एवास्य वर्षकोट्या हि कथ्यते ॥२७॥



प्रीयतामनया पिउस्वरूपवचनात्मिकया पितृस्तुत्या भाद्रदक्ता

सर्वान्त च—

कामो ज्ञे प्रथमो नैनं देवा आयु पितरो न मत्याः ।
 ततस्त्वमसि ज्यायान् विरवहा "महो" स्तस्मै ते काम-
 नम इत् कृणोमि ॥

— अथर्वसंहिता ६।२।१६।

दत्तारो नोऽमिबर्द्धन्ता, वेरा-सन्ततिरेव च ।
 भद्रा च नो मा व्यगमद् बहुदयं च नोऽस्तु ॥
 अन्न च नो बहुभवेदतिषीरच क्षममहि ।
 याचितारम न सन्तु मा च याचिरम कञ्चन ॥
 गोत्रं नोऽमिबर्द्धन्ताम् ।



श्रीः

‘आत्मसङ्ख्यविज्ञानापनिषत्’नामक प्रथम खण्ड की
रेखाचित्र, एवं परिलेखसूची

तथा

संक्षिप्त-विषयसूची



अथ

भाष्यविज्ञानग्रन्थान्तर्गत-

‘आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्’ नामक प्रथम खण्डानुगत
चित्रसूची, एव परिलेखसूची

१-आस्तिक-नास्तिकद्वयपरिलेख	---	१८
२-त्रिवृत्तत्त्वपरिलेख	---	८५
३-माकृतात्मविचर्चपरिलेख	---	१०१
४-आत्मबंशान्वलीपरिलेख	---	१०२
५-चतुर्दशमन्त्रपरिलेख	---	१०८
६-युगसमष्टिपरिलेख	---	१११
७-कलापरिणामपरिलेखपट्टक	---	११०
८-मन्त्रानुगतकल्पपरिलेख	---	११७
९-विष्णुयुगपरिणामपरिलेख	---	११८
१०-प्रलयपरिलेख	---	१४४
११-ओङ्कारपरिलेख	---	१४०
१२-त्रैलोक्यत्रिलोकीपरिलेख	---	१४८
१३-परापरब्रह्मोद्भूतपरिलेख	---	१६४
१४-देवत्रयीपरिलेख	---	१७२
१५-अन्यछेद्धारपरिलेख	---	१७३
१६-दैवार्थिकमौलिकप्रपञ्चपञ्चपरिलेख	---	१८३
१७-आधिदैविकप्रपञ्चपरिलेख	---	१८४
१८-‘शं भद्र’ परिवन्ध	---	१८१
१९-रसबसाद्वन्द्वपरिलेख	---	१८६
२०-बाष्पपुरुषचतुष्टयी-परिभरण	---	१८६
२१-त्रिगुणभावप्रपञ्चपुरुषचित्रम् (१)	---	२०४
२२-वाङ्मयपरिलेख	---	२१२

११-अथर्व ११८ ३-	१
१२-अथर्व ११८ ४-	२
१३-अथर्व ११८ ५-	३
१४-अथर्व ११८ ६-	४
१५-अथर्व ११८ ७-	५
१६-अथर्व ११८ ८-	६
१७-अथर्व ११८ ९-	७
१८-अथर्व ११८ १०-	८
१९-अथर्व ११८ ११-	९
२०-अथर्व ११८ १२-	१०
२१-अथर्व ११८ १३-	११
२२-अथर्व ११८ १४-	१२
२३-अथर्व ११८ १५-	१३
२४-अथर्व ११८ १६-	१४
२५-अथर्व ११८ १७-	१५
२६-अथर्व ११८ १८-	१६
२७-अथर्व ११८ १९-	१७
२८-अथर्व ११८ २०-	१८
२९-अथर्व ११८ २१-	१९
३०-अथर्व ११८ २२-	२०
३१-अथर्व ११८ २३-	२१
३२-अथर्व ११८ २४-	२२
३३-अथर्व ११८ २५-	२३
३४-अथर्व ११८ २६-	२४
३५-अथर्व ११८ २७-	२५
३६-अथर्व ११८ २८-	२६
३७-अथर्व ११८ २९-	२७
३८-अथर्व ११८ ३०-	२८
३९-अथर्व ११८ ३१-	२९
४०-अथर्व ११८ ३२-	३०
४१-अथर्व ११८ ३३-	३१
४२-अथर्व ११८ ३४-	३२
४३-अथर्व ११८ ३५-	३३
४४-अथर्व ११८ ३६-	३४
४५-अथर्व ११८ ३७-	३५
४६-अथर्व ११८ ३८-	३६
४७-अथर्व ११८ ३९-	३७
४८-अथर्व ११८ ४०-	३८
४९-अथर्व ११८ ४१-	३९
५०-अथर्व ११८ ४२-	४०

५२—सौरभप्रतिनिपरिलेख	"	---	---	२८५
५३—पार्थिवसप्तपरिलेख	---	---	---	"
५४—'सौरसम्भत्तरचित्रम्' (१६)			२८८-८९ के मध्य में	
५५—'पार्थिवपट्टरचित्रम्' (२०)			२९०-९१ के मध्य में	
५६—'भूविचर्चपरिलेख'				२९०
५७—'भूविचर्चचित्रम् (क)-' (२१)			२९८-९९ के मध्य में	
५८—'भूविचर्चचित्रम् (ख)-' (२२)			"	
५९—'भूविचर्चचित्रम् (ग)-' (२३)			"	
६०—'दित्यदिस्तिमयद्वयचित्रम्' (२४)			"	
६१—'अप्रमन्वीविचर्चपरिलेख'				३०६
६२—'द्वयसत्तात्मयुग्मपरिलेख'				३०७
६३—'चित्रात्म-चित्राविचर्चपरिलेख'				"
६४—'त्रिपुरुषविचर्चपरिलेख'				३०८
६५—'मनःप्रत्ययचर्च-भूविचर्चपरिलेख'				"
६६—'मोक्षभोग्यविचर्चपरिलेख'				"
६७—'पुरपात्मविचर्चपरिलेख'				३०९
६८—'सृष्टिसाक्षिपुरुषपरिलेख'				३१०
६९—'सृष्टिरात्मनपुरुषपरिलेख'				"
७०—'वश्येन्द्रपरमेश्वरविचर्चपरिलेख'				"
७१—'स्वयम्भूरुपरमेश्वरपरिलेख'		---	---	३११
७२—'परमेष्ठ्युपेश्वरपरिलेख'		---	---	"
७३—'सूर्योपेश्वरपरिलेख'		---	---	"
७४—'चन्द्रमोपेश्वरपरिलेख'				"
७५—'शुक्लमुपेश्वरपरिलेख'	"			"
७६—'साक्षीमुपेश्वरपरिलेख'	---			"
७७—'मोक्षमुपेश्वरपरिलेख'				"
७८—'ज्ञानोदासनकर्मत्रयी-परिलेख'				"
७९—'अव्ययसंस्थाचित्रम्' (२५)		---		३१४-१५ के मध्य में
८०—'अव्ययसंस्थाचित्रम्' (२६)				"
८१—'मनःगम-चित्रम्' (२८)				"

८२—इराकलबिराट्प्रजापतिपरिलेख	---	---	३२०
८३—पञ्चमानादिमध्यामप्रजापतिपरिलेख	---	---	३२१
८४—'अ' गो-यम्' परिलेख	---	---	३२३
८५—अनूचीनमाप्पापरिलेखः	---	---	३२४
८६—ईश्वरसम्भारपरिलेख	---	---	३२५
८७—सप्तविंशतिप्रत्ययपरिलेखः	---	---	३२८
८८—श्रीवत्सलपरिलेखः	---	---	"
८९—अष्टप्रादेशराक्षसपरिलेखः	---	---	३२६
९०—महाद्विषी-परिलेख	---	---	३४४
९१—नवसामान्यविभूतिपरिलेख	---	---	३४
९२—विद्यासमुच्चिदम्भपरिलेख	---	---	३६२
९३—विद्यानिरपेक्षम्भपरिलेख	---	---	"
९४—विद्विक्कमविभूतिविभूतिपरिलेख	---	---	३६३
९५—ईश्वरविभूतिदम्भपरिलेखः	---	---	"
९६—जीवविभूतिदम्भपरिलेख	---	---	"
९७—अष्टप्राक्षविभूतिपरिलेखः	---	---	"
९८—वैद्यमाप्पाविभूतिपरिलेख	---	---	"
९९—सप्तपञ्चनमाक्षविभूतिपरिलेखः	---	---	"
१००—इक्ष्वाग्निरपरिलेखः	---	---	३६६
१०१—अक्षान्तिपरिलेख	---	---	"
१०२—पञ्चदशमाय-परिलेख	---	---	३७०
१०३—आजलसि (७२) अक्षमक्षविभूतिपरिलेखः	---	---	३७१
१०४—यक्षोत्तरपञ्चम (२१) विरोधविभूतिपरिलेखः	---	---	
१०५—'अन्यप्रजापतिचित्रम्' (२६)	---	३७६-७७ के मध्य में	
१०६—ईश्वरप्रदर्शनचित्रम् (३०)	---	"	
१०७—शिवकलापरिलेख	---	---	४०
१०८—ईश्वरसत्त्वकलापरिलेखः	---	४०-१ के मध्य में	
१०९—श्रीवत्सलमण्डितपरिलेख	---	---	४०१

समाप्ता धैर्य-आत्मविज्ञानोपनिषद्भाष्य

प्रथमखण्डस्य-परिलेख-चित्रसूची

परिलेख (देवचित्राणि)

चित्राणि (राज्ञस्य चित्राणि)

—५—

८४-अनुरागीति

३०-त्रिंशत्

} - ११४

अथ

खण्डस्तुष्ट्यात्मक 'आत्मविज्ञान' ग्रन्थान्तर्गत
'आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड की
संक्षिप्त विषयसूची

— x —

तस्मिन्नेतस्मिन् प्रथमखण्डे निम्नलिखितप्रकरणविमला द्रष्टव्या—

'आत्मविज्ञानोपनिषत्'-नामकः प्रथमखण्ड १ ४०२

१-किमपि प्रास्ताविकम् (प्रस्तावना)	१
२-अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्-प्रथमा (१)	४६
३-अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्-द्वितीया (२)	१५१
४-यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्-तृतीया (३)	१७६
५-विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्-चतुर्थी (४)	२०७
६-महानात्मविज्ञानोपनिषत्-पञ्चमी (५)	२२६
७-प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्-षष्ठी (६)	२४६
८-प्रकरणोपसंहार	४००

— स एष ८ प्रकरणात्मकः प्रथमखण्डः —

— १ —

तेज्वेतपु ८ प्रकरणेषु निम्नलिखिता परिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्या -

१-किमपि प्रास्ताविकम् [प्रस्तावना]	१ ५८
क-मङ्गलपाठः	१
ख-प्रस्तावना	१
ग-आर्पणमिदं ब्रह्म	५
घ-निबन्ध की आधारयकता, तथा तन्मन्त्रव्य मे	६

क—प्रथमकण्ड निर्द्धारन	१२
ख—द्वितीय कण्ड निर्द्धारन	१४
ग—तृतीय कण्ड निर्द्धारन	२३
घ—प्रतिपाद्यविषयविगृह्यार्थन	३८
ङ—प्रतिपाद्यनिरुद्धी, तथा भाषादष्टि	४५

समाप्त्यन्ते नक्षत्रिण्येदात्मकं—किमपि प्रास्ताविकम्

—१—

२—अमृतसारविज्ञानोपनिषत्—प्रथमा [१]

४६ १५०

क—अमृतसारस्तुति	४६
ख—अमृतसार, बौद्धाचार्य वा पुरुषारम्भ	५१
ग—आत्मस्वरूपविज्ञाना	५३
घ—आत्मस्वरूपमिव आत्मस्वरूप	५४
ङ—आत्मस्वरूपमिव आत्मस्वरूप	५५
च—आत्मस्वरूपमिव आत्मस्वरूप	५६
ज—स्वप्नसूत्रमिव आत्मस्वरूप	७०
झ—आत्मस्वरूपमिव आत्मस्वरूप	७०
ञ—इमांश्च अमृतसारसंज्ञा	७५
ट—सुप्तसंज्ञा आत्मस्वरूप	१३
ड—आत्मस्वरूपमिव आत्मस्वरूप	१०४
ण—अमृतस्वरूपविगृह्यार्थन	१४
त—अमृत, और मन्त्र	१०७
थ—मन्त्रविज्ञान	१००
द—अमृतसमीक्षा	११
ध—निम्नानि विषय	१२१
न—अमृत का प्रकाश विज्ञान	१२३
प—अमृतसंज्ञा अमृत की अनन्त विदुषिणी	१३१
फ—अमृत माधोपायिक अमृत	१३३
ब—अमृत मन्त्रविज्ञान	१३५

५—पोद्दाशकल अमृतमहा	----	१४१
६—“अमृतमृत्युपरिचय”	---	१४६
७—प्रकरणोपसंहार	----	१४६

समाप्ता श्रेयं २३ परिच्छेदात्मिका—

‘अमृतमृत्युपरिचय’ प्रथमा (१)

—७—

३—अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्—द्वितीया (१)

१५१-१७८

क—अमृतमृत्युपरिचय	---	१५१
ख—अमृत की विचारसृष्टि	---	१५२
ग—आत्मनः अव्यक्तात्मा	---	१५३
घ—अव्यक्तमृत्यु के तीन विषय	---	१५४
ङ—निषिद्धिद्वारा ‘अमृतमृत्यु’	---	१५५
च—अमृतमृत्युद्वारा ‘अमृतमृत्यु’	---	१५६
ज—अमृतमृत्युद्वारा ‘अमृतमृत्यु’	---	१५७
झ—अमृतमृत्युद्वारा ‘अमृतमृत्यु’	---	१५८
ञ—अमृतमृत्युद्वारा ‘अमृतमृत्यु’	---	१५९
ट—अमृतमृत्युद्वारा ‘अमृतमृत्यु’	---	१६०
ड—अमृतमृत्युद्वारा ‘अमृतमृत्यु’	---	१६१
ण—अमृतमृत्युद्वारा ‘अमृतमृत्यु’	---	१६२
त—अमृतमृत्युद्वारा ‘अमृतमृत्यु’	---	१६३
थ—अमृतमृत्युद्वारा ‘अमृतमृत्यु’	---	१६४
द—अमृतमृत्युद्वारा ‘अमृतमृत्यु’	---	१६५
ध—अमृतमृत्युद्वारा ‘अमृतमृत्यु’	---	१६६
न—अमृतमृत्युद्वारा ‘अमृतमृत्यु’	---	१६७
प—अमृतमृत्युद्वारा ‘अमृतमृत्यु’	---	१६८

समाप्ता श्रेयं ११ परिच्छेदात्मिका—

‘अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्’—द्वितीया (१)

—३—

४—यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्—तृतीया [१]

१७९-२०६

क—यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्	---	१७९
ख—यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्	---	१८०
ग—यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्	---	१८१
घ—यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्	---	१८२

घ—यज्ञात्मत्वरूपसमन्वय	---	१८४
ङ—यज्ञात्मा के यज्ञ-चित्-नामक दो विवरण	---	१८७
च—यज्ञात्मक विष्णु का स्वरूप परिचय	---	१८७
झ—परमेष्ठी का प्रथमविवरण	---	१६०
ञ—विषयबहुतिमूय यज्ञेश्वर	---	१६५
ट—यज्ञात्मा के विषय विवरण	---	२००
ड—आप्यस्मिन् यज्ञात्मा	---	२०१
ड—यज्ञ का योनिभाव	---	०७
ठ—त्रयीमन्त्र त्रिगुणत्वात्	---	२०१
ड—मन्त्रयोगोपसंहार	---	०४

समाप्ता धैर्यं १३ परिच्छेदात्मिका

‘यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्-तृतीया [३]

—४—

५-विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्-चतुर्थी [४]

२०७-२२८

क—विज्ञानात्मस्तुति	---	२०७
ख—परमेष्ठी का अपेक्षाकृत अन्वयकत्व	---	२०६
ग—‘विद्यस्य हृदयम्’	---	२१०
घ—सोम-चित्-इन्द्र-दिगृतिर्वा	---	११
ङ—यज्ञप्रवर्ण विद्यया	---	२११
च—सूय्यरमक कृत्रक	---	२१४
झ—सार अन्नाग्नि के तीन विवरण	---	२१७
ञ—सूर्यमूवक विज्ञानात्मा	---	२२०
ट—विषया, तथा श्रवण-विचार	---	२२५
ड—मन्त्रयोगोपसंहार	---	२२७

समाप्ता धैर्यं १० परिच्छेदात्मिका—

‘विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्-चतुर्थी [४]

—४—

६ महानात्मविज्ञानोपनिषत् पचमी [५]

२२६ २४८

क—महानात्मस्तुति	२२६
ख—महाम् की महत्ता ---	२३१
ग—महादेव, और महाम् ---	२३२
घ—सोम चित्, और पितर—प्राण ---	४
ङ—प्रजापति के तीन विवर्त	२३४
च—त्रिगुणात्मक पुरुषमण्ड	२३५
छ—एकाक्षरमूर्ति महद्ब्रह्म	२३७
ज—विश्वोक्तिमहद्ब्रह्म महानात्मा ---	२३८
झ—सुषुप्त्यधिष्ठितमहानात्मा ---	३६
ञ—आकृति प्रकृति अहङ्कृति—भाव ---	२४१
ट—सत्त्व—रज—तमाकाकाका महानात्मा ---	२४२
ठ—चान्द्रमहानात्मा ---	२४४
ड—चान्द्रमहानात्मा ---	२४५
ण—प्रकरणीयमहद्ब्रह्म ---	२४८

समाप्ता येय १४ परिच्छेदात्मिक—

‘महानात्मविज्ञानोपनिषत्’ पचमी [५]

—६—

७ प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्-पष्ठी [६]

२४६ ४०२

१—प्राणात्मस्तुति	२४६
२—अविज्ञान कृत्तिकाविज्ञानमूला आग्नि	२४९
३—विमिश्रपञ्चसमर्थन ---	२५२
४—आकाशपञ्चमूला आत्मरूपविमिश्रितपति ---	२५७
५—आत्ममेवस्वरूपपरिचय	२६०
६—आत्मपरिमहद्ब्रह्म—आत्मरूपमेव	२६०
७—सीमावर्त्यमेव—‘माया’ परिमहद्ब्रह्म	२६१
८—योऽप्राक्यामनस्व—‘कृता’ परिमहद्ब्रह्म	२६४

६—सगुण-सविकारभावप्रवर्तक-‘गुण-विकार’ परिग्रह	२६३
१०—सावरण-साधनभावप्रवर्तक-‘आवरण-आधुन’ परिग्रह	२६३
११—विभूति तथा पाप्मा	१४
१२—विराट्प्रज्ञापति	
१३—मर्त्यवर्गपरिपन्न पुण्यकर्म	१६
१४—प्रज्ञापति-वस्तुप्रदी	१७
१५—जीवात्मस्वरूपोपपन्न	२६७
१६—विद्वत्सा, विद्वत्, विद्वत्सा	६८
१७—योग-वन्ध विभूति	१
१८—विदित अविदित विदितानीत आत्मविषय	२७१
१९—‘प्रविष्टी अन्तरिक्षं यो.	२७२
—राष्ट्रप्रज्ञा’ विषय	२७४
१—विषय सुखानि	७३
२०—गुड-वैज्ञानिक	
२१—दक्षिणामूर्ति-शिवलक्षण	२७६
२२—बापुवैदित्य भूपिण्ड	७७
२३—अज्ञानमूर्ति और भूपिण्ड	२७८
२४—गुड और शुक्लपशु	२७९
२५—अज्ञान-मर्त्यलक्षणा पार्थिवमूर्ति	८१
२६—वैष्णवप्रतिस्पर्धा	८२
२७—विश्वस्त पार्थिव प्रज्ञापति	८३
२—वस्तुज्ञानमर्त्य पार्थिव विषय	८४
२८—पार्थिवगति क पार्थिव विषय	
२९—पार्थिवगति का अज्ञान	८५
३०—वस्तुज्ञान और गुणलक्षण	८६
३१—पार्थिवगतिरूप	८८
३२—पार्थिव-महाज्ञान-वस्तुपरिचय	
३३—वाक्यमार्गी-वस्तुपरिचय	८९
३४—वाक्य मर्त्यमार्गी	९१
३५—मर्त्यमार्गी-वस्तुपरिचय	९२

६—आदिति-दिति विवर्त	--	२६३
४०—सर्वभूतात्मरात्मा	---	२६८
४१—आत्मगतपवित्रता-सुपरात्मा	---	३०१
४२—परिच्छिन्नसुखबन्धन	---	३०४
४३—आमातकारिक पुरुषात्मा	---	"
४४—मायात्मोनिवत् की वपनिवत्	---	३११
४५—बैशानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञात्मक विराट् के बर्तन	--	३१४
४६—अर्धमूर्ति-‘बैशानरात्मा’	"	३१६
४७—क्रियामूर्ति-‘तैजसात्मा’	---	३१४
४८—ज्ञानमूर्ति-‘प्राज्ञात्मा’		३१४
४९—सूतमूर्ति-‘वाक्सात्मा’		३४०
५०—सर्पज्ञ-आत्मज्ञ का समतुलन		३४५
५१—विभूतिलक्षण ‘मृति’ तत्त्व		३४३
५२—विभूतिलक्षण ‘पितृ’ तत्त्व		३४७
५३—विभूतिलक्षण ‘असुर’ तत्त्व		३४८
५४—विभूतिलक्षण ‘देवतत्त्व’ तत्त्व		"
५५—विभूतिलक्षण-‘मनु’ तत्त्व	---	"
५६—विभूतिलक्षण-‘गन्धर्व’ तत्त्व	---	३४९
५७—विभूतिलक्षण-‘ग्राह’ तत्त्व	--	"
५८—विभूतिलक्षण-‘पाशु’ तत्त्व		"
५९—विभूतिलक्षण-‘क्षीर’ तत्त्व	---	३५०
६०—विद्यावदुच्छेदीकक्षणा ‘विद्याविभूति’	---	३५०
६१—महाविभूतिलक्षणा-‘कर्मविभूति’		३५३
६२—अनुष्ठानलक्षणा-‘कर्मविभूति’		३५६
६३—अभ्यसनलक्षण ‘शुद्धविभूति’	--	३५३
६४—गतिलक्षणा-‘प्राणविभूति’	--	३५४
६५—क्षीरनयात्राभावनलक्षणा-‘ज्ञानकर्मनिष्ठविभूति’		३५०
६६—सर्वव्याप्तिलक्षणा-‘पूर्णविभूति’		३५०
६७—‘सत्यसंकल्पविभूति’	---	३५०

[illegible]

समाप्ता अर्थ ८६ परिच्छेदात्मिका—

प्राणात्मविज्ञानोपनिषत् -यष्टी

— 9 —

समाप्ता चेत्-आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' प्रथमा

1

— — — — —

समाप्तवार्त्त-भाद्रपिणाम प्रथमखण्डः

3

सेवा संचिप्तविषयस्तु समाप्ता

खण्डचतुष्टयात्मक-‘आत्मविज्ञान’ के-‘आत्मविज्ञानोपनिषत्’ नामक

प्रथमखण्ड में

प्रतिपादित कुछ एक वैज्ञानिक विषयों का दिग्दर्शन-(आदर्शात्मक)

केवल ‘प्रस्तावना’ के वैज्ञानिक विषयों की सूची

—X—

१-‘किमपि प्रास्ताविकम्’ नामक प्रथम प्रकरण के वैज्ञानिक विषय-पृ० सं० १ से ५८ पर्यन्त

संख्या	नाम	पृष्ठ	मस्य	नाम	पृष्ठ
१-	आग्नेय में गायुषति	१	१६-	देवों के द्वारा भद्रा की उपासना	६
२-	पाक की व्याख्या		२०-	सर्वकामप्रदायी भद्रा	११
३-	मुह्य बाग्देवी	२	२१-	भद्राद्वारा सत्यमंरण	११
४-	देवविदूषकनरक		२२-	भद्राद्वारा आदिकर्मप्रतिष्ठा	११
५-	आग्नेय भद्रा नर	३	२३-	भद्राविमर्शपरम्परा	१२
६-	आग्नेय विवहविदूषा		२४-	भद्रासंस्मरण, और प्रस्थापन	१२
७-	भद्रा नर, और इसकी श्रुति	४	२५-	भद्रा के प्रति निष्ठाभाव	१३
८-	भद्रा से सबप्रतिष्ठामना	५	२६-	भद्राविमर्शपुति	१३
९-	भद्रा के तीन सबन	५	२७-	आपप्रजापतिव भद्रापरिभाषा	१३
१०-	आग्नेयचक्रनदी भद्रा	६	२८-	प्रतिस्तिरपरिभाषा	१४
११-	भद्राद्वारा विवहों का आवाहन		२९-	विवहों के विषय विवहदान	१४
१२-	बाह्-द्वारा पाशदान	६	३०-	विदूषता साविदूषमाह	१५
१३-	भद्रा की आहुति से पुण्यप्राप्ति	७	३१-	गजप्राणानुगत महानयभाष	१५
१४-	भद्रा का विधानवि		३२-	भद्राद्वारा वराहदा	१५
१५-	भद्रा से गन्धप्रतिष्ठा	७	३३-	भद्राद्वारा प्रजापतिवित्तान	१५
१६-	भद्रा का दुर्धमप्रिष्ठान	७	३४-	भद्रा के अग्नेयपत्र	१६
१७-	भद्रा का आहुतिपद	७	३५-	प्रस्थापनपरम्पराविधान	१६
१८-	भद्रा और अग्निदान	७	३६-	भद्राद्वारा अग्नेय विधान	१६

संख्या	नाम	पृष्ठ	संख्या	नाम
१८	धनार्पणका क इन्द्रादीह	६	६६	इष्टाजगन्निर्माणक शिवायन्त्र
१९	धनार्पणका क व्यामोह	१	६७	शिवायन्त्राधिपत्य
२०	व्यामोहद्वारा कर्मविफल	"	६८	मुद्राक्रमण से संरक्षण
२१	शिवविष्ठा स्थापना	"	६९	संस्कृत पर यचनाक्रमण
२२	यम पराक्रमण	"	७०	यचनाक्रमण, और स्वशिवा
२३	स्वामीव्ययनम् की मान्यता	"	७१	यचनाक्रमण से संरक्षण
२४	स्वामीव्ययनम् की अमूर्तिविष्टि	"	७२	'परम्परा' का इतिहास
२५	स्वामी वचनम् के कवचार	"	७३	मनीष्यक्रमण की मध्यमस्था
२६	स्वामीजी की कल्पित तर्कपरम्परा	"	७४	भारतवसुधारा का कम्पन
२७	स्वामीजी की भावमूर्ति	१२	७५	गोप्यमनोभाषानुगत शिवा
२८	स्वामीजी का व्यामोह	"	७६	कुत्सिनीति की अभिव्यक्ती
२९	इष्टोक्त स्पष्टीकरण	"	७७	नवीनशिवा के कटुफल
३०	त्रिशासनात्मक का संशय	१३	७८	अवधारणपरतन्त्र, और शिवा
३१	पारस्परिक गृहकलह	"	७९	विचारस्वातन्त्र्य और आर्पणशिव
३२	गृहकलहराजिन् और धन्य	"	८०	अवधारणस्वातन्त्र्य और परशिवा
३३	अज्ञानताद्वारा मनमय	"	८१	विचारपारतन्त्र्य और परशिवा
३४	जलमहद्वारा समाजविच्छेद	"	८२	इमपरशिवा की प्रतिबन्धिता
३५	समाजविच्छेदद्वारा राष्ट्रिय निर्बलता	"	८३	वर्तमानशिवा का पुरस्कार
३६	निर्बलताद्वारा राष्ट्रिय परतन्त्रता	"	८४	उभयविध दासता
३७	प्रथमका खोपसंहार	१४	८५	मानव का जगन्निष्ठ अधिपति
३८	मानवधर्म का अनुसरण	"	८६	सत्यश्यामका मलमूर्ति
३९	मानव की विकसित ज्ञानशक्ति	"	८७	व्यामोह में महाभक्ति
४०	गुरुपदमा की सर्वव्याप्ति	"	८८	संमर्गदोषमूल्य भाक्ति
४१	ज्ञान और शिवायन्त्र	"	८९	बीजमन्त्र पर प्रहार
४२	व्यामोहद्वारा ज्ञानविच्छेद	"	९०	स्वातन्त्र्यता की वीथियाँ
४३	मूर्च्छाका निर्बलता	"	९१	अमहयोगानुगति
४४	शिवायन्त्र का इष्टाजगन्निर्माण	"	९२	आर्पणशिव का प्रशमन
४५	इष्टाजगन्निर्माण समाप्त	"	९३	माह-ह कात्ययन
४६	मनोऽनुगत बुद्धिमत्ता	"	९४	राष्ट्रमित्रतामूर्ति का स्वतन्त्रता

सख्या	नाम	पृष्ठ	सख्या	नाम	पृष्ठ
६५—	सुन्दरेश्वर शास्त्र	१६	१४—	नवदुयको की विज्ञाता	२३
६६—	पिनाराजन विषयेतमुक्ति	"	१५—	कल्पित समाधान	२४
६७—	अविमर्शदाय का उपहास	"	१७—	विश्वाम की शिष्यता	"
६८—	वेरा का शैराचार	"	१८—	शास्त्रनिष्ठा की उपायता	"
६९—	पम्पे येरोवी अर्कोन्त्र	"	१९—	महाजनपथमीमांसा	"
१००—	परशिका की महिमा	"	२०—	उपपत्तिमान का अनिवाप्यता	"
१०१—	स्वतः प्रशस्तिपरिभाषा	"	२१—	अपरलपिकान की उपायता	२५
१०२—	ज्ञानानुगत मध्यम	२०	२२—	अनिवाप्ये देदिद्विज्ञान	"
१०३—	कम्मनिगत सप्रवच	"	२३—	द्वै विद्वान्द्वारा सपक्षिगति	"
१०४—	अर्थानुगत विद्वत्त	"	२४—	धार्मिक संघाम का बिभीषिका	"
१०५—	पुण्यार्थ वक्तृत्वी	"	२५—	शान्ति क परिमल सत्य	२
१०६—	महज्जानेपासना	"	२६—	सांस्कृतिक महासंघर्ष	"
१०७—	भारतीय मातृशिक्षा	"	२७—	रक्षा की अन्तर्दमिमा	"
१०८—	अपेक्षणीय शिक्षाधन	"	२८—	भारतीय संघ	"
१०९—	अपेक्षणीय शिक्षामाम	"	२९—	संघर्ष में विश्व	"
११०—	अनुभवगम्या समस्या	२१	३०—	विज्ञानप्राप्ति क साधन	"
१११—	दुःखान्ध का सुखपरायण	"	३१—	इशानतामो का उपपा	"
११२—	अपनति का मूलपरण	"	३२—	स्वच्छुदय, आर आर्षिसाहित्य	"
११३—	विद्वानों की विद्वता	"	३३—	आपधम की मनपारिता	"
११४—	विज्ञान पर प्रहार	"	३४—	अज्ञानमूलक मनपार	"
११५—	अधर्मप्रपाक का देहा	"	३५—	अपठनमरणक आर्षिपम्पे	"
११६—	अज्ञानप्रमादि	२	३६—	अवसाद क मध्य अनुत्तनप्रान्ति	"
११७—	परशमत्र की उपपा	"	३७—	निम्नप्रान्तप्रान्तप्रान्तप्रान्त	"
११८—	अधर्म-मूर्ति का तालम्ब	"	३८—	अपेक्षणीयानुगत	"
११९—	राजा का अन्तःकरण	"	३९—	अपेक्षणीयदाय पर उपपन्न आधम	"
१२०—	अधर्म-मूर्ति का अन्तःकरण	"	४०—	इतरमन्त्रार्थों की अनुति	"
१२१—	निष्ठाप्रकार क प्रारम्भ	२३	४१—	अधर्म-मूर्ति का अन्तःकरण	"
१२२—	अधर्म क प्रति आधमिमा	"	४२—	अधर्म-मूर्ति की अनुति	"
१२३—	अधर्म की अन्तःकरण	"	४३—	अधर्म-मूर्ति की अनुति	"

संख्या	नाम	पृष्ठ	संख्या	नाम	पृष्ठ
२१३-	मूर्खतापूरा वक्तावास	३६	२१५-	प्रमाणे अनिष्ट के निर्धारन	४८
२१४-	पाश्चात्यन्यायशास्त्र समाधान	३७	२१६-	विशुद्ध रूप के निर्धारन	४९
२१५-	तृतीय क्षरणमीमांसा	३८	२१७-	द्वितीयविशुद्ध के निर्धारन	५०
२१६-	स्वार्थमूलक क्षरण	३९	२१८-	तृतीयविशुद्ध के निर्धारन	५१
२१७-	विशुद्धता सहायक	४०	२१९-	चतुर्थविशुद्ध के निर्धारन	५२
२१८-	ज्ञानमूलक चर्चात्मक वेद	४१	२२०-	तृतीयविशुद्ध विषयोपक्रम	५३
२१९-	मन्त्रशास्त्रात्मक वेद	४२	२२१-	सापेक्षविज्ञान	५४
२२०-	क्षेत्रज्ञानी, अर्थात् वेदज्ञानी	४३	२२२-	मन्त्रात्मक विज्ञानविज्ञान	५५
२२१-	सब साधिका वदत्रयी	४४	२२३-	अक्षयमोक्षनोपायविज्ञान	५६
२२२-	कर्तव्यात्मक भाव	४५	२२४-	आशौचविज्ञान	५७
२२३-	ज्ञानमूलक भाव	४६	२२५-	प्रज्ञात्मक निर्धारन	५८
२२४-	विषयविभक्तोपक्रम	४७	२२६-	अक्षयमोक्षन निर्धारन	५९
२२५-	अपनिष्टमन्त्रात्मक भाव	४८	२२७-	आशौच निर्धारन	६०
२२६-	मार्चनमान्यता	४९	२२८-	चतुर्थविशुद्ध विषयोपक्रम	६१
२२७-	अपनिष्ट शब्दरहस्यार्थ	५०	२२९-	आत्मगतिविज्ञान	६२
२२८-	आत्मविज्ञानोपनिष्ट	५१	२३०-	आपराधी	६३
२२९-	स्वयं चतुष्टयी	५२	२३१-	आर्षविज्ञानरौक्षी	६४
२३०-	प्रथममूलक विज्ञान	५३	२३२-	अन्तर्गत मी के ३ अक्षर	६५
२३१-	प्रथममूलक एवं प्रथममूलक	५४	२३३-	पुनरुक्तिमीमांसा	६६
२३२-	अज्ञानात्मक विज्ञानविषय	५५	२३४-	वेदान्तापवादवि	६७
२३३-	अज्ञानात्मक विज्ञानविषय	५६	२३५-	उद्देशशास्त्र	६८
२३४-	अज्ञानात्मक विज्ञानविषय	५७	२३६-	वादानुगत वक्ष्यबोध	६९
२३५-	विज्ञानात्मक विज्ञानविषय	५८	२३७-	संस्थानविज्ञान	७०
२३६-	वादानुगत विज्ञानविषय	५९	२३८-	अपेक्षकरी विज्ञान	७१
२३७-	प्रथममूलक विज्ञानविषय	६०	२३९-	स्वयंमार्चन	७२
२३८-	प्रथम विज्ञान विषयविज्ञान	६१	२४०-	अपेक्षकरी विज्ञान	७३
२३९-	द्वितीयविशुद्ध विषयोपक्रम	६२	२४१-	अपेक्षकरी विज्ञान	७४
२४०-	प्रमाणोपनिष्ट	६३	२४२-	अपेक्षकरी विज्ञान	७५
२४१-	विशुद्धता एवं विज्ञान	६४	२४३-	अपेक्षकरी विज्ञान	७६
२४२-	द्वितीयविशुद्ध के निर्धारन	६५	२४४-	अपेक्षकरी विज्ञान	७७
२४३-	तृतीयविशुद्ध के निर्धारन	६६	२४५-	अपेक्षकरी विज्ञान	७८
२४४-	चतुर्थविशुद्ध के निर्धारन	६७	२४६-	अपेक्षकरी विज्ञान	७९
२४५-	चतुर्थविशुद्ध विषयोपक्रम	६८	२४७-	अपेक्षकरी विज्ञान	८०
२४६-	आशौचविज्ञान	६९	२४८-	अपेक्षकरी विज्ञान	८१
२४७-	प्रज्ञात्मक निर्धारन	७०	२४९-	अपेक्षकरी विज्ञान	८२
२४८-	अक्षयमोक्षन निर्धारन	७१	२५०-	अपेक्षकरी विज्ञान	८३
२४९-	आशौच निर्धारन	७२	२५१-	अपेक्षकरी विज्ञान	८४
२५०-	चतुर्थविशुद्ध विषयोपक्रम	७३	२५२-	अपेक्षकरी विज्ञान	८५
२५१-	आत्मगतिविज्ञान	७४	२५३-	अपेक्षकरी विज्ञान	८६
२५२-	आपराधी	७५	२५४-	अपेक्षकरी विज्ञान	८७
२५३-	आर्षविज्ञानरौक्षी	७६	२५५-	अपेक्षकरी विज्ञान	८८
२५४-	अन्तर्गत मी के ३ अक्षर	७७	२५६-	अपेक्षकरी विज्ञान	८९
२५५-	पुनरुक्तिमीमांसा	७८	२५७-	अपेक्षकरी विज्ञान	९०
२५६-	वेदान्तापवादवि	७९	२५८-	अपेक्षकरी विज्ञान	९१
२५७-	उद्देशशास्त्र	८०	२५९-	अपेक्षकरी विज्ञान	९२
२५८-	वादानुगत वक्ष्यबोध	८१	२६०-	अपेक्षकरी विज्ञान	९३
२५९-	संस्थानविज्ञान	८२	२६१-	अपेक्षकरी विज्ञान	९४
२६०-	अपेक्षकरी विज्ञान	८३	२६२-	अपेक्षकरी विज्ञान	९५
२६१-	स्वयंमार्चन	८४	२६३-	अपेक्षकरी विज्ञान	९६
२६२-	अपेक्षकरी विज्ञान	८५	२६४-	अपेक्षकरी विज्ञान	९७
२६३-	अपेक्षकरी विज्ञान	८६	२६५-	अपेक्षकरी विज्ञान	९८
२६४-	अपेक्षकरी विज्ञान	८७	२६६-	अपेक्षकरी विज्ञान	९९
२६५-	अपेक्षकरी विज्ञान	८८	२६७-	अपेक्षकरी विज्ञान	१००

— ० —

उदाहरणविषया—उद्धृत—‘प्रस्तावना’

मात्र क कतिपय वैज्ञानिक विषयो

यह दिग्दर्शन समाप्त

— ८ —

५५

‘किमपि प्रास्ताविकम्’

‘आत्मविज्ञानोपनिषत्’ नामक

प्रथमखण्ड की

प्रास्ताविका

श्री-

भाद्रविज्ञानोपनिषद्ग्रन्थान्तर्गत-

‘आत्मविज्ञानोपनिषत्’ नामक प्रथमखण्ड

१

पितामह्ये निवसन्ति साधार्ये देवलोकं च त्वान्तरीये ॥
महीदले ये च भूरादिग्रन्थास्ये मे प्रतीच्छन्तु मयोपनात्म ॥१॥
स्तिष्ठामस्ये परमात्मगूढा य ई दिमाने निवसन्ति दूर्घा ॥
यत्रन्ति यानस्तमलैर्मनोमियोगीभिरा बलशुचिस्तुतिरुत्त ॥ ॥
पितृकमस्ये दिवि ये च मूर्धा स्वपाशुज काम्यकलाभिमन्थी ॥
प्रदानशक्ता सकृत्पितृतानां विदुक्तदा येऽनमिप्रदितपु ॥३॥

—श्रीमार्कण्डेयपुराणे

श्राद्धविज्ञान

(आत्मविज्ञानोपनिषत्)

प्रथम खण्ड

किमपि श्रास्तम्भिकम्

महत्सपाठ—

१—नि पु सीद गणपते गणेषु स्वामाहुर्विप्रतम कवीनाम् ।

न श्रुते स्वत क्रियते किञ्चनारे महामर्क मधवविभ्रमर्ष ॥

—कवय १ १११२५

२—वाच ब्रह्मा उपजीवन्ति विश्वे वाच गन्धर्वाः पद्मवो मनुष्याः ।

वाचीमा विद्या धुषनान्परिषता सा नो ह्य धुषतामिन्द्रपत्नी ॥

—ते जा १८८१४

१—हे गवन्दे । आप यहाँ में (मरुती, तथा सौम्यणी में) विरुद्ध, कर्तव्य (विग्रहको) आप ही को कविनी में दोषपूर्ण मेकनी समझा है । अतिशय बिना आपके (अनुग्रह के) लौकिक, ब्रह्म वैदिक, कोई भी कर्म नहीं किया था सफ़ा (इच्छित प्रत्येक कर्म के आरम्भ में आपका प्रबन्धमरण निश्चय अवस्थित है) । हे महवीर गणपते ! “त्रिभुव (६), पञ्चवरा (१६), सप्तवरा (१७), एकविंश (२१), त्रिपञ्च (२७), त्रयस्त्रिंश (३३)” द्वावि विभिन्न वाक्यमालीनी से युक्त, अतएव मिश्रणों की दृष्टि में आपकीय भी हमारा यह वाक्यमालीय (मन्त्रविज्ञान) है, उसे आप विभिन्न पूर्व काले का अनुग्रह करें ।

२—(१) “८ वर, ११ वर, १२ वापिष २ अक्षिणीकुमार” मेरुभिन्ने ३३ यक्षिण ध्यानेय देवदेवता, ब्रह्मामर (२) सौम्यदेवता, (३) ब्रह्मदेवता, (४) आपदेवता, (५) अक्षिमाली देवता, (६) एकविंश देवता (अनुग्रह) देवता (७) मन्त्रदेवता, (८) वाग्देवता, वे अक्षिण देवता एकमात्र वाक्यमाली की आधार का कर

७—भद्रया-पिः समिहृषते भद्रया हृषते हविः ।

भद्रां मगस्य मूर्धनि वषसा वेदयामसि ॥

—श्रुतं १ १५१११

८—भद्रां दवा यजमाना वासुगोपा उपासते ।

भद्रां हृदय्ययाहृत्या भद्रया बिन्दते वसु ॥

—श्रुतं १ १५११२

९—भद्रां प्रातर्हवामहे भद्रां मध्यन्दिन परि ।

भद्रां सूर्यस्य निमृषि भद्र भद्रापयह नः ॥

—श्रुतं १ १५११५

७—अधिकारीय भस्म वेदवक्त्र-कर्म में अग्नि के द्वारा ही वीर-विष्णुपति का वाकपय कर इनके समवेध से इस अद्वैतीयपति का समिन्धन किया करते हैं, अग्नि से इस अग्नि में कुलीकस्य प्राग्भवेकताओं के लिए अद्वैति ही होती है, ऐसी अग्नि का जो कि ऐश्वर्य के विरोध में (ऐश्वर्यशक्त श्रीमान् की प्रतिष्ठास्य सूर्य के कर्मभय में हीमान् पालेष्टी में) प्रतिष्ठित है, मैं अपनी इस अग्नि द्वारा (इस अद्वैत-प्राग्भवेकतास्य निष्कल-रक्षाकर्म में) विस्तार कर रहा हूँ ।

८—यज्ञकर्त्ता यजमान (वासुध) तथा पाणि प्रसर्गमाय से यज्ञ करनेवाले विष्णुपतिवक्त्र के वक्त्र वसु से (वासुध प्रसर्ग अद्वैतिवक्त्र से) सुश्रुति रहते हुए (अपनी इस अग्नि के लिए प्राग्भवेकतास्य) इस अग्नि की ही वक्त्रस्य किया करते हैं । अतएव अग्नि हृदय्ययाहृत्य यज्ञ के संकल्प से (संकल्पनिधि के लिए) ऐसी अग्नि की वक्त्रस्य किया करते हैं । क्योंकि अग्नि से ही अग्नि-कर्मनिधि होती है, (अतएव उस ऐसी अग्नि का अनुपमन करते हैं) ।

९—विश्वकर्मात् कर्म कर्मवक्त्रस्य संप्रसन्नमुवाच भद्र-वक्त्र में (प्रातः से मध्य-पर्याप्त) इस प्रातः-उप-वक्त्रस्य प्रातः-वक्त्र में भी अग्नि अग्नि की वक्त्रस्य करते हैं, मध्यमिन्धनस्य मध्यम में भी ऐसी अग्नि का अनुपमन करते हैं, एवं मध्यमिन्धनस्य सूर्य-वक्त्र में भी अग्नि का अनुपमन करते हैं । हे भद्र ! अतः तत्त्व-कर्मोद्गो के प्रति हमें अग्नि-वक्त्र-वक्त्र (वही उभय अग्नि से हमारी विष्णु-प्रतिष्ठा है) ।

१०—प्रिय भग्ने ददत प्रिय भग्ने विदामत ।

प्रिय भोजपु यन्वस्थिद म उदित कृषि ॥

—सूक्ष्म १ १५१२१

११—भद्रा देवान्निविष्टे “थद्वाविश्वमिदं जगत्” ।

भयान् कामस्य मातर हविषा वर्द्धयामसि ॥

—तै अ० २।८।८।९।

१२-पितरो मा विश्वमिदं भूतं पृथ्निमास्तरो मस्तः स्वकाः ।

यं अमिष्विहा उत वा यजत्रास्ते नो दद्या सुहृषा धर्मं यच्छत ॥

—ऐ सा ५१११।

१ —हे भ्रष्टे ! राज होनेवालों के लिए तथा राज होने की इच्छा रखने वालों के लिए, दोनों के लिए भगवद्गोपबन्धु प्रदान करें । हे भ्रष्टे ! भगवद् भगवत्पद्मसुधी गोपायी बन्धुओं का, यक्षधर्मा बन्धुओं का, लक्ष्मण बन्धुता करें (भगवत्से बाड़ी हमारी किम्वद प्रार्थना है) ।

११—उक्त मन्त्र नहं शीघ्र भयानक मन्त्री सेमात्मक भावुतिमान से उक्त कान्येय प्रत्यक्षक वक्त्रि
देवेकताओं का कल्याणी का रहता है (भयानक ही देवता की कान्यारम में प्रसिद्ध होती है) । कान्ये कान्यो
मय परमेष्ठ भद्र भयानक कल्याण से शोकप्रति की प्रवर्तिका भी नहीं भया है एवं कल्याण-कन्ये से कल्याण
प्रवर्तिका की सूक्ष्मता भी नहीं भया है । कल्याण नहं सम्पूर्ण विष (कल्याण सति) भी भयानक है, एवं
सम्पूर्ण कन्ये (कल्याण-कन्ये प्रवर्तिका) भी भयानक ही है । कल्याण शीघ्र मय में कल्याण की प्राप्ति
होती हुई नहीं भया मन्त्र कन्येओं की कन्यो है । ऐसी कन्ये इस भया की कन्ये इस (कल्याण-कन्ये)
कन्ये-कन्ये प्राप्ति में कन्ये कर रहा है ।

१२—अभिप्राय-सोमसूक्त-विष्णु-नामक अभिप्रायः, अथवा-सोमसूक्त-विष्णु-नामक अभिप्रायः, तथा 'मुष्करी' नाम के अनुसमयपित्र मरी, तथा सम्पूर्ण विश्व को रक्षा करें। स्वर्गसिमागत अतिरिक्त वे स्वर्ग निराधार-स्वर्गयोगी मरुतकता मयीमिति पूजनीय हैं। (क्योंकि इन्हीं के द्वारा मिथुनस्य सम्पन्न होता है)। साय ही अभिप्राय बाहुमिधन कले कावे 'हुतात्' वक्य, तथा यवन 'अहुतात्' वक्य दोनों स्वर्गयोगी मरुतकता के साथ एवं मरुतकतामयिजन सर्वविध स्थितियों के साथ आर्याना पूर्वक इन बाहुमिधन में कुम्भय करते हुए हमारे मित्र बोधस्मय-अभिमिधन राज प्रदान करें।

१३—आष्टापिधाना न कुली दन्तैः परिवृता पवि ।

सर्वस्यै वाच ईशाना पाठ मामिह वादयेत् ॥

—पृ. भा. १।२५५

जिस 'भद्रा' तत्त्व की आहुति से 'सोम' 'इष्टि' 'अन्न' 'प्रेत' 'मम' से पावनी आहुति में पुरुषरुष्टि का विकास हुआ है * जो 'भद्रा' तत्त्व अपने आपोमय रूप से सम्पूर्ण विश्व-तथा विश्वप्रजा का उपादान कारण है, जो 'भद्रा' तत्त्व त्रयीस्वरूप सत्त्वमूर्ति प्रतिष्ठाप्रदा के साथ पुष्ट हो कर सम्पूर्ण विश्व की प्रतिष्ठा बना हुआ है, जिस 'भद्रा' तत्त्व की आहुति से दिव्यलोकात्त्व प्राणदेवता अपने सन्वत्सरामि को समिद्ध रखने में समर्थ हो रहे हैं, सुलोकात्त्व सूर्य-केन्द्र से मू-केन्द्र पर्यन्त विस्तृत जिस 'भद्रा' सूत्र के द्वारा सुलोकात्त्व प्राणदेवता तथा सुलोकात्त्व ('प्रद्यौ' नामक घुकाक में प्रतिष्ठित) पितर भूलोकात्त्व यज्ञमानों से प्रवृत्त स्व-स्व आहुतिद्रव्य प्राप्त करने में समर्थ बन रहे हैं, जिस 'भद्रा' तत्त्व के आचार पर अभीपोमात्मक पाञ्चमहाभौतिक बिम्ब का स्वतन्त्रसम्पादक आग्नेयिक (प्राकृतिक) अभीपोमीय अभिष्टोत्र प्रतिष्ठित है, जिस 'भद्रा' तत्त्व की अपनी स्वतन्त्रप्राप्त छिप वायु से सुरक्षित (वायुमय-मात्ममय) देवता निरन्तर व्यासना क्रिया करते हैं जो 'भद्रा' इष्टवत्त्व मन में प्रतिष्ठित होती हुई सर्वविध कामनाओं की जननी बन रही है—जो भद्रा' अपने 'भद्र' लक्षण सत्यब्रह्म से सत्यमात्र की मूलप्रतिष्ठा बन रही है, जो 'भद्रा' सूत्र अक्षरपुरुषों के घुकाक में प्रतिष्ठित महानात्मा के द्वारा चन्द्रार्धमाग में प्रतिष्ठित प्रेत-परपुरुषों के महानात्माओं को पुनः कर पिण्डशाय द्वारा 'आहूकर्म' की मूलप्रतिष्ठा बन रहा है, जिस 'भद्रा' तत्त्व के संस्कारमात्र-अशिष्टा-कुशिष्टा-परशिष्टा-निषिद्धकर्मसंगु

१३—इमि-कीट-परी-पशु-मनुष्य-वृक्ष-पक्षि-मत्स्य-मिमांस-सूत्र-मित्र-अन्न-समर्पण आदि पञ्चमात्म (चतुर्दशविध) भूतलकी के कवचम ज्ञान की अविच्छिन्ना (पितरो पाञ्चमसिद्धन्ति) के अनुसार शिष्टलोकपरिणी के कलात्मकत्व की शक्ति ओष्ठय के घुक्षित, त्रिरक्षित-अक्षय्य बलात्कृत एक चरत्तन्त्रि से विरटि हुई वह चान्दोरी का चन्द्र (अभ्यन्तर-निष्पन्न) में सुत से मित्र-क्षित-मित्र-उत्पन्न-पत्नी का प्रयोग करता ।

*—इति तु पञ्चाम्यामाहुतावाप पुरुषबन्धो मयस्ति —भा. अ. १।५।१

गमन-इत्यादि कारणों से-अभिभूत हो जाने के कारण मानवबग सत्यधर्म से विमुक्त हो जाता है,—

वैदिक विज्ञान के अस्तप्राय हो जाने से, कुछ एक शताब्दियों से धुपित पक्षवित होने वाले वर्णाश्रमधर्मविरोधी 'सन्तमत्' के आक्रमण से, आर्यधर्मविलुप्ति से, व्याजधर्मानुगामी अर्धाशीन वक्त्रकों की कास्पनिक वृद्ध्याख्याओं से, परराजतन्त्रानुगता आर्यसंस्कृतिविरोधिनी पररिष्ठा के प्रचल आक्रमण से, सर्वोपरि अचिन्त्याप्रमेय कास्परूप की महिमा के अनुभव से भद्रानुगत आदृतत्व से सर्वथा अनभिज्ञ, 'आदृतिकर्तव्यता' से एकान्ततः पराङ्मुख, भ्रान्त भारतीयों के मानसक्षेत्र में आदृत्य प्रविष्टि करने के दृष्टि 'आदृविज्ञान निबन्ध' के आरम्भ में उसी शिष्यरूपा 'अदृदेवी' का संस्मरण करते हुए 'आदृविज्ञान' आरम्भ किया जाता है।

आदृ-अहोरात्र की एकोत्तरसप्तति (७१) चतुर्दशी में से प्रथम अष्टाविंशतितमा (२८ वीं) चतुर्दशी के मलयुग आरम्भ काल में कलियुग के आज के भोगकाल से लगभग ६०-७०

वर्ष पहले तक भारतीय आस्तिक आर्यप्रजा का 'आदृधर्म' के सम्बन्ध में जो अल्पप्रथममत प्रचलित था, दुर्भाग्य से इन अतीत ६०-७० वर्षों से किसी एक आकस्मिक कलिवार्यादित मन्त्रावात से वह शिथिल हो गया। पल्लव

'द्वेषकस्यापि द्विजस्तीनां पितृकार्यं विधिप्यते' के अनुसार अग्निहोत्र-वर्षापूर्वमासादि छत्रण द्वेषकान्य से भी कहीं बिरोध महत्त्व रखनेवाला पिण्डपितृयज्ञात्मक पितृकार्य परप्रत्ययनेय कतिपय महत्कार्यों की दृष्टि में अमद्भेय बन गया, जिसका दुष्परिणाम सङ्ग-दोष से आस्तिक-मद्भक्त प्रजाधर्मों को भी भोगना पड़ रहा है। आर्यप्रजा का आदृधर्म की इतिकर्तव्यता के सम्बन्ध में शास्त्राभिमत जो चिरन्तन भद्रा विश्वास है उसका निम्न लिखित शब्दों में अभिप्रेत किया जा सकता है—

'स्थूलशरीर परित्यागानन्तर आतिबाह्यिक-अङ्गुष्ठमात्र-सूक्ष्मशरीर धारण कर—'य ई क्वा स्माङ्गोक्तान्प्रयन्ति, चन्द्रमसमेष त मर्वे गच्छन्ति' (कौपीतकि० उप० ११२) इत्यादि कौपीतकि सिद्धान्तानुसार प्रेत संज्ञक 'प्रत्यगान्मा' (मोक्षात्मा) कम्पय्य भोगने से पहले एक बार चान्द्रमस्वत्परानुगत १३ महीनों में चन्द्रलोक में पहुँचना है। इसके साथ साथ ही आदृति-मदृति-अदृतिमाय-त्रयी का अधिष्ठाता मन्त्र-रज-समागुणक चतुर्दशीति (८४) कम्प कृप-धनात्मक पित्र्य-मह-पिण्डों से नित्ययुक्त, दृष्टप्रतिष्ठ पितर संज्ञक 'महान्मा' भी न्ययभय चन्द्रगाय के उच्च भाग में उसी एक चान्द्रमस्वत्परान् में प्रविष्टित हो जाता है।

उत्तरायणानुगता स्वर्गलोकागति, तथा दक्षिणायनानुगता नरकलोकागति दोनों आत्मगतियों के बिनामय, अतएव 'एतद्दे लोकस्य द्वार, यच्चन्द्रमाः' (कौ० उप १२।३) इस श्रुति के अनुसार 'द्वार' (उभयलोकाद्वार) नाम से प्रसिद्ध चन्द्रमा में जब प्रत्यगात्मा, तथा महानात्मा, दोनों प्रेतारमा पहुँच आते हैं, तो अनन्तर महानात्मा तो स्वप्रतिष्ठास्मरण विधूर्ण भाग में ही प्रविष्टि रह जाता है, एवं कर्मसोक्त प्रत्यगात्मा शुभानुम-कर्मफल भोगार्थ शुभानुम उत्तर दक्षिण-भागों में से किसी एक भाग को स्वगति का निमित्त बनाता हुआ 'उहा कर्ममर्गति गत' के अनुसार लोकान्तरानुगामी बन जाता है।

परलोकालोक चन्द्रलोक में प्रविष्टि पितृ पितृसह-प्रपितामहादि के महानात्मा ही श्रेष्ठ पितर कहाकर है। शब्द ही श्रुतपितर कहा गया है। इन श्रुतपितरों के लिये, दूसरे शब्दों में परलोकगत प्रेतसंरक्षक स्वराजों के लिये अद्वैतार्थक पिण्डदान करना ही आदिकर्म है। इस सम्बन्ध में आर्यभट्ट का यह दृढ़ विश्वास है कि, शास्त्रोक्त पद्धति से पुत्र-पौत्रादि वंशजों के द्वारा प्रदत्त पिण्ड-रस इन्द्रियातीत अद्वा-सूत्र द्वारा परलोकस्थ पितृ-पितामह-प्रपितामहादि की श्रुति का कारण बनता है। प्रदत्त पिण्डरस (प्राणरसकरस) से सबका बनता हुआ प्रेतारमा पार्थिवार्कपञ्चजनित दुःख से मुक्त अपनी 'अमुमुक्षा'बन्धा को छोड़ता हुआ सुखरूप चन्द्रलोक में पहुँच कर मापिण्ड्यभाष को प्राप्त हो जाता है। पाण्ड्यभाष से सम्बन्ध रखनेवाले कन्यागत-महाकन्य-आह्वयन में लक्षण प्रेतपितरों की लक्षणविधान-विधियों में पुत्रादि द्वारा सम्पादित पिण्डदानादिलक्षण आदिकर्म से लक्षण प्रेतपितर प्रतिवर्ष हुए हुआ करते हैं। आह्वयन से पुत्र पितर अद्वासूत्र द्वारा मापिण्ड्यस्य न्व-पुत्रादि के शुक्रस्य पिण्डसह-पिण्डरसक महानात्मा में जीवनीय-मन्ततिवितानारसक पिण्डरस का आधान करते रहते हैं। इस आहित रस से प्रजावन्नुचितान अमुग्न बना रहता है फलन बंशोच्छेद का व्यवसर नहीं आने पाता। जो अमिमिषिद परलोक आते हुए तथा परलोक में पहुँचे हुए प्रेतपितरों के निमित्त पिण्डदानादि स्मरण आदिकर्म नहीं करते, उनके प्रेतपितरों के पिण्डसह-पिण्ड क्षीण हो जाते हैं। उनके क्षीण हो जाने से तदभिन्न तन्पुत्रादि के दुःख में प्रविष्टि महानात्मा के पिण्डसह-पिण्ड क्षीण हो आते हैं, दुःख निवृत्त हो जाता है। यही पिण्डरस इनके बंशोच्छेद का एक अन्यतम कारण बनता है। इस बंशोच्छेद के साथ साथ अनुचित पितरों के अमिराज से ये लोक-समृद्धि से भी वंचित रहते हैं। अतएव आवश्यक है कि, प्रजावन्नुचितान के लिये तथा प्रेतारमा को मुक्त कर इन श्रुति के द्वारा उभयविध सौख्य प्राप्ति के लिये प्रत्येक महत्सु अद्वा-नुसार परिमर्श का संग्रह कर यथाविधि पिण्डदानादि स्मरण आदिकर्म का अनुगमन करता

रहे। पिण्डवानादि छद्मण आत्मकर्म के इन्हीं अतिशायों का स्वीकरण करते हुए भगवान् पाण्डवस्य ने कहा है—

- १—स्वर्ग-वपत्य-मोजश्च सौख्य-क्षेत्र-धलं तथा ।
पुत्र-धैर्यश्च च-मीमांस्य-समृद्धि-मुस्यतां क्षुमाम् ॥
- २—प्रवृत्तचक्रतां चैव चाणिज्यप्रभृतीनिपि ।
अरोगित्वं यद्यो वीतद्योक्ततां परमां गतिम् ॥
- ३—घन वेदान् भिषकसिद्धिं क्षुप्य गा जप्यजाविक्रम ।
अयानायुश्च विचिषद्य भाद्र मन्त्रयच्छति ॥
- ४—कृषिकादि-मरण्यन्तं च कामानानुयादिमान् ।
आस्तिक भद्रघनश्च व्यपेतमदमत्सर ॥
- ५—यमुन्नादिविद्यता पितर भाद्रदधता ।
प्रीयन्ति मनुष्याणां पितृन् भाद्रेण तर्पिता ॥
- ६—आयु , प्रजां, घन, विधां, स्वर्ग, मोक्ष, सुखानि च ।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं श्रीता नृणां पितामहा ॥'

—यजुर्वेदसंहिता अथ पा १ ।

“गतानुगतिका लोको न लोकः पारमार्थिक” इस लोकसृष्टि से सम्बन्ध रखने वाली प्रचलित परिपाटी के अनुसार प्रवृत्तारम्भ करने से पहिले उनकी आवश्यकता के सम्बन्ध में भी विचार की आवश्यकता निवर्तन कर देना आवश्यक हो जाता है। इसी आवश्यकता का अनुभव करते हुए हमें इस सम्बन्ध में नाप्राप्त अग्रिम सत्य को छद्म बनाते हुए निबन्ध निवर्तन— रचना-कारणवरी का स्वीकरण करना पड़ रहा है। इन तीनों कारणों में से प्रथम कारण की ओर ही विश्व पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

आत्मकर्म के लार्पप्रजामिमल स्वरूप के सम्बन्ध में पूर्ण में का कुछ कहा गया है, पारमार्थिक जगत् सदा से उसी चतुष्टय का अनुगमन करता आ रहा है। पिण्डवानादि-छद्मण आत्मकर्म की वैदिकता में उसे कभी मन्वेद नहीं हुआ। परन्तु विगत अदृशताद्वयी से इस आत्मकर्म के वैदिक कर्म के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के उद्घापोह होने लगे हैं। यों तो उसे ऐसे परास

विषयों के सम्बन्ध में साधारण-व्यक्तियों को सदा से ही ध्यामोह होता चला आ रहा है। फलस्वरूप भारतीय आर्यधर्मानुगता (सनातनधर्मानुगता) आर्यप्रजा को सदा से ही सामयिक धर्मविद्वदों का सामना करना पड़ा आ रहा है। तथापि वर्तमान शताब्दी का धर्मविद्वद अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। साथ ही विगत शताब्दियों में परमतत्त्वविदों के धर्म पर चिन्तने भी आक्रमण हुए हैं उन सब की अपेक्षा आज का आक्रमण अपेक्षाकृत कहीं अधिक भयावह बन रहा है। कारण यही है कि, आज तक इस मानवधर्म पर केवल बाह्य आक्रमण हुआ था दूसरे शब्दों में अब तक सनातनधर्म को विपर्ययों का ही सामना करना पड़ा था, परन्तु इसीसे आज कसे स्वधर्मानुयायियों के ही आक्रमण का उद्भव बनना पड़ रहा है, एवं इसी दृष्टि से यह आक्रमण अतीत आक्रमणों की तुलना में कहीं श्रेष्ठ बन रहा है। इस धार्मिक विप्लव के अहाँ अन्यथात्वं कई एक सामान्य कारण हैं, वहाँ यदि हम मूछ नहीं कर रहे तो मन्मथी स्वामी दयानन्दजी ही एक मुख्य कारण मानें जा सकते हैं। 'अनृतसहिता वै मनुष्या' (शत १।१।१।) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जन्मतः अनृतसहित होते हैं, स्वप्नमय मृत के अनुग्रह से ज्ञान्ति हो जाना मनुष्य का स्वामाधिक धर्म है। अतीतानागत विदित्वेदितव्य साक्षात्कृतधर्मा मनुष्यों की विषय दृष्टि अहाँ सबका निर्भान्त होती है वहाँ केवल बाह्यदृष्टि के अनुगामी सामान्य मनुष्य इन्द्रियातीत विषयों के सम्बन्ध में केवल अपनी बाह्यदृष्टि के आधार पर 'इन्द्रियमय' निर्णय करने में सर्वथा असमर्थ हैं। यदि वे स्वकल्पना के आधार पर इन परोक्ष विषयों के सम्बन्ध में इष्टानुसृत निर्णय करने की अनधिकार चेष्टा करते लगते हैं तो उन की यह चेष्टा व्यर्थप्रज्ञा की दृष्टि में सबका ज्ञान्त, अत्यन्त अप्रामाणिक ही उद्घोषित होती है। तत्त्वतः स्वामीजी मनुष्य के उनके पास कृपिदृष्टि का आत्यन्तिक अभाव था। अतएव अपनी विद्वद् बाह्यदृष्टि के आधार पर कश्चित् बाह्यजगत् से सम्बन्ध रखन वाली सामाजिक वृत्तियों के प्रति अहाँ हिन्दू-आदि का अपकाराभास किया वहाँ अपने मानव मूलम अनर्था अनृतभाव के कारण वैराग्यसिद्ध धार्मिक-इतिक-तन्त्रिक-आदि के (वेदमिद प्रतिमापूजन अवतारवाद आदि पाश्चात्यमन्त्र, आदि के) सम्बन्ध में सर्व वैराग्य को ही आधार बना कर अपनी विद्वद्-अनर्था-अनृतमायापना-कल्पना के आधार पर कुछ एक पेशी भण्डार मूछ कर डाली है, जिनके प्रभाव से क्रियात्मक सनातनधर्म का एक प्रकार से गहरा मुट गया है। यह कौन जानता था कि, प्राच्य आप्यधर्म, आर्यसंस्कृति आप्यधर्मता, आदि प्राच्यविभूतियों के जन्मप्रकाश को अपने आधिक्यमय मुट पाश्चात्यप्रकाश से अमिश्रित करने बाध पाश्चात्यशिक्षात्मक सोभाग्यमय को पूज्यजन विकसित होने के लिए एक भारतीय वैदिक

ब्राह्मण के ही द्वारा इस प्रकार का सुपरिष्कृत धरातल उपलब्ध हो जायगा। आत्मपरमात्मसत्ता ज्ञान से वञ्चित, प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाले वैद्विरोधी चार्वाक लोग अज्ञानतावश—

“मृतानामिह जन्तूनां भ्रातृ चेत्पुत्तिकारणम् ।

गच्छतामिह जन्तूनां धर्मं पापेयकल्पना ॥”^१

इत्यादि जिन कुतर्कमूलक कारणाभासों को मानने रखते हुए पिण्डवानादित्यज्य^२ भ्रातृकर्म का उपहास किया करते हैं स्वामीजी ने उसी चार्वाकमूलक नास्तिकवाद जैसे अधन्यवाद का पोषण करते हुए मृतपितृनिमित्तक पिण्डवानादित्यज्य भ्रातृकर्म का खण्डन करने का हुस्नाहस किया है। चार्वाकमत की समालोचना करते हुए, उक्त श्लोक को चार्वाक मत में उद्धृत करते हुए, चार्वाक के इस कवन की पुष्टि करते हुए उत्तरपक्ष में आगे आकर स्वामीजी कहते हैं— ‘ब्राह्मणों ने भ्रेतकर्म अपनी जीविकार्थ बना लिया है, परन्तु वेदोक्त न होने से खण्डनीय है’ (देखिये—सत्यार्थप्रकाश १२ स०। भा० मधुमीमासा २१ वां संस्करण २६४ पृ०, / बी पक्ति)।

इसी प्रकार आपसम्भवा के जनन्य पक्षपाती, अनुद्देशकरी भूपिभाषा के अपने आप को पृष्ठपोषक मानने वाले, किन्तु उसी चार्वाकमतमीमांसा में सुप्रसिद्ध वैद्व्याख्याता अट्टेय मरी धरादि वैद्व्याख्यकारों के प्रति— ‘हां मांड धूर्त निष्ठाधरवत् महीधरादि टीकाकार हुए हैं, उनकी धूर्तता है, वदों की नहीं’ (सत्या० २६४ पृ०। ११ पक्तियां) इस प्रकार की अशिष्ट-असम्भ-भाषा का प्रयोग करते हुए शिष्टतम ऊर्धी स्वामीजी ने अपने विश्वविख्यात ‘अग्नेवादिमाध्यमूमिका’ नामक ग्रन्थराज में पञ्चमहायज्ञान्तरांत पितृयज्ञ का निरूपण करते हुए अपने निम्न लिखित वैद्वाराज्यसम्मत—हां विद्वद् वैद्वाराज्यसम्मत १—अद्भुत प्रकट किए हैं—

“तस्य (पितृयज्ञस्य) द्वौ भेदोस्त—एकस्तर्पणाख्यो, द्वितीयो भ्रातृकल्प्यम् ।

तत्र येन कर्मणा भितुषा इवान् पितृ भ तर्पयन्ति, सुखयन्ति, तत्तर्पणम् ।

तथा यत्तपां भद्रया सेवनं क्रियते, तच्छ्राद्धं वेदितव्यम् । तत्र विद्वत्सु

१—मरे हुए प्राणियों की तृति का साक्ष्य यदि भ्रातृ (भ्रातृकर्म में मृतपितृओं के लिए भ्रतृ निष्ठादिपञ्च भ्रातृकर्म) है, तो निवेद्यमान करने वाले जीवित प्राणियों के लिए पापेय (मार्ग क भोजन) की कल्पना व्यर्थ है। फिर तो जिस द्वार से परलोकगत मृतप्राणियों की आत्मा पहुंचा दिया जाय है, उसी द्वार से निवेद्यपञ्च प्राणियों को भी तृप्त किया जा सकता है।

विद्यमानेष्वेतत् कर्म सधत्तं, नैव मृतकेषु । कुत । तेषां प्राप्त्यभावेन
सर्वनाशक्यत्वात् । तदर्थात्कृतकर्मणः प्राप्त्यभाव इति न्यायपक्षः । तस्मा
विद्यमानाभिप्रायैतत् कर्मापदिश्यते । सेव्यसेवकमनिकर्पात् सर्वमेतत् कर्तुं
शक्यते" (श्रु. भा० मू० पितृयज्ञविषय) ।

एक निदर्शन से प्रकृत में बतलाना यही है कि, जन्मानुगता जाति के अनुग्रह परम्परा
मार्ग सुमर्शकारों की कृपा से 'आद्व' राज्य से तो स्वामीजी का प्रेम अवश्य है । परन्तु
वेद-सम्मानमिद्वानुगत स्वाभाविक अनुसंस्कार के अनुग्रह से सुखि-सुखिराजसम्पत्ता पिण्ड
दानादि-कृत्य मृत-प्रेतानुगता चिरकाळ से बड़ी आन वाछी आन्देतिर्कृत्यता से आप
सहमत नहीं हैं । एवं इस अपनी अमान्यता की मान्यता के सम्बन्ध में मुख्य कारण आप
यह बतला रहे हैं कि 'वैवशाख में आद्व का विधान नहीं है । शास्त्रामिमत् तर्क (३) से
सम्बन्ध रखने वाले बाद का अनुगमन 'बाद बाद जायते सत्यवोध' के अनुसार वहाँ वस्त्र
निर्यायक माना गया है वहाँ शास्त्रविद्वत् तर्क (४) से सम्बन्ध रखने वाला बाद वृत्त से ही
प्रगम्य है । अतएव ऐसे जगहन-मण्डमात्मक बाद से हमारे अन्तर्गत का कोई सम्बन्ध
नहीं है । प्रतिपाद्य विषय का सुखि, तर्क, विज्ञान सर्वोपरि अक्षप्रमाण के आधार पर प्रति
पाद्य कर देना ही हमारे कर्तव्य की कृतकृत्यता है । ऐसी दशा में स्वामीजी के आद्वकर्म-
विषयक अराक्षीय कल्पित मिद्वान्ताभास का इस विज्ञानप्रधान-राक्षीय निबन्ध में उल्लेख
करना यद्यपि सर्वथा असामयिक, साब ही कुछ एक अमिनिविष्ट सन्मित्रों के लिए लगेकर
या तथापि किसी कारण विराप से ही हमें इस निबन्ध-रचना-कारण-निदर्शन में ऐसे अमिष

१ "एतत् कृत्य के तर्क, और अन्य कामक हो गेह हैं । जिस कर्म से (मनुष्य) मित्रों, वैद्यकों,
कर्मियों, तथा मित्रों की सुख करते हैं उन्हें सुख पहुँचाते हैं, वह सुख कर्म तर्क है । एवं जिस कर्म से
अप्राप्त्यर्थक स्वामी सेवा की जाती है उसे आद्वकर्म समझा जाये । वह कर्म बीजित शिर जाति के
सम्बन्ध में ही उत्पन्न है मर हुओं के लिए नहीं । कारण : सुख शिर का ही नहीं तो अन्य सेवा
करके उन्हें लिए हुए वह कर्म ही उनके ग रहने से व्यर्थता भी है । इसीलिए आद्व, तर्क का उपदेश
निधन (बीजित) शिरों के लिए ही हुआ है । इस स्थिति में तर्क, और तर्क (स्वामी) के समने रहने
से (निबन्ध रहने से) तथापि वह कर्म अतिवर्ध हो जाते हैं ।"

सत्य का आश्रय लेना पड़ा है। वैश्वशास्त्रमय आपधर्म से विरोध रखने वाला चार्वाकादि नास्तिक ही यदि पिण्डदानाविरक्षण आदिकर्म के विरोधी होते, तो कोई हानि न थी। क्योंकि इन की सहजसिद्धा धाम्पुरी बुद्धि सत्ता से ही शाश्वत वैवासासुसंप्रदाय की माति दिव्य कर्मों के साथ प्रतिद्वन्द्विता करती आई है। हानि की क्या क्या, उस परिस्थिति में तो आदिविज्ञान का रचनाप्रयास भी अनावश्यक था। परन्तु जब हम अपने ही समाज में, अपनी ही जाति में आदिकर्म के सम्बन्ध में विरोध पाते हैं, दूसरे शब्दों में एक ही वैश्वशास्त्र को प्रमाणाभार मानने वाला धार्मिक जगत् ही अब आदिकर्म के सम्बन्ध में अपना विभिन्न दृष्टिकोण रखता है तो उस परिस्थिति में—‘एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाकोट्यवगाहि ज्ञान मयम्’^१ इस लौकिक न्याय के अनुसार साधारण तन्त्र जिज्ञासु मनुष्य सन्देह में पड़ जाते हैं।

अपने आपको ‘सनातनधर्मावलम्बी’ कहने वाले आप-महानुभाव भी आदिकर्म का वैदिक कर्म मान रहे हैं, जब तदनुसार अनुगमन कर रहे हैं। ठहर अपने आप को ‘आर्यसमाधी’ अर्पण करने वाले महाराज-गण भी आदिकर्म के वैदिकता में बंधाकबन्धन निष्ठ रह रहे हैं। मानते दोनों हैं, परन्तु इस मान्यता का प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न भिन्न है। एक (म०) कहते हैं—‘भृतपितरों के लिए पुत्रादि का आदिकर्म द्वारा पिण्डप्रदान करना आदिकर्म है’। दूसरे (आ०) कह रहे हैं—‘जीवित पितरों को अन्न-वस्त्रादि से भद्रपूर्वक वृत्त करना ही आदिकर्म है’। निर्विवाद है कि, इस मतविरोध ने किया धर्म (सनातनधर्म), तथा मत (आधर्म) की प्रवृत्तियों ने आज जनसाधारण को संशयामय बना रखा है। इस गूढ़कर्म, किया दो प्रकार के पारस्परिक अहकर्म को शान्त करने के लिए ही इस निबन्ध की आवश्यकता समझी गई है।

हमारा यह विश्वास ही नहीं, अपितु यह निश्चय है कि, यदि पाठकों ने शेषदृष्टि से भी एकबार ‘आदिविज्ञान निबन्ध’ को आधोपान्त रखने का कष्ट उठाया तो उनके आदिकर्म सम्बन्धी सम्पूर्ण सन्देह दूर हो जायेंगे। अज्ञानता ही मत्तमेह की जननी है, मत्तमेह ही सामाजिक संघर्ष का विच्छेदक है, समाजविच्छेद ही राष्ट्रीय निवर्तता का प्रपञ्च है, एवं निर्बल राष्ट्र ही सर्वसत्त्वविधातिका परतन्त्रता के पारा में बद्ध होता है, जिस का प्रत्यक्ष निर्दोश

१ ‘एक ही धर्म, किया धर्मों में एकता, तथा पुण्यकर्म अनेक विरुद्ध शर्मों का जब वरप हो जाता है, तो ऐसी दशा में क्यापूर्वा पुण्यो वा ह्यसाम्यक सन्देह उत्पन्न हो जाता है’।

आज का परमन्त्र मान्यता है। 'हम ज्ञानवत्त ए अनुग्रह से निष्पन्नपात पनन
हुए यथार्थस्थिति पर पहुँच कर परम्पर का विरोध छोड़ दें, विरोध-परिहार द्वारा
अपन असुघटित ममान का सुसंघटित घनात हुए स्वतन्त्राज्ञान करने क अधिकारी
हैं' भाट्टविज्ञान-रचना की कारणप्रतीति म यही प्रथम कारण निरूपण है।

प्राथम्यिक विज्ञान में जितन भी 'अज्ञान' प्राणी हैं उन सब में 'मनुष्य' प्राणी का स्थान
सर्वोच्च माना गया है। इस सर्वोच्चता का एकमात्र कारण यही है कि, अन्य अज्ञान-प्राणियों
की अपेक्षा मनुष्य में ज्ञानराशि विषय मात्रा में विकसित रहती है। इसी
विशेष कारण
निर्देश— ज्ञानराशि क प्रभाव से अपन स कई अधिक बल-वीर्य-शाली मित्रादि दिव्यक
प्राणियों पर भी यह अपन ज्ञानानुगत पराक्रम से अपना प्रभुत्व जमा लेता

है। किंबहुना स्वज्ञानवत्त से ही इसन विज्ञान की समस्त 'पर-अपर विभूति' का अपना भाग्य
यना रहता है। ज्ञानराशि ही पुण्य का पुण्यत्व है ज्ञानविहीन पुण्य पुष्कविपत्तिकाहीन पशु
है। जिस प्रकार सनविहसि-कायात्मक, बेशानर दिव्ययग-मध्यमूर्ति ईश्वरपति अपने
ज्ञानवत्त स सम्पूर्ण विज्ञान का भाग्य बन रहा है, एवमव ईश्वरसंस्था में मुक्त ब्रह्मचर्य
इश्वरार्थों का प्रवर्तन स अपनी अध्यात्मसंस्था में संपन्न करता हुआ—'पुरुषो वे प्रजसत
नदिष्ठम्' (शत १ का १ अ ११ क १) इत्यादि ब्राह्मणभूति के अनुसार प्रजापति के समकक्ष
बन कर यह पुरुष सबन स्वमत्ता को व्याप्त किए हुए है।

यद्यपि सृष्टि-विज्ञानानुसार पुण्य में जन्म स ही इतर प्राणियों की अपेक्षा ज्ञानराशि का
आधिक्य रहता है, तथापि इसक पूरा विकास क छिर शिक्षाशास्त्र का आत्मन प्रश्रय करना
आवश्यक हो जाता है। अन्य-प्ररोहित होने की जन्मक शक्ति रहते हुए भी बुद्धिदि जये
अहसिचन क बिना विकसित महा हो सकते एवमव बिना बाह्यशिक्षा के जन्मत प्रतिष्ठित
भी ज्ञानराशि का विकास असम्भव है। अशिक्षित मनुष्य की ज्ञानराशि सुकुसित रहती है,
मेधावत्त सत्यवत्त कसकी स्वज्ञानरश्मियों का प्रसार अचरह रहता है। जो बरा एक पशु
की है, वही बरा एक यथाज्ञात अशिक्षित मनुष्य की है। कर्तव्यविशेषकर्म्य एते मनुष्य की
दृष्टि किसी पूर्ण (वास्तविक) वस्तु की ओर न जा कर शून्य (निरवक) भावों की ओर ही
सुसुप्त-आकर्षित होती रहती है, अतएव (सुसुप्तसुखगता शून्यममशुद्धिता एव दृष्टि से)
ऐसा अशिक्षित यथाज्ञात 'पूर्ण' कहलाया है।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रहना आवश्यक होगा कि, मनुष्य जैसी प्राजा का आत्मन
येता है, उनका हृदयचक्षुष्य मन एवं कण्ठप्रतिष्ठिता बुद्धि दोनों का विकास मनुष्य ही होता है।

शिक्षा मनुष्य के इस जगत् का निर्माण करनेवाला एक अन्वय-यन्त्र है। भारतवर्ष ने अपनी आपसम्पत्ति-संस्कृति-साहित्य-के विकासकाल से आरम्भ कर अष्टाध्वि अनेक व्याक्रमणों का सामना किया। अष्टाध्वि के लिये बौद्धविरोधी-बौद्धमत को ही छीनिये। शासकियों तक बौद्धसंस्कृति की द्रष्टाया में रहता हुआ भी भारतवर्ष अपनी वैदिक-संस्कृति से पराहमुख न हुआ। इसका एकमात्र कारण था शिक्षा-यन्त्र पर उसका अपना आधिपत्य^१। यही कारण था कि, बौद्धमत में हीनछिन्न श्रेष्ठानां प्रिय' मियवरीं सम्राट् अशोक की राजसभा में जो सम्मान बौद्धमित्रों को प्राप्त था, वही सम्मान आपसम्पत्ति-युवायी ग्राहकों का प्राप्त हुआ। अपने प्रबल वर्तव्य से नास्तिकों के युक्तिवाद का समूह विनाश कर विष्णुप्रपाद आपसम्पत्ति को पुन स्थापित करनेवाले भगवान् दृष्टाचार्य, प्रातःस्मरणीय कुमारिलभट्ट, अद्वैत मण्डनमिश्र, जगदीश्वर के प्रति—

‘एषां मयि मत्तो हि मामज्ञाय वर्तते । १

उपस्थितेषु बौद्धेषु मदीना तव स्थितिः ॥’

इस प्रकार की गर्वोक्ति का प्रयोग करनेवाले, अपने सुप्रसिद्ध ‘कुसुमाञ्जलि’ ग्रन्थ द्वारा ईश्वर सत्ता के स्थापक वर्तव्यवाचक सर्वश्रीउदयनाचार्य, आदि कई महानुपुसों को क्सी परम्परासिद्ध-स्वशिक्षा सन्तान के बल पर लुप्तकालीन भारतवर्ष ने जन्म दिया। आगे आकर दुर्गम्य से इस आपसम्पत्ति को यवनमत का सामना करना पड़ा। यह व्याक्रमण बौद्ध व्याक्रमण से कहीं मजबूत सिद्ध हुआ। कला के अन्वयतम शत्रु नरराक्षसों ने कला को विध्वस्त किया वैश्वप्रतिमाएँ तोड़ी गईं वैश्व का मौलिक साहित्य अपिष्ठाळा को समूह करने में

१ ऐसी किम्वदन्ती है कि एक बार उदयनाचार्य श्रीमद्भारत के वर्तव्यवाचक पधारे। उनकी वह प्रथम श्रुति थी कि जगदीश्वरभट्ट (शुक्ति) उन्हें सन्तानरूप से दर्शनीय था लौकिक प्रयत्न कर। अनेक बार मौलिक प्रयत्न करने पर भी जब उन्हें सन्तान दर्शन न हुए, तो अन्त में व्यवस्था के कारण उनके मुख से निकल पड़ा कि—‘ही जगदीश्वर’। आगे व अन्त में ऐश्वर्य के सङ्ग में पड़ कर मग सिम्बर (उपेक्षा) कर रहा है। परन्तु उन्हें यह नहीं भुलना चाहिए कि, जब बौद्धमत से वे सत्ता (ईश्वर सत्ता) उखाड़ने के लिए प्रयत्न करते हैं, तो उस समय से वे सत्ता से अलग हो जाते हैं। अर्थात् में न रहे तो सत्ता उन्हें मानना छोड़ दे। सुनते हैं—अपने ही इस सन्तानरूप से निकल पड़ी मजिदुल्ल अस्तरेणा के बल से मगसम्पत्तिमा से सत्तारूप से उदयनाचार्य को दर्शन दिए।

महायुग बनाया गया आध्यात्मिकताओं का सतीत्य खीना गया, अथवा यथै जीवितवरा में ही बीमारों में कुना विपणन। यह सभी कुछ अकाल्य साण्डव दुभा, परन्तु सौभाग्य से इस युग में भी आत्मतायियों की दृष्टि से हमारा शिक्षावन्त्र यथाकथञ्चिन् बचा रह गया। फलतः इस युग में भी हमारी मौलिक सभ्यता इस आक्रमण को सहन में सर्वात्मना समर्थ हो गई। प्रतिमासम्पन्न काव्यों के अतिरिक्त वर्णाश्रमधर्मात्मक आपधर्म के अनन्य समर्थक सहायता तुलसीदास, भक्तप्रवर सूरदास, सबंधी मन्त्र तुकाराम, समस्त रामानुजस्वामी, श्रीमन्नरेश्वर महाराज, छविबर कपीर, आदि महापुरुषों ने सभी भयावह युग में उन्नी शिक्षा शुद्ध से इस देश को अर्ककृत किया। स्वनामधन्य हस्मीर, प्रताप, छत्रमाल, शिवाजी, गुरुमोहिनीसिंह, आदि क्षत्रियवीरों ने अपनी इसी आपरिग्रहा के बल से यवनों की प्रबल-शक्ति को क्षिप्त मिश्र किया और इस प्रकार 'स्वधर्मो निघ्न धर्म परधर्मो भयविह' कावश की अनुगामिनी आपप्रज्ञा ने इस भयवन्धन से पुन मुक्तिपथ प्राप्त कर लिया। परन्तु ।

इस परन्तु का अतीत इतिहास सभी इतिहासों की सीमा का अतिक्रमण करने वाला सिद्ध हुआ। फल के लिए यचनाक्रमधर्जनित भय से हमारा ज्ञान करने वाले, अतएव हमारे परम शिरोपी पाश्चात्य महापुरुषों की किन्नी शुभ मुक्त में भारतवसुन्धरा के बहावधर पर पाश्चात्य हो गई। जिस प्रकार समुल्लेखयोग से किन्ना फन्निधियुक्त आपात से समस्त मूर्तिपण्ड कम्पित हो जाता है, उन्नी प्रकार इन परमशक्तिधियों के आकस्मिक पक्षापात से भारतवसुन्धरा कम्पित हो उठी। कबना नहीं होगा कि, यह आक्रमण पूर्व के वानों आक्रमणों से कहीं भयवह था। परम राजनीतिज्ञ साइ मेंकैल महोदय ने भारतवर्ष की पावनभूमि पर पाश्चात्य शिक्षा-प्रसार के माधनमूत मयननिर्माण की मूलमिति (नीच) रखने के अनन्तर स्वपरा (इंग्लैन्ड) वाली अपने किन्नी बन्धु का निम्नलिखित आशय का एक पत्र प्रेषित किया था—

‘मित्र ! आज मैंने भारतवर्ष में ऐमा शिक्षालय स्थापित कर दिया है, जिस में शिक्षा ग्रहण करने वाले भारतीय आचार, व्यवहार, सभ्यता, आदि में सवात्मना यूरोपियन बन जायेंगे। यह जायेग केवल नाममात्र के लिए भारतीय’

सचमुच इस दूरवरी राजनीतिज्ञ की एक सविष्णवाणी आगे जाकर सर्वथा करिगार्थ हुई। पाश्चात्यशिक्षा ने भारतीय मनुष्यों का हृदय और का ओर ही बना दिया जोकि हृदयस्थान

सम्पत्ति, संस्कृति, जातीयता, आदि स्व भावों की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। इन शिक्षाछवों में अपनी आयु के सारभाग की आहुति देने वाले, अपने अन्तर्दाता-अभिभावकों की सन्धि सम्पत्ति का सदुपयोग (१) करने वाला हमारे इन नवयुवकों ने प्रतिफल में प्राप्त क्या किया ? मृत्युताम् !

‘तुम्हारे पूज्य निरज्जली थे, विद्वानशून्य थे, असम्पन्न थे, अग्नि-वायु-पृथ्वि आदि जड़ पदार्थों के पूजक थे। जो कुछ भी उन्नति हुई है, इसी युग में एकमात्र हमारे अनुग्रह से ही हुई है। खाना, पीना सोना उठना, चलना, फिरना, बराभूषा धारण करना सद्य समाज में बैठ कर सम्पत्ति का वर्णन करना, आदि सम्पूर्ण मानवधर्मों (सम्पत्तियों) का प्रथम प्रवर्तक एकमात्र हम ही हैं। हमने तुम्हें पशु से मनुष्य बनाया है, हमने तुम्हारे दूरा की अराजकता दूर की है, जो अराजकता तुम्हारे यहाँ आने से आज तक दूर न हुई थी। हाँ स्मरण रखना भारतवर्ष तुम्हारी प्रातिष्ठिक सम्पत्ति नहीं है। तुम लोगों ने बाहिर (पामीर) से आकर इस दूरा पर अपना अधिकार जमा लिया है (इसलिये आज हम भी अपने अपूर्व गुण-बल से इस पर अपना अधिकार प्रतिष्ठित करने में कोई आपत्ति नहीं समझते।।।)। तुम्हारा धर्म ब्राह्मणों की स्वार्थीछाया मात्र है। इसी अवैज्ञानिक कल्पित धर्म के अनुगमन से आज तक तुम उन्नति से वंचित रहे। अब इस हमारे रिक्ता-साम्राज्य के आश्रय से तुम्हें जीवन की सफलता का अनुभव होगा।

आचार-व्यवहार में परतन्त्रता का आदेश देने वाली, किन्तु विचारस्वातन्त्र्यप्रदान करने वाली, अतएव मानवीयमान का विकास की अनन्य साधनमूला भारतीय आर्षशिक्षा की प्रतिद्वन्द्विता में राजनीति का बाना पहिना कर उपस्थित होने वाली पाश्चात्यशिक्षा ने आर्षशिक्षा से ठीक विपरीत अपना दृष्टिकोण बनाया। इस ने आचार-व्यवहार में पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की तथा विचारों में पूर्णरूप से परतन्त्र बना डाला। आचार-व्यवहार की स्वतन्त्रता से एक ओर जहाँ हमने भारतीय आचार-व्यवहारों का एकान्तत परित्याग कर प्रतीपदेशाभिमत आचार-व्यवहारों का अनुगमन करते हुए व्यक्तिगत रूप से अपने आपको परतन्त्र बना डाला वहीं दूसरी ओर स्वविचारपारतन्त्र्य से ऊँची के विचारों का अनुगमन करते हुए हमने अपने आध्यात्मिक जगत् को भी परतन्त्रता के निर्विघ्नपरा में बदल कर डाला। इस प्रकार वाद्य तथा अन्तः, समयथा हम परतन्त्र बन गए। आज न हमारे पास अपने आचार-व्यवहार हैं, न अपने विचार। समयविधि दासता से आज हमें अपनी अतीत स्मृतियाँ भी मिट्या प्रतीत होने लगी हैं। इस प्रकार वर्तमान शिक्षायन्त्र के अनुग्रह से आज हम स्व भाव से एकान्तत-विभूत पशुच कुंहे हैं, एवं यही वर्तमानशिक्षा की सब से बड़ी वैन है।

आचार-व्यवहार-परतन्त्रता-विचार-स्वतन्त्रता-विचार-स्वतन्त्रता मानवीय मन का जन्म सिद्ध अधिकार है। संसार की कोई भी आधुनिक (मौलिक) अधिक समय तक इस पर अपना अधिकार नहीं रख सकती। फलतः करमसीमा पर पहुँच कर भारतीयसत्त्व ने भी करवत बढ़ी, और देश ने एक स्वर से मत्स्यप्रामाण्य मातृभूमि का बराबरी आरम्भ किया। परन्तु एक सच से बड़ी मूर्ख, सच से बड़ी मूर्ख उन भाषकों ने कर हाथी अथवा तो बिरकाठ से बिहारी संसारों के अनुग्रह से स्वतन्त्र बह मूर्ख हो गयी। जिनकी इच्छा से स्वतन्त्रता का अन्तर्गत विनिर्गत हुआ उनकी इच्छा पूर्णकृत्यानुसार रिश्तावाप से आक्रमण की। मस्तिष्क से विनिर्गत रस्मियों जिस प्रकार स्वतन्त्र से स्वतन्त्र-सुख रही हैं ही संसारों से मस्तिष्क रही हैं, एवमेव परिभाषा-स्वतन्त्रता से विनिर्गत स्वतन्त्रता का निनाश भी काकातर में परतन्त्रता का ही साक्ष्य सिद्ध हुआ। इस परतन्त्रता-विचार स्वतन्त्रता का पहिला मुद्रिप्रहार उस आपसम्बन्ध पर ही हुआ जिस की रक्षा ही एतद्देशीय स्वतन्त्रता का बीजमन्त्र है।

आज भारतवर्ष में स्वतन्त्रता की स्वर श्रीचिन्तन न्याय से इच्छित प्रवाहित है। आचार-व्यवहार-विचार सभी स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते हैं। इस प्रकार देश आज स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए व्यग्र हो रहा है। परिवार-स्वतन्त्रता बचतमान राज्यसत्ता के साथ अन्तर्भोग किया जा रहा है, अन्तर्व्यवस्था विदेशी बलुओं का बहिष्कार हो रहा है। 'मुस्लिमताम्' ! ! ! ! परन्तु साथ साथ स्वतन्त्रता के अनन्त्यपोषक आपत्तियों का अनुगामीनी आर्थिकता का उद्देश्य करना भी परमपुरुषार्थ माना जा रहा है। 'महदुःखस्य' ! ! ! ! सच एक स्वर से बड़ी सुनारें पड़ रही हैं कि—हमारे पतन का हमारे परतन्त्रता का एकमात्र कारण हमारा धर्म (सनातनधर्म), तथा अनुग्रह-व्योपक-समर्पक जाग्रत ही है। स्वतन्त्रता-सद्विचार विचार परिणाम आदि का धर्मविरुद्ध अपोषित करने वाले स्वाध्यायक इसी सनातनधर्म ने जब अनुग्रह-व्योपक स्वार्थी पण्डितों ने ही समाज-स्वतन्त्रता का मूलोद्देश्य करते हुए राष्ट्र-परतन्त्रता का बीज बपन किया है। फलतः में होने वाली कामें में देश के एक प्रमुख व्यक्ति ने तो यहाँ तक आगे बढ़ने का तुल्यहस कर हाँसा था कि—जब तक हम शास्त्रों की धर्म में नहीं जसा विश्वास जापगा, तब तक देश कभी स्वतन्त्र न हो सकेगा।

भगवान् चतुर्मुख भगवान् लोक, भगवान् निर्माण के लिए सत्प्रयत्न बरशास का धार्मिक मोह किया। सत्मा वेदशास्त्र का बीज कर अमुर पाताळ में जा हुए। बरशास के विचार सुविधम बचकू हो गया। अन्तर्गतता भगवान् विष्णु की मत्स्यावतार धारण कर बरशास का उद्धार करना पड़ा। तब तक कभी भगवान् विष्णु-निर्माण कर्म में समय हो सक। इस प्रकार

आपत्तिकोण से जो आर्पणाक्ष (वेदशास्त्र) न केवल भारतवर्ष का ही अपितु सम्पूर्ण ब्रह्मलोक का स्वतन्त्रराज्य बन रहा है, उसे अस्मिता करके स्वतन्त्रता का आह्वान करने वाले ये स्वतन्त्रता वाली क्या प्रलयकाल की निमन्त्रण नहीं दे रहे ? जिस आपशास्त्रसिद्ध मन्त्रकर्म के बल से वृक्षताओं ने असुरों का परास्त कर अपनी विद्रुप्त स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त की, वही आपशास्त्र आज इन स्वतन्त्रताप्रेमियों की दृष्टि में अनन्य बाधक प्रतीत होता हुआ हुआ क्या 'विनाशकाल विपरीतबुद्धि' की चरितार्थ नहीं बना रहा ?

स्वतन्त्रता-प्रेमियों की यह कौन सी सभा न होगी जहाँ आपशास्त्र, तत्प्रवक्तृक मृगिण्य, तन्मूलक सनातनधर्म, तत्तपोपक पण्डितवर्ग, सत्तुगामिनी-आर्पणका का अबाध्यबाधों से संस्कार (१) न किया जाता हो ? साथ ही आपधर्मोपेक विद्वानों को-पुराणपन्थी-रूढ़ियों के गुलाम-स्वतन्त्रता के शत्रु' आदि सत्तुपाधियों से विमूर्छित न किया जाता हो ? अतः तो यह धर्मविरोध यहाँ तक बढ़ गया है कि, जिन देश के सम्मान्य नेतृत्वों का अपना प्रधान छद्म एकमात्र असहयोगानुगमन था, व भी इसी आर, सर्वोत्तमार्थन शुरू रहें हैं। पवित्र देव मन्दिरों में अयरवणों का बलात्कार से प्रवेश करने में, उनके हित-व्याज से धातुसभाओं (Legislative Assembly) में राजनिबन्ध (Law) बनाने में ही आज हमारे इन देश नेतृत्वों की सम्पूर्ण शक्ति का अपव्यय किया निरर्थक हो रहा है। यह सब अकार्यकृत्यत्व क्यों हो रहा है ? उत्तर एकमात्र वही शिक्षाशून्य। वर्तमान शिक्षा ने आपशास्त्र के दिव्य संस्कारपुष्प को आसुर कर दिया है। आज हमारे लक्ष्य (विषय) का स्वरूप दूषित हो गया है। दूषित लक्ष्य से दूषित अर्थ (मनामाकनार्थ) निकल रहे हैं। स्वसंस्कृतिराक्षस आर्पणाक्ष (वेदशास्त्र) ज्ञान से एकान्तव शून्य, शास्त्रसिद्ध-भक्त्यस्वास्वरूपनिर्मापक आहार विहारविस्मय आचार पारतन्त्र्य का सबका विनकार करने वाले, अन्नदोष को गुण पक्ष में स्थापित करनेवाले, सर्वोपरि धातुजीवन परिमृशालोच में प्रकाशित रहने वाले महातु भावों के लक्ष्य से यदि एक प्रकार के धर्म विरोधी अर्थ निकलें, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। वर्चस्व-स्रोतोपुत्र ज्ञानवत्त ही हमारे अन्तर्जगत् का स्व-माग है, एवं स्व-तन्त्र' से सम्बन्ध रखने वाली आचार-धर्मवहार पारतन्त्र्यगमिता विचारस्वातन्त्र्यमूल्या स्वतन्त्रता ही स्व-तन्त्र' (अस्मत्तन्त्र) को सुरक्षित रखने वाली वास्तविक स्वतन्त्रता है, जिस की मूर्ध्निपिता एकमात्र

१ अनन्यासेन वंशानामाचारस्य च वचनात् ।

आत्मस्वाध्वदोषाच्च मृत्युर्विप्राधिषांसति ॥ (मनु ५४)

आध्यात्म, तथा तन्तुगामिनी आपरिक्षा ही मानी गई है। आपरिक्षानुगत ज्ञानबल ही ब्रह्मबल है, (ज्ञानगुणि से) जोड़पूर्ण बना हुआ कर्मबल ही क्षत्रबल है, ब्रह्म-क्षत्र (ज्ञान-कर्म) से सुगुण अर्पबल ही बिह्वल है। जहाँ वर्तमान शिक्षा विशुद्ध अर्पतन्त्र का अपना प्रधान ध्येय बनाती हुई अद्वैतामूर्धिका साधनात्म्य छिप्ता का समर्पन कर रही है, वही आपरिक्षा ब्रह्म के (ज्ञान के) आधार पर क्षत्र (कर्म) द्वारा बिह्व (अर्थ) का नियन्त्रण करती हुई भ्रम्य, धर्म काम मोक्ष इन चारों पुढपाओं का समर्पन कर रही है, एवं यही भारतीय आपरिक्षा की संक्षिप्त स्मरेखा है, जिसका अन्य निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। हमारा यह केवल विश्वास ही नहीं, अपितु यह निश्चय है कि, जब तक मानसिक दृढता से देश अनुकूल नहीं हो जाता तब तक अन्य प्रयत्न सद्गुरुओं से भी वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। भारतीय दृष्टिकोण से मानसिक-दृढता से त्राण पाने का एकमात्र उपाय है—अध्यात्ममूर्धिका सद्ब्रह्मज्ञानराशि का विकास। ज्ञानराशिविकास का एकमात्र उपाय है—अध्यात्ममूर्धिका आपरिक्षा का अनुगमन जो आपरिक्षा एकमात्र आपराध (वेदशास्त्र) में एवं तन्मूर्धक सृष्टि, पुराणादि इतर शास्त्रों में अङ्गुलिबद्ध है। जब तक कलकल आपरिक्षा का अनुगमन न किया जायगा तब तक स्वर्ग जगदीश्वर भी हमें स्वतन्त्र न बना सकेंगे। देश का सौभाग्य है कि, देशजता भी वर्तमान शिक्षा से आज संश्लेष विचारों सेने लगे हैं। जैसा कि उक्तात्मस्वरूप द्वारा पूर्व में कहा गया है, नेताओं का ध्यान अभी केवलशिक्षा प्रणाली की ओर ही आकर्षित हुआ है। परन्तु वह प्रणाली कैसी हो? तथा शिक्षा कौन सी हो? इत्यादि प्रश्न अभी उनके दिष्ट असमापया प्रभावही ही बन रही है।

व्यक्तिगतस्वरूप स्वानुगत आधार, स्वयंकार, सम्पत्ता संस्मृति शिक्षा साहित्य आदि को अस्वाभाविक समर्पित करते हुए अपनी मौखिक आतीयता को स्मृतिगर्भ में विहीन कर हमें

१ प्रस्तुत भ्रमविज्ञान निबन्ध आद्य से १ वर्ष पहिले सम्पन्न हो गया था। उस समय शिक्षा-प्रणाली के अध्ययन में अध्ययन का जन्म ही हुआ था। जब इस अध्ययन में जो अतिरिक्त विविध हुआ है, वह तो आत्मसंस्मृति के लिए एक महा आरति का कारण प्रतीत हो रहा है। जिस विन्दी-तथा विन्दुसंज्ञा को के कर साहित्यिक क्षेत्र में आज एक महत्त्वपूर्ण उपस्थिति हो रहा है, उस अग्रिम सन्दर्भ को अध्ययन की 'वार्मा' क्षेत्र से विविधता वह शिक्षा-प्रणाली तथा भारतीय संस्कृति को वास्तविकता से जोड़ने पर यह वास्तव की ओर के अपने अपने मैकनी केवर्न की धन वैधिम्यी से किसे हुए विन्दुसंज्ञाअध्ययन शिक्षाप्रणाली विन्दी 'आत्मसंस्मृति'को को मुख्य नहीं कर रहे।

जो स्वतन्त्रता प्राप्त होगी, उससे हमारा स्व-तन्त्र सुरक्षित रहेगा ? अथवा विनष्ट हो जायगा ? इन प्रश्नों की सीमासा मुकुलितनयन बन कर उन स्वतन्त्रता प्रेमियों को ही करना चाहिए। 'हम हम बने रहें, और फिर स्वतन्त्रता प्राप्त करें' यही वास्तविक स्वतन्त्रता चलावणी। हमारी सामान्य दृष्टि में—'एक परतन्त्र अश्व का गर्भम धनकर स्वतन्त्रता प्राप्त करने की अपेक्षा उसका अपने अश्वरूप से स्वतन्त्रता के लिये प्रयास करना कहीं अधिक श्रेय-फन्या है'। अस्तु इस पराधिकार बर्चा करने का न तो हमें अधिकार ही है, न योग्यता ही है। प्रस्तुत बन्धन्य से निवेदन केवल यही करना है कि, जिस क्षण से हमारा शिक्षायन्त्र परायत्त बना है, उसी क्षण से हमारी परतन्त्रता का भीगपेरा हुआ है। वर्तमान शिक्षाप्रणाली ने, शिक्षाप्रणाली में स्वीकृत वर्तमान ऐतिहासिक प्रयत्नों ने, वर्तमान (पाश्चात्य) विज्ञान के आचार पर समुद्रमूत विविध आविष्कारों ने भारतीय प्रथा के मानस जगत में इस विश्वास को छद्मूल बना दिया है कि, यदि जगति का कोई भेद मार्ग है, तो वह है एकमात्र पाश्चात्य शिक्षा ! पाश्चात्य सभ्यता !! पाश्चात्य आचार-व्यवहार !!!

वर्तमान शिक्षा की अमतिद्विगति के अनुग्रह से हम अपने स्वरूप को भूल गए, आत्मविस्तृतिमूलक हमारे दुर्भाग्य का यह पहिछा, तथा मुख्य कारण। भारतीय विद्वानों की अनन्य हुना का प्रहार दूसरा कारण। आर्यसाहित्यमूला आर्यशिक्षा, आर्यशिक्षामूलक आर्यधर्म (वर्णाश्रम धर्म), आचार, व्यवहार, संस्कृति सभ्यता आदि ऐसे सब दुर्ग माने गए हैं, जिन्हें बिना की कोई भी प्रचलराति स्थानान्तरित नहीं कर सकती। ऐसी स्थिति में प्रज्ञोत्थान स्वामाविक बन जाता है कि, जब कि हम अपनी अनेक आर्यप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित थे, तो आर्यप्रतिष्ठा की पुजना में सर्वथा अमतिप्रित पाश्चात्यप्रतिष्ठा ने आर्यप्रतिष्ठा का आसन क्यों एवं कैसे धीन लिया ? यह एक माना हुआ मिद्वान्त है कि, अपनी निर्वहता ही पराक्रमण-साफल्य का प्रधान कारण है। अवश्य ही जिस युग में पाश्चात्यशिक्षा ने हमारे यहां का आतिथ्य ग्रहण किया हम अपनी आर्यशिक्षा को या तो मुखा कुके होंगे, अवस्था तो उसका व्याज से आचरण कर रहे होंगे। अन्यथा आगन्तुक परशिक्षाक्रमण कभी हमें अपनी आपशिक्षा-प्रतिष्ठा से श्रुत नहीं कर सकता था।

हमारे उपदेराक विद्वान् अपने उपदेरों की प्रथम भूमिका में ही यह घोषणा करते हैं कि, पाश्चात्यशिक्षा के प्रभाव से भारतीय मनुष्यों का अद्वा विश्वास सनातनधर्मधिरों से हट गया है'। इस सम्बन्ध में हमारे ये विद्वान् बन्धु यह मूल जाते हैं कि, पाश्चात्यशिक्षा के साथ साथ स्वयं हमारा भी इस अद्वादान में परोक्ष, तथा प्रत्यक्ष से पूर्ण सहयोग है। पहिले तो

हमारा अवेरा ही केवल बाबिक है, उस पर आर्पणाक्ष को हमने दूर से ही प्रणम्य मानते हुए अपने उपदेशों को और भी अधिक शून्य शून्य बना दिया है। कर्तव्य की प्रतिष्ठावा से भी बाबिक, आर्पणाक्ष की सर्वथा उपेक्षा करने वाले, सर्वोपरि सामयिक सन्तमत्त (सम्प्रदायवाद) के अभिनिवेश से सम्पुष्टि ऐसे उपदेशों, तथा उपदेशक विद्वानों के रहते यदि पाश्चात्य शिक्षा स्वाग्रमण में सफल हो जाय, तो इस में क्या आश्चर्य है।

अज्ञीभूत आर्पणाक्ष (वेदशास्त्र) के रहस्य ज्ञान का अधिकार प्रधान करने के लिए जिन 'श्रद्धा, कृत्य, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष' इन ६ अङ्ग-शास्त्रों ने जन्म दिया था, कुछ एक शताब्दियों से भारतीय विद्वानों ने इन अङ्ग-शास्त्रों के, उनमें भी विशेषतः व्याकरण-शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन को ही प्रधानता दे रखी है। वेदशास्त्र-ज्योतिष का स्थान मर्यादित पट्टे हित अर्थात् जिन ज्योतिष ने प्रधान कर रक्खा है। पट्टों में से शिक्षा कृत्य, निरुक्त, छन्द, ये चारों अङ्गशास्त्र भी स्थितिम में बिलीन हैं। इसके अविरुद्ध काव्य-साहित्यादि ने भी अपनी प्रमुखा प्रविष्टि कर रखी है। इस प्रकार ज्ञान-विज्ञानप्रधान अज्ञीभूत वेदशास्त्र का सर्वथा विरुद्ध कर नाममात्र के लिए अङ्गशास्त्र, विशेषतः काव्य-साहित्य परिरुद्ध में ही अपने सम्पूर्ण जीवन की आहुति देन बाह्य ज्ञान का विद्वत्समाज आपधर्म के मौखिक-रहस्यज्ञान (उपनिषद्ज्ञान) से सर्वथा पराङ्मुख हो रहा है। यदि विशेष अनुग्रह हुआ तो स्थिति-मन्त्रों पर धर्म-परिरुद्ध की सीमा समाप्त मान ली जाती है। सम्भवतः हमारा इन मान्य विद्वानों से यह विरोधित नहीं है कि, स्थितिमन्त्र-केवल अनुशासक मन्त्र हैं। 'ऐसा करो, ऐसा न करो, जब करो, तब करो' इत्यादि रूप से उपनिषद्पादेय कर्मों की-विधि (आज्ञा) बतलाने वाला तथा उपनिषद्पादेय शास्त्रविरुद्ध कर्मों का निषेध करने वाला विधि निषेधप्रदायक मन्त्र है। वहाँ आपकी 'ऐसा ही क्यों करें, ऐसा क्यों न करें' इन जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त नहीं हो सकता। कारण उपनिषद् बतलाना स्थितिशास्त्र का अधिकार से सर्वथा बहिर्भूत है। यदि मूल से कोई स्थितिशास्त्र से 'क्यों?' प्रश्न कर बैठता है तो वह 'नास्तिकता वदनिन्दक' कह कर उसका विरुद्ध कर देता है।

वात धर्मा है। प्रधान न्यायालय अपने कनिष्ठ अधिकारी (माहव) का यह आज्ञा देता है कि, तुम इस जमाने का एक आजापत्र प्रजा में वितीर्ण कर दो कि, 'आज्ञा से एक सप्ताह पच्यन्त कोई भी व्यक्ति रात्रि के ११ बज पीछे मकान से बाहर न निकले। यदि कोई इस राजाज्ञा का उल्लंघन करेगा, तो वह दण्डनीय समझा जायगा'। आज्ञातुसार कनिष्ठ अधिकारी प्रजा में आजापत्र वितीर्ण कर देता है। कोई भी व्यक्ति इस कनिष्ठ अधिकारी से जिसका

एकमात्र कृतव्य है—प्रधान न्यायालय से निकले आज्ञापत्र को विहीन कर देना—यह नहीं पूछता कि—अमुक आज्ञापत्र क्यों निकाळा गया, क्यों ऐसी आज्ञा दी गई ?'। यदि कोई मूर्खतावश पूछ बैठता है, तो इसे यही उत्तर मिलता है कि—मैं नहीं जानता, प्रधान न्यायालय से पूछो। ठीक यही परिस्थिति भुवि-सृष्टिराश्यों के सम्बन्ध में समझिए। सृष्टिराश्व अपनी अपौरुषेयता के सम्बन्ध से स्वतः प्रमाण बनता हुआ वहाँ प्रधान न्यायालय है, वहाँ सृष्टिराश्व 'भूतेरिवार्थं सृष्टिरन्वगच्छन्' के अनुसार और आज्ञाओं का अनुबन्ध करता हुआ कनिष्ठ अधिकारी है। वेदविहित (वेदाज्ञासिद्ध) धर्म का आदेशमात्र देना ही उसके अपने अधिकारक्षेत्र की अन्तिम सीमा है। यदि इस से कोई जिज्ञासु मनुष्यावना से उपपत्तिज्ञान के सम्बन्ध में प्रश्न करता है, तो यह उत्तर देता है—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं भुविः ॥

—मनु २।१३।

हास्य मनुबचन का यही है कि, "जिन्हें धर्म के धर्मस्वच्छाण उपपत्तिज्ञान-रहस्यज्ञान की जिज्ञासा है, उन्हें वेदशास्त्र का ही स्वाध्याय करना चाहिए। वहीं से प्रत्येक स्मार्त-धर्मवेद के क्यों ? का समाधान प्राप्त हो सकेगा"। जैसा कि निवेदन किया गया है, भारतीय विद्वानों ने वेदार्थ के अध्ययनाध्यापन से अपने आपको उदासीन बना रक्खा है। व्याकरणादि का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर इधर उधर की कुछ एक स्थितियों का आलोडन विलोडन कर ऐसे ही अर्द्धवृष्य महानुभाव वेद के धर्माचार्य बने हुए हैं। संशय करना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है। साब ही जब तक संशयनिवृत्ति नहीं हो जाती, तब तक संविम्ब विषय पर अज्ञा एवं विश्वास का वृक्ष भी सम्भव नहीं है। एक ऐसा नवयुवक, जिसने बावलीबन पाश्चात्य-शिक्षा का अनुगमन किया हो जिसे प्रत्येक विषय मुक्ति-तर्क-विज्ञान के आधार पर ही समझाए गए हों तब तक स्वधर्म सिद्धान्तों पर कभी पूर्ण भ्रमा नहीं कर सकता जब तक कि उसे धर्म का वैज्ञानिकरूप मुक्ति-तर्क द्वारा नहीं समझा दिया जाता। स्वयं मनुमगबाध ने भी 'यस्तर्कानुमपत्ते स धर्मो वेदो नेतर' (मनु १२।१०६) इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में वेदाभेदयोगी तर्कवाद को धर्मपरिज्ञान के सम्बन्ध में एक आवश्यक साधन स्वीकार किया है।

नवशिक्षा-दीक्षित एक नवयुवक समावतः उत्पन्न सम्यक् निवृत्ति के उद्देश्य से जिज्ञासा रूप से धर्माचार्यों की सेवा में विनीतभाव से जयबा तो अपने स्वाभाविक उच्छृङ्खलभाव

से पहुँचता है, और प्रेम करने लगता है कि—“मगलन। मृतमाषियों को निमित्त बनाकर मादकद्रव्यों को दिया जाता है। छात्रों कोस दूर बैठे प्राणी (पितर) ब्राह्मणभोजन से क्यों कर वम हो जाते हैं? पूरे शरीर को झोड़ कर प्राणी अब तपकान्ध नवीन शरीर धारण कर देता है, तो एसी अवस्था में आद्व किम की वृत्ति के लिए किया जाता है? एक क उपज होने से, तथा एक के मर जान से हम जात-शुद्ध के सभी बंराह अष्टादश क्यों मान लिए जाते हैं?”। उत्तर में हमारे आचार्य महोदय शास्त्रीय (स्मार्त) प्रमाण उद्धृत करते हुए—“शास्त्र ऐसा आदेश देता है, इसलिये ऐसा ही करना न्याय्य है” इस सूक्ति से व इस आगन्तुक विद्वान् की विद्वत्ता शान्त करना चाहते हैं। “शास्त्र ऐसा आदेश क्यों देता है?” इस सम्बन्ध में आप सर्वथा तत्स्य बने रहते हैं। यदि विद्वान् अधिक आग्रह करता है, तो आचार्य महोदय कुछ हो पड़ते हैं, एवं भूताविष्ट बनकर—“तुम तो पाश्चात्यशिक्षा संसंग में पढ़ कर नास्तिक बन गए तुम्हें शास्त्रों पर विश्वास नहीं रहा आओ तुम्हारे साथ सम्भाषण करने में भी हमें प्राथमिकता का मांगी होना पड़गा इस प्रकार वक्त प्रकाश करने लगते हैं। इस भत्सना का परिणाम यह होता है कि, हम विद्वान् को यह विश्वास कर देना पड़ता है कि—“वास्तव में सनातनधर्म केवल कल्पनिक ब्रह्म है, ब्राह्मणों के स्वार्थसाधन का द्वार मात्र है। भस्मा दासजीवन धम्मशास्त्र का स्वाध्याय-मनन करने बाध पिछान भी जब धम्मशास्त्रों के सम्बन्ध में कुछकुछ समाधान नहीं कर सकते तो एसी दशा में हम धम्म की कल्पनिकता से क्या सम्झ रह जाता है”। सचमुच आज हम एक महत्त्वपूर्ण कारण से भी धम्म-विश्वास उत्तरोत्तर शिथिल होता जा रहा है।

यद्यपि हम मानते हैं कि उपपत्तिविज्ञानात्मक रहस्यज्ञान सर्व साधारण के परिज्ञान की वस्तु नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति रहस्यज्ञान प्राप्त करके ही धर्म का आचरण कर यह संस्था असम्भव है। ‘उत्तमाच्छान्द्र प्रमाणं त काव्याकार्यव्यवस्थिती’ (गी १६२४) इत्यादि भगवद्गीतानुसार शास्त्रीय ब्रह्मों पर अनन्त्यनिष्ठा रखते हुए—‘महाजनो यन शतं म पन्था’ इस श्लोक के अनुगमन में ही सर्वसाधारण का कल्याण है। अत्येकबहुलता की मुक्तता में धर्मोक्तबहुलता ही सिद्धि का अन्यतम द्वार माना गया है। यह सब कुछ जानते हुए भी वस्तुमान युग के लिए हम उपपत्तिज्ञान-प्रचार को आवश्यकतम साधन माने बिना नहीं रह सकते। इमक अतिरिक्त यदि उपपत्तिज्ञान सर्वत्र अज्ञानप्रयत्न ही होता तो स्वयं वैदशास्त्र में तथा वैदशास्त्र के ब्राह्मणभाग में श्याम तथा पर उपपत्तिज्ञान का स्पष्टीकरण ही उपलब्ध न होता। ब्राह्मणधर्म प्रतिशब्दित प्रत्येक अन्धधर्म, तथा पुनरावर्तन की इतिहासिकता के

साध साध' 'तद्यत्-अप उपस्पृशति, मेध्या वा आप , पवित्र वा आप , मेध्या भूत्वा प्रतमुपायानीति, पवित्रपूतो प्रतमुपायानीति, तस्माद्वा अप उपस्पृशति' (शाठ० १।१।१।१) इत्यादि रूप से अपपत्तिप्रकरण मी समाधिष्ट रहा है। यही क्यों, स्वयं वदशास्त्र ने ही एक स्थान पर यह स्पष्ट किया है कि, 'ओ कर्म मनोयोगलक्षण आद्वा' के, कार्य-कारण-सम्बन्धपरि ज्ञानात्मिका 'विद्या के, तथा अपपत्तिज्ञानलक्षण 'अपनिपत्' के सहयोग से किया जाता है वह अविराटरूप से फलप्रद होता है, जैसा कि—'यदेव विद्याया करोति, भूयोपनिपदा, तदेव वीर्यवत्तर भवति' (जा० उप० १।१।१०) इत्यादि अपनिपच्छ्रुति से प्रमाणित है। इसी आधार पर कारणविज्ञान को ज्ञेयप्राप्ति का, तथा कर्मसौष्ठव का अन्यतम कारण माना गया है^१। जिस वर्तमानपुरा में प्राच्य प्रतीच्य सभ्यताओं का संघर्ष चल रहा हो, भौतिक, अथवा धार्मिक, अथवा दुःखप्रवर्त्तक, अथवा शून्य शून्य-लक्षण जिस विज्ञानशास्त्र को लेकर प्रतीच्य-संस्कृति प्राच्यसंस्कृति का निराकरण करने के लिए आज मुँह बाए लड़ी हो ऐसे विषम युग में 'विषस विषमौषधम्'—'कष्टक कष्टकेनैषोद्धरेत्' इत्यादि लोकाचार्यों का अनुगमन करते हुए तो यह सर्वथा आवश्यक हो जाता है कि, प्राणात्मक-अथवा नित्य, अथवा आतन्त्रप्रवर्त्तक, अथवा पूर्ण-पूर्ण-लक्षण भारतीय वैदिकविज्ञानास्त्र का आत्मय प्रहण किया जाय। बिना ऐसा किए उक्त संघर्ष से प्राच्यसंस्कृति का ज्ञान पाना कठिन ही नहीं, अपितु संभव असम्भव है। भौतिक महासंश्रम के कारण आज भारतीय संस्कृति है। पर मात्मानुष से जिस दिन संश्रमसाधक-वातक शस्त्रप्रपञ्च निबनावस्था को प्राप्त हो जायगा,

१—आहस्तोय, तथा मार्गपथ के मध्य में यदि होकर आत्मन करना ही अप-उपस्पर्श कर्म है। कौन अक्षम किया जाता है? कौन प्रत्यक्ष का समाधान करती हुई भुक्ति करती है कि, पानी मेघ (छात्रनीय) है, पवित्र (दोन्मार्गी) है। उधर अपने स्वभाविक अवतमान से प्रकट अव्येय तथा अविविष्ट है। ऐसी कर्म-अविविष्ट अवस्था में मेघ-पवित्र कक्षसंस्कार एवं एक प्रतिष्ठित नहीं हो उठता जब तक कि वह किसी उपान सिद्ध से मेघ, तथा पवित्र न बना ही जाय। इसी छेद से अप-उपस्पर्श कर्म किया जाता है, जिससे निष्ठ वैज्ञानिक विवेकन शरतपञ्चमाष्टम्य हिन्दी विज्ञानमाध्य में विरहित है।

२ नाकारणं हि शास्त्रेऽस्ति धर्मं सूक्ष्मोऽपि जानते ।

कारणाद्धर्ममन्विच्छन् स लोकाभापुते ह्यमात् ॥

आत्मा कर्मोपि कुर्वीत माहात्मा कर्म आचरेत् ।

अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्वजनं स्यात् परे परे ॥

कृती दिन संसार कुछ क्षणों के छिप एक बार शान्ति का श्वास झ सकेगा। परन्तु कुछ ही समय पीछे इस अतीव मुद से भी कहीं भयङ्कर सांस्कृतिक-संघर्ष का सूत्रपात होगा। तत्पश्चात् अपनी अपनी संस्कृतियाँ छुडकर इस संघर्ष में माग हेंगे। इस अहमहमिका में जिस राष्ट्र की संस्कृति सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होगी, वही प्रमुख स्थान पा सकेगी, शेष संस्कृतियाँ उस प्रमुख संस्कृति के चर में समाविष्ट हो जायेंगी, एवं वही समय मुद का अन्तिम निर्णायक समय माना जायगा। क्या हम सांस्कृतिक संघर्ष से भारतराष्ट्र अपने आप को बचा सकगा ? कभी नहीं, इसे इच्छा से नहीं तो अनिच्छा से बाग देना पडगा 'एवं तब इसके सामने यह प्रश्न उपस्थित होगा कि, 'कैसे इस संघर्ष में विजय प्राप्त करने के छिप कौन सी संस्कृति का अनुगमन करें'। बतमान युग के वैरागता भरे ही हमारे कथन की आज अपेक्षा कर हें परन्तु उन्हें काळान्तर में ही यह अनुभव करना पडगा कि, भाषी संघर्ष में विजय प्राप्त करने का एकमात्र माधन होगा नित्य विज्ञानप्रधान-शास्त्रप्रधानविज्ञानप्रदाता आर्षसाहित्य, एवं तन्मूलक आर्षसंस्कृति। इस भाषी दृष्टिकोण की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि, कारणविज्ञानसमक आर्षसाहित्य का अधिक से अधिक प्रचार किया जाव। सांस्कृतिक संघर्ष को बाढ़ी डेर के छिप अपेक्षणीय भी मान लिया जाय, तब भी अपन अभ्युदय के नाते भी इसकी आवश्यकता का अपेक्षा नहीं किया जा सकता।

१ - १

वैज्ञानिक तन्त्रों के विस्तृतप्राय हो जाने से ही ईशरीय-माकृतिक-नित्य-सनातन-मानवधर्म आज मतवादात्म में परिणत होता हुआ शान्ति-प्रवृत्तिक स्थान में कलहप्रवृत्ति का कारण बन रहा है। एक 'बाह गुरुजी' के नाम पर समस्त सिक्ख सम्मिलित हो जाते हैं, एक पैगम्बर के नाम पर सम्पूर्ण बचन प्रजा का संघटन सम्भव है। परन्तु सनातनधर्म के पास ऐसा आज एक भी अधोप नहीं है, जिस के आधार पर वह समस्त सम्प्रदायों का एकत्र में संघटन कर सके। केवल वैदिक विज्ञान ही एक ऐसा राष्ट्र-नाद है, जिस के आधार पर सम्पूर्ण सम्प्रदाय समवेत हो सकती हैं। इस प्रकार साम्प्रदायिक संघटन के नाते भी विज्ञानतत्त्व का प्रचार-प्रसार आवश्यक बन रहा है।

इस विज्ञाननिधि के विस्तृतप्राय हो जाने से ही उस परम वैज्ञानिक अमादि सनातनधर्म की आज परीष्ट 'जैन-बौद्ध-मोहम्मदीय' आदि मतवादों के साथ तुलना की जा रही है। इस इतिहासप्रपितामह को इन इतिहासप्रपितयों की कक्षा में लाकर इन के साथ इसके औचित्य-अनाचित्य का समतुल्य किया जा रहा है। सीमा नहीं समझ नहीं हो जाती। हमी के सुर्तों द्वारा इन मतवादों की तुलना में इसे न केवल स्थान ही नीचा दिया जाता, अपितु हमका अपमान

भी किया जा रहा है, उसके प्रति अवाच्यवादी का प्रयोग किया जा रहा है। इसीलिए कैसे वे ? बड़े महत्त्वा से, कुछ कैसे थे ? अहिंसा क्या-के अन्तर्गत वे सुस्वागतम्। हाँ तो आर्यधर्म प्रवर्तक भूपि कैसे थे ? बड़े स्थायी थे, मानव सम्यक्ता के अन्यतम शास्त्र वे पञ्चपाती थे यह है आज की उस समालोचना का निष्कर्ष, जिसके समर्थक निवृत्तों को पढ़कर आज भारतीय नवयुवक अपनी प्रतिमा का समुपयोग (१) कर रहे हैं। सौभाग्य कहिए, अथवा दुर्भाग्य, कोई सा ही सामयिकपत्र (समाचारपत्र) बचा होगा, जो आप दिन धर्माशाओं की, तत्प्रवर्तक महर्षियों की, तत्तुलामी सनातनधर्मावलम्बियों की निन्हा से अपने भीमुख पर काष्ठित न पोतता होगा ? वह समाचारपत्र पत्र ही क्या, जिस के प्रत्येक अङ्क में धर्मविरुद्ध काव्यों के दो चार समाचार समाविष्ट न हों। आज तो हमारा यहाँ तक पतन हो गया है कि, हमने अपने मनोरञ्जक चित्रपटों में भी धर्मनिन्हा को अपना प्रधान छद्म बना लिया है, और ऐसे ही चित्रपट आज हमारे लिए विशेष आकर्षण की वस्तु बने हुए हैं। देश-नेताओं के कर-कमलों के द्वारा क्लृप्तादि कतिपय सामाजिक चित्रपटों में रुडिबाद के नाश के नाम पर भारतीय वर्णभ्रमधर्म पर लसी के प्रसूनों द्वारा जो प्रसन्नपट्टि देखने सुनने में आती है, वह एक प्रकार से हमारी संस्कृति की पवन की ही सूचिका मानी जायगी। एवमेव पाश्चात्य-संस्कृति की अरुण प्रतिमा से कुछ भारतीय नवयुवकों में से कोई सा ही ऐसा सौभाग्यवादी युवक बच रहा होगा, जो प्रायः सच-सोते अपने इस पूज्य का उपहासदि साधनों से सत्कार न करता होगा।

बोद्धि पाश्चात्यरिक्ता दीक्षितों की बात। विद्वानों में से भी ऐसा कोई विद्वान ही विद्वान होगा जो अन्तःकरण से सनातनधर्म के प्रत्येक आदेश के सामने अपना मत्तक विनम्र कर देता होगा। जो विद्वान अपने आपको प्राच्यसंस्कृति के अनन्य पोषक कहते हैं, जो 'कट्टर सनातनधर्मी' उपाधि से अपने आपको गौरवान्वित मानते हैं जो आप दिन सामान्यकाष्ठों का अपने साधनदृष्ट्य से वर्णवृत्त करते हुए अहमहमिका-कर्म से चागूर मुद्रिप्रमत्त का स्मरण कराते हुए अधस्तन्य सनातनधर्मसभाओं को शृंगार बनाने का पुण्य सन्धय करते रहते हैं, धर्म के अवधियों से जो धावाधमिनी (आकाशपाताल) के बिम्बों को हटाते रहते हैं, ऐसे उपदेशों से यदि उनका ही कोई अन्तराङ्ग व्यक्ति धर्माशाओं के सम्बन्ध में सब कमी सन्ने हास्यक प्रश्न कर बैठता है, तो उनके मुखविचर से भी यही उत्तर निकलता है कि, ऐसा प्रश्न करना धर्म्य है। इस धर्म जब कभी विचार करते हैं, तो ऐसा ही प्रतीत होता है, मानो यह सब केवल धर्मना का ही साम्राज्य हो। परन्तु क्या कर, सप्तसाधारण के द्वारा प्राप्त प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए तथा आजीविका निर्बाह के लिए जान बूझ कर आत्मा को धोका देना ही

पड़ता है। जब अपने घर की ही यह दुर्दशा है, तो भविष्यविद, तथा अन्यमतावलम्बी सनातनधर्म पर यदि आक्षेप करते हैं, तो इस में उनका क्या अपराध है। वे तो विद्वान् हैं, वास्तविक तत्त्व के विपक्ष में हैं। जब विद्वान् उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर सकते अपितु पुरस्कार में विद्वानों की आर से उन्हें 'आस्तिक' की उपाधि प्राप्त होती है, तो वे क्यों म सनातनधर्म से विमुख होंगे। इसी परिस्थिति के आभास पर हम कह सकते हैं कि, आज सनातनधर्म पर बनता का जो अविश्वास बढ़ता जा रहा है उसका एक कारण वैदिकत्वानभिष्ट, अतएव उपपत्ति ज्ञानभूत (उत्पत्तिज्ञानभूत) इन पण्डितमन्यो के, तथा 'आचार्य' उपाधि-विभूषित धर्माचार्यों के द्वारा धर्मोपदेश का सम्हालित होना भी है।

‘अविद्यायामन्तरे वर्धमाना स्वयं धीरा पण्डितमन्यमानाः।’

दृश्यमानाः परियन्ति मूढा जन्तेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥’

—इतिश्रुति—१।२।५।

एक औपनिषद् सिद्धान्त के अनुसार स्वयं अध्ययन से धर्मरक्षक अन्य मुग्य मद्राष्ट समस्त का भी अन्यकृप में निक्षेप कर रहे हैं। सभी क्षेत्रों में आज एक बचन चरितार्थ हो रहा है। सभी नेता हैं, सभी पण्डित हैं, सभी उपदेशक हैं, सभी सुधारक हैं, सभी मज्जु हैं। अन्धों का समुदाय अन्धों को मार्ग दिखा रहा है। ऐसी स्थिति में 'कुतस्तत्र प्रतीकारो रक्षको यत्र मक्षक' के अनुसार इन रक्षकों से अधिक आपसंस्कृति अद्यावधि कैसे बच रही, यही एक महा आश्चर्य है।

शिक्षा हमारे हाम से जाती रही, यह अविश्वास का पहला कारण। एवं वेदस्वाभ्यास का परिचय कर अन्य धर्मों में आसु समस्त करने वाले अयोम्य विद्वानों तथा धर्माचार्यों के हाम में धर्मसूत्र (धर्म की बागडोर) का खड़ा जाना अविश्वास का दूसरा कारण। इन दोनों कारणों में से प्रथम कारण की चिकित्सा कई एक प्रतिबन्धकों से शीघ्र सम्भव नहीं है। हैरा अपनी पादप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित हो कर स्वस्वस्व को सुरक्षित रखता हुआ जब पहिले स्वतन्त्रता प्राप्त करके, तब इसे शिक्षा-स्वातन्त्र्य उपलब्ध हो। एवं आपसंस्कृति का बचपूर्ण प्रचार हो तब कभी स्वतन्त्रताप्रापक प्रतिष्ठापक प्राप्त हो। ऐसी परिस्थिति में वर्तमान दशा में वर्तमान शिक्षा पर हमारा स्वतन्त्रस्व से नियन्त्रण हो जायगा एवं हम उसमें ऐच्छिक परिवर्तन कर सकेंगे यह अनुपसम केवल कल्पना ही रह जाती है। दूसरा उपाय है—वैदिक-विज्ञान का प्रचार प्रसार। इस महीन मुग के सम्मुख जब तक धर्म के प्रत्येक अंश की उपपत्ति (वैज्ञानिक

रहस्य) उपस्थित नहीं करदी जायगी, तब तक ठगड़ा हुआ मम्मविश्वास पुनः प्रतिष्ठित न हो सकेगा। 'नवीनमार्गानुयायी अपने मौलिक साहित्य की वैज्ञानिकता का स्वरूप समझते हुए उसकी आवश्यकतम उपादयता स्वीकार करें, तबद्वारा प्राप्त प्रतिष्ठापल पर स्वलक्ष्य सिद्धि में सफलता प्राप्त करें, तथा विद्वानों की वैदिक विज्ञान की ओर प्रवृत्ति हो, एक ठगधपद्वारा व जनता की वास्तविक धर्मभावनाओं को पुष्पित-पल्लवित करें, 'आधुनिकविज्ञान' व्याजसे इन्हीं उद्देश्यों की सिद्धि के लिए 'आधुनिकविज्ञाननिबन्ध' उपस्थित हो रहा है' यही आधुनिकविज्ञान रचना-कारणत्रयी में से दूसरे कारण का संक्षिप्त निदर्शन है।

सनातनधर्मावलम्बी आप-प्रजापण का आज हम तीन भागों में अपि विभाग मान सकते हैं एवं उन्हें क्रमशः राष्ट्रीयवर्ग, विद्वद्वर्ग, सीधारणभट्टावर्ग, इन नामों से व्यवहार किया जा सकता है। राष्ट्रीयवर्ग की दृष्टि में राष्ट्रनिर्माण में, राष्ट्रोन्नति में, किंवा राष्ट्रीय धर्म के स्वातन्त्र्यतायुद्ध में धर्म संबंधी अनपेक्षित उत्पत्ति है। प्रत्युत यह वर्ग धर्म को राष्ट्रोन्नति, तथा समाजोन्नति, दोनों का एक महान् प्रतिबन्धक मानने की मूल कर रहा है, जब कि राष्ट्र राज्य का संरक्षणम जननदाता ही सनातनधर्म माना गया है। इस सम्बन्ध में हमारा अपना-वो यह भी विश्वास है कि, सनातनशास्त्र तथा चन्द्रमस सनातनधर्म को मूलप्रतिष्ठा बनाए बिना कम से कम भारतराष्ट्र का अन्त्युद्योग एकात्मक असम्भव ही है। सामान्य-राष्ट्रीय विधानों के अतिरिक्त आपराज्य प्रवृत्तक महर्षियों ने प्राकृतिक विज्ञान के आधार पर कुछ एक ऐसे गुप्त कारणों का अन्वेषण किया है, जिन के रहते राष्ट्र कभी स्वातन्त्र्य नहीं हो सकता। साथ ही उन कारणों को दूर कर राष्ट्र-स्वातन्त्र्य के लिए एक विशेष प्रकार के वैज्ञानिक-धर्म का भी आविष्कार किया है, जो कि धर्म ब्राह्मणधर्मों में 'राष्ट्रमृत' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

राष्ट्र क्यों निर्धन हो जाता है ? निर्धन-राष्ट्र पराक्रमण का सामना करने में असमर्थ होता हुआ कैसे परतन्त्र हो जाता है ? ब्राह्मण-मुनि ने पहिले इन प्रश्नों का समाधान किया है। बतलाया गया है कि, अर्थशक्तिरूप विद्वधीन राष्ट्र का वास्तविक स्वरूप है। अर्थ ही राष्ट्र है। जिस राष्ट्र का अर्थबल क्षीण हो जाता है, निश्चयेन वह राष्ट्र अर्थभाव में पराक्रमण सहने के साधनों से वञ्चित होता हुआ परतन्त्र बन जाता है। अतः राष्ट्र-स्वरूप-रक्षा के लिए अर्थ स्वातन्त्र्य सर्वप्रथम अपेक्षित है। प्रश्न उपस्थित होता है कि, राष्ट्र का अर्थबल कैसे सुरक्षित रक्ता जाय ? इस प्रश्न का समाधान करत हुए मुनि ने अन्न-क्षत्र आमक वृन्द की ओर हमारा

प्यान आकर्षित किया है। ज्ञानीय राष्ट्र का ज्ञानवत् है, क्षत्रीय राष्ट्र का क्षमवत् है। ज्ञान-साक्षर कर्म ही अर्थरूप राष्ट्र का, किया राष्ट्ररूप अर्थ का स्वतन्त्र रखक है। जब राष्ट्र का ज्ञानवत् अमिषूत हो जाता है, तो ज्ञानानुगत क्षमवत् मध्या उपद्रुत बन जाता है। ज्ञानवत्तित पसा उच्छृङ्खल कर्म अर्थरक्षा में संध्या असमर्थ होता हुआ निष्पत्तेन राष्ट्रारक्षण का प्रवर्तक बन जाता है। अतएव आवश्यक है कि, अर्थरक्षा के लिए कर्मगुणि का आश्रय लिया जाय, एवं कर्मसौष्ठव के लिए ज्ञानगुणि को मूल्यप्रतिष्ठा बनाया जाय। इस प्रकार ज्ञानगुणिय राष्ट्र तथा क्रियाशक्तिरूप क्षत्र इन दो रक्षकों की सत्ता में ही अक्षरशक्तिरूप विद (राष्ट्र) क्षुद्रम रहता हुआ बसवाय रह सकता है। जब ऐसे ज्ञान-क्षत्रानुगृहीत अर्थरक्षण राष्ट्र की स्वतन्त्रता पर कोई भी शक्ति आक्रमण नहीं कर सकती।

विचार करने पर वर्तमान परतन्त्रता का यही एक मुख्य कारण हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है। भारतवर्ष के पास आज भी अर्थरक्ष (कोष) की कमी नहीं है। परन्तु हुन है कि, यह अपनी इस अर्थरक्षि का अपने राष्ट्रनिर्माण में अनुमान भी उपयोग नहीं कर सकता। क्यों हमारी अर्थरक्षि पर परराष्ट्रों का एकान्त स्वस्वाधिकार प्रतिष्ठित हो गया ? इस प्रश्न का उत्तर भी स्पष्ट है। समोगुणप्रधाना अर्थरक्षि सभी राष्ट्रों के लिए आकर्षण की वस्तु है। जब तक यह अर्थरक्षि समोगुणप्रधाना क्रियाशक्ति, तथा सम्बन्धप्रधाना ज्ञानशक्ति से सुरक्षित रहती है, दूसरे शब्दों में जब तक राष्ट्र का ज्ञानवत्, सेनावत्, दोनों अपने अधिकार में रहते हैं, जब तक उसका अर्थवत् सुरक्षित रहता है, एवं जब तक राष्ट्र की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रहती है। ज्ञानवत्प्रवत्त देश का आक्रमण न जिस दिन से वैश्वगुणि का परिद्वारा किया उसी दिन से ज्ञानानुगत क्षमवत् क्षत्रियों के हाथ से निकल गया। दोनों से वञ्चित अर्थ अक्षय रहता हुआ पर-गिद्धों का बन्ध बन गया। इस विवक्षना से यह स्पष्ट है कि, अक्षयक्षेत्रराष्ट्र की स्वरूपरक्षा एकमात्र ज्ञान-क्षत्र मिश्रण पर ही अवलम्बित है।

भारतवर्ष का ज्ञान-क्षत्र बलरक्षक मिश्रणमात्र क्यों निकल हो गया ? इस प्रश्न का तात्त्विक कारण बलरक्षी हुई भुवि जागे जाकर कहती है कि, जिस राष्ट्र में से प्राकृतिक प्राणवैद्यताओं का जिनितम्न हो जाता है, उस राष्ट्र का ज्ञान-क्षत्रात्मक मिश्रणमात्र निवृत्त बन जाता है। 'अग्नि आपति, शूर्य अरिषि, चन्द्रमा चन्द्रम, वात व्याप, पृथ्वी पृथिव्या, मन अक्रमा' ये ६ गुण ज्ञान-क्षत्र मिश्रण के स्वरूप रखक माने गए हैं। अतएव 'एते देवा राष्ट्रमृत' के अनुसार ये ही प्राणवैद्यता राष्ट्रस्वरूप के कारण करन बाले माने गए हैं। इनमें

अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वात, पृथ्वी, मन, ये ६ देवता ब्रह्मणीय के संरक्षक हैं, एवं ओषधि, मरीचि, नक्षत्र, धातु, वृद्धिष्ठा, शृङ्गसाम, ये ६ देवता क्षत्रणीय के संरक्षक हैं। श्रुति कहते हैं कि, जिस राष्ट्र को परतन्त्र देलो, बिश्वास करो उस राष्ट्र का ज्ञानानुगत ब्रह्मबल, तथा कर्मानुगत क्षत्रबल, दोनों सम्मिलित हैं। एवं जिस राष्ट्र को ब्रह्म-क्षत्र-नीयों से वञ्चित देलो, बिश्वास करो उस राष्ट्र के ब्रह्म-क्षत्रणीय संरक्षक दोनों बल एक ६ ओं ब्रह्मदेवताओं के अनुग्रह से वञ्चित हो गए हैं। ऐसी स्थिति में यदि तुम्हें अपनी-राष्ट्र-की प्रतिष्ठा पुनः अपेक्षित है, तो राष्ट्र में ब्रह्म-क्षत्र को पुनरुज्जीवित करना पड़ेगा। इसके लिए उन ब्रह्मदेवताओं का अपने राष्ट्र में समावेश करना आवश्यक होगा। एवं इस ऋषि की सिद्धि के लिए 'राष्ट्रसूत' नामक यज्ञप्रक्रिया का अनुगमन करना पड़ेगा, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

१—'अथातो राष्ट्रसूतो जुहोति-राज्ञानो वै राष्ट्रसूतः । ते हि राष्ट्राणि बिभ्रति ।'

एता ६ देवताः सुता एतन् सवेन येनैतत् सोप्यमाणो भवति, ता पञ्चैतत् प्रीणाति । ताऽअस्या इष्टा प्रीता एतः सवमनुमन्यन्ते, तामिरनुमत द्यते । यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यन्ते, स राजा भवति । न स यस्मै, न तत् । राजानो राष्ट्राणि बिभ्रति, राजान उऽप्यते देवा, तस्मादेता राष्ट्रसूतः ॥

२—'मिथुनानि जुहोति । मिथुनाष्टाऽअधि प्रजाति । यो वै प्रजापते, सराष्ट्र भवति । अराष्ट्र वै स भवति, यो न प्रजापते । तद्यन्मिथुनानि राष्ट्र बिभ्रति, मिथुना उऽप्यते देवा । तस्मादेता राष्ट्रसूतः ॥

३—'अग्निर्गन्धर्व, अस्वीपथयोऽप्सरसः । शूर्यो गन्धर्व, अस्य मरीचयोऽप्सरसः । चन्द्रमा गन्धर्व, तस्य नक्षत्राण्यप्सरसः । वातो गन्धर्व, तस्य आपोऽप्सरसः । वृद्धो गन्धर्व, तस्य वृद्धिष्ठा अप्सरसः । मनो गन्धर्व, तस्य १५ अक्षसामान्यप्सरसः । आशासत-इति-नोऽस्त्वित्य, नोऽस्त्विति । स न इदं ब्रह्म-क्षत्र पातु-इति । तस्योक्तो यः पुः ।'

—अथ ९ अं १२ अ १३ अ ।

सर्व प्रथम ज्ञानराशि-प्रवर्तक ब्रह्मबल, तदनुगत क्रियाशक्ति-प्रवर्तक क्षत्रबल, ब्रह्म-क्षत्रानुगृहीत-अर्थराशिप्रवर्तक बिद्बल, तीनों राष्ट्र की ममान सम्पत्तियाँ हैं, यह बल कबन से

मस्तीमांति सिद्ध हो जाता है। साथ ही यह भी स्वतः सिद्ध है कि, जबबलापेक्षया क्रियाबल भेद है, संबंधिबला ज्ञानबल भेद, तथा अष्ट है। ज्ञानबलोपासक ब्रह्मवीर्यप्रधान (आस्था प्राप्ति) ज्ञानवर्ग वैदुर्मि द्वारा स्वब्रह्मवर्गसे राष्ट्र की ज्ञानानुगता ब्रह्मविमूर्ति सुरक्षित रखने वाला माना गया है। क्रियाबलोपासक क्षत्रवीर्यप्रधान/क्षत्रिवर्ग ब्रह्मद्वारा (प्राप्ति द्वारा) प्राप्त ज्ञानप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होता हुआ रथ, आदि ब्रह्मबल के द्वारा, धनुषादि रास्त्रबल के द्वारा ब्रह्म अस्त्रिज से राष्ट्र की रक्षा करता हुआ राष्ट्र की क्रियानुगता क्षत्र-विमूर्ति का रक्षक माना गया है। ब्रह्म-क्षत्रवर्ग से मुमुक्षु, 'अथर्व श्रुत' इस कथा से विमूर्ति वर्ग बलोपासक विद्ववीर्यप्रधान वैश्यवर्ग कुंभि-गोव्या-वापिस्व-द्वारा स्व-सन्धित अर्थ का ब्रह्म-क्षत्र के आदेशानुसार राष्ट्रनिम्मात्र में उपभोग करता हुआ राष्ट्र की विद्वि-विमूर्ति का संरक्षक माना गया है। इन तीनों पुरुषविमूर्तियों के अतिरिक्त कृषिकर्मोपमुक्त दुधारी गार्ह, सबल अनह्वान् आदिब्रह्म पशुसम्पत् भी निरान्त अपेक्षित है। वीर्यानुगता विवादिप्रजा (या सु० वै प्रजा) की रक्षुद्धि के लिए राष्ट्र की मारी-सम्पत्ति का भी निवृत्त रहना परम अपेक्षित है। सर्वोपरि प्रकृति का निरापन्न बना रहना भी अस्वावश्यक है, जिसके लिए प्राकृतवर्म्म (सना तनवर्म्म) का अनुगमन सतत अपेक्षित माना गया है। 'चर्यानुष्ठान से प्रकृति राष्ट्र के अनुकूल रहती है पूर्वोक्त ब्रह्म-क्षत्रवर्ग के देवतान्त्रों का अनुग्रह सुरक्षित रहता है, फलतः समय पर वृद्धि होती है औपधि-वन्धनविधियों का परिपाक होता रहता है। इसी प्राकृतिक अनुग्रह से ब्रह्म क्षत्र विद्वब्रह्मवी पशुबल, आदि राष्ट्रोपयोगी सभी साधन पुष्पित पक्वित बन रहे हैं। और इन सब साधन-सामग्रियों से राष्ट्र का योग (सम्पन्नता), तथा क्षेम (प्राप्तसम्पत्ति का संरक्षण) मस्तीमांति होता रहता है। एक स्वतन्त्र राष्ट्र की स्वतन्त्रतासाधक इन्हीं सबसाधन साधन-सामग्रियों का कवल अपने एक श्रुतिमन्त्र से विश्लेषण करते हुए राष्ट्रव्यवस्थ के अनन्वयेमी वैदमहर्षि करते हैं—

१ 'आ ब्रह्मन् ! प्राज्ञयो ब्रह्मवर्षसी जायताम्

आ राष्ट्रं राजन्यः पुर इषव्याऽतिष्पाधी महारथा जायताम्

दाग्धी धनु , बाडानह्वान्, आशु सति , पुरन्धिर्वापा, जिष्णु रथग्रा

१—ब्रह्म की सिद्ध वैदिक व्यवस्था गीताविज्ञानभाष्यश्रुमिका-बहिरङ्गपरीयात्मक-मयमसण्डे में देखने चाहिए।

समेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् ।
निकामे निकामे न पर्जन्यो वर्षतु
फलधत्तो न ओषधय पच्यन्ताम्
योग-क्षमो न कल्पताम्

—मनु-संहिता २२ अ । १ मे ।

जिस प्रकृति के द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का एक सुव्यवस्थित क्रम से सञ्चालन हो रहा है, वही प्रकृतितत्त्व उपनिषद्शास्त्र में 'अन्तर्यामी' कहा गया है। प्रत्यक्ष ब्रह्म के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहने वाले इसी प्रकृतितत्त्व से भूमि तत्त्वस्तु विश्व का नियतभाव से नियमन होता रहता है; अतएव इसे 'अन्तस्तिष्ठन् नियमयति' नियमन से 'अन्तर्यामी' कहना अन्वर्थ बनता है। ब्रह्मकेन्द्र 'हृदयम्' कहा गया है। इस हृदय में प्रतिष्ठित अन्तर्यामी 'हू' छत्रण आवाहनधर्म से, 'व' छत्रण विमर्गधर्म से, एव 'यम्' छत्रण नियमनधर्म से आगति गति स्थिति मार्गों द्वारा अग्नीषोमात्मक बस्तुपिण्डों का स्वरूपरूपक बन रहा है। हृदय में 'ह-द-य' रूप से प्रतिष्ठित यही अन्तर्यामी अपनी नियत-एकरूप-वृत्ति से 'नियतिः सत्यम्' कहा गया है। यही 'अनिरुक्त इय प्रजापति' है, जिसका—प्रजापतिश्चरति गर्भे० (बभ्रु सं ११।१६) इत्यादि मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है। इसी अन्तर्यामी, इन्द्रप्रतिष्ठ, इ-द-य मूर्ति प्रजापति (प्रकृतितत्त्व) का विश्लेषण करते हुए ब्राह्मणमूर्ति ने कहा है—

‘एय प्रजापतिर्यत्-हृदयम् । एतद् ब्रह्म, एत सवम् । तदेतत्त्र्यम्बर
‘हृदय’ मिति (इ-द-यम्-वृत्ति) । ‘ह’ इत्येकमक्षरम् । अमिहरन्त्यस्मै
स्वाभ्यान्वे च, य एव वेद । ‘द’ इत्येकमक्षरम् । ददन्त्यस्मै-न्वाभ्यान्वे च,
य एव वेद । ‘यम्’ इत्येकमक्षरम् । एति स्वर्ग-लोक, य एव वेद ।
तत्रै सदेसदेव तदाम-सत्यमेव । स यो हैषमेतन्महायज्ञ प्रथमज वेद
‘सत्य ब्रह्म’ ति, जयतीर्माँल्लोकान् । सत्यं ह्येव ब्रह्म ।’

—शत १४ अं ८ अ ४५ अ

‘वैद्य तु स्व तमन्तर्यामिणं-य इम च लोक, पर च लोक,
सर्वाणि च भूताति अन्तरो यमयति, इति । यः (हृदये) तिष्ठन्
अन्तरो यमयतीति, स त ऽग्रामा अन्तर्यामी, अमृतः ।’

—शत १४।१५ अ

इदयस्थित भू-द-य मूर्ति हम सत्यप्रजापति की नियतवृत्ति ही धम्म है। जिस वस्तु के धर्म में उपाधि मद्भिन्न जैसा अन्तर्ध्यामी-सत्य प्रतिष्ठित है, वह वस्तु तद्बनुरूपा प्रति से ही मुक्त रहती है। पानी अपने सत्यधम्म से सदा निम्नगामी ही रहता है अग्नि अपने सत्यधम्म से सदा ऊर्ध्वगामी ही रहता है, वायु तिर्ध्वगामी ही रहता है। पानी उपाधिकृत प्राकृतिक नित्य धर्म-मद् है, पानी स-धम्म है, यही सधम्म तद्बस्तु का स्वरूप रहस्य है। प्राकृतिक अविद्यामी भाव ही सत्य है, यही धम्म है। अतएव 'यो वै धर्म, सत्यं वै' (शत १४४ अ० १६) इत्यादि रूप स धर्मरूपण इत्य में प्रतिष्ठित सत्यरक्षण अन्तर्ध्यामी का, तथा अकारण स बहिर्विनिश्चय धर्मरक्षण वास्तविक का अभव मान लिया गया है। अन्तर्ध्यामी-सत्य के धर्मरक्षण प्राकृतिक तत्त्व का विश्लेषण करने वाला प्राकृतिक शास्त्र ही आर्यशास्त्र (वदशास्त्र) है, अतएव यह शास्त्र अपौरुषेय माना गया है। इस अपौरुषेय शास्त्र के आधार पर प्रतिष्ठित श्रौतस्मात्-रक्षण सनातनधम्म ही प्राकृतिक धम्म है, जिस की निस्वसिद्धा वर्णाश्रमवृत्ति के आधार पर धर्मभेदरूपण व्यवस्था हुई है। वर्णानुगति से ही यह वदशासिद्ध प्राकृतिक सनातनधम्म 'वदधम्मधम्म' नाम से व्यवहृत हुआ है। इस प्राकृतिक नित्यधम्म का जब आर्यप्रजा परिस्थान कर रही है तो तत्सम्बद्धा प्रकृति कुपित हो जाती है। प्रकृतिहीन से शान्तिसंवाहक देवता-इन्द्र कुपित हो जाते हैं। फलतः राष्ट्रमसृद्धि विनाशोन्मुक्त बन जाती है, क्षत्रिका प्रत्यक्ष निर्वहन समुद्रियुक्त वर्तमान मारतरात्र बन रहा है। इस दृष्टिकोण से भी धर्म की राष्ट्रमसृद्धि में मसी मांवि उपयोगिता निह्न हो जाती है। जो राष्ट्रवासी भारतीय धम्म के इस मौखिक-प्राकृतिक-सत्य-स्वरूप से अपरिचित रहते हुए समातनधम्म तथा धर्मरक्षस्यप्रतिपादक वदशास्त्र को राष्ट्र के अम्युद्व में प्रतिबन्धक मान रहे हैं, क्या यह इनका राष्ट्रमसृद्धि-विनाशक प्रौढिवाद गरी है ?

अस्तु राष्ट्रीयवर्ग किम अज्ञात कारण से धर्म को प्रतिबन्धक मान रहा है ? इस प्रश्न की मीमांसा में न पड़ते हुए क्रमशः दूसरे विद्वानों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। संस्कृत विद्वान् धम्म का परिरीक्षित करते हुए भी आपराक्ष की लक्ष्मा से धम्म के रहस्यज्ञान से वञ्चित हाथ हुए एक प्रकार से व्यावर्णिक धर्माचरण (धर्माचरण का ढोंग) कर रहे हैं। सच पूछिए तो ऐसे विद्वानों की कृपा से ही राष्ट्रीयधम्म स विमुक्त हुआ एवं होता जा रहा है। अम्युद्व (पहलौकिक), एवं निजोबस (पारलौकिक) सामक धर्म के आचरण का उद्घोष करने वाले विद्वानों की जैसी प्रकृति आज इसी सुनी जाती है, सचमुच यह एक डोंगकर समझा है। मानसिक वास्तवता का जैसा पूर्ण विकास विद्वानों में उपलब्ध हो रहा है सोचने से भी अन्यत्र उपलब्ध न होगा। जर्बपारा में बांध कर आज आप विद्वानों

से यथेष्ट धर्मव्यवस्था प्राप्त कर सकते हैं। कण्डोभस्त विद्वान् पाठकी से पाठकी व्यक्ति को भी धर्मरक्षक, धर्माचार्य, आदि उपाधियों से अलङ्कृत कर सकते हैं। स्वार्थवरा सत्य का गला घोट देना आज इन की स्वाभाविक पर्या बन रही है। आत्माभिमान आज इनके छिपे हुए से ही प्रणम्य बन रहा है। यही कारण है कि, आज इस वर्ग के प्रति सभी वर्ग अमित्रात्मक अघाघ्यवाहों का प्रयोग करते नहीं आया है।

तीसरा क्रमप्राप्त अस्मवादि साधारण मनुष्यों का भद्रालुवर्ग है। यह वर्ग शास्त्र पर पूर्ण निष्ठा रखता है। कुतर्कियों के तर्कालोक का समुचित उत्तर देने की क्षमता न रखता हुआ भी यह आस्तिकवर्ग चिरन्तन संस्कारवरा, तथा संस्कारविधातिका पाश्चात्य-रिश्तावंतर्ग के अभावान्तर अनुग्रह से अघाघनि स्वयम् पर यथाकथञ्चित् प्रतिष्ठित है। वस्तुस्थिति यो यह है कि, इस भद्रालु-वर्ग की आस्था के बल पर ही अघाघनि धर्मनिष्ठा यथाकथञ्चित् प्रकान्त है। आस्तिकवर्ग की इस सहज भद्रा का हृदय से अभिनन्दन करते हुए हम उससे यह निवेदन कर देना आवश्यक समझते हैं कि, जो कर्म, जो धर्म बिना ज्ञान का आग्रह किए केवल प्रणाडी (अन्धप्रणाडी) का अनुगामी बना रहता है, कालान्तर में उसमें शैथिल्य आ जाता है। उदाहरण के लिए भद्रकर्म ही पर्याप्त होगा। भद्र के मौलिक रहस्य ज्ञानाभास से आज आधुनिकताव्यवस्था में अनेक दोषों का समावेश हो गया है। जहां भद्रकर्म के छिपे—अपरह पितृणाम् के अनुसार अपरह (मध्याह्नोत्तर) काल नियत है, वहां 'पूर्वाह्णे वै उच्यते' के अनुसार देवकर्म के छिपे नियत पूर्वाह्न से पहिले ही आधुनिकताव्यवस्था पूरी कर ली जाती है। पिण्डप्रदान ही भद्रकर्म की मुख्य प्रतिष्ठा है। पिण्डगत सौम्यप्राण ही भद्रास्तुतः भद्रास्तु के आधार पर विषय पुत्रादिगत भद्राभास से परलोकस्व प्रेय पितरों की वृत्ति का कारण माना गया है। इधर आज केवल अज्ञानान्तरात्मक ब्राह्मणमोक्षण कर्म को ही प्रधानरूपेण भद्र का स्वरूपसमर्पक माना जा रहा है। देव-विधि से अधिक देसा कर्म न केवल धर्म ही जाता अपितु ऐसा अवैध कर्म अम्युह्य के स्थान में प्रत्यवायजनक बन जाता है। देवता का आह्वान न करना कभी उत्तम पक्ष है। परन्तु संकल्पद्वारा देवता का आह्वान कर उसका सत्कार न करना अनर्थ का वीजवपन करना है। "मे भान पिण्डपितृ पञ्च कर्तव्या" इस मानस संकल्प से प्राणात्मक पितृदेवता भद्रास्तु द्वारा परलोक से आकर भद्रकर्ता यज्ञमान की आध्यात्मिक संस्था में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इनकी वृत्ति का प्रधान साधन पिण्डगत सौम्यप्राण है। यदि इन्हें यह प्राप्त नहीं होता, तो अभिराज देवे हुए पितर पराङ्मुख हो जाते हैं।

किन्तु एक महातुमाओं के मुक्त से आत्मकर्म की उपपत्ति के सम्बन्ध में यह भी कहते सुना गया है कि, 'आत्मशक्ति मैत्री सुरक्षित रहने के लिए ही वर्ष में १५ दिन भोजन करने के लिए नियत कर दिए गए हैं'। इस प्रकार अज्ञानतावश नवीन नवीन कल्पनाओं के आधार पर आज प्रत्येक कर्म विरुद्धमाणागत होता हुआ अमुकस्थ के स्थान में सर्वनाश का कारण बन रहा है। जो महातुमाओं आदि—यहाँवि नहीं करते, जोकसम्पत्ति की दृष्टि से व सुखी बने जाते हैं। इतर आदि शारीरिक कर्मों की अनुगामिनी प्रजा हुकी बेली सुनी जाती है। इसका क्या कारण ?। 'यतोऽमुक्यनिर्भयसिद्धिः, स धर्मः' कहते हुए महापुरुषों ने धर्म-प्रवृत्ति को सम्यक्-मुखावधि का कारण कहा है। हो रहा है इसके ठीक विपरीत। इसी विप्रतिपत्ति का बड़ा सुन्दर समाधान करते हुए भगवान् पादप्रतिपादन करते हैं—

एक बार भारतीय अद्वैतगुरु अमरनाथ महर्षि का परिचय कर दिया। उन्होंने देखा कि, जो पञ्चानुष्ठान करते हैं—वे सुखी बने जाते हैं, एवं जो पञ्चानुष्ठान नहीं करते—वे सुखी—सकल बने जाते हैं। ऐसी स्थिति में उन्होंने यह संकल्प कर लिया कि, आज से अपने किसी भी पञ्चकर्म का अनुगमन न करेंगे। दूसरे शब्दों में यों कह लीजिए कि, जिस प्रकार वर्तमान युग में धर्मात्मा सुख पा रहे हैं, पापत्मा जोकबैसा से मुक्त हो रहे हैं। इस भावना से जैसे मानव समाज की धर्ममार्ग पर अमरनाथ बढ़ती आ रही है, ठीक इसी दृष्टि के आधार पर युगयुग में भी मानवसमाज यहाँवि धर्म-कल्प के प्रति अमरनाथ करता हुआ इसे छोड़ बैठे। जब स्वर्गावधि इन्द्र के पास ये समाचार पहुँचे, तो उन्होंने मानवसमाज की अमरनाथ वृत्ति के लिए स्वर्ग गृहस्थि का भारतवर्ष भेजा। गृहस्थि के सामने जब मनुष्यों ने अपनी अमरनाथ का 'य उ यजन्ते-ते पापीर्यामा भवन्ति, य उ न यजन्ते-त श्रयांसो भवन्ति। किं काम्या यजमहि,' यह कारण व्यक्त किया तो गृहस्थि ने अनुमान लगा लिया कि, जबकि ही उन्होंने पञ्चकर्म में किसी विरुद्ध कर्म का समावेश कर लिया है। पञ्च गृहस्थि ने जाँचे दिया कि, जब एक बार तुम हमारे सामने बने कर। मनुष्यों ने जाँचे अनुसार यहवि का निर्माण किया अग्नि-कुण्ड बनाया। इसी कर्म-परम्परा में गृहस्थि ने देखा कि पञ्चकर्म के अन्तिमों में वेदि पर कुरा बिजले से पहिले ही वेदि का स्पर्श कर लिया है। गृहस्थि बोले यह कि, हे मनुष्यो। इसी दोष से अमुकसमाज यह से तुम्हारा अन्तिम दिया है। कुरास्पर्श से पूर्व वेदि का स्पर्श करने से वेदिनिर्माणार्थ बोदीर्ग मूमि का द्विष्ट माण तुम्हारे अध्यात्मपथ में प्रविष्ट होगया। इसी से तुम्हारा पञ्चकर्म विरुद्ध हो गया।

सावधान । आगे से मूलकर भी बर्हिस्तरण से पूर्व वेदि का स्पर्श न करना । धर्मविद्युत से जब वेदिगत द्विष्टक विद्युत शान्त हो जाय, तभी तुम वेदिका स्पर्श कर सकते हो । आदेशानुसार मनुष्यों ने ऐसा ही किया । एवं इस वेद्यनवमर्शपूर्वक होने वाले यज्ञानुष्ठान से मनुष्य यज्ञ न करने वालों की अपेक्षा सुसमृद्ध बन गय' (वेद्विप-शत० १।१५।६ ब्रा०) ॥

एक ब्राह्मणाख्यान से प्रकट में हमें यही बतलाना है कि, धर्मतत्त्व का किसी परोक्ष-अधि-त्यागप्रमेय-शक्ति से सम्बन्ध है । इस में न तो माननीय कल्पना का समावेश ही सम्भव है, एवं न साधारण भी भूल का ही यहाँ समावेश है । किस प्रकार बोझी सी अमावसानी से विद्युत्तन्त्र प्रकार-प्रदान के स्थान में प्राणों का संप्राप्तिक बन जाता है, एवमेव थोड़ा भी इतस्तुत करने से वही धार्मिक-कर्मकलाप अम्युव्य के स्थान में सर्वाकार का कारण बन जाता है । यदि एक स्वर-बोप से इन्द्रावुष द्वारा इन्द्रवधार्थ होने वाले यज्ञ में इन्द्र के स्थान में स्वयं यहकर्ता वृत्र मारा जा सकता है, तो अवश्यमेव धर्मानुष्ठानों के सम्बन्ध में होने वाली भूलें हमें अम्युव्य से बर्जित रखने के साथ साथ हमारा महा अनिष्ट भी कर सकती हैं । वही वैश्राख है, वही मन्त्र है, मन्त्रों में वे ही अव्यर्थ शक्तियाँ निहित हैं, वही फलितमन्त्र हैं । फिर क्या कारण है कि, आज हमारे अनुष्ठान सफ़ल नहीं होते ? आज यह कौन विचार्य कर सकता है कि, ब्राह्मणवर्ग कर्म-निर्वाह की क्या तो दूर, मन्त्रों का भी ठीक ठीक उच्चारण कर सकता है ? ऐसी दशा में अपने प्रज्ञापराध अनित्यबोप से क्षयन्न नाशकारिणी दशा का उत्तरदायित्व धम्म पर डाल देना क्या म्यायफस है ? सनातनधर्मावलम्बियों की इसी भूल ने इन्हें अन्य मत्तवाचियों की तुलना में हीन-बीर्ज बना रक्ता है । अन्यमतावलम्बी धार्मिक छोकैयम से बाधा-दृष्ट्या मुष्टवत् प्रतीत हो रहे हैं । परन्तु हम धम्म का व्यास से आचरण करते हुए धर्म को छोका देकर समयत भ्रष्ट हो रहे हैं । इस पतन से त्राण पाने का एकमात्र उपाय है तत्त-कर्मकलापों की मौखिक उपपत्तियों का परिज्ञान प्राप्त करना । उपपत्तिज्ञान से ही हम धर्म के वास्तविक स्वरूप से परिचय प्राप्त कर सकते हैं । धर्म धर्म की अनुरूपता का अनुगमन सम्भव हो सकता है, एवं तभी धर्मानुष्ठान फलप्रद बन सकता है । 'अद्वैतवर्ग स्वधर्मस्फुटानुसार शास्त्रीय धर्म-कलाप क उपपत्तिज्ञान द्वारा यथाविधि धर्मों का अनुष्ठान करे, एवं तद्द्वारा यथोक्त फलमाक वने' यही भद्रविज्ञानमिबन्ध की रचनाकारणत्रयी के अन्तिम (तृतीय) कारण का संक्षिप्त निदर्शन है ।

सर्वांत में प्रसङ्गान् एक स्वाधमूलक कारण का विगृह्णन कर देना भी अप्रासङ्गिक न माना जायगा । आज से ८ वर्ष पहिले अद्वेय पितु-मी (बालचन्द्रशास्त्री) का परलोक गमन हुआ । स्पेष्ट भ्रातृ-मी क द्वारा ओम्-वेदिक-धर्म की इतिकर्तव्यता सम्पन्न हुई । उस अवस्थावावस्था में

यह संक्षेप हुआ कि, विषयगत प्रेतात्मा की वृत्ति के लिये सुद्धे भी किसी अर्धानपेक्ष अनुष्ठान का अनुगमन करना चाहिए। अन्तर्गत गत्वा 'पितरो धामपमिच्छन्ति' इस सिद्धान्त के आधार पर यही निष्पन्न किया गया कि, पितृ भी के वार्षिक आद्रोपस्थ में बाइ मय निवन्ध ही अद्रोपस्थ समर्पित किया जाय। पितृप्रजापति की सहजसिद्ध अनुकम्पा से यह संक्षेप पूरा हुआ, एवं यही आद्रविज्ञानरचना-संक्षेप का एक मुख्य कारण बना।

आद्रविज्ञान-निवन्ध-रचनाकारण के सम्बन्ध में निवेदन किया गया। अब निवन्ध-प्रतिपाद्य विषयों का संक्षेप से विवरण कराती हुई प्रस्तावना उपरल होती है। आपप्रजाप्ति के अनुसार सम्पूर्ण वैवराक्ष (मन्त्र-आध्यात्मिक वैवराक्ष) 'शातव्य, कर्त्तव्य,' मेव से दो भागों में विभक्त हुआ है। वेद के जिस भाग में शातव्य विषयों का प्रतिपादन हुआ है, वह 'शातव्य-वद' है। 'स्तुति विज्ञान इतिहास' ये तीन शातव्य विषय हैं। 'शक्त-यजु-याम-अथर्व' नाम की ११३१ संहिताओं में इन्हीं तीन शातव्य विषयों का स्पष्टीकरण हुआ है, अतएव संहितात्मक वैवराक्ष का शातव्य वेद कहा जा सकता है, जोकि 'मन्त्र' 'मन्त्र' आदि नामों से भी व्यबहृत हुआ है। गृह्यभाषा-नुगत 'कर्मयोग,' बानप्रस्थानुगत 'भक्तियोग,' एवं संन्यस्ताधमनुगत 'ज्ञानयोग,' ये तीन योग कर्त्तव्यतात्मक हैं। 'त्रिधि' नामक ब्राह्मणभाग में कर्मयोग का 'आरण्यक' नामक ब्राह्मणभाग में भक्तियोग का तथा 'उपनिषद्' नामक ब्राह्मणभाग में ज्ञानयोग का प्रतिपादन हुआ है। शतानुशुद्ध ब्राह्मण्यध्याय में 'छन्दांसि नियत पठे' इस मानवादेश के अनुसार शातव्यसम्पन्न ब्राह्मण का तथा कर्त्तव्यसम्पन्न विधि आरण्यक-उपनिषद्नामक ब्राह्मणवत् का अध्ययन समाप्त कर क्रमशः आगे के तीनों आश्रमों में कर्म-भक्ति-ज्ञानरूप कर्त्तव्यों का अनुगमन करता हुआ अपना जन्म सफल बनान में समय हो जाता है। इस प्रकार शातव्य-कर्त्तव्यनामक वैवराक्ष के द्वारा सर्वत्र सिद्धि हो जाती है, जसा कि—'सर्व वेदास्तु प्रसिद्धयति' इत्यादि मनुस्मृत्यन से प्रमाणित है।

एक ध्यान से प्रकृतमें यही बतलानाअसीद्ध है कि, वैवराक्षसिद्ध आद्र' पदार्थ भी शातव्य कर्त्तव्य मेव से दो भागों में विभक्त किया जासकता है। आद्रपदार्थ की (कर्म की) इति कर्त्तव्यता कर्त्तव्यतात्मक आद्र' है, जिसका स्मृति, निवन्धादि ग्रन्थों में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। दूसर ग्रन्थों में 'आद्र कैसे करता चाहिए ?' इस प्रश्न का समाधान करने वाली आद्रमयूख आद्रविद्वत्, आद्रमञ्जरी, आदि निवन्ध ग्रन्थों में प्रतिपादित आद्रकर्म की

पद्धति 'कृत व्यात्मकभाद्र' है। आद्रकर्मन्तर्गत कर्त्तव्य कर्मों का मौलिक रहस्य क्या है ? आद्रकर्म एवंरूपेणैव क्यों किया जाता है ? आद्र से पितर कैसे एत हो जाते हैं ? इत्यादि प्रश्नों से सम्बन्ध रखने वाला वैदशास्त्रसिद्ध उपपत्ति विज्ञान ही 'आलव्यात्मक भाद्र' है। दूसरे शब्दों में आद्रकर्म का मौलिक विज्ञान ही 'आलव्यात्मकभाद्र' है। इन उभयविध भाद्रपदार्थों में से कृत व्यात्मक भाद्रपदार्थ (भाद्रपद्धति) के लिए स्वतन्त्र निबन्ध लिखना सर्वथा व्यर्थ है। क्योंकि पद्धति के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों के द्वारा शतरा निबन्ध लिख जा चुके हैं। दूसरा हास्य-भाद्र बच रहता है। अवश्य ही आद्रकर्म की वैज्ञानिक उपपत्ति के सम्बन्ध में आज कोई ऐसा स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो रहा, जिसमें आद्र विज्ञान का एकत्र स्पष्टीकरण किया गया हो। एकमात्र इसी छद्म से प्रस्तुत निबन्ध को 'आद्र विज्ञान' का प्रधान छद्म माना गया है। चूंकि इसमें आलव्यात्मक-भाद्र विज्ञान का ही प्रतिपादन हुआ है, अतएव इसे 'आद्रविज्ञान' इस नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ समझा गया है।

'आद्रविज्ञान' यह लण्डचतुष्टयात्मक सम्पूर्ण ग्रन्थ का नाम है। इस 'आद्रविज्ञान' नामक एक निबन्ध (ग्रन्थ) में विषयप्रतिपादन-सुविधा की तथा प्रतिपाद्य विषयावगति की दृष्टि से 'चार खण्ड' रखे गए हैं। प्रत्येक लण्ड में कई एक 'अवान्तरप्रकरण' हैं। प्रत्येक अवान्तर प्रकरण में अनेक 'परिच्छेद' हैं। एवं प्रत्येक परिच्छेद में अनेक 'वैज्ञानिक तत्त्वों' का विश्लेषण हुआ है। इस प्रकार आद्रविज्ञान चतुर्न्तर्गत चार खण्ड, खण्डान्तर्गत अवान्तर प्रकरण अवान्तर प्रकरणान्तर्गत परिच्छेद, परिच्छेदान्तर्गत वैज्ञानिकतत्त्वविश्लेषण, इस दृष्टि से विषयों का विभाजन हुआ है। प्रकृत में जिन विषयों का 'तत्रैते विषया निरूपिता द्रष्टव्या' रूप से विवर्णन कराया जाने वाला है, वे अवान्तरप्रकरणान्तर्गत 'परिच्छेद' हैं। परिच्छेदान्तर्गत वैज्ञानिक विषयों की सूची प्रत्येक लण्ड के आरम्भ में 'विषयसूची' नाम से समाविष्ट हुई है।

'आद्रविज्ञान' निबन्ध में मिलने भी विज्ञानात्मक अवान्तर प्रकरणों का समावेश हुआ है, उन्हें 'उपनिषत्' नाम से व्यवहृत किया गया है। आज दिन विद्वत्समाज में 'उपनिषत्' शब्द वेद के अन्तिम भागात्मक 'ईश-कन-कठ प्रश्न-सुण्डका' वि ग्रन्थों में ही निरुद्ध माना जा रहा है। परन्तु हमारी दृष्टि में 'उपनिषत्' शब्द सर्वथा मौलिक है। मौलिक उपपत्ति-छद्म विज्ञान

मिष्टान्त के सम्यक् परिचान से हमारा आत्मा प्रतिपाद्य विषय की ओर निश्चितरूप से प्रतिष्ठित हो जाता है। दूसरे शब्दों में मौलिक रहस्य-परिचान से प्रतिपाद्य विषय की सत्यता पर भ्रष्टा विश्वास करते हुए उसकी इतिकर्तव्यता (अनुष्ठान) में हम प्रवृत्त हो जाते हैं। इसी आधार पर 'उप- (विषयमयी) -नि- (नितरां निश्चयेन) सीदति- (प्रतिष्ठितो भवत्यात्मा यथाप पत्या, मा उपपत्तिस्तस्य विषयस्य, कर्मणो वा उपनिषत्' इत्यादि निश्चयन के अनुसार विषयप्रवृत्तिद्वारा विज्ञानात्मिका मौलिक उपपत्ति को 'उपनिषत्' कहना अन्वय बन जाता है। पाश्चात्य भाषा में जिस अवशिष्ट के लिए 'प्रिन्सिपल' (Principle) शब्द प्रयुक्त हुआ है, वाचनीभाषा जिस अर्थ में 'उत्पल' शब्द का प्रयोग कर रही है, ठीक उसी अर्थ में आप भाषा ने 'उपनिषत्' शब्द का अर्थ दिया है। उपनिषत् शब्द का इस बौगिकार्थ को स्वीकार करने से ही 'यद्व विषया कराति, भद्रयापनिषदा, तद्व वीर्यवचर मप्रति'—'अस्य मियास पुनरयम्'—'तस्यापनिषदइमिति'—'मस्यस्योपनिषच्छ्रद्धा'—'तस्य वा पुनस्यान वीर्यापनिषत्' इत्यादि आप्रवचनों में पठित 'उपनिषत्' शब्द का समन्वय किया जा सकता है। इसी बौगिकार्थ के आधार पर गीतासूक्ति का 'मगद्वीतापनिषत्' नाम से व्यवहृत करना सुसङ्गत बनता है। यदि उपनिषत्शब्द केवल वैश्वान्त (वैश्व के अन्तर्गत रूप ईशादि प्रत्नों) में ही निरुद्ध होता तो गीता को उपनिषत् कहना सर्वथा असङ्गत बन जाता। प्रस्तुत आत्मविज्ञानविषय के सभी अवान्तरप्रकरण 'बुद्धि उपपत्ति-ज्ञान का विच्छेद करते हुए उपविषय के बौगिकार्थ से समतुलित हैं। एकमात्र इसी आधार पर उन अवान्तर प्रकरणों को— 'आत्मविज्ञानोपनिषत्'—'पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्'—'सापिण्डविज्ञानोप निषत्'—'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्' इत्यादि रूप से 'उपनिषत्' नामों से व्यवहृत करना उचित मान किया गया है।

सम्पूर्ण निबन्ध ॥ अण्डों तथा (अगम २०+३ अठपेजी साइज के) १८० (अठारह सौ) पृष्ठों में सम्पन्न हुआ है। बहुत-कुछासक इस आत्मविज्ञान में जिन अवान्तर वैज्ञानिक विषयों का स्पष्टीकरण हुआ है उनका विशद परिचय तत्तन् अण्डों के स्वाध्याय पर निर्भर है। एवं सामान्य परिचय तत्तन् अण्डों के आरम्भ में उद्धृत विषयसूची पर निर्भर है। प्रकृत प्रस्तावना में उनका विवरण मात्र करा दिया जाता है। निबन्ध समाविष्ट चारों अण्ड अथवा निम्न छिद्रित नामों से व्यवहृत हुए हैं—

सर्ववस्तुमात्मक-आत्मविज्ञान—

- १—आत्मविज्ञानोपनिषत् (प्रथमखण्ड) ।
- २—पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत् (द्वितीयखण्ड) ।
- ३—सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत् (तृतीयखण्ड) ।
- ४—आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् (चतुर्थखण्ड) ।

१—आत्मविज्ञानोपनिषत् (प्रथमखण्ड)—

प्रस्तुत नामक प्रथमखण्ड में आत्मस्वरूप का वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण हुआ है। 'अखण्ड सखण्ड' से आत्मा के दो मुख्य विवर्त हैं। इन दोनों में अखण्डात्मा सर्वधर्मशून्य, सर्वव्यापक, अतएव बाह्यमनसपञ्चाशीत, अतएव च एकान्तवत् शास्त्रानभिहित है। दूसरा सखण्ड आत्मा सर्वधर्मोपपन्न है। यह सखण्ड आत्मविषय महाभावा, योगमायादि मायिक निबन्धनों से घाट विवर्तमात्रों में परिणत हो रहा है। शरीरमिन्न-आत्मसत्तावाद् ही भ्रातृकर्म की मूल-प्रतिष्ठा है। अतएव आत्म में आत्मा के कर्म का परिचय करना ही आवश्यक समझा गया है। 'शरीर ही आत्मा है ? अथवा आत्मतत्त्व शरीर से पृथक् है ?'—'यदि आत्मा व्यापक है, तो उसकी परलोकगति कैसे सम्भव है ?'—'यदि आत्मा पूर्व शरीर के माय ही अन्य शरीर धारण कर लेता है, तो पिण्डदानादि लक्षण भ्रातृकर्म किस क उद्देश्य से किया जाता है ?'—'पार्षणादि भ्रातृ किस आत्मा के लिए विहित है ?'—'गयाभ्रातृ किस आत्मभुक्ति का कारण बनता है ?' इत्यादि पञ्चपावन आत्मस्वरूपविषयिणी विज्ञानामर्शों का वैज्ञानिक समाधान करने वाले 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड में निम्नलिखित अध्यान्तर प्रकरणों, तथा परिच्छदों का समावेश हुआ है —

१—आत्मविज्ञानोपनिषदि—(प्रथमखण्डात्मिकायाम्)—

- १—अमृतारमविज्ञानोपनिषत्—प्रथमा
- २—अम्पक्तामविज्ञानोपनिषत्—द्वितीया

- ३—यज्ञात्मविज्ञानापनिपत्— तृतीया
 ४—विज्ञानात्मविज्ञानापनिपत्—चतुर्थी
 ५—महत्मात्मविज्ञानापनिपत्— पञ्चमी
 ६—प्राणात्मविज्ञानापनिपत्— षष्ठी (तत्र)

- १—ब्रह्मनिरात्मविज्ञानापनिपत्
 ०—तैजसात्मविज्ञानापनिपत् } —प्रत्यगात्मापनिपत् (१)
 ३—प्राणात्मविज्ञानापनिपत्
 ४—ह्रमात्मविज्ञानापनिपत् } —प्रतान्मापनिपत् (२)
 ५—वाय्वात्मविज्ञानापनिपत् } —गुरीगमापनिपत् (३)

*

*

*

१—आदिविज्ञानान्तर्गत—'आद्यविज्ञानानिपत्' बाधक प्रथममन्त्र—

आत्मविज्ञानापनिपत्—(प्रथममन्त्रात्मिकायाम्)—

१—'अमृतात्मविज्ञानापनिपत्'—प्रथमा
 (तत्रत विपद्या निरूपिता दृष्टव्या)

१ आत्ममन्त्रविज्ञानात्मा

१२—आत्मा के विचरन्मात्र

—आत्ममन्त्रविज्ञानात्मा

१३—आत्ममन्त्रविज्ञानात्मा

२—आत्ममन्त्रविज्ञानात्मा

१४—आत्ममन्त्रविज्ञानात्मा

३—आत्ममन्त्रविज्ञानात्मा

१५—आत्ममन्त्रविज्ञानात्मा

४—आत्ममन्त्रविज्ञानात्मा

१६—आत्ममन्त्रविज्ञानात्मा

५—आत्ममन्त्रविज्ञानात्मा

१७—आत्ममन्त्रविज्ञानात्मा

६—आत्ममन्त्रविज्ञानात्मा

१८—आत्ममन्त्रविज्ञानात्मा

७—आत्ममन्त्रविज्ञानात्मा

१९—आत्ममन्त्रविज्ञानात्मा

८—आत्ममन्त्रविज्ञानात्मा

२०—आत्ममन्त्रविज्ञानात्मा

९—आत्ममन्त्रविज्ञानात्मा

२१—आत्ममन्त्रविज्ञानात्मा

१०—आत्ममन्त्रविज्ञानात्मा

२२—आत्ममन्त्रविज्ञानात्मा

अमृतमन्त्रविज्ञानात्मा

आत्ममन्त्रविज्ञानात्मा—'अमृतमन्त्रविज्ञानात्मा' प्रथमा

आत्माविज्ञानोपनिषद्—

२—‘अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्’ द्वितीया

(तत्रैते विषया निरूपिता ब्रह्मण्यः)

- | | |
|-----------------------------|------------------------|
| १—अज्ञा की विचारधारा | ६—उपनिषत्काल के आत्मा |
| २—आत्मज्ञान का अर्थ | ७—विचारधारा |
| ३—अव्यक्तात्मा के तीन विवरण | ८—विचारधारा का अर्थ |
| ४—विचारधारा का अर्थ | ९—अव्यक्तात्मा का अर्थ |
| ५—अव्यक्तात्मा का अर्थ | प्रकरणसंग्रह |

अज्ञाता अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषद् ‘अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्’ द्वितीया

*

*

*

आत्माविज्ञानोपनिषद्—

३—‘यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्’ तृतीया

(तत्रैते विषया निरूपिता ब्रह्मण्यः)

- | | |
|--------------------------|----------------------------|
| १—यज्ञात्मविज्ञानोपनिषद् | ७—यज्ञात्मविज्ञान का अर्थ |
| २—यज्ञात्मविज्ञानोपनिषद् | ८—यज्ञात्मविज्ञान का अर्थ |
| ३—यज्ञात्मविज्ञानोपनिषद् | ९—यज्ञात्मविज्ञान का अर्थ |
| ४—यज्ञात्मविज्ञानोपनिषद् | १०—यज्ञात्मविज्ञान का अर्थ |
| ५—यज्ञात्मविज्ञानोपनिषद् | ११—यज्ञ का अर्थ |
| ६—यज्ञात्मविज्ञानोपनिषद् | १२—यज्ञात्मविज्ञान का अर्थ |

प्रकरणसंग्रह

यज्ञात्मविज्ञानोपनिषद् ‘यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्’ तृतीया

*

*

*

आत्मविज्ञानोपनिषद्—

४—‘विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्’ चतुर्थी

(तत्रैते विषया निरूपिता ग्रन्थ्या)

- | | |
|-----------------------------------|--------------------------------|
| १—परमेश्वर का अपेक्षाहीन अस्तित्व | १—सूर्यमूलक अन्तरिक्ष |
| २—विश्वस्य इत्यम् | २—दीर्घ अन्तरिक्ष के तीन विभाग |
| ३—सौम्य किन्तु, इन्द्र विभूतिवाँ | ३—सूर्यमूलक इत्यम् |
| ४—अज्ञानवर्तक विचारणा | ४—सूर्यमूलक विज्ञानप्रकाश |
| ५—अज्ञ के निमित्त विवर्त | ५—परिणत, तथा अज्ञानवर्त |

प्रवरणोत्तराद्वार

*

*

*

आत्मविज्ञानोपनिषद्—

५—‘महानात्मविज्ञानोपनिषत्’ पञ्चमी

(तत्रैते विषया निरूपिता ग्रन्थ्या)

- | | |
|--------------------------------|--|
| १—महान् की महत्ता | ६—निरूपितव्य अज्ञानप्रकाश |
| २—महोदध और ‘महान्’ | ७—सुषुप्तविज्ञान अज्ञानप्रकाश |
| ३—सौम्य-विचारणा विचार | ८—आत्मनि-ग्रहण-अज्ञानप्रकाश अज्ञानप्रकाश |
| ४—विश्वस्य इत्यम् | ९—सत्त्व-रज-तमोवर्णन अज्ञानप्रकाश |
| ५—अज्ञानवर्तक विचारणा | १०—अज्ञ अज्ञानप्रकाश |
| ६—विश्वस्य इत्यम् अज्ञानप्रकाश | ११—अज्ञ अज्ञानप्रकाश |
| ७—अज्ञानवर्तक अज्ञानप्रकाश | १२—अज्ञ अज्ञानप्रकाश |

प्रवरणोत्तराद्वार

अज्ञान अज्ञानप्रकाश अज्ञानप्रकाश—‘महानात्मविज्ञानोपनिषत्’ पञ्चमी

*

*

आत्मविज्ञानापोपनिषदि—

६—‘प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्’ पृष्ठी
(तत्रैषा आत्मोपनिषदो व्याख्याता द्रष्टव्या)

- | | |
|------------------------------|----------------------------|
| १—यैश्वानरात्मविज्ञानोपनिषत् | } → प्रत्यगात्मोपनिषत् (१) |
| २—सैजसात्मविज्ञानोपनिषत् | |
| ३—प्राज्ञात्मविज्ञानोपनिषत् | |
| ४—हंसात्मविज्ञानोपनिषत् |] → प्रसात्मोपनिषत् (२) |
| ५—आज्ञात्मविज्ञानोपनिषत् |] → शरीरात्मोपनिषत् (३) |

(तस्यामेतस्यां पञ्चमोपनिषदस्मिन्नां ‘प्राणात्मविज्ञानोपनिषदि’ निम्न-विषया निरदिता द्रष्टव्याः)

- | | |
|---|--|
| १—अविज्ञान-अपिचिद्विज्ञानमूल्य आश्रित | ११—शेष-कञ्च-विमृष्टि |
| २—निमित्तवस्तुसमर्पण | १२—निदिष्ट, अनिदिष्ट, उभयातीत, अत्यनिर्दिष्ट |
| ३—व्याख्यातौक्यक आत्मस्वरूपविप्रतिपत्ति | १३—शुक्तिी अन्तरिक्षं क्षी- |
| ४—अन्तर्मेदस्वरूपपरिचय | १४—साम्प्रदाय विवर्त |
| ५—अन्तरिप्रसङ्गक आत्मस्वरूपमेव | १५—विद्या भुक्तानि |
| ६—सौमास्यप्रवर्तक व्याख्या परिग्रह | १६—सृष्ट्रैकोक्य |
| ७—अन्तर्प्रवर्तक क्लृप्ता परिग्रह | १७—इतिष्णुर्गतिविस्तार |
| ८—समुत्पन्नप्रवर्तक शुण्य परिग्रह | १८—वायुवैशित्य स्थिति |
| ९—सविचारप्रवर्तक ‘विकार’ परिग्रह | १९—साम्प्रदायिक, और भूतिष्ठ |
| १०—साम्प्रदायप्रवर्तक ‘आवरण’ परिग्रह | २०—पाणि ‘पञ्चरागद’ |
| ११—साम्प्रदायप्रवर्तक ‘अज्ञान’ परिग्रह | २१—सृष्ट्र, और सृष्ट्रपण |
| १२—विमृष्टि, व्याख्या, परिचय | २२—साम्प्रदायिक-सृष्ट्रपण्य पारिवर्तक |
| १३—विष्ट प्रत्यक्ष | २३—देवगुरुप्रतिपत्ति |
| १४—सदेतर की समीप्यति | २४—विद्यमान पारिव प्रत्यक्षि |
| १५—उर्ध्वसमीपवत् पुरुषाव्या | २५—सृष्ट्रप्रत्यक्ष पारिवर्तक |
| १६—प्रत्यक्षपुरुषी | २६—पाणिपति के विविध विवर्त |
| १७—जीवमस्वरूपोपगम | २७—पाणिपति का अन्तर्गत |
| १८—विद्यमान निर्देश विद्यमान | २८—सृष्ट्रपण्य, और पुरुषाव्या |

[illegible]

समप्रसाधमात्मविज्ञानोपनिषत्स्यः अष्टविज्ञानान्तर्गतः—

प्रथमः रूपः

२—पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत् (द्वितीयखण्ड)—

एतन्नामक द्वितीय-खण्ड में वैज्ञानिक-दृष्टि से पितृ स्वयं का विश्लेषण हुआ है। 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड में जिन आठ आत्मस्वरूपों का विधान हुआ है, उनमें से 'महानात्मविज्ञानोपनिषत्' नामक अवान्तर प्रकरण में प्रतिपादित 'महानात्मा' ही पिण्डवानाविश्लेषण पार्व्यादिभ्रातृकर्म की प्रतिष्ठा है। सौम्यश्रुत्याधारेण प्रतिष्ठित महानात्मा में चतुरशीतिच्छ पितृप्राण प्रतिष्ठित रहते हैं। इसी पितृप्राणममष्टि की दृष्टि के लिए भ्रातृकर्म विहित है। 'अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैवत मेद स त्रिमस्थ घने हुए पितृप्राण का मौलिक स्वरूप क्या है ?'—'नान्दीमुख-पार्वण-अभुमुख-नामक पितरों का क्या स्वरूप है ?'—'अपिपत्-सोममत् षड्विपत्-नामक अभात्मक पितर, आज्यपा-सोमपा-इविर्मुक्त-नामक अभाद्रात्मक पितर, मुकाली-नामक अनुमय पितर अपना कैसा स्वरूप रखते हुए कहाँ प्रतिष्ठित रहते हैं ?, क्या करते हैं ?'—'धमन्त-ग्रीष्म-वर्षा शरत् हेमन्त शिशिर मेढमिष ऋतुपितरों का क्या स्वरूप है ?' कर्पा इन्हें 'ऋतुपितर' कहा गया ?—'पितृ प्राण की मूलप्रतिष्ठारूप, अतएव 'पितृणां पितरः' नाम से प्रसिद्ध पितृव्यताओं का क्या स्वरूप है ?' इत्यादि प्रश्नों के वैज्ञानिक समाधान के अतिरिक्त आरम्भ में ही प्रस्तुत प्रकरण (२ खण्ड) में उन श्रौत-स्मृत-मार्गों का भी संग्रह हुआ है, जो विस्पष्ट भाषा में 'मृतपितृ-भ्रातृकर्म' का समर्थन कर रहे हैं। भ्रातृविज्ञानान्तर्गत 'पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामक इस द्वितीयखण्ड में निम्नलिखित पांच अवान्तर प्रकरणों, तथा परिच्छेदों का समावेश हुआ है—

२—पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—(द्वितीयखण्डाभिधायाम्)—

- १—प्रमाणोपनिषत्
- २—पितृदशतास्वरूपविज्ञानोपनिषत्
- ३—दिग्पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्
- ४—ऋतुपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्
- ५—प्रतपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्

२—आद्यविद्यानान्तगत—‘पितृस्वरूपाविज्ञानोपनिषद्’ नामक द्वितीयखण्ड—

पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषद्—(द्वितीयखण्डात्मिकायाम्)—

१—‘प्रमाणोपनिषद्’—प्रथमा

(तत्रैते विषया निरूपिता ब्रह्मण्या)

- | | |
|--------------------------------|-----------------------------------|
| १—अर्धमण्ड की आत्मविद्या | ४—प्रमाणचतुष्टयी |
| २—‘प्रमाण’ शब्द भीमांश | ५—इन्द्रव्यवहार की प्रमाणविशेष |
| ३—आध्वी-हवि, दुग्धि | ६—आद्यकर्ममार्गगत प्रमाणव्यवहार |
| ४—स्वतः परतः, प्रमाणव्यवहार | ७—वैश्वदेवितोक्त प्रमाणव्यवहार |
| ५—प्रत्यक्षप्रमाण के दो विभक्त | ८—ब्रह्मव्यवहारोक्त प्रमाणव्यवहार |
| ६—अन्तर्प्रमाणव्यवहार | ९—वायवीयप्रमाणभीमांश |

ब्रह्मणोऽर्धमण्ड

समाप्त चेत् पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषद्—प्रमाणोपनिषद् प्रथमा

*

*

*

पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषद्—

२—‘पितृव्यवस्थास्वरूपविज्ञानोपनिषद्’—द्वितीया

(तत्रैते विषया निरूपिता ब्रह्मण्या)

- | | |
|---------------------------------|-------------------------------------|
| १—आद्यतमप्रकाश का प्रमाणव्यवहार | १०—आद्यतमप्रमाणव्यवहार निरूपणपुरव्व |
| —हविर्विद्यता समानुष्म | ११—अद्वय स्वतः यज्ञ-त्रयीभीमांश |
| २—केन्द्रविषया पुरविमूर्ति | १२—आद्यतम्य विद्वत्विद्यता |
| ४—अदीप्तता का समर्थ | १३—अग्नि-पितृ-वैश्व-प्रमाणव्यवहार |
| ५—अद्य की पञ्चानु विमूर्ति | १ —अद्या अपत्य |
| ६—पितृव्यवस्थाभीमांशप्रकाश | १५—आद्यतम्यविमूर्तिप्रमाणभीमांश |
| ७—पितृव्यवस्था समित्तोय | १६—पर, मध्यम, अन्तर-पितृव्यवस्था |
| —सुप्रकाश विमूर्तिप्रमाणव्यवहार | १७—विमूर्तिप्रमाण की मूलप्रमाण |
| ९—अद्विष्टा के ११ विभक्त | १ —अद्या की अद्य-तम्य-विमूर्ति |

- १९—सहस्ररूपपरिचय
- २०—विदुस्वरूपपरिचय
- २१—वृत्तिस्वरूपपरिचय
- २२—आत्मस्वरूपपरिचय
- २३—आदि प्रथि, भाष्यवी
- २४—सर्वप्रतिष्ठित
- २५—सर्वप्रतिष्ठित
- २६—अष्टिप्रवी-मीमांसा
- २७—सोमप्रवी-मीमांसा
- २८—समस्वरूपपरिचय

- २९—आदि-सोम की अभिज्ञता
- ३०—अष्टिप्र-सु-वम-का विदुस्वरूप
- ३१—सहस्ररूपपरिचय
- ३२—सहस्ररूप की अभिज्ञता
- ३३—आदिप्रतिष्ठितप्रवर्तन
- ३४—आदिप्रतिष्ठितप्रवर्तन
- ३५—आदिप्रतिष्ठितप्रवर्तन
- ३६—अष्टि, वम, सु-विदुस्वरूपप्रवर्तन
- ३७—अष्टिप्र-सोम-विदुस्वरूपप्रवर्तन

प्रकरबोधहार

समाप्त येन विदुस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—पितृदेवतास्वरूपविज्ञानोपनिषत् द्वितीया

*

*

*

विदुस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—

३—‘विदुस्वरूपविज्ञानोपनिषत्’ तृतीया
(तत्रैते विषया निरूपिता ब्रह्मणा)

- | | |
|----------------------------|---|
| १—विदुस्वरूपविज्ञानोपनिषत् | ५—सर्व विदुः पितरः |
| २—सोमप्रवी पितरः | ६—आत्मप्रवी की सत्यप्रवृत्ति |
| ३—अष्टिप्रवी पितरः | ७—विदुःप्रवृत्ति, एवं तद्विदुःप्रवृत्ति |
| ४—सहस्ररूप पितरः | प्रकरबोधहार |

समाप्त येन विदुस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—७ वि० पि० विज्ञानोपनिषत् द्वितीया

*

*

*

विदुस्वरूपविज्ञानोपनिषदि—

४—‘अष्टुपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत्’ चतुर्थी
(तत्रैते विषया निरूपिता ब्रह्मणा)

- | | | |
|---------------------------------|---------------------------|-------------------------------|
| १—अष्टुपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषत् | ३—अष्टु, और अष्टिप्र | ५—विदुःप्रवृत्ति सोमप्रवृत्ति |
| २—विदुःप्रवृत्तिप्रवृत्ति | ४—अष्टिप्र-अष्टिप्रवृत्ति | ६—सोमप्रवृत्ति प्रवृत्ति |

- | | | |
|---------------------------|-------------------------------------|----------------------------|
| ४—अनुसमीक्षा | १—पञ्चतुल्यस्वरूपविज्ञान | ११—अनुसमीक्षास्वरूपविज्ञान |
| ८—अनुसमीक्षा उद्दिष्ट | ११—अनुसमीक्षा, विज्ञान, तत्त्वज्ञान | १४—अनुसमीक्षा की उत्पत्ति |
| ९—अनुसमीक्षास्वरूपविज्ञान | १२—अनुसमीक्षास्वरूपविज्ञान | प्रकरणोपसंहारा |
- अथर्व वेद विद्वत्स्वरूपविज्ञानोपनिषद् अनुसमीक्षास्वरूपविज्ञानोपनिषद् अनुसमीक्षा
- * * *

पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषद्—

५—‘प्रतपितृस्वरूपविज्ञानोपनिषद्’—पञ्चमी (सप्तमे विषया निरूपिता प्रथमा)

- | | |
|------------------------------|------------------------------|
| १—सोमसुक्त पितृस्वरूपविज्ञान | ९—अथर्ववेदसुक्त पितृ |
| २—आनिर्वाक, अग्निम्, अग्निम् | ४—अग्नीम् अग्निस्वरूपविज्ञान |
| ३—सोमसुक्त पितृस्वरूपविज्ञान | ८—अग्नीम् अग्निस्वरूपविज्ञान |
| ४—अथर्व वेद पितृ | ९—अथर्ववेदसुक्त पितृ |
| ५—अथर्ववेद पितृ | १—अथर्ववेदसुक्त पितृ |

प्रकरणोपसंहारा

अथर्व वेद पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषद्—अथर्ववेदसुक्त पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषद् पञ्चमी
समाप्तमर्थं पितृस्वरूपविज्ञानोपनिषद्प्रथमः अथर्ववेदान्तर्गता
द्वितीयः खण्डः

* * *

६—सापिण्डविज्ञानोपनिषद् (तृतीयखण्ड)—

एतन्नामक तृतीयखण्ड में महानात्मा से सम्बन्ध रखने वाले, बीबीपुरुष से आरम्भ कर
इसकी सप्तम सन्तति पर्यन्त बितत होने वाले सातपुरुष-सापिण्डवमात्र का ही वैश्वामित्र
विद्वत्वेग हुआ है। सप्त पुरुष पर्यन्त बितत प्रजातन्तु का क्या स्वरूप है?—‘पुरुषोत्सा
दन, पार्वणादिभाह, गायामाहादि स भाहकता पितृश्रम स कैसे विमुक्त हो जाता
है?—‘पितृश्रम का वैश्वानिक स्वरूप क्या है?—‘गोश्रमापिण्ड, विश्वसापिण्ड,

दापादसापिण्ड्य, आदि सापिण्ड्यमात्रों की मूलप्रतिष्ठा क्या है ?—प्रजातन्तुप्रवर्षक पितृप्राणारम्भक सहःपिण्डों का क्या स्वरूप है ?—‘मातृम पुरुष क अनन्तर सपिण्डता क्यों निपट हो जाती है ?—‘गोत्र का वैज्ञानिक स्वरूप क्या है ?—‘समानगोत्रों में विवाह सम्बन्ध क्यों निषिद्ध माना गया है ?—‘पिण्डमात्र-लेपमात्र-प्रेतपितरों का क्या स्वरूप है ?—‘प्रेतपितृनिमित्त प्रदत्त पिण्ड, एवं गोदानादि, विदूरस्थ प्रेत पितरों के समीप कैसे पहुंच जाते हैं ?—‘अघाशौच-सूतकाशौच शानाशौच-आदि आशौचा का वैज्ञानिक स्वरूप क्या है ?—सम्पूर्ण वंशजों में आशौच सम्बन्ध कैसे सक्रान्त हो जाता है ?—इत्यादि प्रश्नों के वैज्ञानिक समाधान का विश्लेषण करने वाले प्रस्तुत तृतीय खण्ड में निम्न लिखित अथान्तर प्रकरणों, तथा परिच्छेदों का समावेश हुआ है—

३—सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषद्—(तृतीयखण्डात्मिकायाम्)—

१—प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषद्

२—अणभोचनोपापविज्ञानोपनिषद्

३—आशौचविज्ञानोपनिषद्

*

*

*

r

१—आद्यविज्ञानान्वगत—‘सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषद्’ बाधक तृतीयखण्ड—

सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषद्—(तृतीयखण्डात्मिकायाम्)

१—‘प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषद्’ प्रथमा

(तत्रैवे विषया निरूपिता ब्रह्मणा)

१—विश्वोपक्रम

२—महान्तरमातृपुत्र पितृपुत्र

३—प्रजातन्तुप्रतिप्रवर्षक महान्तरमा

४—मूलप्रवर्षिक महान्तरमा

५—महान्तरमा का अविभाजक

६—गौतमसिंह कर्मात्मा

७—‘रेतो’ अथ कर्मात्मा

८—‘इरा’ रक्षक कर्मात्मा

९—महान्तरमा कर्मात्मा

१०—अपराधिन पश्चात्तन्त्रम्

- | | |
|------------------------------------|--|
| ११—कर्मसूत्र के तीन अन्ग | २२—महा के अष्टिकादि चार विध |
| १२—रैच, योनि, रैतोपा | २३—सहीमात्र का निरूपणसमकाल |
| १३—श्रीदीर्घादि का 'विचक्षण' उत्तर | २४—अष्टममयीमात्रा |
| १४—'कर्मसूत्रस्य प्रतिष्ठा' | २५—अष्टम-महा-पुरुषमीमांसा |
| १५—'मार्ग मासि शोऽध्वनम्' | २६—निर्गुणमन्त्रस्य चतुर्विध |
| १६—रवि कृतशत्रु-अष्टम कर्मसूत्र | २७—निर्गुणमन्त्रमीमांसा |
| १७—अष्टमविधसम्पत्तिवर्ति | २८—अष्टमविध, शीर्षविध, मीमांसा |
| १८—अष्टमविधस्य सहायक | २९—निर्गुण, निर्गु, उत्प, निर्गुनी |
| १९—अष्टमविधसिद्धिस्तथा | ३०—अष्टममन्त्र, अष्टममन्त्र, अष्टममीमांसा |
| २०—गोपनीयमीमांसा | ३१—अष्टमविधस्य अष्टममीमांसा |
| २१—निर्गुणस्य अष्टममन्त्र | ३२—अष्टम 'अष्टममन्त्र' का अष्टममन्त्र-मन्त्र |

अष्टमविधस्य

अष्टम विध संपत्तिवर्ति-अष्टममन्त्रविधानोपनिषत् प्रस्ता

सापिण्यविधानोपनिषत्—

०—'अष्टममन्त्रविधानोपनिषत्'—द्वितीया
(त्रैते विषया निरूपिता अष्टम्या)

- | | |
|--|---|
| १—अष्टम विधानोपनिषत् | १०—अष्टममन्त्रविधानोपनिषत् (१) |
| २—अष्टमविधानोपनिषत् अष्टमविधान (१) | ११—अष्टममन्त्र अष्टममन्त्र का अष्टमविधान |
| ३—अष्टमविधान अष्टमविधान | १२—अष्टममन्त्रमीमांसा |
| ४—'अष्टममन्त्र' अष्टमविधान | १३—'अष्टम' का अष्टममन्त्रविधान |
| ५—अष्टमविधान अष्टममन्त्रविधान | १४—अष्टममन्त्र 'अष्टममन्त्र' |
| ६—अष्टममन्त्रविधान | १५—अष्टममन्त्रविधान 'अष्टममन्त्र' |
| ७—अष्टममन्त्रविधान अष्टममन्त्र | १६—अष्टममन्त्रविधान अष्टममन्त्र विधान |
| ८—अष्टममन्त्रविधानोपनिषत् अष्टममन्त्रविधान (२) | १७—अष्टममन्त्र विधान अष्टममन्त्र का अष्टममन्त्र |
| ९—अष्टममन्त्र का अष्टम, अष्टम | १८—अष्टममन्त्र, और अष्टम |

- | | |
|-------------------------------|-------------------------------|
| ११—अमृतस्यानुगत आद्यकर्म | २८—अमृतस्यानुगत आद्यकर्म |
| २०—अमृतस्यानुगत आद्यकर्म (१६) | २९—अमृतस्यानुगत आद्यकर्म (१६) |
| २१—अमृतस्यानुगत आद्यकर्म | ३०—अमृतस्यानुगत आद्यकर्म |
| २२—अमृतस्यानुगत आद्यकर्म | ३१—अमृतस्यानुगत आद्यकर्म |
| २३—अमृतस्यानुगत आद्यकर्म | ३२—अमृतस्यानुगत आद्यकर्म |
| २४—अमृतस्यानुगत आद्यकर्म | ३३—अमृतस्यानुगत आद्यकर्म |
| २५—अमृतस्यानुगत आद्यकर्म | ३४—अमृतस्यानुगत आद्यकर्म |
| २६—अमृतस्यानुगत आद्यकर्म | ३५—अमृतस्यानुगत आद्यकर्म |
| २७—अमृतस्यानुगत आद्यकर्म | ३६—अमृतस्यानुगत आद्यकर्म |

प्रश्नोत्तर

समस्त धर्म-साहित्यविद्वानोपनिषदि-‘सृष्टमोचनोपायविद्वानोपनिषत्’ द्वितीया

20

•

1

सा. पदरूपविज्ञानोपदिपदि—

३—‘आशौचविज्ञानोपनिषत्’—दृतीया

(तत्रैते विषया निरूपिता इष्टान्या)

अपि प्राख्यमिह

- १-अष्टौपथ्यसूत्रमीमांसा
२-अष्टौपथ्यसूत्रमीमांसा
३-अष्टौपथ्यसूत्रमीमांसा
४-अष्टौपथ्यसूत्रमीमांसा

५-संख्यसूत्रमीमांसा
६-अष्टौपथ्यसूत्रमीमांसा
७-अष्टौपथ्यसूत्रमीमांसा (अष्टौपथ्यसूत्र)
८-संख्यसूत्रमीमांसा

९-योगसूत्रसम्बन्धसूत्र
(१) निष्कण्ठसूत्र
(२) दाम्पत्यसूत्र
(३) अष्टौपथ्यसूत्र
(४) निष्कण्ठसूत्रसम्बन्धसूत्र

१०-संख्यसूत्रसम्बन्धसूत्र
११-अष्टौपथ्यसूत्रसम्बन्धसूत्र
१२-अष्टौपथ्यसूत्रसम्बन्धसूत्र
१३-अष्टौपथ्यसूत्रसम्बन्धसूत्र

क्यातु येन सापिण्यमिहोपनिधिः-आसौचमिहानुपनिधम् एतौच
ममाप्राप्त्य सापिण्यमिहोपनिधमस्मकः आदयिहाननुपनिधः-

सखीपः सखण्डः

४—आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् (चतुर्थखण्ड) —

एतन्नामक चतुर्थ-खण्ड में कर्मात्मा से सम्बन्ध रखने वाली गति का ही वैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है। "अन्तिम-कर्म-गतिर्गो का क्या स्वरूप है ?" — "आत्मसोक कौन कौन से हैं ?" — "किन कर्मों से आत्मा चित्त छोंकों में जाकर क्या क्या फल भोगता है ?" — "पन्था, कर्म, नाडी आकाश इन्द्र, आतिथ्यादिक, आदि आत्मगतिनिमित्तों का क्या स्वरूप है ?" — "ब्रह्म पथ द्वेषपथ, मित्रपथ, शमपथ-आदि मार्ग कहाँ कहाँ व्यवस्थित हैं ?" — "परामुक्ति, अपरामुक्ति, समबल्य, क्षीमोदक, सुमोदक, कैवल्य सात्त्विक, सामीप्य, सारूप्य सामुज्य, आदि उत्तम गतिमार्गों का क्या स्वरूप है ?" — "कृष्यमार्ग, मुक्तमार्ग, परोजामार्ग, अगतिमार्ग, आदि मार्ग अपना क्या स्वरूप रखते हैं ?" — "ब्रह्मगति-प्रवर्तक ब्रह्माश्वात्, तथा कर्मगति-प्रवर्तक कर्माश्वात् का वैज्ञानिक स्वरूप क्या है ?" — इत्यादि प्रश्नों का वैज्ञानिक विवेचन करते वक्रे प्रस्तुत चतुर्थ (अन्तिम) खण्ड में निम्न किञ्चित् एक प्रकरण, तथा ८ परिच्छेदों का समावेश हुआ है —

४—आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् — 'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्' नामक चतुर्थखण्ड —

१—'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्' प्रथमैव

(अन्तिम विषया निरूपिता इत्युच्यते)

उपनिषत्

१—अन्तिमपरिच्छेद

५—ब्रह्मसूत्र प्रकरणम्

२—आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् प्रथमपरिच्छेद

१—आत्मोदकविषय के विषय

३—आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् द्वितीयपरिच्छेद

२—आत्मोदकविषय के परिच्छेद

४—आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् तृतीयपरिच्छेद

३—आत्मगति के विषय

क—पन्थाः

ख—कर्मणि

०—अतिशक्तिविज्ञानः

ग—कर्मणि

घ—कर्मणि

क—कर्मणि

च—कर्मणि

च—अतिशक्तिः

क—कर्मणि (आत्मगतिविज्ञान)

बरा में हमारा यह आवश्यक कर्तव्य हो जाता है कि, आपमर्त्यादा की रक्षा के लिये प्रति पादमर्त्यादी, तथा मायाष्टि, दोनों की मूर्खप्रतिष्ठा आर्पणशीली ही बनाई जाय। इन्द्रियार्थित विषयप्रधान आर्पणविज्ञान के स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में आप महर्षियों ने एक ही विषय के पुन पुनरावर्तन को सर्वथा उपादेय माना है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित ब्राह्मण भाग ही पर्याप्त होगा। पाठक वेदों के आरम्भ में अन्तर्ध्यायी के सम्बन्ध में श्रुति ने जो विषय उद्धृत किया है, विषय समाप्ति पर्यन्त वही विषय बार बार उद्धृत हुआ है—

१—‘य पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः, य पृथिवी न वेत्, यस्य पृथिवी शरीर, य पृथिवीमन्तरो यमपति, स तज्जात्मान्तर्याम्यमृत’। २—‘यो ऽप्सु तिष्ठन् अमुस्याऽन्तर, यमसो न विदु, यस्याः शरीर, याऽपोऽन्तरो यमपति, स तज्जात्मान्तर्याम्यमृत’। ३—‘यो ऽग्नीं तिष्ठन्’। ४—‘य आकाशे तिष्ठन्’। ५—‘यो वायीं तिष्ठन्’। ६—‘य आदित्ये तिष्ठन्’। ७—‘य धन्वन्तरके तिष्ठन्’। ८—‘यो दिशु तिष्ठन्’। ९—‘यो विष्णुति तिष्ठन्’। १०—‘य स्तनपित्नीं तिष्ठन्’। ११—‘यः सर्वेषु लोकेषु तिष्ठन्’। १२—‘य सर्वेषु वेदेषु तिष्ठन्’। १३—‘यः सर्वेषु यज्ञेषु तिष्ठन्’। १४—‘य सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्’। १५—‘य प्राण तिष्ठन्’। १६—‘या वाचि तिष्ठन्’। १७—‘यमधुपि तिष्ठन्’। १८—‘यः मात्र तिष्ठन्’। १९—‘यो मनसि तिष्ठन्’। २०—‘यस्त्वचि तिष्ठन्’। २१—‘यस्तेजसि तिष्ठन्’। २२—‘यस्तमसि तिष्ठन्’। २३—‘यो रतसि तिष्ठन्’। २४—‘य आत्मनि तिष्ठन्’।

—छठ श्र १५।१।०।

यद्यपि हमका यह तात्पर्य नहीं कि, सबलोकोपकारक माया-मन्त्रों में भी ठीक वैदिक-शैली का अनुकरण करते हुए प्रत्येक विषय का पुन पुन आवृत्तन किया जाय। तथापि प्रमान तथा स्वतन्त्रविषय निरूपण करते समय आवश्यकमेव कुछ एक सामान्य परिभाषाओं का प्रतिपादन, तथा सिद्धांतमोहन करना आवश्यक हो जाता है। ऐसा न करने पर मन्त्र सबका अस्मदीय बना रह जाता है। हम तो समझते हैं, दृष्टिकोण भेद से प्रतिपादित ये परिभाषा-मन्त्र सबसाधारण के लिये विशेष हितकर ही होते हैं। हाँ जिन महातुमार्थों

का स्वयं एकमात्र मनोरञ्जन ही है, साथ ही अन्यान्य अर्थसाधक औकिक काम्यों में अहोरात्र व्यस्त रहने के कारण जिन्हें बुद्धिगम्य, अतएव 'यत्तद्वन्न विप्रमिव' न्याय से कटुवत् प्रतीयमान आर्पसाहित्य-स्वाध्याय के छिपे समय ही न मिलता हो, उनके छिपे अवश्यमेव हमारा प्रयास व्यर्थ बन सकता है, जिस व्यर्थता को हम अपने छिपे श्रृष्टापत्ति मानते हैं। जो इस विषय के बिज्ञास्तु हैं परमात्मानुग्रह से जिन्हें ऐसे साहित्य-स्वाध्याय की सुविधा प्राप्त है, साथ ही अन्तान्तरीय, किंवा एहिक संस्कारानुग्रह से जो आर्पश्री से परिचित हैं, उनके छिपे पुनरुक्ति-मूला यह आर्पश्री कदापि उद्भेद का कारण नहीं बन सकती।

दूसरे समालोचनात्मक सुक्ताव के सम्बन्ध में इसछिपे विरोध बहस्य अनावाश्यक है कि, सत्यसत्यविवेक की दृष्टि से शिष्टमात्रातुल्य समालोचना-प्रसङ्ग प्रन्व का आवश्यक अङ्ग माना गया है। 'बाटे बाटे जायते तत्त्वबोध' न्याय से यत्र तत्र संक्षेप से निरूपित समालोचना प्रसङ्ग परस्परका मूल-विषय का समर्थन ही कर रहे हैं। यदि भ्रष्ट-वस्व प्रतिपादनप्रसङ्ग में हम भ्रष्ट की अवैदिकतामिद करने वाले भाषों का विवरण कर देते हैं, तो इसमें कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। अपना मन्तव्य — भले ही वह शास्त्र विरुद्ध ही क्यों न हो — स्वभावतः प्रेयः पदार्थ है। उसका उद्घाटन करना अवश्य ही उत्पन्नानुयायी के छिपे बोद्धी हेतु के छिपे उद्भेदक बन जाता है। परन्तु यही उद्भेद कालान्तर में उसे मत्स्यनिष्ठ भी बना देता है।

तीसरे मापातुल्य सुक्ताव के सम्बन्ध में हम क्या कहें, जब कि मापाधान से हम सर्वथा बन्धित हैं। और सम्भवतः अपने आवश्यक वेदस्वाध्यायकर्म में विप्र उपस्थित कर मापा पाठशाला में प्रविष्ट होना भी हम अपने छिपे असम्भव मानते हैं। वत्तमान युग में 'हिन्दी' मातृभाषा है, उपपुत्रत्वेन उसके थोड़े का आश्रय ग्रहण करना स्वाभाविक है। पुत्र जिस वृत्ति से भी माता का आश्रय ग्रहण करे, माता स्वयं उसे समाल लेती है। जहाँ तक हमारा विश्वास है, आपद्यदिकोण से जिस हिन्दी को भारतवर्ष की (न कि हिन्दुस्तान की) मातृ भाषा करना उचित है, उसका आश्रय हमें प्राप्त हुआ है। हमने प्रयास किया है कि, कश्चिदास्पदित भ्रम्भवाच्यों से मातृभाषा के स्वरूप को यथासम्भव सुरक्षित रक्खा जाय। यदि समुद्रपार की विदेशी मापार्थ हमारे अन्तःस्थ में स्थान पा सकती हैं, तो कोई कारण नहीं आर्पभ्रजा थोड़े से प्रयास से अपनी चिरमस्कारातुल्यता सुसंस्कृता मातृभाषा के अवबोध में सक्रमता प्रप्त न कर सके। 'आम्नाय मिच्छा, पितरथ प्रीणिता' न्याय से हमारे ये नियन्त्र प्रविपाण विषयों के साथ साथ-आर्पश्री आर्पभाषा आदि के भी परिचायक बन

यही प्रधान-लक्ष्य है। एवं इस लक्ष्य के प्रति चिंतन भी सामयिक सुमंजस है, व मध्य आग-
नुकषममंडलप्रण परममम्यानीय बनते हुए न केवल भवावह ही हैं, अपितु स्वधर्म (आपधर्म)
के स्वल्पविपातक भी हैं। फलतः—‘स्वधर्म निधन धर्म, परधर्मा भयाह’ न्याय स
उक्त सुमंजस हमारे लिए वृत्त ही प्रणम्य है।

सर्वान्त में प्राणाधिक-वक्तव्य समग्र करते हुए केवल यह कहना शायद यह जाना है कि,
प्रस्तुत ‘भाषाविज्ञान’ ग्रन्थ आज से लगभग ७ वर्ष पहिले ही सम्पन्न हो गया था। परन्तु
कई एक सामयिक विप्रतिपत्तियों के कारण इसे प्रकाशित न किया जा सका।
प्रत्यक्षोत्पत्त्या— पिण्डवत्ता के अद्वैतानुगत अत्यन्त अनुग्रह से चिरकाष्ठानन्तर यह बाह्य
पिण्डपिण्डवत्ता सम्पन्न होने जा रहा है। प्रस्तुत प्रस्तावना के साथ ‘आत्मविज्ञानापनिपत्’
प्रबन्धमण्ड ही सबप्रथम प्रकाशित हो रहा है। आपधर्मा का आवश्यक सहयोग ही आगे
के तीन खण्डों के प्रकाशन का प्रधान निमित्त है और प्रतीक्षामय हृदय विज्ञास है कि,
आपधर्मा अवश्य ही इस प्रधान निमित्त का शीघ्र से शीघ्र स्वल्प सम्पादन करेगी।

इस अपने इस प्रयास में कहाँ तक सफल हुए हैं ? इसका निर्णय भार तो विचाररसि
पाठकों पर ही निर्भर है। हाँ, अपनी ओर से इस सम्बन्ध में यह बलपूर्वक कहा जा सकता है
कि, अन्यावश्यक आद्वैतधर्म के सम्बन्ध में आज जो कृतकपात प्रकाशित हैं वे ही निमित्त बना
कर धार्मिक जगत् की अज्ञा पर जो आपात किया जा रहा है, अद्वैत जनता इस परमप्रत्यक्ष के
मोह आत्म में बद्ध होकर जिस पिण्डवत्तावि-लक्षण आद्वैतधर्म से विमुक्त होती जा रही है वे
सब विप्रतिपत्तियाँ बहुत अंशों में इस निबन्ध से हट जायगी। किसी पर आश्रय न करते हुए
वैदिकविज्ञानरूप से प्रधानतः श्रोतप्रमाणों का आश्रय लेते हुए साथ ही चर्क, तथा बुद्धिवात्
को भी धर्म्य बनाते हुए ‘भाषाविज्ञान’ सम्पन्न हुआ है। यद्यपि अवृत्तसंज्ञित मनुष्य से आन्ति
हो जाना हमका स्वाभाविक धर्म है। परन्तु सञ्ज्ञावना अवस्था कुमावना उभयदा प्रदर्शित
उम आन्ति के संशोधन के लिए अन्तरात्मा सदा सज्ज है।

विज्ञान-मन्त्रि
भारतीय, बंगाल
प्रभु ज्येष्ठ ५ भाद्रपदा
वि. सं. १९९

विषय —
मासीलाहस्यम्मा
माग्यान्त्र (गोप)

॥

समाप्तेद किनपि प्रास्ताविकम्

प्रथमखण्डप्रस्तावनासमाप्त)

— X —

अथ

आत्मविज्ञानोपनिषद् (प्रथमखण्डे)

अमृतात्मविज्ञानोपनिषत् प्रथमा

?

—•—

अथ
आत्मविज्ञाने—

‘आत्मविज्ञानोपनिषत्’-प्रथमा

१

तस्यामेतस्यामात्मविज्ञानोपनिषदि प्रथमायां-
एता उपनिषदो व्याख्याता ब्रह्मकाः

- १—अमृतात्मविज्ञानोपनिषत् —प्रथमा
- २—अन्यकार्त्तमविज्ञानोपनिषत्—द्वितीया
- ३—यक्षात्मविज्ञानोपनिषत् —तृतीया
- ४—विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत् —चतुर्थी
- ५—महदात्मविज्ञानोपनिषत् —पञ्चमी
- ६—प्राणात्मविज्ञानोपनिषत् —षष्ठी

—*—

- १—स्वयमेवात्मानमात्मानं वदत्येव पुरुषोत्तम !
भूतमात्रं ! भूतेषु ! न्यस्य ! जगत्पत !
- २—मघ परस्य नान्यत् किञ्चित्ति धनञ्जय !
मयि सर्वमिदं प्रात एव मणिगणा इव ॥

—विश्वामित्राय १०-१५०-२१

१—आत्मस्वरूपपरिचय —(मन्मूर्ति मवात्मा)

- १—कालः स्वभावा निवर्तिर्यदृष्टा भूतानि योनिं पुनरपि चिन्तयम् ।
संयोगं यथा नत्वात्मभावात्मात्मनीरा सुखदुःखदो ॥
—श्लो ३ ११५
- २—ते ध्यानयोगामुगता अपहवम् देवात्मराशि स्वगुणनिगूढाम् ।
यः कारणानि निमित्तानि तानि काकात्मयुक्तान्यपि तत्स्येकः ॥
—श्लो ३ ११६
- ३—उमेकमिं जित्त पादशान्त शताद्वार विराट्पत्यराभि ।
अष्टके पद्भिर्विचरत्पदमारा त्रिमासेद् द्विनिमित्तकमाहम् ॥
—श्लो ३ ११७
- ४—पञ्चकोटांशु पञ्चकोट्युपपन्नं पञ्चप्राणान्मि पञ्चबुद्ध्याविमूढाम् ।
पञ्चावता पञ्चदुःखीयवेगा पञ्चापहमर्हा पञ्चापवर्मादीनि ॥
—श्लो ३ ११८
- ५—सर्वार्थीनि मन्त्रस्मृद् दृष्टन्ते तस्मिन् हसो ध्यायते ब्रह्मचक्रे ।
पृथगात्मानं प्रेरितार च मत्वा मुमुक्षुस्त्वत्तेनामृतत्वमिति ॥
—श्लो ३ ११९
- ६—य एको बर्जो बहुधा शक्तिर्यागच्छाननेकां मित्रित्वाद्यो दधाति ।
दि र्भेति ध्याते विद्वन्मातो न देव मनो बुद्ध्या मुमुक्षा संयुक्तः ॥
—श्लो ३ १२०
- ७—हृदयं तद्विषयमचिन्तय्य मूढमात्रं तत् सूक्ष्मतरं विमाति ।
दुरात्मदुरं तद्विद्वान्तिकं च पश्यन्तिहैव निहितं गुराद्यम् ॥
—सुत्रक ३ ३११/७
- ८—न बहुधा दृष्टते मापि बाधा भाव्यैर्देवैस्त्वत्मा कर्मजा वा ।
ज्ञानप्रभावेन विमुक्तमन्त्रमन्त्रमु तं पश्यते निष्कर्षं ध्यायमानः ॥
—सुत्रक ३ ३११/८
- ९—ध्वोऽगुरात्मा वेत्तमा वेदितव्यो यस्मिन् प्राप्य पञ्चभा संविदरा ।
प्राप्तेष्वितं मन्त्रमोमं प्रज्ञानं यस्मिन् विमुक्त विमलस्येव आत्मा ॥
—सुत्रक ३ ३११/९
- १०—यं यं लोकं मनसा संविमानि विमुक्तसत्त्व कामयते यथा कामात् ।
तं तं लोकं-आयते तस्य कामास्तत्प्राप्तः—
“आत्मस्य द्रव्ययवमूर्तिकामः” ॥
—सुत्रक ३ ३११/१०

- (१)- { १—अधिदैवतम्—महामायावच्छिन्नमिदमात्मा (पूर्णमिव)
२—अध्यात्मम्—योगमायावच्छिन्नमिदम् (पूर्णमिव)

अथ

आद्यविज्ञानान्तर्गत 'आत्मविज्ञानोपनिषदि' प्रथमायां

“अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्”-प्रथमा

१

अमृतात्मा-पुरुषात्मा-‘षोडशीप्रजापतिः’

१—निष्कल परात्पर (१)

२—पञ्चकलोऽव्यय (२)

३—पञ्चकलोऽक्षर (३)

४—पञ्चकल आत्मक्षर (४)

सोऽयं चतुष्कल , षोडशकलो वा पुरुषात्मा-षोडशी

१—आविमी पुरुषी लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षर सर्वाणि भूतानि कूटस्पोऽक्षर उच्यते ॥

२—उच्यते पुरुषस्त्वन्य 'परमात्मे' त्युदाहृत ।

यो लोकत्रयमाविश्य विमत्स्यम्यय 'ईश्वर' ॥

—मीमांसासूत्र १५ अ ११६ १७, १

१—प्रभृतान्मस्वरूपपरिचय —(विद्या-कर्ममया गूणात्मा)—

- १—अहमस्मि प्रथमज्ञा मृतस्य पूरुषं देव्या अमृतस्य नाम ।
यो मा वृणाति स इ देव मावयहमजममममन्तमधि ॥
—सामय पृ १११
- २—अहमिदं पितु परि मेधा धृतस्य जगद् ।
अहं मूय इवाजनि ॥
—सामय पृ ११२
- ३—यस्मान् परं आपरमस्ति किञ्चिद्यस्मात्प्राणीयो न ज्ञायोऽस्ति कश्चिन् ।
ब्रह्म इव स्वप्ना दिवि तिष्ठत्येकस्तेनैव पूज्यते पुरुषेण स्वये ॥
—देव उ ४१
- ४—वैशाहमेत 'अजर पुराण' सर्वात्मानं सबर्गं विमुक्त्वा ।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति धर्म्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥
—देव उ ११२१
- ५—एकं महाशिवद्वेषा समिद्धं एकं सूर्यो विश्वमनु प्रभूत ।
एकैवापा सबमिदं विमातिशर्कं बाह्यं वि बभूव सबम् ॥
—वृक्ष्य ८१६१२
- ६—अर्धमूखाऽवाक्यान् एषोऽब्रवीत् समावन ।
तदेव शुद्धं तद् ब्रह्म तदेवामृतं मुच्यते ।
तस्मिन्लोका भित्ता सर्वे तद् गच्छेति जन्मन गच्छीतम् ॥
—छोपनिष् १११
- ७—मन्वत पाणिपार्श्वं तन् मन्वतोऽक्षिरामुन्मत् ।
सबर्गं मुचिमलोके सर्वमावृत्त्य विप्रति ॥
—देव उ १११५
- ८—अपाणिपात्रो जलना महीता पश्यस्यन्नु स श्रुतोऽप्यर्कः ।
स वेति वैद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरमृतं पुरुषं महान्तम् ॥
—देव उ १११५
- ९—मायां तु प्रवृत्तिं विद्यान्मायिनं तु पाहेऽवरम् ।
तस्यावबभूवैत्यु क्वाणं मन्वमिदं जगत् ॥
—देव उ १११ ।

अमृतात्मा-षोडशीप्रजापतिः

‘अमृतं ब्रह्म’ स्युपास्य

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन धुञ्जीषा मा गृध्रः कस्यस्त्रिह्वनम् ॥ —ईशोपनिषद् १ *

आद्वैत कर्म की मूलप्रतिष्ठा (शरीर से) मित्रात्मसत्तावाद ही माना गया है। “आत्मा पञ्चभौतिक मर्त्य शरीर से भिन्न तत्त्व है, असृष्टकर्मण निरूप्य पदार्थ है। सूक्ष्मशरीर परित्यागानन्तर आत्मा अक्षुप्तमात्र आविर्भाविक शरीर (सूक्ष्मशरीर) धारण कर शुभाशुभ कर्मानुसार शुभाशुभ उर्वर्क (फल) भोगने के लिये शुभाशुभ लोकान्तरों में गमन करता है” इस सिद्धान्त की मान्यता के आधार पर ही आद्वैतकर्म प्रविष्टित है। निधनानन्तर परलोक गमन करते हुए पूर्व जन्मसम्बन्धितरानन्तर परलोक में पहुँचि हुए प्रेतात्मा को पिण्डदानादि से तृप्त करना ही सिद्धान्तपक्ष में ‘आद्वैतकर्म’ है। इस सिद्धान्तपक्ष की रक्षा पञ्चमात्र शरीर भिन्न नित्य-आत्मसत्ता-स्वीकृति पर ही अवलम्बित है। आस्तिक शास्त्रों (उपनिषदादि) में उपर्युक्त आत्मस्वरूप सर्व साधारण के लिये गुरुरसिद्ध्य है। यही कारण है कि, आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में माना प्रवाद पुण्यित पदवित हो गये हैं। एक ही आत्मतत्त्व के उन सोपाधिक विविध रूपों के सम्यक् परिज्ञान के बिना आद्वैत-कर्माधिष्ठाता आत्मा का स्वरूप परिचय प्राप्त कर लेना कठिन है। अतएव प्रतिपाद्य आद्वैत विज्ञान के आरम्भ में ही आत्म स्वरूपपरिचय विमिश्रास्थ बन जाता है जिसका स्पष्टीकरण आवश्यकतया से अपेक्षित है।

* इस मन्त्र के शब्दार्थ निम्नलिखित हैं— ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत् । त्वेन त्यक्तेन धुञ्जीषा मा गृध्रः कस्यस्त्रिह्वनम् ।
भाष्य १ अष्ट १ मन्त्रभाष्य ।

विशिष्टास्य आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में विरकाळ से बार्मानिक विद्वानों में मतभेद बसा जा रहा है। आत्मानुगत वन यथायातु मतधारियों को 'आस्तिक-नास्तिक- इम दो बाधों में अन्तर्भूत माना जा सकता है। शरीरातिरिक्त आत्मसत्ता स्वीकार करने वाला मस्तिष्कमिमत मतस्वरूप—

विद्वान् 'आस्तिक' नाम से तथा शरीरात्मकारी छोकायतिकर्मा 'नास्तिक' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। दोनों ही मतवाद पुरातन हैं १। स्वर्ग मृत्युसंहिता में 'सदाय असदाय' नाम से दोनों का उपबोध हुआ है। अस्तित्वपूर्ण 'वच' तत्त्वोपासक विद्वान् ब्राह्मण कहलाता है, नास्तित्वपूर्ण धर्म (कर्म) तत्त्वोपासक छोकायतिकर्म 'अमयक' कहलाता है। ब्रह्मात्मक वच तत्त्वानुगामी ब्राह्मणधर्म में ब्रह्मात्मक वच तत्त्वानुगामी अमयकधर्म में वच से प्रसिद्धि नहीं की जा रही है। ब्राह्मणधर्म शरीर को दृष्टान्त मानता हुआ आत्म किन्ता का समर्थन कर रहा है, एवं अमयक धर्म 'वच' को दृष्टान्त बनाता हुआ शरीर को ही आत्मा मान रहा है। दोनों मतधारियों में से सर्व प्रथम अमयकवाद (नास्तिकवाद) का ही संक्षेप से विवरण किया जाता है।

आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में अमयकों का यह कहना है कि—“यातायातसापमभूत वच सर्वथा अनित्य, तथा बहुपक्षार्थ है। पुरा वच, अस्तमयी प्रकाश है” आदि कतिपय परिगणित अवयवों की समष्टि ही वच है। जब तक यह समष्टि बनी रहती है तभी तक वच (अवयवी) स्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है, गतिमान् बना रहता है। जिस दिन इसके पुरा वच-आदि अवयव मन्विबन्धन से वृक्ष हो जाते हैं उसी क्षण वच की स्वरूपविभूति हो जाती है। वच रूप अवयवी वक्रादिभ्य अवयवों से वृक्ष तत्त्व नहीं है। अपितु जिस प्रकार अनेक हूँओं की समष्टि वन है, अनेक आव्यवकों का समूह शरीर है, अनेक क्रियाओं का कूट मूल्य है वचमेव पुर वक्रादि अनेक अवयवों की समष्टि ही वच रूप में परिणत हो रही है। जिस दिन अवयवों का मन्विबन्धन दूट जाता है, उसी दिन उसी काल में अवयवी का भी विनाश हो जाता है। अनेक अवयवों के समन्वय से जो वच कहलाता वा अवयवों के इच्छा हो जाने पर, अवयवा मूह हो जाने पर वह वच नाम का पक्षार्थ छोकान्तर में नहीं जाता अपितु अवयवों का मात्र ही वच का विनाश है। यही अवस्था आत्मा की है। वच-अष्टक-मांस-मेघ अरिप-मन्त्र-शुक्र-ओष-रक्त-वर्म-आदि अनेक अवयवों की समष्टि ही शरीर है। यही शरीर आत्मा है। यही अवयवी है। इन अवयवों के समन्वय से तात्कालिक अपूर्व क्रियाभाव उत्पन्न

१. इन वचधारि पुरातन धर्मों का वैज्ञानिक विवेचन 'वीतायाज्यभूमिगत' २ वच वच विद्वान् अमय-कर्मपरीक्षा में देखा जाति

हो जाता है। जिस प्रकार यन्त्र के अवयव (पुर्जे) घुबक-घुबक कर देने से यन्त्र की क्रियाशक्ति नष्ट हो जाती है, एवमेव शरीर के अवयवों के घुबककरण से क्रिया अवरोध हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में केवल क्रियाधर्म का देख कर आत्मा को शरीर से घुबक मानना, साथ ही में उस को नित्य मानना सक्ता घ्रान्ति है। जिस प्रकार अवयवी रूप रथ परलोक में नहीं आता, एवमेव शरीर के नष्ट हो जाने पर अवयवी रूप आत्मा का परलोकगमन मानना, साथ ही में उसे शरीर से घुबक नित्य तत्त्व मानना सक्ता भ्रमपूर्ण है। इस प्रकार नास्तिक लोग कई एक इत्ना भावों के आधार पर स्वतंत्र आत्मत्वा का विरोध करते हुए 'रथचक्र' शरीर को ही आत्मा मान रहे हैं।

आस्तिक मतानुसार आत्मा शरीर से सर्वथा घुबक, पूर्ण नित्य तत्त्व है। एक 'सरोवर' में पानी भरा हुआ है। आतुर्मांस (बीमांस) समाप्त होने पर सरोवर का पानी सूख जाता है। क्या सरोवर का पानी नष्ट हो गया ? कदापि नहीं। 'क्षिप्वा कारस्य अक्षरोपक श्वास्त्यप्राण' के मध्ययोग से 'स्नाहो वायुसंयोगा दारोद्गमः' (वे० ६० १०।१६) इस कथाद सिद्धान्त के अनुसार सूक्ष्म न नाड़ी रूप अपनी शक्तियों से सारे पानी को खींच कर उसे वायुरूप (वायुरूप) में परिणत कर विराट् अन्तरिक्ष में वायुधरातल पर प्रविष्टि कर दिया है। वस जिस प्रकार सरोवर का पानी सूक्ष्मरूप में परिणत होकर लोकांतर में चला जाता है नष्ट नहीं होता ठीक इसी प्रकार शरीर के नष्ट हो जाने पर यह जीवात्मा भी सूक्ष्मशरीर धारण कर लोकांतर में चला जाता है। अपि च वायुरूप में परिणत होकर लोकांतर में जाने वाला वायुरूप पानी का असं-हम चम्मचमुओं से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते साथ ही में वह किस प्रदेश में प्रविष्टि हुआ यह भी हम नहीं देख पाते, एवमेव शरीरमत्ताकाल में क्रियाधि धर्मों से जिस आत्मा का हम एक प्रकार से प्रत्यक्ष कर रहे हैं शरीरतत्त्वानन्तर वही सूक्ष्मावस्थापन्न होता हुआ न शरीर से निकल कर लोकांतर में जाता हुआ ही दिखाई देता, एव न जिस लोक में वह जाकर प्रविष्टि होता है, वह लोक एवं स्वयं सोकी आत्मा ही निश्चय पड़ता। इस प्रकार ऐसे ऐसे छान्ता द्वारा आस्तिक विद्वान् पुरातन आत्मा को शरीर से सक्ता घुबक पूर्ण नित्य मान रहे हैं।

आस्तिक विद्वान् केवल नित्य आत्मतत्त्व की ही सत्ता स्वीकार नहीं करते, अपितु अनित्य शरीर भी इनकी दृष्टि में एक तत्त्व है। इन परमव्यामिश्र का कहना है कि, संसार के प्रत्यक्ष पदार्थ में हम प्रतिक्षण परिवर्तन देख रहे हैं। इस धार्मिक परिवर्तन के अन्तिम का उत्पत्ति— साथ साथ एक अपरिवर्तनीय अक्षय नित्यभाव का भी साध्याकार कर रहे हैं। उदाहरण के लिए रूपक शिशु का ही लीजिए। अप्रतिक्षण ही आरम्भ पर मृत्यु

काष्ठ पर्यन्त इस शिष्ट की शिष्ट-पौगण्ड-बाह-किरार-तरुण-पुष्पा-मौड़-स्वचिर-वृद्ध-वर्मा-
ये १० अवस्थाएँ होती हैं। इन वर्गों में से प्रत्येक अवस्था की अवान्तरजनक अवस्थाएँ हो जाती
हैं। इन अवस्थाओं के परिवर्तन के साथ साथ 'रसासुहृमांसमेवादि' शरीरबाहु भी बदल
रहते हैं। आगे जाकर इस परिवर्तन का विभाग क्षणिक भाव पर माना गया है। प्रत्यक्ष
परिवर्तन हा रहा है। क्षण भी एक काष्ठ है, स्थिरमात्र है। वस्तुतः एक परिवर्तन की इस
क्षणभाव के साथ भी तुलना नहीं की जा सकती। वह परिवर्तन तो 'धामराज्यमोर्बुद्धं समराज्य
मोर्बुद्ध' के अनुसार अपने जैसा आप ही है। यह सब कुछ होने पर भी व्यवहार-सौकर्य
के लिए एक परिवर्तन को "क्षणिक" राज्य से व्यवहार कर दिया गया है। इसी क्षणिक परि
वर्तन के कारण प्रत्यक्ष वस्तु नष्ट नष्ट रूप धारण करती रहती है। वस्तु का जैसा स्वरूप पूर्ण-
क्षण में रहता है, उत्तरक्षण में उस स्वरूप का सचचा अभ्यास है। यदि वह परिवर्तन क्षणिक न
होता तो एक प्रादेश का शिष्ट प्राप्तबलक होने पर कभी समीचीन द्वार का न बनता साथ ही में
इस के शरीर में कभी विविध अवस्थाओं का व्यव न होता। इन्हीं सब कारणों से इन शरीर
को प्रत्यक्ष परिवर्तनशील मानने के लिए तय्यार है।

इस परिवर्तन के साथ साथ ही एक अपरिवर्तनीय स्थिरमात्र का भी साक्षात्कार हो रहा
है। इसी स्थिरमात्र के लिए 'स एवायं' (यह वही है) यह प्रतीतिज्ञा होती है। देवदत्त अन्य
काष्ठ में भी है, दृष्टुकाष्ठ में भी है, मरे बाव भी है। तभी तो तीनों कालों के साथ सामान्य-
रूप से-देवदत्त उत्पन्न हुआ है देवदत्त मरने बाधा है देवदत्त मर गया इस प्रकार देवदत्त का
सम्बन्ध पाया जाता है। शरीर बदलता है, आत्मोपरलक्षित देवदत्त नहीं बदलता। प्रत्यक्ष
बदलते हुए भी शरीर के 'यह वही देवदत्त है' जिसे हमने बचपन में 'जबपुर में देखा था' इस
प्रकार वही भाव नहीं बदलता। इस प्रकार परस्पर में अन्त्य विकट हो भावों का एक ही
पदार्थ में समन्वय हो रहा है। परिवर्तनशील क्षणिक पदार्थ 'शरीर' है, अपरिवर्तनीय अक्षय
नित्य तत्त्व आत्मा है। दोनों का समन्वितरूप ही 'अव्यात्म-अधिदेवदत्त-अधिभूत-स्तिवा' है।

अधि च - क्रिया प्रत्यक्ष परिवर्तनशील है। परिवर्तनशीलता इस क्रिया की स्थिति
(स्वरूप सत्ता) जब तक सर्वथा अनुपपन्न है जब तक कि इस का कोई अपरिवर्तनीय स्थिर
आधार न मान लिया जाय। अगर क्षणमात्र ठहरनेवाली स्वर्ब क्रिया क्रिया का आधार बन नहीं
सकती। इस युक्तिवाद के आधार पर भी क्षणिक क्रिया के साथ नित्य तत्त्व का समन्वय मानना
पड़ता है। इसी नित्य तत्त्व को आधार बना कर क्रियात्मक वस्तुत्व अपनी चिति (समूह) के
कारण 'आत्म-तत्त्व-कल्प' योद्ध से सीस स्वरूपों में परिणत होकर 'सम्भूतिमात्र' का प्राप्त होता
हुआ 'वस्तु' नाम से व्यवहार होता है। जब तक क्रियात्मक वह पर तत्त निश्चित आत्मरूप

रस-रस्य का अनुग्रह रहता है, तभी तक चित्तिभाषापन्न नामरूपकर्मोत्पत्ति उस-वश की सम्भूति है। रसानुग्रह-परित्याग ही रस का विनाश है। सम्भूति और विनाश, दोनों का एक ही स्थान पर समन्वय हो रहा है। इसी समन्वय-विज्ञान को छद्म में रक्त कर उपनिषद्भूति कहती है—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वदोभयं सह ॥ —

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽऽमृतमश्नुते ॥ — ई. उज्ज्वल १०१

शरीर अनेक बलों की समष्टि होने से 'काय' (निकाय-समूह) नाम से प्रसिद्ध है। इन अनन्त बलों का शासक प्रभु एक रस-रस्य (आत्मा) है। 'वाक्-प्राण-बुद्धि-मोत्र-मनो-बुद्धि-हृत्-पाद-उपस्थ' आदि सारे अवयव 'गुणानां च परार्थस्वावसम्बन्ध समत्वात्' इस न्याय के अनुसार परस्पर में संबन्ध प्रवृत्त हैं। 'श्लेषामिष्टानि चिह्नितानि धामरा' (श्लोक सं० ११६५१५) इस श्लोक सिद्धान्त के अनुसार सब के धाम (स्थान) एवं श्लेष (विषय) नियत हैं। इन मिश्रों में एक अमिश्र तत्त्व (आत्मा) सामान्यरूप से व्याप्त हो रहा है। आत्मा देखती है, कान सुनते हैं, जिह्वा स्वाद लेती है, नाक सूंघता है, पैर चलेते हैं, हाथ काम करते हैं, मन मनन करता है, बुद्धि विचार करता है। व्यवहार होता है—मैं देखता हूँ मैं सुनता हूँ, मैं स्वाद ले रहा हूँ मैं सूंघता हूँ, मैं चलता हूँ मैं काम कर रहा हूँ मैं-मनन करता हूँ इत्यादि। इस प्रकार सर्वथा विभिन्न बस्तु-प्राणादि के साथ वह 'मैं' (आत्मा) युक्त हो रहा है। इसी आधार पर इस 'मैं' (अहम्) तत्त्व को किंवा आत्मतत्त्व को शरीरावयवों से प्रवृत्त मानना आवश्यक, एवं वास्तविक हो जाता है। प्रकारान्तर से यों समझिए कि, नास्तिकदर्शन 'प्रजातन्त्ररूपा संघराशि' को प्रधान मानता है। एवं नास्तिकदर्शन 'प्रजातन्त्ररूपा प्राज्ञापत्यराशि' को प्रधानता देते हुए संघराशि का स्वागत करता है। जिस दृष्टि से इन दोनों दर्शनों में आत्मा के स्वरूप का विचार किया है, वही दृष्टि 'दर्शन' नाम से प्रसिद्ध है। नास्तिकदर्शन एवं नास्तिकदर्शन, दोनों ही आचार्यवेद से निम्न लिखित रूप से ६-६-भागों में विभक्त माने गए हैं।

* इस विषय का विस्तृत विवेचन श्रीरूपनिषद् द्वितीय-विज्ञान भाष्य के एक मन्त्रभाष्य में देखिये वादिए।

नाम्निकद्वय और उसका प्रवर्धक	आन्तिकद्वय और उससे प्रवर्धक
<p>१-वार्त्ताद्वयान— २-माध्यमिकद्वयान— ३-योगाचारद्वयान— ४-सौत्रान्तिकद्वयान— ५-वैशेषिकद्वयान— ६-जालद्वयान—</p> <p>ब्रह्मपति और सिद्ध के सिद्ध अथवा अथवा</p>	<p>१-न्यायद्वयान— २-वैशेषिकद्वयान— ३-माध्यमिकद्वयान— ४-कर्ममीमांसाद्वयान— ५-ब्रह्ममीमांसाद्वयान— ६-योगद्वयान—</p> <p>गातम कपिल कपिल प्रेमिनि व्यास पतञ्जलि</p>

वस्तुतः वैज्ञानिक दृष्टि से आत्मद्वयान नास्तिक, आस्तिक, भेद से कुछ है। भागों में ही विभक्त समझने चाहिये। तीन नास्तिकद्वयान हैं, एवं तीन ही आस्तिकद्वयान हैं। नास्तिकत्व की मूलप्रतिष्ठा 'असद्वचन' है अस्तित्व की मूलप्रतिष्ठा 'असत्' है। 'असत्' है 'वस्तु' है। असत्-वस्तु की समष्टि ही आत्मप्रपञ्च है। इसे अस्तित्व से भी देखा जा सकता है, एवं नास्तिकत्व से भी देखा जा सकता है। 'अन-मात्र-वाक्' ये तीन असत्कर्म हैं। तीनों की समष्टि ही अस्ति, किंवा अस्तित्व है। नाम-रूप-कर्म, ये तीन वस्तुछाये हैं। इन तीनों की समष्टि ही अस्ति है। सुतरां आत्मदृष्टि किंवा आत्मद्वयान का संमूल है भागों में ही प्रवर्धमान सिद्ध हो जाता है।

अपि च ईश्वर प्रजापति पूर्वैः होने से वर्तुलाकार (गोलाकार) है। अतएव इसे सबको पाधिपाद सबतोऽधिधिरामुक्त कहा जाता है। गोलाकार वस्तु को है भागों में विभक्त करके ही सर्वात्मना देखा जा सकता है। इन दृष्टियों में तीन दृष्टियों का समस्तक नास्तिकत्व के साथ सम्बन्ध है, एवं तीन ही दृष्टियों का समस्तक अस्तिकत्व के साथ सम्बन्ध है। इस दृष्टि में भी इष्टान कुछ है ही होते हैं। वस्तु कुछ भी हो इस अप्राकृतिक द्वयान प्रसङ्ग का उद्भव करना अप्राकृतिक है। उक्त वर्तुलाकार से प्रकृत में हमें कबल यही करना है कि, आत्मा के सम्बन्ध में मारतत्त्व में मत्वा से ही मत्वात्त्व भव जा रहा है।

सो महापुरुष नास्तिकत्व के अनुपायी हैं जिन्होंने शरीर का ही आत्मा समझ रक्खा है, जो—अस्मीभूतत्त्व वैदित्य पुनरागमनं कुतः के ब्यासक हैं इनके धिय कुछ भी बचस्य नहीं है। अद्वैत ज्ञपनाचार्य के निम्न विभिन्न शब्दों में ऐसे पृथ्वीय महापुरुषों की कल्पना करते हुए एवं आस्तिकत्व की ओर से जगदीश्वर से वासीयातना के विरोध की प्रार्थना करते हुए आत्मा सुखार्थ आत्मप्रकरण आरम्भ किया जाता है। आस्तिकों के महाप्रतिनिधि सर्वभी ज्ञपनाचार्य अपने सुप्रसिद्ध 'न्यायकुमुदाहसि' ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए लिखते हैं—

इत्येष भृति-नीतिसंभवजलैर्मूयोमिराधालिते ।

येषां नास्पदमात्रघाति हृदये ते शैलमाराधया ॥ १ ॥

किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युन्मैर्भवन्तिनाः ।

काले कारुणिक ! त्वयैव कृपया मे माषनीया नरा ॥ ११ ॥

अस्माकं तु —

अस्माकन्तु निसर्गसुन्दर ! चिगन्धतो निमग्न स्वयी-

त्यद्वाऽऽनन्दनिध ! तथापि सरल-नाद्यापि सन्तुष्यत ॥

तन्नाम ! त्वरित विधहि करुणां येन त्वदेकाग्रता-

याते चतमि नाप्नुवाम शतशो याम्या पुनर्यातना ॥ १२ ॥

— भा. ई. ५ स्वक १८ १९ श्लोक ।

ईश्वरसत्ता पर विश्वास करने वाले, शरीर से पूषक नित्य आत्मतत्त्व को स्वीकार करने वाले, वेदशास्त्र-सिद्ध आत्मा की आगति-गति पर भ्रष्टा करने वाले ब्रह्मवादी ब्राह्मणों के मतानुसार ब्रह्मकर्म अवश्यमेव भ्रष्टा की वस्तु है। अज्ञान रूपि के दौड़ित अन्दाधस्ता के रचयिता, पारसीकर्म के प्रवक्तृ श्रीजरबुद्ध भी आत्मसत्ता स्वीकार नहीं करते थे। आसुरकर्म का प्रधान मानते हुए वे आरम्भ में शरीर का भी आत्मा समझते थे। संयोगवशा भूमण्डल की परिक्रमा करते हुए एक बार भगवान् चान्द्रायण (व्यास) ऊपर जा निकले। अन्दाधस्ता में यह अलस मिछता है कि "व्यास के आगमन से पहिले ही वहाँ आकाशवाणी हुई कि, जरबुद्ध ! हिन्दुस्तान से एक महाबुद्धिमान् व्यास नाम का ब्राह्मण तुम से शास्त्रार्थ करने आ रहा है"। फलतः व्यास भगवान् वहाँ (चान्द्रायण, वत्समान में श्रान) पहुँचते हैं, एवं अपने योगबल के द्वारा जरबुद्ध की शरीर से अतिरिक्त आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करवाठ हैं। तभी से जरबुद्ध ने अपने धम्मपत्र में यह आदेश दिया है कि "व्यासतः में आत्मा शरीर से पूषक पदार्थ है एवं शरीर त्यागानन्तर वह स्वकर्मनुसार सुभाग्युक्त लोकों में भ्रम करता है। इस क

* "यैव हिन्व शायते" : "अथ विरहमन् व्यास नाम अत्र हिन्व आसत, कर्मन् व आसित वना पेश"। (जरबुद्ध की ६५ वीं श्रुति)। "यैव व्यास हिन्वी कथं आसत । परास्य आसुमाग वन्मार्" (१६ वीं श्रुति)।

निमित्त उसका पुत्रादि का अग्रधानादि करना चाहिए । इस प्रकार वैदिक काल में भी कुछ एक महानुभाव आपससत्ता स्वीकार करने लगे थे । विगत शताब्दी में कई एक पाश्चात्य विद्वानों ने भी मुख्यतः से धर्मशा का अग्रत्व स्वीकार किया है । उनमें से स्वनामधन्य 'मुन्डरस', पाश्चात्तोरस 'प्लेटो' प्रसिद्ध जर्मन् विद्वान् 'योगेश्वर' निरन्तर 'अनइडक' (आई प्रोफेसर) का उपाय करने वाले विद्वत्प्रेमी 'प्लेनर' आदि कतिपय महानुभावों के नाम उल्लेखनीय हैं । आज तो 'गैल्लर' द्वारा मृतत्मा का आह्वान तक सफल सिद्ध हो चुका है । आगत आत्मा जिन्हें के प्रदत्तों का पचावसु समाधान करता है । स्वनामधन्य 'बी० डी मूपि' की कृपा से इतिहास में हमें भी एक बार कुछ एक मृतत्माओं के संसर्ग का अवसर मिला है । यद्यपि साधारण मनुष्य इस रहस्य को खोजने की दृष्टि से देखते हैं, साथ ही में—'अराध्यात्म' गन्तु तथा निम्न प्रकृति के अनुसार प्रत्यक्ष पदनाओं के सम्बन्ध में भी वे शकसिद्धि का किया करते हैं, परन्तु विचाररहित मनुष्य शीघ्र ही आपससत्ता पर विश्वास करने लगते हैं । ज्ञानोन्मत्त व्यक्ति में बड़ी युक्ति के साथ आपससत्ता सिद्ध की गई है । प्रसंगोपात् उस आशय को उद्धृत करना भी अनुचित न होगा ।

आर्योप वैदिक सभ्यता के आवि प्रकृतक अग्रमान् स्वयम्भू प्रजापति थे । जिसे आज 'पमिता माइनर' कहा जाता है, वहीं पर प्रजापति निवास करते । वैदिकलोकी में रहने वाले देवता (मनुष्यदेवता), एवं अग्नि का वि अनुसन्धोकी में रहने वाले असुर लोग ही इन की पितृमुख्य समझ कर इन का आदर करते थे एवं इन का अनुशासन मानते थे । देवता और असुर दोनों ही परम्परागत पद्धति से आ रहे थे कि 'जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहिचान जाता है, वह सम्पूर्ण लोकों में बचक समझ करता है एवं उन (आत्मज्ञानी) की कोई कामना व्यक्त नहीं जाती' । इसी प्रकृति से देवता और असुर, दोनों को ही आत्मा के उस 'अग्र-अग्र-अग्रमय भुविपासा' रहित आत्मा के वास्तविक स्वरूप जानने की विद्यासा हुई । आत्मस्वरूप-सम्बन्धी विद्यामा प्राप्त करने के लिए देवताओं की ओर से 'मन्त्र' एवं असुरों की ओर से 'आवाध'।

बिरोधन' दोनों॥ समित्पाणी बन कर स्वयम्भूतजापति की सेवा में पहुँच। अभी दोनों ही आत्मोपदेशावस्था के अयोग्य थे। फलतः प्रजापति ने दोनों को आज्ञा दी कि, तुम (आत्मविभूत-पर्य) पहिले ३२ वर्ष तक ब्रह्मचर्य ब्रत पाळन करो। आज्ञानुसार योग्यता-संपादन करने के लिए दोनों ने ही ३० वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्यव्रत का सम्यग्रूप से अनुष्ठान किया। ३२ वर्ष समाप्त हो जाने पर समित्पाणी बन कर दोनों प्रजापति के सम्मुख उपस्थित हुए। "बोछो क्या चाहते हो?" प्रजापति के यह प्रश्न पर उत्तर में दोनों ने ही बड़े विनीतभाव से आत्मकाम-सन्मर्म्मरूप-अवसरप्रसूतविषयमा-शोक-मोह-आदि पाप्माओं से रहित आत्मस्वरूप की जिज्ञासा प्रकट की। आत्मा का साक्षात्कार करवाते हुए प्रजापति कहने लगे कि "हे इन्द्र, बिरोधन। तुम अपनी दोनों आत्मा में जो एक (प्रतिबिम्बित) पुरुष देखते हो वही आत्मा है"। हमारे सामने जब कोई मनुष्य खड़ा होता है तो हमारी दोनों आत्माओं में उस का चित्र चित्रित हो जाता है। इसी की ओर प्रजापति का ध्येय था। जब प्रजापति ने अक्षिपुरुष (प्रतिबिम्बित पुरुष) को आत्मा बतलाया तो कुछ काम के अनन्तर दोनों प्रश्न करने लगे कि "भगवान्। पानी में और काच में जो हम अपना प्रतिबिम्बित रूप देखते हैं वह क्या है?" उत्तर में प्रजापति ने कहा कि "अरे। वह भी वही है जो कि वस्तु में पुरुष बतलाया गया है।" आगे जाकर प्रजापति ने कहा कि "अच्छा ठहरो हम तुमको आत्मज्ञान का ओर भी सरल उपाय बतलाते हैं। पानी से भर हुए एक अराराख (सुतपात्र) में अपने आपकी देखो। यदि देखा करने में आत्मा का स्वरूप तुम्हारी समझ में आ जाय, तो अच्छा है यदि नहीं तो फिर पूछना"। आज्ञानुसार दोनों ने ऐसा ही किया। प्रजापति ने पूछा—क्या देखा उत्तर मिला— भगवान्। हमने पानी में अपने शरीर को ज्यों का त्यों प्रतिबिम्बित देखा"। प्रजापति ने कहा कि "अब तुम सुन्दर सुपरिष्कृत वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो कर अराराख की ओर देखो"। आज्ञानुसार दोनों ने ऐसा ही किया। प्रजापति के क्या देखा? वह प्रश्न करने पर उत्तर मिला कि "भगवान्। बेराभूषण से सुपरिष्कृत अपने आप को हम पानी में हमने ज्यों का त्यों प्रतिबिम्बित देखा"। प्रजापति ने कहा "अब अब तुम आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचान गए। जिसे तुमने पानी में देखा है वही आत्मा है। शान्ति की जिज्ञासा शान्त हुई। दोनों अभिवादन कर

प्राचीन समय में जिज्ञासु श्रोता परिमित समीक्षा हाथ में लेकर गुरु के सम्मुख खड़ा होता था। इससे वह बड़ी लक्ष्म करण था कि, मैं आप का शिष्य क्या चाहता हूँ। यदि गुरु उसे योग्य समझते थे तो उसके हाथ से समीक्षा के लिए वे अन्वय योग्यताप्राप्तानुसार उपाय बताते थे। प्राक्कथित समीक्षा क्यों हाथ में लेनी है? इन विषय का बहुरिक्त ग्रन्थ उपनिषदविज्ञानमाध्यम्युक्तिका ११०८ में देखा जाये।

वापस झोट धाए। इन के झोट जाने पर प्रजापति ने विचार किया कि "दोनों ही आत्मा के वास्तविक स्वरूप को बिना पहिचाने ही चले गए। दोनों में से जो इस शरीररूप आत्मोपनिषत् पर विश्वास कर लेगा निःसन्देह वह परामर्श को प्राप्त होगा। अर्थात् हमारा कथनमात्र पर विश्वास कर जो शरीर को ही आत्मा समझ बैठेगा उस का पतन अवश्यमापी है।"

इस प्रजापति एक विचार कर रहे थे, उस प्रजापतिवृत्त शरीररूप आत्मोपनिषत् का मनन करते हुए असुरप्रतिनिधि विराचन असुरमण्डली में पहुँच। विराचन के इस वृत्त में आरंभ पूरा शान्ति थी। मानों उसे आज वास्तव में आत्मज्ञान हो गया हो। इस प्रकार अपने आप को आत्मज्ञान के सम्बन्ध में कृतकृत्य मानता हुआ विराचन असुरमण्डली को सम्बोधित कर कहने लगा कि— हे भाइयों! हम भौतिक शरीर का ही नाम आत्मा है इसी को समुन्नत करो इसी की अहर्निश आराधना करो। इसी की कपासना ही परमानन्द मिल जाता है। विराचन का अविश्राम बही था कि उसे वने वैसे शरीर को सुखी रखो। खाओ। पीओ। मौन रखो।।। यदि बहुत बसु लाओगे तो शरीर अवश्य पुष्ट होगा परन्तु आत्मा मस्ति हो जायगा। परलोक बिगड़ जायगा आज से ज्येष्ठ ऋषियों को केवल कल्पना समझो। विश्वास करो कि शरीर से अतिरिक्त कोई अन्य आत्मवस्तु नहीं है। अपि तु शरीर ही आत्मा है।

१।

ज्ञान का फल यहाँ नहीं मिलता अपि तु परलोक गत आत्मा शान्तिप्राप्त का उपमाका पतता है। भद्रापूर्वक शुद्ध-वैद्यता पितरों की उपासना से परलोक सुखरता है। ज्योतिषीय यज्ञ से आत्मा त्रिप्राधिकृत स्वर्ग में प्रविष्टित होता है। यद्यपि एक ज्ञान-भाद्र-यज्ञादि कर्मों का प्रत्यक्ष में फल नहीं मिलता परन्तु परलोक में जब का फल मिलता है शरीरातिरिक्त आत्मवाक्यों का यह एक विश्वास है। परन्तु जो शरीर को ही आत्मा मानते हैं, इन की दृष्टि में ज्योतिष-ज्ञान भद्र आदि सब निरर्थक है। वे लोग इन सब का केवल स्वा-सिद्धि की स्वाध-कीर्ति समझते हैं। विराचन के आदेश से शरीर का ही आत्मा समझना वह असुरों ने एक सच शास्त्रीय कर्मों पर अमरता का असम्भव तभी सं यज्ञादि पर अमरता रखन वाली सम्मोहक 'असुर सम्प्रदाय' नाम से प्रसिद्ध है। इसी आधार पर आज भी जो ज्ञान नहीं करते, गुरु वैद्यता की उपासना नहीं करते भाद्र पर विश्वास नहीं करते यज्ञादि नहीं करते ऐसे अज्ञान अमरज्ञान अथवा-मानों के लिए विज्ञान कहा करते हैं कि "अब वह तो आत्मगमाय से मुक्त है असुर सम्प्रदाय का अनुयायी है।" असुरों ने ही तो शरीर को आत्मा समझ कर शान्ति का उपयुक्त समझा है। शरीररूप आत्मोपनिषत् आत्मोपनिषत् है।

विरोचन ने जब असुरों से कहा कि शरीर ही आत्मा है, तो सब से उन्होंने शब को न बचाने की प्रथा को ओर भी हट कर दिया। आत्मा के निकल आने पर भी उनका विश्वास है कि, अभी आत्मा ज्यों का त्यों विद्यमान है केवल मूर्ध्निमात्र है। अतएव वे छोग भक्त ब्रह्म आभूषणादि उपकरणों के साथ मुक्तों का सुरक्षित स्थान में रख देते हैं, बछाते नहीं। आगे जाकर भुवि कहती है कि—इन असुरों का ऐसा विश्वास है कि, ऐसा करने से इसे परलोक में सुख मिलेगा। सुप्रसिद्ध आर्मिनिया स्थान में एक बार महा-वेष्टासुरसंग्राम हुआ था। वहाँ पर युद्ध में जो असुर मरते थे, उन्हें ब्रह्माभूषणों से सुसज्जित कर वही नियत सुरक्षित स्थानों में रख देते थे। श्मशानभूमि के छिपे जासुरीमाया में अमक शब्द नियत है, एवं वहाँ शब रक्खा जाता है वह स्थान (कबरिस्तान) 'बैल' नाम से प्रसिद्ध है। जो प्रविष्टित असुर होते थे, वन के छिपे बड़े बड़े प्रासाद बनाए जाते थे। उनमें चिरकाळ तक के छिपे पर्याप्त सौम्य सामग्री रखी जाती थी। वही महाप्रादस्थान भूवेष्ट में 'महाबैल' * नाम से प्रसिद्ध है। एवं अजर कोटि के असुरों का शबस्थान 'बैल' नाम से प्रसिद्ध है। बैल, एवं महाबैल रूपा श्मशान भूमि ही 'अमक' नाम से प्रसिद्ध है। इसी 'अमक' के सम्बन्ध से वह स्थान 'आर्मिनिया' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। पुराणवक्ताओं ने आज ऐसे कई स्थानों का अन्वेषण कर यह सिद्ध कर दिया है कि, वास्तव में पुराण में शब रखने के छिपे बड़े बड़े स्थान बनाए जाते थे एवं वहाँ काय-ब्रह्मादि उपकरण सामग्री प्रचुर मात्रा में रखी जाती थी। उस युग की रक्खी हुई जीर्ण शीर्ण वस्तुएं आज भी उपलब्ध हो रही हैं।

आत्मसत्ता का वास्तविक स्वरूप न समझने वाले असुर-सन्मत्तावानुवादी मनुष्य आज भी मुक्तों को पुण्यमाछादि से अर्द्धकृत कर गाड़ते मात्र हैं। बड़े हुल्ल के साथ छिक्कना पड़ता है कि मत्मान्त शरीरम् (ईशोपनिषत्) सिद्धान्त को मानने वाले आत्मनिम्नवादी वास्तिक भी आसुरमायापन्न बस्तों के संसर्ग से शब को ब्रह्ममाछादि से सुसज्जित कर वासे गाने के साथ इसे श्मशानभूमि में छे जाते हैं। उन्हें यह नहीं मुझा देना चाहिए, कि—श्रेयस्व शरीर मिथ्या बसनेनालङ्कारेवेति संस्तुर्नन्ति एतेन ह्यमु छात्रं वेप्यन्ता मन्यन्ते" इस श्रौत कथन के अनुसार यह आसुरसन्मत्ताय है। इस से कोई फल नहीं है।

यह तो हुई असुरों की कथा। जब इन्द्र की दशा पर दृष्टि बाँधिए। प्रजापति के पास से छोट कर इन्द्र देवताओं के पास न गए। अपि तु माग में ही एक स्थान पर ठहर गए, एवं प्रजापति के बरछाप हुए आत्मस्वरूप पर विचार करने लगे। उन्होंने अपनी बुद्धि से विचार

* अवासां मयब्रह्मादि शर्षो वातुमसीनाम्।

बैलस्थानके जर्मके महाबैलके अर्धके ॥ —कृ. सं. १ मं. ११३ सू. १३ मन्त्र।

किया कि, प्रजापति ने शरीर को आत्मा बतलाया है। परन्तु यह बात समझ में नहीं आती। यदि हम सुन्दर वस्त्र पहिन कर पानी में देखते हैं, तो उस में बैसी ही परछाई पड़ती है। यदि बाल बर कर देखते हैं तो प्रतिबिम्ब की भी बालें भिन्न आती हैं। यदि कटे हुए हाथ से देखते हैं, तो प्रतिबिम्ब भी कटे हाथ वाला हो जाता है। इन सब परिस्थितियों से तो पदी सिद्ध होता है कि, यदि हमारा हाथ कट गया तो उतना आत्मा कट गया, अन्ध फूट गई, तो आत्मा अन्ध बन गया। ये बातें आत्मा के सम्बन्ध में समझ में नहीं आती। प्रजापति ने तो आत्मा को 'अमृत-अमय नित्य-अविनाशी' बतलाया था। परन्तु मैं तो एक क्षणों से इसे सर्वथा भयानक देख रहा हूँ मरणधर्मा पा रहा हूँ। सम्भवतः प्रजापति का अभिप्राय कुछ और ही होगा। अपन ने आत्मस्वरूप समझने में अवश्य मूढ़ की है। इन्द्र बारम्बार सौते। समिन्वाणी बन कर पुनः प्रजापति के सामने विनीत भाव से खड़ा हुए।

प्रजापति ने पूछा कि— मयबन्ध ! तुम तो विरोधन के साथ साथ ही कृतकृत्य होकर सौते गये थे। हमने तो समझा था कि, तुम्हारा समाधान हो गया। फिर वापस सौतेने का क्या कारण ? इन्द्र के हृदय में आत्मा के सम्बन्ध में जो सन्देश हुआ था उस का विस्तार करते हुए इन्द्र ने कहा कि, मयबन्ध आपने (प्रतिबिम्बरूप) जिस आत्मा का स्वरूप बतलाया है वह तो नाराज है समय है। इधर आत्मा का स्मरण बतलाते हुए आपने कहा था कि, आत्मा नित्य है, अमय है अप्रकृतपाया है। उत्तर में प्रजापति ने कहा कि, मयबन्ध ! हमने आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था ठीक कहा था। हमने कभी शरीर को आत्मा नहीं बतलाया। तुम्हारे समझ ने मैं मूढ़ हुई है। अच्छा कोई चिन्ता नहीं। ३० वर्ष पूर्वन्त पुनः ब्रह्मचर्य व्रत का अनुष्ठान करो। कल्पमान तुम्हारे सिंग आत्मस्वरूप का स्पष्टीकरण कहेंगे। आत्मानुसार इन्द्र ने पुनः ३० वर्ष तक उनी कर्मितम व्रत का अनुष्ठान किया अनुष्ठान समाप्त हो जाने पर प्रजापति की सेवा में इन्द्र उपस्थित हुए।

प्रजापति ने इन्द्र का स्मरण कर कहा कि, मयबन्ध ! जिस आत्मा को हमने आत्ममं-चमुर्दारा बतलाते हुए 'आमृतपुण्य' कहा था जागे जाकर उदाराव के द्यान्त से प्रतिबिम्ब द्वारा जिस आत्मा का परिचय करवाया था बाल्य में बड़ी आराम है। यदि तुम इस दृष्टान्त में मैं समझे, तो 'स्वात्मज्ञान' (मर्मे की दुनिया) पर इन्द्र इसी तुम्हारा समाधान हो जायगा। तुम रात्रि में स्वप्न व्यापक हो। स्वप्न में तुम्हारा शरीर तो जहाँ का तहाँ रहता है किन्तु आत्मस्वरूप बाहिर प्रकाशमान है। पथ-ही-व्यस-पानादि महिमाओं से युक्त होकर वह इतमन विचरता करता है। पदी स्वप्नदृष्टा महात्मा अमय-अमृत भावपन्न आत्मा है।" प्रजापति के एक आत्मावृत्त का हृदयहृम कर इन्द्र वापस सौते। परन्तु अभी वे वैद्यताओं के पास न जाकर माग में ही विचार कर रहा कि—इस बार प्रजापति ने स्वप्नदृष्टा की आत्मा कहा है।

यद्यपि यह ठीक है कि, शरीर के क्षय विध्वंस होने पर स्वप्नद्रष्टा तत्त्व क्षय विध्वंस नहीं होता, शरीर के दोष उस का कोई अनिष्ट नहीं कर सकता। स्वप्नावस्था में एक व्यक्ति मर जाता है। साथ ही में वह अपने मरे हुए शरीर को ही देखा भी करता है। इस से उसका शरीर से पारम्य भी सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार शरीरात्मवाद में जो भय था, वह तो यहाँ नहीं है। यद्यपि हम देखते हैं कि, इस स्वप्नद्रष्टा को स्वप्नावस्था में अन्य व्यक्ति थोड़ा पीड़ा पहुँचा सकता है। स्वप्नद्रष्टा पर स्वप्न में प्रहार होता है, वह मार दिया जाता है। यद्यपि वह मरता नहीं, परन्तु मरने की प्रतीति होने लगती है। भाविक जगत के आक्रमण स्वप्नद्रष्टा में क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं। पुत्राविमरण का उसे शोक होता है। अपि 'य' हुआ से पीड़ित होकर स्वप्नद्रष्टा स्वप्न में कभी कभी रोने भी लगता है, अतण्डुल जगत् पर असुविन्तु उपलब्ध होते हैं। यद्यपि आत्मा मज्जर है अमय है अशोक है, अपिपास है, अक्षय है। यद्यपि स्वप्नद्रष्टा ममय, सरोज, मरण भर्त्ता है। इसे व्यास लगती है, मूल लगती है। ऐसी अवस्था में स्वप्नद्रष्टा को भी आत्मा नहीं कहा जा सकता। अवश्य ही प्रजापति के वात्सल्य समझने में हमने फिर मूल की है।

एक सर्वज्ञ के निराकरण के लिए इन्द्र समितपाणी बन कर पुनः प्रजापति की सेवा में उपस्थित होते हैं। एवं अपने सर्वज्ञ का व्यञ्जन करते हुए कहते हैं, 'भगवन् । जिस स्वप्नद्रष्टा को आपने आत्मा बताया है, यहाँ भी मैं अभिमुखित फल नहीं देखता'। अर्थात् आत्मा के जिस विशुद्ध अमृत-अमय रूप को मैं जानना चाहता था, उसे न जान सका। प्रजापति ने उत्तर दिया कि 'अथवा'। हमने जिसे स्वप्नद्रष्टा कहा है, वह अवश्यमय आत्मा है। तुम हमारे आत्मन्तर अभिप्राय को यथावत् समझ न सके। अतः कोई चिन्ता नहीं। ३२ वर्ष तक और एक बार प्रजापति का अनुगमन करो। पञ्चम आत्मा के मौखिक स्वरूप का स्पष्टीकरण करूँगा'। आह्लातुमार पुनः ३२ वर्ष पञ्चम प्रजापति के सामने उपस्थित हुए। आत्मस्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए प्रजापति ने कहा कि 'अथवा'। जो आत्मतत्त्व वास्तव में रहता है, जो महीयात् बन कर स्वप्न देखा करता है, एवं जो तत्त्व सुषुप्तिकाल में संप्रसादभाव को प्राप्त होता हुआ स्वप्नज्ञान से विमुक्त हो जाता है, जिस अवस्था में सम्पूर्ण बाह्य-आत्मन्तर विषयों से जिसका सम्बन्ध टूट जाता है, सुषुप्ति की अभिप्राय संप्रसादमूर्ति वही तत्त्व आत्मा है। वह अमृत है, अमय है।' इन्द्र सन्तुष्ट हुए, चापस छोड़, परन्तु अभी देवताओं के पास न जाकर प्रजापति द्वारा निर्दिष्ट आत्मस्वरूप पर विचार करने लगा। वह भी मय ने इन्द्र का पीछा न छोड़ा। इस में भी उन्हें मय दिव्य झाँक पड़ा।

इन्द्र ने विचार किया कि, 'सुषुप्ति अवस्था में जो तत्त्व रहता है, प्रजापति ने उसे आत्मा

कहा है। परन्तु यह बात भी समझ में नहीं आती। यह अवस्था तो सर्वशून्यता है। इस में तो अहममि (मैं हूँ) इस अपनी सत्ता का भी ज्ञान नहीं रहता। आत्म ही में ज्ञान-सापेक्ष सम्पूर्ण भौतिक विषयों का भी इस अवस्था में आत्मनित्तक अभाव रहता है। दूसरे शब्दों में इस अवस्था में आत्मा विनाश की ओर मुका रहता है। ऐसी स्थिति में सुषुप्ति-अवस्था-पुष्प वर को भी आत्मा नहीं कहा जा सकता। अवश्य में अपने ही बुद्धिरोप से प्रजापति के वास्तविक अभिप्राय का पचावन् नहीं समझने पाता।" इस प्रकार अपने आप की प्रशंसा करते हुए इन्द्र समितपाणी बस कर पुनः प्रजापति के समीप उपस्थित हुए। पुनः ३२ वष के प्रता उद्यान का आदेश हुआ। परम धीर देवन्द्र ने पुनः ३० वष का अनुष्ठान किया। अन्तर्गत आत्मस्वरूप विज्ञासा प्रकट की। इन्द्र का यह अहमुन वैश्वं एवं वास्तविक विज्ञासा देव उन्हें प्रजापति हृदय से प्रसन्न होते हुए आत्मा के वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण करते हुए कहने लगे—

सबबन्। यह शरीर मर्त्य है मृत्युपश्च से निम्न आकृष्ट है। ऐसा मरणधर्मा यह शरीर इस अमृत-अशरीर-आत्मतत्त्व का अधिष्ठान है। इस मरणधर्मावच्छिन्न शरीर से मुक्त होने के कारण मोपाधिक बनना हुआ शरीरावच्छिन्न अमृततामा शरीर से सम्बन्ध रहने वाले प्रिया प्रियभाव से निम्न आकृष्ट हो रहा है। तुम तब शरीरावच्छिन्न समझते हो। जब तक आत्मा और शरीर का तुम विभक्त नहीं कर लोगे, तब तक प्रियप्रिय (मुण्यापुण्य-मुक्तपुण्य) शाकमोह-लक्ष्य इन्द्रमात्र) से कभी मुक्तारा नहीं पा-सकोगे। विनश्राधर्म शरीर का है आत्मा का नहीं है। आधुपपुण्य स्वप्नश्रुता सुषुप्ति का अधिष्ठाता तीनों एक तत्त्व है यह अवश्य ही आत्मा है। परन्तु तुमने अब तक इसे शरीर की दृष्टि से देखा है। अतएव आत्मा के इन तीनों विषयों में तुम्हें मय के ही वरान हुए। इस सिद्धि इस सर्वात्म्य में तुम्हें ब्रह्म आदेश कर देता है कि, तुम आत्मा को शरीर से मरवा पृथक् समझ करो। जिस दिन तुम्हारा यह विभक्त रहस्य बन जावगा उस दिन तुम अपने आप आत्मा के वास्तविक विभूत रूप का समझ लोगे। आत्मा स्वयं विज्ञाता है—विज्ञातार वा जरे कन विज्ञातीयात्। तुमने हमसे आत्मा का विभूत रूप पूछा। आत्मा कभी विभूत रहता नहीं। अतः हमें मोपाधिक भावों को आगे कर तटस्थ स्थानों द्वारा आत्मस्वरूप का प्रतिपादन करना पड़ा। मोपाधिक रूपों में सब की आत्मनित्तक मिश्रि वास्तव में नहीं है। अतः तुम्हारा पुनः पुनः स्वीकृ करना ठीक था। परन्तु हम इस से अधिक शब्द द्वारा कहने में असमर्थ थे। यह तो स्वातुमवेकात्म्य है—सो जाने मेदि मेदि अनार्थ—आत्मोप हनुते तेन अम्य—। बात बचार्थ है। शरीर मिश्री-मुरुर-प्रमोद ममी तो मयुर है। हम अपने पात्रकों से गुजरे हैं कि, हम की मयुरता में जो अन्तर है, वह शब्द द्वारा बरसम्भ १ विज्ञा जानती है, वह नहीं सकते धारी वर होना। जब लौकिक विषयों के लक्ष्यकरण में भी सत्य की गति तक जाती है तो फिर इस लोकालीय आत्मतत्त्व का

विच्छेपण शब्द द्वारा कैसे संभल जा सकता है। आत्मतत्त्व की इसी अभिवर्धनीयता, एवं स्वासु भवेत्काम्यता, का दिग्वर्तन कराते हुए अभियुक्त करते हैं— ॥ १ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधेया न बहुना भूतना ।
॥ १ ॥ यमैवेप शृणते तन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विष्णुते तन् स्वाम् ॥

—छोपमिह १।२।२१

“आप आत्मा के सम्बन्ध में बड़े बड़े व्याख्यान देते हैं, आप बहुत मुद्दिमान हैं, आप रात दिन तपश्चर्या में रत रहते हैं, आपने पर्याप्त विद्यार्थ्ययेन किया है, उपदेश सुने हैं, परन्तु इन सबसे आत्मज्ञान नहीं हो सकता। क्या तपो दान दध्यज निष्कामकर्म के प्रभाव से जिस दिन आचरण हट जाता है उस दिन तत्त्वार्थ योगसंनिद्ध कालेनात्मनि विन्दति (गी० ४।३८।) के अनुसार अपने आप आत्मवेद्यता आप पर अनुग्रह कर देते हैं। उस योगी का आत्मा अपने स्वरूप को खोजकर उसके सामने रज देता है”।

“परलोक कोई वस्तु नहीं है। संपर्त ही मूल का मूल है। जिसे (आत्मा) कभी आँखों से नहीं देखा उसे मान कर सामारिक मूल झाड़ बैठना भूलता है। आत्म परमात्म-परलोक-आगत-नाति-पाप-पुण्य-माद-दान-सह-तप-ये सब अकर्मण्यों की छीला है” इस प्रकार के कुतर्कों से आत्मतत्त्व का विरस्कार करने वालों की स्थिति का दिग्वर्तन कराते हुए, सायही में उन्हें संस्मारा पर जाने के सिद्ध कारुणिक मार्ग आदेश करते हैं—

॥ १ ॥

न माम्मराय प्रतिमाति बाल प्रमाद्यन्त विचमोहेन मूढम् ।
अय लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वर्धमापद्यत मे ॥१॥
भ्रवणायापि बहुमिर्यो न लभ्य शृण्वन्तोऽपि पश्यो पञ्च विधुः ।
आभर्या वक्ता कुशलोऽस्य सन्धाऽऽभर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्ट ॥२॥

१—सामारिक सब के मोह से डमरा बने हुए इस नाकबुद्धि की दृष्टि में परलोकमति कोई वस्तु नहीं है। यह अभिमान, जो अभिमानवश “यही लोक है, परलोक कोई वस्तु नहीं है” यह कहा जाता है, नहीं बार बार मेरे (यमकप्रभुपुत्र के) कान में आवा करता है ॥

२—बहुत बारह सुने से भी जिसका परवच झल नहीं होता मूल कर भी भ्रष्ट ही मूढ़न दृष्टि दान से रहित रह जाते हैं। आत्मतत्त्व की कल्पने वाला ही पहचान के साथ एवं इस का वास्तव्य करने कर्म की निराला हो है ॥

न नरणावरणं प्राक्त एष मुनिर्ज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
 अनन्यप्राक्तं गतिरत्र नास्त्यणीयान् शतवर्षमनुप्रमाणात् ॥ ३ ॥
 नैषा सकृन्मतिरापनेया प्रोक्तान्यनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
 यो त्वमाप सत्यपृथिव्यतासि त्वादह नो भूयाभषिकेत प्रष्टा ॥ ४ ॥

—संयोजक ११४७७५५

अद्वरीर द्वरीरेषु अनयस्यध्वयवस्थितम् ।

महान्तं विष्णुमात्मानं मत्वा धीरो न क्षायति ॥ ३ ॥

— इन्दोनिस् ११३२१

इस प्रकार प्रजापति ने वृक्ष रूप से तन्त्रस्थलभूषण द्वारा इन्द्र को आत्मसाक्षात्कार करवाया। प्रजापति के अनुग्रह से इन्द्र आत्मा के वास्तविक रूप को यथावत दृश्यमान कर पूर्व-सन्तुष्ट होकर देवमण्डली में सीट आय। (ऐलिय ६१० उपनिषद् ८१/११ १०:११:१० लं०)

इस आख्यान के सम्बन्ध में केवल यही प्रश्न शेष रह जाता है कि, "प्रजापति ने आत्म स्वरूप ब्रह्मत्वे में आरम्भ में इन्द्र की बचना क्यों की ?। जिस तत्त्व का विश्लेषण अन्तिमार्थ में किया इसे आरम्भ में ही क्यों न बख्शा दिया" ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में पढ़ते ही हम यही कहेंगे कि, प्रजापति ने आत्मा के सम्बन्ध में जिसने उत्तर दिए, वे सप्त यथार्थ थे। वृंदाहरण के सिद्ध पद्यों पशु में प्रतिबिम्बित पुरुष को ही स्वीकृत। प्रजापति ने कहा था कि हमारी आत्माओं में तुम्हें जो पुरुष दिखाई पड़ता है, वही आत्मा है। हमारी आत्माओं में तभी वह अन्य पुरुष का प्रतिबिम्ब विकसित रहता है, जब तक कि आत्मसत्ता रहती है। मूर्त की आत्मा में कभी अन्य मनुष्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। शरीर का ही आत्मा मानने वालों ने हमें पृथक् दे दिए कि, यदि शरीर ही आत्मा है, तो जिस प्रकार अश्विज अश्वत्था में पुरुष की आत्मा

[illegible]

५ - दुसरी वे गर आसपास रही रही दुसरी खिड़की : मुझे क्या पता खिड़की कि, मजदूरों-समूह को जल बचाने के लिये दूरी पर उपस्थित नदी का उपयोग होता है। अर्थात् आसपास के लिए जमीन का उपयोग कि जल बचाव है। हमने मुझे अभी-तब के लिए ॥ इसका मतलब है : + + + + +

तत् तस्मै च तत्तत् विविधं शब्दविज्ञानमात्म्यं च देव्यै वर्तते ।

में अन्य पुरुष प्रतिबिम्बित होता है—किस प्रकार शवशरीर की आँखों में प्रतिबिम्ब क्यों नहीं प्रतिष्ठित होता ?। इस प्रश्न के समाधान के लिए आपको शरीर से सर्वथा भिन्न प्रतिबिम्ब प्राप्ति एक स्वस्वविशेष (आत्मा) मानना पड़ेगा। जब वह अतकान्त हो जाता है, तो प्रतिबिम्ब का उदय नहीं होता। प्रतिबिम्बित पुरुष को आत्मा बतलाने का अभिप्राय यही था कि जिस स्वस्व के आधार पर यह प्रतिबिम्ब स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित है, वही प्राक्कृत्य आत्मा है। फलन के अनन्तर प्रतिबिम्ब क्यों नहीं रहता? यदि इन्द्र यह विचार करते तो उन्हें आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता।

अपि च सर्वाङ्गराशिर्यं बभ्रुरिन्द्रियं ही आत्मविकास का मुख्य द्वार है। शरीर की श्री (कान्ति शोभा) बभ्रुरिन्द्रिय पर ही निर्भर है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, एक बभ्रुर शिल्पी के द्वारा बनाई गई पाषाणप्रतिमा के जब तक बभ्रुगोच्छक में कृष्णकनीनिका नहीं बना ही जाती तब तक मूर्ति महाभयावह प्रतीत होती है। बिना बभ्रुसम्बन्ध के पाषाण-प्रतिमा शब-समान विकसार्ह पड़ती है। बभ्रुसम्बन्ध होते ही मूर्ति जीवित सी हो उठती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो मूर्ति अभी मुक्त से कुछ करने बाकी है। इस प्रकार एक जीवित मनुष्य का शरीर बड़ा अभयभाव से आक्रान्त रहता है, बड़ा बड़ी शरीर आत्मा के निकल जाने पर भयावह प्रतीत होने लगता है। इस भय की मूल प्रविष्टा बभ्रुगोच्छक ही है। शवशरीर की आँख ही भय का कारण बनती है। क्या ? उत्तर वही 'आत्मश्री' है। बभ्रु ही सत्य आत्मा की प्रधान प्रविष्टा होने से भय कहलाया है। बभ्रु ही आत्मशरीर की विकास भूमि होने से श्वा कहलाया है। जैसा कि—“एतद् वे मनुष्येषु सत्यं निहितं यच्छुः” (ग. भा० १६।), “बभ्रुर्वै प्रविष्टा” (शत० १४२। १३।) “बभ्रुरेव श्वा” (गा० भा० पू. भा० १११।) इत्यादि श्रोत बचनों से भी बभ्रुपुरुष का आत्मस्व सिद्ध होता है।

अपि च वास्तव में 'बभ्रुपुरुष' का ही नाम आत्मा है, जो कि आत्मा (विद्वानात्मा) रूप नियतों में 'क्षिणाक्षिपुरुष' नाम से प्रसिद्ध है। आत्मस्व का अभिमानी वेष्टा इन्द्र है। यह उच्चआत्मक विद्वान यह विद्वानपन इन्द्रस्व स्वस्व रूप से इन्द्रस्व प्रज्ञान मन पर प्रतिष्ठित रहता हुआ अक्ष (रश्मि) रूप से क्षिण नेत्र पर्यन्त वितरित रहता है। उसी के लिए भुक्ति पड़ती है —

यदेतन्मण्डलं तपति, यश्चैष रुक्म-इदं तन्मण्डलमधन् । अथ यदतदधि
दीप्यते, यश्चैतत् प्रफुरणमिदत् कृष्णमधन् । अथ य एष एवस्मिन्
मण्डले पुरुष, यश्चैष हिरण्मय पुरुषोऽयमेव स-योऽयं दक्षिणेऽधन् पुरुष ॥

इसी इन्द्रतत्त्व से हुआ। इन्द्र ने आत्मा का स्वरूप पृथक्, प्रजापति ने प्रतिबिम्बित पुरुष के व्यास से इसी आत्मरूप चातुर्गुण को सामने रख दिया। इन्द्र की वरर दृष्टि न गई, वह दूसरे बात है, परन्तु प्रजापति के वरर में किसी प्रकार के श्लोक्षेय का अवसर नहीं है।

आगे जाकर प्रजापति ने वररावस्थ प्रतिबिम्ब को सामने रक्खा। मिट्टी का पात्र है, उस में पानी भरा हुआ है उस पर शरीर का प्रतिबिम्ब है। आत्मस्वरूपज्ञान के सम्बन्ध में इस से अन्य अनुरूप दृष्टान्त नहीं मिल सकता। यदि इस दृष्टान्त के वास्तविक रहस्य को समझ लिया जाता है, तो तिसन्देश आत्मस्वरूप परिहात हो जाता है। हमारा शरीर पार्थिवभाग-भजन है, सूक्ष्म है दूसरे शब्दों में मिट्टी का वररावस्थ है। होम-वेद-नत्वाओं को छोड़ कर सर्वाङ्ग शरीर में रस रूप पानी भरा हुआ है। पारमेष्ठ्य आहाम् आपोमय है, रसमय है। 'वोदशी-पुरुष' नाम से प्रसिद्ध चिरात्मा का प्रतिबिम्ब (चिरात्मा) इसी महवृक्ष पर प्रतिबिम्बित होता है, जैसा कि—'अम सोमिहवृक्ष तस्मिन् गम इवाम्यहम्' (गी० १५।३) इत्यादि स्तुतिबचन से स्पष्ट है। सूक्ष्मशरीररूप पात्ररूप अवस्थ महवृक्ष कहाँ तक व्याप्त है 'आवातु वै रमस्त-वानात्मा' (शत भा० ७० ५ अ १ भा ११ क० १) के अनुसार कहाँ तक विवरा (आत्मा) व्याप्त रहता है। इसी चिरात्मा का नाम जीवात्मा है। दूसरे शब्दों में वररावस्थ शरीर में चिररूप पुरुष प्रतिबिम्बित है। इन्द्र यदि इस परिस्थिति को समझ लेते तो उन्हें आगे सन्देश करने का अवसर न मिलता। इस प्रकार इस उपदेश की सत्यता भी अक्षुण्ण ही माननी पड़ती है।

तीसरा उपदेश स्वप्नवृक्षा से सम्बन्ध रहता है। प्रज्ञानमन पर प्रतिबिम्बित सौर विज्ञानात्मा ही (मनोज्ञानदेन) स्वप्नवृक्षा है। इन्द्रियों के द्वारा मन पर आप्त हुए वासनात्मक भावों का विज्ञानात्मा स्वप्नावस्था में देखा करता है। मन चान्द्र है विज्ञान सौर है। दोनों ही अङ्ग हैं। विज्ञान (बुद्धि) का विज्ञानरूप ज्ञानी चिरात्मा पर निर्भर है। विज्ञान-उद्योति से प्रज्ञानमन प्रकाशित रहता है। चिरात्मा से विज्ञान प्रकाशित रहता है। विज्ञानात्मा दृष्टा नहीं है, अपि तु विज्ञानप्रतिष्ठ चिरप्रकाश दृष्टा है। चिरात्मासहस्ररूप आत्मा ही वास्तव में स्वप्नवृक्षा है चिरात्मावृक्षा है—'तमेव चान्तमनुभाति नवै उद्य वासा मवमिर्द चिराति'। (मुण्डकोपनिषद् १।२।१) यही अवस्था में वृक्षा की आत्मा वरसाजा यथाय ही है। इन्द्र ने दृष्ट दृष्टा पर लक्ष्य न कर मनुजवृक्षवृक्ष दृष्टा पर दृष्टि डाली। 'अम-रोक-मृत्यु सुधा-पिबामा-माद आदि मन के मग्न है न कि दृष्टा के। यदि इन्द्र दृष्ट दृष्टाभाव पर दृष्टि डालते, तो उन्हें वास्तव में आत्मवाप हो जाता। ज्ञानी दृष्टा वरर को सबसे प्रथम ज्ञात कर वरसाते हुए प्रजापति ने अन्त में कहा है कि—'आ तुमावस्था में जाकर किसी प्रकार का स्वप्न नहीं देखता बरि आत्मा है। विद्यायात्मा अथ प्रज्ञानात्मा की भाव लक्ष 'पुरीतति प्राप्ति' में अम

आता है तो उस अवस्था में स्वप्न का भी अभाव हो जाता है। उस समय केवल शुद्ध ब्रह्मा का साम्राज्य रहता है। इन्द्र ने शङ्खा की थी कि, 'यह तो उस की बिनाशावस्था है, उस समय उसे अपना स्वरूपमान ही नहीं रहता'। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

“यद्वा तत्र पश्यति, पश्यत्यै तत्र पश्यति । न हि द्रष्टुं दृष्टेर्विपरि-
लोपो विद्यते, अविनाशिश्चात् । न तु तद्द्वितीयमस्ति—ततोऽन्यद्विभक्तं यत्
पश्येत्” ।

—इ आ उप ४।१।२१।

इत्यादि के अनुसार ब्रह्मा त्रिकाळावापित है। भौतिक विषय ही तो देखने की वस्तु हैं। जब इस अवस्था में विषय ही नहीं, तो फिर दृष्ट किसे। इस अवस्था में तो यह आत्मतत्त्व अपने विमुक्तता से अनन्य आप में ही ब्रह्मा हुआ रहता है। अतएव स्वमपीतो भवति (ब्रान्दोम्य उप० ६।८।१) के अनुसार इस अवस्था का छिप 'स्वपिति' कहा गया है—(प्रश्नोपनिषत् ४।२)। 'द्वितीयाहंभयं भवति (पू० आ उप० १।४।८)। 'यदा ह वै प एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते—अथ भयं भवति' (तैत्ति० उप० २।४) इत्यादि ओपनिषद् सिद्धान्तों के अनुसार जब तक हंत बना रहता है, तब तक अवश्य ही भय का संचार रहता है। इन्द्रदेव शरीरछिड़ स ही बसे देल रहे थे। क्योंकि शरीरावच्छिन्न, किंवा विषयावच्छिन्न आत्मतत्त्व शरीर के समय होने से भवाकम्प सा ही बिलकाई पड़ता है। सुषुप्ति में इन सब विप्रतिपत्तियों का अभाव है। इसी शोकावित्त आत्मस्वरूप का विश्लेषण करती हुई सुप्ति कहती है—

“स्वप्नेन शरीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानमिवाकम्प्रीति ।

शुक्रमादाप पुनरैति स्वान हिरण्मय पुरुष एक इत् ॥ १ ॥

प्राणेन रश्मभर हृत्ताप बाह्यकुलापादसुतमरित्वा ।

स ईयतऽभूतो यत्र कामं हिरण्मय पुरुष एक इत् ॥ २ ॥

स्वप्नान्त उवाचपीपमानो रूपाणि दध कुरुते महनि ।

उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जल्लुतेषापि भयानि पश्यन् ॥ ३ ॥

—इ आ उप ४।१।१२।१३।

तदा अस्पैतदतिष्ठन्दा, अपहृत्तापामोऽभयं रूपम् । तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्पत्की न बाध किञ्चन वेद, नान्तर, एवमेषाप पुरुष प्राप्तेनात्मना सम्परिष्पत्की न बाध किञ्चन वेद, नान्तरम् । तदा अस्पैतदप्रकाम मात्मकममकामं रूपं शोकान्तरम्” ।

इसी विग्रह रूप को सत्य में रत्नकर प्रजापति ने आगे जाकर कहा है कि, "अथ तेषु शुम्भरी इष्टि शरीर पर है, तब तक भय है तभी तक प्रियाप्रिय का सम्बन्ध है। शरीररूप बस भाग से इष्टि इलाको आत्मरूप रसभाग पर इष्टि डालो। तभी तुम्हें अभयपद प्राप्त होगा।"

एक आश्चर्य से यह मस्तीभाति मिट्ट हो जाता है कि, आत्मा अवश्य ही शरीर से अतिरिक्त नित्य पदार्थ है, यह वह सुसाधुय पद भोगने के मित्र आतिथ्यादिक शरीर धारण कर लोकान्तर में गमन करता है।

वेदान्त ब्रह्मों (उपनिषद्ब्रह्मों) का समन्वय करने वाले 'अद्वैतब्रह्म' प्रविपादक चारित्रिक-द्वैत के आरम्भ के दो अध्यायों में परमचतुरूपण एवं तमिस्रकरण पुरस्तर आत्म-अनात्म

अद्वैतमिष्ट आत्मज्ञान
शरीर —

भाव के बिना का व्यासभगवान् ने विशद रूप से निरूपण किया है।

वहाँ यह सिद्ध किया गया है कि, "आत्मा शरीर से भिन्न पदार्थ है।

नाम-रूप-कर्म की समष्टि शरीर है, यह सर्वथा असत्य है। एवं अति-

मायि-प्रिय (सत्ता-चेतना-आनन्द) की समष्टि आत्मा है यह सबथा सत्य है। यह सत्त्वा-प्रियाप्रिय, यदाकर्म नवीन नवीन शरीर धारण करता रहता है। इस प्रकार वहाँ यह मस्तीभाति सिद्ध कर दिया गया है कि, पूर्व शरीर को छोड़ने के अनन्तर यह आत्मा अवश्य ही दूसरा शरीर धारण करता है। एवं इस दूसरे शरीर को धारण कर आत्मा लोकान्तर में गमन करता है। इसी आत्मगति का निरूपण करते हुए निम्न लिखित व्याससूत्र हमारे सामने आते हैं।

१—“तदन्तरमनिपची रहति सर्परिण्यक्त प्रक्षननिरूपणाम्नाम्”।

२—“अपारमकस्यानु भूयस्तन्मा”।

३—“प्राणगतेश”।

४—“अन्यादिगतिश्च विरिति चेन्न, माकस्यात्”-।

५—“अथमेऽप्रवणादिति चेन्न, ता एवमुपपद्यते”।

६—“अथ तत्त्वादिति चेन्न, इष्टादिकारिणां प्रसीत”।

७—“माक बानात्मविश्वालयदि दर्शयति”।

—शरीरवर्णन ३ अ. ११ अ. १-२-३-४-५-६-७-८-९

प्राचीन व्यासवाचानों में एक “आरोहोपप्रमाधिकरण” का जो अर्थ किया है, पंडितों इस स्त्री की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं।

१—“अथैवमेते प्राणा अमितयावन्ति” (इ. आ. उप० प्रश्न ११) “यदा से आरम्भ होकर”
“अन्यमन्तरं कदाचान्तरं रूपं भूयते (इ. आ. उप. अध्याय ११) इस वाक्य पर समाप्त होने

पाली वृक्षारण्यक-भुक्ति से यह मसीमांसि मिट्ट हो जाता है कि, सेन्द्रिय, समनस्क, मुख्य माणयुक्त, विद्या कर्म्य पूषणा आदि परिग्रहों से युक्त यह जीवात्मा (कम्ममोक्ता मोक्तात्मा) पूर्व देह को छोड़ने के अनन्तर अर्धश्य ही वेदान्तर धारण करता है। द्वितीय वह धारण करने वाला बतलाने वाली उक्त वृक्षारण्यक भुक्ति न— स , एतास्तेजोमात्रा समभावाधान " (पु० आ ४५ ४११) इत्यादिरूप से आते हुए जीवात्मा के साथ तेजोमात्रा का ही सम्बन्ध बतलाया है। उक्त पाक्ष्य में मृतमात्रा का गमन अभूत है। अतः सिद्ध होता है कि, द्वितीय वेद धारण करने वाला जीवात्मा इस पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर का छोड़ता हुआ मृतमात्रा से अपरिच्छिन्न (युक्त) होता हुआ ही लोकान्तर में गमन करता है। इस पर वाक्षरायण कहते हैं कि, ऐसा नहीं है। तेजोमात्रा के साथ साथ ही जीवात्मा के साथ मृतमात्रा का भी सम्बन्ध रहता है। इसी सिद्धान्त को रद्द करते हुए व्यास कहते हैं—

(१) "तदन्तरप्रतिपत्ती रहति, सपरिष्वक्त -प्रभनिरूपणाभ्याम्" ।

"पूर्व शरीर छोड़ने के अनन्तर जीवात्मा अपरिष्वक्त नवीन शरीर धारण करता है" जब (पूर्व के दो अध्यायों से) यह सिद्ध हो गया है—तो मानना पड़ेगा कि, जीवात्मा मृतमात्राओं से संपरिष्वक्त होकर ही लोकान्तर में रहण करता है—(जाता है)। क्योंकि ताण्ड्यभुक्ति में पाञ्चमिविद्याप्रकरण में 'आरण्य' और 'ब्राह्मण' के परस्पर में होने वाले आत्मगति-सम्बन्धों प्रभोक्तों से यही सिद्ध होता है। इस प्रभोक्तों के सम्बन्ध में निम्न लिखित श्लोक सुप्रसिद्ध हैं—

"तदन्तरेत्यादिकसूत्रमतद् मूक्षे तदर्थं यदि वेत्य किञ्चित् ।

स प्राह जीव करणात्रमादे संवेष्टितो गच्छति भूतसूक्ष्मं ॥

ताण्ड्यभुक्ती गोतमजैयिलीपप्रभोचराभ्यां प्रथितोऽपमर्थ ॥"

उदाहरण प्रवाहण से प्रश्न करते हैं—"एवम यथा पाञ्चभ्यामाहुताबापः पुन्यवपसो भवन्ति" (द्वान्दो० ४५० ११११) (यदि जानते हो तो बतलाओ। पानी पांचवीं आहुति में कैसे पुनः जल जाता है ?)। भुक्ति उत्तर देती है—"चान्द्रमण्डल में अट्टा नाम का पानी व्याप्त हो रहा है। "चन्द्रमा अत्यन्तरा गुणों पावते द्विवि" (यजुःसं० १४६०) क अनुसार वही अट्टासमुद्र में चन्द्रमा परिभ्रमण किया करता है। इस अक्षुप्त 'अट्टातत्त्व' का शुष्क 'आदित्याग्नि' (दिव्याग्नि) में आहुति होती है इससे 'सोम' उत्पन्न होता है। सोम की 'पञ्चन्याग्नि' में आहुति होती है इससे 'वृष्टि' (क्षुब्धपानी) उत्पन्न होती है। वृष्टि की 'पार्थिव' अग्नि में आहुति होती है, इससे 'अन्न' उत्पन्न होता है। अन्न की 'वैष्णव' पुरुष में (मानवशरीर में) व्याप्त पुनः

नाम से प्रसिद्ध वैश्वानर अग्नि में) आहुति होती है इससे रेत (छूठ) उत्पन्न होता है। रेत की गोपाग्नि (श्री के गर्भाशय में प्रतिष्ठित आग्नेय शोणित) में आहुति होती है, इसी आहुति से गुरुप उत्पन्न होता है। इस प्रकार 'गु-पञ्चन्य-पृथिवी-गुरुप-गोपा' इन पाँच अग्निषों में क्रमशः 'अद्वा-मोम-पृष्टि-अम रत' इन पाँच आहुतिद्रव्यों की आहुति होती है। इस में पाँचवीं रत-आहुति में यही अद्धारूप आप क्रमशः रेतोरूप में परिणत होकर गुरुप का आरम्भ (उत्पादन) करता है। (बो० उ० ५।३।) 'पानी पाँचवीं आहुति में जैसे गुरुप जन्म जाता है।' इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

उक्त प्रश्नोत्तर-प्रकरण से अबरोहक्रम में (ऊपर से नीचे की ओर आने में) पानी को गुरुप का उत्पादन वतसाया गया है। ऐसी अवस्था में यदि आरोहक्रम में (नीचे से ऊपर की ओर आने में) पानी का बीजात्मा के साथ गमन न माना जायगा तो अबरोहक्रम में पानी से गुरुप की उत्पत्ति मानना संभव असंभव हो जायगा। कारण स्पष्ट है। उक्त भुक्ति के जल सार गुरुपसृष्टि का उत्पादन करते करते सारा पानी यहाँ आ गया। यहाँ से आप पानी का ऊर्ध्वगमन मानते नहीं। ऐसी परिस्थिति में प्रथमा सृष्टि के अनन्तर आप गुरुपसृष्टि का मार्ग अवरोह हो जाता चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। सृष्टि-मलय प्रवाह नित्य है। इससे सिद्ध हो जाता है कि जिस प्रकार अबरोहक्रम में पानी उत्पादन करता है, एवमेव आरोहक्रम में भी पानी बीजात्मा के साथ शोकान्तर में जाता है। पानी आतक पदार्थ है। जलपत्र इस कह सकते हैं कि बीजात्मा मूलसूक्ष्मों से संपरिवृष्ट होकर ही शोकान्तर में जाता है। प्रथम सूत्र का यही संक्षिप्त अर्थ है ॥ १ ॥

२.—उक्त अर्थन के सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। पूर्व की प्रश्नोत्तर-भुक्ति से केवल पानी का ही आरोह अबरोह सिद्ध होता है। ऐसी दशा में बीजात्मा के साथ कबच अवस्था का ही गमन सिद्ध होता है। परन्तु यहाँ क्या आता है—“मूलसूक्ष्मों सह संपरिवृष्टो गच्छति” यह। यह अर्थ कैसे संभव हुआ? इस विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए स्पष्टीकरण करते हैं—

(२) “आत्मकत्वात्” ।

गुरुपदेह के आरम्भक पानी व्याप्तमक है। “तासां निवृत्तं त्रिवर्त-पर्यन्तं करवाणि” (बो० उ० ६।३।३।) इस ब्रह्मयोग-भुक्ति के अनुसार पानी त्रिवर्तमात्रापर्यन्त है। इस त्रिवर्तपर्यन्तमात्रा के कारण केवल पानी में ही सब मूर्तों का समावेश है। वैश्वानरवर्तन की पञ्चीकरण-प्रक्रिया की उपनिषदों में त्रिवर्तकरण नाम से प्रसिद्ध है। माग-मिश्र है, कक्षिप्राव स्यात्मा है। तेज-अप्-आम-इन तीनों के त्रिवर्तकरण से ‘पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश’ इन पाँच महामूर्तों का जन्म हुआ है, जैसा कि आगे के परिच्छेद से स्पष्ट हो रहा है।

१-तेज	१-तेज	सत्यम् (१)	} आकाश (१)
२-आप	२-आप	तप (२)	
३-अन्नम्	३-अन्नम्	अनत (३)	} धाम (२)
	२-आप	माह (४)	
	३-अन्नम्	स्व (५)	तेज (३)
	१-तेज	मुष (६)	अन्नम् (४)
	२-आप	मृ (७)	पृथिवी (५)
	३-अन्नम्		

एक प्रक्रिया के अनुसार अष्टाहम में तेज भी है, अन्न भी है। शुद्ध आपः रसमात्रा नाम से प्रसिद्ध गुणभूत है, यही 'तन्मात्रा' है। गुणभूत नाम से प्रसिद्ध इन तन्मात्राओं से 'अणुभूतों' का विकास हुआ है। अणुभूतों के समन्वय से 'रेणुभूतों' का विकास हुआ है। एवं रेणुभूतों के धौगिक संमिश्रण से महामूत उत्पन्न हुए हैं। महामूतों से मत्स्य (अस्मदादि प्राणी) उत्पन्न हुए हैं। प्रत्येक महामूत पञ्चीकृत है। प्रत्येक महामूत में इतर चारों भूतों का गौणरूप से समन्वय रहता है। ऐसी स्थिति में पुरुष-सत्त्वोपादानभूत आप नाम के महामूत को हम पाँचों भूतों की समष्टि मानने के लिए तय्यार है। इस प्रकार पानी के व्याप्तक होने से केवल पानी का ही आरोह अवरोह यह सूचित करता है कि, आत्मा पाँचों सूक्ष्म भूतों से युक्त होकर ही आरोहावरोहक्रम का भोका बनता है।

एक प्रश्न और उपस्थित होता है। यदि पाँचों ही भूत पुरुषशरीर के आरम्भक हैं, तो फिर 'आप पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादि रूप से केवल पानी को ही पुरुष का आरम्भक क्यों माना गया है, फिर तो 'महामूतानि पुरुषवचसो भवन्ति' यह कहना चाहिए था। इस प्रश्न का समाधान करते हुए व्यास कहते हैं—'भूयस्त्वान्'। यद्यपि वेदात्मक द्रव्य साधर्मिक (पार्थक्य भौतिक) है, तथापि पुरुष की उत्पत्ति में पानी ही प्रधान, एवं अधिक मात्रा में रहता है। शुक्र-शोणित के मिथुनभाव से पुरुष उत्पन्न हुआ है। शुक्र भी तरल पदार्थ है श्याणित भी तरल पदार्थ है। यौक्तरूप शुक्र-शोणित में यह द्वयभाग ही अधिक है। एवं—'आपो ब्रूया सिग्वा' (वे० ५० २११०) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार यह द्रवता पानी का ही घनत्व है। अरिच मोक्षशुद्ध 'सु' है आग्नेय शोणित 'अग्नि' है। एवं—'आपो दृक्त्रिरो रूपमापो सूक्ष्मत्रिरो मयम्' (गोपभक्ता पू० २१३६) इस आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार दोनों ही अप्रधान हैं।

वतपत्र अप्रधान हृद-शोणित के सम्बन्ध से कल्प पुरुष-शरीर में धन्व मूर्तों की लक्ष्य पानी ही अधिकमात्रा में प्रचलित होता है। इस प्रकार सब मूर्तों के रहने पर भी—“वैश्वानर उद्गायत्यत्र” (शा० ६० २०१२२ सू०) के अनुसार इतर मूर्तों का नाम निर्देशन कर पत्र पुरुषवत्त्वो मवन्ति यही कथ निर्या गया है—“द्वितीय सूत्र का यही संक्षिप्त अर्थ है ॥ २ ॥

१—प्रश्न होता है कि, परछोक जाते हुए आत्मा के साथ सूक्ष्ममूर्त भी रहते हैं इस में क्या प्रमाण है ? किस आधार पर यह अनुमान लगाया गया ? उत्तर देते हैं “प्राणगतेष्वनुमन्तं प्राणोऽनूत्कामन्ति, प्राणमनूत्कामन्तं सर्वं प्राणा अनुत्कामन्ति” (इ वा उप ४५/२१) इत्यादि श्रुतिवा शरीर से उत्क्रान्त जीवात्मा के साथ मुख्यप्राण, एवं इतर अनूत्कीय प्राणों की प्रकृति बतला रही है। दूसरे शब्दों में जीवात्मा के साथ प्राणों का गमन वतस्थता का रह है। प्राणवत्त्व बिना मूर्त के कभी भी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। प्राण, एवं मूर्त का परस्पर संबंध बिनाभाव सम्बन्ध है। जीवित प्राण में इन प्राणों को मूर्तों के साथ निरन्तर रहते हैं साथ ही में लक्ष्यनिराकाल में प्राणगति सुनी जाती है, फलतः प्राणगति ही मूर्तगति के अनुमान के लिए पर्याप्त कारण बन जाती है, तीसरे सूत्र का यही संक्षिप्त अर्थ है ॥ ३ ॥

४—प्राणगति के कारण मूर्तगति का अनुमान किया जाता है” यह पूर्वसूत्र से सिद्ध किया गया। इस अनुमान के सम्बन्ध में थोड़ी सी विप्रतिपत्ति है। कुछ अनुमान तभी अन्वर्थ बन सकता है, जब कि प्राण, एवं प्राणों की जीवात्मा के साथ गति सिद्ध हो जाती है। परन्तु ऐसा नहीं है। “यत्रास्य पुरुषस्य वृत्तस्याग्निं वागन्वेति वातं प्राणं चक्षुरादित्य” (३ ५११३) के अनुसार जब पुरुष मर जाता है तो इस की वागिन्द्रिय स्वप्नप्रवृत्ति में, प्रायश्चित्त वस्तु में चक्षुरादित्य वादित्य में डीन हो जाती है। इस प्रकार तत्तम प्राणों (इन्द्रियों) की स्वप्नप्रवृत्ति वस्तु वादित्यादि प्रमथवैद्यताओं में अपीति (लक्ष) सुनी जाती है। जब प्राण स्वप्नप्रवृत्ति में डीन हो जाते हैं, तो ऐसी अवस्था में जीवात्मा के साथ प्राणों का गमन सिद्ध नहीं होता। फलतः “प्राणगतेष्वनुमन्तं प्राणोऽनूत्कामन्ति” यह पूर्वोक्त अनुमान नहीं बन सकता। मूर्तगति के सम्बन्ध में कुछ विप्रतिपत्ति एवं कम के निराकरण का विगृहणन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(४) “अग्न्यादिगतिध्रुविरिति येष, मातृत्वात्” ॥

श्रुति श्रवणों में भी परस्पर गौणसम्बन्धमात्र का समावेश करने वाली व्याख्याता कुछ सूत्र का अर्थ करते हुए कहते हैं कि— यत्रास्य पुरुषस्य वृत्तस्य वागन्वेति यह अग्न्यादिश्रुति श्रुति तत्तम प्राणों की तत्तम प्रवृत्ति अग्न्यादि वैद्यताओं में अपीति बतला रही है, परन्तु इस अग्न्यादि श्रुति को आत्म (गौण) समग्रता चाहिये। “आग्नीर्होमानि, वनस्पतीन् वेदाः” (इ वा उप ३ ५११३) यह श्रुति भी लक्ष्य प्रकरण में पड़ी हुई है। इस श्रुति का तात्पर्य यही है कि

पुरुष के छोम मरने के अनन्तर ओपधियाँ में एव केरा बनस्पतियाँ में लीन हो जाते हैं। क्या पितृ कथन ठीक है ? अग्नि सम्बन्ध से प्रत्यक्ष में वृष-केरा-छोमों का ओपधि-बनस्पतियाँ में छम मानना कैसे सगत हो सकता है। दसते दसते भस्मीभूत हो जाने वाले केरा-छोमों का ओपधि-बनस्पतियों के साथ क्या सम्बन्ध। केवल भुति ने कह दिया है। जिस प्रकार यह भुति गौण है, एवमेव अग्नि-वायु-आदि देवता वाक् प्राणादि इन्द्रियप्राणों के उपकारक मात्र हैं। दोनों भुतियाँ उपकारमात्र का ही प्रतिपादन कर रही हैं। अग्न्यादिभुति गौण है, “तमुन्मत्तमन्तं प्राणोऽनुत्तममति” इत्यादि उत्तममभुति ही मुख्य है। भुति में “अनु” शब्द पड़ा है। इसका अनुवचन यही अर्थ हो सकता है। फलतः प्राण गति प्रतिपादिका भुति की मुख्यता से ही पूर्वोक्त “प्राणगतेष्व” यह अनुमान ठीक बन जाता है। पतुर्थ सूत्र का यही संक्षिप्त अर्थ है ॥ ४ ॥

५—“प्रथमसूत्राय प्रकरणे में प्रतिपादित पञ्चाभिषिष्टा में पुरुष (आदिस्वरूप) प्रथमाग्नि में भद्रा की आहुति बतलाई गई है। इसी भद्रा शब्द के आधार पर पानी को पुरुष का उपादान मान लिया गया है। भस्तुन देखा जाय, जो पानी से पुरुष की उत्पत्ति कथमपि निन्द नहीं होती। कारण स्पष्ट है। प्रथमाग्नि में आहुति देने वाले ब्रह्म को “भद्रा” कहा गया है, न कि आप (पानी)। आप शब्द प्रथमाग्निस्वम्भ में सर्वथा अनुपपन्न है। ऐसी दशा में भद्रा शब्द से अनुपपन्न पानी का ग्रहण कैसे किया जा सकता है ? जब पानी का ग्रहण अनुपपन्न है तो भूतस्त्वों का सम्बन्ध भी सर्वथा अनुपपन्न है” इसी अत्राह्वा का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(५) “प्रथमेऽभ्रवणादिति चेन्न, ता एवमुपपत्ता” ।

यद्यपि पुरुष प्रथमाग्नि के सम्बन्ध में आप शब्द सर्वथा अनुपपन्न है वहाँ आप न ब्रह्म भद्रा का ही अलक्ष्य हुआ है तथापि वहाँ के भद्रा शब्द को पानी का ही वाचक मानना न्याय संगत होता है। क्योंकि गातम का—“आप पुरुषबन्धमो भवन्ति यह प्रश्न था। उत्तरभुति ने इसी प्रश्न का समाधान किया है। उक्त प्रश्न की संगति तभी बन सकती है, जब कि उत्तर भुति के भद्रा शब्द को आप परक मान लिया जाय। अपिच भद्रा को अपपरक मानते हुए ही पञ्चाभिषिष्टा का उपसंहार करते हुए भुति ने—“इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवत्पत्तो भवन्ति” इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में यह सिद्ध कर दिया गया है कि, प्रश्न का भद्रा शब्द पानी का ही वाचक है। अपि च सामान्यदृष्टि से लौकिक व्यवहार में यद्यपि भद्रा-शब्द का भूतस्त्वविराज के साथ ही सम्बन्ध देखा जाता है। “इम आपपर भद्रा करते हैं” इमसे सेव कथ्य प्रष्ट किया जाता है, तथापि भद्रा शब्द से आप का ग्रहण भी उपपन्न माना जा सकता

है। "आपो हास्ये भट्टो संनमन्ते पुण्याय कर्मभे" — "अप प्रणयति" (रात० भा० ११।१।११) — "भट्टा का आप" (नै० भा० ३।१।११।) इत्यादि भुविवां स्वप्न ही भट्टात्त्व को 'आप' शब्द से व्यपहत कर रही है। इन्हीं सब कारणों से हम प्रकृत भट्टा शब्द से अवश्य ही 'आप' का भट्टन कर सकते हैं। पाँचवें सूत्र का यही संक्षिप्त अर्थ है ॥ ६ ॥

३—"भट्टा शब्द से पानी का ग्रहण पूर्वमूल से यद्यपि सिद्ध हो जाता है परन्तु पुनः एक महाविप्रविपत्ति इतिवचन होता है। पञ्चाभिप्रिया-प्रकरण से कबल यही सिद्ध होता है कि भट्टा नामका पानी पाँचवां आधुति में पुनरासीर का उपादान बनता है, एवं प्रतिस्तर-क्रम में वह पानी पुनः भट्टात्त्व में परिणत हो जाता है। इस प्रकार एक भुतिप्रकरण से तो केवल पानी का ही अवरोह-आग्राह सिद्ध होता है। जीवात्मा पानी का साथ छोड़कर (भूतमूलों से युक्त होकर) साकान्तर में जाता है" यह सर्वथा असुत है। अर्थात् भुति में यह कड़ी निरिच्छ नहीं है कि पानी के साथ जीवात्मा भाँ जाता है। एसी दशा में जीवात्मा की गति ही अब असुत है, ताकि "भूतमूलों से युक्त होकर जीवात्मा साकान्तर में जाता है" यह सिद्ध करने के लिए पञ्चाभिप्रिया का अन्वय करना सर्वथा व्यर्थ हो जाता है।" इस विप्रविपत्ति का निराकरण करते हुए आगे आकर सूत्रकार कहते हैं—

(६) "अभुतन्वादिति यम, इशादिकारिणां प्रतीतः" ।

अपुनत्त्व ही भट्टादि क्रम से पुनरात्म में परिणत होता है। तत्संपरिप्लव जीव गमन नहीं करत है, यही मानना ठीक है, क्योंकि आपावत् एक भुति में जीव का अग्रण मही है" कहा बिना काइ यह कह या उसका यह कहना ठीक नहीं है। इशादि कर्म करने वाले जीवों का गमनागमन इतर भविष्य से शेष प्रतीत हो रहा है। तात्पर्य यह है कि—"अथ य इमे प्राप्ते इशादौ इतिवचनप्राप्तये से प्रथमभिसमवन्ति इत रूप से प्रकृत कर विनृवातमाग से भुति जीवात्मा की—विनृवाकाशकारा आकाशकर्मसं एव मामोराजा तद्वतानामन्त उ देवाभक्त यन्ति तस्मिन् वाचन संज्ञाभुविवाः प्रेमवाध्यानं पुर्मापितन्ते यथेभम्" (भा० ३० ६६) इत्यादि रूप में प्रमाणों से गति, एवं वही से पुनराधुति बनता रही है। "अस्मिन्नेतस्मिन्मनो देवः भट्टो दृष्टि तस्या आधुत नामा राजा गमयन्ति (भा० १।१५२) इस भुति-नामान्य से प्रकृत में अग्रण ही भट्टा के साथ जीवात्मा का गमन सिद्ध हो जाता है। तात्पर्य यही है कि, अस्मिन्नेतस्मिन् कर्म का प्रमाण आधुनीवाति में नाम की आधुति देते हैं। यही सामाधुनि गृह्यमाण में परिणत होकर इस कर्मों के आभिगम गयी है। दूसरे शब्दों में भट्टा-युक्त आधुति सब भट्टा जीवों से विलिखित होकर ही साकान्तर में जाती है। प्रकृत भट्टा के साथ जीव की ही गति सिद्ध हो जाती है ॥ ६ ॥

७—जीवात्मा लोकान्तर में भूतसूक्ष्मों से युक्त होकर जाता है यह बात सिद्ध हो गयी। परन्तु लोकान्तर में जाकर यह शुभाशुभ कर्मा का फल भोगता है इस सम्बन्ध में थोड़ी सी विप्रतिपत्ति है। अथवा यों कहिए कि, कर्मफल भोगने के लिए ही वा जीवात्मा की परलोक में गति बतलाई जाती है। अब निम्न लिखित शीघ्र वचन के अनुसार जीवात्मा का फल भागना ही सिद्ध नहीं होता, वा उसकी गति मानना ही व्यर्थ हो जाता है। 'अप्यसोमो, राजा तदेवानामन्नं, तं देवा भक्षयन्ति' (छा० ६।१०।४।) इत्यादि भुक्ति सोम की देवताओं का अन्न बतलाती है। उक्त छान्दोग्य भुक्ति के साथ 'अथै चत्वर्यं प्राप्यान्नं भवन्ति, तस्मिन् देवा बधा सोमं राजानमाप्याययत्वापह्नीयस्तेष्वेमेनास्तत्र भक्षयन्ति' (बृ० आ० ६।२।१६) इमं बृहदारण्यक भुक्ति की समानता है। उक्त भुक्ति से यही सिद्ध होता है कि, जिस प्रकार सोमसत्त्व को आकाररूप किंवा परलोकस्थ देवता खाया करते हैं तथैव परलोकगत जीव भी सोमसत्त्वसत्त्व से इस देवताओं के अन्न बन जाते हैं। जब जीव स्वयं देवताओं के भोग्य हैं तो ऐसी अवस्था में वे भोक्ता (कर्मफल भोक्ता) कैसे बन सकते हैं? इस विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(७) “भाक्तं ब्रह्मात्मविश्वात्तथाहि दर्शयति” ।

उक्त बृहदारण्यक भुक्ति ने सामान्य यद्यपि इन जीवों की भी देवताओं का अन्न बतलाया है। परन्तु इन का यह अन्नत्व भाक्त (गौण) समझना चाहिए। जाने पाने की वस्तुओं को ही अन्न नहीं कहा जाता अपितु सामान्य भोगमात्र को 'अन्न' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। ब्रह्मरूप के लिए प्रजा राजा का अन्न कहा जाता है, पशु-अस्मर्यादि मनुष्य-प्रजा के अन्न माने गए हैं। इस अन्नभाव का तात्पर्य यही है कि, प्रजा पर राजा का अधिकार है। प्रजा से राजा को करतादि प्रदत्त द्वारा भुक्त मिलता है। इस पशुओं से खान उठते हैं। पशु स्वतन्त्र नहीं रह सकते। इस प्रकार प्रजा और पशुओं का अन्नत्व पारलम्भ्य स्वरूप ही है। चर्बण-निगरण्यादि-समूह अन्नत्व का यहाँ सचेया अभाव है। एवमेव परलोक गत जीवात्मा वहाँ के अधिष्ठाता प्राण-देवताओं द्वारा शासित होते हैं। एतावता ही राजा-मजावत बृहदारण्यक भुक्ति ने जीवों को इन का अन्न बतला दिया है। अपि च—“मै देवा अन्नन्ति न विषन्ति एवदेवायुर्त एद्देवा तृप्यन्ति” (छा० उप० ३।६।१) इत्यादि भुक्तिपूर्ण स्पष्ट ही देवताओं को चर्बण निगरण समूह अन्न मर्त्यादि से भी बहिर्भूत मान रही हैं। जिन्हें आत्मा का परिचय नहीं होता, पशु बना अभिमत जीव ही परलोक में जाते हैं। यहाँ इसी अनात्मभाव के कारण वही प्रकार इन्हें देवताओं का भोग्य बनना पड़ता है, जैसे कि आत्मस्वरूप न जानने वाले गौ-वृद्धादि पशु हमारे

मोग्य बने रहते हैं। जीवात्मा के इसी पारतन्त्र्य प्रवक्तक अनात्मज्ञान पशुभाव का निवृत्तार्थ ही मुक्ति कहती है—

“अथ यो न्यां दवतामुपास्तऽन्योऽमावन्योऽहमस्मीति, न स वे”।
यथा पशु, एव म देवानाम्”

—ह. अ. उ. १।१।१।

जीवनपर्यन्त कबल इष्टादि कर्मों में ही रत रहने वाला वे जीवात्मा ज्ञानसमुक्ति मुक्ति प्रवक्तक निष्कर्म कर्म से पराङ्मुख रहते हैं। इसी विमुक्त कर्म के प्रभाव से इन की आत्म-विद्या आवृत हो जाती है। एतावता ही इन्हें गौणरूप से देवभोग्य अन्न मान लिया गया है। यह सब कुछ जाने पर भी इन का मोक्षत्व भी बना रहता है। मुक्ति में स्पष्ट ही इन का मोक्षत्व देखा जाता है जैसा कि मुक्ति कहती है—

“अथ ये षष्ठ पितृणां श्रितलाफनामानन्दा, स एक कर्मदवानामा
नन्द । यं कर्मणा देवत्वमभि सखयन्त”। “स सोमलोके विभूति
मनुभूय पुनरावचते” इति ।

—ह. अ. उ. ४।१।११।

इस प्रकार अपराधोपात्त भूतसूक्ष्म एवं प्राणों से संपरिण्यक्त जीवात्मा का कर्मरहित भाव
के सिधे लोकान्तर में जाना एक ‘आरोहणकामाधिकरण’ से मसीमांति मित्र हो जाता है।

प्राचीन व्याख्याताओं ने एक अधिकरण की जिस प्रकार से कल्पानुक्ति मानी है एवं अधि-
करण के सात सूत्रों के आ आवे किए हैं, उन का संक्षेप से विगृहण कर दिया गया। अब
वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकृत अधिकरण का विचार किया जाता है। वैज्ञानिक लोग प्राचीन मत में
बोझ सा संशोधन आवश्यक समझते हैं। उन के मतानुसार एक अधिकरण की व्यापकता
भी दूसरी है, एवं सूत्रों में भी कहीं कहीं बाधा बहुत अन्तर है, जैसा कि निम्न मिलित प्र-
करण से स्पष्ट हो रहा है।

१—आरम्भ के दो अध्यायों में परमतनिराकरण (सम्बन्धित निराकरण) पूर्वक मगध
आस में वैदन्ताभिमत (जीवनिष्ठ) आत्मा का स्वल्प बतलाया है। बादरायण के मतानु-
सार भौतिक शरीर के आरम्भक ‘भूत प्राण इन्द्रियादि’ सब से विच्छिन्न विमुक्त तत्त्व-विशेष
ही आत्मा है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में “शरीर छोड़ने के अनन्तर वह आत्मा
शरीरात्मक भूतप्राणदि से वृथक होकर ही परलोक में जाता है” यही मानना पड़ा। परन्तु
ऐसा सम्भव नहीं है। क्योंकि निरपेक्ष विमुक्त आत्मा स्वस्वरूप से सर्वथा व्यापक है, एवं

व्यापक तत्त्व का शरीर से निकल कर विभुद्रूप से गमन बन नहीं सकता। उधर आत्मा की लोकान्तर में प्रतिरक्ति शास्त्र-सम्मत है। ऐसी स्थिति में क्या माना जाय ? इसी प्रश्न का निराकरण करते हुए व्यास कहते हैं—

(१)—“तदन्तरप्रतिपक्षी रहति-सपरिप्लव्त, प्रभनिरूपणाभ्याम्”।

“आत्मा शरीर से बाहिर निकल कर लोकान्तर में जाता है” यह मान लेने पर दूसरे शब्दों में आत्मा का बहिर्गमन के साथ सम्बन्ध मान लेने पर विभुद्र रूप से इस का अनुक्रमण कथमपि संभव नहीं है। अतः मानना पड़ता है कि, यह आत्मा भूतसूक्ष्मों से संपरिप्लव्त हो कर ही लोकान्तर में जाता है। “पूर्वशरीर के छूट जाने पर भी शरीरारम्भक भूत-मात्र इन्द्रियादि कितने ही पदार्थों से संश्लिष्ट होकर ही आत्मा गमन करने में समर्थ होता है”। यह बात क्या कह और प्रवाह्य के प्रश्न प्रतिपक्षन से सिद्ध है। वहाँ पर पानी को पुरुष का उपादान बतलाया गया है। यदि शुद्ध जीवात्मा ही लोकान्तर में जाय तो पुनः जन्म ग्रहण करता हुआ भी वह गुड रूप से ही पृथिवी पर आवे। ऐसी दशा में पानी का पुरुष का उपादान बतलाना सर्वथा असङ्गत हो जाय। इन्हीं सष परिस्थितियों से यह सिद्ध हो जाता है कि, आत्मा भूतसूक्ष्मों से युक्त होकर ही जाता है ॥ १ ॥

२. ३. १-६ ७ इन सूत्रों के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं है। यदि कुछ है भी तो वह विस्तारमय से कहा जाता है। वक्तव्य है—“अभ्यासिगतिभुतिरिति पञ्च-भाष्यत्वन” इस चतुर्थ सूत्र के सम्बन्ध में। “शर्प कोपेन पूर्येत”-“अशरत्तास्तम् पञ्च गन्तु तवा निन्वा प्रकुर्वते” इत्यादि वचनों की आराधना छोड़ कर विचार कीजिए। शीत वैज्ञानिक रहस्यों का निष्पक्षपात दृष्टि से अवलोकन कीजिए। आप को मानना पड़गा कि—“पुराणमिषेव न साधु सर्वम् यह वचन वास्तव में बहुत माघ समझ कर कहा गया है। उक्त सूत्रों के सम्बन्ध में आज हम एक एक व्यक्ति की समावेशना करन चलें, जो विद्वत् समाज में मूढन्व माना जाता है। हमारे इन्द्रिय में भी उम महापुरुष के प्रति कम अज्ञा नहीं है। फिर भी “आशोरपि गुणा बाष्प्या, बापा बाष्प्या गुरोरपि” इस सूक्ति का हम निरादर नहीं कर सकते। पूर्व प्रकरण में चतुर्थ सूत्र का अर्थ पठलाते हुए हम कह आये हैं कि, भगवान् शङ्कराचार्य के मतानुसार “यत्रास्य पुनः पत्य धृतरथाग्नि बागप्यति (३०. १. २१३) इत्यादि भुति उमी प्रकार गीण है, जैसा कि—“ओष धीमोमानि, वनस्पतीम् कथा” (३०. ३. २१३) इत्यादि भुति गीण अर्थ का प्रतिपादन कर रही है। अपने अभिप्राय का स्पष्टीकरण करते हुए आगे जाकर आचार्य कहते हैं—“साम और वेदों का आपधि वनस्पतियों में अप्यय नहीं देया जाता”। तात्पर्य हम कथन का यही है कि, जैसा भुति ने साम-वृक्षों का ओषधि-वनस्पतियों में अय वनमाया है वस्तु वास्तव में

यथा नदी है। क्या सोमा की इस राश के साथ साथ प्रथम में अमरा हुआ देखते हैं।
 वस जिस प्रकार सोम केरा का ओषधि बनानेवियों में अम्यय बतमाने वाली उक्त भुति गीत
 है, एवमेव "यत्रास्य पुरास्य इत्यादि अम्यादिगति भुति भी गीत अर्थ का ही प्रतिपादन
 कर रही है। ऐसी अवस्था में अम्यादि भुति का—“अग्नि वायु आदिस्थादि देवता वाक्-मात्र
 चक्षु आदि इन्द्रिय प्राणा की अभिधात्री देवता हैं वागादि की उपकारिकाएं हैं” इस उपक्रम
 भाव को सूचित करने के लिए ही “वागादि अग्नि आदि की ओर जाते हैं” यह कह दिया गया
 है। “बलुत अम्यादि में वागादि का अम्यय नहीं है” आचार्य की दृष्टि में यही अभिप्राय
 है। आचार्य के मतानुसार उक्त अम्यादि भुति, एवं ओषध्यादि भुति दोनों गीत हैं, एवं
 “तनुष्मन्तं प्राप्ताऽम्यामिति” इत्यादि उपक्रम भुति ही मुख्य है।

इस प्रकार भगवान् शङ्कर के मतानुसार व्याससूत्र में पठित “मातृत्वान्” यह का गीत
 मय है। वैज्ञानिक भुति के सम्बन्ध में उक्त अर्थ मानने में अनुयाय भी सहमत नहीं है।
 भुतियों में गीतमुक्त्यभाव मानना सबका अनुचित है। भुति का अलङ्कारशास्त्र नहीं है बल्कि
 सिध्दाकल्पनाओं का व्यामिश्रित समन्वय मान लिया जाय। अपितु भुति साक्षात्कल्पना-
 भुतियों का आपदष्टि से देखा हुआ निश्चित अर्थ है। “अमुक विषय गीत है, अमुक विषय
 मुख्य है, इसे सत्य समझो इस केवल कल्पना समझो” श्रोतशास्त्र के सम्बन्ध में ऐसी कल्पना
 करना भी अपने आपको प्रत्यक्षाधी बनाना है। अब भुति ही गीतमुक्त्यभाव का आशय स्वी-
 षो निःतर्कित अर्थ का प्रतिपादन क्यों करेगा ? अपने इसी निःसंख भाव को सूचित करने
 हुए सबके मुख्यत्वभावना को ही दृष्टमूक बनाती हुई स्वयं भुति ही एक स्थान पर रहती है—

॥ स पून विदुषा नय यो अजमालुदासति ।

य एवेदमिति श्रवत् ॥ १ ॥

सह पूण्या गममहि यो गृह्य अभिधानमिति ।

इम एवेति च श्रवत् ॥ २ ॥

— ब्रह्म १० १५-१६ ।

भुति जो कुछ कहती है, अधररा भाव है। भुति का प्रत्येक प्रतिपाद्य विषय मुख्य अर्थ
 से ही सम्बन्ध रखता है। श्रोत वचनों में गीतभाव का शून्यकल्पना का किञ्चित् भी ममा-

हे एक देवता भुति (सुन्दे निराल को) क्या जैसे निराल है निराल । जो बड़ी लगनशील है लगनशील
 है एवं जो (प्रत्येक विषय के लिए) “कह देता ही है” इस प्रकार निरालिख वचन से प्रतिपादन करता है ।

वेरा नहीं है। जिस ओषध्यादि भुक्तिवचन को राष्ट्रराचार्य गौणभाव का प्रतिपादक समझते हैं हमारी दृष्टि में वह मुख्यार्थ का ही निरूपण कर रही है।

हमारे शरीर में जितने भी रोमकूप हैं, उन सब का नास्तत्रिक प्राणों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। चान्द्रलण्डल नक्षत्रयुक्त है। अतएव चन्द्रमा को लघुपति माना गया है। जिस समय गर्भाशय में हिम्म 'कल्ल' रूप में परिणत रहता है, उसी समय मन्त्रों की निराकार प्राणात्मिका रहिमयी इसमें प्रविष्ट होकर सुपिर (चिद्र) उत्पन्न कर देती है। वही चिद्र 'रोमगर्त' किंवा 'रोमकूप' नाम से प्रसिद्ध होते हैं। जितने योग्य नक्षत्र हैं हमारे शरीर में उतने ही रोमगर्त हैं। चान्द्र सौम्य प्राणावच्छिन्न नक्षत्रों की रहिमयों से ही रोमकूपों का निर्माण होता है। इसी कार्य का स्पष्टीकरण करती हुई बाजिभुक्ति कहती है —

“एभ्यो लोमगर्तस्य ऊर्ध्वानि ज्योतीर्ध्यान्। तथानि तानि ज्योतीर्षि;
एतानि तानि नक्षत्राणि। यावन्त्यतानि नक्षत्राणि, तावन्ता लोमगर्ता।
यावन्तो लोमगर्तास्तावन्त महस्रसवत्सरस्य मृदुर्धा”।

—सूत भा १। १५३ इति।

रोमकूप नक्षत्रप्राणयुक्त चान्द्रप्राण प्रधान होते हुए सोमप्रधान हैं। “सोमो वै राजा ओषधीनाम्” (सौ. ब्रा० ३.६।१७।१) इस ओष मिडान्त के अनुसार सम्पूर्ण ओषधियों का वपादान-कारण मन्त्रप्राणावच्छिन्न चान्द्रसोम ही है। ओषधियों में सौर रस (आमेयरस) न हो वह बात तो नहीं है। परन्तु इनमें प्रधानता चान्द्रसोम की ही रहती है, अतएव ओषधियों को सोमरस ही मान लिया जाता है। सौर ऊष्मा (सौरवर्ध) गमित चान्द्रसोम ही ओषधियों का आरम्भक बनता है। ओषधियों का स्पृष्ट दृश्य भाग सौम्य है, इनके गमे में सौर अग्नि प्रविष्टित रहता है, अतएव “ओष (ऊष्ममार्ग सौराग्नि स्वर्गमे) पत” इस व्युत्पत्ति से इन्हे आपधी कहा जाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर भुक्ति कहती है —

“(प्रजापतिः) तां (आहुतिं) व्योधत् (अप्रावत्यजत्) ओषधय-
इति (भुवनं), तत आपधय समभवन्। तस्मादोषधयो नाम”।

—सूत २।१। २ इति।

इन ओषधियों की शरीराग्नि में आहुति होती है। इस से अग्नि प्रभवित्व हो जाता है। यह अग्निमित्त सोम ही सजातीय सम्बन्ध के कारण रोमकूपों से निरन्तर बाहिर निकलता रहता है। बाहर से वृक्षायु (वृक्षायु-पयवायु) का आपात होता है। इस आपात से रोमहारा पर आया हुआ सोमगुणक रुधिरमूर्ति वह अग्नि त्रम जाता है। इस प्रकार रोमकूपों से

बाहिर निष्कृत कर मनुष्या की मरुता से जमने वाला सौराष्ट्रिगमित ओपधि नाम से प्रसिद्ध चान्द्रस ही हमारी रोमावस्थियाँ हैं। ओपधिरस ही रामावस्थियाँ बनता है। वास्तव में आपधियाँ ही (मुक्त ओपधि छत्राण अग्निगमित सोमरस ही) सोमों का प्रमथस्थान है।

जिस प्रकार आपधियाँ का निर्माण चान्द्रमास से होता है एवमेव वनस्पतियों में सौर अग्नि का प्रधानता है। यहाँ साम गम में है। सामगमित सौर अग्नि ही वनस्पतियों का रूपा हान कारण है। वनस्पतियों की आकृति से शरीररूप प्रकटित रहता है। अग्नि बाहिर निकलता है मनुष्य के आपात से समकर नहीं करारूप में परिणत हो जाता है। कामों में वहाँ सौम्य प्राण की प्रधानता थी, अतः यह काम वहाँ अस्थिर, सूक्ष्म श्रुति के, वहाँ इन क्र्यों में अग्निप्रसव प्रधान है। एव ये वन हैं वहाँ में कर्षण है। कर्षण अग्नि का मस मास है, अग्नि से निवारित है। इमा निवारण याव से (अग्नि से निवारित हान से) इन्हे 'वार' किवा 'वाव' कहा जाता है। जिस प्रकार मनुष्य अपने मसमाग से पूजा करता है, एवमेव यह शरीररूप भी अपने मसमय इन क्र्यों से पूजा करता है। अतएव जिसके शरीर पर जितने अधिक कर्षण होते हैं, उस वृत्ति ही कम ठर सकता है। क्र्यों से पूजा करने वाला अग्नि शरीर से बाहिर नहीं निकलता। अतएव शीत का सामना करने के लिए जितना अग्नि बाहिर, क्र्यों से अवरुद्ध करना अग्नि शरीर में प्रतिष्ठित रह जाता है। कर्षण से विनिर्मित जिस कम्बल का लोकमाग में गरम कहा जाता है, विज्ञानदृष्टि से वह कर्षणनिर्मित कम्बल महा ठंडा है। अग्नि का वच्छिन्न है। फिर भी वो इसे गरम कहा जाता है, इसका कारण यही है कि, कम्बल के आवरण से कम्बल से पूजा करने वाला अग्नि अन्तर्मुख बन जाता है। फलतः शीत का अनुभव नहीं होता। कहना यही है कि, वनस्पतिरस क्र्यों का, एवं ओपधिरस कामों का प्रमथस्थान है।

पृथिवी के गम में प्रकटित रहने वाला अक्षमि पृथिवी का आत्मा है। सम्पूर्ण भूविण्ड इस आत्मा का शरीर है। भूविण्ड में इतना व्याप्त रहने वाली ओपधि-वनस्पतियाँ इस पावन प्रजापति के कर्षण-काम हैं। वनस्पतियाँ कर्षण हैं, ओपधियाँ सोम हैं। यही स्थिति अन्धकारमर्त्या की है। 'अग्नि-वायु इन्द्र प्रधान बंधान-तेजस-माय' की समष्टि जीवात्मा है। पञ्चभौतिक पार्थिव विण्ड इस का शरीर है। सोम ओपधियाँ हैं, कर्षण वनस्पतियाँ हैं। शरीर परित्यागान्तर से कर्षण काम अग्नि सम्बन्ध से पिराकलित होकर भूविण्ड में सबत्र व्याप्त ओपधि-वनस्पति-प्राणों में चर आते हैं। इनों का स्वप्रमथस्थानों में विद्यमान हो जाता है। पार्थिव प्रजापति के समगत्तों से आपधियाँ निकलती हैं, इन आपधियाँ से हमारा सोम बने हैं। इसी कामविज्ञान का अन्त में रहा कर बुद्धि करती है —

'प्रधाननिर्मितस्य यानि सामान्यप्रीयन्त ता इमा ओपध्याऽमवन्'

एव कथनानुसार ओषधियों में वनस्पतिप्रमख सौर अग्नि गर्भ में प्रतिष्ठित रहता है अत एव—“ओषधिवनस्पतयो वै सोमसु मिता” (तै० ब्रा० १।१०।८।अ) इत्यादिरूप से कड़ी-कड़ी लोम के साथ ओषधि वनस्पति दोनों का सम्बन्ध मान लिया जाता है। इस कह आया है कि, लोम में सोम की प्रधानता है एवं केरों में अग्नि की प्रधानता है। उपर-पवित्र ते वितर्त ब्रह्म पश्यते” (भृक् सं ६।८३।१) के अनुसार गान्धेयस्वरूप संपादक सोमवत्त्व को पवित्र माना गया है। यद्यपि केरावन लोम भी अग्नि का ही मय है। तथापि सोम की प्रधानता के कारण सोम भाग उस प्रकार दोषमकान्त नहीं बनते जैसे कि अग्निवत्प्रधान केरा आत्मा को अग्नेय्य अशुचि बना डालते हैं। शरीरगत अशुचिभाव का हृद् सम्बन्ध इन केरों के साथ ही होता है। इसी विज्ञान के आधार पर वीक्षित केवल केरा इसभु ही कटवाता है। अतएव च आरौच शुद्धि के लिए केरागुणन का ही विधान है*।

उक्त विवेचन से विश्व पाठकों को यह विदित हो गया होगा कि, केरा और लोम वास्तव में प्राणपेक्षया स्वप्रमखभूत ओषधि वनस्पति-प्राणों में ही लीन होते हैं। इस प्रकार “ओषधी लोमानि-वनस्पतीन् केरा” इत्यादि त्रिम भुति की गौणता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य इसके आधार पर अम्यादि भुति की गौणता सिद्ध कर रहे हैं वह कैसे भुतिसम्मत मानी जा सकती है। अब हमारे लिए केवल प्रश्न यह बच जाता है कि “यदि ओषध्यादिभुति गौण अर्थ का निरूपण न कर मुख्यार्थ का ही प्रतिपादन करती है तो अम्यादिभुति में पड़े हुए ‘माक्ष-त्वात्’ का क्या अर्थ है ?। उत्तर में हम यही निवेदन करेंगे कि—“तस्य वा एसस्य इत्यस्य देवमुपवाः” (ब्रा० उप १।१३।१) इस आन्वोय भुति के अनुसार इत्य में ‘अग्नि-आयु-आदित्य-विक्रमोम ये पांच प्राणदेवता नित्य प्रतिष्ठित रहते हैं। इन पाँचों मौलिक प्राण-देवताओं के आधार पर ‘मक्ति (भाग-मश-अवयव) रूप से क्रमशः आकृ-प्राण यक्षु-ओत्र मन ये पांच इन्द्रियप्राण प्रतिष्ठित रहते हैं। दूसरे शब्दों में ये इन्द्रियप्राण साक्ष सम्बन्ध से इन देवताओं के जातिष्ठ हैं। जब आत्मा शरीर से अकान्त होता है, तो पाँचों इन्द्रियप्राण भी मूलधूसों से पुच्छ रहते हुए एक पाँचों देवताओं की मक्ति (अवयव) बने हुए ही आत्मा के साथ साथ अकान्त होते हैं। “पाँचों प्राण अपने पाँचों देवताओं की मक्तियों हैं इसी मक्तिभाव का स्पष्टीकरण करती हुई—“यत्रास्य पुरुषस्याग्निं वागप्येति” इत्यादि अग्निभुति हमारे

* उपरार्थ में प्रत्यक्षर का विषय, जब का निवेद नहीं किया गया है, औषधि मत का, कल्पवृक्ष शुद्धि का कारण कहें कही है ? इस सब विषयों का विस्तृत वैज्ञानिक निवेदन अतएवविज्ञानवाचान्तर्गत अतोपपत्तिसिद्धि प्रकरण में देखा जायिए।

सामने आती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इन वागादि का अज्ञान आत्मा के साथ कार्य सम्बन्ध नहीं रहता, किन्तु वागादि का अपने प्रपञ्च में अध्यय हो जाता है। अपितु एक भुक्ति का तात्पर्य यही है कि जिन-प्रकार अज्ञान आत्मा के साथ भूतसूक्ष्मों का सम्बन्ध रहता है, भूताभिधाता इन्द्रियप्राणों का सम्बन्ध रहता है वैसे ही इन प्राणों के आधारभूत देवता भी संपरिच्छिन्न रहते हैं। 'देवता, प्राण, भूतसूक्ष्म विद्या कर्म पूषणा' आदि सारी सामग्रियों से संपरिच्छिन्न होकर ही आत्मा—एवम् । यही कारण है कि, अन्य भुक्ति ने भूत प्राणवत् एक देवताओं का भी अन्तर्मा के साथ गमन बतलाया है जैसा कि महर्षि विपश्चिन्म कहते हैं—

“विज्ञानात्मा सह सर्वेषु सर्वे, प्राणा, भूतानि, सप्रतिष्ठन्ति यत्र ।

अदृश्यं वेद्यं यन्तु सौम्यं न सर्वज्ञं सर्वमाविशम्” ॥

—अमोघनिष्कृ ११५

इस प्रकार एक प्रकार से यह समझाया सिद्ध हो जाता है कि “भूतसूक्ष्म, मुख्यप्राणानु प्रीति इन्द्रियप्राण इन्द्रियप्राणाभिधाता अग्निवाय्वादि देवता इन सब से युक्त होकर ही आत्मा लोकान्तर में जाता है” ।

पूर्व प्रतिपादित ‘आरोहोपक्रमाधिकरण’ से बतलाना हमें यही था कि, आत्माहित्य का सर्वमान्यवर्धन (वेदान्त वर्धन) आत्मा की शरीर से भिन्न तत्त्व मानता है एवं तत्पश्चात्तरि स्मृति अन्वयवर्धन—

परित्याग के अनन्तर वह इसे सूक्ष्मशरीर धारण कर कर्मरहित भोगों के लिए लोकान्तर में गमन करने वाला मानता है। इसी अवस्था में आत्मिक कइसने वाले किसी भी कार्य व्यक्ति का आत्मा की निष्ठा, उस के परमात्म गमन एवं वहाँ पर सुमाश्रय पद भोगों के सम्बन्ध में अधिकार नहीं हो सकता। लोकान्तर में जाने वाले ‘मैत्र’ संज्ञक आत्मा को महाशुद्ध द्वारा अज्ञान से दूर करना ही आदिकर्म है। अज्ञान का शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं है, अपितु आत्मा के साथ सम्बन्ध है। सुतरां आदिकर्म पर विद्या प्राप्त करने से पहिले आत्मा को शरीर से पूर्णतः मान लेना, साथ ही में उस की लोकान्तर गति में विश्वास कर लेना आवश्यक हो जाता है। इसका यह निष्कर्ष तात्पर्य है

“जीवभूता महाबाहो कथं चार्थं धार्यते जगत्” इस लक्ष्य सिद्धि के अनुसार ‘अद्वैत’ का ही अर्थ है। इस अद्वैत जीवभूत के लक्ष्य सिद्धि के लिए, भूत, प्राण, देवता आदि का भिन्न सम्बन्ध रहता है। इस विषय का विस्तृत विवेक ‘अद्वैतसिद्धिप्रणालय’ में देखा जाय।

युद्धिरोप का सम्यक् रूप से परिमार्जन करता हुआ वास्तिकों की भद्रा को दृग्मूल करने में पर्याप्त रूप से सहायक सिद्ध होगा।

“आत्मा अक्षय्य है व्यापक है। न इस की आगति है न गति है। न कभी वह जन्म लेता, न कभी मरता। जिस स्थान पर बिह्व्राह्म वीर्य (स्वच्छ शिख) पदार्थ रहता है, उसी स्थान पर प्रतिबिम्बित होकर वह चमक पड़ता है। सम्पूर्ण रोहसी त्रैलोक्य में सूर्य व्यापक है। वह सब कुछ होने पर भी सभी स्थानों में, सभी काष्ठ में वह प्रकट नहीं होता। आप पानी का पात्र रक्त वीर्य, वही प्रतिबिम्ब रूप से सूर्य प्रकट हो जायगा। पात्र तोड़ दीजिए, प्रतिबिम्बित सूर्य जहाँ का वहाँ बिछीन हो जायगा। ठीक यही स्थिति ईश्वर एवं सर्वशाम्त जीवों की समस्त। सम्पूर्ण बिह्व में परमात्मा नाम से प्रसिद्ध ईश्वरत्व समानरूप से व्याप्त हो रहा है। “तेनैवं पूज्य-मुठयेण सर्वम्”। जहाँ जहाँ उसे वीर्य महत्सोम मिलता है, प्रतिबिम्बरूप से वहाँ वहाँ वह प्रकट हो जाता है। महत्सोमावच्छिन्न इसी प्रतिबिम्बमात्र का नाम जीव है। महद्भन्द से जीवों में भद्र है। जिस प्रकार एक पात्र के टूट जाने से केवल वत्पात्रत्व प्रतिबिम्बित सूर्य का ही परज्योति में छप जाता है, अन्य प्रतिबिम्बों पर इस दशा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता एवमेव एक महत् पात्र के विच्छिन्न होने से केवल उसी सत्त्वा का छप जाता है। अन्य जीव संस्थाएँ ज्यों की त्यों सुरक्षित रहती हैं। अपि च जिस प्रकार प्रतिबिम्बित सूर्य कोई अप्रभाव नहीं है, न वह कहीं से आया है, न वह कहीं जायगा। अक्षय्य, किन्तु अक्षय्यका सामग्री के वनस्थित हो जाने पर वह उसी स्थान पर प्रकट हो जाता है, एव आधार के नष्ट हो जाने पर वही अनुप्राप्तस्था में परिणत हो जाता है। एवमेव त्रैलोक्य व्यापक आत्मा का प्रतिबिम्बभूत जीव न कहीं से आता है, न कहीं जाता है। महद् क का जाने से वह वहाँ प्रकट हो जाता है अन्यथा वही बिछीन हो जाता है—“इहैव समबलीयन्ते”। “व्यापक आत्मा का गमनागमन सर्वथा अनुपपन्न है”। क्या वह कबन, वह आत्मा की व्यापकता उस के गमना-गमन का अभाव आह्वय की मूलमिति (अहं) की कल्पित करने के लिए पर्याप्त नहीं है ? त्रय न वह कहीं जाता न कहीं से आता, तो फिर किस का जन्म ? किस का मरण ? किस का लोकान्तर में गमन ? किस का आह्वय ? सभी सत्प्रकाशकोटि में आ जाते हैं।

यदि अभ्युपगमनाह से किन्तु मुष्यदुर्जनन्याय से थोड़ी देर के लिए आत्मा का लोकांतर में गमन मान ली लिया जाता है, तब भी आह्वयकोटि का समाधान नहीं हो सकता। आह्वयगति का स्वरूप बतलाते हुए, उस समय की अवस्था का चित्रण करते हुए भगवान् व्यास ने एक स्थान पर कहा है—

प्रजतिष्ठन् पदैकन यपैकन गच्छति ।

यथा दण्डजडीकय दही कर्मगति गत ॥ — श्रीमद्भगवत्

एणबडोका (वातुर्मास्य में कपल होने वाला, प्राप्तीय भाषा में केंचुमा नाम से प्रसिद्ध जन्तुविशेष) जब आग के भाग से आगे की मृमि पकड़ करता है तब वह पिछली जमीन छोड़ता है। ठीक इसी प्रकार जीवात्मा तभी अपने पृथ्वरीर को छोड़ता है, जब कि वह अपनी स्वरूप रक्षा के लिए पहिल नवीन शरीर ग्रहण कर लेता है। तात्पर्य इस का यही है कि, पृथ्वरीर से निकलते निकलते वह नवीन शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। दूसरा शरीर इस के लिए पहिल से तैयार रहता है। पहिले का छोड़ना जाता है, दूसरे में प्रविष्ट होता जाता है। पृथ्वरीर का परित्याग उत्तर शरीर का ग्रहण दोनों काम समान काल में होते हैं। "प्रथम शरीर धारण करते ही द्वितीय शरीर धारण कर लेता है" इसका तात्पर्य यही मानना पड़ता है कि, वह जीवात्मा पूर्व धोनि को छोड़ कर अन्य धोनि में बसा जाता है। इस प्रकार एण बडोका-न्याय से धोन्त्यन्तर में गए हुए कम जीव के साथ इसके पुत्रादि का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ऐसी अवस्था में उसे आद्व द्वारा हम किसी प्रकार की सहायता पहुँचावे वह सबथा असंभव है। मान सौन्दर्य, कर्मविधान के बावजूद स किमी का आत्मा अद्व-शूकरादि किसी धोमिबिधोप में प्रविष्ट हो गया। क्या पुत्रादि द्वारा प्रवृत्त आद्वान इस पक्ष को मिटेंगा ? क्या हमारा आद्वकर्म पशुवानि में प्रविष्ट अद्ववादि पशुओं की दृष्टि का कारण बनता है ? भला एक प्रमत्त के अतिरिक्त कौन विचारशील ऐसे अवैज्ञानिक, सुक्तिबिरुद्ध आद्वकर्म पर विश्वास करेगा।

अबका हम बोधी देर के लिए यह भी मान लेते हैं कि, आत्मा शूथ्वरीर छोड़ने के अनन्तर पञ्चादि धोनिओं में न जाकर सूक्ष्म (आध्यात्मिक) शरीर धारण कर लोकान्तर में जाता है। एवं यह भी मान लेते हैं हम कोई आपत्ति नहीं समझते कि, परलोकगत आत्मा के साथ इसके बंधुपत्नी का आद्वसूत्र द्वारा सम्बन्ध बना रहता है। यह सब कुछ मान लेते पर भी आद्वकर्म वो सबथा अपरिवर्तित ही रहता है। कारण स्पष्ट है। स्वस्वरूप से व्यापक आत्मा को स्वकर्मवश परिच्छिन्न होना पड़ता है। कर्मों के वारतन्त्र से हो इस पञ्चावसर सुख दुःख का भागी बनना पड़ता है। साथ ही मैं प्रत्येक जीवात्मा अपने अपने क्षुम अक्षुम कर्मों का अपने आप उत्तरदायी है। "एक कर्म करे दूसरा हम का फल भोगे" कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से यह सर्वथा असंभव है। कर्म की इसी निवृत्त एवं वैयक्तिक व्यवस्था का अन्त्य में रख कर "देही कर्मगति गतः" यह कहा गया है। इसी आधार पर मित्र विहित सृष्टि प्रचलित है।

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परा इदस्तीति कृवुहिरेवा।
मकर्मसुप्रप्रणिता हि साधकाः ॥

अब यह बात है, तो अपने कर्मभोग से परछोक गए हुए, कर्मानुसार सुख दुःख भोगते हुए प्राणी को एक सदस्य व्यक्ति मानादि से तृप्त करने का क्या अधिकार रखता है ? यदि पुत्रादि द्वारा प्रदत्त अन्न से प्राणी तृप्त हो जाता है, तो कर्मसिद्धान्त किस भिन्न हो जाता है । यदि उसने दूरे कर्म किए होंगे, तो अवश्यमेव उसे क्षुधा पिपासा-बामीबातना-आदि अनित्य दुःख भोगने पड़ेंगे । यदि शुभ कर्म किए होंगे, तो विधि विधान उसे स्वर्ग सुखी बना देगा । फलतः एक कर्म सिद्धान्त के आधार पर भी आदिकर्म की निःसारता सिद्ध हो जाती है ।

अपिच, आदिकर्म का फल बतलाने वाले आचार्यों ने कहा है कि, जो मनुष्य विधिपूर्वक भोजन करता है, उस का बरा कमी नष्ट नहीं होता । उस की सम्पत्ति, आयु, कीर्ति, सब सुख समृद्ध रहते हैं । विसृज्य निष्काम । सर्वथा करुणामा । आदिकर्म करने वाले बोले, न कर वाले बहुत । आदिकर्म करने वाले भी निःसन्तान, दुःखी, अस्पृश्य बने जाते हैं, न करने वाले भी बहु-सन्तानपुत्र, सुखी दीर्घायु होते हैं । इस वैपरीत्य का क्या कारण ?

इस प्रकार आत्म सम्बन्धी इस आदिकर्म के सम्बन्ध में अनेक संदेह उपस्थित होते हैं । इस सब सन्देहों का मूल कारण है—आत्मा का यथावत् न जानना । यदि आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जान लिया जाता है, तो पूर्वोक्त सन्देहों का कोई मूल्य नहीं रहता । यद्यपि ब्रह्म निपदादि शास्त्रों में आत्मा का स्वरूप सर्वथा निर्णीत है, परन्तु जैसा कि हम प्राक्कथन में निवेदन कर चुके हैं वेदार्थपरिशीलन के अभाव से, साथ ही में साम्प्रदायिक मतभिन्निके से आज उन सद्ग्रन्थों का सारांश सबका विस्मृत-सा हो गया है । एक ही शास्त्र का चिन्तन करने वाले भारतीय विद्वानों ने अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ फैला रखी हैं । सब अपने अपने मतभिन्निके में पड़ कर धर्म का स्वरूप विह्वल कर देना का सबभारा करने पर तुले हुए हैं । वर्तमान युग की इसी भ्रष्ट स्वार्थमयी मनोवृत्ति का विगर्शन करते हुए महत्तमा दुःखस्वीकार ने कहा है —

हरित भूमि तृण सङ्कुल, समृद्धि परे नहीं पत्त ।

निमि पाखण्ड विवाद सैं, लुप्त भए सद ग्रन्थ ॥

—दृ ग कि पं २१ शी ।

इन्हीं सब विषय समस्याओं को आदिविज्ञान में विप्रभूत देखकर सर्वप्रथम हमने 'आत्म विज्ञानोपनिषद्' लिखना आवश्यक समझा है । आत्मस्वरूप परिज्ञान के बिना आदिसम्बन्धी एक सन्देहों का निराकरण कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है ।

व्याख्याकारों के मतभिन्निके की कृपा से आज विद्वानों ने व्यग्रमराष्ट्र से किसी अखण्ड तप का ग्रहण कर रक्खा है । उनका विश्वास है कि, आत्मा अखण्ड बनता हुआ भी

विहीमासहस्र से सत्सङ्ग विलसाई पड़ता है। इधर वैज्ञानिकों का कहना है कि, अलग-अलग को तो आत्मा रहना ही असुद्ध है। 'अर्ध' शब्द वाच्य आत्मा संभवा सत्सङ्ग है। वह भी एक नहीं दो नहीं तीन नहीं अपितु प्रतिशरीर में संख्या में १५-१५ हैं। हम 'आत्मा' नहीं हैं, अपितु 'आत्ममात्र' हैं। "पन्त्रह आत्माओं की समष्टि अर्ध पदार्थ है" यह सुनकर संभव है आत्मकर्म के कल्पना रमिक विद्वान् हमारे उक्त मिथ्य अर्थ को केवल कल्पना ही समझने लगें। परन्तु हमारा उद्दिष्ट यह है कि, बिन १५ सत्सङ्ग आत्माओं का इस प्रकार में हम विगृहीत करने जाते हैं, उनकी प्रामाणिकता में अनुमात्र भी संदेह का अवसर नहीं है। मात्र ही हमें यह भी विश्वास है कि, यदि कन्होंने आद्योपान्त इस 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' का पढ़ने का उद्दिष्ट किया तो बिरहाड से लड़ी आने वाली वैदिकद्वय एकात्मवाद की भावना (कर्म-उपासना-मात्र आदि की अपेक्षा से) संवधा क्षिप्त भिन्न हो जायगी एवं उन्हें वाच्य होकर अनेक-आत्मवादानुगृहीत एकात्मवाद पर विश्वास करना पड़ेगा।

वैज्ञानिकों ने आत्मा के १—अलग-अलग २—परस्पर-आत्मा ३—श्रोत्ररीपुण्डरात्मा ४—ब्रह्मपुण्डरात्मा ५—चिरदृष्टपुण्डरात्मा, ये पाँच प्रधान विचर्च माने हैं। इन पाँचों का ही निरूपण आगे होने वाला है। प्रकृत में केवल इनके विचर्च-भाषों का ज्ञान देना ही पदार्थ होता है। उक्त पाँचों आत्मविचर्चों में पाँचवाँ चिरदृष्टपुण्डरात्मा इधर एवं 'जीव' मेरु से हो प्रकार का है। शरीरों में प्रत्येक के १५-१५ विचर्च हैं। इन पन्त्रहों आत्माओं की समष्टि "प्राकृतमात्र" नाम से प्रसिद्ध है। पन्त्रह आत्माओं की समष्टि ही 'वृक्षचिराद्' (महाचिराद्) है एवं पन्त्रह आत्माओं की समष्टि ही 'जीवचिराद्' (सुप्रचिराद्) है। इनकी प्रतिष्ठा श्वेत-पुण्डरात्मा है। ब्रह्मात्मा की सत्ता श्रोत्ररीपुण्डरात्मा पर निर्भर है। पुण्डरीक-परस्पर-आत्मा पर प्रतिष्ठित है। सब की परमप्रतिष्ठ सत्प्रतिष्ठान्त्य 'अलग-अलग' किंवा अलग-अलग है। ब्रह्मात्मा पर प्रतिष्ठित रहने वाले, प्राकृतमात्र नाम से प्रसिद्ध पन्त्रह सत्सङ्ग-आत्मा वेद में निम्न लिखित नामों से प्रसिद्ध हैं। इनके सम्यक् परिचय से सब सन्वेद मिट जाते हैं इसी अन्तरानुगृहीत अलग-अलग-विज्ञान-ज्ञान-अनित्य फल का विगृहीत करती हुई उपनिषद्-वृत्ति करती है —

मिथ्ये हृदयग्रन्थिच्छिद्यन्त सर्वसंज्ञया ।

धीयन्त चास्य कर्माणि तस्मिन् एव परात्पर ॥

प्राकृतात्मविवर्तपरिलेख

५

५

५

स्वायम्भू १	१-अन्तर्यामी २-सूत्रात्मा ३-ब्रह्मात्मा	स्वयम्भू २	१-विज्ञानात्मा २-देवात्मा	स्वयम्भू ३	१-वायव्यात्मा २-ईशान्यात्मा	मृषिण्ड मृषाण्ड
पारमेष्ठि २	४-विश्वत्मा ५-महात्मा	पारमेष्ठि ३	१-आकृतिमहान् ४-प्रकृतिमहान् ५-अहङ्कृतिमहान्	पारमेष्ठि ४	१-वैश्वानरात्मा ४-तैजसात्मा ५-महात्मा	वैश्वानरा वैश्वानरा

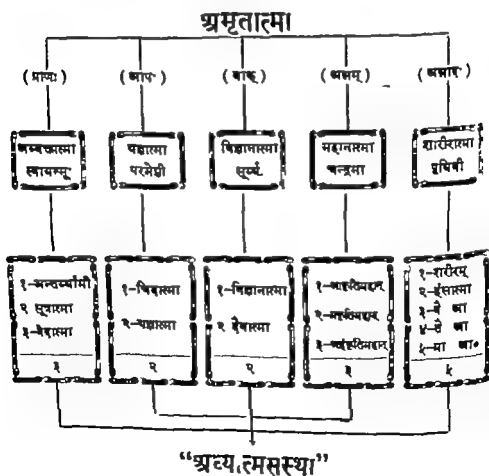
१५

ईश्वर शरीर में स्वयम्भू परमेष्ठी-सूर्य चन्द्रमा-पृथिवी ये पाँच मुख्य प्राकृतात्मा हैं। इन पाँचों का ३-२-०-३-५ यह क्रम है। १ प्राण-प्रकृतिप्रधान स्वयम्भू की १ अन्तर्यामी २ सूत्र ३ ब्रह्म, ये तीन कक्षाएँ हैं। ० अप्र-प्रकृतिप्रधान परमेष्ठी की १ चित्, २ रस, ये दो कक्षाएँ हैं। ३ वाक्-प्रकृतिप्रधान सूर्य की १ विज्ञान २ प्राणदेवता, ये दो कक्षाएँ हैं। ४ अन्न-प्रकृतिप्रधान चन्द्रमा में १ अकृति ० प्रकृति ३ अहङ्कृति मेवमिन्न महत्सोम का साम्राज्य है। एवं ५ अन्नाह-प्रकृतिप्रधान पृथिवी में १ चित्तादि, २ वायु ३ वैश्वानर ४ हिरण्यगर्भ, ५ सूर्य इन पाँच कक्षाओं की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार संमूय पाँच विवर्तों के पन्द्रह विवर्त हो जाते हैं। इधरसेत्वा की स्वयम्भू आवि पाँच प्रधान कक्षाएँ अध्यात्ममत्स्या में क्रमशः अन्नप्राणमा-यज्ञात्मा विज्ञानात्मा-महानात्मा शरीरात्मा (प्राणात्मा) इन नामों से प्रसिद्ध हैं। १-अन्तर्यामी, ०-सूत्रात्मा ३-ब्रह्मात्मा इन तीनों स्वयम्भूओं की समष्टि प्राण प्रकृतिप्रधान स्वायम्भू १ अन्नप्राणमा है। प्राकृतात्माधिकरण का यही पहिला १ अन्नप्राणमा अधिकरण है। १ विज्ञानात्मा ० यज्ञात्मा की समष्टि-अप्रप्रकृतिप्रधान पारमेष्ठि २ यज्ञात्मा है। यही दूसरा २ यज्ञात्माधिकरण है। १ विज्ञानात्मा २-देवात्मा की समष्टि वाक्प्रकृतिप्रधान मोर ३ विज्ञानात्मा है। यही तीसरा ३ विज्ञानात्माधिकरण है। १ अहङ्कृति ० प्रकृति-३ अहङ्कृति की समष्टि अन्नप्रकृतिप्रधान चन्द्र ४ महानात्मा है। यही चौथा ४ महानात्माधिकरण है। १ वायव्यात्मा-०-ईशान्यात्मा ३-वैश्वानरात्मा ४-तैजसात्मा ५-महात्मा इन पाँचों की समष्टि अन्नाहप्रकृतिप्रधान पारिष ५ शरीरात्मा है। यही पाँचवाँ ५ शरीरात्माधिकरण है।

जैसा कि तत्त्वचिकित्सकों में स्पष्ट हो जायगा। इन सब कण्डात्मामों का खाबार (इनकी अपेक्षा से अकण्ड) सोकरवाँ पोडरी पुरुष ही 'अमृतात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। क्रमशः सवेप्रथम इसी की ओर विश्व पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

आत्मवंशावली-

मूलाधारः सर्वव्यापको विश्वव्यापक पुरुषः पाडरी



अन्तर मृत्योरमृत मृत्यावमृतमाहितम् ।

मृत्युर्विवस्वन्त वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति ॥

—शत ब्रा १ (५१११)

यदस्ति किञ्चित् तदिदं प्रतीभोऽनिर्वालि क्षयस्त्यमनाधनन्तम् ।

प्रतिक्षणान्यान्य विकार-सृष्टि प्रवाहवत् द्विविरूपावम् ॥

—बीशुख संस्कृतकुम्भेदण १११

आत्मविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले निरूपणीय आत्मसत्त्व के सम्बन्ध में उपस्थित होने वाले १५ आत्मविवर्तों में से मूलाधार, सच्चिदापक, विश्वव्यापक, 'अमृत' संज्ञक पौंडरीप्रजापति

का ही सबप्रथम निर्गन्धान्तरन कराया जाता है। 'यदस्ति किञ्चित्' स्वरूपगता आत्मसत्त्व—

इत्यादि वचन के अनुसार अमृत-मृत्युसंज्ञण, स्थिति-नातिस्मरण ज्योति स्मोद्यक्षण, अनिदृक्-निदृक्संज्ञण इत्यादि दृष्टिभेद से विविध भावापन्न इस महाविज्ञ की ओर यदि हम दृष्टि डालते हैं, तो वहाँ हमें दो भावों के वर्णन करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। आप समष्टिरूप से विज्ञ की देखिए, अथवा व्यष्टिरूप से प्रत्येक पदार्थ पर भिन्न भिन्न रूप से दृष्टि डालिए, उभयथा आपको परस्परव्यन्त विरुद्ध दो भावों के वर्णन होंगे। साक्षी के लिए जोकसाक्षी, अगबहु सूर्य को सामने रख लीमिए। सूर्य ने अपनी ज्योति से त्रैलोक्य को प्रकाशित कर रक्खा है। सृष्टिविद्या के ज्ञाता वैज्ञानिक महर्षियों के मतानुसार सूर्य की उत्पत्ति पित्र की उत्पत्ति है। सूर्य की स्थिति विश्व की स्थिति है, एवं सूर्य का विनाश विश्व का विनाश है। सूर्यस्थिति-काल 'अह काल' है, यही अहरागम नाम से प्रसिद्ध है। सूर्य-विनाश-काल रात्रिकाल है, यही प्राग्यागम नाम से प्रसिद्ध है। सृष्टिलक्षण महा अह-काल ही भुविर्लो में "पुण्याह" नाम से व्यहृत हुआ है। यही 'अक्षयिन' नाम से प्रसिद्ध है। सर्व-साधारण के मतसे हुए अह (दिन) का एवं उस महाकालात्मक पुण्याह का स्वरूप समान है। अपने (मनुष्य) अह के स्वरूपज्ञान से पुण्याह का स्वरूपज्ञान गतार्थ हो जाता है। कवल काल परिमाण में वारसम्य है। अहोरात्र की (दिन रात की) पष्टि (६०) घटिका (घड़ी) मानी गई है। एवं भूदुर्लभ पटिकाद्वयम् इस सिद्धान्त के अनुसार दो घड़ी का एक मुद्रा माना

* ताराग्रज स्वयम्भूमूलासृष्टि, हवकाकन सूर्यमूलासृष्टि, पावप्रपाण पृथिवीमूलासृष्टि, मेरु के शिखरों ने सृष्टिविद्या की तीस मर्तों में निमग्न ग्राह रक्खा है। इन तीनों में हिरण्यगर्भ महर्षि के महा-सुन्दर सूर्य ही विश्व का प्रमथ-प्रतिष्ठ-परागण है। इन तीनों मर्तों का निधर निवेक 'पुण्ड्रकोपनिषद्ज्ञान-माध्य' से देख्य शक्ति है।

गया है। इस व्यवस्था से अहोरात्र के विभाग (१०) मुख्य हो जाते हैं। १५ मुख्य अह्निकाह है। १५ मुख्य रात्रिकाह है। इन में एक मुख्य का भाग प्रातःसन्ध्या में हो जाता है, एवं एक मुख्य का भाग सायं संध्या में हो जाता है। इस प्रकार दो मुख्य वाना सन्ध्या कासे म पक जाते हैं। शेष १४ मुख्य रह जाते हैं। इन में १४ मुख्य का दिन है १४ मुख्य की रात्रि है। अह्निकाह मुख्यात्मक अह्निकाह में मुख्य प्रकाशित रहता है, एवं अह्निकाहमुख्यात्मक रात्रिकाह में सूर्य हम से दृक् हो जाता है।

अह्निकाह रात्रि क्या पदार्थ है ? इस प्रश्न का उत्तर है—अह्निकाहमिति मोरसाविज्ञानि, पदार्थविज्ञानम् । दिन में सौर अग्नि की प्रधानता रहती है एवं रात्रि में पार्थिव अणुसाम का प्रधानत्व रहता है। सोम वायु पदार्थ है, अग्निवायु है। दिन में अह्निकाह अग्नि के सम्बन्ध से विशाल अन्तरिक्ष में व्याप्त सोम ब्रह्मे कहा जाता है। "सर्वं ज्योतिषा विद्यमानं सर्वम्" (मृक सं १३१.२२) के अनुसार अग्नि में अणु प्रकाशित सोम ही प्रकाश का कारण बनता है। रात्रि में वायु सौर अग्नि का अभाव रहता है, अतएव रात्रि में प्रकाश नहीं होने पाता। इस से यह भी सिद्ध हो जाता है कि अह्निकाह अग्नेय है, रात्रि सौम्या है। अह्निकाह में पितृस्थानीय सूर्य अपनी प्राणप्रधान रश्मियों से हमारे रक्त को जितनी मात्रा में आकर्षित कर लेता है, रात्रिकाह में सोम द्वारा उतना रक्तमात्रा हमें पुनः प्राप्त हो जाता है। अतएव इस रात्रि कहा जाता है। रात्रि क्या है, वायु है। सर्व साम में विद्यमानमात्र में अहोरात्र-पञ्च-मास वायुमास-अथवा-सर्वस्तर आदि शब्द काह के वाचक माने जा रहे हैं। विद्वानों का यह व्यवहार सर्वथा अपेक्षानिक है। उक्त सभी शब्द अग्नि-सोम की वचछिन्न अवस्थाओं के ही नाम हैं। अग्निवत्त्व ही अह्निकाह-मुख्यपक्ष अह्निकाह-सर्वस्तर है। सोमवत्त्व ही रात्रि-अणुसाम दक्षिणायन है। १९ घण्टे १६ दिन-१ मास १ वर्ष में अग्नि का योग होता है, अतएव अह्निकाह-पञ्चादि शब्द आगे जाकर गौणविधि से काह के वाचक बन गये हैं।

अग्नि, एवं सोम इन दोनों में अग्निवत्त्व विद्यमान रूप से उपलब्ध नहीं होता। अह्निकाह-पक्ष-पराद्वाराप्य आदि कतिपय कालों से यह नियम पुष्ट रहता है। इन से पुष्ट होकर ही यह व्यवस्था में परिणत होता है। दूसरे शब्दों में सूर्यकेन्द्र से उक्त विधितियों को लेकर चारों ओर व्याप्त होता हुआ अग्नि ही अह्निकाह में परिणत होता है। सूर्यकेन्द्र का विभाजनप्रकार अह्निकाह-मात्राप्रमाण-पराद्वाराप्यविशेष यह सौर मास अग्निवत्त्व ही पुराणमात्रा में अनु नाम से व्यवहार हुआ है। केन्द्रावस्था में ही अग्निवत्त्व 'अह्निकाह' है। महिमाशब्द में आकार नहीं 'अग्नि' कहलाने काय्य है। अह्निकाह

मय होने से यही 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है। प्राञ्चाप्यप्राण के सम्बन्ध से 'प्राण प्रवानामुद्यम स्येप सूर्य' (प्रस्तोपनिषत् १।८) 'नून जना सूर्येण प्रसृताः' (ऋक् सं० ७६०।४) 'सूर्य आत्मा सगतस्तस्युपशब्' (ऋक् सं० १।१४५।१) इत्यादि भीव सिद्धान्तों के अनुसार सम्पूर्व प्रजा का उपादान होने से बड़ी हिरण्यमय मनु 'प्रजापति' कहलाने लगता है। सौरमण्डलस्थ गुरोरजाप्राणमूर्ति पोद्दपीपुरुष नाम से प्रसिद्ध अमृतात्मा के सम्बन्ध से वही 'श्वाश्वतस्रस्र' नाम से भी प्रसिद्ध हो जाता है। इस प्रकार अवस्थाभेदमूलक दृष्टिकोणभेद से अहस्वरूप निर्माणा एक ही सौरवत्स्र अग्नि-मनु-इन्द्र-प्रजापति-प्राण शाश्वतस्रस्र आदि अनेक नाम धारण किए हुए हैं। इसी अग्निप्रधान मनुविज्ञान को कश्य में रम्यकर भगवान् मनु कहते हैं—

प्रजासितारं सर्वेषामधीयांसमजोरपि ।

स्वप्नमा स्वप्नपीगम्य त विद्यात् पुरुष परम् ॥१॥

एतमेके बदन्यग्नि मनुमन्ये प्रजापतिम् ।

इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम् ॥२॥ (मनु-१२।१०२ १२३।) ।

केन्द्रस्थ तत्त्व सूक्ष्मातिसूक्ष्म होता है, वही मनु है। अतएव इसके लिए—“अपीयां समजोरपि” यह कहा गया है। वहाँ इन्द्रियों की गति नहीं है। जिस प्रकार स्वाप्नव्रगत् में इन्द्रियज्ञान अचरुद्ध हो जाता है, केवल मन के अन्तर्गमत् का व्यापार रहता है, एवमेव वह केवल मनोगम्य है। अतएव “स्वप्नपीगम्यम्” कहा गया है। केन्द्र में लक्ष्य रूप से प्रसिद्धि होता हुआ वह प्राणमूर्ति मनु अग्नि ही अर्करूप से अहोरूप में परिणत होता है। वह मनु अग्नि, किंवा मनु-अमिरूप महा अह दृष्टिविद्या के क्रम की अपेक्षा से बीहड़ मार्गों में विभक्त है। मनुवत्स्र क यह बीहड़ अन्तर ही “मन्वन्तर” नाम से प्रसिद्ध है। हम अपने छोटे अह के जिन अष्टविंश विभागों के लिए ‘मूर्हर्ष’ शब्द प्रयुक्त करते हैं, महा अह के इन्हीं विभागों के लिए पुराण में “मन्वन्तर” शब्द प्रयुक्त हुआ है।

मन्वन्तर की उक्त व्याख्या के आधार पर ही अहः—मास—वर्ष, ये तीनों शब्द विचाली माने गये हैं। कर्ममीमांसा (पूजमीमांसा) के ६ ठे अध्याय के १३ में अधिकरण में महपि

जैमिनि ने उक्त सिद्धान्त का ही दृढ़ किया है। प्राणमन्वन्तों में सहस्रसम्बन्धस्वरूपक सत्रयज्ञ का विधान मिलता है। “स्वर्गप्राप्ति

के लिए यजमान को सहस्रवर्षात्मक सत्रयज्ञ करना चाहिए”—इस विधि में प्रन

उपस्थित होता है कि “अथायुर्वे पुरुषः” (शत० ११.१.१३) इस शील सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की आयु सौ वर्ष की मानी गई है। विज्ञानदृष्टि से यही सिद्धान्त ठीक भी है। कारण, हमारा आयुस्त्र विद्वामित्राण के आधार पर प्रतिष्ठित है। यह प्राण बृहतीप्राण नाम से प्रसिद्ध मनःप्रत्यवाहकमय सौर इन्द्र प्राण के आधार पर प्रतिष्ठित है। विष्णुब्रह्म नाम से प्रसिद्ध बृहतीप्राण पर सूर्य स्थिर रूप से प्रतिष्ठित है—“सूर्यो बृहती मधूदस्तपति” ‘बन्विशुद्धरा बृहती’ (शत० ८.१.१८) इत्यादि ज्योतिषज्ञान के आधार पर बृहतीप्राण ३६ अक्षर का माना गया है। सूर्य में ज्योतिः-गौ आयुः-नाम के तीन मनोवा माने गए हैं। ये ही तीन मनोवा ज्योतिष्टोम-गोष्टोम-आयुष्टोम-ब्रह्मों के प्रवर्तक हैं। इन्द्रप्राणायामक आयुःप्राण ज्योतिषर मेरु से ॥ भागों में विभक्त हो जाता है। आगे बाहर माहवी विद्या की हवा से प्रत्येक आयुःप्राण सहस्र-सहस्र भागों में विभक्त हो जाता है। इस प्रकार मनःप्रत्यवाहकमय (ज्ञानक्रियात्मक) आयुः प्रवर्तक विद्वामित्राणायामिन्द्र सौर इन्द्रात्मक बृहतीप्राण ३६ ०० (अतीस हजार) भागों में विभक्त हो जाता है—(वेदिक शत० प्रा० १०.१.३.प्रा०)। इस प्रतिष्ठित मनःप्रत्यवाहकमय एक एक आयुः-सूत्र का योग करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार यह योगकाण अतीस हजार दिन में समाप्त हो जाता है। इस हजार दिन की समष्टि ही १०० वर्ष है। यह आयु का साधारण मान है। ‘ब्रह्मामा’ का प्रसिद्ध मन्त्रमय १२ वर्ष की भी आयु हो जाती है—(वेदिक दे० प्रा० १.१.६)। कहना यही है कि उक्त आयुविज्ञान के अनुसार मनुष्य की आयु १००-१२०-वर्षों से अधिक नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में इनके लिए एक सहस्र (१००) वर्ष में पूरे होने वाला मंत्र पत्र का विधान कैसा किया गया ? यही विमतिपति बताते हुए यदि कहते हैं—

‘सहस्रसम्बत्सर तदायुषामसम्बान्मनुष्येषु’ (पू० मी० ६.१.१.११)

आगे आकर अन्त में—सम्बत्सरो विधातित्वात्—(पू० मी० ६.१.१.१२) अर्थात् वाऽमितसम्बत्सरात्—(पू० ६.१.१.१३) इत्यादि रूप से सम्बत्सरादि शब्दों को विधातृ माना हुआ वर्ष का अर्थ का वाचक मानते हुए उक्त भुविविधान का सम्बन्ध किया गया है।

इसका यह है कि ‘वर्ष’ कहते किसे हैं। अग्नि की एक परिक्रमा का नाम ही वर्ष किया सम्बन्ध है। किसी एक बिन्दु से चलकर अग्नि अपने उसी स्थान पर त्रितमे काल में आना व यह काल-मार्ग ही ‘वर्ष’ कहा जाता है। भूचरक अपने अक्ष पर परिक्रमा लगाता हुआ

क्रान्तिवृत्त पर चूम रहा है। स्वाद्यपरिभ्रमण से अहोरात्रसम्पादिका दैनंदिनगति का, एवं क्रान्ति परिभ्रमण से उत्तर-दक्षिणायनविभाजिका साम्बत्सरिकगति का स्वरूप निष्पन्न होता है। स्वाद्यपरिभ्रमण स इति वाली अभिपरिक्रमा २४ घण्टे में ही समाप्त होजाती है। फलतः स्वाद्य-गति से सम्बन्ध रखने वाला वर्ष पूर्ण परिमाणा के अनुसार २४ घण्टे में ही समाप्त होजाता है। इन वर्ष का मनुष्यायु के साथ सम्बन्ध है। क्योंकि मनुष्य पार्थिव प्राणी है। मनुष्य पितर-देवता, मेहने प्रजा तीन भागों में विभक्त है। मनुष्य प्रजा का पृथिवी से सम्बन्ध है, पितर प्रजा का जन्ममा से सम्बन्ध है, एवं देवप्रजा का सूर्य के साथ सम्बन्ध है। जन्ममा २७ दिन कुछ काल में अपनी एक परिक्रमा लगाता है। फलतः जन्म अहोरात्र इतने दिन में ही समाप्त माना जाता है। पार्थिव प्रजा की अपेक्षा जन्मवृत्त मासात्मक है, परन्तु जन्मप्रजा की अपेक्षा से तो यह एकमात्र एक अहोरात्र ही है। इसी प्रकार पार्थिव प्रजा की अपेक्षा से जो सम्बत्सर ३६० दिन का है, और देवताओं की अपेक्षा से वह एक अहोरात्र ही है। इसी को दिव्य अहोरात्र कहते हैं। इस विज्ञान सिद्ध परिमाणा के अनुसार वर्ष देवताओं का अहोरात्र है, हमारा अहोरात्र एक वर्ष है। वष-महः दोनों विभाकी हैं। फलतः सहस्रवर्ष का अर्थ सहस्र दिन होजाता है, एवं सत्रयुग का विधान चरितार्थ होजाता है। इसी परिमाणा के आधार पर आप को यह विरवास कर लेना चाहिए कि, पुराण में मनुष्यायु सम्बन्ध में, सब तपस्वर्योकादि के सम्बन्ध में जहाँ भी जहाँ महस्रवर्षों के शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उन सबको जहाँ परक मानते हुए ही काल की व्यवस्था करनी चाहिए *।

मन्वन्तर प्रकरण चल रहा है। सृष्टिकाल अहंकाल बतलाया गया है, साथ ही में इसमें १४ मन्वन्तरों का योग बतलाया गया है। इन १४ मन्वन्तरों में से सात मन्वन्तरों तक उद्ग्राम (बहाव) है, सात मन्वन्तरपर्यन्त निग्राम (धवार) है। जैसी स्थिति पहिले मन्वन्तर की है, ठीक वैसी ही स्थिति चौदहवें मन्वन्तर की है। इसी प्रकार ० १३, ३ १०, ४ ११, ५ १०, ६ ३, ७ ८, यह क्रम है। इसी क्रम के कारण उत्तर के सात मन्वन्तरों का 'मावर्णि' (सर्वार्थ-समानधर्मवाले) कहा जाता है। सूर्य, बिना मृत्युकेन्द्रस्य प्राणवत्त्व ही इन सब मन्वन्तरों की प्रमाणाभि है, अतः सब मन्वन्तर पुराण में 'मूर्त्ययुग' कहा जाते हैं।

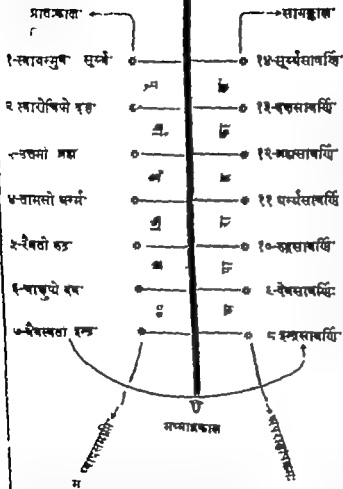
मन्वन्तरविज्ञान—

स्थिति पहिले मन्वन्तर की है, ठीक वैसी ही स्थिति चौदहवें मन्वन्तर

की है। इसी प्रकार ० १३, ३ १०, ४ ११, ५ १०, ६ ३, ७ ८, यह क्रम है। इसी क्रम के कारण उत्तर के सात मन्वन्तरों का 'मावर्णि' (सर्वार्थ-समानधर्मवाले) कहा जाता है। सूर्य, बिना मृत्युकेन्द्रस्य प्राणवत्त्व ही इन सब मन्वन्तरों की प्रमाणाभि है, अतः सब मन्वन्तर पुराण में 'मूर्त्ययुग' कहा जाते हैं।

* इन सब विषयों का विवर विवेक "पौराणिकमन्वन्तरवैज्ञान्य" नाम के निबन्ध में दस्तावेजित है।

मन्वन्तरपरिलेख—



सोऽयं ब्रह्मण्यपर्य्यायकबतुल्यमन्वन्तरसमको—
नास्यदिन—पुरयाह

वायिब्रह्मण्यपरिभ्रमण क कारण मागुण अक्षोरात्र ३४ घण्टे का होता है। वैवस्वतः
ब्रह्मण्यपरिभ्रमण की अवकाश ३२ मागुण अक्षोरात्रों का होता है। जैवर्धन १ गासेन स्पष्ट

हीरात्र पौत्र" इत्यादि वर्षों से स्पष्ट है। एवं उत्तरायण-वशिष्ठायन मेइसे हमारा एक वर्ष 'वर्षेण देवता' के अनुसार सौर देवताओं का एक दिन है। ऐसे ३० दिव्य अहोरात्रों की समष्टि देवताओं का एक मास है। ऐसे दिव्य १२ मास की समष्टि एक दिव्य वर्ष है। दूसरे शब्दों में हमारे ३६५ वर्षों का देवताओं का एक वर्ष होता है। ऐसे ४००० बार हजार दिव्य-वर्षों का सत्ययुग, ३००० तीन हजार दिव्य वर्षों का त्रेतायुग, २००० दो हजार दिव्य वर्षों का द्वापरयुग, एवं १००० एक हजार दिव्य वर्षों का कलियुग होता है। इन चारों युगों के आवृत्ति में क्रमशः ४००—३००—२००—१०० इन दिव्य वर्षों का सन्व्याकाश है एवं ४००—३००—२००—१०० ये सन्वयस्य हैं। इस प्रकार ४८०० वर्ष का मययुग, ३६०० वर्षों का त्रेतायुग, २४०० वर्षों का द्वापरयुग, एवं १००० वर्षों का कलियुग होजाता है। इन सबका संकलन किया जाता है तो १२० ० (बारह हजार) दिव्य वर्ष होजाते हैं। यही एक "देवयुग" कहलाया है। इस एक देवयुग में सूर्य की वेबसायमयी एक रश्मि का भोग होजाता है। सूर्य में ऐसी सहस्र रश्मियाँ हैं। इन्हीं रश्मियों के सम्बन्ध से सूर्य को "सहस्रांशु" सहस्रदोषिति" इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है। एकसहस्र दिव्य युगों में सूर्य का सर्वात्मना भोग होजाता है। यही सूर्य का जीवनकाल है, यही सौर अह्न काल है, यही पुराणभाषा के अनुसार ब्रह्मा का अह्नकल्प है। एवं ऐसे दिव्य सहस्रयुगों की समष्टि ही रात्रिकल्प है। दूसरे शब्दों में १००० दिव्ययुगात्मक काल ब्रह्मा का एक दिन है, एवं १ ०० दिव्ययुगात्मक काल ही ब्रह्मा की एक रात्रि है। सूर्य का नष्ट होजाना अशक्यप्रलय है। सहस्र दिव्ययुगों में सहस्रांशु की सहस्रकलाओं का जब भोग होजाता है, तो वह वही स्वप्नमय अवस्था में बिखीन होजाता है। जैसा कि सृष्टि कहती है—

यदा स दशो जागर्ति तदा वेष्टते अगत् ।

पदा स्वपिति शान्ततमा (अव्यक्तात्मा) तदा सर्वं निमोलति ॥

—मण्डः १/५१

अव्यक्तात् अव्यक्तय सर्वा प्रभवन्त्यहरामे ।

रात्र्यागमे प्रसीयन्ते सत्रैवान्वक्तसहके ॥ —मण्ड ६/१८ ।

पूर्वोक्त अह्नकल्प के १५ मन्वन्तरों में से प्रत्येक मन्वन्तर में ७१ दिव्य अतुयुगी का भोग जाता है। इस क्रम से १५ मन्वन्तरों की ६६४ अतुयुगियाँ होजाती हैं। शेष ३ अतुयुगी सम्ख्या-सम्ख्यांश में अन्तमूल भानकी जाती हैं। संकलन से पूरी १० ० अतुयुगी होजाती हैं। यही

ब्रह्म का एक कल्प है। जिसप्रकार लोकभाषा का सुदूर रात्र्य पुराण में सम्बन्तर भास स प्रसिद्ध है, एवमेव लोक-प्रसिद्ध सिद्धि रात्र्य के स्थान में पुराण में "कल्प" रात्र्य प्रयुक्त हुआ है। जिसप्रकार हमारी ३० तिथियों का एक मास होता है, एवमेव ३० कल्पों का एक ब्राह्म मास होता है। ऐसे १२ मासों का एक ब्राह्म वर्ष होता है। ऐसे १०० वर्षों का एक ब्रह्मयुग होता है। छे वर्षों में ब्रह्मा की आयु समाप्त हो जाती है। इसी ब्रह्मवत्सव को 'अव्यक्त' कहा जाता है। १०० वर्ष समाप्त होने पर बभ्रोरवर नाम से प्रसिद्ध एक विरवरवर का पुत्रप में लब्ध हो जाता है। जयमात्र को "प्रलय" (अव्यक्त नामसे प्रसिद्ध प्रकृति का लय) कहा जाता है। ध्यान एवं महाभाषाव्यक्त अव्यक्तमूर्ति पोखरी पुत्रप में पत्नी एक महत् अव्यक्तभार्या हैं। प्रत्येक धारा में 'स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-कम्बुमा-पृथिवी' ये पाँच पाँच वर्ष हैं। इसी को विज्ञानभाषा में 'पञ्चपुष्पीरा-प्राज्ञापत्यवस्था' कहा गया है। इन पाँचों में स्वयम्भू ब्रह्मा है, परमेष्ठी विष्णु है, सूर्य-कम्बुमा-पृथिवी (पृथिव्युपकृति अग्नि) की सम्प्रति त्रिनेत्र महादेव हैं। ब्रह्मा प्रायपति हैं, विष्णु देवपति हैं, महादेव भूतपति हैं। ब्रह्मा अव्यक्त हैं, विष्णु व्यक्तव्यक्त हैं, महादेव व्यक्त हैं। जिस ब्रह्म स सम (सृष्टि) होता है, उसी क्रम से प्रतिसर्ग (प्रलय) होता है। पहिले सत्त्व सृष्टिविही सूर्य का आपोमय परमेष्ठी में लय होता है। यह पहिला लय प्रलय है। क्योंकि इस में विरवरवरभूत पृथिवी कम्बु-सूर्यका ही लय होता है। इन का आयुकात्त ही विष्णु महत्पुत्रकात्त है। आगे जाकर ब्रह्मयुगसमाप्ति पर सविष्णु ब्रह्माका स्वप्रमय उसी अव्यक्त पुत्रप में लब्ध हो जाता है। ब्रह्मा अपनी बत्ता की प्रकृति है। अतएव इस लय मात्र को प्रकृति सम्बन्ध से "प्रलय" कहा जाता है। कोई समय ऐसा भी आता है, जिस में पुत्रप की सहस्र-वत्साओं का भी लय हो जाता है। उस समय पुत्रपत्यसमर्पक-पुरमात्र सम्पादक महाभाषा का कल्पन दूट जाता है। सत्त्वयुग पुत्रप महाभाषा के विरोधित होने ही स्वप्रतिष्ठा रूप 'परात्तर नाम से प्रसिद्ध अव्यक्त परमेश्वर में लीन हो जाता है। वही विरवरवर की धृति है महा निरवका लय है। इसमें महाभाषा का कल्पन दूटता है अतएव इस लयमात्र को "महाप्रलय" कहा जाता है। इसप्रकार 'महाभाषीमहेश्वर' (सत्त्वयुगपरमेश्वर), पञ्चपुष्पीरात्मकमहेश्वर (अव्यक्त ब्रह्म) 'त्रिकलपेश्वर' (सूर्य-कम्बुमा-पृथिवीरूप) इन तीन संस्थाओं के भेद से जयमात्र भी महाप्रलय, प्रलय कल्पप्रलय, भेद से तीन भागों में विभक्त है। इस तीनों में से मनुष्यसर्ग का प्रथम सम्बन्ध बभ्रोरवर के साथ है। अतएव कपरवर-बभ्रोरवर की आयु का समय तो दिव्यपुरा-ब्राह्मयुग भेद से शासकारों ने निश्चित कर दिया है। परन्तु भाषीमहेश्वर का कात्त निर्वच नहीं हुआ है। इस के सम्बन्ध में महर्षियों का—

“अचिन्त्याः खलु ये भाग्य न तात्तर्क्येण योजयेत् ।

प्रकृतिम्य पर यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ।” यही समाधान है ।

अविज्ञेय—१-सर्वाधिष्ठाता अस्त्रगडपरात्पर

दुर्बिज्ञेय—१-सहस्रवल्गवाचिष्ठ, अक्षयमूर्धिमहाभायी विश्वेश्वर-महाप्रलयाधिष्ठाता

विज्ञेय—१-यज्ञपुण्डरीकाचिष्ठ, एकवल्गेश्वरयोगभायी बलेश्वर प्रलयाधिष्ठाता

सुविज्ञेय—३-त्रिपर्वाचिष्ठ स च पू. मूर्धिमयोगभायी उपेश्वर-सहप्रलयाधिष्ठाता

२४—घन्टों का—१—मानुष आहोरात्र

१०—आहो रात्रोंका—१—मानुष मास

१०—मासों का—१—मानुष वर्ष

१००—वर्षों का—१—मानुषयुग ।

—मानुषयुग (नित्यप्रलय) जीवसंस्था

१—मानुषवर्षका—१—दिव्यदिन ।

३०—दिव्यदिनोंका—१—दिव्यमास

१२—दिव्यमासोंका—१—दिव्यवर्ष

१००—दिव्यवर्षों का—१—दिव्ययुग

१००—दिव्ययुगों का—१—महादिव्ययुग

—दिव्ययुग(सहप्रलय) उपेश्वरसंस्था

१—महादिव्ययुगका—१—ब्राह्मदिन

३०—ब्राह्मदिनोंका—१—ब्राह्ममास

१२—ब्राह्ममासों का—१—ब्राह्मवर्ष

१०—ब्राह्मवर्षों का—१—ब्राह्मयुग

—ब्राह्मयुग (प्रलय) बलेश्वरसंस्था

“सहस्रयुगों की समष्टि—१—विराटश्वरयुग]—ईश्वरयुग(महाप्रलय) महेश्वरसंस्था

अहोरात्र इमं व्यवस्था का स्थूल उपक्रम है। वस्तुतः कालगणना स्वेदायन से आरम्भ करनी चाहिए। १५ स्वेदायनों का १ क्षामगर्त है, १५ क्षामगर्तों का १ निमेष है, १५ निमेषों का १ क्षण है, १५ क्षणों का १ प्राण है १५ प्राणों का १ इक्ष्व है, १५ इक्ष्व का १ इक्ष्वानि है। १५ इक्ष्वानि का १ पर्वर्हि है। १५ पर्वर्हि का १ यतर्हिणि है। १५ यतर्हिणि का १ क्षिप्र है, १५ क्षिप्र का एक क्षिप्रानि है। १५ क्षिप्रानि का १ मुहूर्त है। ३० मुहूर्तों का १ अहोरात्र है। यह कालविभाग वार्कलि नाम के महर्षि के मतानुसार है। पुराण अमरकोष-साधारण मेघ में अम्भप्रकाश से भी इन मेघों का वयह इष्ट किया जा सकता है। इन सब विषयों का खोपपत्तिक निरूपण हमने 'मन्तर-रहस्य' नाम के निबन्ध में कर दिया है। अतः प्रकृत में अधिक विस्तार न कर प्रकरण सत्रिणी के लिए केवल वार्कलियों द्वारा काल का स्वरूप निर्धारण करा दिया जाता है।

वार्कलिश्रुति के मतानुसार कालपरिमाण

- १५—स्वेदायनों का—१—क्षामगर्त
- १५—क्षामगर्तों का—१—निमेष
- १५—निमेषों का—१—क्षण
- १५—क्षणों का—१—प्राण
- १५—प्राणों का—१—इक्ष्व
- १५—इक्ष्वानि का—१—पर्वर्हि
- १५—पर्वर्हि का—१—यतर्हि
- १५—यतर्हि का—१—क्षिप्र
- १५—क्षिप्रों का—१—मुहूर्त
- ३०—मुहूर्तों का—१—अहोरात्र

पुराण के मतानुसार

- १५—निमेषों की—१—काशा
- ३०—काशा की—१—कक्षा
- ३०—कक्षा का—१—मुहूर्त
- ३०—मुहूर्तों का—१—अहोरात्र

अमरमतानुसार

- १५—निमेषों की—१—काशा
- ३०—काशाओं की—१—कक्षा
- ३०—कक्षाओं का—१—कक्ष
- १५—कक्षों का—१—मुहूर्त
- ३०—मुहूर्तों का—१—अहोरात्र
- ३०—अहोरात्रों का—१—मास
- १५—मासों का—१—मकरसर

साधारण मतानुसार

- १५—कला की—१—पक्षी
२—पक्षियों का—१—मुहूर्त
१५—मुहूर्तों का—१—दिन
२—दिन का—१—विनयात
१५—अक्षरात्र का—१—पक्ष
२—पक्षों का—१—मास
६—मासों का—१—अयन
२—अयनों का—१—सम्बन्ध

— ० —

युगनाम		सन्धिकाल	मध्यकाल	सन्ध्यांश	संस्कृत	विषयों से युक्तान
१	संयुग	४००	४०००	४००	४०००	
२	त्रेतायुग	३००	३०००	३००	३०००	
३	द्वापारयुग	२००	२०००	२००	२०००	
४	कलियुग	१००	१०००	१००	१२००	
चतुर्गुण		— — — — —			१२०००	
त्रितयुग		— — — — —			१२००००००	
रात्रिकल्प		— — — — —			१२००००००	

- १—एकमन्वन्तर के मानुषवर्ष—३०६७२००० (तीस करोड़ सड़सठलाख बीसहजार)
 २—द्वयमन्वन्तर के मानुषवर्ष—१८४०३२०००० (एकवर्ष बीसती करोड़ बीनलाख बीसहजार)
 ३—२७ दिव्ययुगों के मानुषवर्ष—१११६४०००० (ग्यारह करोड़ छान्नठलाख बीसहजार)
 ४—सत्ययुग के मानुषवर्ष—१०,८००० (सत्रह लाख अठ्ठाईस हजार)
 ५—त्रेतायुग के मानुषवर्ष—१२६६००० (बारह लाख बिनबेई हजार)
 ६—द्वापर के मानुषवर्ष—८६४००० (आठ लाख बीसठ हजार)
 ७—कलियुग के मुक्त मानुषवर्ष—४००० (चौब हजार)

—०—

आत्रतक बीता हुआ सृष्टिकाल—१६९०८३३०००—एक वर्ष बिनबेई करोड़ आठ लाख त्रेपन हजार

—०—

- १—कलियुग के बाकी भोग्यवर्ष—४२७००० (चार लाख सचाईस हजार)
 २—७१ चौयुगियों में से बाकी बाकी
 हुई ३४ चौयुगियों के भोग्यवर्ष } —१८२०६०००० (अठारह करोड़ सचावनलाख साठहजार)
 ३—उत्तर दिन के भोग्य साठ मन्व
 स्तरों के वर्ष } —२१४७०४०००० (दो वर्ष बीसह करोड़ सत्तर लाख
 पालीस हजार)
 ४—बीसह मन्वन्तरों के अन्त में
 भोग्य सम्बिकाल } —०४६२०००० (दो करोड़ उनसठ लाख बीस हजार)

—०—

एक करण में बाकी बाचा हुआ काल—२३४६१४००००—(दो वर्ष पैंतीस करोड़ इकानबे
 लाख पालीस हजार)

—०—

पूर्व में बतला दिया गया है कि वाद्ययुग के मास में दिव्यम्यानीय ३० करण होते हैं। इन करणरूप दिवियों में से बलमान में शुक्रपक्ष के प्रतिपक्ष (पड़बा) रपानीय इवेतयराह नाम क प्रथम करण का (ब्रह्मा की आयु क प्रथम दिन का) भोग चल रहा है। इसमें से ६ मन्वन्तरों का भोग समाप्त हो गया है, मावर्षों 'वैवस्वतमन्वन्तर' चल रहा है। इसकी ७१ चौयुगियों से २० ऋणुगियों का भाग हा चुका है। अट्ठाईसवीं ऋणुगि चल रही है। इसमें से

मी सत्य-ब्रह्मा-दापर, इन तीन युगों का योग हो चुका है। कलियुग चल रहा है। कलियुग के भी ४०० (चौबे हजार बयें सातुष मान के अनुसार) समाप्त हो गए हैं। अभी ब्रह्मा के दिन के साढ़े ग्यारह (११।१) बजे हैं। इस शेष कलि के झुक्त हो जाने पर २६ बीं चतुर्भुगी का आरम्भ होगा। इस प्रकार शेष चतुर्भुगियों के योग के अनन्तर वैवस्वत मन्वन्तर समाप्त हो जायगा। अनन्तर सात मन्वन्तरों का उक्त चारा क्रम से चपमाल होगा। जिस समय पूरे चौदह मन्वन्तर समाप्त हो जाएँगे, प्रतिपत् विधिरूप बराहकल्प समाप्त हो जायगा, ७ सूर्य मष्ट हो जायगा। सर्वत्र अप्रकृतिप्रधान धोरतम व्याप्त हो जायगा। इस रात्रिकल्प में रात्रि के चौदह मन्वन्तरों का भाग होगा। अट्टाहम की परिसमाप्ति पर नीललोहित नाम की द्वितीय कल्पस्वामीया द्वितीया विधि का आरम्भ होगा। और इस प्रकार कालपुरुष की महामहनीय-महत्ता हमें सदा आत्म-युक्त बनाती हैगी।

* चतुर्धमन्वन्तरात्मक ब्रह्मकल्प का सम्बन्ध सूर्य से है। एक कल्प सूर्य की पूर्वाहुति है। कल्पान्त में चतुर्धमन्वन्तरात्मक सूर्य लगभग परमेष्ठी में लीन होजाता है। पुनः भूमिद्विरेण्णुति अवरोधन परमेष्ठी में लीन सूर्य कल्पन होता है। यह चाराक्रम परमेष्ठी के आकार पर प्रकल्पनसम्यक्त विस्तार में ही कल्पन रहता है। इस मन्वन्तरात्मक ब्रह्मकल्प, एवं ब्रह्मकल्प के लक्षितता अवरोधन परमेष्ठी है, वही निष्कर्ष है। वही धर्मिप्रधान है यस्मात् कहते हैं—

मन्वन्तरावयवसंख्यानि सर्गे संहार एव च ।

बीहन्निवैतन् कल्पत परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ (अनुः १।४ ।)

चतुर्दश 'मन्वन्तर' एव कल्पपरिलेख

१-इषठवर्षः (प्रतिपत्)	१-१६-आश्विः (प्रतिपत्)
२-दीप्तोदितः (द्वितीया)	२-१७-तथानः (द्वि०)
३-आमवेकः (तृतीया)	३-१८-आग्नेयः (तृ०)
४-मन्तराः (चतुर्थी)	४-१९-दीप्यः (च०)
५-वीरकः (पञ्चमी)	५-२०-मामयः (प०)
६-आमः (षष्ठी)	६-२१-उत्तरकः (ष०)
७-वृषः (सप्तमी)	७-२२-वैश्वः (स०)
८-अमरः (अष्टमी)	८-२३-लक्ष्मी (अ०)
९-अमः (नवमी)	९-२४-सावित्री (न०)
१०-ईशानः (दशमी)	१०-२५-अमोः (द०)
११-म्यनाः (एकादशी)	११-२६-वराहः (एक०)
१२-आरावः (द्वादशी)	१२-२७-वैरागः (द्वि०)
१३-अदयः (त्रयोदशी)	१३-२८-वीरी (त्रि०)
१४-मरुः (चतुर्दशी)	१४-२९-अदेवः (च०)
१५-वृषः (पूर्णिमा)	१-३०-निवृत्तः (अमावस्या)

शुक्रपक्ष



शुक्रपक्ष

विशान्वन्तःशिशिर्दिनाम्यथा-प्राद्यमाम

तिमिररुक्मा में १४ मन्वन्तर—अतिमन्वन्तर में दिव्ययुग

१—स्वायम्भुव	→७१	—७१
२—स्वायम्भुव	→७१	—१४२
३—उत्तम	→७१	—२१३
४—वामन	→७१	—२८४
५—वैवस्वत	→७१	—३५५
६—वायुप	→७१	—४२६
७—वैवस्वत	→७१	—४९७
८—इन्द्रसावर्धि	→७१	—५६८
९—वैवसावर्धि	→७१	—६३९
१०—उत्तरसावर्धि	→७१	—७१०
११—वर्ष्मसावर्धि	→७१	—७८१
१२—महासावर्धि	→७१	—८५२
१३—वृषसावर्धि	→७१	—९२३
१४—सूर्यसावर्धि	→७१	—९९४

सन्ध्या—→६—→१०००

पूर्वोक्त कालगुण्य का परिमाण साधारण मनुष्यों की दृष्टि में कल्प कल्पना है, परन्तु वैदिकों की दृष्टि में यह सब कुछ वैशिष्ट्य है। पाश्चात्य जगत् की धार्मिक समुन्नति का ही वास्तविक इन्तर्नि समझने वाले, पाश्चात्यविज्ञानीय स्वधर्मविशेष भारतीयों के धर्मविरोधी आन्दोलन को ही राष्ट्र समृद्धि का कारण मानने वाले वैदिक विद्वानों की गहनाद्वी से सर्वथा अपरिचित करने आरम्भ करने वाले कतिपय भारतीय सज्जन भी पूर्वोक्त युगपरिमाण को कल्पना समझने हुए सत्ययुग का स्वप्न देख रहे हैं। उनके मतानुसार शास्त्रसिद्ध—“अष्टा-दिपतितमे कतिपुगे कलिप्रथमचरणे, अष्टाणो द्वितीयप्रहराद्” इत्यादि संकल्प आश्रित मित्या हो चुका है। सुप्रसिद्ध व्योमिर्षि जयपुर राज्य निवासी (वर्तमान में इन्दौर निवासी) श्री दीनानाथजी शास्त्री ने कुछ समय पूर्व हमारे पास ‘वेदकालनिर्णय-युगपरिमाण’ नाम

की दो पुस्तकें भेजने का अनुग्रह किया था। युगपरिवर्तन में राजाजी ने न सुपर्णाविति का आधार पर वेदकाशीय पञ्चाङ्गनिर्माण पद्धति का जो विगृह्णन कराया है, उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, वोही है। वास्तव में एक विषय की खोज अपूर्व एवं विद्वानों को खड़ी बनाने वाली है। परन्तु उसी पुस्तक में—

यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथा तिप्पचन्द्रस्पतिः ।

एकराक्षौ समेष्यन्ति प्रपत्यति यदा कृतम् ॥

(महाभारत, वनपर्व १८८ अ०)

इत्यादि कतिपय प्रमाणों का रहस्यार्थ न समझने हुए मत्स्ययुग मानने का साहम कर जाता है। क्या ही उत्तम हो यदि अब भी राजाजी अपने अभिनिवेश को छोड़कर एक क्षणका संशोकन प्रकाशित कर आर्यजाति को इस मिथ्या कलह से बचावें। इसी प्रकार बाबा—रत्ननारायणजी पट्टराजी ने अपनी 'बैतावनी' नाम की पुस्तक में इसी प्रकार अनर्थक प्रस्ताप किया है। हाक ही में गणितरत्न पं० श्री हरदेवजी त्रिपेरी ब्योतिराजी (मेवाड़ी) ने "बैतावनी समीक्षा" नाम से एक अशास्त्रीय मत का गर्वित के आधार पर खण्डन करने का सुत्व प्रयास किया है। प्रकृत में इन आत्मस्वरूप का विगृह्णन कराना है, अतः यहाँ एक मत की समाशोचना का आवश्यक नहीं है। इन सब विषयों का सोपपत्तिक निरूपण करते हुए युगपरिवर्तन का सारासं समुक्ति निराकरण करते हुए मन्वन्तर का स्वरूप स्वतन्त्र रूप से निरूपित हुआ है। विरोध जिज्ञासुओं को उसी के प्रकारान की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

एक कालगणिता से यहाँ हमें कबल यही बतलाना है कि लोकमासी सूर्य की उत्पत्ति, स्थिति, मङ्ग, वीनों कात्र निमित्त हैं। जिस समय सूर्य उत्पन्न होता है वह काल पुण्याह (पवित्र दिन) का आरम्भकाल माना गया है। सातवें मन्वन्तर का संचिकाल मन्वाह माना जाता है, एवं चौदहवें मन्वन्तर का समाप्तिकाल सार्यकाल कहा जाता है। इस प्रकार प्रथम मन्वन्तर के उपक्रम के उपक्रम में जन्म लेकर, हमारे शब्दों में उचित होकर सहस्रोद्यु सूर्य चौदहवें मन्वन्तर के अन्त में अस्त हो जाता है। उद्यास्तमावापन यह सूर्य पद्यपि अरमदादि माधारख मनुष्यों की दृष्टि में सदा के लिए एकत्रय या ही दिखलाई देता है, परन्तु वास्तव में सूर्य प्रतिपद्य बल रहता है। इस सूर्यव्याप्त स प्रकृत में कबल यह वयिक भाव ही हमें मित्य करना है, जैसा कि आग के प्रकटय ने दग्ध हो जायगा।

पूरे के काव्यरूप-विग्रहों से यह मन्त्रोर्मोति सिद्ध हो जाता है कि, सूर्य किसी दिन उभरने हुआ था, आज वह बसमान है, किसी दिन न रहेगा। "किसी समय अप्रम सूर्य का

बिनारा होगा" यह निश्चिन्त है—“सुर्यो ग्रा विप्रयोगान्ता”।

अथवा यन्त्रा —

इस सम्प्रदाय में प्रान्तर अपरिचित होता है कि, क्या प्रत्यक्ष दृष्ट सूर्य

का यह महाप्रेत महसा एक क्षण में ही नष्ट हो जायगा? वैज्ञानिक उत्तर देते हैं कि, सूर्य के नारा के लिए विरकाल अपेक्षित है। प्रतिवर्ष सूर्य पुराना पड़ रहा है। इस क्षणिक विनाश की बात ही किसी युग में (बीसहत्तें सम्भवतः के अन्त में) सूर्यविनाश का कारण बनती है। यद्यपि तत्कालीन स पक्ष क्षणिक परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता, तथापि विज्ञानदृष्टि से ऐसा ही मानना पड़ता है। इस प्रकार सूर्य में प्रतिवर्ष विग्रहणों का होना सर्वथा सिद्ध हो जाता है। जो सूर्य पृथ्वी में था वदरक्षण में उनका सबका अभाव है। इस क्षणिक परिवर्तन के कारण यद्यपि सूर्य सबका विनाशी ही है, तथापि साथ साथ ही एक निम्न अपरिचरणीय भाव भी हम प्रत्यक्ष में देख रहे हैं। प्रतिदिन हम उसी सूर्य के दर्शन कर रहे हैं। सूर्य कल भी था, आज भी है, कल भी रहेगा। सूर्य प्रतिवर्ष बढ़ता है परन्तु सत्तावत्त्व कभी नहीं बढ़ता। सत्ता एक है, निम्न है। सत्तावत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित रहन वाला क्षणिकवस्तुतावत्त्व सूर्य निरन्तर बढ़ता ही रहता है। सर्वथा बढ़ते बढ़ते वाला सूर्य न बढ़ते बढ़ते सत्तावत्त्व पर प्रतिष्ठित है। यद्यपि वह बढ़ता सा नहीं दिखलाई देता। वदरकाल से अस्तमत्त पर्वत सूर्य की 'हिका प्रस्ताव भावि उन्नीभ प्रतिहार-उपत्र निधन' से सत्ता दृष्ट अचर्याप्य मानी गई है। अचर्याप्य मान है, सूर्यदृष्टि में अनन्त है परन्तु सूर्य एक है। वह एकरस वही सत्तावत्त्व की महिमा है।

इस प्रकार इस सूर्य में प्रतिवर्ष वदरतन वाला नानाभाव का भी प्रत्यक्ष कर रहे हैं। एवं भाव ही में अस्तम अपरिचरणीय वदरत्वभाव भी वदरत्व हो रहा है। समप्रकारान्तर अस्तम विग्रह एकत्र अस्तमभावों का एक ही सूर्य में कभी प्रकार सम्भव हो रहा है जैसे कि परम्पर में सबका विग्रह 'प्रथिनी जल-अभि-वासु आकाश' न पौषों मूलों का एक ही पात्र-मीनिक शरीर में सम्भव हो जाता है। इन वानों विग्रह भावों में एकत्रापम अविचारी है, शाश्वत है। अस्तमवत्त्व विचारी है अनन्त है। निर्यान्त शाश्वतशाश्वत की समष्टि सूर्य है। उन्नीभ वदर न वदरवत्त्व पर्वत एक ही प्राणी की हम अचर्याप्य होती है, जैसा कि प्रस्तावना में वदरभावा आ चुका है। एक नग्न काष्ठ में लीहरी भी वदरता में प्रविष्ट नहीं

हो सकती। परन्तु १० वर्ष परंपरा रही काष्ठव्यवस्था ऐसा जीये हा जाता है कि, पितृ वृत्त प्रयोग क जहाँ उस का स्पर्श किया जाता है, वही भाग गिर पड़ता है। इस स्थिति से मानना पड़गा कि, किसी नियत वृत्त में ही काष्ठ की यह वृत्ता नहीं हुई है, अपितु प्रविष्टण में जाने वाल परिवर्तन से ही काष्ठ उच्छ वृत्ता में परिवर्तित हुआ है। यह सब कुछ है, परन्तु काष्ठ अन्न भी है। काष्ठरूप एकत्व सर्वथा अभ्युपगम्य है। निर्वर्तन मात्र है। संसार में स्थिर चर वितने भी पदार्थ हैं, सब में समानरूप से परमाणु संघटन के वारतम्य से आप को एक परिवर्तनरहित तत्त्व मिलेगा, एवं एक अपरिवर्तनीय तत्त्व उपलब्ध होगा। इन्हीं दो भावों के कारण संसार का "द्विनियति", (दो नियत भावों का समुच्चय) कहा जाता है। 'दुर्नियति' शब्द द्विनियति का ही अपभ्रंश है। दुर्नियति को दुरङ्गी कहा जाता है।

उक्त दोनों तत्त्वों में परिवर्तित होने वाला तत्त्व 'नाम रूप-कर्म' की समष्टि है। यही वस्तु है। न बदलने वाला तत्त्व 'अस्ति' (है) है। यह 'मन प्राण-वाक्' का समुच्चित रूप है।

निरूपितविवर्त—

मनप्राणवाक्मय असुतलक्षण अस्तित्व पर नामरूपकर्ममय सत्युलक्षण पदार्थ प्रविष्टित हैं। जब तक वस्तु है, तब तक तो

उस सत्ता ने उस वस्तु को पकड़ रक्खा है, वस्तु के नष्ट हो जाने पर वही सत्तावत्त वस्तु के अभाव का अनुप्राहक बन जाता है। "देयदत्त है" इस वाक्य में भी सत्ता लक्ष्य "है" विद्यमान है, एवं 'दत्तदत्त नहीं है' इस अभाववात्मक वाक्य के अन्त में भी (नहीं है—इस के अन्त में भी) "है" विद्यमान है। "है" (अस्ति) नहीं है, यह बात नहीं है। अपितु "है—नहीं है" इस प्रकार के "अस्ति"—'नास्ति' दोनों भावभाववात्मक व्यवहारों में अस्तित्व अभ्युपगम्य है। जिस भाग "नास्ति" कहत हैं उस में भी "न—अस्ति" इस पिवक से अस्ति-भाव विद्यमान है। नामरूपकर्ममात्मक वस्तुसमुच्चय बदलता है, मनप्राणवाक्मय अस्तित्व कभी नहीं बदलता। इस प्रकार कारणभूत ईश्वर प्रजापति से उत्पन्न कायरूप इस विरल स समष्टि-व्यष्टि रूप से हमसदा पूर्णतः शान्त विरल भावों का हम शल रह है। "कारणगुणा कार्य-गुणान्तरमन्ते" यह श्याय सुमसिद्ध है। इस मन्त्रमन्त्र मिथ्यान्त के अनुसार मानना पड़ता है कि, भावद्वयगुण काय्यात्मक विरल में जब अस्ति-नास्ति लक्षण दो विरल भावों की हमें निर्भ्रान्त रूप से उपलब्धि होती है तो अचरम ही उस अष्ट कारण रूप ईश्वर प्रजापति में भी उक्त शान्त विरल भावों का समन्वय होगा। यदि जहाँ (कारण में) ये दोनों न हात, तो यहाँ (कार्य में) उन की उपलब्धि फलमपि नहीं हो सकती थी।

व ही वान्तों तत्त्व श्रुतियों में अपेक्षा से भिन्न भिन्न प्रकारों में भिन्न भिन्न नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। रस—अमृत आम्र—सत्, ज्योति—विद्या, इत्यादि नामों में नित्यतत्त्व प्रसिद्ध है। एव यत्—मृत्यु, अम्र—असत्, वीर्य—अविद्या इत्यादि नामों से अनित्य तत्त्व व्यबहृत हुआ है। पूर्व कथनानुसार वस्तुन बाका तत्त्व सर्वथा विनश्वर है। “१-नास्ति (अव्यक्त);—

अस्ति (व्यक्त), ३-नास्ति (अव्यक्त)” इन तीन श्रुतियों से नित्य आकाश है। मन्त्र का अस्ति श्रुति भी परमार्थतः वस्तुतया हुआ होने से नास्तिरूप ही है। अत एव इसे भी हम सर्वथा अस्ति ही मानन के लिए तत्पार हैं। इसी श्रुति भाव के कारण यह तत्त्व नास्तिसार है “कुछ नहीं है” के समान है। परन्तु सधर्मविलक्षण मायापटल के प्रभाव से इसरूप नित्य तत्त्व से अनुपस्थित होकर यह कुछ न होता हुआ भी सम्भूति—भाव को प्राप्त होता हुआ “सब कुछ” बन रहा है अस्तिवत् प्रतीत हो रहा है। सब पुष्टि या सम्पूर्ण शिरष में नामरूपकर्ममत्तक यह असत् तत्त्व ही आकाश सर्वत्र प्रभु बन रहा है। इस प्रकार यह तत्त्व स्व-स्वरूप से कुछ न होता हुआ भी रसानुभव से सब कुछ बन रहा है। इस के इसी स्वरूप-वस्त्व को लक्ष्य में रख कर—“अमृता मवति” “अमृता माति, प्रतीपते सर्वत्र” “अमवत् मवति” इत्यादि निर्बन्धों के अनुसार वैज्ञानिकों ने इस नास्तिसार तत्त्व को “अम्र” नाम से व्यबहृत किया है। कोक-प्रसिद्ध ‘हावू’ (हौआ) शब्द इसी अम्र शब्द का अपभ्रंश है। जोटा बालक जब वपद्रव करन लगता है, वो माता “अरे हावू आता है चुप हावा” यह कहती है। ‘हावू’ नाम का अर्थ सत्तासिद्ध पदार्थ नहीं है कुछ नहीं है, परन्तु बालक बर जाता है। इसी प्रकार कुछ नहीं शाना हुआ भी यह अम्र है। हावूतुप महाविश्व के सामन हम सब बचे हैं। इन विश्वविभीषि-काओं से जगज्जननी महामाया हम सब को बर रही है। मसा यह अम्र अस्तिक होने से ही स्व-लक्ष्य है। एक शक्ति अम्र दूसरे शक्ति अम्र का लक्षण नहीं बन सकता। “अमुक अम्र अमुक अम्र अमा है” यह बालक का अक्सर ही नहीं मिलता। क्यों कि जिस समय एक अम्र को इस अम्र अम्र का लक्षण बतकान है उसी समय वान्तों विनश्वर हो जात हैं। अतः हम उस अवरय ही ‘स्वतःपुण’ कह सकते हैं। जब यह लक्षणाधी भी नहीं तो मानना पड़ेगा कि यह कुछ नहीं है। इसी स्वलक्षण भाव के कारण हम इस ‘युन्य’ कह सकते हैं। स्थिरता में शक्ति है शान्ति में सुख है किंवा शान्ति ही सुख है। सर्वथा अस्थिर कामतुप उस अम्र में स्थितमूलक शान्ति-सुख का निगान्न अभाव है। अपि च ‘या बी भूमा तन् सुखं नास्ति सुख मन्ति’ इस औपनिषद् सिद्धान्त के अनुसार भूमा सुख है अल्पता दुःख है। शक्ति अम्र

सर्वथा शून्य होता हुआ अल्पतम है। इन्हीं सब कारणों से हम इसे “दुःखरूप” कह सकते हैं। इस प्रकार इस अर्थ तत्त्व की १ ध्वनिकता, २-स्वलक्षणता ३ शून्यता, ४-दुःखरूपता महीमाति सिद्ध हो जाती है। यह अर्थ तत्त्व विग्-वेश-काल से सर्वथा परिच्छिन्न होता हुआ ससीम है, अस्पृह्य है, समो रूप है, संख्या में अनन्त है, (इसी आनन्दस्य से अर्थरूप विरव में वैचित्र्य उपलब्ध होता है), आवरणधर्मा है, साक्षात्त है, पाप्मा है।

दूसरा है अपरिवर्तनीय नित्य तत्त्व। यह एक रूप में सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है, अतएव “आ (समन्ताद्-सर्वत्र) भवति” “आ-अभवत्” इत्यादि निर्बचनों से इस व्यापक नित्य तत्त्व को “आम्” कहा जाता है। व्यापक होने से ही यह सर्वथा निष्क्रिय अतएव शान्त है। अतएव नित्य है। नित्यता, एवं व्यापकता ही इसे पूर्ण कहने को बाध्य करती है। पूर्णता में शान्ति है। पूर्णता ही भूमाभाव है। भूमा ही मुक्त है। अतएव यह आनन्द रूप है—आनन्दमयोऽभ्यासात् (व्या० सू०)। बल क द्वारा इस का विरव में विकास होता है। दूसरे शब्दों में बल ही (अर्थ ही) इस आम् (रम) की उपलब्धि का कारण है। यह अपने विशुद्ध रूप में सर्वथा निर्बर्णक निराकार बनता हुआ अनुपलब्ध है। अत एव हम इस बल लक्षण मानने के लिए तय्यार हैं। यह आम् विग्-वेश-काल संख्या से अपरिच्छिन्न होता हुआ असीम है, अस्पृह्य है, ज्योति-ज्ञानमोति-स्मय है, संख्या में एक है (इसी एकत्व भाव से जिनों में अभिसरा की प्रतीति होती है) निरावरण है निरञ्जन है विशुद्ध है। हमने इसे एक कहा है। यह एकत्व भावप्रमक समझना चाहिए। एकत्व संख्या द्विस्वादि संख्या मापेक है। इसी की अनुपसिद्ध एकत्व कहते हैं। द्विस्वादि संख्या की अपेक्षा रखन बाध अनुपसिद्ध इस एकत्व का उस में अभाव है। अब वहाँ कोई संख्या नहीं, या समझन मात्र के लिए उस में एकत्व व्यवहार हो आता है। यह समझना भाव, किंवा भावना है। इ हा सब कारणों से हम इस भावरूप एकत्व से ही मुक्त मानने के लिए तय्यार हैं।

विशुद्ध अर्थ तत्त्व के उपासक मासिक साग अर्हो—“ध्वनिक ध्वनिक अतएव स्व-लक्षण स्वलक्षण, अतएव शून्य शून्य, अतएव दुःख दुःखम्” यह कह कर सर्वप्रथम का पुनरुक्त बतलाता है, वहाँ आम् तत्त्व के उपासक मासिक “नित्य नित्य, अतएव मल-लक्षण बललक्षण अतएव पूर्ण पूर्ण अतएव आनन्द आनन्दम्” कहन हुए मध्य का

आनन्दपत वधका रहे हैं। जीवनसत्ता वास्तव में आनन्द पर ही निर्भर है। इस वष तक जीते हैं—आनन्द स, एवं आनन्द की आशाप्रतीक्षा से जी जीते हैं। जिस दिन आनन्द की मात्रा एका न्तव निरोध हो जाती है, तत्काल जीवनसत्ता समाप्त हो जाती है। इसी सर्वोत्तमभूत लोक-सिद्ध अर्थ का सटीकरण करती हुई उपनिषद्भुति कहती है—

आनन्दाद्वयैव सन्निमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन—

जातानि जीवन्ति, आनन्द प्रयन्त्यमिसविद्वन्ति” (ते०उप० ३। ६।)।

उक्त अर्थ—आमू विवर्धन से कहना यही है कि इन दोनों विरुद्ध तरफों की सम्मिष्ट ही विरुद्धभावद्वयापन्न विरव का मूल है। विरव में प्रतीयमान कार्यरूप चक्षिकभाव का मूलकारण विरवातीत अर्थ है, एवं कार्यरूप स प्रतीयमान निरवभाव का मूल विरवातीत आमू है। सौक्यिक दृष्टि से समझने के लिए हम न्न दोनों को द्रष्टा एवं दृश्य कह सकते हैं। विरवविषया को आप इन्हीं दो भागों में विभक्त कर दक्षिण, विरवातीत आमू और अर्थ क इस विरव में ही (द्रष्टा एवं दृश्यरूप में) साक्षात् दर्शन हो जायेगे। दृश्य अर्थ है। आप इसे निरन्तर वस्तुता हुआ देखेंगे। एवं द्रष्टा आमू है इसे सर्वथा एक रस देखेंगे। वहाहरण के लिए वर्ण्य (काच आहता) का दृष्टान्त समझिये। एक स्थान पर काच सबंधा स्थिर रूप से रक्ता हुआ है। उस पर मार्ग में आत आत मनुष्य पशु पक्षी आदि दृष्टों का प्रतिबिम्ब पड़ता रहता है। दृश्य वस्तु रह है, द्रष्टा काच सबंधा स्थिर है। मध नए दृश्यों को लेता जाता है जोड़ता जाता है। इसी प्रकार शरीरावच्छिन्न शरीराकाशागमित दृश्याकाशास्य वधाकाशा स प्रतिष्ठित ज्ञानभ्योतिर्धन हमारा आत्मा द्रष्टा है। इस इन्द्रियों द्वारा जिन विषयों को देखा करते हैं वे सब दृश्य हैं। अर्ह-भाव एक है दृश्य माना है। इस प्रकार द्रष्टा दृश्य के विरव स आप सर्वत्र इसी विरव में आमू अर्थ का साक्षात्कार कर सकते हैं। इसी रहस्य का प्रतिपादन करते हुए रहस्यवत्ता वैज्ञानिक कहते हैं—

यदस्ति किञ्चित्तिदिम प्रतीमाऽविषात्ति-शश्वत्स्यमनाद्यनन्तम् ।

प्रतिक्षणान्यान्य विकार-सृष्टि प्रवाहवत् तद्विचित्रमात्मम् ॥ १ ॥

विरुद्धभावद्वयसंनिवेशान् समाम्यते विश्वमिदं प्रिमूलम् ।

आम्बु-स्रवस्त इमे च मूले द्रष्टास नृश्य त मत् तदन्वम् ॥ २ ॥

यद् ब्रह्म तन्महानमिति प्रसिद्धं ज्ञाने प्रतीतो विषयस्तु कर्म ।

ज्ञान प्रकाशोऽस्त्यविधातिमायस्तत्रान्यदन्यद् भवदस्ति कर्म ॥ ३ ॥

दिग्देवकालैरमितं तु यद् तन्महान हि सद् ब्रह्म तदाम विधात ।

दिग्देवकालैः प्रमितं त्वसद्वत् सतकर्म तद् दृश्यमिदं तदम्बम् ॥ ४ ॥

(श्रीगुरुप्रणीतसंशयसतुञ्जोद्बोधाय, सविदानन्दलख)

आमू तत्त्व एक है, अथवा अनेकता विभक्त है। दोनों ही अभिप्राय हैं, निस्त्वसम्बद्ध हैं। इन दोनों तत्त्वों की अनुगुणावस्था का नाम “निर्गुणब्रह्म” है, एवं यही दोनों अंशरूप से किसी कारणविरोध की प्रेरणा से अनुगुणावस्था में आकर “सगुणब्रह्म” नाम धारण कर लेते हैं। योगमायावच्छिन्न अस्मत्वादि मायिक जीवों का उपास्य एकमात्र यही सगुणब्रह्म है। निर्गुणब्रह्म विरवातीय होने से व्यापक होता हुआ अवाक्यमनसगोचर है। शब्दातीत होने से शास्त्रान्तर्निष्ठ होता हुआ एकान्तव अनुपास्य है। प्रत्येक शब्द की “परिकल्पित्यदार्धतान् पण्डेदकावच्छिन्न” में ही शक्ति रहती है। पद शब्द की पदत्वावच्छेदकावच्छिन्न में शक्ति है। वह पदत्व पद शब्द की पदादि इतर पदार्थों से व्यावृत्ति (पृथक्करण-बाँट) करवाता है। उस व्यापक ब्रह्म में सब कुछ प्रतिष्ठित है, वह सब में अनुत्स्यूत है, अतः एक उसकी किसी शब्द से किसी में से व्यावृत्ति नहीं कराई जा सकती। अतः एक अवच्छेदकावच्छिन्न में शक्त शब्द-आकृति उस का निरूपण करने में सर्वथा असमर्थ हो जाता है। विरव की उत्पत्ति-स्थिति-मग्न, तीनों ब्रह्मलक्षणा ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र- (पुराण सवालुसार मन्त्र) मेरुमिता देवत्रयी पर ही निर्भर है। तीनों क्रमशः विरव के उत्पादक-पालक-संहारक हैं। इन तीनों में इन्द्र ज्ञानप्रधान हैं, विष्णु अर्थप्रधान हैं, ब्रह्मा क्रियाप्रधान हैं। सत्व-रज-स्वमोमेरुमिता प्रकृतिरूपा महा शक्ति के आश्रय में ही क्रियारक्षिप्रधान ब्रह्मा अर्थरक्षिप्रधान विष्णु, आश्रयरक्षिप्रधान इन्द्र, किंवा मन्त्रोत्पत्ति-स्थिति-मग्न के कारण बनते हैं। ज्ञान इस व्यापक ब्रह्म का वास्तविक रूप है। इस का विकास विरव में इन्द्र रूप से ही होता है। अतएव इस के लिए “इन्द्रो वै देवा नामोत्तिष्ठो वसिष्ठः, भेष्टो ज्येष्ठः” (श्वेतीतक ॥ १० ॥ १५ ॥) यह कहा गया है। अतः एक ब्रह्मादि इतर देवता धनता हैं, एवं इन्द्रापरपञ्चोपक ज्ञानप्रद तत्त्व “महादेव” हैं—“ज्ञानमिच्छे न्महेश्वरात्”। ब्रह्मा विष्णु क्रमशः किंवा एवं अर्थमूर्ति हैं। दोनों का विकास कार्य-विरव में ही होता है। विरवजीत अवस्था में केवल ज्ञानशक्ति का ही विकास है। इसी रहस्य को ज्ञान

म गम्यत इत्थं कृत्वापनिपत्तुं मे वततायो गया है कि “अथ इन्द्र उत यद्य क सामने गए तो यद्य अन्तर्हित (गायत्र) हांगया’ (श्विण कृत्वाप १।२४।)। इस का तात्पर्य यही है कि, पूर्व कथमानुसार इन्द्र ज्ञानराशिपन्न है उभय वस्तुमूर्ति अथ ज्ञानपन्न है। दोनों अभिन्न हैं। क्रियाप्रधान तथा अर्थप्रधान बिष्णु ज्ञानप्रधान इन्द्र (महादेव), इन तीनों में स प्रमा बिष्णु की ता बड़ा गति नहीं है परन्तु ज्ञानमूर्ति इन्द्र वहाँ अक्षरय ही पहुँच जात है। दूसरे शब्दों में वह शम्भोतल ज्ञाना हुआ भी व्याप्तापरपर्यायक ज्ञानगम्य अक्षरय है। “तद्विज्ञानं परिपश्यन्ति धीराः’ क अनुसार इन्द्ररूप विज्ञान (बुद्धि) में अक्षरय ही तन्मय करण के द्वारा वहाँ गति हो जाती है। परन्तु अर्थप्रधान कर्मकारक एवं क्रियाप्रधान उपामनाकारक, दोनों मांग वहाँ अवश्य हैं। इसी श्रुतिनिहित रहस्य को कथ्य में गम्य कर व्यापार्य कहत हैं—

स विदन्ति न य वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः।

यथा वाचो निवचन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥ (तै० उ २।४।)

अनि ने बिष्णु, एवं विधि (प्रमा) स उस की अविज्येयता वतता है, बिष्णु-विधि स नित्य सम्बद्ध इन्द्र स नहीं। कारण इस का यही है कि ज्ञानमूर्ति इन्द्र (विज्ञानात्मा) वहाँ पहुँच सकता है। वनजाना यही है कि, विज्ञानीक वह व्यापक तत्त्व शम्भो शान्ति की दृष्टि से सर्वथा अविज्ञव, एवं अनिवचनीय है।

सुप्रसिद्ध माधवक के कारण आभू-अभात्मक व्यापक अथ क विश्वासीत-विश्वपर विषय स तीन रूप हो जात हैं। वही अक्षतरव आपन यतकिञ्चित् प्रवेश से (अक्षरानुप्राणीत कर

अथ वा प्रोक्तं प्रिक्तम्— सागम) विश्व बना हुआ है। अत एव—‘आत्मवेद सर्वम्’

‘यतदात्म्यमिदं सप्तम्’ अथैवेद सर्वम्’ प्रजापतिस्त्ववेद

सब यदिद किञ्च ‘एक वा इदं वि यभूव सर्वम्’ ‘पुरुष एवेद सर्वम्’ इत्यादि श्रौत वचन करितार्थ हो गये हैं। उन्ही दृष्टि का सत्कर ‘ब्रह्म ही विद्यत है’ इस कथन में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। आपन एकांश स सम्पूर्ण अणु का निर्माणा कर, दूसरे शब्दों में एक पाद से विश्वरूप स परिपूर्ण होकर ‘तत् सृष्ट्वा तदवानुप्राविशत्’ के अनुसार वह ब्रह्म अंतरात्मा स आपन सृष्टरूप तम किञ्च में प्रविष्ट होकर विश्व का आत्मा बना हुआ है। विश्व उस का शरीर है प्रविष्ट भोग विषय शरीर का आत्मा है। इसी प्रविष्ट रूप को व्यापार मान कर—

‘आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्’ ‘नवद्वारे पुर देही’ ‘सर्वस्य प्रभुमीशानम्’ ‘यो विश्वं भुवनमाविशेत्’ ‘तेनेद (विश्व) पूर्णं पुरुषेण सर्वम्’ ‘विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम्’ ‘विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्’ इत्यादि श्रौत यजनों का सम्मेलन हो रहा है। इसी दृष्टि को ध्यान में रख कर—‘ब्रह्म विश्व में प्रविष्ट है’ इस कथन में भी कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। वही आत्मा (अत्यन्त-बिस्व) है, वही उत्पन्न होने वाला है, वही गर्भ में प्रविष्ट रहनेवाला आत्मा है। इसी विश्व-बिस्वधर, दोनों आत्मविधर्ता का समष्टि रूप में निरूपण करते हुए महर्षि स्वताम्बतर कहते हैं—

एषो ह दध प्रविशोऽनु सर्वा पूर्णो ह जात स उ गर्भ अन्त ।
स एव जात न अनिपमानः प्रस्पृजनांस्तिष्ठति सर्वतामुखः ॥

ब्रह्म का यही दूसरा रूप विश्वेश्वर विश्वाध्यक्ष-विश्वात्मा-जगदीश्वर, आपि विविध नामों से प्रसिद्ध हुआ है। जो भाग बिस्व एवं बिस्वधर से दृक् विशुद्ध वक्क जाता है, वही तीसरा सवध्यापक भाव विज्ञातीव नाम से प्रसिद्ध है। यही ब्रह्म का त्रिधात्रिक रूप है। न यह जन्म लेता न इस की मृत्यु होती। न यह किमी का आत्मा (बिस्वधर) बनता, न किसी का शरीर (बिस्व) बनता। इसी तीसरे बिस्वातीव बिधर्त को तत्त्व में रख कर श्रुति कहते हैं—

न तस्य कार्यं करण च विद्यते न तत् समश्चात्म्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव भूयते स्वामाविक्री ज्ञानबलक्रिया च ॥ १ ॥

—श्वे० उप० ६।८।

न सद्यश्च तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्च नैनम् ।
हृदा हृदिस्थ मनसा य एनमथ विदुरमृतास्त भवन्ति ॥ २ ॥

—श्वे० उप० ४।१।

नैनमूर्ध्वं तिर्य्यच न मध्ये परिस्रगमत् ।

न तस्य प्रतिमा अगति यस्य नाम महद्यश्च ॥ ३ ॥

—श्वे० उप० ४।१६।

इसी बिस्वातीव दृष्टि में ‘न ब्रह्म विश्व बनता, न विश्वात्मा बनता यह समग्रपञ्च फेदल भाषिक है’ इस कथन में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। ये ही तीनों विधर्ता ‘प्रवि-

चिह्नब्रह्म-प्रतिष्ठब्रह्म-सृष्टब्रह्म इन नामों से भी व्यवहृत किए जासकत हैं। इन में प्रविष्टि (विरवातीत) एवं प्रविष्ट (विरवचर), यं हो विवर्त तो अमृतप्रधान हैं। तीसरा सृष्टरूप (विरव) मृत्युप्रधान है। दूसरे शब्दों में वक्त दोनों रूप आभूप्रधान (रसप्रधान) हैं, तीसरा रूप अमृत-प्रधान (वक्तप्रधान) है। कुछ भी कहिए, तीनों ही रूपों में आभू-अम्बात्मक रस-वक्त का ही साम्राज्य मानना पड़गा। अतएव भुवि की 'ब्रह्मैवम् सर्वम्, इस कथन में बरा भी संकोच नहीं होता। ब्रह्म क आभू-अमृत लक्षण रस वक्त नाम के दो रूप हैं' यह सुन कर 'ब्रह्मैवेद सर्व-एकमेवाद्वितीय ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन' इस अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले अद्वैतमर्त्यों को विराह बतलाने का अवसर मिल जाता है। हम उन्हें बता देना चाहते हैं कि रस-वक्त, इन दो भावों के मान लान पर जो अद्वैत सिद्धान्त पर किसी प्रकार की आपत्ति नहीं आती।

सञ्जातीय-विजातीय-स्वगत, इन तीनों में से का निराकरण करने के लिये जति में 'एक एव द्वितीयम्' ये तीन पर प्रयुक्त हुए हैं। इन में अद्वितीय पर विजातीयमेव का, एक पर सञ्जातीयमेव का, एवं एव पर स्वगतमेव का निराकरण कर रहा है। आन का ब्रह्म केसे के ब्रह्म से भिन्न है यह दोनों का विजातीय मेव है। एक आन का ब्रह्म दूसरे आनब्रह्म से भिन्न है यह दोनों का सञ्जातीयमेव है। एक ही आनब्रह्म में आनफल आनमञ्जरी, आन-पत्र शाखा मूलान्धम्, आदि अनेक अवयव हैं। सभी अवयव परस्पर में भिन्न होते हुए एक आनब्रह्म क आश्रित हैं। यही मेव तीसरा स्वगतमेव है, अपने आप में रहने वाला मेव है। मनुष्य-पशु का मेव विजातीय है, मनुष्य मनुष्य का मेव सञ्जातीय है, हस्त-पाद-मस्तक-हृद-हृद-आदि अवयव मेव स्वगतमेव है। हमारा ब्रह्मवत्त्व वक्त तीनों में से एक है। ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरा भिन्न स्वरूप वाला ब्रह्म नहीं है, इत्यपि ब्रह्म विजातीय मेवमृत्यु है। 'सर्वत्र इस अद्वितीय का साम्राज्य है'। हम ब्रह्म के जैसा कोई अन्य ब्रह्म नहीं है, अतएव यह सञ्जातीयमेव शून्य है। 'सर्वत्र इस अद्वितीय एक का साम्राज्य है'। सब ही में आनब्रह्मादि की तरह इस में अवयव मेव भी नहीं है, नीचे-ऊपर-बाग-पीछे-सामने-सब ओर बरी एक है, अतः यह स्वगतमेव से भी कहिये। इस प्रकार 'अद्वैतमृत्यु एव अद्वितीय एक ही (एकमेवाद्वितीय) ब्रह्म का साम्राज्य है'। ऐसी परिस्थिति में अद्वैतवादियों की ओर

म प्रश्न उपस्थित होता है कि “ब्रह्म क रस-बल, य वा विचरते मान करने पर सञ्जानीय-विज्ञानीय भेद को तो अवसर नहीं मिलता, परन्तु स्वगतभेद बना रह जाता है। तुम्हारे कमनानुसार स्वगतभेद उत्पन्न करने वाला रस-बलात्मक कलाभेद रह जाता है। फलतः विद्युत् अद्भुतवाद सुरक्षित नहीं रहने पाता”। प्रश्न यथार्थ है। अवश्य ही हम दो कला मानते हैं। फिर भी उक्त प्रश्न का हमारी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। हम दो कला मानते हुए भी उन दोनों की प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष दो सत्ता स्वीकार नहीं करते। मानना दूसरी बात है सत्ता स्वीकार करना दूसरी बात है। जिसे आप मानना कहते हैं, वह मानने से भी सम्बन्ध रखता है एवं सत्ता न भी मानने का सम्बन्ध है। सर्वसाधारण ने आकार को नीला मान रखा है, क्योंकि उस का रसी रूप स मान हो रहा है। परन्तु कोई भी वैज्ञानिक आकार के नीले वर्ण की सत्ता स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। भावात्मक एकत्व को छोड़ कर २-३-४-५ आदि सब संख्याएँ कबल मानती हुई हैं। सत्ता केवल एक ही संख्या की है। जिसे आप २-३-४-५ कहते हैं, सब २ ३ ४ ५ इस क्रम से एक संख्या का ही प्रमुख है। “अयमेक-अयमक” की मन्त्रि ही तो दो ही है। विज्ञानदृष्टि से उत्तर दिशा ऊँचा स्थान है, दक्षिण दिशा अबाधी (नीचा स्थान) है। परन्तु साधारण मनुष्य अपने मस्तक के ऊपर के भाग को ऊँचा मानते हैं, पैरों के नीचे के स्थान को नीचा कहते हैं। इसी प्रकार पृथक्त्व-संयोग विभाग-परस्व-अपरस्व पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण, आदि सहस्रों पदार्थ (जो कि अहोरात्र हमारे व्यवहार में आते हैं, जिन के न मानने से लौकिक-व्यवहारों का एकान्त उच्छेद हो जाता है) ऐसे हैं, जिन का आप, हम, सभी कबल मानते ही मानते हैं किन्तु उन की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करते। यही परिस्थिति रस-बल की भाँति के सम्बन्ध में समझिए। द्वैत व्यवहार का मूलकारण सत्ताभेद है, न कि भातिभेद। भातिभेद तो प्रतीत होता हुआ भी द्वैत परमार्थ द्वैत नहीं माना जाता। पुरोऽवस्थित एक घट का आप का मान हो रहा है साथ ही मैं जिस मिट्टी से घट बना है, उसे भी आप देख रहे हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष दृष्टि इन दो भातिभावों को दृश्यतः हुए भी भातिद्वैत से घट के लिए—“यह घड़ा है, और मिट्टी है” ऐसा द्वैतव्यवहार नहीं करते। कारण? मान वास्तव में दो हैं परन्तु “वाचा रम्भण विकारो नामधेय मृत्तिकामेव सत्यम्” के अनुसार सत्ता एक है। मिट्टी की सत्ता स ही घट सत्ताबाध न रहता है। ठीक इसी प्रकार उस ब्रह्म तत्त्व में भी रस-बल भेद से भाति दा है, सत्ता एक है। अवश्य स्वगतभेद का अवसर नहीं मिलता। यदि इस सम्भावना में आप का

सम्तोष नहीं होता ना हम आप से पूछते हैं कि— 'आप ज्ञान की सविज्ञानता में कोई सम्बन्ध नहीं करते। 'मृता मृत्ना-आनन्द'—यही तीन कलाएँ आप भी मानते हैं। रस-बस, इस वातावरणों के कारण इस पक्ष में आ स्वगतमेव प्रयुक्त होय आप बतलाते हैं, वह होय आप के भी समान है। जिस अभिज्ञा अतिशयोक्ति सत्ता को आगे कर आप स्वगतमेव बताते हैं, वही सत्तात्मक अद्वैत हमारे रस-बलात्मक अद्वैतवाद का भी समर्थक बन रहा है।

उपयुक्त रसबलात्मक संबंध्यापक यही विशिष्टातीतमय अस्तुष्टमय नाम से प्रसिद्ध है। यह ज्ञानमात्र सांपादिक अहंभाव से सर्वथा वृत्त है। यह सब में समान है। चेतन-अचेतन-विरव विस्वात्मा विरव के बाहिर मन्त्र समानरूप से व्याप्त है। मायोपाधिशून्य, अवयव—सर्वव्यापक परात्पर, प्रविष्टि, विस्वासीत, निर्धर्मिक, निरञ्जन, अद्वय, अस्तुष्ट, असीम आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध, पूर्ण कवनानुसार शास्त्रानपिहित, बाह्यमनसप्रावीत इस अविज्ञेय अनिर्वचनीय विज्ञातव्य ज्ञातव्य का इस आत्मप्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मप्रकरण में ही क्या वह तो समा शास्त्रीय कर्मों से एकान्वय बहिर्भूत है। हमारे आचार, व्यवहार पुण्य-पाप, अम-मरण स्वर्ग-नरक, मंस्कार आदि किसी से भी उस का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। जमी त्विति में जो महानुभाव 'आत्मा तो व्यापक है अस्तुष्ट है। उस की गति—आगति कैसी ? गति नहीं तो भाव कैसा ?' ऐसे ऐसे कुतर्कों के द्वारा भाव की शक्ति-नभ्यता पर, उस की शास्त्रीयता पर आक्षेप करने का साहस करते हैं, उन्हें पूर्ण प्रतिपादित अस्तुष्ट ज्ञान का वास्तविक स्वरूप समझने हुए आज से अपना भ्रम छोड़ देना चाहिए। उन्हें यह विचार कर लेना चाहिए कि अस्तुष्ट आत्मा को हम शास्त्रों में प्रतिपादित आत्मा कहने के लिए तय्यार नहीं हैं। शास्त्रीय आत्मा कोई वृत्त ही अस्तुष्ट आत्मा है। वह भी एक नहीं, अनेक हैं।

पूर्व में हमने अमृतात्मा के प्रविष्टि प्रविष्ट मेव से ही रूप बतलाए हैं। इन दोनों में से बहिर्भूत प्रविष्टि ज्ञान की चर्चा हम छोड़ते हैं। उस के विषय में केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि—'सर्वप्रतिष्ठित रसप्रधान सर्वव्यापक एक तत्त्वविशेष ही प्रविष्टि प्रह्म है वह शास्त्रानपिहित है। व्यापक होने से अनुपास्य है। गतिभूत होने से अम-मरण रहित होता हुआ आहमम्यादा से बहिर्भूत है'। दूसरा है प्रविष्टि ज्ञान नामक अमृतात्मा।

इस प्रकरण के शीर्षक में जिन इमने अमृतात्मा कहा है, जिन के प्रतिपादन की प्रकरणात्मक में प्रतिपत्ति की गई है, वह यही प्रविष्टिग्रह है। याज्ञ शब्दों में इसी का दिग्दर्शन कराते हुए इस प्रकरण का समाप्त किया जाता है।

रम-बलात्मक जिस अक्षय्य ब्रह्म का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है उस के रम भाग को इमने संख्या से (मायात्मिका एकत्र संख्या से) एक बतलाया है, साथ ही में उसे विग-वरा-काक्ष से अनन्त कहा है। दूसरे बलतरक का संख्या से अनन्त, रसस्वस्वस्वस्व की अन्तर्विभक्ति-एवं दिग्दर्शकाल से सावि-सान्ध कहा है। दिग्दर्शकालावधिमान अन्वय यह अनन्त बल सृष्टिविक्रम के पूर्व जिन महावलों में अन्तःप्रविष्ट रहते हैं, एवं सृष्टि काल में जिनमें स अनन्त बल उद्भूत होते रहते हैं, आचार रूप उन महावलों को शास्त्र में— 'कोसुमल' नाम से व्यवहृत किया गया है। व कोराबल संख्या में कुछ १६ हैं। इन सोलह बलकोशों में इतर सारे अनन्त बल समाए हुए हैं। इन सब बलकोशों का विराट् निरूपण 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' के प्रथम खण्ड में निरूपित हुआ है। प्रकरणमगति के श्लोक वहां के नाम मात्र उद्धृत कर दिए जाते हैं। इन सोलहों में एक बलकोरा विद्यात्मक है, शेष १५ बलकोरा अविद्यात्मक हैं। विद्यात्मक बलकोरा मुक्ति का अधिष्ठाता है शेष सृष्टि के प्रवर्तक हैं। वे बलकोरा १-विद्या, २-माया, ३-जाया, ४-धारा, ५-आप ६-हृदय, ७-भूति, ८-यष्ट, ९-स्रष्ट १०-सत्य, ११ यष्ट १२-अम्ब, १३-माह, १४-वय १५-वयोनाथ, १६-वयुन, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। विद्याबल उस का स्वामाधिक बल है, वह इन्द्रप्रतिबिम्बोत्पत्ति का कारण बनता है। शेष पञ्चहों आगन्तुक हैं। इन्द्रप्रतिबिम्ब प्रवृत्ति पूर्वक ये ही सृष्टि के प्रवर्तक हैं। इन में प्रधानता मायाबल की ही है। अपरिमित को परिमित बना कर उसे सकेन्द्र बनाते हुए, उस ब्रह्मनाया शून्यतरक में ब्रह्मनाया उत्पन्न कर बना माया बल का मुख्य कर्म है। विरचमर्प्यादा से सर्वथा शुद्ध रहने वाला, स्व-स्वरूप में सर्वथा निरञ्जन वह उत्पन्न अपने ही प्रत्यक्ष स कैसे साञ्जन विरच बन गया, ? इस आरम्भमूलक प्रश्न का उत्तर एवमात्र इसी मायास्वरूपविज्ञान पर अवलम्बित है। सम्पूर्ण संसार माया की ब्रिदा (कोल) मात्र है। हाँ, एक बात पर विशेष ध्यान रहिये। माया नामरूपकर्ममयी बन कर ही बिम्ब में व्याप्त होती है। रमबलात्मक मत्प्रब्रह्म की अश्रुभूता बलात्मिका नामरूपमयी माया भी अचरम ही मय्य है। जमी अवस्था में नामरूपात्मक मत्प्रविश का मिथ्या कहना—

अम-यमप्रतिष्ठन्त अगदोद्गुरनीध्वरम्" (गीता १५।८)

भगवान् के उक्त शब्दों में गुणरूप से अनीध्वर्याह का प्रचार करना है। जब कि—
 “नामरूप सत्त्वम्” (शत० ब्रा १४।४।४।३) इत्यादि भूतियों साध ही मायिक विरह पर
 सत्य बनता रही है तो पत्नी वशा में इस अमरम मानना प्राविद्यात्माप्रद है। यह बात सब है
 कि, मायिक विरह का यथार्थ ज्ञान हमें नहीं होता। अनन्तब्रह्म की तरह उस में मिथ्यमन्त्रदा
 बहमहाभावा भी अनन्तब्रह्म ही है। आभावा वम अनन्तब्रह्म की अनन्तता हटा कर उस
 विश्वमाह्वस में आका उम सीतामय बना बालता है—(साकवत्पत्नीलाकेवद्वपम्—म्या० सु)
 उस के यथार्थस्वरूप का यह सुख गीत जान जाय यह अममम है। माता के प्रसन्न-प्रतिष्ठा-
 लय का स्वरूप पुर जान मज्जा है क्या?, अमममम। माना कि वह बलवत्ता है, बलप्रधाना
 है। परन्तु बल असत् है। मद्भिरव मं हम उमी का आधान्य वप्य रह है, दूसरे शब्दों में विरह
 का सद्भाव उमी पर निर्भर है। पत्नी अहम्भा में उस असत् कबोकर माना जा सकता है।
 साथ ही में बल के विद्यमान अमम स्वरूप का भी सा विराहित नहीं किया जा सकता। कलत्र
 वत् सत् भी नहीं कहा जा सकता। मन्-यमत् का पारस्परिक विराह अम ‘मदमती’ न करने
 के लिए भी वाध्य कर रहा है। पत्नी स्थिति में—

न सती सा नासती सा नोमपास्मा विराधत ।

काचिद्विलक्षणं माया वस्तुप्रकृतिरिष्यत” ॥ यह अमिषुष्यति माया के

यथार्थ स्वरूपज्ञान के सम्बन्ध में हमारी मज्जा इन्द्रियों का द्वार बंद कर बंदी है। बात मज्जा है।
 यह माया ही क्या हुई जिस का स्वरूप माया के ब्रह्म में एक हुए हम जान जाय। हम उस के
 यथार्थ स्वरूप को जानने में असमर्थ हैं एतावता ही क्या हमें मिथ्या ब्रह्म का अद्वय्य अपराध
 करना उचित है? कहाँ नहीं। अमन् मायिक जगत् मिथ्या है अथवा सत्य? इन मज्जा प्रश्नों
 का विराह विरचन ईश्वोपनिषद्भाष्य में हा चुका है। अमन् प्रकृत में माया के सम्बन्ध में
 कबल पही ममम बना पत्नीम होगा कि माया एक पत्नी बल है आ रसकलात्मक अमीम ब्रह्म
 को (आशिकरूप में) सतीम बना बालता है। परात्पर ब्रह्म अमीम का व्यापक था, अतएव
 इदमममम का अतएव मन् शून्य था अतएव न कामना रहित था। कामनाएँ मन से प्राप्त
 होती हैं यह निरिक्त मिथ्यान्त है। “इत्यतिष्ठ पद्भिर अविष्ट तन्मे मनः शिबसफ्यम

स्तु" इस पञ्च-श्रुति के अनुसार मन का आधार इन्द्रिय है। इन्द्रियवाचक में इन्द्रियमान (केन्द्र) का सर्वथा अभाव है। अतएव मन का, अतएवच कामना का अभाव सिद्ध हो जाता है। अग्नि च, अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए ही कामना हुआ करती है। उपर व्यापक परात्पर में कोई वस्तु अप्राप्त नहीं है। सब कुछ इस के ऊपर में प्रतिष्ठित है, सब में वह है, सब वही है। फिर इस आत्मकाम, अतएव आप्तकाम, अतएवच निष्काम में कामना कैसी। बिना कामना के सृष्टि नहीं। अतएव इसे 'विद्वोसीत' शब्द से व्यबहृत करना समझिये हो जाता है।

ऐसे कामना रहित विरवासीव ब्रह्म के किन्ती एक प्रवेश में सभी पूर्वपरिचित मायावत्त का उदय होता है। अनेक प्रवेश में मायावत्त उदित होता है, तत्त्वविज्ञान रसवत्तात्मक परात्परब्रह्म परिच्छिन्न होता हुआ, इन्द्रियवत्त में युक्त हो जाता है। इन्द्रिय-
पञ्चक मनोवैदिक ब्रह्म—
वत्तावच्छिन्न मायिक रसवत्तात्मक इसी तत्त्व का वैज्ञानिक मह-
र्वियों ने 'विद्वोसीयसमग्र' नाम से व्यबहृत किया है। अभी (विकार सृष्टि की उत्पत्ति से पहिले) मनोमय इस मायिक ब्रह्म में अन्य किसी आधारणा का अभाव है, अतएव अनिर्दिष्ट ही इसे 'मारूप' माना है। उस परमाकाश में आत्म-मनोमय-आकाशात्मा पुरुष व्यक्त है। अब एक वह पुर-विरा सीमा-अवच्छिन्न-सम्प्राप्त स बहिर्भूत या, परन्तु आज वह मायापुर से बहिर्भूत हो गया है, अतएव वह 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध हो गया है। परस्पर में सर्वथा विभिन्न स्त्री-पुरुष नपुंसक-मेढमिस विश्वान्तगत व्यवसाय पदार्थों में वह समानरूप में व्याप्त रहता है, कोई प्रदर्श उस से विरहित नहीं है। विविधमात्रों में परिबलित होने वाले पदार्थों में वह एक रूप स व्याप्त रहता है अतएव एक मनोमय पुरुष को अधियों ने 'अद्वय' नाम से व्यबहृत किया है, जैसा कि गोखलमति कहती है—

सद्यः त्रिषु लिङ्गेषु मन्त्रास्तु च विमक्तिषु ।

वचनेषु च सर्वेषु यत्र व्यति तदव्ययम् ॥ (गो० ब्रा० पृ० १।०४)

रसवत्तात्मक मनोमय इस अव्यय पुरुष में सब प्रथम 'एकाग्र' बहु स्यात् इस कामना का उदय होता है। कामना मन का पहिला रत है। इस को हमन अव्यय एवं वत्त को मर्मग कहा है। हम इतना चाहता है, वत्त मिलना चाहता है। मर्मग सृष्टि है वियोग मुक्ति है अन्धमान का योग है। इसीलिए ना मन्त्रब्रह्म मन्त्राणा में श्री राम — हरि इत्यादि रूप से शब्द

एक विसर्ग () पद वाक्यादि के अन्तर्गत का स्वरूप समर्पक बन रहा है। रसकल के सम्बन्ध से मन में होने की वृत्तियों हैं—‘उभयार्थक मनः’। अतएव उभयार्थक मन से निकलने वाली कामना भी वही भावों में विभक्त हो जाती है। कलागमिता रसानुप्रादित्वी कामना बन्धनविमोच का कारण बनती हुई ‘समुत्था’ (मुक्ति की इच्छा) नाम से व्यक्त होती है एवं रसगमिता रसानुप्रादित्वी कामना सुखिषण्यन का कारण बनती हुई—‘सिसुत्था’ (सुख की इच्छा) नाम धारण कर लेती है। इस प्रकार उस पुरुष में ‘बनात्तु-विगाद्’ प्रधानरूप से इन दो कामनाओं का ही समावेश रहता है। सम्पूर्ण विश्व के प्राणी भी एक ही कामनाओं से अतिरिक्त तीसरी कामना नहीं कर सकते। क्योंकि जिस के वे अंश हैं, उस अंश में ही तीसरी कामना का सर्वथा अभाव है। मन ने इच्छा की परन्तु रसकल के अतिरिक्त और वहाँ है क्या। अतः कामुक पुरुष इच्छा द्वारा इन्हीं का अपने ऊपर चपन करने लगता है। रसानुप्रादित्वी कामना से इस पर ‘रसचिति’ होती है, कलानुप्रादित्वी कामना से ‘बलचिति’ होती है। रसचिति में बल गौण है, बलचिति में रस गौण है। रसचिति में उत्तरोत्तर रस की वृद्धि है। एक स्थिति ऐसी है, जिस में बल सर्वथा विरोधित हो रहा है, वहाँ रसमात्र की प्रवृत्ति है। इसी प्रकार बलचिति में उत्तरोत्तर बल की वृद्धि है। स्थिति विरोध में रस सर्वथा विरोधित है, वहाँ बलमात्र की प्रवृत्ति है। इस प्रकार रसकल की चिति के चारवत्स्य से १-बलगमितारसचिति, २-बलतिरोभाव लक्ष्मणरसचिति ३-रसगमिताबलचिति ४-रसतिरोभावलक्ष्मणरसचिति, भेद से एक कामस्य कन्तुस्व मन पर चार चित्तियाँ हो जाती हैं। मन के रस भाग पर दोनों रसचित्तियों प्रतिष्ठित रहती हैं इन पर समुत्था बल का अनुभव रहता है। मन के कलभाग पर दोनों बलचित्तियों प्रतिष्ठित रहती हैं, इन पर सिसुत्था रस का अनुभव रहता है। पहिली रसचिति ‘विह्वल’ नाम से प्रसिद्ध है। विज्ञान में बल भी है परन्तु रस की प्रधानता है। दूसरी रसचिति ‘आनन्द’ नाम से प्रसिद्ध है। इस में बल एकज्वाल सुप्त है। संसार में इन दोनों चित्तियों की अप्रत्याप्ता है विश्व में वे दोनों अन्तर्मुख रहती हैं, अतएव इन दोनों चित्तियों की समष्टि का ‘अन्तश्चिति’ कहा जाता है। तीसरी बलचिति ‘प्राण’ नाम से प्रसिद्ध है। यही पहिली बलचिति है। प्राण में बल के साथ रस भी है अतएव यहाँ द्वितीयभाव का व्यव रहता है। चौथी बलचिति ‘वाक्’ नाम से प्रसिद्ध है। यही दूसरी बलचिति है। वहाँ रस सर्वथा सुप्त है। अतएव वाक्स्वरूप अर्धरूप का अधिष्ठाता बनता हुआ जड़कोटि में मान लिया जाता है। विरहरचना में इन्हीं दोनों बलचित्तियों की प्रधानता है। दोनों बलचित्तियाँ हैं। अतएव इन दोनों की समष्टि को

‘बहिर्ब्रिचि’ कहा जाता है। आनन्दविज्ञानमयी अन्तरिचिचि मनोमय अम्यय का विद्याभाग है, इसी से आगे जाकर पराविद्यालक्षण अक्षर तत्त्व का विकास होता है। इस विद्याभाग में रस की ही प्रधानता रहती है। प्राणबाह्यमयी बहिर्ब्रिचिचि अम्यय का कर्मभाग है, किंवा अविद्या भाग है। इसी से आगे जाकर अपराविद्यालक्षण अक्षर तत्त्व का विकास होता है। इस कर्मभाग में बल की ही प्रधानता है। विद्याभाग अमृतप्रधान (रसप्रधान) होता हुआ सत् है, कर्मभाग मृत्युप्रधान (बलप्रधान) होता हुआ असत् है। अमृतमृत्युलक्षण सबसत् की समष्टिरूप विद्या कर्म-समुच्चय ही अम्ययपुरुष का वास्तविक स्वरूप है—‘अमृत खैव मृत्युञ्ज सदसद्याह मर्तुन’ (गी० ६। १६)। मय्यस्थित स्वयं मन काममय है। इस प्रकार रस बलके वारतम्य से यह प्रविष्टिग्रह ‘विद्यात्मा-कामात्मा-कर्मात्मा’ इन तीन कलाओं में परिणत होता हुआ १ आनन्द २ विज्ञान ३-मन ४ प्राण, ५-वाक्’ भेद से पञ्चकत्र बनजाता है। चित्ति सन्वय्य से ही यह पञ्चकल अम्यय पुरुष शारीरकवर्तमानादि में ‘चिदात्मा’ नाम से प्रसिद्ध हुआ है। मय्यस्थित उभयात्मक मन समुदायल की प्रधानता से विज्ञान की ओर जाता हुआ आनन्दप्राप्ति का कारण बन कर मुक्ति का अभिप्राय बन जाता है, एवं सिसृक्षापल की प्रधानता से प्राण की ओर जाता हुआ वाक् प्राप्ति का कारण बनकर सृष्टिबन्धन का हनु बन जाता है। मन ही धम्मन का कारण है, मन ही मुक्ति का कारण है। इसी अभिप्राय से अभियुक्त कृत है—

न देहा न च जीवात्मा नेन्द्रियाणि परन्तप !

मन एव मनुष्याणां कारण बन्धमोक्षयोः ॥

अम्यय पुरुष की उक्त पाँचों कलाओं उपनिषदों में ‘कोशग्रन्थ’ नाम से प्रसिद्ध हैं—(शक्तिप ३०० ॥ ०)। मोद-प्रमाद-हर्ष-उल्लास-स्मितमाष आदि संसार के सम्पूर्ण आनन्द अम्यय के आनन्दमयकोश में प्रतिष्ठित हैं। मति विपणा प्रज्ञा धी आदि जितने भी विज्ञान हैं, सब की प्रतिष्ठा ‘विज्ञानमयकोश’ है। प्रधानमन-इन्द्रियमन-सत्त्वमन चिच्च आदि जितने मन हैं, सब की प्रतिष्ठा ‘मनामयकोश’ है। पराराजा-असत्-पाउखिन्या-अवकाश-सृत् एकपि द्वयपि सप्तपि-साकशा आदि भेद भिन्न सब प्राणों की मूलप्रतिष्ठा ‘प्राणमयकोश’ है। यद्यप्यहम् अहो की प्रतिष्ठा ‘बाह्यमयकोश’ है। उपनिषत् न इस पाँचों को ही ‘अन्नमय कोश’ कहा है। इन पाँचों कारणों में, किंवा विज्ञानमायानुसार पाँचों चित्तियों में अम्ययात्मा एक

रूप से व्याप्य रहता है, जैसा कि—“तस्यैव एव धारीरात्मा य पूर्वस्य” (सै० उप० ब्रा० २) इत्यादिरूप स वानियत् मेरी शृण कर दिया गया है। यह है अमृतसरसा के मूलस्तम्भरूप पञ्च-फल अभ्यस्य पुरुष का मूर्तित्व निर्वहण।

अध्ययपुरुष पुरुष है। “प्रकृति पुरुष चैव विद्वचनादी उभावपि” (गी० १३ १६) इस स्मोर्च सिद्धान्त क अनुसार पुरुष अन्तो स्वभावभूता प्रकृति के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। अन्तरङ्ग बहिरङ्ग भेद स प्रकृतिवत्त्व वा भागों में विभक्त रहक-वर्तित्व—
है। इन दोनों में स अन्तरङ्ग प्रकृति के साथ ही पुरुष का निरवसा इष्ट्यं ठक बचन स बतलाया गया है। यही अन्तरङ्गप्रकृति अध्ययपुरुष का “स्व”—भाव है। बहिरङ्गप्रकृति बत्ती या सकृन्नी ह, स्वयं भी चरुत जाती है, परन्तु स्वभावभूता अन्तरङ्ग-प्रकृति का विपर्यय कथमपि सम्भव नहीं है। इसी प्रकृतिविज्ञान के लक्ष्य में रस कर मा-वान् करते हैं—

सरस्य चरते स्वस्या प्रकृतज्ञानवानपि।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहा किं करिष्यति ॥ (गी० १। ३१)

पूर्वार्ध सौलह बलाशेषों में एक “हृदय” नाम के बलाशेष का भी उल्लेख हुआ है। साथ ही में यह भी कहा गया है कि, मावाचकोद्य क अभ्यवक्षितोत्तरकाल में ही मावाचविज्ञान, अत एव परिधिज्ञ इस रसवत्तमूर्ति मध्य में हृदय (केन्द्र) भाव का उद्य हो जाता है। इस प्रकार कन्द्रवत्त्व तथा मावापुर सम्बन्ध स पुरुष नाम से प्रसिद्ध अभ्यस्य अष्ट शोर्चों का विकास एक ही काल में होता है। शोर्चों क पूर्वाग्रभावा की चर्चा ही अर्धेद्वानिह है। इसी सद्बोद्धि कन्द्रवत्त्व को, किंवा हृदयक को मर्षियों ने “प्रकृति” नाम स व्यवहृत किया है। विम प्रकार अध्ययपुरुष में रसवत्त्व क तारतम्य स आग आकर पाँच कक्षाओं का उद्य हो जाता है एवमेव रसवत्त्व क ही तारतम्य से इस हृदयकला प्रकृति क भी पाँच विभक्त हो जाते हैं। हृदयवत्त्व बल है कियारूप है, गतिवत्त्व है। इस गति की ही स्थिति आगति-गति स्थितिगमितागति स्थितिगमिता-आगति” ये पाँच अवस्थायें हो जाती हैं। उक्तवत्त्व से हृदयकति स्वस्वान में प्रतिष्ठित रहती है। अर्धरूप स हृदयकति के लो विकास होता है। एक शक्ति निरन्तर इस प्रतिष्ठा को उच्छिन्न करने में प्रयत्नशील बनी रहती है एक शक्ति निरन्तर प्रतिष्ठा को प्रतिष्ठित रखने का प्रयत्न करती रहती है। आग आकर इन दोनों स्वतन्त्र विकासों का उसी मूलप्रतिष्ठा के साथ प्रत्यक्षबन्धन हो

जाता है। एक शक्ति प्रविष्टा से वरु होकर निरन्तर बाहिर निकलता करती है, एवं एक शक्ति प्रति
 घायुक्त बनी हुई निरन्तर सीतल की ओर आया करती है। ये ही पाँचों शक्तिविभाग 'गतिसमुच्चय
 (स्थिति), विष्णुआगति, विश्वरूपगति, स्थितिगमिताआगति, स्थितिगमितामति इन
 नामों से व्यवहृत किए जा सकते हैं। मिते आप स्थिति कहते हैं वह गतिमुच्चयमात्र है।
 सर्वतोदिमति, किंवा समानवलानुपायिनी विरुद्धविग्रहगति ही स्थितिरूप में परिणत होती है।
 इसी स्थितिरूप को, किंवा प्रतिघातरूप को "अवस्था" कहा जाता है। आगतितत्त्व २ 'विष्णु
 है, गतिरूप ३ "इन्द्र" है, स्थितिगमिता आगति ४ 'साम" है एवं स्थितिगमिता गति ५ 'अग्नि'
 है। इस प्रकार गतितारतम्य से गतिरूप हृदयमात्रमयी एक ही प्रकृति पाँच रूप धारण कर लेती
 है। प्रकृति स्वामघिष्टाय समवास्यात्ममापया" (गी० ४।६।) के अनुसार पञ्चधा विभक्त
 स्वभावमृता इसी प्रकृति के द्वारा सर्वथा आज अभ्यय को विरवका आश्रयन देना पड़ रहा है।

पूर्य में कहा जाचुका है कि सबत्र असृत सृष्टु लक्षण रम-मल का ही मात्रात्म्य है। वा
 स मित्र वीसरे तत्त्व का सर्वथा अभाव है। माय ही में दोनों सर्वत्र अभिन्न रूप से ही प्रविष्टित
 रहते हैं। फलतः उक्त प्रकृति में भी इन्हीं दोनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। प्रकृति में असृत भी
 है, सृष्टु भी है। असृत सृष्टु की प्रधानता अप्रधानता के कारण इन एक ही प्रकृति के दो रूप हो
 जाते हैं। रसगमिता रसप्रधाना प्रकृति 'अमृत" है। रसगमिता रसप्रधाना प्रकृति "मृत्यु" है।
 असृतभाग अभिकुर्वाण है, सृष्टुभाग विकुर्वाण है। प्रकृति का असृतभाग, प्रकृति का सर्वमात्र
 दोनों अविनाश्वत हैं। अतएव दोनों में ही ब्रह्मादि उक्त पाँचों कलाओं की सत्ता सिद्ध हो जाती है।
 अमृता प्रकृति किंवा प्रकृति का असृतभाग अपनी ब्रह्मादि पाँचों असृत-कलाओं से विरव का
 निर्माण करता है एवं मर्त्या प्रकृति, किंवा उम एक ही प्रकृति का सृष्टुभाग अपनी ब्रह्मादि
 पाँचों मर्त्य-कलाओं से विरवरूप में परिणत होता है। प्रकृति का उक्त पञ्चकल असृतभाग ही
 अभिकुर्वाण होने से अक्षर (काय न होने वाला) नाम से एवं पञ्चकल सृष्टुभाग ही विकुर्वाण
 होने से "क्षर" (काय होने वाला) नाम से प्रसिद्ध है।

उक्त रूपमानुसार अक्षर असृत है क्षर मर्त्य है। वस्तुतः क्षर को भी सर्व मानना एक
 दृष्टि से असम्भव ही है। बाँकी क्षर के लिए अक्षर की दृष्टि से क्षर को मल ही मर्त्य मान लिया
 जाय, परन्तु विकारक्षररूप वैचारिक विरव की अपेक्षा से तो अन्तर्गतप्रकृतिमूल यह क्षर भी एक
 प्रकार से 'अक्षर' ही है। विरव में अिजन भी उपादान कारण है व कायरूप में परिणत होकर

मनाऽवच्छेदने अक्षय्य ज्ञानशक्तिपन ई प्राणायामध्वेजन क्रियाशक्तिपन ई बागवच्छेदन
अर्थशक्तिपन ई । इन तीनों का ही यद्यपि अक्षर क साथ सम्बन्ध बतलाया गया है, परन्तु आर
भी सूत्रम विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि, ज्ञानशक्तिमूर्ति मन की पूर्ण विकास
भूमि अक्षय्य ही है । क्रियाशक्तिमूर्ति असत्त्व शक्तिरूप प्राण की पूर्णविक्रम भूमि अक्षर ही है ।
एवं अर्थशक्तिमूर्ति बाह्यत्व की पूर्णविक्रमभूमि अक्षर ही है । दूसरे शब्दों में अक्षय्य ज्ञानप्रधान
ह अक्षर क्रियाप्रधान है, एवं अक्षर अक्षय्य है । ज्ञानमूर्ति अक्षय्य भी निष्कल है, अर्थमूर्ति-
अक्षर भी अक्षय्य है । अक्षर निष्कल है । सक्रिय है । अक्षय्य मध्यस्थित प्राणमूर्ति अक्षर मूर्ति
व्यापार मापक है व्यापार क्रिया है । क्रिया प्रक्रमात्र सक्रिय अक्षर का ही धर्म है । अक्षर
तीनों पुरुषों में स अक्षय्यमूर्ति अक्षर पुरुष का ही मूर्तिकल रूप सिद्ध होता है । मध्यस्थित अक्षर
उम और स अक्षय्य का ज्ञानविभूति को लेकर सदाशु बना हुआ है । इन आर स अक्षर की अर्थ
विभूति का लेकर सर्ववित् बना हुआ है । प्रप्राणशक्ति म तन्नामूर्ति बना हुआ है । इन तीनों
पुरुषविभूतियों का हम में सम्बन्ध है । अतएव वेदेहतीदीपकन्याय स मध्यस्थ अक्षर
ज्ञान स त्रिपुरुषज्ञान गताय है । अक्षर की इसी सत्त्वा को लक्ष्य में रख कर प्रति
कृती है—

एतद्वय बाधर ब्रह्म एतद्वये बाधर परम् ।

एतद्वय बाधर मात्वा या पदिन्ब्रति तस्य वत् ॥ १ ॥

—अष्टोपनिषद् १ १६

मिथुन इत्यग्रान्धिष्ठितान्त मयमन्त्रया ।

धीयन्त आभ्य कर्मणि तस्मिन् एह परावर ॥ २ ॥

—मृगहृत्वापनिषद् ३ ३.८ ।

“ब्रह्म नाम स प्रसिद्धं सुर भी यदी अक्षर ई पर नाम स प्रसिद्धं अक्षय भी यदी अक्षर ई ।
अक्षर (तत्त्व) की विभूति स गुरु परात्पर नाम स प्रसिद्धं स अक्षर ज्ञान स सच पुन
विज्ञान स नाम ६— “अक्षर विज्ञान स नामि- विज्ञान सचि । त्रिम प्रका अक्षय

ਦਰਾ ਦੀ ਵੇਰਵੇ ਤੇ ਬੰਦੀ ਦੀਆਂ ਸਥਾਨਾਂ ਦਿਖਾਏ ਗਏ ਹਨ। ਸੀ ਬੁਲਾਰੇ ਦੇ ਅੰਗਰੇਜ਼ੀ ਅਤੇ ਪੰਜਾਬੀ ਦਰਾ ਦੇ ਵੇਰਵੇ ਅਤੇ ਸਥਾਨਾਂ ਦਿਖਾਏ ਹਨ। ਇਹੀ ਵੀ ਦਰਸਾਉਂਦਾ ਹੈ ਕਿ ਦਰਾ ਦੇ ਵੇਰਵੇ ਅਤੇ ਸਥਾਨਾਂ ਦਿਖਾਏ ਹਨ।

अक्षर से परे इन के कारण 'पर' नाम से, अक्षर अक्षर से इस आर (अवगच्छा में) प्रतिष्ठित रहने के कारण 'अक्षर' नाम से प्रसिद्ध है। एवमव अक्षरक्षर की अपेक्षा स पद, एवं पर अम्यय की अपेक्षा स अक्षर होने के कारण सम्प्रस्थित यह अक्षर "पराक्षर" नाम से प्रसिद्ध है। इस पराक्षरमूर्ति, अक्षरपञ्च त्रिमूर्ति, अक्षरपञ्च सर्वमूर्ति अक्षर के अक्षर परिज्ञान में इष्टमयि दृष्ट जाती है, सारे मन्त्र निष्पन्न हो जाते हैं, सम्पूर्ण कर्मस्थान विलीन हो जाते हैं। उक्त दोनों मूर्तिवपनों का यही तात्पर्य है।

पञ्चकल अम्ययपुरुष मूर्ति का, किंवा सप्तप्रथ (विराट) का आत्मस्थान—(अभिधान—आवर्तन) कारण है, पञ्चकल अक्षर निमित्तकारण है, एवं पञ्चकल आत्मक्षर उपादानकारण है। दूसरे शब्दों में आनन्दब्रह्मानन्दोन्मेष मुक्तिमाप्ती विद्यात्मक अक्षरपक्ष स्थिर ध्यानल है मूर्ति के लिए मूलप्रतिष्ठा है। मनप्राज्ञाब्रह्म मूर्तिमाप्ती कामात्मगर्भित कर्मोन्मेष अक्षरपक्ष गति स्थितिमन् कुञ्जालक्षक (कुम्हार का घूमता हुआ चक्र) है। अक्षर कुम्भकार है अक्षर मिट्टी है। "स प्रकार 'मुक्तिसाक्षीरूप स्थिर ध्यानल पर, मुक्तिसाक्षीरूप चलाचलचक्र पर, अक्षर रूप कुम्भकार, धररूप मिट्टी से विश्वरूप घटादि पार्श्वों का निर्माण किया करता है। माना त्रिभुवन विधाता प्रजापति घटनिर्माता कुम्भकार के माथे प्रतिस्थापित कर रहा है।

इस प्रकार इस महामाया के गर्भ में रम-वज्र के तात्पर्य में यह मायी मरुक्षर 'पुरुष-प्रकृति' इन दो विषयों में परिणत होता हुआ 'अक्षरपक्ष अक्षर आत्मक्षर' में स विनृति बन कर स्व स्व कलाभेद में पञ्चदशकल (१५) बन रहा है। इन पञ्चकल अक्षरपक्ष—
पञ्चकल के माथे इस मायावीत अक्षरपक्ष पराक्षर कला का भी सम्बन्ध स्थापित किया जाना चाहता है। इस पराक्षर के सम्बन्ध में ही पञ्चदशकल पुरुष पादशकल' बन जाता है। इसी माला कलाओं के सम्बन्ध में इस 'पादशकलपुरुष' किंवा 'पौडशकप्रजापति' कहा गया है। इन माला कलाओं का १-पराक्षर—२-अक्षर—३-अक्षर ४-आत्मक्षर, इन चार स्थूल विभागों में विभक्त किया जा सकता है। इसी आत्मक्षरपक्ष के आधार पर "पादशकल वा इदं सुषुम्" (कौपीनविज्ञा० ८१), "चतुष्टय वा इदं सुषुम्" (कौपीनविज्ञा० ८१) "पौडशकलं वा अक्षर" (ज ३० १ १८८) "पौडशकल प्रजापति" (शत ५-६-७ १७) इत्यादि अनुगम-निगम बचन प्रतिष्ठित हैं।

मन्त्रों में सब से बड़ा मृत्युमन्त्र है। मन्त्र ही मृत्यु दशता का प्रधान पारा है। मन्त्रों के हृदय का दुग्धातु रूप हमें विवरा होकर कहना पड़ता है कि सम्पूर्ण विश्व प्रकाश को मृत्यु

पारा में बद्ध रखने वाला स्वयं मायी मरेरवर किंवा विरवरवर भी मृत्युपारा में बद्ध नहीं है। महामाया का महाबन्धन ही उसका महतो बन्धीयान मृत्युपारा है। इसी मायामय मृत्युपारा में उस अक्षरब्रह्म आमात्र को 'अध्वय अक्षर-वर इन तीन मृत्युमात्राओं में परिणत होना पड़ रहा है। एक आत्मा का यह त्रित्व भाव ही उस के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि, सृष्टिकाल में वह अक्षर ही मृत्युमात्र से आक्रान्त है। जब तक वह महामाया शक्तित्व है तब तक वह अक्षर ही तत्त्व तीन मृत्युमात्राओं से युक्त रहता है। मायाबल के विरोधित होने पर ही वह पुनः अपने उस एक अक्षरब्रह्म परात्परत्व में आता है। इसी बातों अवस्थाओं के लिए—'अस्मा उ एक' सन्नेनत् त्रय, त्रय सदेक मयमात्मा' (शत १५-४-४-३) यह कहा गया है। जिन आमात्र-अक्षरब्रह्म तत्त्व की वे (अध्वय अक्षर-वर) तीन मृत्युमयी मात्राएँ हैं वही बीजा परात्पर है। अक्षप्रका में ये तीन मृत्युमात्राएँ हैं अक्ष में वह एक है अतएव इस (परात्परको) अक्षमात्रा कहा जाता है। यह अक्ष मात्रिक तत्त्व माया विरोधित (किन्तु विपुरुषदृष्ट्या मायासाक्षी) होने से व्यापक होता हुआ सर्वथा नित्य है अनुबाध है। अक्ष मात्रिक का यह अर्थ नहीं है कि कम कि आधी मात्रा है। जिस परात्पर पर तीन मनुष्य प्रविष्टित रहते हैं, वगैरे परात्पर पर एक प्रविष्टित है, अक्ष मात्रिक का यही तात्पर्य है। जितने प्रका में तीन पुरुष प्रविष्टित हैं, उस सार प्रका में वह व्यापक हो रहा है। अमात्रिक ही प्रकृत में अक्ष मात्रिक शब्द में व्यवहृत हुआ है। यहाँ सार प्रपञ्च उपशान्त है। यही वस्तुतत्त्व है। इसी त्रिमात्र विज्ञान को सत्य में रत्नकर महर्षि पिप्पलाद कहते हैं—

विज्ञा मात्रा मृत्युमस्य प्रयुक्ता जन्माऽन्यसक्ता अनुविप्रयुक्ता ।

क्रियास्तु बाध्याम्यन्तरमभ्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पत इ ॥ १ ॥

—प्रश्नोपनिषद् ५-६ ।

इसी अमात्रिक व्यवहार के लिए अक्ष मात्रिक विरवासीत कला का स्वीकरण करना हुआ रहस्य शान्त कहता है—

अक्षमात्रा स्थिता नित्या यानुबाधा विप्रपत ।

त्वमेव सा त्व सावित्री त्व देवी जननी परा ॥ (सहस्रनाम)

‘बाह्यमय’ के परा परम्पन्ता-मध्यमा-बैलरी य पार विवर्त माने गए हैं। इन चारों में परा का सम्बन्ध अद्भुतमात्रिक परास्वर से है, परम्पन्ती का अकारसम्पर्गा अक्षय्य से मध्यमा का उकारसम्पर्गा अक्षर से, एवं बैलरी का मकारसम्पर्गा स्वर से सम्बन्ध है। इन चारों में त्रिम प्रकार बैलरीबाह्य का मन्त्र सम्मनरूप से व्यवहार करते हैं, एवमत्र आत्मा की चारों-संस्थाओं में से हमें पूर्णज्ञान बैलरीबाह्यस्थानीय विस्तृत्य स्वर का ही है। बाह्यमयपञ्चक ‘परा-परम्पन्ती-मध्यमा’ ये तीन विवर्त जैसा गुह्यानिहित हैं, एवमत्र अद्भुतमयपञ्चक ‘परास्वर अक्षय्य-अक्षर’ ये तीनों विवर्त अस्तरादि माचारण मनुष्यों के किये गुह्यानिहित ही हैं। इसी वाग्मिज्ञान से आत्मविज्ञान की पार सङ्केत करती हुई भुक्ति कहती है—

वचनारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्माक्ष्मणा ये मनीषिणः ।

गुहा त्रानि निहिता नङ्गयन्ति तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

—श्रुतम् ११५४ अ०

राज्यमय	परमय	सोदा:
१—१-अद्भुतमात्रा	पराबाह्य → परास्वर	
२—१-अक्षर	परम्पन्तीबाह्य → अक्षय्य	
३—२-उकार	मध्यमाबाह्य → अक्षर	
४—३-मकार	बैलरीबाह्य → आत्मस्वर	
<p>इ वाच प्रक्षयो रूपे द्रष्टव्यमय-पर च यत् । द्राम्ये प्रक्षयि निष्ठातः पर प्रक्षयाभिगच्छति ॥</p>		

द्रष्टव्यमय एवं परमय के इसी तादात्म्य को लक्ष्य में रखकर निम्नलिखित उपनिषद्प्रवृत्तियों हमारे सामने आती हैं।

तस्मै स होवाच—एतद्वर्षे सत्यकाम ! पर पापर च मय यदाहारः ।
तस्माद्बुद्धिदानतेनैवापतननेकतरमन्वेति । न यथेकमात्रामभिध्यापीत, स

इयं प्रपञ्चाशयं विना-द्वैत । एवमाह्वार आत्मैव मविशुत्पात्मनाऽऽ-
नान य एव वद' ।—माण्डूक्योपनिषद्

मेरा मन्यकामन मर्गि निराला स प्रान किया ह कि भगवन । आह्वार ५ अग्निप्रधान
म मनुष्य रिम प्रकार आह्वितय करन में सम्मर्ष हो जाता ह ? । इमी प्रान का समाधान करन
भक्त नारायणरूप— द्रुप श्रुति कह्य हैं—ह सत्यकाम । यह आह्वार ही परब्रह्म ह, आ-
ह्वार ही अजरब्रह्म ह । इस रहस्य का जानन बाधा इही मार्ग में
म होता । एक मार्ग का आशय यना है । 'परात्पर अक्षय अक्षर आत्मधर'—इन चारों की
प्रान क सम्मर्ष 'अक्ष माया अक्षर उक्षर मक्षर य चम साधन हैं । इन में तीन पुरुषों का
सम्मर्ष मनुष्यताक मामताक (विदुषाक) ब्रह्मताक' इन तीनों स सम्मर्ष है । परप्रधान
एहमूर्ति त्रिविधाताक मनुष्यताक ह यह वाक्यप्रधान होता हुआ अक्ष प्रधान है । अपरप्रधान
पुनर्मूर्ति अन्तरिक्षताक (जो कि अक्षताक सम्मर्ष स मामताक कहा जाता है) विदुषाक है, यह
वाक्यप्रधान होता हुआ क्रियामूर्ति ह । अक्षयप्रधान माय—(अवतान अन्तिम प्रतिष्ठाक्य)—मूर्ति
विष्यताक (सूक्ष्मताक) मप्रभाक ह । यह मन्त्रप्रधान होता हुआ प्रानमूर्ति है । चौथा परात्पर
ताक शरीरताक है । एक एक कथा की कामना करी वाया उपासक एक एक लोक विभूति का
तामक बनता ह । मक्षर पर प्रधान अक्षय रहता हुआ कमठ वसम आत्मपर का साधन
कर जाता तथा मक्षरव्यभक्त स पुन हाकर भौतिक संगति स पूरा समूह हो जाता है ।
क्याकि नून वी शानि मक्षरव्यभक्त्य वाक्यम आत्मपर ही है । इस का भौतिक जगत् पर पूर्ण
आहार हो जाता है । जिस का अक्षय मक्षर उक्षर इन वा मात्रार्था पर रहता है यह उपा-

हार्प प्रयत्नापशम निषादैतः । एषमाङ्गार आत्मैव मविशुत्स्यात्मनाऽऽ-
त्मान-य एव वेद्" । — माङ्गुल्यापनिषद्

गौरी सत्यनाम में मर्हि लिखलाव स प्रश्न किया है कि, भगवान् ! आशुार क अभिधान
 में मनुष्य किस प्रकार लाभविजय करने में समर्थ हो जाता है ? इसी प्रश्न का समाधान करते
 हुए श्री कृष्ण कहते हैं—ह सत्यनाम ! यह आशुार ही परब्रह्म है, आ-
 शुार ही अपरब्रह्म है। इस रहस्य का जानन वाला इन्हीं मार्गों में

[illegible]

हार्पः प्रपञ्चापशम श्रिता दूतः । एषमाह्वार आत्मैव सविश्रुत्यात्मनाऽऽ-
त्मान-य एव धेनु" ।—मायवृक्षोपनिषत्

शैव्य सत्यकाम न मर्यापि पिप्लवाद् सं प्रश्न किया है कि भाग्य 'आह्वार' क अग्रिभ्यान
स मनुष्य किस प्रकार शोकविश्रय करने में समर्थ हो जाता है ? इसी प्रश्न का समाधान करत
हुए श्रुति कहते हैं—इ सत्यकाम । यह आह्वार ही परब्रह्म है, आ-
ह्वार ही अपरब्रह्म है । इस रहस्य को जानने वाला इन्हीं मार्गों में
स किसी एक मार्ग का आश्रय लेता है । 'परात्पर अक्षय्य ब्रह्म-आरमध्यर'—इन चारों की
प्रति क क्रमशः 'अद् मात्रा अकार-उकार-मकार' य चार साधन हैं । इन में तीन पुरुषों का
क्रमशः मनुष्यलोक सामलोक (पितृलोक) ब्रह्मलोक इन तीनों से सम्बन्ध है । परब्रह्म
अक्षय्यमूर्ति त्रिविधलोक मनुष्यलोक है यह वाक्यवान होता हुआ अक्षय्य प्रधान है । अक्षय्यप्रधान
यजुर्मूर्ति अक्षय्यलोक (जो कि अक्षय्य से सम्बन्ध स सोमलोक कहलाता है) पितृलोक है, यह
प्राणप्रधान होता हुआ क्रियामूर्ति है । अक्षय्यप्रधान साम—(अक्षय्य-अन्तिम प्रतिष्ठा-रूप)—मूर्ति
विष्णुलोक (सूर्यलोक) ब्रह्मलोक है । यह मनुष्यप्रधान होता हुआ ज्ञानमूर्ति है । चौथा परात्पर
लोक ब्रह्मलोक है । एक एक कक्ष की उपासना करने वाला उपासक एक एक लोक विभूति का
उपासक बनता है । मकार पर प्रधान कक्ष रहता हुआ कर्मन्त वत्सम आत्मज्ञर का साक्षात्-
कार करता हुआ तपो-ब्रह्मचर्य-मार्ग से युक्त होकर मीलित संपत्ति से पूर्ण ससृष्ट हो जाता है ।
क्योंकि मृत की गति मकारस्थानीय अक्षय्य आत्मज्ञर ही है । इस का मीलित जगत् पर पूर्ण
आधिपत्य हो जाता है । जिस का कक्ष मकार-उकार इन दो मात्राओं पर रहता है वह उपा-
सक तन्मस अक्षर का साक्षात्कार करता हुआ आत्मविभूतिओं का भोग करने में समर्थ होता
है । विमूर्तिभोगानन्तर पुनः उसे कर्म सेना पड़ता है । जो महापुरुष समष्टि की उपासना करता
है वह जानती कि वह ज्ञानयोगी वत्सम अक्षय्यपुरुष का प्राप्ति करता हुआ सारे प्राण्यों से
(सन्तानरूपक से) उसी प्रकार विमुक्त हो जाता है, जैसे कि एक पाशावर (सर्प) अपनी त्वचा
(कर्मपुत्री) ॥ विनिमुक्त हो जाता है ॥ उस समष्टिरूपा ज्ञानयोगी उपासना के प्रभाव से यह
अपनी आत्मसत्ता से निकल कर उस पराहार (अक्षय्यपुरुष) संस्था का साक्षात्कार करलेता
है । परात्पर की उपासना स्वतन्त्ररूप में नहीं हो सकती कारण यह अक्षय्यमात्रिक होता हुआ
अमात्र है । समष्टि की उपासना से ही कहा पर दृष्टि पड़ी जाती है । कर्मकाण्डका मकारकला से
सम्बन्ध है, उपासनाकाण्ड का उकारकला से सम्बन्ध है एवं ज्ञानकाण्ड का समष्टि से सम्ब

हार्यं प्रपञ्चापञ्चम् त्रिविज्जैतः । एषमोङ्कार आत्मैव सविश्रुत्यात्मनाऽऽ-
त्मानं य एव वेदुः” — माण्डूक्योपनिषत्

शैष्य सत्यकाम ने मूर्ध्नि पिप्पलाय स प्रश्न किया है कि भगवन् ! आङ्कार क अग्निम्यान स मनुष्य किस प्रकार लोकोविजय करने में समर्थ हो जाता है ? इसी प्रश्न का समाधान करत हुए ऋषि कहते हैं—हे सत्यकाम ! यह आङ्कार ही परब्रह्म है, आङ्कार ही अपरब्रह्म है । इस रहस्य को जानने वाला इन्हीं मार्गों में स किमी एक मार्ग का आश्रय लेता है । ‘परस्पर अवयव अक्षर-आत्मक्षर’—इन चारों की प्राप्ति क क्रमशः ‘अर्द्धमात्रा अकार-उकार-मकार य चार साधन हैं । इन में तीन पुष्टियों का क्रमशः मनुष्यलोक सामलोक (पितृलोक) ब्रह्मलोक इन तीनों से सम्बन्ध है । हरप्रधान अक्षरमूर्ति त्रिविधाका मनुष्यलोक है, यह वाक्प्रधान होता हुआ अर्द्धप्रधान है । अक्षरप्रधान चतुर्मूर्ति अक्षरिणलोक (या कि चन्द्रमा के सम्बन्ध स सामलोक कहाता है) पितृलोक है, यह प्राणप्रधान हांवा हुआ क्षिपामूर्ति है । अक्षयप्रधान साम- (अवसान अन्तिम प्रतिष्ठा रूप)-मूर्ति दिव्यलोक (सूर्यलोक) ब्रह्मलोक है । यह मनप्रधान होता हुआ ज्ञानमूर्ति है । चौथा परस्पर साक्षर ब्रह्मलोक है । एक एक कला की उपासना करने वाला उपासक एक एक लोक विभूति का ग्यामक बनता है । मकार पर प्रधान लक्ष्य रहता हुआ कर्मवैत वत्सल आत्मक्षर का साक्षात्-कार करता हुआ तपो ब्रह्मचर्य-भग्न स युक्त होकर भौतिक संपत्ति से पूर्ण समृद्ध हो जाता है । क्योंकि भूत की धानि मकारस्थानीय अक्षरमय आत्मक्षर ही है । इस का भौतिक जगत् पर पूर्ण आधिपत्य हा जाता है । जिस का लक्ष्य मकार उकार इन दो मात्राओं पर रहता है वह उपा-सक तन्मय अक्षर का साक्षात्कार करता हुआ चान्द्रविभूतियों का भोग करने में समर्थ होता है । विभूतिभोगान्तर पुनः इस जन्म लेता पड़ता है । जो महापुरुष समष्टि की उपासना करता है वह जानो कि वा ज्ञानवाणी कर्मन अक्षयपुरुष का प्राप्त करता हुआ सारे पापों स (जन्ममरणचक्र स) उन्नी प्रकार विमुक्त हा जाता है, जैसे कि एक पाशोदर (सर्प) अपनी त्वचा (कच्छुरी) स विनिमुक्त हा जाता है । इस समष्टिरूपा ज्ञानमयी उपासना के प्रभाव स वह अपनी जीवर्मस्था से निकल कर उस परात्मा (इश्वराध्ययपुरुष) मन्त्र का साक्षात्कार करलता है । परात्मा की उपासना स्वतन्त्र रूप स नहीं हा सक्ती कारण वह अर्द्धमात्रिक होता हुआ अमात्र है । समष्टि की उपासना स ही कहा पर दृष्टि चली जाती है । कर्मकाण्डका मकारकला स सम्बन्ध है उपासनाकारण का उच्चारकला स सम्बन्ध है एवं ज्ञानकारण का समष्टि स सम्बन्ध

हार्थं प्रपञ्चापश्यन् विवाज्जैतः । एषमाह्वार आत्मैव सविस्तृत्यात्मनाऽऽ-
त्मानं य एव वेत्ति” ।—मायह्वापनिषत्

रौप्य सत्यकाम ने महर्षि पिप्पलाय से प्रश्न किया है कि भगवन ! ओह्वार क अभिधान
स मनुष्य किस प्रकार लोहविजय करने में समर्थ हो जाता है ? इसी प्रश्न का समाधान करते
हुए श्रुति कहते हैं—इ सत्यकाम ! यह आह्वार ही परब्रह्म है, आ-
ह्वार ही अपरब्रह्म है। इस रहस्य का जानने वाला इन्हीं मार्गों में
न किसी एक मार्ग का आश्रय लेता है। ‘परास्पर अन्यथ अक्षर-आरमभूर’—इन चारों की
प्रति क क्रमशः ‘अर्द्धमात्रा अकार-उकार-मकार य चर/साधन हैं। इन में तीन पुरुषों का
क्रमशः मनुष्यलोक सामलोक (पितृलोक) ब्रह्मलोक’ इन तीनों स सम्बन्ध है। हरप्रधान
शब्दभूति प्रविष्टीलाक मनुष्यलोक है, यह वाक्यप्रधान होता हुआ अथ प्रधान है। अक्षरप्रधान
यधुर्भूति अन्तरिक्षलोक (जो कि चन्द्रमा के सम्बन्ध से सोमलोक कहलाता है) पितृलोक है, यह
प्राणप्रधान होता हुआ आत्माभूति है। अन्यथप्रधान साध- (अवसान अन्तिम प्रविष्टारूप) मूर्ति
निम्नलोक (सूर्यलोक) ब्रह्मलोक है। यह मन्त्रप्रधान होता हुआ ज्ञानमूर्ति है। चौथा परास्पर
लाक ब्रह्मलोक है। एक एक कल्प की उपासना करने वाला उपासक एक एक लोक विभूति का
उपासक बनता है। मकार पर प्रधान लक्ष्य रहता हुआ कर्मलोक उत्तम आत्मकर का साक्षात्-
कार करता हुआ तपो-ब्रह्मचर्य-भद्रा से युक्त होकर मौक्तिक संपत्ति से पूर्ण समृद्ध हो जाता है।
क्याकि मृत की यानि मकारस्थानीय शब्दमय आत्मकर ही है। उस का मौक्तिक जगत् पर पूर्ण
आधिपत्य हो जाता है। जिस का अक्षर मकार उकार इन दो मात्राओं पर रहता है वह उपा-
सक तन्मय अक्षर का साक्षात्कार करता हुआ चान्द्रविभूतियों का भोग करने में समर्थ होता
है। विभूतिमय आत्मकर पुनः उस अन्त में लेता पड़ता है। जो महापुरुष समष्टि की उपनिष्ठा करता
है वह जानो कि वा ज्ञानवाणी उत्पन्न अक्षरमयपुरुष का प्राण करता हुआ सारे पापों को स
(अन्तर्मरुद्वार से) उन्नी प्रकार विमुक्त हो जाता है जैसे कि एक पाशावर (सर्प) अपनी लम्बा
(कञ्चुकी) से विनिमुक्त हो जाता है। इस समष्टिको ज्ञानमयी उपासना के प्रभाव से यह
अपनी आबर्चसा से निकल कर उस परास्पर (शुभराध्यमयपुरुष) संस्था का साक्षात्कार करलता
है। परास्पर की उपासना श्वेतश्रवण से नहीं हो सकती कारण वह अक्षरमात्रिक होता हुआ
अमात्र है। समष्टि की उपासना से ही ब्रह्म पर दृष्टि पड़ती जाती है। कर्मकाण्डका मकारकला से
सम्बन्ध है, उपासनाकावह का उकारकला से सम्बन्ध है एवं ज्ञानकाण्ड का समष्टि से सम्बन्ध

द्वार्य प्रपञ्चापठम शिवाञ्जैः । एवमोङ्कार आत्मैव सविश्रुत्यात्मनाऽऽ-
त्मान-य एव वेदुः ।—माण्डूक्योपनिषत्

शैव्य मन्त्रकाम न महवि पिप्पलाय स प्रश्न किया है कि मगबध ! ओङ्कार क अमिष्यान स मनुष्य किम प्रकार शोधविषय करने में समर्थ हो जाता है ? इसी प्रश्न का समाधान करत

भुप श्रुति कहते हैं—इ सत्यकाम । यह ओङ्कार ही परब्रह्म है, ओ-
ङ्कार ही अपरब्रह्म है । इस रहस्य को जानने वाला इन्हीं मार्गों से

म किमी एक मार्ग का आश्रय लेता है । 'परात्पर अव्यय अक्षर-आत्मक्षर'—इन चारों की प्राप्ति क क्रमशः 'अर्द्धमात्रा अकार-उकार-मकार' व चार सिद्धांत हैं । इन में तीन पुण्यों का क्रमशः मनुष्यलाक सायलाक (पितृलोक) ब्रह्मलोक इन तीनों स सम्बन्ध है । हरप्रधान अर्द्धमूर्ति प्रविष्टीलाक मनुष्यलाक है यह वाक्यप्रधान होता हुआ अक्षर प्रधान है । अक्षरप्रधान बजुर्मूर्ति अन्तरिक्षलोक (आ दि ब्रह्मा के सम्बन्ध में सोमलोक कहलाता है) पितृलोक है, यह प्रायप्रधान होता हुआ क्रियामूर्ति है । अव्ययप्रधान मास—(अवसान-अन्तिम प्रतिष्ठाकल्प)—मूर्ति दिव्यलाक (सूर्यलाक) ब्रह्मलोक है । यह मन्त्रप्रधान होता हुआ ज्ञानमूर्ति है । चौथा परात्पर लाक ब्रह्मलोक है । एक एक कक्ष की उपामना करने वाला क्यासक एक एक लोक विमूर्ति का उपामक बनता है । मकार पर प्रधान लक्ष्य रखता हुआ कर्मैत उत्तम आत्मक्षर का साक्षात्-कार करता हुआ तपो ब्रह्मचर्य-भङ्गा से मुक्त होकर मौक्तिक संपत्ति से पूर्ण समृद्ध हो जाता है । क्योंकि भूत की याति मकारस्थानीय ब्रह्ममय आत्मक्षर ही है । इस का मौक्तिक जगत् पर पूर्ण आधिपत्य हो जाता है । जिस का लक्ष्य मकार उकार इन दो मात्राओं पर रहता है वह उपा-मक तन्मय अक्षर का साक्षात्कार करता हुआ आन्तरिकविमूर्तियों का भग करने में समर्थ होता है । विमूर्तिम, तानन्तर पुनः उस जन्म सेना पड़ता है । जो महापुरुष समष्टि की उपामना करता है वह मानी विश्व ज्ञानमार्गी तन्मय अव्ययपुरुष का प्राप्ति करता हुआ सारे पाप्मनों स (जन्ममरणचक्र स) सर्वो प्रकार विमुक्त हो जाता है । जैसा कि एक पान्तर (सर्प) अपनी लम्बा (कच्छुरी) स विनिमुक्त हो जाता है । इस समष्टिरूपा ज्ञानमयी उपामना क प्रभाव स यह अपनी जावमस्या से निकल कर उस पगारर (इन्द्रराज्यपुरुष) संस्था का साक्षात्कार करलता है । पगारर की उपामना स्थानन्तरूप स मूर्ति हो सकनी कारण यह अर्द्धमात्रिक होता हुआ अमात्र है । समष्टि की उपामना स ही वहाँ पर दृष्टि पड़ी जाती है । कर्मकाण्डका मकारकला स सम्बन्ध है उपामनाकाण्ड का उकारकला स सम्बन्ध है एवं ज्ञानकाण्ड का समष्टि स सम्ब

न्व है। ज्ञानयाग स आत्मसुर की पौनों कलाओं का अक्षर में लय हाता है, अक्षर की पौनों कलाओं का अध्यय में लय होता है। इन पन्द्रह कलाओं की समग्रिष्य जीवाध्यय का उस इक्षराध्यय में लय हो जाता है। इक्षराध्ययद्वारा इस ओङ्कार की महायता से ही यह त्रिकाला तीत बनता हुआ उस शान्त-अभय-परात्पर नाम क अखण्ड ब्रह्म में विहीन हाता हुआ 'समबल्य' नाम से प्रसिद्ध परामुक्ति का अधिष्ठाता बन जाता है। 'परात्पर पुरिश्चय पुरुषम्' में परात्पर शब्द उस अखण्ड परात्पर का वाचक नहीं है, अपितु 'इक्षराध्यय' का ही वाचक है। इसी लिए पुरिश्चय पुरुषम् कहा है। अध्यय का 'पर' यह आचरण नाम है। जीवपर (जीवाध्यय) की अपेक्षा से इक्षरपर (इक्षराध्यय) परे है, अतः "परात् (जीवाध्ययात् पराः)" इस निश्चयन से इक्षराध्ययपुरुष को परात्पर कह दिया है। इस प्रकार 'परत्पर पुरुषमुपैति दिव्यम्' इन अन्य शक्तियों के आधार पर यहाँ का परात्पर शब्द भी इक्षराध्यय (मसीम मायी महेश्वर) का ही वाचक है। पहिले जीवकलाओं का जीवाध्यय में अध्यय हाता है। इस से जीवविभूति ससृष्ट बन जाती है। यही वचनान के लिए इस अवस्था के लिए भुक्ति— "स एतस्माज्जीवघनात्" यह कहा है। आगे आकर इस का स्वप्रभव परात्परपुरुष में अध्यय हो जाता है। इसी अव का स्पष्टीकरण करती हुई अन्य भुक्ति कहती है—

गता कला पञ्चदश प्रतिष्ठा दशाश्च सर्वप्रतिष्ठतास्तु ।

कस्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽध्यय सर्व एकी भवन्ति ॥

—मुण्डकोपनिषद् ३.२-७ ।

इसी अर्थ का स्पष्टीकरण मायकृष्ण ने किया है। वहाँ लोकमन्त्रध को प्रधान न मान कर कस्मात्मा द्वारा आत्मतत्त्व का ग्रहण कराया गया है। स्रष्टृपुरुष भूतकाल का अवसरपुरुष भवन् (वर्तमान) का, अध्ययपुरुष भविष्य का अधिष्ठाता है। इस का तात्पर्य यही है कि सृष्टिक मीतिक विरह अपने सृष्टिकमान के कारण नास्तिमान में परिणत होता हुआ अतीत काल में प्रविष्ट है। उस का कमी ईश्वरेन (वर्तमानस्त्वेन) मान नहीं होता। वह सदा बिनष्टप्राय है। पदार्थों में आ अस्तिप्रतीति है, यह कूटस्थ अक्षर की महिमा है। यही वर्तमानकाल है। यह दोनों धारणें उन्नी मन्त्र अन्वय पर अवलम्बित हैं। विरह इसी प्रकार बनता रहेगा एवं विगड़ता रहेगा—इस भविष्यमयी आशा का एकमात्र आत्मन्वन अध्ययपुरुष ही है। अतएव इसे भविष्यत् का अध्यय मानना उचित हो जाता है। इस प्रकार तीनों पुरुष त्रैकालिक हैं,

है। परन्तु पूर में ब्रह्मादि दृष्टान्तों का आत्मकाटि में ही अन्तर्भाव कृतलाया गया है। इस विचार का परिहार कस सम्भव है? इस प्रश्न के सम्बन्ध में अभी हम कहते यही कहना पया म सम्भव है कि, आत्मस्वरूप सम्बन्ध में जिन ब्रह्मा विष्णु आदि का उल्लेख किया गया है, उन के साथ उपरान्त ब्रह्मादि दृष्टान्तों का कोई सम्बन्ध नहीं है। गीताएँ एवम् विचार के मीतर उत्पन्न हान शाल वरपरार्थ हैं। 'जायमानो वै जायत सर्वाम्यो एताम्यो एव दृष्टात्म्य'। इस सिद्धान्त के अनुसार इन्हीं वैकारिक दृष्टान्तों की समष्टि मीतिक विरह है। जब पाहरी पुर्य के ब्रह्मादि अक्षर-आत्मस्वरूपमूर्ति होत हुए वैकारिक एवमर्ग म सर्वथा बहिर्भूत हैं। वेम इन्हे मी दृष्टा कहा जाय ता कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। उदात्तस्वरूप ही दृष्टा है। इसी आधार पर आत्मा का मी दृष्टा कहा जाता है। जिन्हे सर्वज्ञाधारण दृष्टता समझते हैं, गीता में जिन की उपमा का उल्लेख है 'अज्ञ का ज्ञान मो बहुत भाग जाकर मीरमूर्ति में होना है, जैसा कि भाग के तलत् प्रकरणों में स्पष्ट हो जायगा। अमृताना के सम्बन्ध में दृष्टता ही कह कर अमृततात्मविज्ञान की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

अक्षरप्रबन्ध ↓ विशुद्धरसः	परात्परबन्ध ↓ सर्वबलविरिष्ट रसः	} विरहातीतबन्ध
परात्पर — अर्द्धमात्रा		
अक्षर — अम्यय	उक्षर — अक्षर	सक्षर — आत्मबट
मृत्तिका — शुद्धिपापी { १ आनन्द २ विज्ञानम् ३ मातृ ४ माय ५ बक पञ्चकला	{ १-अमृतब्रह्मा २ विष्णु ३ " इन्द्र ४ " अग्नि ५ " माय परात्मकवि पञ्चकला	{ १-सर्वब्रह्मा २ " विष्णु ३ " इन्द्र ४ " अग्नि ५ " सोमः अमृतमूर्ति पञ्चकला

अमृतारमापाङ्गना — 'तस्य वाचक प्रथम'

तदित्य — परात्पर अम्यय, अक्षर, आत्मस्वरूपमर्देन चतुष्पात्र-

कलाभदेन पाङ्गनाकला यममृतामा पाङ्गनी व्याख्याता दृष्टव्य

समाप्ता चेय भाद्रविज्ञानान्तगत 'आत्मविज्ञानापनिपत्ति' प्रथमायां प्रथमवर्णनात्मिकायां 'अमृतात्मविज्ञानापनिपत्ति' प्रथमा

विरहातीतबन्ध — योदरी

श्रीः

समाप्ता वेप

'अमृतारमविज्ञानोपनिषत्' प्रथमा

!



अथ

‘भारमविज्ञानोपनिषदि—(प्रथमखण्डे)

‘अव्यक्तारमविज्ञानोपनिषत्’ द्वितीया

२

—[०]—

ॐ अन्यक्तात्मब्रह्मणे नमः

अन्यक्तात्मा-स्वयम्भू

✽ 'अन्यक्तं ब्रह्म' त्रुपास्व

पुत्रं यां ब्रह्म पूर्णं नमोभिर्विण्डोकायन्ति पञ्चैव एते ।
दृष्टवन्ति विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्य ॥ स्वे० उ० २, ५
सर्ववेदं गुहापतिपत्सु गूढं तत् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।
मे पूर्वं देवा अप्यश्च तत्सुविदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥ स्वे० उ० ५, ६
स्वमावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुष्मन्तान् ।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेहं ब्रह्मणः ॥ स्वे० उ० ६, १
येनायुतं नित्यमिदं हि सर्वं स कालकालो गुणी सर्वविधः ।
तेनेद्वितं कर्म विवर्धते ह प्रथिष्यप्तेभ्योऽनिलखानि चिन्त्यमान ॥ स्वे० उ० ६, २
नमः शान्तात्मने तुभ्य नमो गुह्यतमाय च ।
अचिन्त्याप्रमेयाय अनादिनिघनाय च ॥ —मैत्रायण्युपनिषद् ४, १५ ।

अन्यक्तात्मा नाम से प्रसिद्ध पोद्दरी-पुण्य के मनप्राणवाह्यमय सृष्टिसाक्षी कर्मात्मभाग की बलप्रधान मित्रता से सम्बन्ध रखने वाले सौम्य-काम, माधुर्य-रूप, तथा बाह्यमय ब्रह्म की विभक्तिके— भ्रम, नामक सृष्टिकर्मों के सामान्य तीन अनुश्रव्यों के व्यापार से सर्वप्रथम जिस 'बलोरक्ततात्मा' का विकास होता है, वही माहतात्मा 'अन्यक्तात्मा' कहलाया है जो मानव परिभाषा में 'शान्तात्मा' नाम से भी प्रसिद्ध है । अमृतात्मा का उपादानकारण लक्षण आत्मस्वर ही अपरलक्षण विरक्त का प्रथम (उपादान) बनता हुआ 'अपराप्रकृति' नाम

• विष्णु अन्यक्तात्मा शिव यज्ञात्मा मित्र महानात्मा, डिक्क विज्ञानात्मा, एवम् शारीरकात्मा भेदमिले हुए १५ सत्त्वगुणधर्मों का 'सुराविज्ञानभाष्य' तथा 'गीताभूमिका-आत्मपरीक्षाग्रह' में विस्तार से विवरण हुआ है । जहाँ वहाँ संक्षेप से ही (हृदिकोच्छेद से) हुए का एकीकरण किया गया है ।

(२) अव्यक्तात्मस्वरूपपरिचय — (ब्रह्म कर्ममयोऽव्यक्तात्मा)

- १—तम आसीत्तमसा गूढहमग्रऽप्रकेत सलिल मर्षमा इदम् ।
तुच्छयेनाम्बुपिहित यत्रासीत्तपसस्तन्महिना आपतैकम् ॥ श्रु० १०, ११, ३
- २—न मृत्युरासीदमृत न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेत ।
आनीदवात स्वधया तत्रैक तस्माद्भान्यन्न पर किञ्चनात् ॥ श्रु० १ १२, २
- ३—न वेदतत् परम ब्रह्मधाम यत्र विश्व निहित भाति शुभ्रम् ।
उपासत पुरुष ये ब्रह्मामास्ते शुक्रमेतदतिवचन्ति धीरा ॥ —श्रु० ३ ३, १
- ४—एषा ह दध प्रदिष्टाऽनु सन्वाः पूर्वे ह जातः स त गर्भे भन्त ।
स एव जात स अनिष्पन्नाय प्ररपङ्गवनांस्तिष्ठति सर्वतोमुख ॥ श्रु० ३० २, १६
- ५—छन्दांसि यद्वा कृतवा व्रतानि भूत मन्य यद्य वेदा वदन्ति ।
अस्मान् मापी सृजत विश्वमतत् तस्मिंश्चान्यो मापया सन्निरुद्ध ॥ श्रु० ४, ६
- ६—अनाद्यनन्त कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैक परिवेष्टितार ब्रह्मा दध सृज्यते सर्वपादौ ॥ —श्रु० ३ २, १३
- ७—आदि स नयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिफालादकलोऽपि दृष्ट ।
त विश्वस्य मयमूतमीडय तत्र स्वस्यचित्तस्वसुपास्य पूषम् ॥ श्रु० ३ ५, २
- ८—स ब्रह्मकानाकृतिमि परोऽन्यो यस्मात् प्रपञ्च परिवर्ततेऽयम् ।
धर्म्मावह पापनुद भवेत् क्षास्वार्मस्यममृत विश्वधाम ॥ श्रु० ३ ६, ६
- ९—समाश्रयाणां परम भद्रेश्वर स देवतानां परम च देवतम् ।
पति पतीनां परम परस्तात् विदाम तत्र सुवनेशमीडयम् ॥ श्रु० ३ ६, ७
- १—एष तत्रा विश्वकृत्मा महारमा सदा जनानां हृदये सन्निविष्ट ।
इहा मनीषा मनमाभिकन्द्या य एतद्विदुरमुनास्त भवन्ति ॥ —श्रु० ३० १, १७

ॐ अव्यक्तात्मब्रह्मणे नमः

अव्यक्तात्मा-स्वयम्भू

* 'अव्यक्तं ब्रह्म' त्यापास्व

युजे वां ब्रह्म पूर्णं नमोभिर्विष्णोःकायन्ति पद्मेव गुरे ।
क्षृण्वन्ति विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ स्वे० उ० २, ५
तद्ब्रह्म गुह्योपनिषत्सु गूढं तत् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मपोनिम् ।
यं पूर्वं देवा अप्रपश्यन् तत्क्षितुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥ स्वे० उ० ५, १
एवमावमेके कथयो वदन्ति काल उच्यन्ते परिमुक्षमाना ।
दक्षस्यैव महिमा तु लोके येनेह ब्राम्हणे ब्रह्मचक्रम् ॥ स्वे० उ० ६, १
येनाहूत नित्यमिदं हि सर्वं यः कालकालो गुणी सर्वविधः ।
तेनेशित कर्म विवर्त्तते ह पृथिन्यपूतेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥ स्वे० उ० ६, २
नमः श्रान्तात्मने तुभ्य नमो गुह्यतमाय च ।
अचिन्त्याप्रमेयाय अनादिनिधनाय च ॥ —मैत्रायण्युपनिषद् ५, १५ ।

अमृतात्मा नाम मे प्रसिद्ध पोडरी-पुण्य के मतप्राणवाहकस्य मृत्तिकाकी कर्मात्मभाग की वस्तुप्रधान निमृत्ता न सम्बन्ध रखन वाले मनोमय-काम प्राणमय-तप, तथा वाक्मय ब्रह्म की विद्यारत्नि— ब्रह्म, नामक मृष्टिकर्मों के सामान्य तीन अतुल्यों के व्यापार में सबप्रथम जिस 'ब्रह्मेश्वरात्मा' का विकास होता है, वही प्राकृतात्मा 'अव्यक्तात्मा' कहलाया है जो मानव परिमाणा में 'श्रान्तात्मा' नाम से भी प्रसिद्ध है। अमृतात्मा का उपादानकारण लक्षण-आत्मकार ही अपरलक्षण विश्व का प्रथम (उपादान) बनता हुआ 'अपराप्रकृति' नाम

• जिसका अव्यक्तात्मा जिसका वातात्मा जिसका महातात्मा, जिसका विश्वानात्मा, परब्रह्म शारीरकात्मा' भेदमिले ॥ १५ सयण-तत्त्वार्थों का 'पराविज्ञानभाष्य' तथा 'गीताभूमिका-आत्मपरीक्षामार्ग' में विस्तार से निरूपण हुआ है। अतः यही संक्षेप से ही (इष्टिकोषमें) देते हैं यह का रसिकरूप दिना आता है ।

म प्रसिद्ध है। उपादानकारण सङ्कष्टमापानुसार 'प्रथ' कहलाया है। आत्मेश्वर ही स्व-विकारों से विश्व का उपादान बनता है, अतः इस भी अवश्य ही 'प्रथ' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। निरुक्तकारणात्मक, 'पराप्रकृति' नामक अक्षर ही इस श्वर की विकासभूमि है, इसी आधार पर 'प्रसोषरसमुद्भवम्' (गीता ३। १२) यह कहना अशुभ है। 'प्रथ न्द्रविष्णुमि साम' या पौंष अक्षरकलाओं अक्षर की हैं व ही व पौं मर्त्यकलाओं इस आत्मेश्वर की हैं। अन्तर गों के पञ्चक में यही है कि, अक्षरकलापञ्चक अपने अविच्छिन्न (अपरिणामी) भाव से जहाँ प्रकृत है वहाँ श्वरकलापञ्चक स्व विच्छिन्न (परिणामी) भाव से मिश्रित है। श्वर की इन प्रकृति पौंषों मध्यकलाओं में निरन्तर विकार उत्पन्न होत रहते हैं। श्वर का मूलरूप (अव्यक्त रूप) अक्षर महाभाग से सर्वथा अविच्छिन्न रहता है एवं मूलरूप (व्यक्तरूप) विच्छिन्न रहता है। विच्छिन्नत्वस्वापन्न श्वर का विश्व में अन्तर्भाव माना जाता है एवं मूलात्मक (अव्यक्तत्व) अतएव अविच्छिन्नत्वस्वापन्न श्वर की आत्मकान्ति में माना जाता है। इस प्रकार आत्मेश्वर का आत्मा से श्री (प्रविष्ट-विरहश्वरप्रथ म भी) सम्बन्ध है एवं विरह (मृष्टप्रथ) से भी सम्बन्ध है। इसी उभयधर्मी के कारण इस 'आत्मेश्वर' इस नाम से व्यवहृत करना श्रितार्थ होता है अविच्छिन्नदृष्टि से वही "आत्मा" है, विकारदृष्टि से वही "श्वर" है। समष्टिरूप से वही 'आत्मेश्वर' है। आत्मभूत इस की प्रकृति से जो विकार उत्पन्न होता है, वह १ 'प्राण' नाम से विद्युत्कला का विकार २ 'आप' नाम से इन्द्र का विकार ३ 'वाक्' नाम से अग्नि का विकार ४ 'अन्न' नाम से एवं नाम का विकार ५ 'अन्न' नाम से प्रसिद्ध है। इसी विकारों के सम्बन्ध से आत्मरूप यह पराप्रकृतितत्त्व श्वर बन जाता है। पाठकों का इतना ध्यान रखना चाहिये कि एक ही नाम से निर्दिष्ट प्राण-वागादि-वाक्-विद्युत् से सबथा श्वर, श्वर, पराप्रकृत है। उपाहरण के लिए वाक्-तत्त्व का ही ध्यान रख लीजिए। पञ्चकला अव्यक्त में भी पौंषों वाक्कला है। प्राणादि पौंषों विकारों में भी अन्त की वाक्कला है। एक तीव्र वाक्-तत्त्व श्वर से सम्बन्ध रहता है। यही वाक्-सूत्र में उत्पन्न होती है। इस प्रकार वाक् के अनेक विवरण हैं। नाम सादृश्य मात्र से इन्हें अभिन्न नहीं समझना चाहिए। अव्यक्तवाक्-पुरुषवाक् है। इस का सृष्टि के उपादान से कोई सम्बन्ध नहीं है। अन्तर्विशिष्टानुसमनोभवप्राणगमिता यह वाक्-तत्त्व विरह का आलम्बन है। प्राणादि वाक्-द्वितीय वाक्-प्रकृतिसिद्ध है। श्वरवाक्-विच्छिन्नवाक् है। यही सीरीवाक् (जो कि वाक्-बुद्धि गौराविता एन्ट्री-स्वर आदि विविध नामों

स प्रसिद्ध है) दशताम्रों की जननी है। दशपात्ररूप वस्तुकार (वाक् का पदकार-वाक् क ६ विभाग-श्लोक) का सम्बन्ध इसी मौरीवाक् में है। इसी को “इन्द्रपत्नी” कहा जाता है। आगे जाकर वास्तव्य का भिन्न भिन्न कार्यों में उपयोग बतलाया जाना वाला है। इन क नामसारथ्य से परार्थतत्त्व में भ्रान्ति न हो जाए, अतः पहिले स इन भेदों को ध्यान में रखना चाहिए।

पुरुषवाक् का आधार पर प्रसिद्धि अक्षर के व्यापार स चर की पाँचों कलाओं स क्रमशः प्राणादि षण्णिक पाँच विकार उत्पन्न हुए। य पाँचों ही वैचारिक विश्व क मूलिक तत्त्व हैं।

इन्हीं के रासायनिक संयोग से वैश्विक विश्व उत्पन्न होने वाला

वाक्यम् अन्वयम् —

है। विज्ञानवस्तुानुयायी दार्शनिक जिन्हें “गुणभूत” कहते हैं,

प्राचिनिक समय (माध्य) में जो तत्त्व “तन्मात्रा” नाम से प्रसिद्ध है, विज्ञानकाण्ड में य ही हमारे प्राणादि पाँच विकारधर है। इन्हीं स आगे जाकर अणु भूत भौतिक-संस्थादि विविध

धर्मों का विकास होता है। अस्तु, दार्शनिक क्रम का वैज्ञानिक क्रम क साथ समन्वय करने का यही अवसर नहीं है। “ईक्षतनाशुब्दम् (शा० सू० १ पा० १ अ० ३ सू०) इन दार्शनिक

मिथ्यात्व क अनुसार दर्शनरक्षत्र की अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने क लिए इस स्वतः प्रमाण वैदिक विज्ञान का आश्रय लेना आवश्यक है। इस की प्रामाणिकता क लिए अ य

प्र ण्य सवधा अनपेक्षित है। अतः सब मय्यादाओं का एक ओर रख कर आप को मानना चाहिए कि विकारधर ही विश्व क मौलिक उपादान हैं। इन्हीं स विश्व उत्पन्न होता है, अतः

एव इन की समष्टि को विज्ञानभाषा में “विश्वसूत्र” कहा जाता है। पाँचों ही विकारधर विशुद्ध रूप से कभी उपलब्ध नहीं होते। पाँचों धर पाँचों में निरव्य भेदित होकर ही अपना स्वरूपसत्ता

रक्षण में समर्थ होते हैं। संकृतभाषानुसार त्रिस तत्त्व में आहुति होती है आहुति ग्रहण करने वाला, आहुति की प्रतिष्ठा रूप वह तत्त्व “अग्नि” कहलाता है, एवं आहुत होने वाला तत्त्व

“साम” नाम से प्रसिद्ध है। अग्नि में सोम का आहुत होना ही यज्ञ है। पहिले प्राणतत्त्व में आप-वाङ्-मन-अनाह, इन चारों मौलिक धरों की आहुति होती है। यहाँ उक्त परिभाषा क अनुसार प्राण का अग्नि समर्पण, एवं शय चारों का साम समर्पण। ममत्व का यज्ञ

समर्पण। इसी प्रकार आप वाङ्-अन-अन्नाद,—इन चारों का आधार मान कर शेष चारों की क्रमशः प्रत्येक में आहुति होती है। इस पञ्चाकरण प्रक्रिया स आ इन पाँचों पञ्चीकृतों का

अपूषस्वरूप निष्पन्न होता है, यही ‘पूषजन्’ नाम से प्रसिद्ध है। “वैश्वस्यासु सदादस्तदाद”

इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार इन पाँचों के नामों में कोई अन्तर नहीं होता। दूसरे शब्दों में यही प्रण आप-वाक्-आवि नामों से ही व्यवहृत होते हैं। इन प्राण आप-वागादि-प्रत्यक में प्राण अथवा आपादि पाँचों विद्यमान हैं। अर्द्धभाग में प्राण है, अर्द्धभाग में शेष चारों हैं। अर्द्धभाग में आप है अर्द्धभाग में प्राणादि शेष चारों हैं। यही क्रम सबत्र समन्वित। आगे जाकर इन पाँचों पञ्चीकृतों का पुनः समन्वय होता है। यह दूसरी पञ्चीकरण प्रक्रिया है। पञ्चीकृतप्राण में पञ्चीकृत आप-वागादि शेष चारों की आहुति होती है। इस से 'प्राण' नाम के 'पञ्चपञ्चजन' का विकास होता है। इसी प्रकार पञ्चीकृत आप में प्राणादि शेष चारों पञ्चीकृतों की आहुति से 'आप' नाम के 'पञ्चपञ्चजन' का विकास होता है। यही क्रम शेष चारों में समन्वित। पञ्चजना में प्राणादि का वैषम्य न था परन्तु इन पञ्चपञ्चजनों के संस्कार से वैषम्य उत्पन्न हो जाता है। इसी विषमता के कारण इन के नामों में भी अन्तर हो जाता है। पञ्चीकृत पञ्चजना की यह द्वितीयावस्था ही विषमभाव के कारण पुरमात्र (विहमात्र) की उत्पत्ति बनती है, अतएव इसे 'पुरञ्जन' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। पञ्चीकृत प्राण से विकसित होने वाला पुरञ्जन वेद नाम से, आप सम्बन्धी लोक नाम से, वाक् सम्बन्धी देव नाम से, अन्नसम्बन्धी पशु नाम से एवं अग्नादि सम्बन्धी भूत नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रत्येक पुरञ्जन में पञ्चीकृतपञ्चजनों के समन्वय से १५-२५ कलाएँ हैं। इसका अन्तर्य मानना पड़ता कि प्रत्येक पुरञ्जन में १५-२५ कलाओं के रहने पर भी प्रचलता मूलभूत प्राण आप-वागादि-रस-रव कलाओं की ही रहती है। वेदपुरञ्जन की २५ सौ कला प्राणमयी हैं अथवा पुरञ्जन की २५ सौ कला आपाणमयी हैं। यही व्यवस्था शेष तीनों में समन्वित प्राणान्तरिक वेदपुरञ्जन से स्वयम्भूपुर का निर्माण होता है। प्राकृतस्व नित्य है अतएव प्राण का विषयभूत 'ब्रह्मनिष्कमित' नाम से प्रसिद्ध अपौरुषेय ब्रह्म ही नित्य ही है। यह स्वर्ग उत्पन्न है स्वर्ग नष्टभूत है। अतएव तद्रूप पहिला पुर स्वयमेव भवति' इस निश्चयन 'स्वयम्भू' नाम से व्यवहृत होता है। यद्यपि अमृताराम (जोश्यापुरण) की अपेक्षा से यह प्राणमूर्ति किंवा वेदमूर्ति स्वयम्भू स्वयम्भू है तथापि पादक (पञ्चादक) विष्णु के इतर चारों पक्षों की अपेक्षा इस इस अमृत्य ही करेगी। इस 'जया' नाम के मुख्य स्वयम्भू के चार मुक्तों में ही आग की सगुर्भ सृष्टि होती है।

हमने बताया है कि पञ्चजन-प्राण से समन्वय द्वारा वेवपुरञ्जन प्रादुर्भूत होता है, एवं वेवपुरञ्जन से स्वयम्भू का विकास हुआ है। ऐसी अवस्था में स्वयम्भू में पञ्चीकृत प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद, इन पाँचों प्राकृत प्राणों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। स्वयम्भू ब्रह्मा प्राण-मुख है, आपोमुख है, वाक्मुख है, अन्नादमुख है, अन्नमुख है। अग्निरस ही अन्नाद है, सोमरस ही अन्न है। एवं—“अग्निवा रुद्र-तस्यैते द्वे तन्वे घोरान्या च, शिवान्या च” (शत० ५।३।१।१०) इस सिद्धान्त के अनुसार अग्निरस ही रुद्र है। इस अग्निमय, अतएव अन्नावमय रुद्रदेवता की कृपा से सोमान्तरूप एक मुक्त कट जाता है। सोम के अग्निगर्भ में आबुध होते ही इस की स्वतन्त्र सत्ता अधिष्ठा हो जाती है। अग्निगर्भित सोम स्वस्वरूप की ओता हुआ अग्निमय ही बन जाता है। दूसरे शब्दों में आप (अन्नरूप सोम) जब अत्ता (सोम अग्नि) में चला जाता है, तो अत्तारूप में परिणत होता हुआ वह आप अपने स्वतन्त्र व्यवहार को छोड़ कर अत्ता ही कहलाने लगता है, जैसा कि वाक्मिति कहती है—

“तद्यदोमय समागच्छति अद्यैवास्यायते नाद्यम्। स वै यः सोऽत्ता-
अग्निरेव सः”—शत० १०।३।३।१।२। इति ॥

इस प्रकार अन्नाद-अन्न के पारस्परिक आहित (आबुध) सम्बन्ध से ब्रह्म के चार ही मुक्त रह जाते हैं। इन चारों मुक्तों में पहिला प्राणमुख है, इस से देवसृष्टि होती है। दूसरे आपोमुख से डाकसृष्टि होती है। तीसरे वाक्मुख से देवसृष्टि होती है। अन्नगर्भित चौथे अन्नावमुख से पशुसमन्विता मृतसृष्टि होती है। महामात्र के मतानुसार वाक्मुख से ब्रह्मा सृष्टि होती है, एवं अन्न-अन्नावमुख से अर्म्मसृष्टि होती है। चतुर्विधसृष्टिप्रबर्धक प्राणप्रधान यही ब्रह्मा आधिदैविक संस्था में स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध है, एवं अभ्यात्मसंस्था में यही ‘शान्तात्मा’ नाम से व्यवहृत हुए हैं। अभ्यन्तरमा इन दोनों का साधारण नाम है।

इस अभ्यन्तरमा के अन्तर्धामी, अज्ञात्मा, ब्रह्मात्मा, मेव से तीन प्रधान विद्यत हैं। अभ्यन्तरमा के तीन विस्तार—तीनों का संक्षिप्त स्वरूप बताया देना भी अप्रासङ्गिक न होगा। प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहकर उस का निष्पत्त रूप से सञ्चायन करना इस अभ्यन्तरमा का प्रधान कर्म्य है। सर्वप्रथम आधिदैविक संस्था का

ही विचार कीजिए। इस संख्या में भू-भुवः-स्वः नाम के तीन प्रधान लोक हैं। “प्रयात्रा इमे त्रिवृता लोकाः” इस श्रौतमिदान्त के अनुसार उक्त तीनों लोकों में प्रत्येक लोक त्रिवृत् (त्रिगुणित) है। महाभ्यासि नाम स प्रसिद्ध तीनों के अन्वय ‘भू-भुवः-स्व’ य तीन में हैं। यद्यपि इस त्रिवृत्मात्र के कारण ३ लोक होना चाहिये, परन्तु ३ लोकों का भू-स्व, इन दोनों के साथ सम्बन्ध हो जाने से साथ ही लोक रह जाते हैं। जिस आप पृथिवी कहते हैं उस भूलाक समझिए। प्रत्यक्ष सूर्य को स्वर्ग लोक समझिए, सूर्य की पृथिवी का मध्यस्थान अन्तरिक्ष समझिए। इन तीनों की समष्टि को “भू” नाम की पहिली महाभ्यासि समझिए। लोकत्रयात्मिका यही भू नाम की पहिली रोदसीत्रिलोकी है। इस त्रिलोकी को पृथिवी समझिए, परमेष्ठी को स्वर्ग लोक समझिए, मध्यस्थान को अन्तरिक्ष समझिए। इन तीनों की समष्टि को “भुवः” नाम की दूसरी महाभ्यासि समझिए। लोकत्रयात्मिका ‘भुवः’ नाम की यही दूसरी क्रन्दसीत्रिलोकी है। इस क्रन्दसी की समष्टि का भू समझिए, स्वयम्भू को स्वर्ग लोक समझिए। मध्यस्थान को अन्तरिक्ष समझिए। तीनों की समष्टि को “स्व” नाम की महाभ्यासि समझिए। लोकत्रयात्मिका स्व नाम की यही तीसरी सप्ततीत्रिलोकी है। इस प्रकार इस त्रैलोक्य त्रिलोकी के क्रम में निम्न लिखित रूप से सात लोक हो जाते हैं—

३—स्वः	सप्ततीत्रिलोकी	३—स्व	—	—	सप्तलोकः ३—→ स्वयम्भू (७)
		—भुवः	—	—	तपोलोकः २—→ अन्तरिक्षम् (६)
		१—भू	—	—	अनल्लोकः ३—१—→ परमेश्वरी (५)
२—भुवः	क्रन्दसीत्रिलोकी	२—स्व	—	—	महर्लोक २—→ अन्तरिक्षम् (४)
		२—भुवः	—	—	—
		१—भू	—	—	३—स्व—स्वर्ग लोक ३—१—→ सूर्य (३)
१—भू	रोदसीत्रिलोकी	२—भुवः	—	—	२—भुवः—भुवर्ग लोक २—→ अन्तरिक्षम् (२)
		भू	—	—	भू—भूलोक १—→ पृथिवी (१)

उक्त सातों लोकों में सप्ततीत्रिलोक्य का स्वर्गलोकस्वानीय स्वयम्भू सप्तलोक है। इतर ६ लोक विभागी हैं, अस्थिर हैं परिभ्रमणशील हैं। सातवाँ सप्तस्वयम्भू अविभागी है एक स्थान

पर स्वरूप से प्रतिष्ठित है। अपने अन्तरिक्ष (भुवर्लोक) के साथ पृथिवी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रही है। साम्तरिक्ष पृथिवी को अपने उदर में (महिमामण्डलमें) प्रतिष्ठित किये हुए अपने अन्तरिक्ष (महर्लोक) के साथ स्वर्लोकाभिष्टावा सूर्य परमेश्वर के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। सान्तरिक्ष सूर्य को अपने उदर में प्रतिष्ठित किये हुए अपने अन्तरिक्ष (तपोलोक) के साथ अनन्तलोकाभिष्टावा परमेश्वर सत्यस्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। इन ६ओं रवों को स्वोदर में प्रतिष्ठित रखने वाले, अपनी प्राणशक्ति से ६ओं का विचरण करने वाले स्वयम्भू इन के मार से कभी लिप्त नहीं होते। पञ्चवाभिष्टावा, 'परोरक्षा' नाम से प्रसिद्ध इसी स्वायम्भुव सत्य तत्त्व का निरूपण करते हुए वेद भगवान् कहते हैं—

अचिकित्वाश्चकितुपश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विभूतने न विद्वान् ।

वि यस्तस्मै पश्चिमा रक्षासि, अवस्य रूपं किमपि सिद्धेकम् ॥ १ ॥

विस्त्रो मादुश्चीन् पिदुन् विभ्रदक ऊर्ध्वस्तस्यौ नेमव ग्लापयन्ति ।

मन्त्रपन्ते दिषो असृण्य पृष्ठे विस्ममिद वाचमविश्वमिन्वाम् ॥ २ ॥

—अक्स० १। १६४। ६ मं० १०।

सत्यलोकाभिष्टात्री, किंवा सर्वलोकाभिष्टात्री उक्त स्वायम्भुवी शक्ति का १ नियति २ विष्टम्भन ३-उपलब्धि, जेव से तीन प्रकार से विकास होता है। ये ही तीनों विज्ञानमाया नुसार स्वयम्भू के मनोवा कहलाये हैं। अभ्यक्त स्वयम्भू की दृष्टि से तीनों मनोवा एक रूप हैं अभ्यक्तात्मरूप हैं। एवं परस्पर की अपेक्षा से तीनों सर्वथा प्रबद्ध कर्मा, प्रबद्ध धर्मा हैं। इन्हीं गुणमूत अवयवों के सम्बन्ध से एक ही स्वायम्भुव अभ्यक्तात्मा के 'अन्तर्ग्यामी सूत्रा त्मा, वेदात्मा' ये तीन विभर्त्त हो जाते हैं। इन तीनों में वयात्मा मकार स्वानीय है, सूत्रात्मा उकार स्वानीय है, अन्तर्ग्यामी अकार स्वानीय है। तीनों ऊपरों में समान रूप से व्याप्त अक्षरवद अभ्यक्त अर्द्धमात्रा-स्वानीय है। समष्टि "ओङ्कार" है। जिस प्रकार सर्वत-पाणिपाद् पोटरीपुरुष प्रत्यक्षमूर्ति है, एवमव यह वृत्तीता अभ्यक्तात्मा भी प्रत्यक्षमूर्ति ही है—“यदेवेह सद्गुप्तम्”। इस के तीनों विभर्त्तों में से पहिले नियति विभर्त्तकी ओर ही पाठकोंका ध्यान आकर्मित किया जाता है।

सूर्य-चन्द्रमा-मङ्गल-ग्रह-पृथिवी-आदि आधिदैविक पदार्थों, गुरुप-यह-पञ्ची-हमी-कीटादि भौत पदार्थों, औपधि-बनस्पति-पुष्प-यस्तक-वस्त्रादी-आदि अर्द्धभौत पदार्थों सुवर्ण-रजत-ताम्र-सीसक-बीह-पापाण-आदि अर्द्धभौत पदार्थों के स्वभाव वैधित्र्य पर जब हमारी दृष्टि जाती है, तो हमें आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। अतनात्र भौतनाभौत तत्त्व पदार्थों का निर्माण यज्ञ ही

विभिन्न स्थित (कारिणी) में हुआ है। ऐसा विदित होता है कि, मानों कोई बहुत स्थिर नहीं हो। मांसपानो में इन सब पदार्थों का निष्काण कर रहा हो। स्वान स्वान पर किसी अशुद्धि स्थिति की बुद्धि वैभव का विकास प्रतीत हो रहा है। सब कामगता गुणा, कहीं अशुद्धि भी अव्यवस्था नहीं। एक शरीर की रचना पर ध्यान दीजिए। मस्तक—बभ्रु—नासिका—श्रोत्र—हर—मुख—पाद—धंगुल—नाभ—कूट—लोम आदि प्रत्येक अवयव यथास्वान प्रसिद्ध हैं। क्या बिना किसी पेलन—वृद्धता के इस प्रकार का शिल्प सम्भव है? कदापि नहीं। एक मृग के इन दो शङ्खों (धौत) की उम्र विभिन्नता को देख कर कहना पड़ता है कि, यह कृति किसी उत्कृष्ट वृद्धता की प्रेरणा में सम्भव्य रहती है। दोनों माँग यहाँ से निकल हैं वहाँ दोनों का समा नास्तर, समान स्वरूप। शृणों ऊपर की ओर गए हैं, वां समानान्तर से समान रूप से। एक मृग के पंखों का शिल्प। मूल—शान्ता—पल्लव—पुष्प—फल—आदि प्रत्येक पक्ष में अशुद्ध कारिणी। पानी को आप जब कभी जिन स्थान पर भी डालेंगे, वह सदा नीचे की ओर ही बहता। भस्मा साक्षर तो नहीं हम जब पानी को किस न सिखाया कि न नीचे की ओर ही बहता। क्या नियत धर्म है। अग्नि महा ऊपर की ओर ही जाता है। वायु सदा विप्लव ही करता है। कस्तुरी कभी दक्षिण को नहीं छोड़ता। पृथिवी कभी क्षणिक से अशुद्ध नहीं होती। मृग्य कभी अशुद्धि मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करत। पञ्चम वृद्धता कभी अपन कृष्णमं न उपरत नहीं होत। विप कभी अपनी मादकता नहीं छोड़ता। महाप्रति कभी अपन मार्गों में विचलित नहीं होत। प्राप्तकाल में मृत्यु देवता कभी किसी पर उदारता नहीं दिव्यतात। मार्ग में (एकमात्र अस्तव्य सहित मनुष्य को छोड़कर) कोई भी इस निवर्त मर्यादा का उत्कृष्टन नहीं करता। “मनुष्या एवैकजितिकामन्ति” शत० २।४।२।६। कभी तो शास्त्रोपदेश एकमात्र मनुष्य के लिए ही उपयुक्त बना है। इतर सारे प्राणी स्वयं एवं अपनी अपनी नियत चर्या से बद्ध हैं। हम के लिए शास्त्रोपदेश अनपेक्षित है। हम बुभुक्षा शान्त करन के लिए अन्न खाते हैं। यहाँ तक तो हमारा (जीवात्मा का) व्यापार है। परन्तु शारीरिक में हुए अन्न किम कर्म में समाग्रादि धान्य रूपों में परिणत हो जाता है? वह अविज्ञात है। शरीर उदाहरण मात्र है। विश्व के प्रत्येक पदार्थ किसी हृदयसतन-कर्ता की प्रेरणा में प्रेरित होकर स्व-स्व कर्मों में मग्न रहत हैं। उन्मत्ता होने पर हम अराम पानादि करत हैं। परन्तु इन्द्रा क्यों हुए? हम प्रान का समाधान नहीं शास्ता है। क्या मजाल या काह हम का शासन न मान। विश्व के वह न वह शक्तिशाली पदार्थ, धाते में

झोटे पदार्थ, सब इस के मय से कल्पित होते हुए अपने अपने आधिकारिक कर्मों में प्रवृत्त हो रहे हैं। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ से अभिविक्त, किन्तु इस के हृदय में प्रतिष्ठित वह शास्त्र/तत्त्व ही “अन्तस्तिष्ठन् सन् नियमति” इस निर्बचन से ‘अन्तर्यामी’ नाम से प्रसिद्ध है। यही नियत मापों का प्रेरक बनता हुआ, नियत माप की चर्या का अभिप्राय बनता हुआ ‘नियतिब्रह्म, नियतिपरब्रह्म’ इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। यही नियतिपर शास्त्र निरुक्त ब्रह्मानुसार विगड़ते विगड़ते भाव के अगत् में ‘नैचर’ (Nature) नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। धर्मान् माप में यही तत्त्व ‘स्वभाव-प्रकृति’ आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। प्रकृत्यत्वात्मक इसी अन्तर्यामी का विन्दन कराती हुई भुक्ति कहती है—

पदिद किञ्च अगत् सर्व प्राप्य यजति नि सुतम् ।

मह्यमय वृक्षयत य एतद्विदुरभूतास्ते भवन्ति ॥ १ ॥

मयादस्यान्निस्तर्पात मयाचपति सूर्यः ।

मयादिन्द्रश्च बापुश्च भृत्युर्चापति पञ्चम ॥ २ — कठोपनिषत् ६, २, १

“य पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तर, य पृथिवी न वेद, याप पृथिवी—
क्षरीर, य पृथिवीमन्तरो यमयति, स तऽ आत्मान्तर्प्याम्यमृत । यो-
ऽप्यु तिष्ठन् ×××, योऽग्नी तिष्ठन् ×××’ य आकाशे तिष्ठन् ××
यो वापी तिष्ठन् ×××, य आदित्ये तिष्ठन् ×××, यश्चन्द्रतारके-
तिष्ठन् ×××, यो दिक्षु तिष्ठन् ×××, यो विद्युति तिष्ठन् ××
य स्तनमिलौ तिष्ठन् ×××, य सर्वेषु लोकेषु तिष्ठन् ×××, यः सर्वेषु
वेदेषु तिष्ठन् ×××, यः सर्वेषु यज्ञेषु तिष्ठन् ×××, यः सर्वेषु भूतेषु
तिष्ठन् ×××, य प्राज्ञेषु, वाचि, यक्षुषि, मोक्षे, मनसि, त्वचि, तेजसि,
तमसि, रेतसि, आत्मनि तिष्ठन् ××× । अष्टौ ब्रह्मा, अमृतः धोता,
अमृतो मन्त्रा, अविद्याभो विहाता एव तऽ आत्मा अन्तर्यामी-अमृत ।
अतोऽन्यदार्णम् । ततो होषुदासक आरुणिरुपराम” — शत० १४।१।७

यह घट घट व्यापक है, सब के हृदय में प्रतिष्ठित है, सब का शास्त्र है,
नियतमाप का प्रार्थक है, सब कुछ उसी से उत्पन्न हुआ है। सम्पूर्ण प्रपञ्च प्रकृति

नेत्र) रूप तम तत्त्व की छीछा मात्र है” यह है अव्यक्त अन्तर्व्याप्ती का उदय लक्षण। सुप्रसिद्ध सर्वात्मिभू—सर्वग-आत्मतत्त्व (बोझापुराण) के स्वरूप में सर्वथा अपरिचित वर्तमान जगत् (पारमार्थ्यजगत्) प्रत्येक विषय में नेत्र की ही धोपखा किया करता है। अमुक काम एम क्यों हुआ ?, इस का ऐसा स्वरूप क्यों है ?, इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए “नेत्र ने ऐसा किया है नेत्र स एसा हुआ है, सब काम नेत्र करती है यह कहा जाता है। यदि शिवात्मविस्तृत इन नेत्रमण्डलों से पेंछा जाता है कि, कृपा कर बतलाइये ! आप की इस नेत्र का क्या स्वरूप है ? तो इस प्रश्न के लिए ये निश्चर हो जाते हैं। इधर आर्य महर्षियों ने तत्त्व-एवं स्वरूप लक्षणों द्वारा हम का सर्वथा स्पष्टीकरण कर दिया है। तदस्य लक्षण बतला दिया गया अब स्वरूप लक्षण का भी विचार कर लीजिए। प्रत्येक पदार्थ की स्वरूप रक्षा स्वरूप निर्माणात्मनादान प्रर निरर है। अर्थात्, अवस्था बतन, सब को अन्न खाने की आवश्यकता होती है। “यत् सप्तान्नानि मेघया तपसाऽन्नपत् पिता” (इ० भा० ४०१, ५, १) इस सिद्धान्त के अनुसार वह अन्न आत्म-प्राण-भूषादि विविध मोक्षार्थों के मोक्ष से ? ज्ञान, ० कर्म ३ आकाश (शब्द) ४-वायु (इशाम प्रभास), ५-तेज (ऊष्मा), ६-जल ७-पृथिवी (आपमि—बनस्पति), भेद स सात मार्गों में विभक्त है। एक मकान जिस आप सर्वथा अब समझ रहे हैं, विश्वास कीजिए, वह भी वायु-प्रकाश, आदि अन्तों की अपेक्षा रक्षता है। शिल्पियों द्वारा निर्मित नवीन मकान तत्सम समय पर जीर्ण होता रहता है। इस की रक्षा के लिए मरम्मत करवानी पड़ती है। मूलभाग ज्यों का र्यों रहता है, प्राणभाग निष्कल जाता है। इमी की निश्चिन्ता करनी पड़ती है। मकान का जीर्ण होना ही वह बतला रहा है कि अवश्य ही इस में से कोई लक्षणविशेष निकल गया है। इसी प्रकार यदि किसी मकान को चारों ओर से बंद कर दिया जाता है तो वायु-प्रकाशादि अन्तों के बंद होजाने से सातों से सात में वह जीर्णमन्त्र होता जाता है। स्थान-स्थान से नूना गिरज जगता है। कारण यही है कि प्राण अपने गतिस्वभाव से निष्कलता रहता है, जबकि वायु-प्रकाशादि के अवच्छेद हो जाने से प्राण का आत्मम अवच्छेद हो जाता है। फलतः वह निष्प्राण हो जाता है। अब शब्द स अवच्छेद पदार्थों की अब यह दशा है, तो बतन पदार्थों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। अन्न खाना, यह पहिला साधारण धर्म है। इस के साथ साथ मुख्य-न्न खर्च भी होता रहता है। यदि ऐसा न हो तो एक बार, अवस्था ही तीन बार अन्न खा लेने के पश्चात् पुनः अन्नादान की आवश्यकता ही न पड़े। अन्नविशेषांतरण यही दूसरा धर्म है। आपान और विसर्ग, दोनों की

आधारभूमि एक सीसरा स्थिर तत्त्व और मानना पड़ता है। अन्न खाता रहता है, और खाता रहता है। फिर भी पदार्थ स्थिर सा प्रतीत होता है। अवरय ही स्थिरता सम्पादक आगति-गति की मूलप्रतिष्ठारूप यह तत्त्व दोनों से प्रथक् है। एक मरोबर में पानी खाता रहता है, एवं खाता रहता है। परन्तु सरोबर स्थिर है। बिना इस स्थिर आयतन के पानी का खाना भी सम्भव न था, खाना भी सम्भव न था। इस प्रकार वस्तुमात्र में अन्नादान अन्नविसर्ग, दोनों की स्थिति का आधार, इन तीन भावों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। अवरय हो प्रत्येक पदार्थ में एक शक्ति पंसी है, जो निरन्तर अपने आकर्षण सूत्र से अन्न लैवा करती है। साथ ही में एक शक्ति आगत अन्न का विक्षेपण किया करती है। एक तटस्थ शक्ति के आधार पर इन दोनों प्रतिद्वन्द्विनी शक्तियों का समन्वय होता रहता है। शक्तिस्वन यह शक्तिप्रयी समान है परन्तु उपाधिभेद से दूसरे शक्तियों में पदार्थों के स्वरूप भेद से वह अनन्त रूपों में परिणत हो रही है। उदाहरण के लिए अग्नि, और जल को लीजिए। एक ही शक्ति दोनों में है। परन्तु अग्निमन्वन्ध से अग्नि की शक्ति दहन करने का सामर्थ्य रखती है पानी की शक्ति शान्ति की अभिप्रायी बन रही है—‘शान्तिराप’। यहाँ दोनों एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्विनियों बन रही हैं। अग्नि का नियत भाव इसे ऊपर लेजा रहा है, पानी की नियति इस नीचे लेजाती है। वायु की नियति वायु को विपर्ययागो बना रही है। कहना पड़ी है कि, पदार्थ भेद से नियति भाव भी बदल रहा है। उक्त तीनों शक्तियों प्रत्येक पदार्थ के कन्द्र में रहती हैं। आप अपने चक्षुःश्रुति से नामरूपकर्मात्मक पदार्थ को देख सकते हैं। पदार्थ ही व्यक्त है इदमस्या यह शक्तिप्रयी अव्यक्ता है चक्षुःश्रुति से परे है। इन में आवान शक्ति का आहरण सम्बन्ध से ‘ह’ अक्षर से विमर्श शक्ति का अव्यक्तरूप बिनाशसम्बन्ध से ‘द’ अक्षर से, एवं दोनों की आधारभूत नियमन शक्ति का नियमन भाव के कारण ‘यम्’ अक्षर से अभिनय किया जाता है। तीनों की समष्टि ही “हृदयम्” है। संकेत विद्या के अनुसार ‘ह’ को विष्णु ‘य’ का इन्द्र, ‘यम्’ का ब्रह्मा कहा जाता है। ह-द-य-ये तीनों विष्णु-इन्द्र-ब्रह्मा-क वाचक हैं। यह ‘हृद-य’ (विष्णु-इन्द्र-ब्रह्मा) प्रत्येक पदार्थ के हृदय में (कन्द्र में), प्रविष्टित रहते हैं। शक्त का विकास-स्वान प्रत्येक पदार्थ का केन्द्र ही है केन्द्रप्रतिष्ठा से वस्तु प्रविष्टित रहती है कन्द्र के विवक्षित हो जाने से पदार्थसत्ता विलीन हो जाती है। कन्द्रस्वान एक सूक्ष्मतम एवं हृदयम निराकार आयोजन है। इस में वही हृदय नाम की शक्ति प्रविष्टित हो रही है। हृदय में ‘ह-द-य’ प्रविष्टित हो रहा है यह कम आरम्भ नहीं है—‘हृदि अयं हृदयम्’। पिण्ड ममा का सम्पादन

इसी रूप प्रजापति पर निर्भर है। वह स्वयं अजायमान है, सब कुछ सृजितम् (मंडी के जात) की तरह उसी से उत्पन्न हुआ है। इसी गभीर अभ्यक्त प्रजापति का विद्यार्थन कराती हूँ वस्तुभूति करती है—

“प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजापमानो वस्तुभा विज्ञापते ।

तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विज्ञा ॥

—यजुर्म० ३१।१३

प्रजा-विष्णु-इन्द्र तीनों अक्षर की कक्षाएँ हैं। अतएव उक्त रूप प्रजापति को ‘अक्षर’ कहा जाता है। यह अक्षरत्रयी ही तो अन्तर्ध्यायी है। यही तो शास्त्रा है। पाठकों को स्मरण होगा कि, पूर्व की जमुत्तारमोपनिषद् में हमने पञ्चकक्ष अक्षर को षोडशीपुरुष नाम से प्रसिद्ध असृवात्मा के अन्तर्गत माना है। वह असृवात्मा विश्वम्भाषक है। हमारे स्वयम्भू नामक वह अभ्यक्तात्मा सत्त्ववर्ध है, विश्व का एक अक्षरवर्ध है। वैसे स्थिति में परम अप्रसिद्ध हो सकता है कि, अक्षर तो अक्षरवर्ध आत्मा का अनुमाहक है फिर इस सत्त्ववर्ध प्राकृतात्मारूप अभ्यक्त को अक्षर कैसे माना गया ?, इस प्रश्न के समाधान में हम यही कहेंगे कि, विश्व के पर्वरूप स्व० पर सू० च० पृ०, इन पाँच कक्षों में कम षोडशीपुरुष का योग होता है। षोडशी के अभ्यक्त भाग तो पाँच पक्षों में समानरूप से व्याप्त है। परन्तु सूर्य से ऊपर असृवप्रकृति प्रधान अक्षर का प्रभुत्व है। सूर्य से नीचे मर्त्य प्रकृतिप्रधान आत्मक्षर का प्रभुत्व है। मध्यस्थ सूर्य में दोनों की प्रधानता है। अक्षर को पराप्रकृति कहा गया है, एवं आत्मक्षर को अपरा प्रकृति कहा गया है। सूर्य से ऊपर स्वयम्भू, और परमेष्ठी में पराप्रकृतिरूप असृवाक्षर का एवं सूर्य से नीचे पृथिवी और अम्बुसा में अपराप्रकृतिरूप मर्त्यात्मक्षर का साक्षात्कार है। अतएव ऊपर के दोनों कोषी परब्रह्म नीचे के दोनों कोषी अपरब्रह्म नाम से प्रसिद्ध होते हैं। ‘पर आपर च ब्रह्म यदोद्धारः’ के अनुसार समाधि ओद्धार है। इस ओद्धार में अभ्यक्त अर्धमात्रस्थानीय है, जैसा कि परिक्षेप से स्पष्ट है—

परब्रह्म	$\left\{ \begin{array}{l} १-१-प्राणमय स्वयम्भू \\ २-२-आपोमय पद्मेष्टी \\ -०- \end{array} \right\}$	-परामकृतिरक्षर → → → अकार	पञ्चपरब्रह्मपञ्चकः पुरुषोऽव्यय 'अक्षर' मात्रा
परापरब्रह्म	$\left\{ \begin{array}{l} ३-१-वाक्मय सूर्यो \\ -०- \end{array} \right\}$	-परापरमकृतिरक्षरात्मक्षर → इकार	
अपरब्रह्म	$\left\{ \begin{array}{l} ४-१-अन्तमयश्चन्द्रमा \\ ५-२-अन्नाश्मयी पृथिवी \\ -०- \end{array} \right\}$	-अपरामकृतिरक्षरात्मक्षर → मकार	

एतदं सत्यकाम ! पर चापर च ब्रह्म यदाह्वरः

अक्षर का मौलिकरूप ब्रह्मा है। इस का व्यक्तरूप सर्व ब्रह्मा है। विकार स्वरूप प्राण है। इस प्रकार ब्रह्ममूर्ति अमृताक्षर ही अमृतब्रह्मा-मर्त्यब्रह्मा-प्राण-पञ्चीकृतप्राण-पञ्चपञ्चीकृतप्राण इस क्रम से स्वयम्भू रूप में परिणत हुआ है। स्वयम्भू में अव्यक्त अक्षर की ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र धीनों कलाओं का हृदयरूप से विकाम हुआ है। अतः इस स्वयम्भू को अक्षर ही अव्यक्त-अमृतात्मा, इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। इसी अक्षर विकाम दृष्टि को लक्ष्य में रख कर सत्ययज्ञ इस प्राकृतात्मा को इस 'अक्षर' शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं। इसी अक्षर दृष्टि से वाग्भट्टि ने इस के लिए—“एष तं आत्मा अन्तर्यामो अमृतः” यह कहा है। हृदयरूप होने से ही यह सत्य है। सत्य ही तो नियति का प्रधान स्वरूप है। यथा-यथा रूप यायातथ्य ही मर्त्यमात्र है, यही नियतमात्र है, यही नियति है, यही विधि (प्राणमूर्ति ब्रह्मा) का अटल विधान है। यह अविधात्री है, और सब लोक विधात्री है। जलन कम्पन है। कम्प ही मय है। वह भयावीत, किन्तु मय का प्रवर्तक है। पौर्णो विरच-यवों से सर्वप्रतिष्ठारूप सत्य अव्यक्त ही अनाद्य है, तद्विदित सारे रज सभय (विधात्री), अतएव आवर्त है—‘अतोऽन्यदार्थम्’। इसी हृदयमूर्ति, यज्ञरामक, अक्षर प्रधान, प्राणमकृति, अक्षर

सत्यप्रज्ञापति (नियति-प्रज्ञापति-अन्तर्ध्यामी) के स्वरूप को लक्ष्य में रखा कर ब्रह्मात्मक-भूति कहती है—

“एष प्रज्ञापतिर्यद्ब्रह्मम् । एतद् ब्रह्म, एतत् सर्वम् । तदेतत् अक्षर—
‘हृ-द-यम्’ इति । ‘हृ’-इत्येकमक्षरम् । अमिहस्त्यस्मै स्वाश्वान्ये
च, य एव वेद । ‘द’ इत्येकमक्षरम् । वदन्त्यस्मै स्वाश्वान्ये च, य एव
वेद । ‘यम्’ इत्येकमक्षरम् । एति स्वर्गं लोक, य एव वेद । तद् तदेतदेव
तदास सत्यमेव । स यो ह्यैवेत्यन्महर्षिं प्रथमं वेद सत्यं ब्रह्मेति, अपती
मास्लोकम्” (सत १४ का० ८ । ४-५) ।

यद्यपि अन्तर्ध्यामी स्वबन्धु प्रधान होता हुआ प्राणप्रधान है, तब भी अक्षर ब्रह्माप्रधान
है । परन्तु यही यहाँ प्राणरूप से विकसित हुआ है, अतएव भूति अक्षर को भी शास्ता-अन्त
र्ध्यामी कहने में संकोच नहीं करती । जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट हो जाता है—

“एतद्वृत्ते सदैव गार्गि ब्राह्मणाः अभिबदन्ति०—एतस्य वाऽक्षरस्य
प्रज्ञासने गार्गि धावापृथिवी विद्युते तिष्ठत, सूर्याचन्द्रमसौ विद्युते० । अथ
य एतदक्षर गार्गि विदिषवास्मास्लोकम् प्रैति, स ब्राह्मणः”

—सत० १४ का० ५ । ८

निष्कर्ष यही हुआ कि, ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्रानुमह से उपरार बनता हुआ यही स्वाबन्धु
अभ्यक्तात्मा ब्रह्मरूप से सब पदार्थों के केन्द्र में प्रविष्टि होता हुआ निर्वि रूप से सब का
सम्पादन कर रहा है । अन्तर्ध्यामी नाम से प्रसिद्ध अभ्यक्तत्मा का यही प्रथम विवरण है

१

इसी अभ्यक्तात्मा का दूसरा विवरण है विष्टम्भनकृद्युक्त सूत्रात्मा । उपर्युक्त ब्रह्मात्मक
भूति से अक्षरभूति अभ्यक्तात्मा को ‘सूर्याचन्द्रमसौ विद्युते तिष्ठत’ रूपान्तर रूप से विवर्त्ता
कहा है । अभ्यक्त अन्तर्ध्यामी स्वबन्धु विरव के कवचावध पदार्थों
का सम्पादन कर रहा है । किस सम्बन्ध से किस शक्ति के द्वारा
इस प्रसन्न का समाधान यही सूत्रात्मा है । विरव में १ प्रसन्न २-सत्य ३-ऋतुसत्य, वेद स
परम तीन भागों में विभक्त हैं । सत्य (सकल) सरासरी पदार्थ सत्य हैं, अद्वय अशरीरी

वायु आदि पदार्थ कहते हैं, एवं अह्वय सशरीरी पदार्थ अतसत्य हैं। वायु और पानी का न कोई शरीर है, न केन्द्र है। पानी, अथवा वायु का जिस आयतन में स्थिर रह कर दिया जाता है, उन का वैसा ही शरीर हो जाता है। इसी प्रकार कन्ध्राभाव भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। सक्म्ब वस्तु के एक अवयव प्रत्यक्ष से सम्पूर्ण वस्तु गृहीत हो जाती है। पानी का आप जहाँ से उठावेंगे, आशिक रूप से वह वहीं से उठ आवगा। कारण, यहाँ कन्ध्राभाव है। मय में शरीर है, परन्तु हृदय नहीं है। इस हृदयबन्धन के अभाव से ही वायु के प्रत्यक्ष आपात से मय स्वरूप होकर हस्तगत विकीर्य हो जाता है। अग्निप्रधान पदार्थ सक्म्बसशरीरी बनते हुए सत्य कहलाते हैं। सोमप्रधान प्रधान अह्वय असशरीरी रहते हुए अतसत्य कहलाते हैं। अग्नि-सोमप्रधान पदार्थ सोमसम्बन्ध से अह्वय, अग्निसत्ता से सशरीरी बनते हुए समयधर्मों से आक्रान्त रहते हुए 'अतसत्य' कहलाते हैं। इन तीनों के सञ्चालन के लिए सब अवयव में सूत्रबन्ध का आधिपत्य होता है। पूर्व के प्रकरण में १६ बलकोशों में एक 'सूत्र' नाम के बलकोश का भी विवरण कराया गया है। यह एक प्रकार का प्राणबल है। प्राण को विभक्त कहा जाता है। रक्त परमाणुओं को संबन्धित करने वाला प्राणबल ही सूत्र है। इसी सूत्रबल के सम्बन्ध से प्रत्येक वस्तु के सर्वथा विभक्त परमाणु एक सूत्र में संबन्धित प्रतीत होते हैं। अतः प्राणमुक्ति कहा गया है। इसी सूत्रबल के कारण, दूसरे शब्दों में परमाणुकृत (समुह) पर प्रविष्टि रहने के कारण इसे 'कूटस्थ' कहा जाता है—'कूटस्थाऽसुर उच्यते'। यही बलविशेष सूत्र शक्ति है। इसी बलों से परापरगत (दूर से दूर) रहने वाले अवयव स्वयम्भू ने इसी सूत्र-रूप प्राण से सब को बद्ध कर रखा है। हृदय में यह अवयवार्थी रूप से प्रविष्टि रहता है, एवं विश्व में, सब ही में जिन में हृदय नहीं है—वेने अणुपदार्थों में सूत्ररूप से प्रविष्टि रहता है। यह सूत्र कृत—सत्य—अतसत्य मेघ से तीन भागों में विभक्त है। पूर्वोक्त कण्ठ आन्तेय प्रधान सत्वपदार्थों का सञ्चालन करने वाला सत्यसूत्र है। सोमप्रधान अतसत्वपदार्थों का शास्ता अतसूत्र है। उभयप्रधान अतसत्य पदार्थों का सञ्चालक अतसत्यसूत्र है। विरल में त्रिपने भी सत्वपदार्थ हैं, उन सब की बोधि यही अवयव सत्य है। अतः एक इसे 'सत्यस्य सत्यम्' कहा जाता है। यह सत्यस्य सत्य प्रणवावायु स्वरूप है। सूत्रात्मक इसी अवयव का निरूपण करती हुई प्राण्य मुक्ति कहती है—

“वायुर्मे गौतम तत् सूत्रम्। वायुना (प्रोक्तेन) वै गौतम सूत्रेण—अथ च लोक, परश्च लोकः, सर्वाणि च भूतानि संख्यानि भवन्ति। तस्माद्

गीतन पुन्य प्रथमाहुर्म्यस्य सिपतास्याह्वानि । वायुना हि गीतम ठन् अत्रेण
सदन्धानि भवन्ति” इति । —रात० १४ का० । ६ । ७ ।

इन प्रकार आत्मत्व सूत्र द्वारा वह आत्मत्व सब में व्याप्त हो रहा है । नामरूपात्मक
अत एव मत्स्य शब्द से व्यक्तित्व बिन्दु इसी सूत्र द्वारा उस सत्यस्वमत्स्य शब्दमू के माध्य
अपना सम्बन्ध स्थापित किया हुआ है । अन्वयकात्मा के इसी सूत्रात्मविचर्त्ता का स्पष्टीकरण करते
हुए आचार्य काश्यापण करते हैं—

सत्यव्रत सत्यार विसत्य्य भ्रुत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।

सत्यस्य सत्यं भ्रुतमत्यनेत्रे (एत्रे), सत्यात्मकं त्वां धारणं प्रपन्ना ॥

—श्रीमद्भागवत

अन्वयकात्मा का तीमरा विचर्त्ता है उपलब्धिसंलग्न-वेदात्मा । निरवधि सत्त्वस्व अन्त-
र्व्यामी से ही इन वेदात्मा का विकास होता है । अन्तर्व्यामी में ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र ये तीन
कलाएँ बतलाई गई हैं । साथ ही में यह भी कहा गया है कि,
रूपविष्णु-वेदात्मा—
स्वितिलकस्य ब्रह्मप्रतिष्ठा पर आगति-गतिविष्णु विष्णु-इन्द्र का
आधान विमग्नमक व्यापार होता रहता है । यह बिन्दु व्यापार ही इन्द्राविष्णु की प्रतिस्पर्धा
है । इस प्रतिस्पर्धा की आधारभूमि है—आप-बाक-अन्न-अन्नाद् । विचारधर की—माय-
भान-बाक्-अन्न-अन्नाद् ये पाँच कलाएँ बतलाई गई हैं । इन पाँचों के साथ क्रमशः ब्रह्मा-
विष्णु-इन्द्र-सोम-अग्नि इस पाँच अक्षरों का सम्बन्ध बतलाया गया है । इन में माय-
कला का स्थितिकक्षेत्र ब्रह्मा में अन्तर्भाव है । यही प्रधान अन्तर्व्यामी है । शेष चारों कलाओं
की अग्नि-सोम सम्बन्ध से तीन ही कलाएँ रह जाती हैं । अप्कला का प्रधान सम्बन्ध विष्णु
के साथ है बाक कलाका प्रधान सम्बन्ध इन्द्र कला के साथ है एवं अन्नगर्भित अभ्राह्मण का
प्रधान सम्बन्ध सोमगर्भित अग्नि कला के साथ है । आप-बाक-अन्नान्नाद्, तीनों के अपि-
प्राप्ता क्रमशः विष्णु-इन्द्र-सोमाग्नि ये तीन अक्षर हैं । इन तीनों में स्पर्धा करने वाले इन्द्रा
विष्णु हैं, अग्निसोम नरक्य हैं । स्पर्धा के आधारभूमि तीनों का आप शब्द से मायस कर लिया
जाता है । कारण अन्तर्व्यामी में बाक् अन्नाद् का समावेश है । इस अप्स्पर्धा से लोफ-वेद-बाक
ये तीन माय नरक्य होते हैं । विष्णु सम्बन्ध से अप् द्वारा बाक का विकास होता है—

“लोकाः सप्त प्रतिष्ठिताः” । इन्द्र-सम्बन्ध से बागूदारा वदत्त्व का विकास होता है—
‘बागूविद्वताश्च वेदाः’ । एवं इन्द्रसोमगर्मित आग्नि-सम्बन्ध से बागन्मगर्मित अन्नाद्य स
बागूलक्ष्य वपद्वार का उदय होता है—‘तस्य वा एतस्याग्नेर्वागिवोपनिपत्’ । इस प्रकार
प्रकृतिमेव से लोकसाहस्री—वेदसाहस्री—वाक्साहस्री, इन तीन साहसियों का जन्म हो
जाता है । इसी साहस्री-विज्ञान को लक्ष्य में रख कर अम्त्रभुति कहती है—

उमास्त्रिगुण्यर्पणे पराजयधे, न परासिद्ध कतरश्च नैनोः ।
इन्द्रश्च विष्णु यदपस्पृषयां त्र घा सहस्र वि तदैरपेयाम् ॥

—श्रुत्स० ६, ६६, ८ ।

किं तत् सहस्रमिति ? इमे लोका, इमे वेदाः,
अथो वागिति ब्रूयात्” (वेद० भा० ६ । १५ ।)

उक्त तीनों साहसियों में से प्रकृत में प्रधानरूप से वेदसाहस्री ही अपेक्षित है । इस फ
श्रुत्स-साम-यजुः ये तीन पर्व हैं । तीनों में यजु ही मुख्य है यही पुरुष है । श्रुत्साम ययोनाथ
(ब्रह्म—आत्म० न—सीमा) मात्र हैं । यजु में भी गतिप्रकृतिक ‘यत्’ रूप प्राखवत्त्व है । मुख्य
है । आत्मविद्याशास्त्र का ही नाम वेदशास्त्र है । आत्मवत्त्व ज्ञानशक्तिमय मन, क्रियाशक्तिमय-
प्राण, अक्ष शक्तिमयी वाक् क मय स त्रिकल है । आत्मकक्षामय से वेदशास्त्र भी तीन भागों में
विभक्त हो रहा है । मनोविद्याशास्त्र आरण्यकोपनिपत्—शास्त्र है, प्राणविद्याशास्त्र त्रयी
(संहिता)—शास्त्र है, एवं बागूविद्याशास्त्र ब्राह्मणशास्त्र है । त्रयी की मूलप्रतिष्ठारूप यजुःआद्य
स (तो कि मौलिकप्राण असत्, श्रुति, आदि नामों से प्रसिद्ध है) की क्रमशः पितर असुर
देवता-गच्छत् यजु पुरुष (वैश्वानर), आदि इतर सम्पूर्ण प्राणव्यवस्थाओं की सृष्टि हुए हैं ।
सृष्टरश्च (विरच) का मूल आरम्भक वदप्राण ही है, जैसा कि सगवान् यजु कहते हैं—

सर्वपां तु स नामानि कर्माणि च पूषक् पूषक ।
वेदशब्देभ्य एवादी पूषक् सस्थाश्च निर्म्ममे ॥ १ ॥ (१ । २१)
शब्दः स्पर्शश्च रूप च रसो गन्धश्च पञ्चम ।
वेदादेव प्रप्यन्ते प्रप्यतिगुणकर्मत ॥ २ ॥ (१० । ६८)

पोइरीपुठप वेदरूप में परिणत होकर ही उपलब्ध होता है। अतएव उपलब्धि का ही प्रश्न कहा जाता है। अमृतात्मा सच्चिदानन्दलक्षण है। अतः वह भी सच्चिदानन्दरूप में ही उपलब्धि होती है। “विन्दति इति वेदः” “वेत्ति—इति वेद” “विद्यते—इति वेदः” यही ब्रह्म का निष्पन्न है। ‘अमृत पदार्थ’ है” यह भी ‘विद्यते’ के अनुसार वेद है। यह निष्पन्न सत्ताप्रधान है। सत्ताप्रधान नामरूप कर्ममय आत्मिक पदार्थ ही सत् है। अमृत वस्तु है, उसे देवदत्त जानता है यह वृत्त पर्व है। यह भी ‘वेत्ति’ के अनुसार वेद है। यह निष्पन्न चेतनाप्रधान है। चेतनाप्रधान भीतिक भाष ही चित् है। जा वस्तु है जिस देवदत्त जानता है उसे वह प्राप्त कर लेता है। यह भी ‘विन्दति’ के अनुसार वेद है। यह निष्पन्न रमप्रधान है। वस्तु की प्राप्ति से ही आत्मा में सुखिलक्षण आनन्द का उदय होता है। अतएव तीसरा पर्व आनन्दरूप है यही प्रिय है। इस प्रकार ‘अस्ति भाति प्रिय’ रूप से ब्रह्ममय बनकर अमृत आत्मा सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। वह ही उस का चिरवरूप है। अतएव उसे वेदमूर्ति-वेदैकवेद्य इत्यादि नामों से व्यवहार किया जाता है। अस्ति ही पदार्थ की उपलब्धि है। उपलब्धि पदार्थ ही रस है। यही वेद है। वृत्ते शब्दों में उपलब्धि ही वेद है। जिस का वेद नहीं उस की चेतना नहीं। आप का चिरवास करना चाहिए कि चिर में व्यस्त होने वाले पदार्थों का विकास वेदपूर्वक ही हुआ है। पहिले वह का विकास होता है। अनन्तर वेदप्रतिष्ठा पर वृत्ते शब्दों में वेदार्थ में उत्तम भीतिक पदार्थ व्यक्त होते हैं। वेदरूप भीतिक पदार्थ से पहिले विकसित होता है। अतएव इस ‘ब्रह्ममय’ कहा गया है। अविद्याआत्मक ‘मनुआद्यात्मक सज्जन्मपुरुषात्मक यजुःप्रधान इमी प्रथमत्र ब्रह्म (जयीब्रह्म) का निरूपण करते हुए महा-बाह्यवस्तु कहते हैं—

‘तथा ब्रह्म प्रथममसृज्यत—ब्रह्मेव विद्या । तस्मादाहुर्महास्य सर्वस्य प्रथमब्रह्म’ । (शत १ १, १ १०) “ब्रह्मा वाच विद्यायां सर्वाणि भूतानि (अपश्यत्)” (शत १ ४ २ २९)

अब तक वेद है, तभीतक ब्रह्मलोक संसार है। “सर्व वेदात् प्रसिद्धयति” “वेदोऽखिल धर्ममूलम्” इत्यादि स्मार्त बचन भी इसी सिद्धान्त का स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

मकारान्तर से अद्वैतात्मिकवचन पर दृष्टि चाहिए। महात्मय ब्रह्म आपोमय विष्णु, वायुमय इन्द्र इन तीनों की समष्टि को हमने अन्तर्धामी कहा है। इस अन्तर्धामी के ही

स्वमहिम्नों की प्रधानता-अप्रधानता से तीन बिभर्त्त हो जाते हैं। इन्द्र-विष्णुगर्भित प्राणमूर्ति प्रधानत्व बही अभ्यक्तात्मा अन्तर्यामी है। ब्रह्मा कभी केन्द्र नहीं छोड़ते। वे सदा अन्तः प्रविष्ट ही रहते हैं। केन्द्र में स्थिर रूप से प्रतिष्ठित प्राणमूर्ति ब्रह्मा इन्द्राविष्णु के आचार पर प्राण-सूत्रद्वारा सब का नियमन करते हुए 'अन्तर्यामी' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं।

ब्रह्मेन्द्रगर्भित आपोमय विष्णुवात्मक बही अभ्यक्तात्मा सूत्रात्मा है। अभ्यक्तात्मा जिस तत्त्व के आचार पर सारों की ओरों में व्याप्त रहता है, वही को सूत्रात्मा कहा गया है। वह व्याप्तिसाधन सत्यमूर्ति अप्सृत्त्व, किंवा आपामय विष्णु ही है। 'विषटीष हि यन्मम' इत्यादि निम्न बतों के अनुसार विष्णु को इस भाँति (व्याप्ति) लक्षण अप्सृत्त्वत्त्व से ही व्यापक माना गया है। अतः एव च ब्राह्मणमयि न जाय का—'यदाप्नोत्तस्मादायः' 'यदृणोत् तस्माद्वा' (शत० १। १। १६) यह निम्न बत किया है। आपोमय विष्णु ही अशनाषासूत्र का अधिष्ठाता बनता हुआ। सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। इसी विष्णुसूत्र से वह अन्यत् सूत्रात्मा बनो हुआ है।

विष्णुब्रह्मगर्भित वाक्मय इन्द्रात्मक बही अभ्यक्तात्मा वेदात्मा है। अभ्यक्तात्मा जिस रूप से विश्वस्वरूप में परिणत होता है, वह वही वागविवर्त्तरूप इन्द्रात्मक वेद है। यजुग्वाण चित्तिवर्त्म के कारण आगे जाकर सप्तपुरुषपुरुषात्मक बन जाता है। इस सप्तपुरुषसत्त्वा के मध्य का मुख्य प्राण ही—'योऽयं मध्यत एन्ध' (शत० १४। ५। ११। ०) के अनुसार "इन्ध" कहा गया है। इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम् के अनुसार परोक्षमिष देववाचो की परोक्षभाषा में इन्ध ही 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार वाक्मय इन्द्र की यजुरूपता मन्त्रोर्माँति सिद्ध हो जाती है। यथरूप यजुर्मूर्ति यह इन्द्र यजोनाथ-(इन्ध)-रूप अक्षसाम के आचार पर प्रतिष्ठित रहता है। इसी आचार पर—'अक्षसाम वै इन्द्रस्य हरी' (ये० ब्रा० २। १४) यह कहा जाता है। वही इन्द्र अग्निसोमसम्बन्ध से वेदप्रवर्त्तक बनता हुआ आगे जाकर भूतपति-भूतमावन-भूतयोनि भूतनाथ इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हो जाता है। इस प्रकार एक ही अभ्यक्तात्मा अनेक वेद से कवित तीन स्वरूपों में परिणत होता हुआ सब कर्मा (विराजकर्म) बन रहा है। अक्षसंहिता में सर्वकर्मा इस अभ्यक्तात्मा को 'विश्वकर्मा' नाम से ही व्यवहृत किया है। वेदरूप से वही अभ्यक्तात्मा सब कृष्ण बन रहा है, नियतिरूप से वही सब का सञ्चालक बन रहा है, एवं सूत्ररूप से वह सब के साथ सब

इस क साथ सम्बद्ध हो रहे हैं। यही पारस्परिक सम्बन्ध 'सर्वहुत' यह है। इसी को कल्प में रक्त कर—'आत्मनि प्रजातिमवत्' यह कहा जाता है।

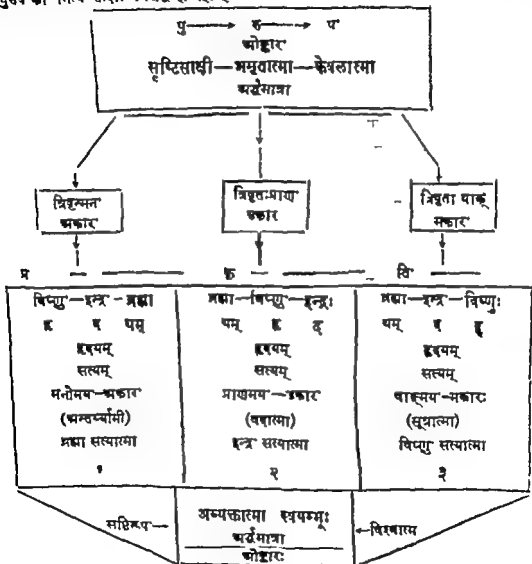
9

अन्यत्रात्मा

अद्याप्राप्तमय	विष्णुरापोमय	इन्द्रोवाहमय
<p>↓</p> <p>विश्वेन्द्रगर्मिणो अद्या</p> <p>३-यम्</p> <p>अन्तर्ध्यामी</p> <p>१</p>	<p>↓</p> <p>अद्येन्द्रगर्मिणो विष्णु</p> <p>१-ह</p> <p>सूत्रात्मा</p> <p>२</p>	<p>↓</p> <p>विष्णुअद्यागर्मिण इन्द्र</p> <p>३-ह</p> <p>वेदात्मा</p> <p>३</p>

उक्त तीनों अव्यक्तारमयिणो में क्रमशः अद्या-विष्णु-इन्द्र की प्रधानता क साथ इतर दोनों की भी सत्ता रहती है। पञ्चक प्रत्यक में सत्यस्वरूपसम्पादक इक्ष्वाक की सत्ता सिद्ध हो जाती है। सत्यमूर्ति अव्यक्तात्मा इन्हीं तीन पृथक्-पृथक् सत्य विचर्यों के कारण त्रिसत्य बन जाता है। इसी आधार पर "त्रि सत्या वै वेदाः" यह अनुगम बचन प्रतिष्ठित है। यही त्रिसत्यमूर्ति अत एव पुराणों में त्रिमूर्ति नाम से प्रसिद्ध अव्यक्तारमा स्वयम्भू सातों लोकों की मूलप्रतिष्ठा है अतएव लोका न्तर्गत सम्पूर्ण वाग्व्यवहार त्रित्व अर्थात्वा से ही आक्रान्त हैं। अथ सप्तमाद्यवाहमय पुरुषात्मा (अमृतात्मा) त्रिसत्य वा इतर अद्या-विष्णु-इन्द्रमय अव्यक्तारमा की अथ सू वे मेह से त्रिसत्य है। स्वप्रकृत्यपेक्षया अद्या अद्या प्राणमय किंवा प्राणमकृतिक है वहाँ आत्मकतापेक्षया अद्या मनोमय है। स्वप्र० इन्द्र यहाँ वाक्प्रकृतिक है आत्मापेक्षया वही प्राणमय है। स्वप्र० विष्णु वहाँ आपोमय है आत्मापेक्षया वही वाक्मय है। त्रिस प्रकार मन-प्राण-वाक् तीनों

त्रिमूर्तिमात्राण्युक्त होने से प्रत्येक त्रिमूर्ति हैं, एवमेव ब्रह्मादि तीनों (प्रत्येक) त्रिमूर्ति हैं—
 'नमस्त्रिमूर्तये तुभ्य प्राक्सृष्टे कैवलात्मने'। सृष्टि से पहले मन-प्राणवाक् प्रधाना वनती
 हुई यह त्रिमूर्ति आत्मरूपा है। सृष्ट्युत्पन्न बन कर यही प्रकृतिरूपा है। और यों प्रकृति-
 पुरुष का मित्य तत्वात्म्य सिद्ध हो रहा है।'



- हमारा मूलप्रश्न एक लक्ष्य जिससे अभ्यस्तात्मा है। दूसरे शब्दों में हमारी मूलप्रकृति पूर्णता दीनों सत्यों पर आश्रित है अतएव लौकिक-वैदिक सभी एहिक पारमार्थिक कर्मों की पूर्णता जिस भाव पर ही समाप्त होती है। आद्य प्रारंभ अध्यात्म

मन-प्राणायाम-स्वस्तिपाठ-आदि शास्त्रीय कर्मों का जिस

को विहित है। प्रथम लौकिक व्यवहार भी बिना तीन क प्रवृत्ति माने जाते हैं। योक्तों (कोटों) में जारी प्रतिबन्धी (मुद्रा-मुद्रा-मुद्रा) को बहा का भूय (बपरासी) ही बार आवाज लगाता है, यह कौन नहीं जानता। मैंको क मिपाही कौन है? यह बार पूछो, तीसरी बार भी आगन्तुक ने उत्तर न दिया तो फायर हो जायगा। ऐसा ? इस का उत्तर वर्तमान विज्ञान मले ही न द सके, परन्तु वेदमहि आत्मत्रिरववाद को करत हुए हमारा सर्वोत्तम सन्तोष कर रहे हैं।

इस अध्यात्मका का प्रसङ्ग (अस्तित्वान पोष्यप्रवृत्ति, प्रसङ्गप्रधान, अपौरुषेय दुरवृत्ति है। प्रतिष्ठा (स्थितिस्थान स्थापन्मुक्त इत्यस्मिन्) है। योनि (आगममन्त्र) मन्त्र लक्ष्य है। आश्रय (अपौरुषेय) सम्पूर्ण विरह है। पञ्चपञ्चात्मक विश्व में सर्वत्र व्याप्त प एवं स्वयंप्रकाशविज्ञान विरहकर्मों की स्वयम्भू प्रकाशित इत्येवम्, किंवा अशास्त्रिक व की अपेक्षा से, 'विज्ञेयस्वर' नाम म प्रविष्ट है। यह सत्यमूर्ति परोरजा भगवान् पूर्व कज-सार नित्य अशान्ति-गमित नित्य शान्तिमूर्ति है। अतएव इसे 'ज्ञानात्मा' भी कहा जाता इस प्राणदेव का व्यवहार ही सृष्टिकार है, अस्तका ही प्रत्यकाश है। सृष्टिकार इस अहङ्कार है, प्रकाशका राजप्राण है। इसी अभिप्राय से भगवान् मनु कहते हैं—

यदा स इहो जागर्ति तदेद चेष्टते जगत् ।

यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥ (मनु १।५२) ।

अशास्त्र से अध्यात्मजगत् में प्रविष्ट यही शान्तात्मा इतर सम्पूर्ण कण्डात्मकों की प्राप्ति बना हुआ है। प्राणसुखहस्ता विज्ञान में अनुभूत है। विज्ञानात्मा महानात्मा के

* वेद रूप के पुनर्जन हैं आत्म में अध्यात्मका का विकास प्रकाश है। यह वेद पुनरुप होने की प्रकृति है। एवं पूर्व में अध्यात्म के व्यापार पर प्रतिष्ठित रहने व के जिस वैश्वता का दिग्दर्शन आ गया है वह पुनर्जन में उत्पन्न होने के कारण वीर्य है। यह वह उग मूर्त्ति है जिन्ना वराह है।

आधार पर प्रविष्टि है। सर्वाधार यही शान्तात्मा है। इस आध्यात्मिक शान्तात्मा का प्रमथ वृथात्मक विरव्यापक स्वयम्भू है, प्रविष्टा द्रव्य है, योनि परमाकारा नाम से प्रसिद्ध परम भ्योम है, आराय सर्वाङ्गरापी है। अमृतध्यामो-सूत्रात्मा-बेदात्मा, मेधमिन्न त्रिकल यह अव्यक्तात्मा ही सम्पूर्ण विरव का कारण है। यह प्राणप्रधान है। प्राण असङ्ग वरुह है, अत एव कारण होते हुए भी यह मैथुनीसृष्टि की अपेक्षा से शास्त्रों में अकारण नाम से प्रसिद्ध है। 'महत्तः परमन्यक्तम्' (ऋग्वेद १०१।१।११।) इस सिद्धान्त के अनुसार अव्यक्त स्वयम्भू ही व्यक्ताव्यक्त पारमपर्य महत् का कारण है, असा कि महात्मप्रकरण में स्पष्ट होने वाला है।

हम यह कह आये हैं कि, वेद मांग ही हम अव्यक्तात्मा की (मीथिक विरव की अपेक्षा से) मुख्य प्रविष्टा है। हम वेदग्रन्थों में भी यजुर्वेद ही मुख्य है। स्वित्तिगत्यात्मक यजुर्वेद ही अव्यक्तात्मा का प्रकटीभाव — पुरुष है। यही मीथिकी चिन्तसृष्टि का मूलाधार है। अतएव स्वित्ति-वरुह की अपेक्षा से यह अव्यक्त वरुह सर्वथा कम्पन रहित है, अनेक है। यत्-रूप गतिवरुह की अपेक्षा से यह मन से भी शरीर (शीघ्रगामी) है। अपने इन्हीं दोनों विरह रूपों से यजुर्मूर्ति परोक्षभाषानुसार यजुर्मूर्ति यह अव्यक्त समष्टि-व्यक्तिरूप से सबत्र व्याप्त हो रहा है। प्रत्येक पदार्थ पर दृष्टि डालिए, वह आप को छहरता हुआ चलता दिगाइ देगा। बतना रिक्तिमूलक है, विगडना गतिमूलक है। प्रत्येक पदार्थ घनता हुआ विगड रहा है। समुद्रतरङ्गों की भाँति प्रत्येक पदार्थ पदार्थभावों से नित्य आक्रान्त है। यही अव्यक्तात्मा क साक्षात् ध्यान है। आदिर्भावकाल स्वित्तिकाल है, तिरोभावकाल गतिकाल है। आदिर्भावकाल में वह अव्यक्त व्यक्त है, तिरोभावकाल में बही व्यक्त अव्यक्त है। आदिर्भाव वस्तु का व्यक्तभाव है, व्यक्तता ही व्यक्तिभाव है, व्यक्तिभाव ही वस्तु पदार्थों की अभिव्यक्ति (प्राकट्य) है। एक एक व्यक्ति एक एक स्वतन्त्र अभिव्यक्ति है। इस प्रकार अभिव्यक्तिप्रणय इस व्यक्तिभाव की प्रतिष्ठारूप यही एकमात्र अव्यक्तता बन रहा है। असृवात्मा की भाँति हम अव्यक्तात्मा का भी कर्मयोग से काइ सम्बन्ध नहीं है। शरीर में रहता हुआ भी, शरीर परिच्छिन्न होता हुआ भी, मोघाधिक चलता-हुआ भी इसङ्ग, प्राणमय होने से यह भाका-शारमा कम्मलेप से सबथा असङ्ग है। यह अतएव योनि का अभाव है, कथल हानम्याति (असृवात्मन्योति) ही हम की आधारभूमि है। यह असङ्ग अव्यक्त वरुह ही विरव की परिच्छि-

प्रकृति है। इस तरह तत्त्व के साथ भी सर्वव्यापक, आत्मयानिस्वरूप उस अखण्ड पावरी आत्मा का सम्बन्ध होगा है। अतएव चरुत्पन्न अतएव प्रकृतिरूप होते हुए भी इसे 'अभ्युक्तत्मा' इस प्रकार आत्मरसद से व्यवहृत किया जाता है। लण्डात्माओं में यह पहिला 'प्राकृतात्मा' है। इस का प्रपान काम है—सर्वत्र विभिन्न संस्था वाले शरीर को एकसूत्र में बद्ध रखना, शरीर भागुओं का अभ्युत्पन्न स निर्मास करना एवं उन का नियन्त्रण से यथास्थान सन्निवेश करता, मनीन मनीन भूतों का उत्पन्न करते रहना पूर्व पूर्व भूतों का विनियन करते रहना। प्राणोक्त यह और जान लीजिए कि, जिस प्रकार अभ्यात्मसंस्था में यह अभ्युक्तत्मा आदि समस्त स प्रसिद्ध है। एवमेव व्यापिमीतिक संस्था में यही "गुहा" नाम स प्रसिद्ध है। एक ही तत्त्व अपिदैवत-अभ्यात्म अभिभूत भेद से त्रिसंस्थ बनता हुआ स्वयम्भू अभ्युक्त गुहा-इन तीन नामों से प्रसिद्ध हो रहा है। अभ्युत्संस्था में भूत-प्राण-भेद से वा प्राण तत्त्व प्रसिद्ध रहते हैं। अन्तर्भाग का विकास भूत है, रसभाग का विकास प्राण है। प्राणपेक्षया वह स्वयम्भू कहलाया है भूतपेक्षया वही आकारा कहलाया है। इसी आकार को 'वागमय' कहते हैं। इसी "सत्यावाक, दूसरे स्थानों में अमानिनिबन्ध तत्त्वा वेदशास्त्र के (स्वयम्भू के) स्वर में सम्पूर्ण विरच समा रहा है, जैसा कि 'अयो वागेवेद सबम्' 'वाचीमा विद्वत् भुवनान्यपिपिता' इत्यादि श्रौत बचनों से स्पष्ट है। पोडरी पुढप विस्वात्म्य है। इसी विरचयता से सब प्रथम आकारात्मा इसी अभ्युक्त स्वयम्भू का प्रादुर्भाव हुआ है। इसी अस्मिन्ना से "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै अ० ३५०) यह कहा गया है।

आत्मोत्कान्ति के अनन्तर यह अभ्युत्तात्मा सर्वव्यापक प्राणमूर्ति आकारात्मा में वहा का वही विजीम हो जाता है। अतएव होने से कर्मवन्धन से सर्वत्र प्रबद्ध रहता हुआ प्ररंरमात्रायामूर्ति यह अभ्युत्तात्मा लोकांतर में गमन नहीं करता।

प्रकृतिपदार्थ—

पद के पूछते ही पटाकारा जैसे लोकांतर में गमन न कर वही

परमाकारा में लीन हो जाता है। एवमत्र शरीरनिधन के अभ्युत्तहितोत्तरकाश में ही यह स्वयम्भू व्यापक परमाकारा में लीन हो जाता है। लोकांतर में गमन करने वाले कर्मात्मा के साथ किणु किणु पर मनीन मनीन अभ्युक्त (आकारा) का सम्बन्ध होता रहता है। इसी अभ्युक्त तत्त्व को तत्त्व में रक्ष कर "न सस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते" यह कहा

गया है। आत्मकर्मोंदि का हम के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आप अपने कर्म से न इस का उपकार कर सकते, न अपकार। त्रिकल आत्मकात्मा का यही संक्षिप्त स्वरूप निर्धारण है। अब कर्मप्राप्त यक्षात्मविज्ञानोपनिषत् की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

तदित्यं—वेद—सूत्र—नियतिर्मेदेन त्रिकलोऽयं स्वयम्भूरव्यक्तात्मा
व्याख्यातो ब्रह्मव्यः

समाप्ता चेय आत्मविज्ञानान्तर्गत 'आत्मविज्ञानोपनिषदि' प्रथमायां प्रथमखण्डातिप्रकायां
'अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्'—द्वितीया

२

प्रकृति है। इस तरह तत्त्व के साथ भी सम्बन्धोपक, आत्मयोनिस्वरूप उस अखण्ड योगी आत्मा का सम्बन्ध होता है। अतएव स्वरूप अवयव प्रकृतिरूप होते हुए भी इसे 'अभ्यक्तत्मा' इस प्रकार आत्मतत्त्व से व्यवहृत किया जाता है। अन्तरात्माओं में यह पहिला 'प्राकृतात्मा' है। इस का प्रधान कर्म है—सब वा विभिन्न संस्था वाले शरीर को एकसूत्र में बद्ध रखना, शरीर प्रातुओं का अभ्यक्तरूप से निम्माण करना एवं उन का निषठरूप से मुखास्थान सन्निवेश करना नवीन नवीन मूर्तों का रूपान्तर करते रहना, पूर्व पूर्व मूर्तों का विनियम करते रहना। प्रसङ्गोपात् यह और जान लीजिए कि जिस प्रकार अभ्यात्मरूप में यह अन्तरात्मा धान्तात्मा आदि नामों से प्रसिद्ध है। एवमेव आधिभौतिक संस्था में वही "गुहा" नाम से प्रसिद्ध है। एक ही तत्त्व अविनैवत—अध्यात्म अधिमूर्त भेद से त्रिसंख्य बनता हुआ १ स्वयम्भू ५ अभ्यक्त ३ गुहा—इन तीन भागों से प्रसिद्ध हो रहा है। अभ्यक्तसंस्था में मूर्त-प्राक्-भेद से शत तत्त्व निरूप प्रविष्टित रहते हैं। वलमाग का विकास भूत है, रसमाग का विकास प्राय है। प्राणपेक्षया वह स्वयम्भू कक्षकाया है मृणपेक्षया वही आकारा कहलाया है। इसी आकारा को 'वाग्मज्ज' कहते हैं। इसी सस्यावाक वृक्षे शब्दों में अनाविनिघना नित्या वेदवाक्य के (स्वयम्भू के) ऊपर में सम्पूर्ण विरच समा रहा है, जैसा कि 'अयो वागेवेद सर्वम्' 'वाचीमो विष्ठा युवनान्यर्पिता' इत्यादि श्रौत वचना से स्पष्ट है। चोखरी पुत्र विरचत्मा है। इसी विरचत्मा से सब प्रथम आकारात्मा इसी अभ्यक्त स्वयम्भू का प्रादुर्भाव हुआ है। इसी अभिप्राय से 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (ऐ ७५०) यह कहा गया है।

आत्मोक्तान्ति के अनन्तर यह अभ्यक्त्यात्मा सर्वव्यापक वायुमूर्ति आकारात्मा में वही का यही विधीन हो जाता है। असङ्ग होने से कर्मकन्दन से सर्वथा शुद्ध रहता हुआ परीरजाभासमूर्ति यह अभ्यक्त्यात्मा लोकांतर में गमन करती करता। अत के पृथक् ही अकारा जैसे लोकांतर में गमन न कर वही परमाकारा में लीन हो जाता है। एवमेव शरीरनिघन के अभ्यक्तितोषरफाज में ही यह स्वयम्भू व्यापक परमाकारा में लीन हो जाता है। लोकांतर में गमन करन वाले कर्मात्मा के साथ त्रिन्दु विन्दु पर नवीन नवीन अभ्यक्त (आकारा) का सम्बन्ध होता रहता है। इसी अभ्यक्त विनियम को धरम में रखा कर 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते' यह कहा

की

समाप्ता अथ

अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्-द्वितीया

१

अथ

आत्मविज्ञानोपनिषद् (प्रथमखण्डे)

‘यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्’ तृतीया

३



$$(३) \left[\begin{array}{l} १-अपिदेवतम्—परमेष्ठी (पूर्वमद) \\ २-अप्यामम्—अहरदयेऽः (पराभिदम्) \end{array} \right] (२)$$

अथ

श्राद्धविज्ञानान्तर्गत—‘आत्मविज्ञानोपनिषदि’ प्रथमाया—

“यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्”—तृतीया

३

यज्ञात्मा—प्राज्ञात्मा—परमेष्ठी (२)

१-ज्ञानानुष्ठापिषत् (विदात्मा)

२-कार्त्तव्यतापिषत् (सदात्मा)

माऽयं द्वितीया यज्ञात्मा—प्राज्ञात्मा—या परमेष्ठी

(३)—यज्ञात्मस्वरूपपरिचय —(अग्नीषोममयः शिपिविष्टात्मा)

१—यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुमिस्तत एकघृतं देवकर्मैर्मिरापतः ।

इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप ययेत्यासते तते ॥ अक्ष० १०, ११०, १ ।

२—धुर्मा एन तनुत वस्तूणानि पुमान्नि सस्ने अभिनाके अस्मिन् ।

इमे मयुखा उप सेदुरु सद्ः सामानि चक्रुस्तसराण्यातवे ॥ अक्ष० १०-११०-२ ।

३—सहस्रोमा सहस्रन्दस आसुतः सहस्रमा श्रुपयः मस देव्याः ।

पूर्वेर्षा पधामनुष्य घीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन् ॥ अक्ष० १०-११०-३ ।

४—पशोन वाच पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्तुपिपु प्रविष्टास् ।

सामासुत्या व्यदधुः पुख्या ता सप्त रेमा अभि न वन्ते ॥ अक्ष० १०-१११ ।

५—यज्ञैर्यवा प्रथम पवस्तते ततः सूर्यो व्रतपा देन आजनि ।

आ गा आश्विदुघना काव्यः सचा यमस्य साममधृतं पञ्चामहे ॥ अक्ष० १-५३ २ ।

६—अग्नेरमृतनिष्पत्तिरमृतेनाग्निरेषते ।

अतएव इति कृतम्—‘अग्नीषोमात्मकं अगतम्’ ॥ इहवावाशोपमिपत् २ । ४ ।

७—ऊर्ध्वधक्षिमयः सोम अधोऽक्षिमयाऽग्नयः ।

ताम्यां स्रग्मुटितस्ताम्याश्चक्षिष्वभिद् अगतम् ॥ ३० वा० ७० २।५ ।

८—आन्यं दिवो मातरिष्वो अमरामध्यान्व्य परि स्येनो अद्रेः ।

अग्नीषोमा ब्रह्मणा वाह्वानोरु यद्याप चक्रुस्तु सोकम् ॥ अक्ष० १।६३।६ ।

९—वधेदुं ससां अप दृष्यो सहि दूरे वा मे अन्ति वा के चिद्वज्रिणः ।

अपा यद्याय गृणते गुग कृष्यग्ने सख्ये मा रिपामा वय एव ॥ अक्ष० १।६५।६ ।

१०—यो वेद गहन गुह्य पावन च ततोदितम् ।

अग्नीषोमपुट कृत्वा न स भूयोऽग्निवापते ॥ ३ वा ७ २।६५ ।

ओंयज्ञात्मब्रह्मणे नमः

यज्ञात्मा-परमेष्ठो

‘यज्ञोब्रह्म’त्युपास्य

यज्ञो देवानां प्रसमेति सुम्नसादिस्पासो मयता मृदयन्तः ।

आवाऽर्वाची सुमतिरेवृत्पादहोस्विषा वरिषो विचरासत् ॥ अक्ष० १।१०७।१।

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतं श्वच सामानि अक्षिर ।

छन्दांसि अक्षिरे तस्माद्यजुस्तस्मादद्यायत ॥ अक्ष० १०।६०।६।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।

ते ह नाक महिमान सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवा ॥ अक्ष० १०।६०।१६।

यस्मादृते न विद्वद्यति यशो विपश्चितश्चन ।

स धीर्ना योगमिन्वति ॥ अक्ष० १।१८।७।

प्राथम्य अव्यक्तमूर्ति स्वरूप प्रजापति (परमप्रजापति) के ‘साहस्रीमण्डल’ (महिमा)

मण्डल, विमूढमण्डल, वैरवर्ण्य, आवि नामों से व्यवहृत वपदकारमण्डल) में युग्मत्रियोमूर्ति

पारमेष्ठिवत्परिचय— आपोमय परमद्योतक प्रतिष्ठित है। जिस प्रकार अव्यक्त स्वरूप

३०० के अविष्ठाता प्रधान देवता प्राणप्रकृतिक ‘ब्रह्मा’ हैं, एवमेव व्यक्तव्यक्त

मूर्ति यज्ञात्मक परमेष्ठोके अविष्ठाता प्रधान देवता अप्रकृतिक ‘विष्णु’ हैं। विष्णु ही यज्ञ के

अन्त्यतम स्वरूप समर्पक माने गए हैं। इसी आधार पर विष्णुवत्त्व का ‘ब्रह्मदीव हि यज्ञम्’

यह निर्वाचन किया जाता है। कठोपनिषद् वि० के अनुसार यह पारमेष्ठ्य आत्मवत्त्व महानारमा

नाम से भी व्यवहृत हुआ है जैसा कि निम्न श्रुति वचन से प्रमाणित है—

यच्छे-१ द्वाद्भूमनसी-२ प्राज्ञ-स्तथच्छे-३ ज्ञान आत्मनि ।

ज्ञान-४ मात्मनि महति-नियच्छे-५ यच्छे-५ च्छान्त आत्मनि ॥

—कठोपनिषद् १।३।१३।

१-	१-	पुरुष पोडशी (अमृतात्मा)	१-	१-	पुरुष पोडशी (अमृतात्मा)	१-	१-	पुरुष पोडशी (अमृतात्मा)
२-	१-	स्वयम्भू (प्राणमय)	२-	१-	अव्यक्तात्मा (प्रा०)	२-	१-	गुहा (प्रा०)
३-	२-	परमहृदी (आपोमय)	३-	२-	महानात्मा (आ०)	३-	२-	आप (आ०)
४-	३-	सूर्य (वायुमय)	४-	३-	विज्ञानात्मा (वा०)	४-	३-	अयोनि (वा०)
५-	४-	अमृता (अन्तमय)	५-	४-	प्रज्ञानात्मा (अ०)	५-	४-	अमृतम् (अ०)
६-	५-	महापृथिवी (प्राणान्मि०)	६-	५-	प्राणारमा (प्रा०)	६-	५-	रस (प्रा०)
७-	६-	भूपिण्ड (भूतान्मि०)	७-	६-	शरीरम् (भू०)	७-	६-	पिण्ड (भू०)

आधिदैविकप्रपञ्च

आध्यात्मिकप्रपञ्च

आधिभौतिकप्रपञ्च

१

२

३

वर्तमानशास्त्र ने प्रमानरूप से आधिदैविक (ईश्वर), आध्यात्मिक (जीव) भेद से दो ही विश्वों को प्रमानता ही है। स्वयं उपनिषद् ने भी यदेवेह तदमुत्र” पूर्णमद पूर्णमिदम्” (ई) इत्यादि रूप से ब्रह्म (यही) अमुत्र (वही), अद (यह), इदं (यह) ये दो ही विभाग माने हैं। ये ही दोनों विभाग वर्तनों में ऐहिक-आध्यात्मिक नामों से व्यवहृत हुए हैं। पूर्वप्रशस्ति आधिभौतिक पदार्थों को असङ्गोद्भूत मानत हुए इन का आध्यात्मिक संस्था में ही अन्तर्भाव मान लिया गया है, जैसा कि निम्न क्लिष्ट कोष्ठक से स्पष्ट होजाया है।

अथ १२ विवर्त —

आधिदैविकप्रपञ्च १	आध्यात्मिकप्रपञ्च २		
१ ब्रह्मावत विषयार्त्ता ↓ प्रकृतितन्त्ररत्न	१ असंशयीबा ↓ पातक	२ अन्तःसंशयीबा ↓ औपमिबन्धनस्थय	३ समंशयीबा ↓ कमिकीर्णसिपशुमनुष्या
१-स्वयम्भू (मातृमय) २-परमप्री (आपामय) ३-सूर्य्य (वायुमय) ४-बल्मा (अन्नमय) (५-सबल (आदित्यमय) ६-हरिदयगर्भ (वासुमय) ७-विषाद (अग्निमय) ८-भूपिरहः (भूतमय)	१-गुहा २-आप ३-उषाति ४-असुतम् × + + × (५-वैरवानर (अग्निरस) ६-पिरहः	१-गुहा २-आप ३-उषाति ४-असुतम् × (५-वैरस (आपूरस) ६-वैरवानर (अग्नि) ७-पिरहः	१-अभ्युत्थाना २-महानात्मा ३-विज्ञानात्मा ४-प्रज्ञानात्मा (५-प्राज्ञ ६-तजस ७-वैरवानर ८-शर
अष्टकप्रकृतितन्त्ररत्न — ० — १	पदकलोपता असंशयीबा — ० — १	मपकलोपता— अन्तःसंशयीबा — ० — २	अष्टकलोपता— समंशयीबा — ० — ३
पूण्यम्—→ वदमुन (रसप्रधानमव्या)	पूण्यमिदम् वरवह—→ वदप्रधानसंरवा		

यहां पर प्रत्येक स्थिति का नाम है कि वह आध्यात्मिकता में महानात्मा का परमप्री से सम्बन्ध बनता है। साथ ही पूर्णतः कठिनी भी इसी अर्थ का समर्थन कर रही है। जमी स्थिति में महानात्मा का (प्रकृत आध्यात्मिकता में) पात्र बनता है, साथ ही पारमप्री आत्मा को महानात्मा नाम से सम्बोधित करता है। महानात्मा महानात्मा है। इस प्रत्येक अर्थ में जमी यही समझ लेना पड़ता है।

होगा कि, ईश्वरीयसंस्था में चन्द्रमा और परमेष्ठी, दोनों सप्तासीय पर्व हैं। अर्द्धतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत् (० प्रा० १, १, २, १०) इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार पृथिवी के दक्षीय ध्रुवोत्तरीय परमेष्ठी में भी सोम है। दूसरे शब्दों में परमेष्ठी भी सोममय है, एवं—“एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः” (शत १६-४-५) के अनुसार भूपिण्ड के चारों ओर परिक्रमा कराना जाता, पृथिवी का उपमहभूत अग्निप्राणारब्ध प्रत्यक्ष रूप चन्द्रमा भी सोममय ही है। यह सोमपिण्ड (चन्द्रपिण्ड) सीररश्मियों के सम्बन्ध से प्रकाशित हो रहा है। इसीलिए इसे चन्द्रमा (चन्द्रिकायुक्त-प्रकारायुक्त) कहा जाता है। विज्ञानमापा में यही ‘मास्वरसोम’ नाम से प्रसिद्ध है। सूर्य के ऊपर प्रसिद्ध रहने वाला भूतगोवि से भातं रह्य, किन्तु ज्ञानगोवि का प्रादुर्भाव, अतएव ज्ञानगोविर्नय पारमष्ठ्य सोम ‘दिक्सोम’ नाम से प्रसिद्ध है। इन्द्रियविज्ञान के अनुसार चान्द्रसोम जहाँ मन का आरम्भ है, वहाँ दिक्सोम श्रोत्रत्रिष का स्वरूप समर्पक माना गया है। (देखिये पे० पृ० २४) चन्द्रमा प्रकार का अभिज्ञाता है। दूसरे शब्दों में प्रकाशित सोम है। प्रकारा ही वस्तुसूत्रों का अभिज्ञाता है। अतएव वस्तु मन्त्रों का प्रादुर्भाव करता है। दिक्सोम ज्ञान का अभिज्ञाता बनता हुआ श्रोत्रत्रिषरूप में परिणत होकर शास्त्रज्ञान का अभिज्ञाता बनता है। शब्दमय ज्ञानोद्भव का अन्यतम, पर्व प्रधान द्वार है। ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं है, जो पर-परमन्वी-मध्यमा-वैद्यरी नाम के बागविषयों (शाब्दविषयों) में से किसी एक से सम्बन्ध न रखता हो। इसी अभिप्राय से सेतुकार कहते हैं—

न सोऽस्ति प्रत्यपो लोके यः शब्दानुगमाद्यत् ।

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥—भर्तृहरिप्रखीतवाक्यपरी ।

परमेष्ठी में केवल ज्ञानप्रकाश है, वहाँ सूर्य से सम्बन्ध रखने वाली भूतगोवि का आभाव है। अतएव तद्दर्शमूला श्रोत्रनिष्ठ शाब्दज्ञान केवल ज्ञानप्रकाश का ही उत्पन्नक बनता है। यही पारमष्ठ्य विद्युक्त सोम प्रबन्धविद्या के अनुसार अंशारमना परमेष्ठी से प्रसृष्ट

“नमोऽस्तुतिर्वा गगनम्” इत्यादि के अनुसार सूर्य और पृथिवी का (अस्तित्व नाम का) अन्तरात्म प्रवेश परित्यक्त हुआ है। सूर्य पृथिवी के बीच में प्रवेश करता है। इस क्रम से परमेष्ठी तीव्रतम प्रकाश बन जाता है। पृथिवी से तीव्रतम प्रकाश में (परमेष्ठी में) सोम प्रतिष्ठित है। सूर्यप्रकाश में परिणत अन्तरात्म पापत्री इसी सोम का अग्रहरण करती है—जैसा कि पतञ्जलीपर्वर्णमाकथनमायमानविद् आचक्षते” इत्यादि रूप सुदर्शनान्त से स्पष्ट है।

(प्रश्न) होकर सौर प्रकार से भी युक्त हो जाता है। अतएव तत्पराभूत मम चिन्मय सोम के सम्बन्ध से जहाँ विषयज्ञान का अभिप्राय बनता है वहाँ यह भूतज्योति के प्रभाव से विषय रूपों का भी अनुप्राहक बन जाता है। वस्तुतः यही है कि परमेशी—एवं चन्द्रमा, तारिकक दृष्टि से दोनों अभिन्न हैं, एक वस्तुत्वरूप (सोम) हैं। मन्त्रमन्त्र का आगमन यद्यपि परमेशी से ही होता है। परन्तु इस के आगमन का द्वार चन्द्रमा ही है जैसा कि आगे के महाहोतृप्रकरण में स्पष्ट हो जायगा। अतः महानात्मा को चन्द्रमा की भी वस्तु मान लिया जाता है। साथ ही में प्रेषितियों की आचारभूमि चन्द्रमा है। पितरप्रायाणस्थिन्म मन्त्र का प्रधानरूप से चन्द्रमा के साथ ही सम्बन्ध है। इसलिये भी इस आद्यप्रकरण में हमने महानात्मा को चन्द्रमा माना है। यही भुक्तिविशेष की बात। इस का निराकरण भी किया जासकता है। वही पारमेश्वर्य मन्त्र सोम चन्द्रमा का स्वरूप समर्पक है, अतः चन्द्रमा को भी महानात्मा कहा गया है, जैसा कि निम्न लिखित बचन से स्पष्ट हो जाता है—

‘तमब्रवीत्—महादेवाऽसीति । तद्यस्य तन्नामाकरोत्, चन्द्रमास्वरूपम्
मन्त् । प्रबोधिर्वै चन्द्रमाः । प्रबोधिर्वै महान् देवः—(सू० १ । १ । १ । १ ।)

परमेश्वरी यज्ञ का अभिषावा है। यही महामात्मा है। अतएव इस यज्ञ को भी महान् यज्ञ का सङ्का है। ऊपर आध्यात्मिक यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा रूप ब्रह्मा भी ब्रह्ममूर्ति ही है। ब्रह्मा यज्ञ के यज्ञा माने गए हैं—“ब्रह्मा कृष्णस्व नोऽवतु” (यजु २३।१३।) “ब्रह्मा वै ब्रह्मा कृष्ण” (१३।२।७।७)। ब्रह्ममूर्ति वासुदेव परमेश्वरी महान् है, इसी अभिषाव को व्यक्त करते हुए निम्न लिखित आठवचन हमारे सामने आते हैं—

१—'स (साम) तापमानो आसते । स यज्जायते, तस्माद्यज्जः ।

यज्जो ह वै नामैतयज इति" (श्रुत० ३।५।४।२२)

५—“यज्ञो वा अतस्य (परमहिनि) यानिः” (शत १।५।४।१६)

३—“एष ह वै महान् देशो यच्छ्रुः” (शां. पू. २। १६।)

इस प्रकार कहीं पारमार्थिक ब्रह्मसमक तत्त्व को महीनात्मा कहा कहीं चाम्पूतत्त्व को महीनात्मा ब्रह्मज्ञाना ब्रह्म प्रकरण से सज्जा समन्वित हो जाता है। प्रकृत प्रकरण में पनामर्तन स ही परमपदी का उपरु हण अर्पित है।

पूर्व के अथ्यकात्सप्रकरण में ब्रह्म—सूत्र—अन्तर्ध्यामी, भेद से अथ्यकात्मा के तीन विवर्त्ता का निर्दशन कराय गया है। वहीं प्रकरणापसंहार में यह भी बतलाया गया है कि इत्यतिष्ठ अन्तर्ध्यामी ब्रह्मा—प्रधान है। यह आत्मन्वन है। अथ्यका के एक पितृ नामक दो विवर्त्ता सूत्ररूप से बाहिर निकल कर सब को परस्पर में घुल रहन वाला सूत्रात्मा विष्णुप्रधान है। एवं वस्तुओं का आरम्भक बनने वाला बेशात्मा इन्द्रप्रधान है। अथ्यकावस्था में यही तीनों शाखात्मा के स्वरूप सम्पादक रहते हैं, एवं व्यक्तावस्था में आकर ये ही तीनों यज्ञात्मा के आरम्भक बन जाते हैं। इस यज्ञात्मा के ही वित्तसम्बन्ध से जाग आकर १—यज्ञात्मा, २ विदात्मा, ३ दो विवर्त्ता हो जाते हैं। वानों में से सर्वप्रथम यज्ञात्मा को ही संक्षिप्त निर्दशन कराय जाया है।

आवपन—अन्नाद्—अन्न, इन तीन वस्तुओं के संगतिकरण का ही नाम यज्ञ है। आवपन यज्ञ ब्रह्म है, अन्नाद् '२ यज्ञ' है, अन्न '३ यज्ञ' है। तीनों की समष्टि यज्ञमूर्ति (विष्णुमूर्ति) यज्ञ ब्रह्म है। जब तक प्रकृत यज्ञ स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है, तभीतक विश्वमें शान्ति है।

जिस समय आवपन—अन्नाद्—अन्न का सम्बन्ध विच्छेद हो यज्ञसंस्था टूटकर हो जाता है, यज्ञसंस्था टूटकर हो जाता है, अथ्यवह्नितात्तर—काल में ही विश्व अथ्यकात्म में विहीन हो जाता है। इन्द्राग्नि ही शंभाब है। इन्द्र—'सहयज्ञा प्रजा सद्वा पुणेषाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेप वोस्त्वित्कामधुक्' इत्यादि म्मात् बचन यज्ञ को ही इन्द्रकामधुक् (यथेष्टपलाबाणिसाधक) बतलाती है। यज्ञ की उक्त तीनों कलाओं में से आवपन का अन्तर्ध्यामी ब्रह्मा के साथ सम्बन्ध है। अन्नाद् का बेशात्मा इन्द्र के साथ सम्बन्ध है। एवं अन्न का सूत्रात्मा विष्णु के साथ सम्बन्ध है। विश्व-पाठकों का स्मरण होगा कि असृतात्मा का तत्त्व बतलाते हुए हमने अक्षर को गतिधर्मा बतलाया था। साथ ही में एक ही गतिधर्मा के स्थिति—विशुद्ध आगति—विशुद्धगति—स्थिति—गमिता आगति—स्थितिगमिता गति से पांच विध बतलान हुए, इन्हीं पाँचों विधों का क्रमशः ब्रह्मा—विष्णु—इन्द्र—साम—अग्नि—कहा था। यज्ञस्वरूप परिज्ञान के लिए पुनः एक बार इन्हीं अक्षरकाओं पर ध्यान बना आवश्यक होगा। विष्णुतत्त्व विशुद्ध रूप से जहाँ आगति है, वहाँ वही स्थितिगम में प्रविष्ट होकर साम बन रहा है। साम सकाशधर्मा स्नेह तत्त्व है, शान्तगुणक है। यथेष्ट इन्द्रतत्त्व विशुद्धरूप से जहाँ गति है, वहाँ वही स्थिति के गर्भ में

प्रविष्टाकर अग्नि बन रहा है। अग्नि विकासधर्मां तेज तस्य है, वाहक्युत्पन्न है। इन्द्रा-
विष्णु एक युग्म है। अग्नीमोम एक युग्म है। विष्णु-सोम सञ्जातीय हैं इन्द्राग्नी सञ्जातीय हैं
दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि विष्णु ही विकासधर्मा में आकर सोम बना
हुआ है। एवं इन्द्र ही विकासधर्मा में आकर अग्नि बना हुआ है। इस प्रकार ब्रह्मा-विष्णु
सोम-इन्द्राग्नी य तीन विभाग हो जाते हैं। विशुद्ध प्रजा (स्थिति), विशुद्ध विष्णु (विशुद्ध
आगति) विशुद्ध इन्द्र (विशुद्ध गति), इन तीनों का समुच्चय चरित्रधर्मा है। यदि इन के साथ
अग्निमोम को सम्बन्ध हो जाता है दूसरे शब्दों में इन्द्राविष्णु यदि अग्नीमोमरूप में परिणत
हो जाते हैं तो वही अच्युत अग्नि-सोम के सम्बन्ध से व्यक्त चरित्ररूप में परिणत होकर
“यज्ञात्मा” नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। विशुद्धरूप से तीनों अन्तर्धर्मा-सूत्रा-
त्मा-वेदात्मा हैं, यज्ञरूप में ये ही तीनों आचपन-अन्न-अ नाष्ट हैं। अग्नि अन्नाद है, अन्न
सोम है। आचपन आचारमूर्ति है, मूलप्रतिष्ठा है। त्वं ब्रह्म (आकार) है। ब्रह्मास्य सर्व
स्य प्रतिष्ठा (शत० ६।१।१।८) के अनुसार ब्रह्मा वास्तव में आचपन है। यही अन्त-
धर्मा है। विष्णुसहस्ररी सोम अन्न है। अतएव विष्णु को सोमवर्णी कहा जाता है, जैसा
कि—“सोमो वैष्णवा राजा” (शत० १३।४।३।८) “यो वै विष्णुः सोमः स”, (शत
३।६।३।१६) इत्यादि निगम वचनों से स्पष्ट है। विज्ञानदृष्ट्या मांस मिन्न है विष्णु प्रयत्न
तस्य है। इस अभिप्राय को लक्ष्य में रखकर सोम को विष्णु न कह कर वैष्णव (विष्णुयुक्त)
कहा गया है। साथ ही में दोनों का तारतम्य है। इस अभिप्राय से ‘यो वै विष्णुः सोमः स’
यह कह दिया गया है। यही सूत्रात्म-विचरणा है। विष्णु सूत्रात्मा है किंवा सूत्रात्मा विष्णु-
प्रधान है। विष्णु न जिस सूत्र से संपूर्ण प्रजा पर अपना अधिकार समा रक्ता है वह यही
सोमोन्नतसूत्र है। सब अन्न से गृहीत हैं अन्नाधीन हैं। अतएव प्रहोपनिषत् न अन्न को ग्रह
कहा है। जैसा कि मुनि कहती है—

“अन्नमेव ग्रहः । अन्नेन हीद सर्वं गृहीतम् । तस्मादाचपन्तो नोऽन्नमन्न
न्ति, ते नः सर्वे गृहीता भवन्ति । एषेव स्थितिः । स य एष सोमग्रहः ।
अन्न वा एष सः” (शत ४।६।२)

इन्द्र सहपाठी अग्नि अन्ताद् (अग्न खाने वाजा) है। अतएव 'तर्हि ह्ये (अग्नि) भवतीन्द्र' (शत० २।३।२।११।) इन्द्राग्नी वा इदं सर्वम्' (शत० ४।२।२।१४) इत्यादिरूप से इन्द्राग्नी वा साहचर्य्यं बतलाया गया है। इन्द्रावच्छिन्न अन्ताद् अग्नि में विष्णु के अशनाया—सूत्र से आकर्षित सोमाग्न आहुत होता है। इस आहुति में प्रथमा विष्णु-इन्द्र, तीनों अन्ताद्युक्त बनकर यज्ञस्वरूप में परिणत हो जात हैं। अग्नि में सोम की आहुति होना ही यज्ञ है। एवं यज्ञ ही प्रत्येक पदार्थ का जीवन है। आश्वपत्नरूप त्वं ब्रह्मा-ग्नक ब्रह्मत्वरूप पर प्रतिष्ठित अग्न सन्मन्य स रसमाण, अतएव 'र' ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध इन्द्रावच्छिन्न अन्ताद् अग्नि में अवतक मुखैकमाचनभूत, अतएव 'क' ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध विष्णवच्छिन्न अग्न सोम आहुत होता रहता है, तस्मैतक शान्तिवचन, किंवा तु ब्रह्मवचन यज्ञात्मा स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है, यही निष्कर्ष है। यज्ञात्मा में प्रथा-विष्णुमहेश्वरी सोम, इन्द्र-सहचारी अग्नि, तीनों की, किंवा पाँचों कलाओं की सत्ता है। प्रथा यज्ञ क रत्नक है। शेष चारों यज्ञात्मक हैं। अतएव इन्द्र-अग्नि-विष्णु-सोम, इन चारों को ही यज्ञ शब्द से व्यवहार किया गया है, जैसा कि निम्न लिखित निगमवचनों से स्पष्ट हो जाता है—

- १-इन्द्रयज्ञः
- १-‘इन्द्रो यज्ञस्य नेता’ (शत० ४।१।२।१३)
 - २-‘तदाहु किं दबत्यो यज्ञ इति? ऐन्द्र इति धूयात्’ (गो० ३०३।१३)
 - ३-‘ऐन्द्रा वै यज्ञ’ (ऐ० भा० ६।११।)
 - ४-‘इन्द्रा वै यज्ञस्य देवता’ (शत० १।४।१।१३।)
 - ५-‘इन्द्रो यज्ञस्यात्मा इन्द्रा देवता’ (शत० ६।२।१।१३।)

२-अग्नियज्ञ

- १-‘अग्नि एतद्यज्ञस्य यदग्निः’, (शत० ६।२।३।११।)
- २-‘अग्निर्वै यज्ञमुखम्’ (ऐ० भा० १।२।१।८।)
- ३-‘एष वै यज्ञो यदग्नि’ (शत० २।१।४।१६।)
- ४-‘अग्निरु वै यज्ञ’ (शत० २।२।३।१५।)
- ५-‘एष वै यज्ञस्य मुखतुषदग्नि’ (शत० १।४।१।१३।)

३-विष्णुयज्ञ

- १—'यो वै विष्णुः स यज्ञः' (शत० ३।१।३।६।)
- २—'यज्ञा वै विष्णुः त्रिपिबिष्टः' (ता० ब्रा ६।७।१०।)
- ३—'यज्ञो विष्णुः स देवस्य इमां विक्रान्तिं विश्वक्रमे' (शत १६३०)
- ४—'यज्ञा वै विष्णुः' (ता० ६।३।१।)
- ५—'विष्णुर् यज्ञः' (ऐ १।१६।)

४-सोमयज्ञ

- १—'स (साम) सायमानो सायत । स यत् सामत, तस्माद् यजन् । यज्जो ह वै नार्मत्तयज्ञ इति' (शत० ३।६।४।१३)
- २—'आहुतिर्हि यज्ञः' (शत० ३।१।४।११)
- ३—'इतीपि ह वाऽ आत्मा यज्ञस्य' (शत १।६।३।३६।)
- ४—'इतिर्वै दधानो सामः' (शत० ३।६।३।२।)
- ५—'सामाहुतयो ह वाऽ एता दधानाम्' (शत ११।५।३।३।)

५-वेद्ययज्ञ

- १—'ब्रह्म हि यज्ञः' (शत ६।३।२।४।)
- २—'प्रजापतिर्वै यज्ञः' (गो० ७० २।१०।)
- ३—'एष वै प्रत्यक्ष यज्ञो यत् प्रजापतिः' (शत० ४।३।४।३।)
- ४—'स वै यज्ञ एष प्रजापतिः' (शत १।३।४।४।)
- ५—'प्रामात्यो यज्ञः' (ऐ ३।७।१।२।)

इन पाँच करों की समष्टि से ही यह यज्ञ 'वाङ्मनो वै यज्ञः' के अनुसार पञ्चाययज्ञ कहा जाता है। प्रत्यक्ष पञ्चाय में स्थिर, और हृदय से ही बिम्बा है। इस में स्थिर में अग्नी सामात्मक यज्ञ की प्रशानता है एवं हृदय में ब्रह्मा—विष्णु—इन्द्र प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार वायवी का प्रथम स्थिति—

प्रत्यक्ष पञ्चाय यज्ञसमष्टिरूप है। पाँच यज्ञकरों के एकीकरण से प्रत्यक्ष पञ्चाय का स्वरूप निम्नांश हुआ है। इन पाँच करों के रहन पर भी बहुत कुछ ही कहा जा सकता है, इस का कारण यही कृतत्व कारण है। अथर्ववेद अथर्ववेद

पर प्रतिष्ठित है। इसी से यज्ञ के छिद्र आधुत हा रहे हैं। इसी अभिप्राय से अक्षरेणैव यज्ञस्य छिद्रमपि दधाति' (ता० भा ८। ६। १३।) यह कहा जाता है।

आवपनकला ब्रह्ममूर्ति अन्तर्ध्यामी की प्रधानता से मनोमयी है। अन्ताइकला इन्द्रमूर्ति वेशात्मा की प्रधानता से बाह्यमयी है। एवं अन्नकला विष्णुमूर्तिसूत्रात्मा की प्रधानता से प्राणमयी है। इस प्रकार प्रकारान्तर से मनःप्राणवाह्यमय अव्यय पुरुष ही क्रमशः अन्तर्ध्यामी सूत्रात्मा-वेशात्मा रूप में (अध्याक्त रूप में) परिणत होता हुआ आवपन-अन्न-अन्ताइक बनकर यज्ञपुरुष बन रहा है। वही तो 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' की चरितार्थ देने का अवसर मिलता है। इसी आधार पर 'पुरुषो यै यज्ञ' इत्यादि रूप से उस सर्वाधार काजपुरुष को भी यज्ञपुरुष कह दिया जाता है। निरुक्त यही हुआ कि अध्याक्त स्वयम्भू ही आवपन-अन्न-अन्ताइकरूप में परिणत होता हुआ परमेश्वी बन जाता है। इस परमेश्वी का पहिछा विवर्त यही उक्त अक्षय यज्ञात्मा है।

१ ब्रह्मा	}	—ब्रह्मा-अन्तर्ध्यामी-तदवच्छिन्न आवपनम् (ख ब्रह्म)	"यज्ञात्मा श ब्रह्म"	
१ २ विष्णु				
३ इन्द्रा				
—०—	}	—विष्णु-सूत्रात्मा तदवच्छिन्न सोमोऽन्नम् (२ ब्रह्म)		
१ विष्णु				
२ २ ब्रह्मा				
३ इन्द्रा	}	—इन्द्र-वेशात्मा-तदवच्छिन्नाऽग्निरन्ताः (फ ब्रह्म)		
—०—				
१ इन्द्र				
३ २ ब्रह्मा	}			
३ विष्णु				
—०—	}			

१—आविपनम्—मनोमयम्

२—अन्तम्—प्राणमयम्

३—अन्नाद—बाह्यमय-

सोऽयं त्रिकुलो यशोवृत्तपो यश्चिरमा

एक यज्ञात्मा का विवरण' आद्यश्रुति से 'सम्बन्ध' स्वरूप वाला है। उपनिषद् श्रुति में प्रकारान्तर से यज्ञात्मा का स्वरूप हमारे सामने रहता है। वह श्री प्रसन्नानन्द जल शला पाहिए। धनु-सूत्र-निबधितरूप अम्बुज-शब्दम् प्राक्प्रधान होता हुआ असङ्ग है अतएव वह अन्तर्ध्याया से वाहिर है। बो, अथवा अनेक मौलिक तत्त्वों के रासायनिक संयोग से सिद्ध होने वाला अपूर्व योगिक भाव ही वह है। रासायनिक संयोग ही विज्ञान भाषा में अन्तर्ध्याय विधि संसृष्टि आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। असङ्ग प्राण में वह संमर्ग लक्ष्य संसृष्टि सम्बन्ध सबका अनुपपन्न है। इस श्रुति का सच से पहिले अन्तर्मय परमेशी में ही व्यप होता है। पारमप्रप अप्रवृत्त मृगु-अङ्गिरोमय है। अङ्गिरा वेदस्तम्ब है, मृगु स्तम्ब तरण है। वेज-आहमूर्ति शुक्लङ्गिरोमय इस अप्र प्रकृति की मातरिद्धा नाम से प्रसिद्ध बराह बाधु द्वारा पूर्व प्रकरण में प्रतिपादित त्रिसिगात्मात्मक प्राण-मय स्वायम्भुष यजुर्मणि में आहुति होती होने से जो एक अपूर्व भाव उत्पन्न होता है त्रिसिगा-यात्मक वेज-स्तम्भमूर्ति वही अपूर्वभाव यज्ञ, किंवा यज्ञात्मा है। आहुतिरूप होने से ही अन्ध-सेबो शब्द यह अन्तस्व शुक नाम से व्यवहृत होता है। त्रिसिगात्मात्मक आधोमय इसी शुक्लस्व का निरूपण करती हुई उपनिषद् श्रुति कहती है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमवगमस्तामिरं त्रुमपापविद्धम् ।

कविमनापी परिभू स्वयम्भूयास्तध्यताज्यान् व्यदधाच्छास्वतीभ्यः समाम्य ॥

—वेतोपनिषद् ८ मं० ।

यह अङ्गमूर्ति यज्ञात्मा योनि—रेत—रेतोधा मेव से त्रिकुल है। तीनों की प्रतिष्ठा आध पनमूत त्रयीमूर्ति अम्बुज-आत्मा है। त्रयीमूर्ति के यज्ञात्मा का यजुर्मणि योनि है। पारमेष्ठ्य अप्र वृत्त रेत है, मातरिद्धा बाधु रेतोधा है। एक अन्तस्व ही शुक्लस्व आहुतिरूप है। इसी की

प्राकृति से पञ्चपुरुष का प्रादुर्भाव होता है। अग्निदेवत (सूर्य), अभिभूत (पृथिवी) अभ्याम, इन तीनों यज्ञों का प्रथम प्रवर्तक यही पारमेष्ठ्य यज्ञमूर्ति अभिर्वा है, जैसा कि भुक्ति कहती है—

यज्ञैर्यथा प्रथमः पञ्चस्तते ततः सूर्यो व्रतपा धेन आजनि ।

आ गा आजदुश्ना काव्य सचा यमस्य जातममृत यज्ञामहे ॥

—ऋक् सं० १। ५३। ५।

देवता विभाग के अनुसार स्वयम्भू ऋषा हैं। यह 'ब्रह्मनि-श्वसित' नाम से प्रसिद्ध अपौरुषेयसकल त्रयीवेद से युक्त होते हुए त्रयीमूर्ति हैं। त्रयीमूर्ति ऋषा के रूप बाह्य भाग से ही परमेश्वररूप अभिर्वा (ब्रह्मवेद) का सर्वप्रथम अभ्य हुम्ना है, अतएव इसे ऋषा का ज्येष्ठपुत्र माना गया है, जैसा कि मुखकभुक्ति कहती है—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता सुवनस्य गोप्ता ।

स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठापयर्थाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ १ ॥ मुख० १। १। १।

एक त्रयीवेद के ऋक्-साम-यजुः, ये तीनों पञ्च कमरा महोक्म-महोव्रत पुरुष-नामा से प्रसिद्ध हैं। पुरुषरूप यजुः के यत्, एवं जू, ये दो बिन्दु हैं। यह पञ्च ही पस्तु है, वय इ। इस का स्वरूप सम्पादन करने वाले जन्मोरूप, अतएव वयोनाथ नाम से प्रसिद्ध ऋक्-सामात्मक महोक्म एवं महोव्रत हैं। ऋक्साम से जन्मित स्थितिगत्यात्मक यजुमूर्ति धोनिरूप इसी ब्रह्मनि का निरूपण करती हुई भुक्ति कहती है—

अनेवदेकं मनसो जवीयो नैनवूदेवा आप्नुवन् पूर्वमर्पत् ।

वह्नावतोऽन्यानत्मेति तिम्रचस्मिन्नपो मातरिश्वा इवाति ॥ (इंशो० ४। ४। १)

गतिवत्त्व वायु है, स्थितिगत्त्व आकाश है। 'यथाकाशस्थितो नित्य वायुः सर्वत्रगा महान्' (गी० ६। १। १) के अनुसार आकाशवाय्वात्मक स्थितिगतिरूप यत् एवं जू अभिनाभूत हैं। दूसरे शब्दों में दोनों वाय्वात्म्यापन्न हैं। इसी लिए दो वस्त्र होने पर भी अग्निने—

'अनेव्रत्' 'एकम्' 'मनसो जवीय' यह कहा है। वायुरूप गतिवत्त्व प्राक् है, आकाश-रूप स्थितिगत्त्व बाह्य है। यत्-प्राक्-गति-वायु चारों एवं जू-बाह्य-स्थिति-आकाश, ये चारों अभिन्मायक हैं। इन सर्वथा बिरुद्ध दो भावों का मूल विद्या-अभिधायक योद्धरीपुरुष नाम से प्रसिद्ध यही अभ्युपगमा है। योद्धरी पुरुष के अभ्यव भाग की आनम्नादि पाँच कलाएँ यत्

साईं गड हैं । इन में आनन्द-विज्ञान-मनोमयभाग मुखियाही बनता हुआ स्थितिप्रधान विद्याभाग है । मनःप्राणवाह्यमयभाग सूक्ष्माही बनता हुआ गतिप्रधान अविद्या (कर्म)-भाग है । मध्यस्थ, अतएव उभयात्मक (विद्या अविद्यात्मक) रसोवसीबन् मन की कामना से मुखियाही भाग का अनुमाहक बनता हुआ वह प्रस्थियों ताड़कर मुक्ति का अधिष्ठाता बनता है । एव सूक्ष्माही भाग का अनुमाहक बनता हुआ प्रस्थिबन्धन द्वारा वही सूक्ष्म का प्रवक्तृ बनता है । इस का विद्याभाग असूतवत्त्व है, यह सर्वथा स्थितिप्रधान है । अविद्याभाग मृत्युवत्त्व है, यह सर्वथा गतिप्रधान है ।

इस में मुक्त वा बिरुद्ध भावों का आगमन कहाँ से हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर आप का सुपेक्षित वही परात्पर है । असूतात्मा का स्वरूप वतलात हुए यह कहा गया है कि इस की १६ कक्षाओं में से सर्वाधारभूता तुरीय-अर्द्धमात्रिक-अमात्रिक आदि नामों से प्रसिद्ध परात्पर नाम की सोझहीं निष्कलात्मिका कहा है । यह निष्कल परात्पर रस-बल की समष्टि है । असूतकक्षय रसवत्त्व सर्वथा शान्त होता हुआ स्थितिरूप है मृत्युकक्षय वतवत्त्व सर्वथा अशान्त होता हुआ गतिरूप है । वही तो मायोपाधिकृत सीमा से अपने अर्थिकचित् प्रहरा से सीमित होकर पुरुष बन गया है । फलतः परात्पर के स्थिति-गति भावों का पुरुष में समन्वित होना सर्वथा अनिवार्य बन जाता है ।

स्थितिगति कक्षका विद्या-अविद्यात्मिका आनन्दविज्ञानमनोमयप्राणगमिता पुरुष-वाह्य ही त्रयीवद् की मूलप्रतिष्ठा है—‘वाग्विद्वताश्च वेदा’ । ब्रह्मपरी क मनुभाग की ही पुरुष कहा गया है । इस का कारण वही है कि पुरुष (असूतारमा) के विद्या-अविद्या प्रधान स्थितिगति भावों का अन्-अ रूप से मनु में ही पुरुष विकास होता है । इसी स्थिति गतिके साधर्म्य से पुरुष सदृश होता हुआ किन्तु बलुव पुरुषमर्षावा से बहिर्भूत होता हुआ भी वह बलु ‘पुरुष’ शब्द से व्यवहृत कर दिया जाता है । इस प्रकार आत्मा के स्थिति गतिभावों का तद् बहिर्ब्रह्मप्रकृतिभूत बह्मर्षि इस अव्यक्तात्मा स्वयम्भू में भी आगमन सिद्ध हो जाता है ।

अध्यात्म में अभीष्ट (होना हुआ) मनु ही उस स्वावन्मुक्त अव्यक्त ब्रह्मा की प्रतिष्ठा है । इसी ब्रह्मप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित होकर वह तत्त्व मनु के मनुष्याकार से (गतिधर्मा वायु के व्यापार से) जूँ के द्वारा (स्थितिरूप आकार के द्वारा) ‘अप एव मनुष्यादी’ इस मानवीय मिश्र-रूप के अनुसार सर्वप्रथम आप्तवत्त्व ही उत्पन्न करता है । जूँ का आकार-कहा गया है । रम-पक्ष की अमुकम्पा से (तारवत्त्व से) यह आकार भी आगे जाकर असूत-मनु मेव से हो भाग

में विभक्त हो जाता है। इन दोनों में अमृताकारा 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है, एवं मत्पाकारा वाक किंवा इन्द्रपत्नी नाम से व्यवहृत होता है। अप्रत्यक्ष इसी मर्त्या वाक् स अस्पन्न होता है। अमृता वाक केवल आभारभूमि है। सांख्यदर्शन शून्यप्रवेश को आकारा मानता है। यदि वह 'शून्यम्' का वैज्ञानिक तात्पर्य समझता हुआ आकारा को शून्य कहता है तब तो कोई छवि नहीं है। परन्तु ऐसा न समझकर यदि वह शून्य शब्द का "रिक्तस्थान-योज" यह अर्थ समझता है, तो यह उस की सर्वथा भ्रान्ति है। इसी भ्रान्ति से भ्रान्त बनकर भीतसिद्ध आकारा तत्त्व को तत्त्वमर्त्यादा से बहिष्कृत कर रखता है। विज्ञानप्रेमियों का विश्वास आज इस ठीक इस के विरुद्ध विषय की ओर करता चाहते हैं। उन्हें विश्वास करना चाहिए कि, आकारा वास्तव में शून्य है। परन्तु इस शून्य शब्द का अर्थ रिक्त स्थान नहीं, अपितु पदार्थतत्त्व ही शून्य है। सर्वथ व्याप्त प्राणमय इन्द्र तत्त्व ही शून्य है। इसी वशा इन्द्र का स्वरूप बचछाठी हुई भुवि कहती है—

शुन इवेम मयनान्मिन्द्रमस्मिन् मरे नतम वाजसातौ ।

शून्यन्तमुप्रमृताये सगच्छन्त इत्राणि सञ्जित धनानाम् ॥ अक्ष० २।३०।२२

इसी अक्ष (मन्त्र) भुवि के आभार पर निम्न लिखित ब्राह्मण वचन प्रविष्टित हैं—

१—“वाक्वा इन्द्रः” (की० २।७।)

२—“वाग्यन्त्री” (वि० ब्रा० २।२६।)

३—“सा या सा वाक्—असौ स आदित्य” (शत० १०।३।१।४१।)

सबमुख इस छुन 'इन्द्र' से कोई भी त्याग रिक्त नहीं है। इसी अभिप्राय से 'नेन्द्रादिते पवते धाम किञ्चन' (अक्ष० ३।६३।१।) यह कहा जाता है। असुतावाक् रूप रवा इन्द्र से निरय सन्तुष्ट मर्त्यावागुरूप इन्द्रपत्नी ही आगे आकर पञ्चतन्मात्रा की आभारभूमि बनती है। इन में पहिली शब्दतन्मात्रा है इस की विकासभूमि तृतीयकी यही मर्त्यावाक् है। इसी रहस्य को समझाने के लिए 'वेदवाग्यन्त्र' यह न कहकर 'वेदमुद्देश्य एवासी पृथक् सत्स्यान्व निर्ममे' (मनु० १।२१) यह कहा गया है। शब्दतन्मात्रा का जनक मर्त्याकारा मर्त्याकाररूपा इन्द्र-पत्नी की प्रतिष्ठा अमृताकाररूप रवा इन्द्र यह सब कुछ सिद्ध होने पर भी आकारा अप्रत्यक्ष ? कितनी भ्रान्ति ! कैसा भ्रान्त !! कैसा बुरागह !!! यदि आकारा काह पदावतत्त्व न होता, तो

‘मनोमयः, प्राणधरार, भारूप, आकाशात्मः’ इत्यादि शक्तियों का सम्बन्ध कैसे संभव था ? जिस तत्त्व को रिकार्ब का वाचक समझत हुए ‘रून्य’ कहते हैं, वह ‘शुने (इन्द्रायार्हितम्)’ इस निर्बन्धन से सम्बन्ध रखता हुआ तत्त्वविशेष का वाचक बन रहा है। जिस अन्तरिक्ष में रहा इन्द्र व्याप्य है, वही विज्ञानभाषा में रून्य कहाया है। कहना पड़ी है कि, यह वास्तव्य सर्वथा स्थिर है। यही नू कहाया है, जैसा कि भुति कहती है—

“तूरसि—इति” (यजु ४। १७।) “एतद् वा अस्याः (वाचः) एक नाम” (रत्न०)

दूसरा धतु तत्त्व प्राण है। यही गति तत्त्व है। इस प्रकार विद्याकर्मोत्पन्न अन्त्ययपुरुष का विकास आगे जाकर स्थितिगन्धात्मक यजु रूप में होता है। यह यजु साक्षात् अग्नि (प्राणाग्नि) है, पुरुषवर्मावच्छिन्न होने से पुरुष है। इसी के वाक्भाग से वो अप्रत्यक्ष उत्पन्न हुआ है—‘सोऽपोऽसुबत वाच एव लोकात् यतोव सासुन्यत’ (रत्न ६। १। १। २।) यजु के गतिभाव का विकास यहाँ तजोरूप से हुआ है, एवं स्थितिभाव का विकास स्नेहरूप से हुआ है। स्नेह संकोचवर्मा होता हुआ स्थितिप्रधान है, तेज विकासशील यन्त्रा हुआ गतिप्रधान है। इस प्रकार परात्पर संस्था से आरम्भ कर इस आपोमय परमेष्ठी संस्थापर्यन्त रम-वज्र का ही मित्त मित्त रूप से विकास हुआ है। स्थानमेव से एक ही के नाम-रूप कर्मों में अन्तर हो गया है। जैसाकि वाक्शिका से स्पष्ट है—

- | | | |
|-----------|---|--|
| १—रसः | } | —परात्परो विष्मातीतो निर्धर्मकः - १ - |
| २—यजुम् | | |
| १—विद्या | } | —पौण्डरीपुरुषो विश्वेश्वरः सर्वधर्मोपपन्नः २ |
| २—अविद्या | | |
| १—स्थितिः | } | —अभ्युत्थारमा वन्द्येश्वर प्राकृतात्मा ३ |
| २—आगतिः | | |
| १—स्नेहः | } | —पद्मात्मा प्रतिमेश्वर प्राकृतात्मा ४ |
| २—तजः | | |

वाक् स उत्पन्न अपृथक् योषा है, स्त्री है। जहाँ रस का आगमन होता है, वह स्त्री है। जो रस का प्रदाता है, वह पुरुष है। जहाँ रस प्रतिष्ठित रहता है, वह आयतन पुर है। रसवर्षण करने वाक्का अग्नि धृषा है, यही पुरुष है। रसावृत्ति को अपने में संहर करने वाक्का (ह्यै-व्यै शब्दसंपातयौ) उत्पन्न स्त्री है। अग्नि पानी में मिल जाता है, पानी खोतने लगता है। परन्तु पानी कभी अग्नि में नहीं मिलता। यदि पानी का आक्रमण निर्वल होगा, तो अग्नि उस आप्यरूप में परित्यक्त कर वृन्कान्त कर वेगा, यदि पानी प्रबल होगा तो वह अग्नि को बुझ वेगा पानी अग्नि में प्रवेश कर जाय, यह सर्वथा असम्भव है। अग्निरस का ही प्रधरा अप में हो सकता है अतएव यही धृषा है। पुर आषतनरूप होने से आषपन वनता हुआ पूर्व कमनानुसार 'र' ब्रह्म है अग्नि श्लोका वनता हुआ अन्नाद् रूप से 'र' ब्रह्म है, एवं अपृथक् रमण साधन होने से अन्तात्मक 'क' ब्रह्म है। ममष्टि ही 'श' ब्रह्म है।

१—यत्र रसागमन—सा स्त्री —→ योषा
 २—यो रसः प्रदाता—स पुरुष—→ धृषा
 ३—यत्र रस प्रतिष्ठित—तत् पुरम्—→ आयतनम्

दाम्पत्यभाव

—०—

१—स्त्री—आपः—अन्नब्रह्म—→ क ब्रह्म
 २—पुरुष—अक्षुरग्नि—अन्नाद्ब्रह्म—→ र ब्रह्म
 ३—पुरम्—आकाशः—आषपनब्रह्म—→ ख ब्रह्म

श ब्रह्म यज्ञात्मा

—०—

उपपन्न प्राणमयी वाक् से (धनु स) उत्पन्न आप में भी 'कारणगुणाः कार्यगुणानां भन्ते' इस न्याय के अनुसार कारणरूप यक्ष के ऊँची होनों तपकों का (स्थिति-गतिभावों का) स्नेह-वेजोरूप से विकास होता है, जैसा कि वृष में हो कहा जा सका है। वेजस्वरूप अक्षिरा है, स्नेहतत्त्व मरु है। ममष्टि अपृथक् है। 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्रापिषत्' सिद्धान्त के अनुसार त्रयीप्रधान अक्षयकारमा वाक् माग से मृगवज्जिरोमय अपृथक् को उत्पन्न कर स्वयं उस के गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है। इसी अक्षयिज्ञान को लक्ष्य में रत्न कर भवि कहती है—

आपा मृगवज्जिरो रूपमापोमृगवज्जिरोमयम्।

अन्तरिते त्रयो वेदा मृगून्जित्स भित्वा ॥ (गो० पू० १।३३।)

निधानार्थक 'तिङ्' धातु का अर्थ है-तीक्ष्णीकरण। स्वगति-धम्म से विराज्जनधम्मा अङ्गिग उत्तरात्तर केन्द्र से प्रथि की ओर सूक्ष्मरूप में परिणत होता हुआ ज्ञाया करता है। टीक इस क विपरीत स्वरूप युग स्थितिमाद्युक्त होता हुआ उत्तरोत्तर प्रथि से केन्द्र की ओर जाता हुआ संकुचित होता जाता है। इस प्रकार अपूर्णत्व में मूलभूत स्थितिगणितरूप यशु के धम्म वित्तप हो जाते हैं। एक आत्मविषयों में परात्पर काष्ठपुरुष नाम से प्रसिद्ध है। पाठपी पुरुष महापुरुष नाम से, अक्षसामाधिद्वन्म यशुमूर्ति अक्ष्यकात्मा वेदपुरुष नाम से, एवं परात्पर-पोठरी-अक्ष्यकात्मागमित, तद्विषयिन्म अपूर्णत्व यशपुरुष नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि भाग क परि-
 संक से स्पष्ट हो जाता है। विरचविद्यात्मिका आह्वारविद्या क अनुसार परात्पर-पोठरी-अक्ष्यक-
 यकात्मा, इन चारों का एक स्वतन्त्र विभाग है। यही "परमहंस" नाम से प्रसिद्ध है। एवं प्रथिबो
 कन्त्रमा का विभाग अपरमहंस नाम से व्यवहृत होता है। मन्त्रस्व सूर्य्य होनी का अनुमाहक
 बनता हुआ परापरमहंस है। अतुष्क परमहंस की परात्पर कक्षा अर्थमात्रा है। पोठरीपुरुष
 अकार है, अक्ष्यकात्मा उकार है, यकात्मा मकार है। समष्टि ओह्वार है।

१

अक्षराग्रा

—

पर्यावर

अक्षरं पुरुषा इति भाष्य-
(ए० आ०)

रस
(स्थितिप्रधानः)

वक्तानि
(गतिप्रधानानि)

सोऽयं कालपुरुषो विरभाटीव

२

अकार

—

पादरीपुरुष

विद्या
आत्मन्-विज्ञानमयः
अक्षरः
(स्थितिप्रधानः)

अविद्या
मन-प्राण-बोद्ध-
आत्मक्षरः
(गतिप्रधानः)

सोऽयं महापुरुषो विरवरूपः

३

उकार

अव्यक्तात्मा

यम्
(स्थितिः)

अ
(गतिः)

— सोऽयं वेदपुरुषो विश्वस्रष्टा

४

मकार

—

यज्ञात्मा

धृयुः
(स्थितिप्रधानः)

अङ्गिरा
(गतिप्रधानः)

...सोऽयं यज्ञपुरुषो विश्वमकृतिः

स्वयम्भू प्राणमय हानि से असङ्ग बनता हुआ यज्ञमर्वांश सं परिमूर्त था, परमेशी इसी अपूर्वत्व के कारण ससङ्ग बनता हुआ यज्ञ का प्रथम प्रवर्तक बन आता है जैसा कि—

“यशीरथर्वा^{०४} इत्यादि रूप से प्रकरण के आरम्भ में ही कहा आशुका है। स्वायम्भुषी प्राणसृष्टि असंगमाद्य की प्रमानता से

“मानसीसृष्टि” कहालाती है यही भावसृष्टि है। अग्नि-मनु आदि सृष्टियों का इसी भावमय में अन्तर्भाव है। पारमेशिनी यज्ञसृष्टि योपाहपात्मक स्त्रीपुरुष-वत्त्व के मिश्रणमात्र से सम्बन्ध रखन के कारण “मैपुनीसृष्टि” कहालाती है। ‘सहयज्ञा प्रजा सृष्ट्वा’ के अनुसार यज्ञसृष्टि ही प्रजासृष्टि की मूलप्रवर्तिका है। इस यज्ञप्रजापति का स्वरूप अक-सामादिकिन्न्त पञ्चरत्नि पर ही प्रतिष्ठित है। त्रयीवत्त्व-अपूर्वत्व का समन्वितरूप ही यज्ञ है। इसी आधार पर—‘सैवा त्रयी विद्या यज्ञः’ [राग १।१।४।३।] के अनुसार त्रयीविद्या को यज्ञ कहा गया है। आपोमय परमेशी में प्रतिष्ठित दूसरे राश्यों में अपूर्वकृतिक परमेशी की प्रतिष्ठारूप विष्णु के साथ पारमहम यज्ञ का वाशात्म्य सम्बन्ध है। विष्णु ही अपनी अरमावा-शक्ति से अम्नाहुति [सोमाहुति] का सञ्चालक बनते हुए, अम्नीपामात्मक यज्ञ का सम्पादन करते हैं। इसीलिए विष्णु को भी यज्ञ कहा जाता है। इस प्रकार विष्णु-त्रयीविद्या-आप-अग्नि-यज्ञ-आदि के सम्बन्ध से निष्पन्न होना बाज्जा यज्ञ भुवियों में वत्तनामा से मसिद्ध हो रहा है, जैसा कि निम्न क्रियित अंतप्रमायों से स्पष्ट हो जाता है—

१—अथर्वसम्बन्ध से यज्ञनिरुक्ति—

आदित्तरा प्रथम दधिरे वय इद्धानपः क्षम्या ये सुकृत्यपा ।

सर्व एणे समविन्दन्त भोजनमभ्यादन्त गोमन्तमा पशु नरः ॥ १ ॥

यशीरथवा प्रथमः पयस्ततः ततः सूर्यो व्रतपावन आशनि ।

आ गा आशुद्धना काव्यः सभा यमस्य आतमयूत यजामहे ॥ २ ॥

(अथर्व सं० २।२४।४२)

२—अपूसम्बन्ध से यज्ञनिरुक्ति—

१—“आपो ने यज्ञः” (ऐ. १।२०।१)।

२—“आपो हि यज्ञः” (राग ३।१।४।१२)

३—“रेता वा आपः” (ऐ. १।३।१)

४—“योपा वा आपः” (राग १।१।१।१८।

१—वैदसम्बन्ध से यज्ञनिरुक्ति—

१—“सैषा त्रयीविद्या यज्ञः” [शत १।१।५।३।]

२—“तद्यत् तत् सस्यं त्रयी सा विद्या” [शत २।२।१।१८।]

३—“ते देवा अज्यं वन्-यज्ञं कृत्वा— (, ,)
सस्यं तनवाभौ—इति” ।

४—परमेष्ठीसम्बन्ध से यज्ञनिरुक्ति—

“तत् एत परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यद्दर्शपूर्णमासौ ।

ताम्यामयत्रेत, स आपोऽमन्वत् । परमाद्वा एतत् स्थाना

वृषर्षेति यद्विद्व । तस्मात् परमेष्ठी नाम” । [शत ११।१।६।१३॥

५—महत्सम्बन्ध से यज्ञनिरुक्ति—

१—“एष ह वै महान् देवो यद्यज्ञः” [गो पू. २।१६।]

२—“यज्ञो ह वै देवानां महः” [शत १।६।१।११।]

यह है आधिदैविक पारमेष्ठ्य यज्ञ का सक्षिप्त स्वरूप निवर्तन । अधिदैविक संस्था में जहाँ यह अक्षतत्त्व “परमेष्ठी” नाम से प्रसिद्ध है, वहाँ अक्षररूप से अण्मात्मसंस्था में प्रविष्टिष्ठि बड़ी बोधार्थक व्यवस्था—
तत्त्व “विद्यारमा” नाम से व्यवहृत होता है । शरीरयज्ञ के द्वारा ही शरीर—प्रातु प्रविष्टिष्ठि रहते हैं । यज्ञ से शरीर-प्रातुषो का निर्माण होता है । आध्यात्मिकसंस्था में जब तक इस महामा की सत्ता रहती है, तभी तक अण्मात्मा [विद्यारमा-योद्धरी पुरुष] विद्यारमास एवं विद्यारूप से शरीरपुर में प्रविष्टिष्ठि रहता है । कारण स्पष्ट है । पारम्परिक शरीर ‘इति तु पञ्चम्यामादुत्पावापः पुरुषमवसो मन्वन्ति’ [छा० उप०] के अनुसार आपोमय है । यद्यपि शरीर में पाँचों ही महामूर्तों की सत्ता है, तबारी ‘ध्यात्मकस्यापु भूयस्त्वात्’ [शा. सू. ३।१।] इस वेदान्तसूत्र-मिथ्या के अनुसार ब्रह्मरूप मूर्तों में अप्रत्यक्ष ही अधिक मात्रा में रहता है । आपोमय होता हुआ शरीर भूमन्त्रिरोमय है । इस की प्रतिष्ठा तथात्मक पारमेष्ठ्य यज्ञ ही है । भूमन्त्रिरोमय इसी विद्यारमा क सम्बन्ध से दूसरे विद्यारमा का विकास होता है ।

ब्रह्मकी पुरुष नाम है प्रसिद्ध अक्षररूप से विद्यारमा विद्यारमास विद्यारमा, ये तीनों निर्वर्तन यज्ञ हैं । इन तीनों का द्विचरण आने की ‘प्राणायामविज्ञानोपनिषत्’ में व्यवस्था व्यवस्था ।
५०१

उपयुक्त पञ्चतत्त्व की विशात्मा ही यानि है। महत्त्वस्वरूप इसी यज्ञ के आधार पर विशा
त्मा विशात्मास रूप से प्रतिष्ठित रहता है। इस यज्ञात्मा के द्वारा ही जीवात्मस्वरूप-समर्पक

यज्ञ का दीर्घमान—
विशामास स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित रहता है। जिस दिन शरीर यज्ञ
उत्पन्न हो जाता है तत्क्षण विशामास अन्तर्गत होता है।

यज्ञात्मा का मृगु माग बन—तरल—विरल भू म तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। अग्नि
बायु—सप्त की समष्टि ही 'मृगु' है—'बायुरापञ्चमन्त्रमा इत्येते मृगव' (गी० भा पु०—

२।१।(६)। अग्निरोषधियन्त्रिषा विभक्त यह मृगु ही विशामास की प्रधान प्रविष्टा है।
अतएव विशामासरूपा जीवसृष्टि आप्या—बायव्या—सौम्या भेद से तीन ही मार्गों में विभक्त

है। पानी—इरा—सोम, तीन ही तत्त्व बीज बनते हुए भित्ति के माहक है। जल में रहते बाज
इस-वतन्त्यवि आपवि-मत्स्यादि सम्पूर्ण जीव आप्य हैं। पानी ही इन की जीवनसत्ता का मूलकार

है। यदि इन्हें पानी से दूर कर दिया जाता है तो इन का उत्पन्न निधन हो जाता है। भू
पृष्ठ से सम्बन्ध रखते बाज आपवि—वनस्पति—ऊँची—कीट—वृक्षी-मनुष्यादि सम्पूर्ण जीव

बायव्य हैं। वायु ही इन का आत्मा है दूसरे शब्दों में वायु ही इन की जीवनसत्ता की मूल
मिति है। विना वायु के वे कल्पवि प्राणधारण नहीं कर सकते। सर्वत्र में 'सत्वविद्यालसर्ग'

मान से प्रसिद्ध आठ प्रकार के चान्द्रवृद्धता सौम्य जीव हैं। सोम ही इन का जीवन है। चन्द्र
मरहट को जाकर ये कमी जीवित नहीं रह सकते। इस जीवसृष्टि के च ही तीन मुख्य विभक्त

हैं। अग्नि—वायु—सोमात्मक मृगु ही महान्, किंवा महानात्मा है। पौष्टिको पुत्र्य इसी में गर्भ
धारण करत है, जैसा कि स्मृति कहता है—

मम यानिर्महद्ममहद्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।

सम्भव सर्वमूतानां तत्ता भवति मारुत ॥ १ ॥

सर्वयानिपु कीन्तव्य मूर्त्यय सम्भवन्ति या ।

तामां महद्म महद्मानिरह बाधप्रदः पिता ॥ २ ॥ (गीता १४।३।१)

गर्भमूत विशात्मा का यज्ञमूर्ति महान् के साथ अन्तर्ध्याम (अग्निबन्धन) बहिर्ध्याम
(प्राणमन्त्र) भेद से दो प्रकार से सम्बन्ध होता है। अन्तर्ध्याम सम्बन्ध से स्वर्ग गहन महा

जीवित विशात्मा—
आत्मा किंवा प्रकृतस्वभा की अपेक्षा से यज्ञमहद्माने जगता
है। अर्थात् अन्तर्ध्याम सम्बन्ध से महद्ममहद्म—
मा महानात्मा का स्वरूप समग्र जगता है। एवं बहिर्ध्याम सम्बन्ध से
वही विशा—
से मुक्त

रत्ना हुआ स्वस्वरूप से (स्वचिद्रूपांग से) चिदात्मा नाम से प्रसिद्ध होता है। इन में पारमष्ठ्य
 ब्रह्मात्मा के साथ सूर्य—चन्द्रमा—पृथिवी, तीनों क्रमशः वरापूर्णमास करत हैं। यह स्मरण
 रत्ना चाहिए कि इस महान् में अप्—वायु—साम नाम के तीन तत्त्व हैं। इन तीनों में स
 अप् का अनुग्रह पृथिवी पर होता है। वायु का सम्बन्ध अन्तरिक्षविहारी चन्द्रमा के माध
 है। एवं सोम का प्रधान सम्बन्ध सूर्य के साथ है। इन तीनों तत्त्वों के आधार पर सूर्य—
 चन्द्रमा—पृथिवी, इन तीनों के वरापूर्णमास यज्ञ से महावात्मा में सत्त्व—रज—तम, इन तीन
 गुणों का वृद्ध हो जाता है। चन्द्रमा एवं पृथिवी शान्त का अपनं बृहस्पतिहस्त में प्रतिष्ठित रत्ना
 हुआ, इनके साथ होता हुआ सूर्य महत्परमेश्वरी के चारों ओर परिक्रमा लगाता हुआ अपन
 साथ ही में स्वावयवमूल पृथिवी चन्द्रमा के गुणारमक चरों की वत् परमेश्वरी में आदिति देवा
 यता है। इसी प्रक्रिया को 'दर्शपूर्णमासयज्ञ' कहा जाता है। साममय सूर्यभाग सत्त्वमात्र
 का, वायुमय चन्द्रमात्र रजोमात्र का एवं आपोमय पार्थिवमात्र तमोमात्र का प्रवर्तक है।
 यों समन्वित—सूर्य से परिक्रमा लगाता आरम्भ किया। पारमष्ठ्य महान् का सोमप्रधान चरा
 सूर्य से अनुगत होता हुआ, सौख्योति से युक्त होता हुआ 'सत्त्व' रूप में परिणत हो जाता
 है। यही पार्यमास (पूर्णिमा) है। साममय महान् का यह सत्त्वभाग सत्त्वा प्रकाशित रहता है।
 वर पृथिवी सम्बन्ध से महान् का आपोमय भाग अप्रकाशित होता हुआ तमोगुणक बन रहा
 है। अरबमाहिष्यसम्बन्धात् बहस्यप्रधान अप्—तत्त्व के साथ इन्द्रप्रधान स्योविन्मय सौप्रकाश
 का सम्बन्ध नहीं हो सकता अतएव यह भाग सर्वथा अप्रकाशित रहता हुआ 'तमागुण' नाम
 से प्रसिद्ध होता है। यह वरायज्ञ 'अमावास्या' है। सत्त्व—तम को मन्त्र में चन्द्रमा के सम्ब
 ध से महान् का साम्य वायुमय भाग प्रकाशिताप्रकाशित रहता हुआ रजोमूर्ति बना हुआ है।
 इस प्रकार अप्—वायु—पृथिवी पात्रिभाग के सम्बन्ध से अप्प्रधान बही महान् तमामूर्ति, वायु—
 चन्द्रमागुहीत चन्द्रमागक सम्बन्ध से वायुप्रधान साम्य बही महान् रजोमूर्ति एवं मातृस्वानु
 गृहीत सौप्रकाश सम्बन्ध से सामप्रधान बही महान् सत्त्वमूर्ति बनाता हुआ त्रिगुणमूर्ति बन
 रहा है — 'प्रपीमयाप त्रिगुणात्मने नमः' ।

त्रिगुणो महानात्मा—	{ सूर्य—सोमनानुगृहीत	—सोमप्रधान सत्त्व महान् सत्त्वमूर्ति
	{ चन्द्रमा—वायुनानुगृहीत	—वायुप्रधान सत्त्व महान् रजोमूर्ति
	{ पृथिवी—अपभिरनुगृहीत	—अपप्रधान सत्त्व महान् तमामूर्ति

इन्हीं सूर्य-चन्द्र-पृथिवी भागों के सम्बन्ध से महान् में आकृति-प्रकृति-अकृति, इन तीन भागों का उद्भव होता है। सूर्य के सम्बन्ध से सत्त्व द्वारा महान् में अहंभाव का उद्भव होता है। चन्द्रमा के सम्बन्ध से रजो द्वारा प्रकृति भाग का उद्भव होता है। एवं पृथिवी के सम्बन्ध से तमोभाग द्वारा आकृतिभाग का उद्भव होता है। इस प्रकार सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी इन तीनों के वरापूषामास यज्ञ से महान्तरमा त्रिगुण-प्रकृतित्रय-विशिष्ट बन जाता है। इस के 'यज्ञ-चित्-महत्' ये तीन विषय हैं। इन तीनों विषयों में से चित्-यज्ञ यज्ञ, इन दोनों का (अप्पात्मसंस्था के साथ) सम्बन्ध परमेश्वरी के द्वारा ही होमाया है। परन्तु महर्षि का सम्बन्ध साक्षात् रूप से न होकर चन्द्रमा के द्वारा ही होता है, जैसा कि उसी प्रकरण में स्पष्ट होमाया। इतीतिव आत्मगतिप्रधान इस आत्मविज्ञानोपनिषत् में हमने यज्ञारमा-चिदात्मा-क। पारमस्य मामा है, एवं शुभ प्रकृतिविशिष्ट महान् का सम्बन्ध चन्द्रमा के साथ बताया है।

१-आपः	} — सुगु' 'महान्'	१-आपः-तम-दर्शयज्ञः	} गुणत्रयविशिष्टो महानात्मा
२-वायुः		२-वायु-रज-उभयसमष्टिः	
३-सामः		३-साम-सत्त्वम्-पीणमासयज्ञः	

१-आप-आकृतिः-पृथिवीसम्बन्धात्।	} — प्रकृतिप्रयविशिष्टो महानात्मा
२-वायुः-प्रकृतिः-चन्द्रगतप्राणान्द्रसम्बन्धात्	
३-साम-अहकृतिः-सूर्यसम्बन्धात्	

पारमस्य तत्त्व अप्रकृतिक होता हुआ प्राकृत है। अतएव तत्त्वप्रधान तन्मय यज्ञात्मा को हम अबतक ही प्राकृत्यात्मा कहने के लिए तय्यार हैं। देवता-मूत-पशु-ताम्र-मण्युर्षा-मृत्युपञ्च इमी आधिदैविक यज्ञारमा [आद्यमय परमेश्वरी] के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। एवमथ इन्द्रिया-मृत्युपञ्च-कसुलो मादि-शिरागुहा-उरागुहा-उदरगुहा-वस्तिगुहा-रक्षादि सम्पत्ता आध्यात्मिक।

“यसोत्ता—महान्”

आप
वायु
माम



आहति
प्रहति
अहति

यसोत्ता—महान्
यसोत्ता—महान्
(यसोत्ता—महान्)

आध्यात्मिक विद्वत्पुरुष यज्ञात्मा के आचार पर प्रतिष्ठित है। इस के 'विष्णु—वसु—मरुत' इन तीन विद्यों में विद्यात्मा—वसुत्मा के साथ भाद्र का बोध सम्बन्ध नहीं है। भाद्र का सम्बन्ध ६—एकमात्र यज्ञात्मा के साथ, जैसा कि उसी प्रकार में वसु होना चाहिए। विद्यात्म-वसुत्मा भद्र में द्विज पात्यमद्रा यज्ञात्मा का बड़ी मूर्ति निहित है। अथ क्रमशः विज्ञानात्मा पवित्र का चार पाठों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

तद्विषयं विन्-यज्ञ-भद्रं दिव्यलोकं परमं पञ्चाभा वा
म्याज्यात्ता द्रष्टव्य ।

मन्त्राणां चतुर्मासविज्ञानान्तरगत—“अथ मन्त्राणां विज्ञानान्तरगत” प्रथमायां
प्रथममन्त्राणां विज्ञानान्तरगत मन्त्राणां विज्ञानान्तरगत मन्त्राणां विज्ञानान्तरगत मन्त्राणां विज्ञानान्तरगत

$$[४] \left\{ \begin{array}{l} १-अहिदैवतम् \rightarrow सूर्य [पूर्णमदः] \\ २-अध्यात्मम् \rightarrow बुद्धि-[पूर्णमिदम्] \end{array} \right\} [३]$$

अथ

थाद्विज्ञानान्तर्गत-‘आत्मविज्ञानोपनिषदि’ प्रथमाद्या-

“विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्”-चतुर्थी

४

विज्ञानात्मा-प्राकृतात्मा-सूर्यः (३)

१-देवदेवताविभूतिः (देवात्मा)

२-नित्यविज्ञानविभूति [विज्ञानात्मा]

सोऽयं द्विकलो विज्ञानात्मा-प्राकृतात्मा वा ,सूर्य

१-व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।

बहुलासा धनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥

२-इरेण शबर कर्म बुद्धियोगाद्भनव्यय ।

बुद्धौ धरणमन्विच्छ कृपया फलहेतवः ॥

(४) विज्ञानात्मस्वरूपपरिचय - (विद्या-अविद्यामयो विज्ञानात्मा)

१-प्रज्ञा इ विज्ञो अस्यापमोयन्त्या अर्कममितो विविधो ।

इह ह तस्यो ह्यनेनन्तः पवनानो हरित आदिदेश ॥ श्रु ३० ८ । १०१ । १४ ।

इह भेद्य ज्योतिषो ज्योतिषवम विश्वजिह्वन्जितुष्यते एवम् ।

विश्वभाद् ज्ञातो महि सूर्यो ह्यत्र तत्र पश्ये सह भोक्तो अन्धुतम् ॥ श्रु १० । १०० ।

३-विज्ञाज्ज्योतिषा स्वरगन्धो रोचन दिवः ।

येनमा विश्वा ह्यनन्यामृता विश्वकर्मणा विश्वदेष्पावता ॥ श्रु १० । ११६ । ४ ।

४-विज्ञाह इहस्तुमुगं वाजपातम धर्मन्दिशो धरुणो सत्यमर्षितम् ।

अमित्राह इत्रहा दस्युहन्तम ज्योतिगाशो असुरहा सपत्नहा ॥ श्रु १ । १०० । २ ।

५-एको हंसो ह्यनन्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्ट ।

समेव विदिशति सूर्यमेति नान्य धन्या विद्यतेऽपनाय ॥ श्रु ३० ६ । १२ ।

६-यदा तमस्तत्र दिवा न रात्रिर्न सन्न चातस्थिर एव केवलः ।

तद्वद्वर तत्पुत्रितुकरेण्य प्रज्ञा च तस्यात् प्रसुता पुराणी ॥ श्रु ३० ४ । १० ।

७-हिरण्यगर्भं समवधत्तमे मूत्रस्य बाधः पतिरेक आसीत् ।

स दाधत्त दृषिषीं ब्राह्मतेर्मा कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ यजु ३० १३ । ४ ।

८-विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्रज्ञा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र ।

तद्वद्वर वेदयते यस्तु साध्य स सर्वज्ञ सर्वभेदाविशेष ॥ मन्त्रो ४ । ११ ।

९-मनामयः प्रत्यग्मीनेन प्रविष्टिस्ताऽन्ने हृदय सन्निधाय ।

तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा अन्नन्तरूपममृतं यद्विमासि ॥ मुक् ३० ० ० । २ । ७ ।

१०-हिरण्यमेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मूलम् ।

तत् स्व पूषन्नपाह्वन् सत्यमर्माय हृदये ॥ ईशोप ० १५ ।

॥ श्रीं विज्ञानात्मब्रह्मणे नमः ॥

विज्ञानात्मा-सूर्य.

‘विज्ञान ब्रह्मे’त्युपास्य

यो वेदानां प्रमथोद्भवश्च विरचाधिरो रज्जो महति ।

हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या ध्रुवश्च तनुनक्तु ॥—स्वे० उ० ४ । १२

विस्तारप्रसक्त विस्तरोद्गमो विस्ततां बाहुस्त विस्ततरावा ।

स बाहुन्मा धमति सगुणत्वेष्टाशाम्मी जनयन् देव एव ॥ स्वे० उ० १ । ४ ।

सर्वेन्द्रिय गुणामास सर्वेन्द्रियविभक्तिम् ।

सबस्य प्रभुमीशान सर्वस्य धारणं हृदत् ॥ स्वे० उ० १ । १७ ।

नवद्वारे पुरे वेदी हस्तो ठेकावते बहिः ।

वशी त्वस्य लोकास्त ग्यावरस्य वारस्य च ॥ स्वे० उ० १ । १८ ।

अग्निवत्राभिमन्त्रते बाहुर्वत्राभिरुपते ।

लोमो यत्राविरिष्यते तत्र सन्नावते मन ॥ स्वे० उ० १ । १९ ।

किमान्तारार्थिर्बलु मन प्रब्रह्मान्तर ।

सोऽन्तरः पारमान्ताति तद्विज्ञोः परमं वदम् ॥ ऋटोप० १ । १ । २ ।

पारमेष्ठ्य ‘यज्ञात्मा’ की मूलप्रतिष्ठा अग्निहोमस्य ‘आप’ तत्त्व है, जैसाकि पृथ्वीकरण में विस्तार परमेष्ठी का अपेक्षाकृत अभ्यक्तत्व—स वल्लभावा सापुका है। मृग, तथा अत्रिणा, इन दोनों तत्त्वों में स ‘अत्रिणा’ तत्त्व का विकास ही ‘सूर्य’ है। आपोमय पारमेष्ठ्य मरुतल क गर्भ में प्रविष्टित वीजावस्था-पन्त अत्रिणोऽग्नि ही आगे आकर संवरण-संख्यायितलक्षण ‘यज्ञपराह’ नामक पारमेष्ठ्य वायु के व्यापार स संपादावस्था में परिणत होता हुआ ‘सूर्य’ रूप स प्रकट होजाता है। पञ्चपथा विरच में ज्ञानायोति गमित त्वयम् सूर्यवा अभ्यक्त है। परमेष्ठी यद्यपि अत्यन्त-स्वयम् की अपेक्षा व्यक्त है, परन्तु परमेष्ठी में भूतव्योदितलक्षण रूप—(प्रकाश-इच्छा)—व्योति का विकास नहीं है यद्यपि ‘राश्रीश्रीलोकी’ नाम से प्रसिद्ध अश्रीलोकी (श्रीश्रीलोकी) की अपेक्षा स परमेष्ठी अभ्यक्त ही माना जायगा। व्योमोदितलक्षा भूतव्याति—रूप स व्यक्त होने वाले जिनने भी पदार्थ हैं, उन सब में सूर्य ही अग्रणी माना गया है। अमशान्मल नम को दिव्य भिन्न करने वाला अभ्यक्त स्वयम् था, मृग्यमात्ररूप तम को दूर करने वाला परमेष्ठी था, अश्री ‘अन्धकार नाम स प्रसिद्ध राश्रीतम को दूर कर विरचान्तगत पदार्थों को रूपप्रकाश स व्यक्त करने

एक व्यक्त्यूर्ति यही मन्त्रान्त्रं अंगुष्ठांगी है। उरुमी त्रिलापी में प्रतिष्ठित रहने वाली चर-अचर प्रजापति-प्रतिष्ठा-परायण यही है। हमारे शब्दों में अनुपास्य तम को दूर करने वाला अमृतक स्वयम्भू वे, एवं अनिरक्त तम का हटाने वाला यही महर्षीगु है। इश्वर प्रजापति (पोषरी पुरुष नामक अमृतात्मा) को प्रवृत्ता सूर्य द्वारा ही सत्तत्र व्याप्य होती है, अर्थात् मन्त्रमुक्ति करती है—

यथा सूर्या अमृतस्य भागमनिमेष विदधामिस्वरन्ति ।

इतो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीर पाकमत्रा विवेक्ष ॥

अथ १।१६४।२१।

‘यियो यो नः प्रचोदयात्’ के अनुसार यही ज्ञान के प्रचोदयिता (प्रेरक) है। अर्थात् सत्त्वा में तिस्रस्य हृदयम्— जीवप्रजापति (कर्ममात्रा) या काय अपनी बुद्धि से सेवा है अधिवैवत संस्था में प्रजापति (कर्मसाक्षी) वह काय सूर्य से लय है। हमारे शब्दों में बुद्धि आध्यात्मिक संस्था का सूर्य व सूर्य अधिवैवत संस्था की बुद्धि है। रोहमीत्रैकोन्यात्मिका या शश्विषी के अधिष्ठाता, विरवकेन्द्रस्य १ आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम् (शत ६।१।२।४) इत्यादि के अनुसार “हृदय” नाम से उत्तरार्धों की अपेक्षा सर्व प्रथम विश्व में व्यक्त होने के कारण ‘अग्रज’ नाम से प्रसिद्ध इसी सूर्य-प्रजापति का विमर्शन कराय हुए अर्थ करते हैं—

हिरण्यगम समवर्धताग्रे मृतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।

दाक्षोर पृथिवीं धामुतेर्मा कस्मै दद्यात् हविषा विधेम ॥ यजुसं १२।४।

य-विधान के अनुसार सूर्य १-इन्द्र, २ धाता, ३ भग, ४-सूरा ५ मित्र, ६-वसु

पतिर्मा— ७-अयमा, ८-अहो ९ विवस्वात्, १०-स्वहा, ११-सविता,

सूर्यमात्रों का समुचित रूप माना गया है तथापि प्रधानपति से सूर्य १-सोम,

विभुतियों के आधार पर ही स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है। प्रत्यक्ष में भी सूर्य में

है। सूर्यविरक्त [सूर्यगोत्रक] मूलमय है। यही ‘सोम’ वस्तु है। इसे ही

जाता है। रश्मिमण्डल में व्याप्य प्रकारा का अधिष्ठाता वस्तु प्राप्त है।

रूप मधवा धामनीतु” “इन्द्रो रूपाणि कनिकदपरत्” इत्यादि

है। इसी समय की यही ‘प्राणमात्रा’ है। सूर्य ही बुद्धि का मय

। सूर्य की यही ज्ञानराशि ‘चित्’ नाम से व्यक्त हो गई है। यही

ग के सम्बन्ध से ही हृन्मूर्तरूप किमय कस्ता हुआ चेतना नाम

। चेतन्य सोम के सम्बन्ध से ही स्थिर रहता है। अग्नि के

तहाँ पुरुष कहा जाता है वहाँ सोमतत्त्व शक्ति नाम से प्रसिद्ध है। (वैलिप बृहन्नात्रात्मोपनिषत् ०।८।। सौर अग्नि हिरण्यम् है। इसी हिरण्य तत्त्व के सम्बन्ध से यह सोममयी शक्ति 'हैमवती' नाम से प्रसिद्ध है। यह तत्त्व वीज है। प्रतिविम्बप्रवाहयोग्यता इसी में है। सब से पहिले पारमेष्ठ्य महद्गर्भित चिद्रा का सम्बन्ध इसी के साथ होता है, अतएव इसे 'चिच्छक्ति' कहा जाता है। चिच्छक्तिस्वरूपा इसी हैमवती उमा के द्वारा महेश्वरमूर्ति सावित्राग्निमय इन्द्रप्राण के साथ सम्बन्ध होता है। तात्पर्य यही हुआ कि, इन्द्र में जो चैतन्य है वह सोम के द्वारा ही आया हुआ है। (वैलिप केनोपनिषत् ३।११।) अग्निमाही मनःप्राण वाक्स्वप्न अक्षयपात्मा की वाक्छक्ता का विकास अक्षय्य स्वयम्भू में होता है। प्राण-वाक् इन दो कलाओं का विकास महत् परमेष्ठी में होता है। परन्तु विरबकेन्द्रत्व बुद्धिरूप सूर्य में मनःप्राणवाक् इन तीनों कलाओं का विकास है। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि, पौडरी पुरुष की पूर्णविकासभूमि इन्द्रात्मक यही सूर्य है। अतएव—'इन्द्रो ह वै पौडरी' (रघु० ४।२।३।१।) इत्यादि रूप से सौर इन्द्र को 'पौडरी' कहा गया है। यही कारण है कि, पञ्चपर्वा विरब के किसी पर्व को आत्मा का अधिष्ठाता न मानकर 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्युपदेव' (षडुत्स० १३।४६)। इत्यादि रूप से एकमात्र सूर्य को ही अधिष्ठाता मान लिया गया है। आत्मा के साथ साथ ही देव, एवं भूतपञ्चा की भी प्रतिष्ठा यही सूर्य है। आत्मा—भूत—देव, इन तीनों के मूलतत्त्व आयु—गौ—ज्योतिः, ये तीन तत्त्व हैं। पूर्व प्रतिपादित इन्द्र का विकास ज्योतिरूप से साम का विकास-गौरूप से चिद्रा का विकास अ पुरुष से होता है। इन्द्रमय ज्योतिः, सोममयी गौ चिद्रमय आयु इन्हीं तीनों मनोवाओं के सम्बन्ध से सूर्य स ज्योतिष्टोम-नोष्टोम आयुष्टोम, इन तीन शोमयज्ञों का विकास होता है। ज्योतिष्टोम देवसृष्टि की, गोष्टोम भूतसृष्टि की एवं आयुष्टोम अन्तर्मविकास की मूलप्रतिष्ठा है। इस प्रकार इन तीनों शोमों से सूर्य सर्वप्रतिष्ठा बन रहा है।

॥ केवल आराम—देव—भूत विषयों का ही पवितु अधिदैवत, आराम अधिभूत इन तीनों संस्थाओं की भी सत्ता सूर्य के आचार पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव इस विद्वत्प्रतिष्ठा कहा गया है जैसा कि महर्षि श्वेताश्वतरे कहते हैं—

अनाद्यनन्त कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्

विश्वस्यैक परिवेष्टितार श्लाघा देव सुच्यते सर्वपार्थ ॥ १ ॥ श्वेता० ५।१३।

पूर्व की यज्ञात्मोपनिषत् में कहा गया है कि, सूर्य से ऊपरका पारमेष्ठ्यलोक त तीर्थ शु नाम स पसिद्ध यज्ञप्रवर्धक विश्वात्मा— है। इसी में सोम नामक अपूर्व तत्त्व प्रतिष्ठित है। यही लोक 'अस्ति वै चतुर्थो द्यलोक आप' (श्री० ब्रा० १८।२) के अनुसार आपोलोक नाम सं प्रसिद्ध है। यह पारमेष्ठ्य सोम

वाले व्यक्तमूर्ति यही मन्त्रात्मक अंशुभासी हैं। रोषसी त्रिलोकी में प्रतिष्ठित रहने वाली चर-अचर प्रकाश मन्त्र-प्रतिष्ठा-परायण यही है। दूसरे शब्दों में अनुपाय्य तम को दूर करने वाले अत्यन्त स्वबन्धु, एवं अनिरुद्ध तम को हटाने वाले यही सहस्रांशु हैं। ईश्वर प्रजापति (योक्षरी पुरुष नामक अमृतत्मा) के ज्ञानकला सूर्य द्वारा ॥ सर्वत्र व्याप्त होती है, जैसाकि मन्त्रभुक्ति कहती है—

यथा सुपर्णा अमृतस्य माममनिमेष विदधामिस्वरन्ति ।

इतो विष्णस्य सुवनस्य गोपाः स मा भीरः पाकमत्रा विवेद्य ॥

आश्व १।१६४।२१।

‘धियो यो नः प्रचोदयात्’ के अनुसार यही ज्ञान के प्रचोदयिता (मेरेक) हैं। आध्यात्मसंस्था में विष्णुस्य हृदयस्य— जीवप्रजापति (कर्मात्मा) जो कार्य अपनी बुद्धि से लेता है अविद्वेष संस्था में ईश्वर प्रजापति (कर्मात्मा) वह कार्य सूर्य से लेते हैं। हमारे शब्दों में बुद्धि आध्यात्मिक संस्था का सूर्य है एवं सूर्य अविद्वेष संस्था की बुद्धि है। रोषसीत्रैलोक्यात्मिका या शाश्वतिका के अधिष्ठाता, विरचकेन्द्र अथवा “आदित्यो वै विष्णस्य हृदयम्” (शत ६।१।२।४) इत्यादि के अनुसार “हृदय” नाम से प्रसिद्ध, व्यक्तमूर्तियों की अपेक्षा सर्व प्रथम विषय में व्यक्त होने के कारण ‘अप्रकृत’ नाम से प्रसिद्ध इसी हिरण्यगर्भ सूर्य-प्रजापति का विमर्शान कराते हुए अति कहते हैं—

हिरण्यगर्भ समवर्णस्तग्रे भूतस्य ज्ञातः पतिरेक आसीत् ।

स दाहोर पृथिवीं धाह्यतेर्मा कस्मै देवाय इषिषा विधेम ॥ यजुसं १२।४।

यद्यपि आदित्य-विज्ञान के अनुसार सूर्य १-इन्द्र, २-वाता, ३-भग, ४-पूषा ५-मित्र, ६-वसु नाम चित् इन्द्र विभूतियां— ७-अथमा, ८-अशु ९-विष्वान्, १०-त्वष्टा, ११-सविता, १२-विष्णु इन बारह विष्णुप्राणों का समुचित रूप माना गया है तथापि प्रधानतः से सूर्य १-सोम, २-इन्द्र, ३-चित् इन तीन विभूतियों के आधार पर ही स्वतन्त्र रूप से प्रतिष्ठित है। प्रत्यक्ष में सूर्य में वे ही तीन तत्त्व उपलब्ध होते हैं। सूर्यपिण्ड [सूर्यगोष्ठक] भूतमय है। यही ‘सोम’ तत्त्व है। इस ही ही इरीनमाया में ‘भूतमात्रा’ कहा जाता है। रसिमयकाल में व्याप्त, मकरा का अधिष्ठाता तत्त्व प्रायः है। यही रूपाधिष्ठाता सीरमाण—“रूपं रूप मधवा नामसीत्” “इन्द्रो रूपायि कनिकुदधरत्” इत्यादि बर्णनों के अनुसार ‘इन्द्र’ नाम से प्रसिद्ध है। इरीन समय की यही ‘प्राणमात्रा’ है। सूर्य ही बुद्धि का प्रथम कर्तृत्वा हुआ ज्ञान का अधिष्ठाता है। सूर्यकी यही कामराशि ‘चित्’ नाम से व्यवहृत हुई है। यही ‘प्रज्ञामात्रा’ नाम से प्रसिद्ध है। इस चिह्न के सम्बन्ध से ही इन्द्रतत्त्व विष्णुय बनता हुआ चेतना नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इन्द्र का प्रधानत्व, किंवा चैतन्य सोम के सम्बन्ध से ही स्थिर रहता है। अग्नि के

तहाँ पुरुष कहा जाता है वहाँ सामन्तत्व शक्ति नाम से प्रसिद्ध है। (वेदिक ब्रह्मजानाकोपनिषत् २।८।। सार अग्नि हिरण्यमय है। इसी हिरण्य तत्त्व के सम्बन्ध से यह मोममयी शक्ति 'हैमवती' नाम से प्रसिद्ध है। यह तत्त्व वीज है। प्रतिविम्बप्रबन्धयोग्यता इसी में है। सब से पहिले पारमेष्ठ्य महद्गर्भित चिदंश का सम्बन्ध इसी के साथ होता है, अतएव इसे 'चिच्छक्ति' कहा जाता है। चिच्छक्तिस्वरूपा इसी हैमवती तम क द्वारा महेश्वरमूर्ति सवित्राग्निमय इन्द्रप्राण के साथ सम्बन्ध होता है। तत्त्वार्थ्ये यही हुआ कि, इन्द्र में जो चेतन्य है वह सोम के द्वारा ही आया हुआ है। (वेदिक फलोपनिषत् ३।११।) मयि सा ही मतप्राण बाह्यमय अन्धयात्मा की बाह्यता का विकास अन्धक स्वयम्भू में होता है। प्राण-बाह्य इन दो कलाओं का विकास महत् परमेष्ठी में होता है। परन्तु विरबकेन्द्रत्व बुद्धिरूप सूर्य में मतप्राणबाह्य इन तीनों कलाओं का विकास है। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि, पाण्डरी पुरुष की पूर्वविकासभूमि इन्द्रात्मक यही सूर्य है। अतएव—'इन्द्रो ह वै पोढ्यी' (रात० ४।२।३।१।) इत्यादि रूप से सौर इन्द्र को 'पोढ्यी' कहा गया है। यही कारण है कि, पञ्चपर्वा विरब के किसी पर्व को आत्मा का अविष्ठावा न मानकर 'सूर्य आत्मा जगतस्तत्पुण्ड्र' (पञ्च० १३।४६)। इत्यादि रूप से एकमात्र सूर्य को ही अविष्ठावा मान किया गया है। आत्मा के साथ साथ ही देव, एवं भूतपञ्चा की भी प्रतिष्ठा यही सूर्य है। आत्मा—भूत—देव, इन तीनों क मूलतत्त्व आयु—गौ—ज्योतिः, ये तीन तत्त्व हैं। पूर्व प्रतिपादित इन्द्र का विकास ज्योतिरूप से सोम का विकास गौरूप से चिदंश का विकास अथुरूप से होता है। इन्द्रमय ज्योतिः, सोममयी गौ चिन्मय आयु इसी तीनों मनोवाच्यों के सम्बन्ध से सूर्य स ज्योतिष्टोम-गौष्टोम आयुष्टोम, इन तीन शोमयज्ञों का विकास होता है। ज्योतिष्टोम देवसृष्टि की, गौष्टोम भूतसृष्टि की एवं आयुष्टोम आत्मविकास की मूलप्रतिष्ठा है। इस प्रकार इन तीनों शक्तियों से सूर्य सर्वप्रतिष्ठा बन रहा है।

न कवच आरम—देव—भूत विवरों का ही पवित्र अविविधत अन्ध्यात्म अविभूत इन तीनों संस्थाओं की भी सत्ता सूर्य के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव इसे विश्वप्रतिष्ठा कहा गया है जैसा कि महर्षि खेदारवरर कहते हैं—

अनाद्यनन्त कलिलस्य मध्ये विश्वस्य सृष्टारमनेकरूपम्

विश्वस्यैक परिवेष्टितार ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपापैः ॥ १ ॥ खेता० ४।१३।

पृथ्वी यज्ञाकोपनिषत् में कहा गया है कि, सूर्य से ऊपरका पारमष्ठ्यभोक तृतीय पु नाम से प्रसिद्ध यज्ञप्रपर्वक विश्वारमा— है। इसी में सोम नामक अष्ट तत्त्व प्रतिष्ठित है। यही लोक 'अस्ति ये पतुषो द्यष्टोक आय' (का० भा० १८।२) के अनुसार आपोलोक नाम से प्रसिद्ध है। यह पारमष्ठ्य सोम

पूर्वित परमाणुओं को अधिकृत करने की शक्ति रखता है, अतएव यह पवित्र नाम से प्रसिद्ध है, वैसे ही सम्प्रभुति कहती है—

पवित्र से वितत ब्रह्मणस्पतेर्ब्रह्मणाग्निं पर्येयि सर्वतः ।

अतन्ततन्तुर्न तदामो समन्तुतं धत्तास इव्वहन्ससत् समाश्रुत ॥ श्रु० १।८१।१।

परमेशी में प्रविष्टिब्रह्मणस्पत की आप-वायु-सोम, ये तीन अवस्थाएँ, बतलाई गई हैं। इन तीनों में क्रमशः आप्यप्राण असुर वायव्यप्राण गन्धर्व, एवं सौम्यप्राण पितर नाम से प्रसिद्ध हैं। आप्यप्राणात्मक पारमेष्ठ्य असुरों के आक्रमण से पारमेष्ठ्य वायव्य प्राणात्मक गन्धर्व पितृप्राणात्मक सोम भी निरन्तर रक्षा किया करते हैं। सौरी वायरूपा सुखी के द्वारा गन्धर्वों से सुपणित यह पवित्र सोम निरन्तर सृष्ट में आहुत होता रहता है। इसी रहस्य को बतलाने के लिए सौपर्याख्यात की कल्पना की गई है। सुप्रसिद्ध कद्रु बिनवा की संघा (राक्ष-दोड़-बाजी) का भी इसी आकाशकामान से सम्बन्ध है। 'आकृष्णेन रजसा वर्णमान (यजुस ३३।४३।१) के अनुसार सूर्य वर्णवा कृष्ण (काला) है। वह पारमेष्ठ्य सोम की इस दाहक सौर सावित्राग्नि में आहुति होती रहती है। इस सोमाहुति से दाहक अग्नि प्रज्वलित हो पड़ता है। यही प्रकाश है। आप सौरमण्डल में जो प्रकाश देते रहे हैं, वह अतएव सोम ही है। सोम ही प्रकार का प्रकाश है। इसी अग्निप्राण से अग्नि कहते हैं—

त्वमिमा ओषधी सोम! विष्वास्त्वमपो अन्नयस्त्व याः ।

त्वमा तवोर्ध्वतरिष्ठं त्व ज्योतिषा वि तमो बभूव ॥ श्रु० १।८१।२२।

इसी सोमाहुति से सूर्यसत्तात्मक दाहकाल का कथ्य होता है। यही अद्वैत अग्निहोत्र नाम से प्रसिद्ध है। इसी आपार पर—“सूर्या इ वा अग्निहोत्रम्” (श्रु० १।३।१।१) यह कहा गया है। सौराग्निमण्डल ही सम्बन्ध है। इसी में सोम आहुत हो रहा है। अग्निसोम के कर्माम (कदाच) निमाम (अवार) से इस सौर-सम्बन्ध में ३ अग्रुप कल्पित हो जाते हैं। अग्नित्रयमकाल वसन्त है अग्नि की पुत्रा-बन्धा प्रीप्सु है प्रीप्तावस्था वर्णा है। सोम का कथकाल शरत् है, पुत्रावस्था हेमन्त है, प्रीप्तावस्था शिशिर है। अग्नीषोममय इस सम्बन्धसारमक सौर चक्र के पौष अवयव हैं। अहोरात्र पश्चिमा पर्व है शुक्ल-कृष्ण पक्ष दूसरा पर्व है आतुमास्य तीसरा पर्व है दक्षिण-उत्तर अयन चौथा पर्व है, एवं स्वयं सम्बन्धसार पौषण है। यही इस सौरपण की पादप्राणा (पञ्चानयवत्) है।

कल सम्प्रसार-यन के य ही पौषों पय क्रमशः अग्निहोत्र—दर्शपूर्णमास—आतुमास्य—पशुबन्ध उपातिष्ठाम—नामां से प्रसिद्ध हैं। प्रकारान्तर से यज्ञ की पादकला हेतिय। इविर्पय—सामयज्ञ—मधयज्ञ—जातपयज्ञ—यज्मायज्ञ, अथ से सम्बन्धसार यज्ञ पञ्चमा विभक्त है। पार्थिव अग्नि की साराग्नि में आहुति होने से दक्षिण का, पारमेष्ठ्यमाय की आग्नि छ सोमयज्ञ का पुरुष-ग्री-नर-सर्व-नाम के पाठों पराम्य प्राणों

की आहुति स मेघपक्ष का, एवं विरोध प्रकार की सामग्र्यी, एवं अग्निभित्ति से अतिवृत्त का, प्रधर्म्यद्वि स पर्म्यपक्ष का स्वरूप निगमन होता है। ये पाँचों यज्ञ दूसरे शब्दों में एक ही यज्ञ के पाँचों पक्ष कर्मण ७-७-४-१ इन विभागों में विभक्त हैं। इन के भी भाग आकर अचान्तर अनेक विभाग होजाते हैं। यह सम्पूर्ण यज्ञकर्म-कलाप एकमात्र इसी सारसम्बरसर में प्रतिष्ठित है। अग्नीषोमात्मक इसी मीरयज्ञ से सौर-देवता अक्षयभाव का प्राप्ति होत हुए सम्पूर्ण विरव के सम्बन्धक बन रहे हैं। अब तक सोमाहुति है, तब तक यज्ञ है। अब तक यज्ञ है, तभीतक अनेक विरव का व्यष्टीभाव है। यह व्यष्टीभाव अष्टात्मक इसी व्यक्त सूर्य पर प्रतिष्ठित है। अतएव सूर्यसत्ता सृष्टिकाल कहलाया है। एवं सूर्य का विरोधाव प्रक्षेपकाव का अभिघावा माना गया है। एक यज्ञसत्त्वाक्रम निम्न लिखित वाकिकाव्यों से स्पष्ट हो रहा है।

१-हविष्य → अन्नाहुत्या सम्पद्यते।

२-सामपक्ष → सोमाहुत्या सम्पद्यते।

१-मेघपक्ष → मेघाहुत्या सम्पद्यते।

४-अतिवृत्त → रात्र-बाबाग्निसम्बन्धन०

५-पर्म्यपक्ष → प्रधर्म्याहुत्या सम्पद्यते।

“पाङ्क्तो वै यज्ञ” इत्याहुः।

सैषा पाङ्क्तयज्ञस्यैकाविधा

१-अग्निहोत्रम् अहोरात्रयज्ञः

२-दर्शपूर्णमासः पक्षयज्ञः

२-३-चातुर्मास्यम् चतुयज्ञः

४-पशुमन्त्रः अयनयज्ञः

५-न्योविष्टोमः सम्बत्सरयज्ञः

“पाङ्क्तो वै यज्ञ” इत्याहुः

सैषा पाङ्क्तयज्ञस्यैकाविधा

१-हविर्यज्ञः

१-अग्निहोत्रम्

२-दर्शपूर्णमासः

३-चातुर्मास्यम्

१-४-आग्रयणेष्टि

५-इष्टपयनम्

६-सौश्रामणि

७-पशुमन्त्रः

७
सप्तसंस्थो वै हविर्यज्ञः प्राक्स्तोमिकः

२—सोमयज्ञ —

१—अग्निष्टोम

२—अत्पग्निष्टोम

७

सप्तसंस्थो वै ज्योतिष्टोम — सोमयज्ञ.

३—उक्थ्यस्तोमः

४—पोद्घृष्टीस्वामः

५—अतिरात्रस्तोमः

६—वाजपेयस्वामः

७—अप्तोय्यामस्तोम

३—मेधयज्ञ —

१—अश्वमेध

२—गोमेध

३—नरमेध

४—सर्वमेध

४

चतु संस्था वै मेधयज्ञ

४—अतियज्ञः—

१—राश्वपः (राष्ट्राम्)

२—वाजपेय (ब्राह्मणानाम्)

३—वयनम् (भक्ष्मणानाम्)

४—अश्वमेध (राष्ट्राम्)

४

चतु संस्थो वै अतियज्ञ

५—धर्मयज्ञ

१—शिरोपस्य, प्रवर्ग्ययज्ञो वा एकपिच एव ।

अग्निराहायवना विद्वानां को यह मर्त्यागति विहित है कि सम्पूर्ण विरय एकमात्र सामगाभिज अग्नि
उत्प्राप्तमक क्षत्रयज्ञ—तत्त्व का ही विवक्षित है । 'अग्नीषामात्मक अगत् ३ जा० उ २।४।१।
 इस अग्निविरय के सम्बन्ध परिज्ञान के लिए नीचे लक्षण विवक्षित है । अग्नि विरय अम्नात् (अम्न गान वाता)
 है । बिना अम्न के अग्नि कभी स्वरूपक्य से परिचित नहीं रह सकता । यही परिज्ञा तरब है । दूसरा अम्न

उत्पन्न है। मोक्षा अग्नि जिस घरातक पर प्रतिष्ठित होकर अन्न भाग करता है वह तीसरा तत्त्व है। ये तीनों कमरा आवपनग्रह-अन्नादग्रह-अन्नग्रह इन नामों से प्रसिद्ध हैं। आवपन का ग्रह है, अन्न आकारा है, आकारा हो वाक्त्व है अतःकि यज्ञात्मककरण में विस्तार से वक्तव्याया जायुका है। इस वाक्त्व का ग्रह पर प्रतिष्ठित रहने वाला मोक्षा अन्नाद ग्रह अन्न से सुख प्राप्त करता हुआ "कं" ग्रह नाम से व्यवहृत होता है। आवपन वायु ग्रह वा यह अग्निग्रह है। रमणकभूत अन्नग्रह रं ग्रह नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार वाक्त्व आवपन रूप का ग्रह पर प्रतिष्ठित अग्निमय अन्नाद रूप का ग्रह आधोमय अन्नरूप (रं) ग्रह का भाग करता हुआ वाक्-अग्नि-अधोमय रं ग्रहरूप में परिणत हो रहा है। आवपन पर प्रतिष्ठित अन्नाद क साथ अब तक अन्न का सम्बन्ध है तभी तक रुद्राग्नि शिवरूप में परिणत होता हुआ शान्ति के साम्राज्य में प्रतिष्ठित हो रहा है। अन्नसम्बन्ध के विच्छेद से शिवमात्र रुद्ररूप में परिणत होता हुआ विश्व संहारक बन जाता है। अन्नसम्बन्ध से वही प्राणाग्नि तत्त्व शिव शरीर धारण कर लेता है। अन्नाभाव में वही धारशरीर बन जाता है। इसी अन्नाग्नि-विज्ञान को तत्त्व में रमणक भूति कहते हैं—

“अग्निवा रुद्र, तस्यैते द्वे तन्वे घोरान्पा च शिवापा च” ।

चित्ताग्नि साक्षात् रुद्र है। इस के प्रचरक को स सम्पूर्ण देवता कल्पित हो जाते हैं। अपनी रक्षा के लिए दूसरे राश्यों में रुद्रकोप से बचने के लिए अन्नयज्ञ का आश्रय लेते हैं। इस अन्न से रुद्र शान्त हो जाते हैं शिवस्वरूप में परिणत हो जाते हैं अतएव यह रुद्राग्नि 'शान्तदेवतस्य' किंवा "शान्तरुद्रिय" नाम से प्रसिद्ध होता है। परोक्षविश्व देवताओं की परोक्षभाषा में वही शान्तरुद्रियमात्र 'श्वतरुद्रिय' नाम से प्रसिद्ध है यही 'श्वतरुद्रिय' है—वेदक शत ७ का संचितिका० १।१।१) अत्यन्त शिष्ट अग्निमूर्ति है। गुरुत्व शिष्ट सम्बत्सरान्ति क वचन से ऋतुमास में अब सर्वात्मना सम्मिल होजाता है वो एवयामरुद्र क आपात से गमाशय को छोड़ता हुआ बाह्य निकल पड़ता है। भूमिष्ठ होने क अव्यवहितवाचरकाल में ही वह यज्ञ करवा है। शिशुराशरीरक अन्न विरहित अग्नि ही "अग्नि रं रुद्रः। यदरोदीत, तस्माद्रुद्र (शत० ६।१।३।११) के अनुसार रुद्र नाम से प्रसिद्ध है। इसी से सन्तुष्ट इन्द्रिय देवता कल्पित हो पड़ते हैं। अन्नाहुति ही जाती है। तत्काल रुद्राग्नि शान्त हो जाता है। ब्रह्मा रूप हो जाता है। इसी आधार पर अ-ह-रं-की समष्टि का "रं" ग्रह कहा गया है। तीनों की समष्टि ही यज्ञ है। अब तक यह है, तभी तक संसार है।

पक्षि परमप्री को यज्ञात्मा कहा गया है। तथापि अग्नीसोमात्मक यज्ञका पूर्ण विकास वो सूर्य में ही होता है। पारमप्रेष यज्ञ सामयिक में "गोसूत्र" यज्ञ कहलाया है। यही यज्ञ पुराण में "गोलोक" कहा गया है। सूर्य की मूलप्रतिष्ठारूप गौ यही विकसित होती है। यही गोस्थान यज्ञभूमि नाम से प्रसिद्ध है। इस यज्ञ की आधार भूमि पर्विशालोम से आरम्भ कर ११ वें स्तोम तक का पारमेष्ठ्य प्रदेश है। इन्हीं

पन्च स्तोमों के कारण यह यद्य "पञ्चयद्व्याह" यत्र नाम से प्रसिद्ध है। गौप्रबर्षक पञ्चदश अर्हर्षात्मक सोममूर्ति यही पारमप्य गोसवयव्य $\text{॥}^{\text{५५}}\text{द्वित्रिंश}$ कहलाया है।

यज्ञाभारभूमि को आचपन कहा गया है। आचपन और आचार में अन्तर है। आचपन भिन्न प्रकार का आचपन है आचार भिन्न प्रकार का आचपन है। पञ्च अन्ततन भूमि आचार कहलाता है, एवं सर्वत्र आचपन भूमि आचपन कहलाता है। हमारा आचार भूमियव्य है पुस्तक का आचार मेघ है पानी का आचार घट है फूल का आचार शाला है शाला का आचार वृक्ष है, ये सब आचपन आचार नाम से ही व्यवहृत होंगे। घट का आचार मिट्टी है कटक-कुम्हलोगि का आचार सुवर्ण है पत्र का आचार वनस्पति शरीर का आचार आत्मा है, ये सब आचपन नाम से प्रसिद्ध होंगे। आकाश वसुमानकोश द्वितीय की मूर्ति सर्वत्र आचार बना हुआ है। पञ्च में आकाशारमक यही आचपन सम्बन्ध अभिप्रेत है। इसी लिए इस आचपन को हमन "अन्न ब्रह्म" कहा है। अन्न को हमने आपोमय कहा है। यह अप्रत्यक्ष, किंवा आपोमय अन्न सौर, एवं पार्थिवानि भेद से दो भागों में विभक्त हो जाता है। पार्थिव अन्न सोम है सौर अन्न \times पानी है। अर्थात् यही पानी होता है, "नाहयोवायुसपोमावसोहजम्" (वै० ५० ५।२।६१) के अनुसार सूर्य स्वनाही द्वारा उसे अपने गर्भ में प्रसिद्धि कर लेता है। पञ्चपर्व विस्व के ३३ ओर वायुव्य है, इस ओर भी वागब्रह्म है मध्य में अग्निब्रह्म है। इस मध्यस्थ अग्नि के दोनों ओर अन्नसोम अभिध्यात है। स्वयम्भु आकाश है यही वागब्रह्म किंवा स ब्रह्म है यही चिरब्रह्म का आचपन है। परमेष्ठ्योमन् नाम से प्रसिद्ध इसी आचपन में सब कुछ प्रसिद्धि है। परमेश्वी आप है, यही 'र' ब्रह्म है। सूर्य अग्नि है यही 'क' ब्रह्म है। वायु आप सोम है यही 'व' ब्रह्म है। पृथिवी वायु है यही 'ख' ब्रह्म है। वायु-उपसंहार में वायु है मध्य में सूर्याग्नि है। यह समस्त सोमरूप अप्स परिपूहीव है। वैवाक्यि निम्न लिखित तालिका से स्पष्ट हो रहा है।

१-वाक—रव्यम्भू—आचपनब्रह्म	—ख ब्रह्म
२-आपः—परमेष्ठा—अन्नब्रह्म	—र ब्रह्म
३-अग्नि-सूर्य—अन्नादब्रह्म	—क ब्रह्म
४-आप—चन्द्रमाः अन्नब्रह्म	—व ब्रह्म
५-वाक—पृथिवी—आचपनब्रह्म	—ख ब्रह्म

शंजह-अधिदेवतम्

० इति विषय का विषय विवेचन घटपत्र विधानमात्र (१ अ. ५) में देवता विहित।

\times अथेव गायत्रि । एतान्तरा वा एव यव । अथार्वाणि पार्थिवी एतान्तरम् । तथा वदविद्य (१६) एतेन नो नय । (ता. म. भा. १०।१३)।

विरममध्यस्थ अन्नाशामि के (सौर अग्नि के) तीन विवर्त हैं, दूसरे शब्दों में यह तीन स्वरूपों में सौर अन्नाशामि के तीन विवर्त—परिप्लव होकर विरम में प्रतिष्ठित है। पहिला विवर्त साम्बस्त

रिफ है, दूसरा पार्थिव है तीसरा शारीरिक है। सौरमण्डलस्य विरमनियन्त्रा अग्नि ही सम्बस्तर है, यही वेवप्राय की प्रधानता से 'आधिदैविकामि' नाम से प्रसिद्ध है। मूलोक्त-नियन्त्रा अग्नि पार्थिव है भूत-भाग की प्रधानता से यही आधिमौलिकामि हैं। एवं जीवसृष्टि का सञ्चालक शारीरिक अग्नि ही आत्मसम्बन्ध से 'आध्यात्मिकामि' नाम से व्यवहृत हुआ है। इन तीनों अग्नियों की मूलप्रतिष्ठा त्राय-स्युष प्राणामि है। यही ब्रह्माग्नि, किंवा वषाग्नि है।

अध्यात्म-अधिमूढ-अधिदैवत-तीनों प्रपञ्चों का उदय-अह-स-साम-रूप आत्मा यही सूर्य है। स्वा वरप्रपञ्च भूतप्रपञ्च है, अङ्गमप्रपञ्च आत्मप्रपञ्च है। "सूर्य आत्मा अगतस्तम्भपञ्च" (यजु सं०—७।४२) के अनुसार दोनों की प्रतिष्ठा यही सूर्य है। सौरमण्डल—"चित्र देवानामुदगात्" (यजु सं०—६।४२) के अनुसार वेवप्रायात्मक है। इसी वेवप्राय के सम्बन्ध से यह प्रथम संस्था 'आधिदैविक' नाम से प्रसिद्ध है। अतएव सौरमण्डलस्य यह प्राणामि 'देवाग्नि' नाम से व्यवहृत हुआ है। "एषा वै भूतानां पृथिवी रस" (शत० १४।३।४।१।) के अनुसार पार्थिव अग्नि 'भूताग्नि' नाम से प्रसिद्ध है। इसी के सम्बन्ध से यह संस्था आधिमौलिक नाम से व्यवहृत हुई है। मनोवा विज्ञान के अनुसार सूर्य में ज्योति-गौ-आयु के तीन मनोवा माने गए हैं, वैसे कि प्रकरण के आरम्भ में ब्रह्माया आयुका है। कमरायायुका के त्रिद्विद्वय से इन तीनों मनोवाओं का परस्पर में त्रिद्विद्वय होता है। इस त्रिद्विद्वय-करण स क्रमरा वेवता—भूत—आमा के तीन तत्त्व आधिर्भूत होते हैं। आयु-गौ-गमित ज्योतिवत्त्व वेवता है। सूर्यमण्डल में गौभाग गौण है, वेवभाग प्रधान है। ज्योति-आयुर्गमित गौभाग भूत है। यही पृथिवी है। यहाँ ज्योति, एवं आयुतत्त्व अन्तर्धान हैं, गौभाग प्रधान है। ज्योति-गौ-गमित आयुतत्त्व ही आत्मा है। यहाँ आयु भाग का विकास है। यही आध्यात्मिकामि पुरुषामि नाम से भी व्यवहृत हुआ है। निष्कर्ष यही हुआ कि, यही अन्नाशामि सूर्यसंस्था में सम्बस्तर है, पृथिवीसंस्था में अग्नि है, एवं अध्यात्म संस्था में पुरुष है। साथ ही में इतना और ध्यान रखिए कि ये तीनों ही राष्ट्रविभात्री हैं। सम्बस्तर-अग्नि-पुरुष, तीनों को तीनों शब्दों से व्यवहृत किया जासकता है। कारण, त्रिद्विद्वय के कारण प्रत्येक में तीनों के प्रत्यंश विद्यमान हैं। साथ ही में तीनों का मूलप्रमथ अन्नाशामि तीनों में समान है। सौरसम्बस्तर अग्नि भी है, पुरुष भी है। पार्थिव अग्नि सम्बस्तर भी है पुरुष भी है। पुरुष अग्नि भी है सम्बस्तर भी है। इन तीनों अग्नियों का परस्पर में मिले सम्बन्ध हुआ करता है। यही प्राकृतिक अग्निचयन पथ है। इस

•इत विषय का विषय विवेचन 'ईशोपनिषद् हिन्दी विज्ञानभाष्य' प्रथम खण्ड के 'मन्त्रायायुका की व्यापकता' नाम के प्रकरण में देवता आदिप।

तीनों अित्याग्निषों का मूलाधार—सर्वत्र आधारभूत वही स्वायम्भुव वेदानि है। वही बीजा आत्मनो अग्निवत्त्व के इन्हीं चारों विषयों को सत्य में रक्तकर—‘चतुर्धा विहितो ह वाऽग्रऽग्निरास’ (शा० मा० १।२।३।१।) यह कहा गया है।

अग्निविवर्त—

- १—१—मूळप्रतिष्ठाग्नि —चित्तेनिषय —प्राणप्रधान —स्वायम्भुव
२—२—आभिर्देविकाग्नि चित्पः —ज्योतिःप्रधान सौरः
३—३—आभिर्मौलिकाग्नि , —गौप्रधानः —पार्श्व
४—४—आप्तात्मिकाग्निः ,, —आयु प्रधानः—धारीरिकः

१—ब्रह्माग्नि —ब्रह्माण्डम् अर्थात् ब्रह्म

१—देवाग्नि —सम्बत्तर —क ब्रह्म

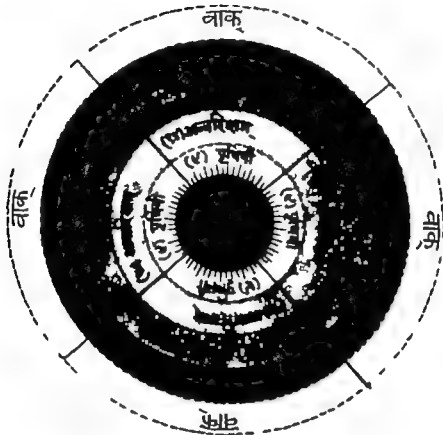
२—भूताग्नि —अग्नि क ब्रह्म

३—आत्माग्निः—पुरुषः क ब्रह्म

अग्निर्बे त्रिवृत् (वे मा० १।२।१०।४।) के अनुसार अग्निवत्त्व त्रिवृत्कृत है। इसी त्रिवृत् मात्र के कारण आभिर्देविक—आभिर्मौलिक—आप्तात्मिक इन तीनों अग्निषों की तीन तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। आभिर्देविकाग्नि सम्बत्तराग्नि है। यन्त्रावस्थापन्न सम्बत्तराग्नि अग्नि है, तद्वर्णाध्वान्न लोक प्रविशोक्तोक्त है। यन्त्रावस्थापन्न सम्बत्तराग्नि वायु है, तद्वर्णाध्वान्न लोक अन्तरिक्ष है। यन्त्रावस्थापन्न सम्बत्तराग्नि आदित्य है, वही युक्ताक्त है। आभिर्मौलिकाग्नि पार्श्व है। यन्त्रावस्थापन्न पार्श्व अग्नि इत्युक्त है वही मूळोक्त है। इस के भीतर यन्त्रावस्थापन्न अग्नि वक्ताक्त है, वही मुक्तोक्त है। सर्वोत्तरात्म्य प्राणात्मक मौलिक अग्नि यन्त्रावस्थापन्न है वही तीव्रता स्वर्लोक्त है। आज दिन ५ अथ चौं पर्व भू—भुव—स्व, इन को परस्पर में पर्याय माना जा रहा है। परन्तु चतुर्व वेदा नहीं है। भू—भुव—स्व—का मूर्तिस्व से सम्बन्ध है। वृत्तराश्यों में पार्श्वमात्र से सम्बन्ध है। मूर्त्युत्तरात्म्य स्वर्लोक्त है। इस की प्रतिष्ठा प्राणात्मिकमूर्ति प्रजापति है—‘प्रजापतिश्चरति गर्भे’ । मूर्त्युत्तरात्म्य के भीतर रहने वाला पानी भुव—लोक्त है। वही पाताकाशि सात लोकों की प्रतिष्ठा है। वही पानी साक्षात् ब्रह्माग्नि है। स्वर्ग इत्युक्त मूर्त्युत्तरात्म्य मूळोक्त है। इस प्रकार भू—भुव—स्व—इन तीनों का केवल मूर्तिस्व में ही भोग हो जाता है। मूर्त्युत्तरात्म्य से आत्म्य कर एकविरात्म्य सूर्य पर्याय सम्बत्तराग्नि व्याप्य है। इसी की एक तीनों अवस्थाएँ क्रमशः अग्नि—वायु—आदित्य नाम से प्रसिद्ध हैं, एवं वे ही तीनों वेदवा क्रमशः त्रिवृत् पञ्चवरा—एकविरा—स्तोत्रात्म्य प्रविषी—अन्तरिक्ष—औ—इन तीनों लोकों के अग्निष्ठाता हैं। इसी पात्र कथ को सत्य में रक्त कर

सम्बत्सरमण्डल-अधिदेवतसंस्था-

(सप्तसम्बत्सर-द्विरययम्)



१-वाक्

२-आय

३- { अग्नि-आदित्य-२१ वर्षी
अग्नि-वायु-१७ अन्तरिक्षम्
अग्नि-अग्नि-१३ पृथिवी }

४-आय

५-वाक्

स्वयम्भू-आययनम्

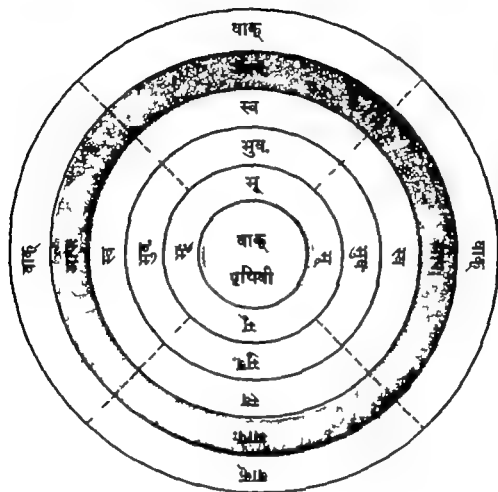
परमेष्ठी-अन्नम्

सम्बत्सर-अन्नम्

परमेष्ठी-अन्नम्

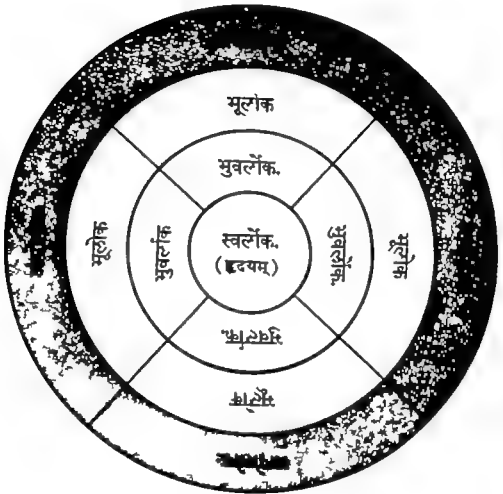
अपिह-आययनम्

पार्थिवमण्डल—अधिभूतसंस्था—(पार्थिवसम्बत्सर इलान्दम्)



- १-वाक् → स्वयम्भू → भावपनम्
 २-आप → परमेष्ठी → असम्
 ३- [अमि-आप्तित्य (२१-स्व
 अमि-वायु (१५-सुव
 अमि-अमि (६-मू
] → महापृथिवी पार्थिवसम्बत्सर → अज्ञात
 ४-आप → परमेष्ठी → असम्
 ५-वाक् → भविष्यत् → भावपनम्

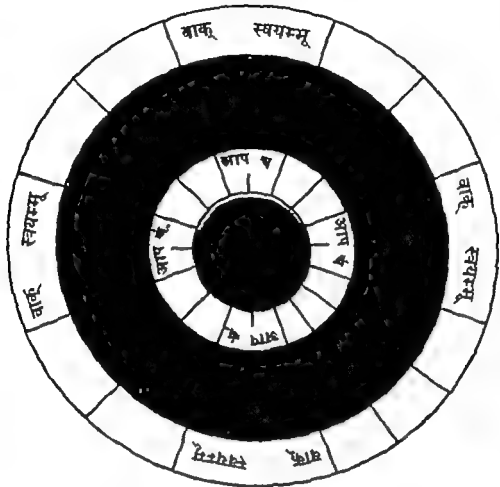
अर्णवसमुद्रगर्भे प्रतिष्ठितो मृपिण्ड



- १ — आप — — — आप
- २ — भू (चित्याग्नि)
- ३ — भुव (तलाग्नि) — — — भू
- ४ — स्य (हृदयम्)
- ५ — आप — — — आप

‘भूविर्लोकम्’

अधिदेवत—अधिभूतसमष्टि



१—वाक्

२—आप

३—

धाँ — २१ आदित्य
अन्तरिक्षम् १५ वायु
पृथिवी ६ अग्नि

४—आप

५—

भू (पृथ्वी)
भुव (अधोभुवनम्)
स्व (हव्यम्)

वाक् —————> स्वयम्भू — भावपनम्

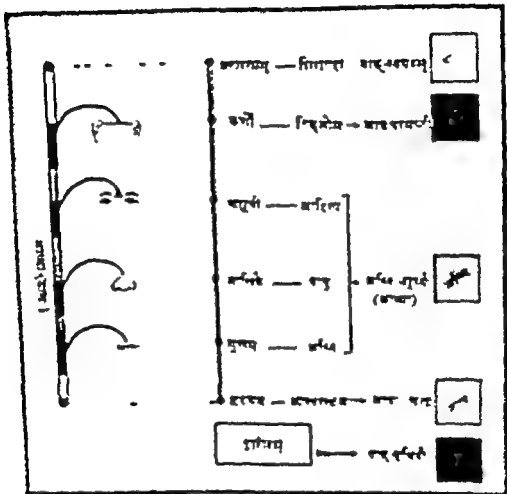
आप —————> परमेष्ठी — अन्नम्

अग्नि —————> सूर्य — यज्ञम्

आप —————> चन्द्रमा — अन्नम्

वाक् —————> वाक्

आरोग्यवाग्नि—अध्यात्मसमस्या—



दिव्यं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्व' (ऋक्सं० १०।१२०।३।) यह कहा गया है। यदि युक्तोक्त, पञ्च तत्त्वों में से एक ही वस्तु होवे तो 'दिव्य—अथो स्व' यह पुनर्लक्ष अर्थ ही होगी। सम्बत्सरान्नि के तीनों विषयों के लिए 'दिव्यं च पृथिवीं चान्तरिक्षम्' यह कहा है एवं प्रजापतिमूर्ति पार्थिव अग्नि की तीनों अवस्थाओं का इष्टमात्र से संग्रह करते हुए 'अथो स्व' यह कहा गया है। इसी प्रकार आध्यात्मिक अग्नि भी इसी त्रिविधभाव से आक्रान्त है। वागिन्द्रिय अग्नि है, प्राणोन्द्रिय वायु है, चक्षुरिन्द्रिय आवृत्य है।

अग्नि के कुछ तीनों ही विषयों सम्यक्त पानी से व्युत्पन्न हैं। सत्त्वान्नि सदा आपोमय अथ परमेष्ठी के गर्भ में प्रतिष्ठित रहता है—अथ भूमिरिय भित्ता। पहिले आपिदैविक विषय को ॥ वीक्ष्य। पृथिवी—अन्तरिक्ष—सौराष्ट्र सम्बत्सरान्नि के कुछ और आपोमय विक्षोभमय परमन्थी है, इस और आपोमय (मात्सर सोममय) कन्द्रमा है। इसी प्रकार सूर्यवत् 'समुद्रममिष पितृमानम्' (ऋक्सं० ११।२६।) के अनुसार 'अपेव' नाम से प्रसिद्ध रोपसी समुद्र के गर्भ में प्रतिष्ठित है। एषमेव विक्षोभमय मोत्र, एवं मात्सर सोममय मन्त्र से वन्दित आध्यात्मिक त्रिविध अग्नि भी पानी के गर्भ में ही प्रतिष्ठित है—अस्माकं परिलेखो स स्पष्ट इति यथा है।

इस बीचकाल के द्वारा मानुषात्मा में एक प्रकार का अपूर्ण भाव उत्पन्न होता है, यही दैवतात्मा नाम से प्रसिद्ध है। आध्यात्मिक प्रपञ्च का आधिदैविकप्रपञ्च के द्वारा आधिदैविक प्रपञ्च के साथ सम्बन्ध करा देना ही इस बीचकाल का कर्म कला है। दूसरे शब्दों में, सौर दिव्यतत्त्व का अध्यात्म-वैभवाओं के साथ सम्बन्धन करा देना ही यज्ञ है। यद्यपि सौरमात्र का सम्बन्ध हमारे साथ नित्य बना रहता है परन्तु यह सम्बन्ध बहिर्व्याप्त है। ऐसा सम्बन्ध 'योग' न कहला कर 'योग' कहलाया है। मनुष्य में स्वभावतः पार्थिवप्राण को प्रधानता रहती है। अतएव सौरमात्र अन्वर्ध्याम सम्बन्ध से यहाँ स्वयं पञ्च प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। इस विप्रतिपत्ति का निराकरण के लिए सर्वप्रथम "अध्यात्म" करना पड़ता है। मन्त्रवाक्य द्वारा दिव्य अग्नि को मानुषात्मा में प्रतिष्ठित करने वाली प्रक्रिया विरोध ही अध्यात्मपान है। इस से मानुषात्मा दिव्याग्नि से मुक्त होता हुआ उस सौरमात्र के माध्यम करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। अध्यात्मपान के अन्तर्गत अग्निहोत्र का अधिकार मिलता है। इस से बहारात्र के दिव्यप्राण को आत्मसात् किया जाता है। दर्शपूर्णमासेष्टि से पार्थिव दिव्याग्नि के साथ योग किया जाता है। चातुर्मास्य से अनुष्मापक अग्नि का आधान होता है। पशुबन्ध से अयनाग्नि को आत्मा में प्रतिष्ठित किया जाता है। इन सब के करने के अन्तर्गत सम्बत्सरात्मक सोमयज्ञ ज्योतिष्टोम का अधिकार मिलता है। अतएव इन्हें 'प्रसक्तो मिक' यज्ञ कहा जाता है। ज्योतिष्टोम से सम्बत्सरान्नि का आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाता है। अध्यात्म में प्रतिष्ठित यहो साम्बत्सरिक दिव्याग्नि "दैवतात्मा" है। इसी के प्रभाव से मानुषात्मा स्थूलरूपी के परि-

स्याम के अनन्तर त्रियाचिकेत स्वर्ग में जाता है। जब तक यज्ञातिशय बना रहता है, तब तक वायु-पाप्मा स्वर्ग में प्रविष्टि रहता है। यज्ञातिशय की समाप्ति पर स्वर्ग स्थान से च्युत होता हुआ कर्माला पुनः कर्मभोग्य बनी योनिभक्त में आजाता है—“क्षीणे पुण्ये मत्स्यलोके वसन्ति”। शिवने भी यह है। जब इस संसार समुद्र को पार करने वाली अस्तिर मौकाप है। कभी न कभी ये अवसर विन्म विन्म होती हैं। अतएव अपमिदच्छ्रुति-ने इस “यज्ञनीका” को अपमृत्तय प्राप्ति में असमर्थ बतलाया है। वैसाहि मृष्टि मृष्टक कहत हैं—

— पञ्चा ह्ये अरुहा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवर येषु कर्मा ।
एतच्छ्रयो येऽभिनन्दन्ति मृदा वरामुस्यु ते पुनरेवापिबन्ति ॥

—शु० व० १।१।६।

प्राकृतिक नित्य साम्बत्सरिक यज्ञ पृथिवी—अन्तरिक्ष—और मेघ से तीन क्षोभों में बितत है। त्रैलोक्य में बितत रहन के कारण ही इसे आतानयज्ञ—वितानयज्ञ—त्रेतागिनयज्ञ—इत्यादि विविध नामों से सम्बोधित किया जाता है। इसी के आधार पर यहाँ वैष्वक् में गार्हपत्य—दक्षिणाग्नि—आहवनीय, इन तीन अग्नियों का विधान किया जाता है। गार्हपत्य पृथिवी की प्रतिकृति (नक्षत्र) है। दक्षिणाग्नि अन्तरिक्ष की, आहवनीय पुण्यो की प्रतिकृति है। सूर्य की प्रतिकृति ‘यूप’ है। पारमेष्ठ्य ग्रहलोम की प्रतिकृति बल्ली से निकाशा हुआ सामरस है। प्राकृतिक यज्ञ में अग्नेश्वरविष्मन् अग्नि होता है। यदुर्वेदावधिज्ञ वसु अश्वयु है, सामवेदावधिज्ञ आदित्य अश्वगावा है। त्रयीमूर्ति बन्तूमा बन्तूमा है त्रैलोक्य व्यापक अतिष्ठता अग्नि यज्ञमान है। इसी आधार पर इस यज्ञयज्ञ में होता अग्नेरी अर्घ्यं यदुर्वेदी उवृगाता सामवेदी एवं बन्तूमा त्रैविद्य होता है। प्रजापति की प्रतिकृति स्वयं यज्ञकर्ता यज्ञमान है।

आत्मा को मनःप्रायश्चित्त कह्य गया है। यज्ञद्वारा नवीन आत्मा उत्पन्न कराया जाता है। इससे शस्त्रों में यज्ञद्वारा सौरक्षिक मनःप्रायश्चित्त आत्मा का मानुषात्मा (कर्माला) के साथ सम्बन्ध कराया जाता है। अतएव वैश्वयज्ञ में मन—प्राय—वाक्—इन तीनों वक्ताओं के समावर्तकी आवश्यकता अवश्य-भाविनी बन जाती है। इसी आत्मसम्पत्ति के लिए दक्षिणाग्नीत अस्त्रियों का सहयोग आवश्यक हो जाता है। होता—अश्वयु—अश्वगावा ये तीनों यो वाक्स्तरण संपादित करते हैं। अश्वयु प्रायसस्यत् सञ्चित करता है। एवं निरीकृष्ट ब्रह्मा मनोयोगद्वारा मनोमयी विभूति पर अथवा अधिकार बनाता है। ब्रह्माद्वार से यों ही कहा जा सकता है कि, अश्वरी होता अश्वतरण पर प्रतिष्ठित १-सूर्य कर्म से वाक्स्तरण सम्पन्न करता है, यदुर्वेदी अश्वयु श्रुतयण पर प्रतिष्ठित २-ग्रह कर्म से प्राय का सञ्चित करता है। सामवेदी अश्वगावा सामयण पर प्रतिष्ठित ३-अतोत्र कर्म से अग्निमययज्ञ का निर्वोद्य करता है। ब्रह्माद्वारा

विशेषविवरण—

प्रकृत प्रकाशन में हमारी भ्रान्ति से यह विषय अप्रकाशित रह गया था। अतः इसे स्वतन्त्र पृष्ठ में प्रकाशित कर यहाँ समाविष्ट करना पड़ा। पाठक इसे २१६ वें पृष्ठ की १२ वीं पंक्ति तथा ११ वीं पंक्ति के मध्य का विषय समझे।

—सम्पादक

त्रिष्व प्रथम रूपम् अग्निप्राणप्रधान, परमं पितर-एवं असुरप्राणप्रधान, अन्तरमा गन्धर्व-प्राणप्रधान, इक्ष्वाकू वसुप्राणप्रधान, किंवा वैश्वानरप्रधान है, एवमेव विश्वमध्यस्थ सूर्य 'चित्रं देवानामुदगात्' इत्यादि के अनुसार देवप्राणप्रधान है। इसी सौर देवप्राण से यज्ञधारा नवीन आत्मा उत्पन्न होता है, अतएव इसे "दैवान्मा" नाम से व्यवहृत किया जाता है। इसके अतिरिक्त विश्वमा का सम्बन्ध से इसी से दूसरे "विश्वानात्मा" का भी विकास होता है। दोनों में से क्रमप्राप्त पहिले देवमा का ही संघर्ष से विगूर्तान कटाया जाता है।

धर्ममूलक देवमा—

आवधन पर प्रतिष्ठित अग्ना (अग्नि) के साथ अन्न (सोम) का मिश्रण सम्बन्ध हो जाना ही यह है। यद्यपि मौलिक यह की प्रथम विश्वसमूर्ति आपोमय परमेश्वरी ही है, तथापि रोहमी त्रिलोकी में रहने वाली प्रभा की अपक्षा से प्रकृत में यज्ञ से सौरसंस्था का ही प्रदण करना व्याप-प्राप्त है। सौरप्राणव्यवस्था इसी यज्ञ के बल पर अव्युत्पन्न की प्राप्त हो रहे हैं। सूर्य का अंश प्रवर्य धन कर इक्ष्वाकू पर आकर पार्थिव बनता हुआ मृत्युधर्म से आक्रमण हो जाता है। आग आकर यज्ञ के प्रभाव से ही यह पार्थिव प्राणदेवता स्वप्रभव सौरप्राण के साथ प्रसिद्धगन्धन करते हुए मृत्युधारा से विमुक्त हो जात है। आपोमहर्षियों ने प्रकृति के इस गुण रहस्य का अपनी दिव्यदृष्टि से भाषातः बार किया, एवं वही प्राकृतिक नियम यज्ञ के आधार पर अव्युत्पन्न-सम्पादक वैश्वमा का आविष्कार किया।

मनोमय भाग सञ्चित होता है। इस प्रकार शम्भु—सोत्र—प्रवृत्त—द्वारा अतिवृत्त भाग यज्ञकर्म से तथा देवात्मा कर्मन् कर देते हैं।

शुद्धकर्म—हीन—श्रुति सम्पद्यते—(होता)
 ब्रह्मकर्म—आध्वर्यव—यज्ञया सम्पद्यते—(अध्वर्यु)
 स्वाश्रकर्म—और्वगात्र—साम्ना सम्पद्यते—(उर्वगात्रा)
 सर्वाभ्यस्यो ब्रह्मा

‘यजति’ शब्द का परिचय के लिए वैष्णवियों के ‘भूषण’ की शरय में आये। यहाँ तो केवल ‘यज्ञ—देवपूजा, सगतिकरण, दानेपु’ इसी वर विधायक समझिए। देवताओं का पूजन, देवताओं के लिए दान, एवं देवताओं का परस्पर सङ्गतिकरण, इन्हीं चीनों भावों के लिए ‘यजति’ प्रयुक्त हुआ है। प्रकृत में देवात्मसम्बन्ध से सङ्गतिकरण अर्थात् ही अभिप्रेत है। यज्ञकर्त्ता यज्ञमान इसी देवप्राण किंवा देवात्मा के प्रभाव से साधारण अथर्वमय मनुष्यों की अपेक्षा उत्कृष्टकर्मा, एवं उत्कृष्टकर्मा बन जाता है। साक्षात् सौमदेवता बन जाता है स्वर्गलक्ष्य प्राप्त कर लेता है, विष्णुप्राण को पहिचान लेता है। इसी यज्ञपन्था का विन्दन करती हुई भुक्ति करती है—

सप्रत्य अश्विरस्यगन्म ज्यातिरसुता अभूम।

दिव पृथिव्या अर्यारुहामाविदाम् दवान्स्त्वर्नर्पातिः ॥ (मनु मं० ८।२२।)।

। यज्ञविद्या साधारण विद्या नहीं है। अग्नि रुच—रम—गन्ध—स्पर्श—राश्वरान्ध्र अथवा इन्द्रियादीत प्राणवक्त्र का अविचार में जाने वाली एक असाधारण शक्ति है। अतः इस की इतिकृतव्यवस्था में हमारे लिए एकमात्र शास्त्र ही शरय है। मनमान कष्ट की (हवाद्युद्धि आदि की) कहरना कर पवेच्छ पद्धतियों का निर्माण कर ब्याप्त स यज्ञ का अनुगमन करना सशक्ति के स्थान में सर्वनारा का कारण है। यज्ञ एक तथा असाधारण द्वायमा उत्पन्न करता है, यह काइ बातचीत नहीं है। अर्थात् पद्धति स माधुर्यहि फार्मा में स्वाहा—स्वाहा शोभन हुए हा बार बार घृताहुति बन स ही यज्ञेविकृतव्यवस्था समान नहीं हो जाती। आत्र श्रौतपद्धतियों का विग्रहण कर कल्पित पद्धतियों के आश्रय से ही यज्ञविद्या बिह्वनप्राप्त होग्य है। आत्र कहता कवल नहीं है कि प्रकियाश्रय से सारप्राण का अश्वयाम में प्रतिष्ठित करामा ही यज्ञ है। यज्ञजित यह मीर देवात्मा मानुषात्मा से मुक्त होकर स्थूलशरीर के परिस्थानानन्तर इस स्वर्ग प्रवरा में ले

‘न नव पार्श्व पशवों का मीलक रहस्य एवं इतिकृतव्यवस्था (पद्धति) शस्त्रवत् आद्यय हिन्दीविज्ञानभाष्य के प्रथम पर के प्रथम अङ्क में वर्णना आदिए।

जाता है। देवात्मा का यही मुख्य कर्म है। कर्माकर्म्म का इस से कोई सम्बन्ध नहीं है। कारण सौरमात्र मय होने से यह असङ्ग है। इस पर वासना-भावना आदि संस्कारों का खेप नहीं हो सकता। इस का प्रमाण यह है योनि वेदमन्त्र है प्रतिष्ठा मानुषात्मा कर्मात्मा है, आराय सर्वाङ्ग शरीर है। वह आत्मा इतर कर्मात्माओं के समान साधारण नहीं अपितु असाधारण है। जो विद्वान् यथाविधि ब्रह्म करते हैं, ज्यों में यह अपूर्व आत्मा प्रतिष्ठित रहता है। अयक्षिय यथाज्ञात अनुपम इस देवात्मा से सबेसा शक्ति हैं। हाँ इसी सूर्य का विज्ञानात्मा नाम का जो वृक्षप विवक्षित है, वह सबसाधारण में प्रतिष्ठित है। मानुषात्मा, एवं देवात्मा के इसी पात्र वय को कक्ष में रक्तकर वाक्त्रिभुति कहती है—

सर्वेषां देव वक्षानामात्मा—यदयमग्नि । तत् प्रस्तरमिषध, अभिवृत्त्य-
अग्नी जुहाति । तदग्नात्सुत दधाति, तदात्ममभृत वषे । देवो वा
ऽधस्यैव आत्मा, मानुषाऽयम् । देवा उ आऽम्र, अथ भद्रुष्या ।
तस्मादग्नी हुत्वा मक्षयति” । (शत० ६।२।१।११।)

इसरा विवर्ण है विज्ञानात्मा का। यह अवेक्षया असाधारण होता हुआ भी सृष्टिक्रमानुसार सर्व सूर्यमूलक विज्ञानात्मा—साधारण में प्रतिष्ठित है। विज्ञानात्मावोपनिषत् का आरम्भ करते हुए वत—
साया गया है कि, आनन्दविज्ञानात्मिक मनःप्रकाशवचन विद्या-कर्मात्मिक अमृतसुखमय, अमयवात्मा नाम स प्रसिद्ध विद्यात्मा (वोदणी-पुष्प) का पूर्ण विज्ञान सूर्य में ही होता है। अतएव सौर इन्द्र को पादप्रे कहा जाता है। सूर्यगन विद्यात्मा किंवा विवर्ण अपनी विद्या (ज्ञान) अविद्या (कर्म्म) नाम की दोनों कक्षाओं से पूर्णरूप में विकसित है। सूर्यप्रतिष्ठित चित् (ज्ञानमात्रा) इन्द्र (मायमात्रा) सोम (मृतमात्रा) विभिन्न नहीं विज्ञानभाग अम्बात्म में प्रविष्ट होकर ‘विज्ञानात्मा’ नाम से प्रसिद्ध होता है। यही विज्ञानात्मा ‘कारयिता-वृत्रह-सृष्टि’ आदि विविध नामों से व्यवहृत हुआ है। ब्रह्मन्त्र नाम से प्रसिद्ध नात्स्नज्ञा (नात्स्नज्ञा—इतिज्ञा)स वह अम्बात्म में प्रविष्ट होता है। सूर्य इस का प्रसम्मान है, नात्स्नज्ञा द्वार योनि है प्रज्ञातमन (मर्मेन्द्रिय नाम स प्रसिद्ध अनिमित्तमन) इस की प्रतिष्ठा है। आराय सर्वाङ्ग शरीर है।

विज्ञानात्मा में प्रतिष्ठित सोममय विद्या ‘विषया’ कहा जाता है, एवं इन्द्रवचन ‘माय’ नाम से प्रसिद्ध है। विषयाभाग ज्ञानप्रधान होता हुआ विद्यात्मक है मायभाग क्रियाप्रधान होता हुआ अविद्यात्मक है। इस प्रकार विषया-माय-रूप स विज्ञानात्मा पर उस ज्ञान-कर्मात्मक, किंवा विद्या-कर्मेमय पुरुषात्मा का पूर्ण अनुभव हो रहा है।

पश्चिमाश्रित 'बुद्धि-मनीषा-विषया-मी-प्रज्ञा-मति' आदि सब शब्दों का एक ही तात्पर्य समझ सारहा है। परन्तु विज्ञानबुद्धि से विचार करने पर आप को विवित होगा कि एक सब शब्द सर्वथा विभिन्नार्थक हैं। यद्यपि वस्तुतः एक है, परन्तु क्यापि भेद से प्रकट नहीं बुद्धि मनीषा-आदि भेद स मानात्पर्य में परिणत हो रहा है। अवस्थाभेद से ही वो पदार्थ भेद का कारण है। नहीं तो सो मन है, वही बुद्धि है, वही प्रज्ञा है यह कहने में भी कोई हानि नहीं। वही सावित्राग्नि स्वयंभूत में (सूर्यलोक में) प्रतिष्ठित रहता हुआ देवता है, एवं प्रबल्यरूप से सूर्य से प्रयत्न होकर अन्तर्ध्यात सम्बन्ध स प्रविष्टी में प्रतिष्ठित होकर गायत्री नाम से प्रसिद्ध होता हुआ वही सौर अग्नि "भूत" प्रधान बन जाता है। अन्त ही वो अदस्तान्तर में मल है। क्या अग्नि और मल एक वस्तु है? बस यही अवस्थाभेदमूलक भेद बुद्धि-मनीषा आदि शब्दों में सम्मिलित।

1

चिदरा—इन्द्र—सोम—इन तीनों ज्ञान—विषया—अर्थमय भावों की समष्टिरूप विद्युत् अवस्थात्मक बुद्धि है। विज्ञानात्मिका यह बुद्धि प्रज्ञानात्मक मन पर प्रतिष्ठित होकर ही विकसित होती है। भौतिक विषयों का हाँ-नाही के द्वारा सर्वप्रथम (संस्काररूप स इन्द्रियाविष्ठा प्रज्ञान मन के साथ सम्बन्ध होता है। वास नामात्मनसंस्कार रूप स प्रज्ञान मन पर प्रतिष्ठित विषयों का ही बुद्धि भोग करती है। दूसरे शब्दों में भाव नामात्मनसंस्कारावच्छिन्न मन ही बुद्धि का अन्त है। "अन्त मा इदं" (ऐ० २।४।) के अनुसार अन्त मत्त्व इदं" नाम से प्रसिद्ध है। संस्कारावच्छिन्न इदं रूप (अन्तरूप) मन को अपने गर्भ में रखते वाली वही विद्युत् बुद्धि बुद्धि न कहला कर 'मनीषा' नाम से व्यवहृत होती है। निर्बिषया, निरुपाधिका बुद्धि बुद्धि है, सविषया सोपाधिका वही बुद्धि मनीषा है। सांसारिक विषयों को ही मुक्तमूल मानन वाले सांसारिक यथाज्ञात मनुष्यों में विषयों की प्रधानता से मन प्रकट रहता है विषयाधिक्य स प्रवक्तृ बना हुआ मन अन्त रूप बनता हुआ भी बुद्धि पर अपना अधिकार जमा लेता है। ऐसा विषयप्रधान मन रहती हुई बुद्धि की उबेका कर एक प्रकार स स्वतन्त्र बन जाता है। दूसरे शब्दों में यों कहा जासकता है कि, विषयासक्त मन बुद्धि का अन्त नहीं रहता, अपितु बुद्धि मन का अन्त बनी रहती है। इसी बुद्धिपाठ्यतन्त्र्य, एवं मन स्वातन्त्र्य का निरूपण करत हुए महर्षि कठ कहत हैं—

यस्त्वविज्ञानं यवति अयुक्त न मनसा सदा।

सत्सेन्द्रियाण्यवस्थानि दृष्टाञ्चा इव सारथे ॥ कठोपनिषत् १।३।५।

ठीक इसक विपरीत शास्त्र अभ्यास क द्वारा अवस्था पूर्व अन्त क सुसंस्कारों के प्रभाव से जिनका मन बुद्धि का अन्त बन जाता है व विचारशील मनुष्य इसी मनीषा क द्वारा मनीषा कहलात है। इन्द्रो मुक्तात्माओं का लक्ष्य में रख कर भाग प्राकर भुक्ति करती है—

जाता है। देहात्मा का यही मुख्य कर्म है। अणुकर्म का इस से कोई सम्बन्ध नहीं है। कारण सौरमात्र-मय होने से यह असंभव है। इस पर वासना-भावना आदि संस्कारों का छेप नहीं हो सकता। इस का प्रमथ यह है, यानि बेचमन है प्रविष्टा मानुषात्मा कर्मात्मा है, आराधन सर्वाङ्ग शरीर है। यह आत्मा हठर करवात्माओं के समान साधारण नहीं अपितु असाधारण है। जो विद्वान् यथाविधि ब्रह्म करते हैं, कर्मों में यह अपूर्व आत्मा प्रविष्टित रहता है। अवशिष्ट यथाज्ञान मनुष्य इस देहात्मा से संबंधित है। हां इसी सूर्य का विज्ञानात्मा नाम का जो वृक्षरा चित्रित है, यह सर्वसाधारण में प्रविष्टित है। मानुषात्मा, एवं देहात्मा के इसी पारमार्थ्य को लक्ष्य में रखकर वाक्त्रिभुति कही है—

सर्वेषां देव देवानामात्मा—पदपमग्नि । तत् प्रातरमिषय, अग्निमुत्प-
ज्जनौ ह्वरोति । तदग्नाममृतं दधाति, तदात्मममृतं भवे । तैवो वा
अस्यैव आत्मा, मानुषोऽयम् । देवा उवाच, ब्रह्म मनुष्या ।
तस्मादग्नौ हुत्वा मध्वपति” । (शां २।४।१।१११)

इसका विषय है विज्ञानात्मा का। यह अनेकधा असाधारण होवा हुआ भी सृष्टिक्रमानुसार सर्व सूर्यमूलक विज्ञानात्मा—साधारण में प्रविष्टित है। विज्ञानात्मोपनिषत् का आरम्भ करते हुए वक्ता काया गया है कि, आत्मविज्ञानमार्गित मनःप्राक्वाङ्मय, विद्या-कर्ममूलक अक्षुण्णसुखमय, अक्षय्यात्मा नाम से प्रसिद्ध चित्तमा (चोदरी-पुरुष) का पूर्ण विकास सूर्य से ही होता है। अतएव सौर इन्द्र को चोदरी कहा जाता है। सूर्यमय विज्ञानात्मा, किंवा चिरं अपनी विद्या (ज्ञान), अविद्या (कर्म) नाम की शक्तियों कक्षाओं में पूर्णरूप से विकसित है। सूर्यप्रतिष्ठित चित्त (ज्ञानमात्रा) इन्द्र (मात्रमात्रा) सोम (भूतमात्रा) विभिन्न यही विज्ञानमय अम्पात्म में प्रविष्ट होकर ‘विज्ञानात्मा’ नाम से प्रसिद्ध होता है। यही विज्ञानात्मा ‘कारयिता-श्रृंग-मुक्ति’ आदि विविध नामों से व्यवहृत हुआ है। ब्रह्मरूप नाम से प्रसिद्ध नान्दनका (नाम्नका-उदितार) में यह अम्पात्म में प्रविष्ट होता है। सूर्य इस का प्रमथमान है नान्दनका रीति है प्रजातमन (मर्मेन्द्रिय धाम से प्रसिद्ध अनिन्द्रियमन) इस की प्रविष्टा है। आराधन सर्वाङ्ग शरीर है।

विज्ञानात्मा में प्रविष्टित योग्य चित्रा विष्णु का कहा जाता है, एवं इन्द्ररूप ‘प्रातः’ नाम से प्रसिद्ध है। विषयमात्र ज्ञानप्रधान होवा हुआ विद्यात्मक है, मायमात्र क्रियामय होवा हुआ अविद्यात्मक है। इस प्रकार विषया-माय-रूप से विज्ञानात्मा पर इस ज्ञान-कर्ममय, किंवा विद्या-कर्ममय

साथ, दूसरे शब्दों में मन के साथ बुद्धि के बर्तन किए जायेंगे, तब इस अवस्था में इसे प्रज्ञान में केन्द्र कर "मति" कहा जायगा। यद्यपि मनन (चिन्तन) मन का धर्म माना गया है। परन्तु किसी एक विषय पर चिरकाल पर्यन्त मन की बुद्धि को लगाए रहना ही मनन है। उपर—“अध्वनन्तु हि मन कृष्ण प्रसादि बलवद्बुद्धम्” (गीता ६।२४)। के अनुसार सर्वथा अध्वनन्तु मन अपन विशुद्धरूप से स्थिरधर्म के प्रयोजक मनन-व्यापारमें असमर्थ है। स्थिरधर्म-प्रयोजक एकमात्र बुद्धि के सहयोग से ही मनमें स्थिरता का उदय होता है। एसी अवस्थामें मानना पड़ेगा कि मनन न केवल मन का व्यापार है न केवल बुद्धि का व्यापार है। अपितु बुद्धियुक्त मन ही, किं वा मनोमयी बुद्धि ही मनन की अभिप्रायी है। मनन ही “मति” है। मनो-युक्ता बुद्धि ही मति है।

उपर्युक्त अवस्थाकृत मनो को समझते हुए बुद्धि मनीषा-मति-प्रज्ञा-आदि का पर्यायसम्बन्ध मानना किसी सीमा तक ठीक है। परन्तु आत्म भोज कर यथेष्ट प्रयोग करना विज्ञान विरुद्ध है। अस्तु, विविध भाषात्मिका इस बुद्धि को प्रकृत प्रकरण में हमने “विज्ञानात्मा” नाम से व्यवहृत किया है। इस नाम करण की उपपत्ति यही है कि प्रज्ञान मन सब में समान है परन्तु व्यक्तिमेव से बुद्धि में अन्तर है। ऐन्द्रियक विषय भोग करना मन का काम है। इस अंश में सब समान हैं। आहार-निद्रा-भय-अध्वन-पानादि इन्द्रिय भोगों में सब की समान बुद्धि है—“सामान्यमेतत् पञ्चुमिर्नराणाम्”। इस दृष्टि से सब मनुष्य एक भेद्य में प्रतिष्ठित हैं। परन्तु बुद्धि विज्ञानमयी है विविध-ज्ञानमयी है। सौरज्ञान विविधरूप में परिखत होकर ही अस्मद्विधि में प्रतिष्ठित होता है। वतका एक ही ज्ञान (बुद्धि) अनक भागों में विभक्त होरहा है। एक स्थान में प्राणपटीका-विज्ञान प्रतिष्ठित वला जाता है। इसी विज्ञान के आधार पर यह मने हुए और का पता लगाने में समर्थ होता है। ज्ञानका गर्भ रखन वाले हम मनुष्यों में यह शक्ति नहीं है। विज्ञानधारा सर्वथा विभक्त हो रही है। इसी के कारणसे से एक पवित्रराज भी व्याख्यान नहीं देसकते, एक साधारण व्यक्ति भी अच्युता चोख लेता है। इसी विज्ञान की कृपा से एक अमरीजी (मजदूर) दिन भर पत्थर बोझने पर भी थार-छ आना ही प्राप्त करता है, परन्तु इसी विज्ञान की महिमा से शान्ति से बैठा हुआ एक वैज्ञानिक जणमात्र में अतुल सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है, एवं सर्वत्र वस का पर्य व्याप्य होजाता है। इस प्रकार बुद्धि अनेक रूपा है, प्रज्ञानवत् समान-वर्त्मिणी नहीं है। बुद्धि के इसी वैविध्य से ‘विविधं ज्ञान विज्ञानम्’ इस निबचन के अनुसार इसे विज्ञानात्मा कहा जाता है। विज्ञान के कारणसे ही सेवक-स्वामी, गुन-रिप्य, शक्ति-अहङ्कार, छोटा-बड़ा अमीर-गरीब इत्यादि द्वन्द्वभाव उत्पन्न होते हैं।

विज्ञानात्मा में विपणा-प्राण, य जो कहाँ बतलाई गई हैं। साथ ही में विपणा भाग को ज्ञान विपणा, तथा प्राप्तविषय-कहा है एवं प्राप्तभागको कर्मे कहा है। ज्ञानकर्म्ममयी विज्ञानात्मिका इस बुद्धि के भाग जाकर भाठ विपर्य हो जाव हैं। “अविद्यास्मितारामद्वेषाभिनिवेशा पञ्च क्लेशा” (पा० योग

वर्शन २१) के अनुसार। कर्मात्मा को प्रत्यक्ष का भागी बनाने वाला योग क्लेश प्रसिद्ध है। यह अविद्या है। 'अज्ञानेनाहृत ज्ञान तेन सुखं न्ति जन्तवः' (गीता २१:२) के अनुसार बड़ो अज्ञान अविद्या मोह की जननी है। ज्ञानाभाव अज्ञान नहीं है अतः अज्ञानावर ज्ञान ही अज्ञान है। अनुसूचन राग है, प्रतिकूल बन्धन द्वेष है। जिस प्रकार अपना आत्मीय सदा मत पर चढ़ा रहता है वही इस आत्मीय में भी बड़ी अधिक शत्रु बुद्धि पर चढ़ा रहता है। जो राग है वही द्वेष है। दोनों में आत्मीय बन्धन समान है। अतः एव दोनों को जो न मान कर एक-दूसरे से 'आधुकि' नाम से सम्बोधित किया जाता है। आत्मा का संश्लेषण ही 'अस्मिता' है। सम्पूर्ण ऐश्वर्य आत्मा में प्रतिष्ठित है। फिर भी हम उसे कार्य में परमुखापेक्षी बन रहते हैं। आज यह नहीं, कल यह नहीं इस प्रकार से आत्मा अपने कार्य प्रत्यक्ष वस्तु के कमी का अनुभव किया करता है। वही आत्मा का अस्मिता- (स्मितभाव का-विकसित अवस्था)-भाव है। पुण्यद्वय 'अभिनिवेश' है। शास्त्रज्ञानाभावरूप अज्ञान से अविद्या का रूप होता आसक्ति से रागद्वेष का अनैरस्य से अस्मिता का एवं अश्रम से अभिनिवेश का रूप होता है। राग के रूप आसक्ति अविद्या अस्मिता अभिनिवेश ये चारों ही अविद्याएँ हैं। इन चारों का सम्बन्ध बुद्धि कर्मप्रधान प्राण भाग के साथ रहता है। इसीलिए प्राणवच्छेदन बुद्धि की चार अवस्थाएँ हो जाती हैं।

१. दूमा है विपक्षा भाग। इस के साथ अविद्याबुद्धि के चार विपर्ययों का सम्बन्ध रहता अविद्या का विरोधाभास ज्ञान में होता है। अस्मिता का विरोध ऐश्वर्य में होता है। आसक्ति का विरोध वैराग्य में होता है। अभिनिवेश का विरोध अतः होता है। इन का सम्बन्ध मानस विरोधाभास के साथ होता है, अतः एव विरोधाभास बुद्धि की इन चारों ज्ञानप्रदानावस्थाओं का 'विद्या' कहा जाता है। इस प्रकार क्लेश एवं क्लेश के चार विपर्ययों के सम्बन्ध में विपक्षा-प्राणात्मिका बुद्धि आठ अवस्थाएँ हो जाती हैं। वही प्राणानिच्छात्र की—'अष्टी बुद्धयः' हैं। विद्याबुद्धि-बुद्धि से अज्ञान का विद्याभाग प्रसन्न होता है, अतः एव इसे विद्याबुद्धि (आत्मविद्यामुक्त्यामिनी बुद्धि) नाम से संबोधित करना पथाप्राप्त है। एवं क्लेशबुद्ध्यावच्छिन्ना प्राणप्रधाना अविद्या बुद्धि से आत्मवैराग्य का अवि भाग मन्त्र बनता है अतः इस अविद्याबुद्धि—(आत्मविद्यामुक्त्यामिनी बुद्धि) नाम से संबोधित के सम्बन्ध है।

१-१-प्रथमबुद्धि	—	आर्यविद्या	—	प्रथमप्रवर्तिका
२-२-ज्ञानबुद्धि	—	सिद्धविद्या	—	ज्ञानप्रवर्तिका
३-३-बैराग्यबुद्धि	—	रात्रिर्विद्या	—	बैराग्यप्रवर्तिका
४-४-प्रेरकबुद्धि	—	रात्रविद्या	—	प्रेरकप्रवर्तिका

— विषयाप्रधाना विद्याबुद्धिबुद्धयः

५-१-अस्मिन्बुद्धि	—	अध्यात्मप्रवर्तिका
६-२-अविद्याबुद्धि	—	अज्ञानप्रवर्तिका
७-३-रागद्वेषबुद्धि	—	वासतिप्रवर्तिका
८-४-अस्मिताबुद्धि	—	अस्मिताप्रवर्तिका

— प्राणप्रधाना-अविद्याबुद्धिबुद्धयः

यह है सौर विज्ञानात्मा का संक्षिप्त स्वरूप निरूपण । इस का प्रधान कर्म है-प्रज्ञानमनोजवच्छिन्न, प्रकृत्योत्सृष्ट-बैराग्यर गजान प्राज्ञसमष्टिकर कर्मात्मा को कर्म में प्रवृत्त रखना । इसी की प्रेरणा से कर्मात्मा कर्म करने में समर्थ होता है अत एव इसे कारयिता (कर्म करान वाला) कहा गया है । प्रज्ञान मन पर विषय आवे हैं परन्तु यह विज्ञानात्मा (बुद्धि) विषय पर जाता है । “यह बात हमारी समझमें नहीं आई, अतएव बात हमारे बचती ही नहीं” यह व्यवहार प्रज्ञानमन से सम्बन्ध रखते हैं । ‘हमारा खयाल ठप ओर नहीं दीड़ता, सींचते हैं, परन्तु अकल काम नहीं करती’ इत्यादि व्यवहार विज्ञानात्मा से सम्बन्ध रखते हैं । नवीन कृति में विज्ञान की प्रशंसा रहती है प्रविहति (नक्षत्र) में प्रज्ञान की प्रधानता रहती है । नवीनमन्त्र की रचना बुद्धि से सम्बन्ध रखती है, वन हुए मन्त्र की प्रवृत्ति में मनो व्यापार प्रधान रहता है । शरीरनिपात के अनन्तर यह विज्ञानात्मा भोगमात्रक बना हुआ कर्मात्मा के साथ सापेक्ष रूप से युक्त रहता है । स्वस्वरूप से असन्न इस विज्ञानात्मा का गति-मात्र-त्रैकर्म्य-आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है । अत्रविज्ञान अथवा अधिज्ञाता मात्र है । विज्ञानात्मनिरूपक गतार्थ हुआ । अत्र कर्मप्राप्त ‘अज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्’ की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

तस्मिन् वैश-विज्ञानमेव विज्ञानोऽयं सूर्यो विज्ञानात्मा वा व्याख्यातो द्रष्टव्यः ।
समाप्ता येन भाद्विज्ञानान्तर्गतं ‘आत्मविज्ञानोपनिषद्’ प्रथमायां प्रथमस्रष्टात्मिकायां
विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्’ अतुर्थी ।

५८

समाप्ता चेत्

‘विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्’ चतुर्थी

४

८४

आत्मविज्ञानोपनिषद् (प्रथमखण्डे)

‘महानात्मविज्ञानोपनिषत्’ पंचमी

५

—[१]—

$$(४) \left\{ \begin{array}{l} १—अधिदेवतम्—चन्द्रमा (पूर्णमिदम्) \\ २—अध्यात्मम्—महान् (पूर्णमिदम्) \end{array} \right\} (४)$$

अथ

श्राद्धविज्ञानान्तर्गत—‘आत्मविज्ञानोपनिषदि’ प्रथमोऽयं—
“महानात्माविज्ञानोपनिषत्”—पञ्चमी

५

महानात्मा—प्राकृतात्मा—चन्द्रमा (४)

१—आकृतिमहान् (आकृत्यात्मा)

२—प्रकृतिर्महान् (प्रकृत्यात्मा)

३—अहकृतिमहान् (अहकृत्यात्मा)

साऽयं त्रिकला महानात्मा प्राकृतात्मा वा चन्द्रमा

१—मम यानिमं हृद् मम तस्मिन् गर्भे दशम्यहम् ।

सम्भव सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

२—सव्योनिषु कौन्तय । सूर्यस्य सम्भवन्ति याः ।

तासां मम महयानिरह धीमप्रदः पिता ॥

—गीतासंग्रहटीका-१४ अ० ३, ४, १

(५) महानात्मस्वरूपपरिचयः—(तेज -स्नेहमयो महानात्मा)

१—स नो महौ अनिमानो धूमकृत् पुरुषश्चन्द्र ।

विषे वाप्राप्य हिन्यतु ॥—अ० सं १।१७।११।

२—क इमं वो निष्पमा चिक्रेत् बत्सो मातृबेनयत् स्वधामि ।

बह्वीनां गर्भा अपसाधुपस्थान् महान् कविर्निष्पराति स्वभाषान् ॥—अ० सं १।१७।१२।

३—महौ अति महिष इष्मिमेभिर्बेनस्पृष्टुम सहमानो अन्पान् ।

एको विष्टस्य श्वनस्य राज्ञा स योषया च क्षपया च जनान् ॥—अ० सं १।१७।१३।

४—नि वेष्टेति प्रकृषो दूत आत्स्वन्तर्ममहाश्पराति राक्षसेन । -

बभूवि विभ्रदमि ना विचष्टे महर्बन्नामसुरस्त्रमेकम् ॥—अ० सं १।१७।१४।

५—आवि सन्निहित गुहाश्चर नाम महस्पदमत्रैतत् समर्पितम् ।

एवम् प्रात्यन्निमिषश्च यदेतज्ज्ञानं सप्तसद्वरेभ्यं पर विद्वानादिरिष्ट प्रजानाम् ॥

—सुब्रह्मणेय १।२।१।

६—एकेकं बालं बहुधा विवर्जन्मिन् क्षेत्रे सहरत्येव द्वेष्ट ।

भूय सृष्ट्वा पतयस्तप्तेन सर्वाधिपत्यं कृत्ते महात्मा ॥—एव ७० ४।२।

७—तद् स प्राणोऽभवन् महान् भूत्वा प्रयापतिः ।

श्रुजो श्रुमिष्या विस्वा यत् प्राणान् प्राणयत् पुरि ॥—एव ७० ४।२।१।

८—यः पूर्वं तपसा जातमशुभं पूर्वसंजायत ।

गुहां प्रदिश्य विमुक्तं यो भूतेभिर्मयैवकृतम् ॥—अ० सं १।१८।१।

९—तदवापिस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु जन्त्रमाः ।

तदेव ध्रुव तद्वा मरु ता जम्ब स प्रयापति ॥—एव सं १।१८।२।

१०—अङ्गीरं स्मृतिस्मनब्रह्मण्यवस्थितम् ।

महान्तं विभ्रमात्मानं मत्वा भीरो न क्षोभति ॥—अ० सं १।१८।३।

ॐ महानात्मनश्चण्डो नमः

महानात्मा—अन्द्रमा

‘महद्ब्रह्म’ त्रुपास्व

यो योनिमवितिष्ठत्येको विद्यानि रूपाणि यानीक्य सर्वाः ।

ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तममं ज्ञानैर्विमर्त्ति आपमानं च पश्येत् ॥—एवे० ब० ३० ३१।

यस्य स्वमात्रं पश्यति विद्यापानि पात्र्याश्च सर्वान् परिणामयेद्यः ।

सर्वमेतद्विस्वमवितिष्ठत्येको गुण्याश्च सत्त्वान् विनिषोऽवेद्यः ॥—एवे० ब० ३१ ३२।

ब्रह्माहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसं परस्तात् ।

तमेव विदित्वा विमुक्त्युमेति नान्यं पन्था विद्यतऽयनाय ॥—भृगु स० ३१। १५।

महान् प्रसूतं पुरुषं सत्त्वस्यैव प्रवक्तव्यं ।

सुमिर्मलामिमां प्राप्तिमीदृशानो ज्योतिरव्यय ॥—एवे० ब० ३१ ११।

भूतं भविष्यत् प्रसीमि बहुमूर्त्तं कमध्वरम् ।

महद्ब्रह्म कमध्वरम् ॥—शवे० ब्रा १०। ४। १। ५।

‘ब्रह्मा’ नाम से मिलकर ब्रह्मब्रह्मपुरुष, प्राकप्रधान अस्पृक्षता, आपाप्रधान-यज्ञात्मा, वाक्प्रधान महान की महत्ता—विज्ञानात्मा, अन्तःप्रधान प्रज्ञानात्मा अन्तःप्रधान कर्मज्ञात्मा, चित्प्रधानान्तरात्मा, भूत स चानक संस्थापक आध्यात्मिक प्रपञ्च की मूलप्रतिष्ठातृ वह महानात्मा सचमुच महान (बड़ा) है। यदि अन्तःप्रधान स महानात्मा को प्रपञ्च कर दिया जाता है तो शीघ्र आत्मब्रह्म-संसारक आत्मविषय तब शरीर मय कुछ उत्कृष्ट हो जाते हैं। सशरीर लभ्या आत्मविषय महान के ही गर्भ में प्रतिष्ठित हैं। शुद्धमूर्ति महान के साथ जब तक कर्मत्या का सम्बन्ध रहता है तभी तक सशरीर सपरिमह कर्मात्मा कल्याण में है। महद्ब्रह्म विमाक ही कर्मात्म मुक्ति का सूत्रधार है। भूत भविष्यत् वर्तमान सभी पुरुष इसी महानात्मा पर प्रतिष्ठित हैं। संसार में जितनी भी आकृतियाँ हैं जितनी भी प्रकृति (स्वभाव) मर हैं वो भी आकृतियाँ हैं उन सब का आधिपत्यकर्तृ वही महानात्मा है जैसा कि आमा आकर बिलार से स्पष्ट होन वाला है। महानात्मा के इसी सत्कारणवत् महत्त्व का लक्षण में रहने हुए वेदा

निको न सबभ्यापक पोहरा। बहोरबर अम्बक, आदि किमी को भी महान न कह कर एकमात्र इस पारमध्य-तत्त्व का ही 'महान' उपाधि से विभूषित किया है, जिस उपाधि का 'ईशोपनिषद्ब्रह्मनाम्प' के 'महदात्मप्रकरण' में विस्तार से विरोधपत्र हुआ है।

“महोदेव” “महान्” इत्यादि नामों में प्रसिद्ध यह प्राकृतारत्ना उपाधि आपोमय परमेश्वरी की वस्तु है, महोदेव, और महान्—जैसा कि पूर्ण के अन्तर्गतप्रकरण में बतलाया जा चुका है तथापि अम्बाल-संज्ञा की अपेक्षा में इसकी मुख्यविशेषता शून्य है।

उपर शून्य आन्तरिकार्थ है अतएव इस आत्म-प्रतिप्रकरण की अपेक्षा में इस प्रकरण में हमने इसे अन्तर्यामी की वस्तु माना है। वस्तुतः इसकी महत्ता परमेश्वरी के सम्बन्ध पर ही निर्भर है। इस महानात्मा में सर्वत्र रजः सम, य तीन गुण एक आकृति प्रकृति बहुकृति मय य तीन प्रकृतियों मित्व प्रतिष्ठित रहती है, जैसा कि अन्तर्गतप्रकरण में ही विस्तार से बतलाया जा चुका है। जब तक महानात्मा स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है, तब तक जीवात्मा कथमपि मुक्त नहीं हो सकता। महानात्मा में 'स्यूत-सूत्र-कारण' शरीरमेव ही तीन प्रसिद्धों रहती है। अन्तर्गतप्रकरण से बाह्यतः स्वस्वरूपी स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। इसका प्रधान सम्बन्ध पार्विभूतप्रमाण-प्रधान उपोन्मि आकृतिमहान् के साथ है। सूत्रमयत्वि से प्राणगर्भित मनोमय सूत्रमयारी की रक्षा होती है। इसका प्रधान सम्बन्ध आन्तरिक-प्रधान उपोन्मि प्रकृतिमहान् के साथ है। कारलप्रतिष्ठ से अन्तर्गतप्रमाण से अन्तर्गतप्रमाण की स्वरूपरक्षा होती है। इसका प्रधान सम्बन्ध शरीरमय-प्रधान सत्त्वमूर्ति अहकृतिमहान् के साथ है। जब तक तब हीमो प्रसिद्धों में से एक भी प्रसिद्ध रहती है तब तक महानात्मा में विश्राम (विश्रुतिविश्रुति) रूप से प्रतिष्ठित विश्राम (जीव) कथी मुक्त नहीं होता। विश्राम की भाँति यही महानात्मा है। अनुस्यूत अन्तर्गत तत्त्व भी—“साऽनया त्रय्या विद्या सहाय प्राविश्वत एव माण्ड समवर्तत” (शान १।१।१) के अनुसार इसी आपोमय महान के गर्भ में प्रविष्ट रहता है। अन्तर्गतप्रमाण पारमध्य ब्रह्मत्मा की प्रतिष्ठा भी यही आपोमय महान है। शरीरविज्ञान आन्तरिकप्रमाण भी यही प्रतिष्ठित है। शरीरप्रत्यक्ष अन्तर्गतप्रमाण का भी अन्तर्गतप्रमाण यही महानात्मा है। अनुस्यूत-विश्राम दोनों का संवाक्य भी यही है। इस प्रकार इस महान का महत्ता सकारणना भिन्न है।

इस महानात्मा में प्रधानतः य पारमध्यप्रमाण विद्वत्, पितृ प्राण, ये तीन तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। माम पितृ और पितृप्राण—तीनों तत्त्वों के समुच्चय का ही नाम 'महामय' है। मोक्षतत्त्व की अपेक्षा में यह महान् है विश्रुति की अपेक्षा में यह आत्मा है पितृ प्राण की अपेक्षा में यही पितृ है। पितृप्राणवत्त्व ॥ ही यह महान्—“महामय मयभूतानां तता मरति मारतः” (गी १।३।३) इस अन्तर्गतप्रमाण के अनुसार मय का मयमयिना (उत्पादक) है। प्रजन-विना य ही लोकात्म्य में विना कदा जाना है, अतएव अन्तर्गतप्रमाण प्रजनविना शीघ्रप्राण की 'पितृ'

कदां श्वायत् प्राप्त है। अधिवैभवसंस्था में यही प्रजनयिता परमेष्ठी नाम से प्रसिद्ध है। इसी विज्ञान को कल्प में रखकर वात्रिभक्ति कहती है—

१—“ता वाऽएताः प्रप्रापतेरधिदेवता असृज्यन्त अधि रिन्द्र-सोम परमेष्ठी प्राजापत्य ।
तत् एत परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यत्-दर्शपूर्णमाशौ । ताम्पामपश्यत् । ताम्पामिष्ट्वा
कामयत्-अहमेवेद सर्वं स्यामिति । स आपाऽमवत् । आपाः सा इदं सर्वम् । ता यत्
परमे स्थाने तिष्ठन्ति (एषां अपि परमे स्थाने तिष्ठन्ति, तस्मात् परमेष्ठी नाम,)”

—शत० ११।१।११, १२, १३ १४ १५, १६, १७

१—“आमविलोको वै विशा” (शत० १३।१।१०) ।

२—“पितृलोका सोम” (श्री० १४।१) ।

३—“पितृदेवस्यो वै सोमः” (शत० १४।२।१५) ।

४—“प्रजापतिर्वै चन्द्रमा, प्रजापतिर्वै महान्देवः” (शत० १५।१३।१६) ।

परी महान् संसार का शुक (कृपाशानइव) होने से “शुक” नाम से भी व्यवहृत हुआ है। “सर्वर्गशास्त्रकम्” (ई० ४०) “शुकमेतदतिवचान्ति घोरा” (मुपबक) “उदेव शुकम्” (कठोप-
निषत्) इत्यादि स्वरों में पढ़ा हुआ शुक शब्द महानात्मा का ही वाचक है। इस गरमेश्वर सोममय
महान् का अन्तः का साक्ष सम्बन्ध हाथा है। दूसरे शब्दों में चान्द्र सोम ही आध्यात्मिक महान् की प्रतिष्ठा
है। महान्-विज्ञान-महान्-प्रज्ञान-महान्, इन तीनों ज्ञानों में स विज्ञान (बुद्धि), एवं प्रज्ञान (मन)
के ज्ञान का जो होने प्रत्यक्ष हो जाता है परन्तु महान्-ज्ञान बड़ा विचित्र है। उसका बचार्थ रहस्य हमारे
लिए अधिष्ठेय हो रहता है। यह कल्प अनुमानगम्य है। आप अपने घर से निकल कर देवद्वारनाथ
जा रहे हैं। मार्ग में जाते हुए आप एक साक्ष तीन कर्म कर रहे हैं। ‘गमन’ प्रधान कर्म है। गतिकर्म
कर्म के साक्ष आप ही मार्ग में जाने वाले दरवाजे के देखना, अच्छे घुरे शम्भु सुनना सुगमि-असुरमि प्रहस्य
करना आदि इन्द्रिय सम्बन्धी कर्म भी हो रहा है। साक्ष ही में आप अपने अन्तर्ब्रह्म में ऊँह सोचते भी
जाते हैं। ‘एक समय में एक ज्ञान एक ही कर्म कर सकता है’ यह सबसम्भव सिद्धान्त है।
इधर आप एक ही समय में तीन कर्म कर रहे हैं। अतः इन तीनों सहकृत कर्मों के लिए अथवा ही तीन
ज्ञानधारण माननी पड़ती हैं। ऐन्द्रियकर्म की प्रतिष्ठा प्रज्ञान-ज्ञान (मन) है, अन्तर्ब्रह्म
में प्रकाशित विचारधारा की प्रतिष्ठा विज्ञान-ज्ञान (बुद्धि) है, एवं तीसरे गतिकर्म का
साम्राज्य महान्-ज्ञान (महाभास्य) है। तीनों अपना अपना काम करते हुए एक दूसरे के उपकारक
बने हुए हैं। दूसरे शब्दों में तीनों को स्व-स्व कार्य निर्वह के लिए आधिकारिक रूप से परस्पर में एक दूसरे का
आश्रय लेना पड़ता है। यदि कोई ज्ञान अग्न्य ज्ञान में सर्वात्मना आत्मसमर्पण कर देता है, तो उसका
अपना कर्मसम्वन्ध बंद हो जाता है। यदि आप सुन्दर दरव देखने में इतर-ज्ञानों का समावेश कर लेते हैं

तो विचारधारा बन्द हो जाती है। यहाँ विद्याम प्रज्ञान में डूब रहा है। यदि महद् भी इसी धोर मुक्त-
सावा है, तो इस दृश्य विषय की वर्तमानता से महत् का गतिकर्म भी अवश्य हो जाता है, आप या तो नहीं
स्वप्न हो जाते हैं, अथवा ठोकर लगाकर गिर पड़ते हैं। इसी प्रकार यदि विज्ञान में प्रज्ञान एवं महत् का
लय है तो मैं आप ऐन्द्रियक कर्म कर सकते मैं चल सकता। एवमय यदि महत् में प्रज्ञान विज्ञान का लय
है तो मैं आप विचार कर सकते, मैं ऐन्द्रियक कर्म कर सकते। केवल चलन में ध्यान रहता है। मार्ग में
कोन आया, कोन गया, कोन भिला, किसन क्या कहा, आदि किसी का कुछ भी भान नहीं होता। इसी को
अनन्दयोग कहा जाता है। यही आत्मसमर्पण है यही चिन्मसिद्धि का मुख्य द्वार है। लक्ष्मी में से
विचार एवं विषयानुपपन्न द्वारा विज्ञान प्रज्ञान का स्वरूप विहित हो जाता है। परन्तु महद्ज्ञान का स्वरूपज्ञान
नहीं होने पाता। कारण इसका यही है कि प्रज्ञान विज्ञान तो छाता कोई धर्म के। गर्भ में प्रविक्षित है।
परन्तु अर्हणार्थ (स्वयं छाता) उन महत् के गर्भ में है— विज्ञातार या अरे केन विज्ञानीपात् ।
महद्गमित यही ही ता जानने वाला है। महद्ज्ञान तो इस छाता का स्वैरचर्य है। हमारे शरीरों में
महानात्मा अहंरुचि चर्माधिष्ठित महानात्मा ही स्वयं छाता है। वह अपने आरको क्यों जाने। हम
ज्ञानपूर्वक भक्त जाते हैं। भक्त को मुक्त में डालकर गले के नीचे छतार देना यह तो हमें विहित है।
परन्तु मुक्त भक्त-चित्त प्राण की प्रेरणा से 'सासुखबोधिदि त्रैलोक्यानि' में (परिक्षित हो गया) तब यदि
छात है। यह समूर्ण अविच्छाद प्रपन्न उसी अनुमेव महद्ज्ञान पर-अवलम्बित है।

आह्वित-प्रवृत्ति-अहंरुचिमात्र-स्वप्न करनी इस महानात्मा का मुख्य कर्म है। वोहरि-प्रज्ञापति
प्रज्ञापति के तीन विध—माम स प्रमिद्ध अर्हतात्मा के ईश्वर बोध-अनेक विधों विवक्षित है। इसी विवक्षित
पर-शैव्यको (रामानुजों) का विविष्टादन प्रविक्षित है। इसी तीन स्थातों में आत्मवैर्य प्रविक्षित है।
तीनों में ही असुतात्मा समान है फिर भी तीनों के स्वरूप में भिन्न क्यों हुआ? इस प्रश्न का उत्तर है—
अध्यय, अहर, बुद्ध, इन तीन आत्मावयवों का संस्थान बहिष्म। ईश्वरसंस्था में आत्मा का अध्ययनभाग
प्रधान रहता है अहर ध्व करणीय रहते हैं। यही कारण है कि ईश्वरसंस्था में अध्यय अहर कर-तीनों
आत्मविषयों के निम्न प्रविक्षित रहने पर भी एकमात्र अध्यय का ही ईश्वर कहा जाता है, जैसा कि स्थिति
कही है—

उत्तम पुरुषस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृतः।

यो लोकत्रयमाविश्य विमर्त्यप्यप ईश्वर ॥

—श्री १११७।

इस ती-तीव्रसंस्था में अध्ययित अहर का विवक्षित है, अध्यय कर, दोनों गीत हैं। अन्य-लेन
'अह' अध्यय का कर्म नहीं अगिष्ठ अहर का कर्म है। पराप्रवृत्ति नाम से प्रविष्ट अहर ही तीव्रसंस्था

है। दूसरे शब्दों में जीवत्मा का स्वरूप एकमात्र अक्षर ही पर प्रतिष्ठित है, अर्थात्संस्था का एकमात्र लक्ष्य अक्षर ही है। इसी के अर्थ से (अभिहितोक्त से) जीवत्मा अक्षय स्वरूप में परिणत होता हुआ) मुक्त हो जाता है। जीवत्वरूप अक्षर-प्रधान है, अतएव अक्षय अक्षर हर, तीनों के विद्यमान रहने पर भी 'अक्षर' को ही जीवभूता प्रकृति कहा गया है, जैसा कि भगवान् कहते हैं—

इतस्त्वन्यां प्रकृतिं बिद्धि मे पराम् ।

जीवभूता महाबाहो द्येद धार्यते अगत् ॥—(गी० १०^१ अ० ५)

तीसरा बिम्ब 'जगत्' है। इस में न अक्षय की प्रधानता है, न अक्षर की।— प्रधान है यहाँ केवल 'हर'। हर न ही भूत का विकास होता है। 'हरः सर्वाणि भूतानि' (गी० १५^१ ०) के अनुसार हर ही मौलिक बिम्ब है। सृष्टिसाक्षी अक्षय मन का पूर्ण विकास स्वयं अक्षय में होता है यही ईश्वर है। इसमें अर्थ एवं क्रिया गौण हैं ज्ञानवत्त्व प्रधान है। अक्षय के प्राक्भाग का विकास अक्षर में होता है यही जीवसृष्टि का प्रवर्तक है। यह अक्षर क्रियामूर्ति है। जीवसंस्था में अर्थ एवं ज्ञान गौण हैं, क्रियावत्त्व प्रधान है। तीसरी बाक्छा की पूर्णविकास मूर्ति हर है। यही जगत् है। यह हर अर्थमूर्ति है। विरचसंस्था में ज्ञान एवं क्रिया गौण है, अर्थवत्त्व प्रधान है। इस प्रकार ज्ञान क्रिया-अर्थमय मत प्राक्-बाक्मूर्ति अक्षय ही कर्मों अक्षय-अक्षर-हरसंस्था में परिलब्ध होता हुआ ईश्वर जीव-जगत्, इन तीन-विचर्यमानों में परिलब्ध हो जाता है। तीनों एकमात्र मत प्राक्बाक्मय अक्षय की ही विभूति हैं। अक्षयवत्त्व का इसी सर्वव्यापकता का विग्वर्तन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

मया परतर नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।

मयि सर्वमिदं प्रात स्रष्टं मणिगणा इव ॥—(गी० १० अ० ५)

अक्षयमूर्ति ईश्वर ज्ञानप्रधान होता हुआ सत्त्वप्रधान है अक्षरमूर्ति जीव क्रियाप्रधान बनता हुआ त्रिगुणरमक पुरुषमय—रजप्रधान है, एवं जगमूर्ति विरच अर्थप्रधान बनता हुआ तमप्रधान है।

सत्त्वमूर्ति अक्षय से प्राणमय ब्रह्मा अनुरहीत है रजोमूर्ति अक्षर से अर्वाक्मय बिन्दु अनुरहीत है, एवं तमोमूर्ति हर से बाक् अन्न अमाश्रय महादेव अनुरहीत है। सत्त्वमात्र शुद्ध है, असङ्ग है। तमोमात्र कृष्ण है सत्तङ्ग है। रजोमात्र सान्ध्य होने में रह (अनुरक्त-जात) है। आत्मा के इन्हीं तीनों गुणों का भागो जाकर महत्प्रकृति में उद्भव होता है। 'अन्न' अक्षय की 'अन्न' प्रकृति आत्मगुणों से त्रिगुण यावमयी बन रहा है। अहकृति का सम्बन्ध सत्त्वगुण से होता है प्रकृति का सम्बन्ध रजोगुण से होता है एवं भाकृति का सम्बन्ध तमोगुण से होता है। महान् में त्रैगुण्यमात्र का उद्भव क्यों हुआ ? इस प्रश्न का यही उत्तर है। त्रिगुण पुरुष एक है, तो त्रिगुणा प्रकृति भी एक है। आत्मा सगुण है तो इसकी प्रकृति

भी सगुण है। आत्मा ज्ञान-क्रिया अर्पण है, तो प्रकृति भी ज्ञान-क्रिया-अर्पण है। 'तत्त्वसम्भवान्' (शा० सू० १।१।) इस पारमार्थिक सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध से उत्पन्न पदार्थमात्र त्रिगुणमात्र से नित्य आकाश है।

स्वायम्भुव अव्यय, एव पारमार्थिक महत्त्वं होने का अर्थ है। महत्त्व से नीचे बुद्धिरूप सूर्य है। बुद्धि से नीचे प्रधानरूप चन्द्रमा है। चन्द्रमा से नीचे पृथिवी अन्न-तन्त्र-वायु आकारों के पञ्चीकरण से उत्पन्न पञ्चभूतमयी शरीररूप पृथिवी है। इनमें जीवप्रकृति के अधिष्ठाता अन्धकारागुहीत अक्षर की योगि आत्म-साक्षात्कर्तृ महत्त्व ही है अतएव महत्त्व का 'अक्षर' शब्द से भी व्यवहार कर दिया जाता है। जैसा कि निम्नलिखित भुक्ति स स्पष्ट हो जाता है—

“मूढ मविष्मत् प्रस्तौमि महद्भ्रमं कमधरम्।

इन्द्रमद्यै कमधरम् ॥ इति

एतद्वयमाधरं सर्वं दत्ता, सर्वाणि भूतान्यमिममपद्यते।”

—शा० १।१।१।४

अन्धकारमय अक्षरपुरुष अक्षरमूर्ति महत्त्व की जीवसत्त्वा समझिए। महत्त्व से नीचे के बुद्धि-मन-पृथिवी अन्न-तन्त्र-वायु आकारात्मक शरीर को जगत् समझिए। शेष सबे कुछ जलम पुरुष (अव्यय) को ईश्वर समझिए। इसी सत्त्वाक्रम को कथन में रक्कड़ अंगान कहते हैं।

ममि-राधा-जनको-बापु-स-मना-बुद्धिरयं च।

अहंकार इतीय मे मिन्ना प्रकृतिरपधा ॥१॥

अपरेयम् — — — — — ।

— इतस्त्यन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

अपमूर्ता महाबाहा यदेहं पार्वत जगत् ॥२॥

—गीता अ० १०, १

१—अक्षरपुरुषमिन्द्रमद्यैः प्रकृतोत्तमा—अव्यय—ईश्वरः
 २—अव्ययपुरुषमिन्द्रमद्यैः प्रकृतोत्तमा—अक्षर—जीव
 ३—अव्ययपुरुषमिन्द्रमद्यैः प्रकृतोत्तमा—अक्षर—जगत्

१—पुरुषोऽव्यय—ज्ञानम्


२—अक्षरपुरुषमिन्द्रमद्यैः—प्रिया

वाचस्पतिशास्त्र—प्रथमखण्ड


- १- [१-अव्ययमन — अव्यय —> ज्ञानप्रधान —> ईश्वर
 २-अव्ययप्राण — अक्षर —> क्रियाप्रधान —> जीव
 ३-अव्ययवाक् — क्षर —> अर्थप्रधान —> जगत्] —> तदिदसर्व
- २- [१-अव्ययमनोऽवच्छिन्नो ज्ञानप्रधान ईश्वर सत्वमूर्ति
 २-अव्ययप्राणावच्छिन्न क्रियाप्रधानो जीवो रजोमूर्ति
 ३-अव्ययवागवच्छिन्नमर्थप्रधान जगत्-तमोमूर्ति] —> तदिदसर्व
- ३- [१-अव्ययमनोऽवच्छिन्नो ज्ञानप्रधान प्राणमयो ब्रह्मा सत्वमूर्ति
 २-अव्ययप्राणावच्छिन्न क्रियाप्रधान अश्वबाह्मयो विष्णु रजामूर्ति
 ३-अव्ययवागवच्छिन्नोऽर्थप्रधान वाक्-अन्नान्नादमया महादेवस्तमामूर्ति] —> तदिदसर्व
- ४- [१-अव्ययगर्भिता ब्रह्मा सत्त्वप्रवर्तका ज्ञानमयाऽऽकृतिमहान्
 २-अक्षरगर्भिता विष्णु रजप्रवर्तक क्रियामय प्रकृतिमहान्
 ३-क्षरगर्भिता महादेव तम प्रवर्तकाऽर्थमय आकृतिमहान्] —> तदिदसर्व

पुरुषः —————> प्रकृतिः


१
अव्यय — ज्ञानम्
ईश्वरः अक्षरः — क्रिया ज्ञानम् — सत्वमहान् अहनि
क्षर — अर्थ

→ 

२
अक्षर — क्रिया
जीवः अव्यय — ज्ञानम् क्रिया — रजामहान् प्रकृतिः
क्षर — अर्थ

→ 

३
क्षर — अर्थ
जगत् अव्यय — ज्ञानम् अर्थ — तमामहान् आकृति
अक्षरः — क्रिया

→ 

इसी स्वच्छा से वह पशु के ऊपर के श्वेत न बनाकर ऊपर के रंग बना देता है। जो अमासाम (घनसाम) श्वेत बनाता है वही रंग बनाता है। मशान को इच्छा से बड़ा मनुष्य में रंग बन गया है वही पशु में रंग बन गया है। रंग बाह्य जितने भी पशु हैं उनमें ऊपर के श्वेत नहीं हल इसा अमिधाय म पमी पशुपया का "एकतादतु" कहा जाता है। पशु बिना रंग वाला हम पुरुषपशुओं का शरीर और शरीर होने से "उमपतादतु" कहा जाता है। पशु का मशान अरमासाम का न श्वेत बनाता, न रंग। अपिपु इस वह आश्रमाग में प्रतिष्ठित कर देता है। वही आश्रम पशु को बन्धु (बाँध) है। श्वेत-नील-बन्धु, दोनों का उपासनरूप एक अरमासाम है। ऐक्य महात्मा के इच्छा मर मे बड़ा इन्द्र एक स्थान में श्वेत एक स्थान में रंग एक स्थान में बन्धु बन गया है। बानर (बन्दर) महा श्रेणिमाग से पैठा है। इसमें विज्ञान की कला है। अन्त्य इम बानर का मशान इच्छा आश्रमाग का आपाय से बचने के लिए इम स्थान पर बनता उन्मत्त कर देता है बन्धु के लिए आश्रमण बना देता है। गुनेन्द्रियों का परोक्षिय महानामा गुन रक्तता बाह्या है। मनुष्य में विज्ञान (बुद्धि) का विकास है। वह अपने बुद्धिबल से कार्पास (कपास) बरकत आवि क बस्तों से अपने गुण अवयवों को एक करता है अतः मनुष्य के महान न बहो (गुमा) पर) अपनी ओर से आचरण लगान को आचरणकता न समझी, यह मार मनुष्य की बुद्धि पर बाध दिया गया। परन्तु पशुओं में बुद्धिमात्रा अरमासाम में प्रतिष्ठित है। अतः स्वयं अपने बुद्धिबल से गुण अवयवों को बन्धुत्व से गुण रक्तने में अममय है। इसलिये एक महान में पुच्छ (पूँछ) एक अममय द्वारा उत्पन्न-गुण आवि गुमाओं को अपनी ओर से आहूत कर दिया। पुच्छ बुद्धिबल से अपने पैरों का उपानय (सूत) आचरण और किमी, माचन विराप से कङ्कड़-पन्धर आदि के आपाय से बचा देता है अतः यहाँ महान ने पैरों की रक्षा के लिए विरोध प्रयत्न नहीं किया कबल वही एवं वस्तुओं को बन पता दिया। परन्तु पशु इसी बुद्धिबल की कमी से अपने पैरों का कटे-कङ्कड़ आदि के आक्रमण से बचाने में अममय व अतः बहो महान को शक (भुर) बनाने पड़े। निशनेमात्र है। आकृति-बहुवि-आकृति इन तीनों भावों में व्यक्ति, एवं अति का अपका परस्पर में आप का मेव देखते हैं, वैविध्य पात है वह सब उमा महानामा का कर्म है। महान के इसी मन्त्रावेपथ का निरूपण काव्य रूप महर्षि रवेणारवतः कहते हैं—

एकैक आल बहुधा विबुवेन्नस्मिन् सुत्र सङ्गमय देव ।

भूय सुच्छा पठयस्तदथ सत्वापिपत्य कुरुन महात्मा ॥

—एव वपनिपत् ॥३॥

हम इसी बुद्धि से पर हैं, अतः हम उमक मान का अनुमान नहीं कर सकते जैसा कि पूर्व में बिद्वद्विनिनक्षणमहानामा—कहा जा चुका है। अगर के लिए होन ही अन्त आप या माचन को एक स्वामाविकी इच्छा होती है वह महानामा की इच्छा है—“यद्येकस्मात् पशुति विद्वद्विनिन”

(गी० उ० १।२) के अनुसार स्वाभाविकी इच्छा का उद्भव (प्रभवस्थान) एकमात्र त्रिगुणमाश्रयण महा-
नात्मा ही है। पूर्ण रूप होने पर बाजारू बटपटी बाट खाने की ओ भागमग्नक अस्वाभाविक इच्छा है, वह-
मन से सम्बन्ध रखती है। ठसिपताकाँछा (अपन आप पटी हुई इच्छा) महान् से सम्बन्ध रखती है,
अस्वाप्पाकाँछा (संस्कारजनित आसक्ति के प्रभाव से अवस्थी उठाई गई अस्वाभाविक इच्छा) प्रधानमन
पर प्रविष्ट है। यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत् में हमने महान् का ही यज्ञात्मा कहा है। यही अन्नादान
द्वारा आप्यास्मिक यज्ञ का मन्त्रालय कर रहा है। इस यज्ञात्मा की स्वयं उचित इच्छा के अनुसार जो भी
कर्म किए जाते हैं वे कभी बन्धन के कारण नहीं बनते। बन्धन का मूलकारण है—प्रधानमन से व्यपन्न होने
वाली अस्वाप्पाकाँछा से किया जान वाला आसक्ति आश्रयण कर्म। यज्ञात्मा कृतकर्म दूसरे शब्दों में यज्ञ
मूर्ति महान् की स्वाभाविक इच्छा से किया हुआ कर्म इतरतन्त्रानुयायी बनता हुआ मन्त्रा अन्वयन
ज्ञाता है जैसा कि—“यज्ञाघात कर्मणाऽन्यत्र लाकोऽय कर्मवन्धन” (गी० १।६) इत्यादि से
स्पष्ट है।

मनुष्य एकमुद्रा से चिरकाल तक नहीं पैठ सकता। कभी उठ जाता है कभी पैठ जाता है।
सुषुप्त्यविच्छाता महानात्मा—पैठा हुआ कभी पैठे की नीचा कर देता है, कभी समेट लेता है। ये सब
स्वाभाविकी महारिच्छा पर निर्भर हैं। विज्ञान प्रधान अपने भागे के विषय को जान सकता है, महान् इन
दोनों से अर्थात् है अतएव हम महद्ब्रह्म का अनुभव नहीं कर सकते। आप्रवस्था में महान्—विज्ञान—
प्रधान तर्कों आप्रव रहते हैं। दूसरे शब्दों में इन दो को आप्रवस्था ही आप्रवस्था है। महान्
विज्ञान की आप्रवस्था स्वभाविकी है। एक एकमात्र महान् की आप्रवस्था सुषुप्ति है। महानात्मा
की सुषुप्ति घटित है एवं महानात्मा का प्रवृत्ति बमोक मुक्त है। इस प्रकार ज्ञानत्रय के चार
धर्म से जीवात्मा की ‘आप्त-स्वप्न-सुषुप्ति-मृत्यु-मुक्ति’ ये ५ अवस्थाएँ हो जाती हैं। आप गहरी
नींव में निमग्न हैं। इस सुषुप्तिकाल में विज्ञान प्रधान शरीरों में है। संस्कारावच्छिन्न प्रधानमन विज्ञान
मन्त्रविष्णु बतकर पुनीति भाषी में बसा गया है। मन्त्रियक ज्ञान है मन्त्र ज्ञान है। प्रातः जब आप
सोकर उठते हैं तो आप कदम लगते हैं—“आज तो बड़े आनन्द से मोएँ”। इस आप से पृथक् हैं कि,
सुषुप्ति में विज्ञान प्रधान, शरीरों में है फिर—“सुखमहमस्वाप्मा” कहने वाला सुषुप्त्यात्म्य का अनुभव
करने वाला कौन था ? उत्तर वही महान् होगा। महान् महा आप्रव रहता है। महान् में रहने वाला
अद्विरामाण महा रहवाली किया करता है। महान् आप्रव है अनपन्न तन्त्र प्रतिष्ठ ‘अहमस्मि’ यह
प्रत्यय सभी अवस्थाओं में अवस्थित रहता है। इस प्रकार तटस्थपुष्टि से विज्ञान प्रधानवत् आप महद्ब्रह्म
का भी प्रत्यक्ष कर सकते हैं।

अभ्यासमार्ग में केवल एक ही आत्मा समझने वाले, अतएव नाना उद्भावों में व्यस्त रहने वाले कास्मिक ब्रह्मियों की दृष्टि में अस्त ही आध्यात्मिक कर्मों के सम्बन्ध में सम्प्रेत रह पारन्तु पुराणी वैदिकियों की दृष्टि में सर्वथा विमल शण्डारमाओं के आचार पर प्रतिष्ठित तत्तन् कर्मकलाओं में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं हो सकता। धम्मशास्त्राक्त कर्मों का प्रधान सम्बन्ध महात्मा-विज्ञानात्मा-प्रज्ञानात्मिक कर्मात्मा, इस तीन श्रृङ्खलाओं के साथ है। अतएव धम्मशास्त्र में (स्थितिराज ने) इसी चीजों को प्रधानता दी है। जैसा कि मगवान् मनु कहते हैं—

योऽस्यात्मनः कारयिता तं चैन्द्रं प्रवक्षते ।

यः करोति तु कम्माणि स भूतात्मोऽप्येते पुत्रैः ॥१॥

आवसथाऽन्तरात्मान्य सहस्र सपदेहिनाम् ।

यं वेदयत सव मुखं दुःखं च क्लमसु ॥२॥

ठाडुमौ भूतसङ्की महान्—चन्द्र एव च ।

उवाचपेषु भूतपु स्थित 'तं' व्याप्य विमुक्तः ॥३॥

—मनु १८१२-१३-१४

प्रज्ञानवर्णितवत् विज्ञानात्मा ही केन्द्र है वही कर्मात्मा को कर्म में प्रवृत्त कराने वाला कर्म-पिठा है, जैसा कि पुरुष के विज्ञानात्मप्रकाश में विस्तार से लक्षणाया जा चका है। कर्म करने वाला अहम्मा इस केन्द्र काटयिता से सर्वथा वृत्त है। अतएव आचारण दृष्टि के अनुसार बीजात्मा नाम से प्रसिद्ध कर्मात्मा ही कर्मकर्ता है परन्तु वास्तव में मृतत्मा ही कर्मकला है। मृतत्मा से प्रवृत्त में महा-महत्मा अभिषेक है। महात्मा शुकमय है, जैसा कि अमुप में ही स्पष्ट होने वाला है। सत्य-रज-तम-हीनों आत्मगुण महाग में ही विकसित होते हैं जैसा कि स्थिति कहती है—

+ धर्म केन्द्रक है भीत कर्म का इतिवर्तमानक के नियन्त्रण करने वाला स्थितिराज कर्मकला है। "प्रति-स्तु करो विप्रो धम्मशास्त्रं तु मे स्थितिः"। इस विषय का विस्तृत विवेचन ईरोपमिपाय-विन्धी-विज्ञानात्मक प्रथम कर्म में देखना चाहिए।

सत्त्वं रक्षस्तमश्चैव त्रीन् त्रिधादात्मनो गुणान् ।
 येन्याप्येमान् स्थितो भावान् महान् सर्वानक्षेपतः ॥१॥
 या यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।
 स तदा तद्गुणप्राप्य त करोति क्षरीरिणाम् ॥२॥
 सत्त्वं ज्ञानं, तमोऽज्ञानं, रजोऽपी रजः स्मृतम् ।
 एतद्व्याप्तिमक्षेपेणं सर्वभूताभितः पशुः ॥३॥

(मनु १०।२४-२५-२६) ।

आकृति मूलमयी है, प्रकृति प्राथमयी है, अहङ्कृति मनोमयी है । मूलप्रधान आकृतिमात्र के सम्बन्ध आकृति-प्रकृति-अहङ्कृतिमात्र— म ही इस महाज्ञात्मा को भूतात्मा कहा गया है । यही मूर्तों का जनक है । अपिच कर्मात्मा “अहङ्करोमि” इस अभिमानस ही कर्मकर्ता कहा गया है । यह अहंभाव वही अहं कृति-महाम पर प्रविष्टित है । इसलिये श्री महानात्मा के लिए—“य करोति तु कर्माणि” यह कहना स्वाभाविक होता है । “जीवामा” नाम से प्रसिद्ध कर्मात्मा को नाशमात्र का कर्मकर्ता है । बस्तुतः यह अर्जुनवत् निमित्तमात्र है । शुभाशुभ कर्मों की गति को महानात्मा ही है । उस में जैसे संस्कार रहते हैं, कर्मात्मा को जैसे ही कर्म करने पड़ते हैं । यदि महात्मा में सत्त्वगुण का विकास रहता है, तो इसे भूतार्थिक कर्म करने पड़ते हैं रज के अनुगम से इसे राजस कर्म में प्रवृत्त होना पड़ता है एवं तम की प्रधानता से तामस कर्म का अनुगमन करना पड़ता है । महाम ही अन्यप्रवृत्ति का मुख्य द्वार है । इन्हीं मन्त्र कार्यों से महाम को ही कर्मकर्ता कहा जासकता है । यही तो अन्तर्यामी—रूप से जैसा जाहता है, कर्मात्मा से जैसा ही करता संचा है । इच्छा महात्मा की है कर्म जीवामा का है । जिसकी इच्छा होती है उस इच्छा से होते, वास्तव कर्म वही का कहा गया है । रामा की इच्छा से वन की इच्छा से राजरा हुआ भी वनिक वनकर्म से

• वेदात्मकतया ज्ञान शीघ्रमिन्द्रियनिग्रहः ।

कर्मप्रवृत्तिमभिवृत्त्या च तात्त्विकं गुणवृत्तयम् ॥

(मनु ११।३०)

† आरम्भकविताऽनैकमस्तत्कालपरिमहा ।

विषयोपलेशावावसः शब्दतः गुणवृत्तयम् ॥

(मनु १२।३९)

‡ ज्योमः स्वप्नोऽवृत्तिः शीघ्रं नास्तित्वं मिमन्वृत्तिः ।

वाचिष्णुता ममावृत्तः तामतः गुणवृत्तयम् ॥

(मनु ११।३३)

प्रकृत होना है। वह कर्म रागा का कर्म कहलाता है। राजाने उसे दण्ड दिया है। यही दण्डकार होना है। ठीक यही परिस्थिति यहा समझिए। कर्म करता है जीवात्मा, परन्तु इच्छा है अन्तर्धर्मी महा नात्मा की—“केनापि देवेन हृदि स्थिताऽहं यथा निपुक्तोऽस्मि तथा करामि”। इसी लिए प्रभुन कर्मान्ता के द्वारा होने वाले कर्म की चेष्टा कर इच्छाप्रयत्न महान को हो कर्मकर्ता मान लिया है। इच्छा महान की है कर्म जीवात्मा का है साधन चक्र है। इन तीनों के समन्वय में कर्म का स्वरूप निष्पन्न होता है। इस से इतना ध्यान रखना पड़ेगा कि, यदि प्रज्ञानमन महानात्मा की इच्छा के अनुगम रहता हुआ बुद्धि का अनुगमन करता हुआ कर्म का उपकारक बनता है, तब तो जीवात्मा बन्धन से मुक्त रहता है। यदि विज्ञान की चेष्टा कर महर्षिध्या की अपना अनुसर बनाता हुआ प्रज्ञानमन स्वतन्त्र हो जाता है तो तत्काल प्रकृत कर्म जीवात्मा के मुख दुःख का कारण बन जाता है। इसी दृष्टि से “येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च क्षन्तुम्” यह कक्षागता है। आहंवादात्मक जीव प्राथिम्यपूर्वक समानबन्धों है परन्तु महानात्मा विज्ञानात्मा की शक्ति विषमबन्धों है। आकृति-पद्वि-किनी की नहीं मिलती। इसी पावन्य की वतलान के लिए “सहस्रं सर्वदेहिनाम्” यह कहा गया है।

प्रकारान्तर से जो समझिए कि महान-विज्ञान दोनों एक भेद की वस्तु हैं। प्रज्ञान-जीव दोनों एक भेद की वस्तु हैं। प्रज्ञानपुत्र जीवात्मा सब से समान है महानपुत्र विज्ञानात्मा सब से भ्रममान है। महान और विज्ञान के तारक्य में जीवात्मा के कर्मरूप में कक्षाव्यवस्थाओं का समावेश होता है। प्रज्ञान-जीव, दोनों मूलप्रधान हैं। इस मूलभाग से महान और प्रज्ञान दोनों संरक्षित रहते हैं। भूनों से कुछ वे हों तो जीवात्मा को बाह्य कारण से प्रभावित कर इस के आत्मविभाता बन हुए हैं। जीवात्मा का इन दोनों में अन्तरी सामग्री मिलती है इसे वही के अनुसार सुखदुःख महाना पड़ता है। विज्ञानपुत्र इसी त्रिगुण महानात्मा के अनुगम से जीवात्मा की कृतम-मध्यम-प्रथम-गणियों का आश्रय लेता पड़ता है। मरुत की आचारमूर्ति ज्ञानमय-मन है रज की प्रतिमा विज्ञानमय प्राण है तब तब का प्रभव कार्यमय वाक्तरुण है। मन वाक्-वाक्-प्रभव आत्मा ही महान के सम्बन्ध से सत्त्व-रज-तमोगुण से विकसित होता है। तभी ता इन्हें-आत्मगुण कहना व्यापक होना है। मन प्राण-वाक् ये तीनों ही त्रिगुण हैं। इस त्रिगुण-करण से आत्मा के प्रत्यक्ष एवं मन-प्राण-वाक् तीनों की सत्ता मिल जा जाती है। त्रिगुण-करण में ही धान के ३ विभक्त हो जाते हैं। इन ३ आत्मविभक्तों के कारण ही आत्मगुणायारेण प्रतिष्ठित सत्त्वादि प्राकृतिक गुणों के भी अन्तिम परि शेवानुसार ३ विभक्त हो जाते हैं।

सत्त्वप्रकृतिक महान कृतमगति का कारण है रजःप्रकृतिक महान मध्यमगति का कारण है एवं सत्त्व-रज-तमोगुण महानात्मा—तमःप्रकृतिक महान अधमगति का प्रवर्तक है। ये इस के स्वर्ग विभाग हैं। सत्त्व-रज-तम तीनों ही एक त्रिगुणकरण से पुनः कृतम-मध्यम-प्रथम-भेद से तीन तीन भागों में विभक्त हैं। रजस्तमोगमित युक्तिप्रकृत कृतम सत्त्व है तम-सत्त्वगमित रज मध्यम सत्त्व है, रज-सत्त्व

विशेषविषय—

हमारी बचावधानी से इस तालिका का प्रचलन नगण्य न रहे सके। अतः इसे स्वतन्त्ररूप से प्रकाशित कर पुनः समाविष्ट करना पड़ा, जिसका समावेश पाठकों को पृ० सं० २४२ वें पृष्ठ की २५-२६ की पंक्तियों के मध्य में सम्मिलित कर अनुमष्ट करना चाहिये।

—सम्पादक

आ-	दृष्टमासः	रक्तमासः	वृष्यमासः	—त्मा
	मानसः मनः	क्रिया प्राणः	वर्षा वाक्	
१-मन-	१-मन-संक्षयः [६]	१-प्राण-रजः [१०]	१-वाक्-तमः [८]	१-सत्त्वम [६]
	२-प्राण-रजः [१०]			
	३-वाक्-तमः [८]			
२-प्राण		१-प्राण-रजः [१०]	२-मन-संक्षयः [६]	२-रजः [१०]
		२-मन-संक्षयः [६]		
		३-वाक्-तमः [८]		
३-वाक्			१-वाक्-तमः [८]	३-तमः [८]
			२-प्राण-रजः [१०]	
			३-मन-संक्षयः [६]	

गमित तम अपम्य सख है। इसी प्रकार रजस्तमोगमित सख उत्तम रज है, तम-सखगमित रज मध्यम रज है रज-सखगमित तम अपम्य रज है। एवमेव तमोरजोगमित सख नथम तम है तम-सखगमित रज मध्यम तम है एव सखरजोगमित तम अपम्य सख है।

पहिले श्रुत योनियों का क्रम देखिए। सखप्रकृतिक जीव येत्रयोनियों में जन्म लेते हैं, रज-प्रकृतिक जीव मनुष्ययोनियों में पारण करते हैं एवं तम से अमिमूत जाव कुमि-कीट-पक्षी-पशु मेवमिन्न तिर्यक् योनियों में जाते हैं। इसी साधन्य गति का उल्लेख करत हुए मनु कहते हैं—

देवस्य सात्त्विका यान्ति मनुष्यस्य च राजसा ।

तिर्यक्त्व तामसा निस्पमित्येषा त्रिविधा गति ॥१॥

—मनु ११४०।

आगे जाकर ज्ञानजनित-अथवा ज्ञानात्मक भावनामस्कार, एवं कर्मजनित-अथवा कर्मरूप वासनामस्कार के कारणसे एक प्रत्येक गति पूर्वकचनानुसार उत्तम-मध्यम-अथवा भेद से तीन तीन भागों में विभक्त हो जाती है। चातु-उपचातु-रज-उपरज-विज-उपविज-आपवि-वनस्पति-आदि व्यावर योनियों कुमि-कीट-मत्स्य-मर्प-क्षुद्र-गौ-अथवा सामान्य पशु, मृग-गाव्यादि जन्म विराप पशुयोनियों रज-मत्स्यगमित तमोमयी अपम्यगति से सम्बन्ध रखती हैं। हाथी-अश्व-शूद्र-श्लेष्म-सिंह-व्याघ्र-वराह (शूकर) आदि योनियों का सखतमोगमिता रजोमयी मध्यमा तामसी गति से सम्बन्ध है। सुपर्ण (गरुडपक्षी) कुटिल मनुष्य राजस, पिराज, इन का रजस्तमोगमिता सत्वमयी क्तमा तामसी योनि से सम्बन्ध है।

सृष्ट (जत्रियों के बखसकर) नर, मछुपेडा, अस्त्रक्रयविक्रयकत्ता, धूर् (नृपा) मयादि में प्रमत्त रहने वाले पुरुष, इन सब का रज-सखगमिता तमोमयी अपम्या राजसी यानि से सम्बन्ध है। अमि पितृ राजा जन्मना सन्निय, राजाओं के कुलपुराहित, वातमुद्रमें अग्रणी प्राडविद्याकीदि, इन सब का सखतमोगमिता रजोमयी मध्यमा राजसी योनि से सम्बन्ध है। राजावे शुद्ध, यद्य लौकिक व्यवहारों में निपुण लौकिकमनुष्य, सचापर्म में निष्ठात समक, अप्सराएँ इन सब का रजस्तमोगमिता सत्व मयी क्तमा राजसी योनि से सम्बन्ध है।

जानमत्वाभमी उपस्वी, सम्पासाभमी यति, जयना ब्राह्मण, पुष्पकादि विमानों के संचालक विद्याधर, जगदीश्वर सम्पूर्ण नक्षत्र, विविध देव्य, इन सब का सखरजोगमिता तमोमयी मध्यमा सात्त्विकी गति से सम्बन्ध है। यक्षकर्ता याज्ञिक, माखपरीक्षक श्रुति, देवप्राण साक्षात्कर्ता भीमदेवता एवं अमिमानी देवता, जगदीश्वर ब्रह्म, वत्सर पितर, साध्यादि देवता, इन सब का सखतमोगमिता रजो मयी मध्यमा सात्त्विकी योनि से सम्बन्ध है। ब्रह्मा-विश्वसूतदधर्षि, धम्म, महान्, अव्यक्त-इन का रज

रामोर्गमिवा सर्ववर्गयो वत्तमा सावित्री गति स सम्भव है। इस प्रकार—“त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्न-
सत्तारः सार्वभौतिकः” (मनु ११।११) भगवान् मनुक इन शब्दों के अनुसार सम्पूर्ण भौतिक विश्व नि-
तकृष्ट इसी त्रिगुणमूर्ति महानिधि पर प्रतिष्ठित है। यदि विद्याकर्म के सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतर विभागों का
विचार किया जाता है तो यह चर्चा विचर्य-अनन्तकोटि में परित्यक्त प्राप्तावा है। अतीवामगलक मूर्तिविधि
अतुरोक्ति-क- (८४ ०० ० श्रीरामी कान्ठ) संख्या पर इस योनिविभाग का विभाग माना है। सर नाभाक
इसी योनिवत् को अक्षयों रत्न कर उपनिषद्भुति कहती है—

यो पार्ति योनिमिचित्तुस्त्येको विश्वानि रूपाणि यानीश्व सदा ।

अपि प्रकृत कपिल यमस्तमप्र ज्ञानैर्विभर्षि आपमान च पम्मेत् ॥

(रवे ३० ११)

उपनिषद् मानव-कालविज्ञान के अनुसार विज्ञापार्थक्य का यह मर्त्योपनिषद् विहित होगा होगा कि,
पार्ति महानिधमा—वागव में आपात्मसत्ता में एक ही आत्माका साम्राज्य महा अपितु सम्प्रभु से अतक
उन्नायी है। इस विभिन्न उन्नायियों को आपक को एक महा उन्नायी है वह शास्त्रानिमित्त कल्पकर्मप्रपन्न
से सर्वथा बहिर्भूत है। अस्तु प्रकृत में महानिधमा का मुख्यनुवाद यह रहा है। सर्वाधिष्ठाता पित्राद्य
मूर्ति यह महानिधमा “सुक्र” में प्रतिष्ठित रहता है। हमारा (पुत्र्य का) एक सुक्र ओपविषी का (अन्न का)
रस है। ओपविषी में यह रस कटुमा से आता है। आन्त्र सीम्बरमगमित सीर आन्त्ररस से अन्त्रविषी
की उत्पत्ति होती है, यह सीरसगमित आन्त्ररस से ओपविषी की स्वरूप निष्पत्ति है जैसा कि आरम्भ
की ‘अमृतारमविज्ञानोपनिषद्’ में विस्तार से बताया जा चुका है। शुक्लरस में प्रधानरूप से
पूर्विमा-स्ति में सीरप्राय कृता मन्त्र्य आन्त्रमोम का पान कर आता है। अतः इन दिनों में यह आन्त्रम
पुर्णरूप से मूत्रक में एवं मूत्रक में प्रतिष्ठित ओपविषी में नहीं आता जाता। परन्तु अब आन्त्रमा सूक्ष्म
एवं वृक्षी के मध्य में आता है तो इस कृष्णरसका में आन्त्रमोम को वृक्षी पर आने का अवसर
मिल जाता है। आन्त्रमोम में पित्राद्य प्रतिष्ठित है। इसी आधार पर विधुर्धमार्गे पितरो वसन्ति’ यह
कहा जाता है। पूष कवनामुमम अमावास्यातिथि में मोम अतिथय मात्रा से वृक्षी पर आता है अतएव
अमाको पितृतिथि कहा जाता है। इन सब विषयों का आगे के प्रकरणों में विस्तार से निरूपण होनाका है
अतः प्रकृत में कहकर यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि ओपविषी सोमरसमयी, त्रिधा सोमरसप्रधाना है।
आन्त्रमोम में ही पारमप्रय महान् प्रतिष्ठित है। महान् ही पितर है। इस महामूर्ति पित्राद्यनुक्त ओपविषरस
ही रस-अन्नक क्रमिक विद्याकलन से रस-असुक्र-मांस-मेद-अस्थि-अम्बा-सुक्र, इन सात आनुषोका
स्वरूप निष्पन्न होता है। यही मीन्यह्यक संवागसूत्र द्वारा सात पीढ़ी पर्यन्त विवृत होता है। अर्थात् सात
वर्ग पर्यन्त इस एक महान् का अर्थ व्याप्त रहता है।

महद्विवर्त्त—

- १—रजस्तमोगमित-सप्त-मन (धानम्) रवेतवर्त्त — उषया सात्त्विके गतिः
 २—नष्टतमोगमित-रज-प्राण (क्रिया) राक्षवर्त्त — मध्यमा सात्त्विके गतिः
 ३—सत्तजोगमित-सप्त-वाक् (अर्थ) कृष्णवर्त्त — प्रथमा सात्त्विकी गतिः

सत्त्वं-मन

रवेतमा

- १—मरुतमोगमित-रज-प्राण (क्रिया) रवेतवर्त्त — भेष्टा राजसी गतिः
 २—रजस्तमोगमित-सप्त-मन (धानम्) राक्षवर्त्त — मध्यमा राजसी गतिः
 ३—सत्तजोगमित-सप्त-वाक् (अर्थ) कृष्णवर्त्त — क नष्टा राजसी गतिः

रजः प्राण

राक्षमा

- १—सत्तजोगमित-सप्त-वाक् (अर्थ) रवेतवर्त्त — निकृष्टा सामसी गतिः
 २—सत्तमोगमित-रज-प्राण (क्रिया) राक्षवर्त्त — मध्यमा सामसा गतिः
 ३—रजस्तमोगमित-सप्त-मन (धानम्) कृष्णवर्त्त — ज्वन्या सामसी गतिः

तमः वाक्

कृष्णमा

ओपपिपों में दधि-घृत-मधु-अमृत, ये चार तत्त्व माने गए हैं। पार्थिव पनरस दधि है, आन्त रस्य सामान्य रस घृत है और विष्य रस मधु है, पारमेष्ठ्य सौम्य रस अमृत है। अन्न का जाना भाग पार्थिव है यही दधि है—“दधि देवास्य लोकस्य रूपम्”। आटे को गौंने पर एक प्रकार के स्नेह (चिकनाइ) तत्त्व का प्रत्यक्ष होना है। यही आन्तरिक्य तरलभाग घृत है—“घृतमन्तरिक्षस्य”। प्रत्येक अन्न में एक प्रकार का मिठास होता है। यही सौर विष्य पदार्थ है। यही मधु है—“मध्वमप्य” (शत० अ० १।१३ कूर्म विवित्राहस्य)। प्रत्येक अन्न में एक प्रकार का जायका होता है स्वाद होता है। यही पीषा अमृत है। इन चारों रसों के सम्बन्ध से कर्म्मसि महात् आकृति-प्रकृति-अर्हकृति का जनक बन जाता है। आकार आकृति है स्वभाव प्रकृति है इन्द्रियसामान्य अहकार, किंवा अर्हकृति है। दधि-घृत के सम्बन्ध से शरीराकृति का निर्माण होता है, घृत-मधु से प्रकृतिभाव का उदय होता है, एवं मधु-अमृत से अर्हकृति का जन्म होता है। इस से वह भी सिद्ध हो जाता है कि आकृति-प्रकृति-अर्हकृति-मात्रों का जन्म-मध्यम-अधम-मात्र प्रभातरूप से अन्न से ही सम्बन्ध रखता है। इन तीनों की स्वरूप-रक्षा क लिए, एवं विकास क लिए अन्न का निबन्धन (ज्ञान पान का निबन्धन) प्रत्येक परिस्थिति में अपेक्षित है। महद्गर्भज्जन्म शुक्र से उत्पन्न होने वाली प्रजा के लिए आकार-स्वभाव-इन्द्रिय सामर्थ्य, तीनों कर्म्म-विधानुसार सर्वथा नियत रहते हैं। एक इमारे के वृक्ष की दूध से सींफने पर भी वह पिण्डवृक्ष क समान दीर्घकाय नहीं बन सकता। वृक्षादि का जितना आयोजन (आकार-आकृति) नियत होता है वह बीजस्वरूप से उसी महद्गर्भ में पड़ित से ही प्रतिष्ठित रहता है। महानत्मा की इस बीजावस्था के वास्तविक स्वरूप को ब समझ कर कितने ही दार्शनिक (अमरक) बीज में ही महद्गर्भ वृक्ष मानते हैं। वृक्ष बीज में प्रतिष्ठित नहीं है, अपि तु वृक्ष की बीजावस्था वहां प्रतिष्ठित है। महानात्मा की प्रतिष्ठा शुक्र है इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जिस पुद्गल का शुक्र अधिक मात्रा में लब्ध हो जाता है, उसकी आकृति-प्रकृति-अर्हकृति, तीनों मात्र विराट् आते हैं। आन्त्र महा नात्मा का यही संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है।

दूसरा ह प्रधानात्मा। इसी आन्त्रभाग से सर्वेन्द्रियाधिष्ठाया प्रधानात्मा (अतीन्द्रिय मामसे प्रसिद्ध आन्त्र-प्रधानात्मा—सर्वेन्द्रिय मन) का स्वरूप निष्पन्न होता है। अन्त्रमा में पानी, चार सोम दो तत्त्व हैं। पानी पारमेष्ठ्य है, सोम आन्त्र है। समान स्थानीय होने से दोनों दोनों में ओतप्रोत हैं। “भक्षो वा आपः” क अनुसार आन्त्र अपृत्त्यव भक्ष है। इसका प्रधान सम्बन्ध अहम् से है। सोम से मन का सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में सोम-गर्भित भक्ष (आप) महाम् है एवं अन्त्रगर्भित सोम मन है। शुक्र आपोमय है सोम इसका गर्भ में है। मन मोतमय है अपृत्त्यव इनका गर्भ में है। महाम् की प्रतिष्ठा वहां शुक्र है, वहां मन की प्रतिष्ठा इहम् है—“इत्प्रतिष्ठ यद्विरि जविष्ठ तन्मे मन शिवसकन्दरमस्तु” (पञ्च स ३४।५)। महानात्मा शुक्र में रहता है, प्रधानात्मा इहम् में रहता है। महानात्मा चरवतिष्ठ है, प्रधानात्मा उत्पन्न सृष्ट है। अर्थात् महानात्मा तो जन्ममरण में ही विरहित है। शुक्रमूर्ति महाम् तो जन्म का ही कारण है, परन्तु प्रधानात्मा का पुरुष विकास जन्म के पीछे सोलहवें वय में होता है। जोहरापवां अन्त्रभाक क्रमिक मात्र से सम्बन्ध

रक्ते वाक्का प्रधानमन सोलह वर्षे पर्यन्त अपरिपक्व रहता है अन्तर तसमें आत्मनिर्मरता का उद्भव होता है। इसी आधार पर—“प्राप्ते तु पौडस्य वर्षे पुत्र-मित्रवदाचरेत्” यह आभासक प्रतिष्ठित है। शुक्लस्य रम्भक विराकजनस ही आगे जाकर ओष्ठ रूप में परिणत होता है। शुक्ल पार्श्ववर्ण-प्रभाम वा ओष्ठ आन्तरिष बायव्यपातु प्रपान है। शुक्ल में हमने पार्श्व आन्तरिष्य-दिष्य तीन पातु बतलाए हैं। शुक्ल में तीनों हैं, आज में आन्तरिष्य बायव्य, दिष्य माग्ध, वा पातु हैं। जब विराकजन-मर्किया से आन्तरिष्य बायव्य पातु मी निकल जाता है, तो शुद्ध सोमरस रह जाता है। यही विशुद्ध दिष्य आन्तरम मन है। इस क सब रोहसी त्रैलोक्य क पुलाकानिष्ठावा मयवा इन्द्रप्राण का सम्बन्ध रहता है। रक्ष्म्य वर्ष रोहमी मेहसे त्रैलोक्य को प्रकार का है। केवल पार्श्व अर्द्धाणो स सम्बन्ध रहन बाका त्रैलोक्य “स्त्रीरूप त्रैलोक्य” कहलाया है। इसी का नाम महाशुक्ली है। इस महाशुक्ली का त्रिहृन् स्नाम पृथिवी है, पञ्चदरास्नाम आन्तरिष है, वर्ष पञ्चविंश स्नाम पुलाक है। तीनों में कमरा अग्नि-वायु-आवित्य, बचता प्रतिष्ठित हैं। इन्हीं तीनों स बरवानर-वैजस-प्राग्रूप पार्श्व कर्मात्मा का स्वरूप निष्पन्न होता है जैसा कि आग की उपनिषत् में विस्तार से बतलाया जल बाका है। पृथिवी पृथिवी लोक है सीरमरहक पुलाक है, वानों क मन्त्र का स्नाम आन्तरिष है। यही वृक्ष रोहसी त्रैलोक्य है। इन तीनों में भी कमरा अग्नि-वायु-इन्द्र, ये तीन दिष्य बचता प्रतिष्ठित हैं। इन्हीं तीनों से आभ्यात्मिक शुक्ल-आज-मन इन तीनों का निष्माण होता है।

स्त्रीरूपत्रिलोकी

रोहसीत्रिलोका

पार्श्व	<p>{ ५० १-त्रिहृन्स्नाम-अग्नि-वृक्षो बरवानरः २-पञ्चदरास्नाम-वायु-तल्लैवस ३-पञ्चविंशस्नाम आवित्य-तल्लैव प्राग्र }</p>	— कर्मात्मा	<p>{ १-पृथिवी-अग्नि-वृक्ष शुक्ल २-आन्तरिष्य-वायु-तल्लैव-मोक्ष ३-सूर्य-इन्द्र-तल्लैव-मन }</p>
---------	--	-------------	--

यह कहतानुसार मन में सोम, वर्ष सीर इन्द्रप्राण मेह से हो तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। इस पर विज्ञान क प्रतिबिम्बित होने स यह भी चिह्न से शुक्ल हो जाता है। वह प्रतिबिम्ब कीम सोम पर प्रतिष्ठित होता है, इससे वह सोम किमय बनता हुआ जाग्रतव बन जाता है। आज यह मन का चिह्नशुक्ल यह सोममाग प्रका नाम से व्यवहृत होता है। प्रका वर्ष प्राण्य की समष्टि ही प्रधानमन है। विज्ञान-प्रज्ञान, वानों परवर पार्श्व क सम्बन्ध स सपरिष्कृत हैं—स वा एष प्रधानतमा विज्ञानतमना सपरिष्कृतः। जब तक आभ्यात्मनस्त्वा में प्रधान ज्ञान प्रतिष्ठित रहता है तभी तक विज्ञान की स्थिति रहती है। चित्तापर पय्यायक मन की स्वस्वता पर ही बुद्धि का विकास होता है—“स्वप्ने चित्ते बुद्धयः सस्फुरन्ति”। यदि य इस का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है कि यदि कुछ दिव तक अन्न नहीं खाया जाता है तो अन्नमय प्रधानमन विविध हो जाता है। प्रधान क स्थिति होने ही इसी पर प्रतिष्ठित रहने बाका चिह्नपना बुद्धि विविध बन

जाती है। मूल मनुष्य की अक्षत ब्रह्मा भी काम नहीं करती—“अनुसृष्टि न प्रतिमाति किञ्चित्”। मूल को कुछ नहीं समझता। सुम्नता बुद्धि का काम है। अपने प्रतिष्ठाभरातक की शिक्षिता से आद्य यह स्वयं भी अप्रतिष्ठित सी हो रही है।

बुद्धिप्रतिष्ठारूप यह प्रधान-मन ही सम्पूर्ण इन्द्रियों का अभिप्राय है। इस में हमने सोम विद्रा प्राण ये तीन तत्त्व वतकाए हैं। सोम मूलभाग है अति ज्ञानमाग है, प्राण प्राण तत्त्व है। वाक्-प्राण-अप-भोत्र-मन, इन पाँच (वैदिक) इन्द्रियों के मेल से इस प्रधान की ज्ञान मूल प्राण, इन तीनों कलाओं के पाँच पाँच विवरण हो जाते हैं। पाँच प्रधानात्रा हैं, पाँच मूलमात्रा हैं, पाँच हो प्राणमात्रा हैं। इन १५ हों कलाओं की मूलप्रतिष्ठा त्रिकल स्वयं प्रधान है। ‘प्रज्ञानोद्धारविद्या’ के अनुसार पञ्च मूलमात्रा मकार है पञ्च प्राणमात्रा उकार है, एवं पञ्च प्रधानात्रा अकार है। सर्वात्मन्य स्वयं प्रधान अर्द्धमात्रा है। ममति ओद्धार है। अतः मात्रिक प्रधान की प्रेरणा से ही सब इन्द्रियों अपना अपना निश्चय करने में समर्थ होती हैं। प्रधानगत प्राणमूर्ति इन्द्र के सम्बन्ध से इन्द्रियों को इन्द्रिय कहा जाता है। सभी इन्द्रियों अन्तर्मुख हैं। स्वयं इन्द्रप्राण तत्त्व है, आत्मा है अतः पञ्च इसे ‘सुख्यप्राण’ कहा गया है। पाँचों ऐन्द्रियक प्राण अक्षरूप हैं, अतः पञ्च इन्हें ‘प्राणा’ कहा गया है। ये ही इन्द्रिय प्राण ‘अनुचीनप्राण’ नाम से भी प्रसिद्ध हैं। ‘नियतविषयस्वमिन्द्रियस्वम्’ के अनुसार इन्द्रियों के स्व स्व विषय सर्वत्र नियत हैं। दूसरे शब्दों में जो कहिये कि जिन का विषय नियत है वे ही इन्द्रिय नाम से व्यवहृत होती हैं। ‘गुणानां च परार्थस्वादसम्बन्ध समस्वात्’ के अनुसार गुणमूल इन्द्रियों का परस्पर में कोई सम्बन्ध नहीं है। असम्बन्ध ही इन का सम्बन्ध है, अवाप्त्यर्थ ही इन का आप्त्यर्थ है। सब अपने अपने रूप-रस-गन्धवि विषय-ग्रहण में स्वतन्त्र हैं। इन इन्द्रियों में मन सुखदुःख (अनुकूल वेदना-प्रतिकूल वेदना) का अनुभव करने बाजा अतः नियतविषयी बनता हुआ इन्द्रियकोटि में ही प्रविष्ट है। इस इन्द्रिय मन का बैरचानर-वैरस-प्राणमूर्ति कर्मात्मा का प्राणमाग से ही सम्बन्ध है। प्राण ही इन्द्रिय मन है। इसी के लिए ‘मन पशुानि मे हृदि’ (अथर्व स० १५।५।४) यह कहा गया है। इन्द्रियविद्यावा प्रधान मन स्वतन्त्ररूप से कर्म करने में समर्थ होता हुआ अपने ऊपर भावना वासना रूप से कर्म का बोध कर लेता है। परन्तु प्राणरूप इन्द्रिय मन केवल योग में समर्थ है। यही कारण है कि विज्ञान-प्रज्ञान विरहित प्राण केवल योग कर सकता है मया ईश्वर उपास्य नहीं कर सकता। पाँचों इन्द्रियों में प्रधान अनुसृत रहता है अतः पञ्च इस कर्मेन्द्रिय-मन कहा जाता है। यह स्वयं इन्द्रिय नहीं है, अतः पञ्च इसे अनिन्द्रियमन नाम से व्यवहृत करने में कोई आपत्ति नहीं होती।

• इन्द्र-ऐन्द्रियवि-मयि चारवामा ।

अथर्व स० ११३।१।

इन्द्रियवि शतकतो वा ते बनेप पञ्चसु । इन्द्र तानि च भावने ॥

अथर्व स० १०।२०।२।

अब तक आपने अध्यात्मसंज्ञा में एक ही मम समझ रक्खा होगा। परन्तु आजसे आप अपना प्रकल्पोपसंहार—यह अधैतिक विरवास ब्रह्म हीविष्णु। अध्यात्म में एक नहीं दो नहीं, तीन नहीं, अपितु चार मन हैं। अरूपय—महान्—प्रज्ञान—प्राज्ञ, जेब से मन चतुर्धा विभक्त है। अध्ययमन इन्द्रोदसी यत् एवं इन्द्रोदसीप्रज्ञ नाम से प्रसिद्ध है। महत्-मन सूक्ष्म कहलाता है। प्रज्ञान मन सर्वेन्द्रिय है। एवं प्राज्ञ-मन इन्द्रियमन नाम से प्रसिद्ध है। प्राज्ञमन कर्मांतरों की प्रतिष्ठा है। प्रज्ञान मन विज्ञानात्मा की प्रतिष्ठा है। महत्-मन अमृतात्मा की प्रतिष्ठा है। एवं अध्ययमन सब की प्रतिष्ठा है। इन में अध्ययमन का एक स्वतन्त्र विभाग है। महत्-विज्ञान प्रज्ञान, तीनोंका एक स्वतन्त्र विभाग है। इन तीनों का कर्मगति स कोट सम्बन्ध नहीं है। परन्तु इतना ध्यान रखिय कि आत्मकर्म की मूलप्रतिष्ठा शक्तिस्वरूप पर प्रतिष्ठित पितृमायामूर्ति महानात्मा ही है। सम्पूर्ण आत्मविवर्धनों में से आत्मा एक मात्र महानात्मा के लिए ही किया जाता है। महान् के सम्बन्ध में अभी बहुत कुछ वक्तव्य है। क्यों कि इस ग्रन्थ का सम्पूर्ण कलरवावित्त इसी पर अवलम्बित है। अतः आगे आने वाले पितृप्रायश्चित्तप्रत्यक्ष प्रकरण के लिए इसे जोड़ते हुए प्रकृत प्रकरण को यही समाप्त कर क्रमवार्ध 'प्रायात्मा' की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

तदित्य-आकृति, प्रकृति-अहकृतिमेदेन विकृत—महत्-प्रज्ञानमेदेन

द्विकृतो वाय महानात्मा, चन्द्रमा वा व्याख्यातो ब्रह्मः

समाप्ता चेवं आठविज्ञानाध्यायः—आत्मविज्ञानोपनिषदि प्रथमार्था प्रथमलप्यहस्मिकायां

“महदात्मविज्ञानोपनिषत्”—पञ्चमी

अथ

समाप्ता अथ

‘महानात्मविज्ञानोपनिषत्’ पञ्चमी

५

—X—

सम

‘आत्मविज्ञानोपनिषद्—(प्रथमखण्डे)

‘प्राणात्मविज्ञानोपनिषद्’ यथी

५

(६) { १—अधिदेवतम् → पृथिवी (पूर्णमदः) } (५)
 २—अभ्यात्मम् → प्राण (पूर्णमिदम्) }

अथ

आद्यविज्ञानान्तर्गत-‘आत्मविज्ञानोपनिषद्’ प्रथमायां—

“प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्”—षष्ठी

६

प्राणात्मा-वैकारिकात्मा-पृथिवी : (५)

- १—त्रिष्टुतोऽग्निः (वैश्वानरात्मा) }
 २—त्रिष्टुतो वायुः (तैजसात्मा) } → प्रत्यगात्मा (१)
 ३—त्रिष्टुत आदित्य (प्राञ्जलात्मा) }
 ४—भूनाथ (ईशतात्मा) } → प्रेतात्मा (२)
 ५—चित्पाणिः (वाय्वात्मा) } → क्षीरात्मा (३)

सोऽय पञ्चकलस्त्रिकलो वा प्राणात्मा-वैकारिकात्मगर्भित प्राकृतात्मा वा पृथिवी

१—वात्रांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि श्रद्धाति नरोऽपराणि ।

तथा क्षीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि र्छयाति नवानि देही ॥

२—आतस्य हि घृणो मृत्युर्घृणं जन्म मृतस्य च ।

तस्मात्परिहार्येऽर्थे न स्व आदितुमर्हसि ॥

(६) प्राणात्मस्वरूपपरिचय — (ज्ञान-क्रिया-अर्थमय प्राणात्मा)

१—रयिर्न विभ्रा स्रो न सद्यार्थुर्न प्राप्नो नित्यो न घनुः ।

तस्मा न भुविर्गता सिपक्ति पपा न घेनुः क्षुधिर्निमात्रो ॥ अह्न० ११५११ ।

२—विधुं द्रव्य समने बहूना युवान सन्तं पलितो जगार ।

देवस्य पस्य काव्य महिस्थाया ममार स ध्य समान ॥ अह्न० १०५१५ ।

३—युदा क्रमापि जनयन्निष्पीडा अधस्तिहा विषमनास्तुरापद् ।

पीत्वी सोमस्य दिव आ वृषानः शूरो निर्बुधापमहस्यु ॥ अह्न० १०५१८ ।

४—डा सुपर्णा समुद्रा सञ्ज्ञाया समान वृष परिपम्पभावे ।

तपोरन्यः पिप्पल स्वाहस्थनघ्नन्नन्योऽमिषाकलीति ॥ मुण्डको० ३११११ ।

५—समाने वृषे पुरुषो नित्योऽजीवया क्षीयति सुखमलः ।

क्षुद्र यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतयोक्तः ॥ मुण्डको० ३१११२ ।

६—एका वद्री सर्वभूतान्तरात्मा एक रूप बहुभाष करोति ।

तमात्मस्य येऽनुपश्यन्ति भारास्तेषां मुखं ध्राष्टव नेतरेषाम् ॥ ऋग्वे० १०५११२ ।

७—गुणान्वयो यः फलकर्मकृता कृतस्य तस्यैव स बोधमाक्ता ।

स विषयकपक्षिगुणस्त्रिभरमा प्राणाधिपः मन्त्ररति स्वकर्मभिः ॥ रण० १०५११० ।

८—इन्द्रियाणि ह्यनाहुर्विषयास्तेषु गोचरान् ।

आत्मेन्द्रियमनायुक्तं 'माक' 'स्वाह्मर्नोपिण ॥ ऋग्वे०

९—प्राप्ता ध प यः सबभूतैर्निमाति विद्वान् विद्वान् मयते नातिवारी ।

आत्मकीड आत्मरतिः क्रियावातेष मद्यविदां करिषुः ॥ मुरवका ३१११३ ।

१०—सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपाद् ।

स भूमिं विश्वतो हन्ताऽत्यविष्टरधाकगुल्म ॥ रण० १०५११४ ।

॥ ॐ प्राणात्मब्रह्मणे नमः ॥

प्राणात्मा—पृथिवी

‘प्राणो ब्रह्म’ स्यात्मा

अद्भुतमात्रो रवितुल्यरूपः सकल्पाद्भूतसमन्वितो य ।

बुद्धेरुपेनात्मगुणेन चैव आराधमात्रो ह्यपरोऽपिष्टः ॥ रच० ब० श. १ ।

स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाप करोति सर्वम् ।

स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव व्याप्तः परितुल्यमेति ॥ कैवल्योपनिषत् १।१२ ।

स्वप्ने स जीव सुखदुःखमोका स्वमायया कल्पितजीवलोके ।

सुषुप्तिकाले सकले बिलीने तमोऽभिभूत सुखरूपमेति ॥ कै० १।१३ ।

पुनश्च अन्तान्तरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः ।

पुरवदे क्रीडति यश्च जीवस्ततः सुजातं सकलं विचित्रम् ॥ कै० १।१४ ।

एतस्मान्मायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।

ख बापुर्ज्योतिरापञ्च पृथ्वी विश्वस्य भारिणी ॥ कै० १।१५ ।

व्याप्त-स्वप्न-सुषुप्त्यादि प्रपञ्चं यत् प्रकाशते ।

तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुक्त्यते ॥ कै० १।१७ ।

बालोपश्रुतभागस्य श्रुतवा कल्पितस्य च ।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ रच० ब० श. १ ।

पयोदकं दुर्गे बृष्टं परितेजनुप्रावति ।

एव धर्मान् पृथक् पथ्यस्थानेष्वनु विधावति ॥ कठोपनिषत् १।१४ ।

यद्यपि सर्वशास्त्रमूर्त्यस्य स्वतःप्रमाणभूत वेदशास्त्र में आत्मस्वरूपनिरूपण के अन्वय में किसी भी अविज्ञानमूला, तथा धार्मिकविज्ञानमूला अस्ति—चरं में त्रुटि नहीं है । तथापि विज्ञानदृष्टि के बिना प्रायः होमाने से विज्ञानात्मक वेदशास्त्र के वास्तविक तात्पर्य से हम बहुत पीछे हट गये हैं अथवा तो बहुत आगे बढ़ गये हैं । एक बात कहना है—वेद में विज्ञान का अन्वेषण करना शुभमतीतिका है । यह ईश्वर की

पवित्र बाली है (अथर्व १)। इस क द्वारा केवल आत्मोपामना कर्मोपायव्यवस्था का ही स्वरूप प्रतिपादित हुआ है। दूसरे दृष्टि का बर्णन व सम्बन्ध में इस स भी मर्यादित अनादित्वों हैं। वे महाभूमि वर में विज्ञान अथर्व मानव हैं परन्तु उनकी विज्ञानदृष्टि पारंपार्य-व्यक्ति-व्यवस्थाप्रवर्धक-मीतिक (अथर्व पञ्चमत्त मपावद) विज्ञान की ही अनुगामीनी बन रही है। वे कथक इसी में वेद का महत्त्व समझते हैं कि, कथमाव मीतिक विज्ञान क सम्पादक प्रतीत्य-व्यवस्थाओं न तार-वाकरलसद्विधियों-प्रयोगोपा-वेत्ते-वेत्त-व्यवस्था जो व्यावहारिक रूप हैं, व सत्र हमारे व्यवस्था में निहित हैं। फलतः मीमांसा-संज्ञिक के एकमत्तः विम्वद मन्त्राओं की दुराशा करत हुए व महाराष्ट्र व्यावहारिकों का स्वप्न देख रहे हैं। कितन ही महाभूमियों की दृष्टि में वेद कथक राष्ट्रनीति का निरूपण करने वाला नीतिराज्य है। एक सत्रजन ने अपनी इसी काल-निक भावना के लक्ष्य में वरार्थसमाप्त वर के सब मन्त्रों का राष्ट्रनीतिक अर्थ करने का स्वर्ण प्रवास किया भी है। किन्तु ही अर्थनिष्ठि कहते हैं कि वेद कथक व्यावहारिक है। वर में कितने ही वेदार्थ व्याप हैं व मय कथक अथर्व समन्वय से सम्बन्ध रखते हैं। कितने ही कृत्यगुण्येयियों की दृष्टि में वेद केवल लोकोप्य करित का दूसरे शब्दों में व्यावहारिक का ही निरूपक है। इन सब प्रपञ्चियों को हम अंगे बढ़ा हुआ करेंगे। मन्त्रमार्गानुवादी कम्पनानि साधारण व्यक्तियों की दृष्टि में कथ बोनों हैं वर आन्ति के संपादक बन रहे हैं। वेदार्थ क सम्बन्ध में सब स पहिला एक मुख्य कथक यह होना चाहिए कि इस अपने कर्मित-सिद्धांत की पुष्ट करने की दृष्टि स कथमन्त्रों को न केवल हुए मीमांसाराज्य प्रतिपादित प्रसन्न उपोद्घोष, हेतुता, अथर्व, निवाहकैव, कार्यकपवत्कमता, इन सबों सत्रियों की पूण मीमांसा करते हुए, उपक्रम उप महार पर पूर्व स्वात दत हुए, 'छन्दममामका वय, यस्माक छन्द आह तदस्माक प्रमाणम्' 'इव तनामन्दम्' 'सवर्णैकचतुष्कावयम्' तस्मान्छास्त्र प्रमाण स काव्याकार्यव्यवस्था' इत्यादि आन्तिद्वयों क अनुमात्र संस्था विषय की मित्रि क लिए शास्त्रीय प्रमाणों की व्यापार बनात हुए ही व्याप करते। तभी हम वेदार्थ निरूपण पर पहुँच सकत हैं। अभिविर्वातक मन्त्राव मनुष्य का सत्व माग स मन्त्राव व्युत्पन्न कर देता है। यदि एक शास्त्र-दृष्टि स वेदार्थ का उपोद्घोष किया जाता है, तो मन्त्र (मन्त्र)-आद्यगायक व्यवस्था में हमें विज्ञान, स्तुति इतिहास ज्ञान, कर्म उपामना ये ६ विषय वरव्यवहार होते हैं इस ६वों में स व्यवस्था प्रतिपादक गाथा-नारायणी-रहस्य-निदान-कृम्या, इन मन्त्रों के विस्तृत वर ज्ञान स विज्ञान वर इतिहास ये ६ विषय मनुष्य में विलीन होगु है। भारतीय विद्वानों का दृष्टि स वेद कथक स्तुति ज्ञान-कर्म-उपामना-इन चार ही विषयों का अनिवार्य बन रहा है। विज्ञान वर इतिहासदृष्टि क अभाव में ही आज हम वेद के वैचारिक अर्थ से परावृत्त बन गये हैं। वैचारिक विज्ञान क अभाव में ही आज हम व्याप-परमात्र-परलोच-व्यावहारिक-आज भारी विज्ञान मित्र विषय क स कथम स इद क भाजन बन रहे हैं। सब स पहिल व्यापका का ही विचार कीजिए।

आत्मा असृष्ट है निश्चित है, सर्वव्यापक है अग्रन्मा है यह ही शास्त्र का ही सिद्धांत विभिन्नरूपमयन—६। प्रसार स उत्क्रान्त आत्मा कर्मकृत-भागने क लिए साकान्तर में

जाता है, यह भी शास्त्रसम्मत पक्ष है शरीर के नष्ट होने पर आत्मा लोकान्तर में नहीं जाता, अपि तु वह यहीं विद्यमान होजाता है, यह भी वेदामित्य ही सिद्धान्त है। शरीर छोड़ने से पहिले जब आत्मा अपना नया शरीर पहिले से निश्चित करलेता है, तभी पूर्व शरीर को छोड़ता है, इस सिद्धान्त को भी अशास्त्रीय नहीं माना जासकता। शरीर ही आत्मा है, शरीर से पृथक् आत्मा नहीं है, इस नास्तिकभाव का मूख भी शास्त्र ही है। आत्मा न विश्व का कारण है, न कार्य है उस असंग तत्त्व का संसर्ग विश्व से कोई सम्बन्ध नहीं है यह भी शास्त्र का ही अर्थ है। आत्मा ही विश्व को कर्ता है, यह भी शास्त्र ही कहता है। आत्मा ही विश्व बना हुआ है यह भी शास्त्र का ही सिद्धान्त है। कहीं विरचपर्वमृत सूर्य को आत्मा बतलाया जा रहा है। कहीं अग्नि को आत्मा कहा जा रहा है। कहीं जल पुरुषों को समष्टि आत्मा बन रहा है। कहीं लोभस्वह्मासजस्य को समष्टि को आत्मा माना जा रहा है। कहीं आत्मा को कुक्ष एवं स्पूल कहा जा रहा है। कहीं आत्मा को मन प्राणवाक्मय बतलाया गया है। इसी प्रकार इन्द्र-सोम-प्राण-वायु-पानी-आकाश-वाक्-आदित्य-विष्णु-अग्नि कर पदार्थों को भिन्न-भिन्न स्थानों में आत्म शब्द से व्यवहृत किया गया है। निम्न लिखित भिन्न भिन्न शास्त्रीय प्रमाण इन्हीं भिन्न भिन्न पक्षों का समर्थन कर रहे हैं—

१—“ (नित्य) विज्ञानमानन्द ब्रह्म ” (बृ० भा० उप० ३।६।२८) ।

२—“ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ” (तैत्ति० उप० २।१।१) ।

३—“ परं ब्रह्म परं सत्यं सन्निधानन्दलक्षणम् ।

अप्रमेयमनिर्द्वन्द्वमश्रुतमनसगोचरम् ॥ ”

४—“ शुद्धं सूक्ष्मं निराकारं निर्विकारं निरञ्जनम् ।

अनन्तमपरिच्छेद्यमनूपममनामयम् ॥ ” (योगशिखोपनिषत् २ अ० १।१।१०) ।

५—“ स्पूलदेहविहीनात्मा सूक्ष्मदेहविवर्जितः ।

कारणादिविहीनात्मा तुरीयादिविवर्जितः ॥ ” (तैत्ति० उपनिषत् ४।०३) ।

६—“ अक्षय्यैकसोनाहमानन्दोऽस्मि विवर्जितः ।

सर्वातीतस्वभावश्च नादस्त्वर्ण्यतिरेकः सः ॥ ” (तैत्ति० उपनिषत् ४।१) ।

—*—

१—“ अथ यो देवमेतमपि साभिधं वेद, स एवात्मा—

स्वलोकात् प्रेरय जातमानं वेद ” (तै० भा० ३।१०।११।१) ।

२—“एतस्मिन् प्रेत्यामिसमवित्तास्मि” (भा० व ३ अ० १४ ल० १४ कं०) ।

३—‘तद्य इन्ध विदु० + + + तेऽर्षियमयि समवन्ति० + + + रमणीया
योनिं वा कर्ष्यां योनिं वा आपयन्” (भा० व ३ अ० १०) ।

४—‘इ’ सूती अमृणय पितृणामह वेवानामुत मर्त्यानाम् ।

ताम्यामिह विश्वमेवत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥” (श्रुतमं० १ अ० १७)

५—‘विषया तदारोहन्ति यत्र कामाः पराहताः ।

न तत्र इक्षिषा यन्ति नाविद्धासस्त्वपस्विनः ॥”

६—“हृत्कृत्कृत् गती द्यौते सतः क्षाम्यती मते ।

एकपा यास्यनाहृत्सिमन्ययोजवर्षते पुनः ॥” ली पा२६) ।

— — — — —

१—“न तस्य प्राणा वृत्कामन्ति इहैव समवलीयन्ते” इ भा० व ३ अ० ११ अ० ११) ।

२—‘यथोदकं शुद्धं शुद्धं मासिकं तादृगवमवति ।

एव ह्यनेभिर्ज्ञानत आत्मा भवति गीतम् ॥ (कर्मपनिषत् ४।१२) ।

३—‘मिषते हृदयग्रन्थिस्थित्यन्ते सर्वसंशया ।

र्षायन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टं परात्परे ॥” (सुब्रह्मसूत्र २।२०) ।

— — — — —

१—“वज्रस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति ।

एव लज्जलौकेयं देही कम्मागतिगतः ॥” (लोमहृत्समवत्)

२—‘वामासि और्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराधि ।

तथा धरारोणि विहाय और्णान्यन्यानि सपाति नवानि देही ॥” (गी० २।५) ।

३—‘तदन्तरप्रतिपक्षो रहसि मपरिष्वक्तः प्रकनिरूपणाम्याम्’ (व्या सू ३।१।१) ।

४—“इति तु पञ्चम्यामाहुतमरायः पुरुषवधस्य भवन्ति” (भा० व ३ अ० ११) ।

— — — — —

१—“आत्मा वै तन्” शत० ३।५।२।६) ।

२—“आत्मनो वाऽहमानि सवाण्डानि प्रभवन्ति” शत० ३।५।२।४) ।

- ३—“(शरीर) तत् सर्वमात्मा वाचमप्येति, वाक्मयो भवति” (श्वे० ११७) ।
 ४—“बाह्योऽहमात्मा” (शत० ६।६।१।१६) ।
 ५—“आत्माश्चेवाग्रे सम्भवत सम्भवति” (शत० ७।१।१।१२१) ।

— १० —

- १—“न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत् समश्चात्म्यविकल्प इत्यपे ।
 परास्य छक्तिर्विशेषैव भूयते स्वामाविकी ज्ञानफलक्रिया च ॥” (श्वे० ७।५० १।२०) ।
 २—“अनन्तश्चात्मा विश्वरूपा ह्यकर्चा” (श्वे० ७० १।६) ।

— ११ —

- १—“विश्वतश्चक्षुःकुल विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुकुल विश्वतस्पात् ।
 स बाहुर्म्पा भवति सपञ्चैषावाभूमी अनयन् देव एक ॥” (श्वे० ७० ३।३) ।
 २—“एष देशो विश्वकम्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
 हृदा मनीषा मनसायिक्त्वतो य एतद्दिदुरसृतास्त भवन्ति ॥” (श्वे० ४।१०) ।
 ३—“तथाऽऽसुराद्विबिधा सौम्य माता प्रजायन्ते तत्र चैवापिपन्ति” (सुरवक्त्र० २।१।१) ।
 ४—“तस्माद्वा एतस्माद्वारमन आकाशं सम्भूतं, आकाशाद्वायुः,
 वायोरग्निः, अग्नेरायः, अयस्य पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः” (सै० ३।५० २।१) ।

— १२ —

- १—‘पुरुष एवेद सर्वं यद् भूत यश्च माम्भम् ।
 उवाचुस्त्वत्स्वेषानां यदग्नेनातिरोहति ॥’ (यजु० मं० ३।१०) ।
 २—“मघ परतर नान्यन् किञ्चिदस्ति घनहृत्तम ।
 मयि सवमिदं प्राप्तं धृत्र मणिगणा इव ॥” (गी० ७।७) ।
 ३—‘स बाह्यात्म्यन्तरे देहे क्षाप्त ऊर्ध्वं च दिक्षु च ।
 इत आत्मा ततोऽप्यात्मा नास्त्यनोऽस्ममय जगत् ॥’ (महोपनिषद् ६।१०) ।
 ४—“स च उचिदं मघ—मघो वेद सर्वम्” (छां० ३।५० ३।१।११) ।
 ५—“सर्वस्य वेदं प्रजापतिः” (शत० ३।१।१।१४) ।
 ६—“त्रिपार्धं उदैत् पुरुष पादोऽप्येता भवन् पुनः” (यजु० मं० ३।१।४) ।

७—“एषा ह देव प्रदिशान्नुसवा पूर्वार्ह जातः स उ गम अन्तः ।

स एष जात म अनिष्पमाण प्रत्यङ् अनोस्तिष्ठति सर्वतो मुख ॥’

(श्व० उ० २।१६) ।

— ० —

१—“विद्व देवानामुदगादनीक वसुभिर्मिश्रस्य वरुणस्याग्नेः ।

आ प्रा घावापृथिवी अन्तरिक्ष सूर्य आत्मा जगतस्तस्पृयञ्च ॥”

(यजुर्वेद ७।२२)

२—“प्राप्य प्रवानामुदयस्येव सूर्यः” (प्र० उ० १।८) ।

— ० —

१—“अग्निं सर्वपां दवानामात्मा” श्व० १।३।२।३)

२—‘आत्मा वा अग्निः’ (श्व० ७।३।२।१)

३—अग्निरिव ब्रह्म” (श्व० १।४।१।२) ।

— ० —

१—‘स वै सप्तपुरुषा भवति । सप्त पुरुषा एव पुरुषो यश्चत्वार आत्मा

त्रय पञ्च पुच्छन्ति । चत्वारो हि तस्य पुरुषस्य आत्मा” (श्व० ६।१।१।६) ।

२—“चतुर्विधोऽयमात्मा” (श्व० ७।१।१।२) ।

— ० —

१—‘पाङ्क्त इतर आत्मा—लोमत्वह्मांसमस्थिमज्जा” (वा० ३।१।४) ।

— ० —

१—“तस्मादितर आमा मेघति च कृष्पति च” (वा० ३।१।०)

— ० —

१—“यत्तन्मया माऽत्रयमात्मा पाङ्क्तयो मनोमयः प्राणमयः” (श्व० १।३।१।१०)

— ० —

१—“पुरुषा वै सवत्सरः” (श्व० १२।३।१) ।

२—‘स एष प्रजापतिरेव सवत्सरः” (ऋ० ६।१२) ।

३—‘स एष सवत्सरः प्रजापति पाङ्क्तकलः” (श्व० १३।३।१२) ।

— ० —

- १—“प्रोणोऽस्मि प्रज्ञात्मा—त मामापुरमृतमित्युपास्व” (इन्द्रः)—(को० ७० १।१२) ।
- २—“सोमो वै प्रजापति” (राव० १।१।१।७) (सोम) ।
- ३—“प्राणो वै प्रजा” (राव० १४।५।१०।२) (प्राण) ।
- ४—“अयं वै ब्रह्म योऽयं (वायु) पश्यते” (ऐ० ८८८, (वायु)) ।
- ५—“अव्मि वा इदं सर्वमाप्तम्” (राव० १।१।१।१४) (आप) ।
- ६—“मनोमयो मारूप आकाशात्मा” (जा० उप ३।४।२) (आकाश) ।
- ७—“वाग्वो ब्रह्म” (ऐ० ६।३) (वाक्) ।



उपर्युक्त आत्मतत्त्व प्रतिपादक परस्पर में सर्वथा विरुद्ध शास्त्रीय सिद्धान्त हमें उलझन में डाल रहे हैं। सत्यतत्त्व एक होसकता है, अनक नहीं ऐसी स्थिति में जैन स सिद्धान्त को सरस समझा जाय ? । इसारी दृष्टि से इन सारे प्रश्नों का एकमात्र उत्तर है आत्म स्वरूप को पचाय—प्रतिपत्ति । कहना अनुचित, साथ ही में अप्रासङ्गिक भी होगा परन्तु आपकी यह मान लना पड़गा कि आत्म-स्वरूप के सम्बन्ध में आज जो आन्वित्यो फैल रही हैं, यह शास्त्र का दोष नहीं है, अपि तु व्याख्याताओं की कृपा का फल है । प्रत्येक विषय का सर्वथा परिष्कृत रूप स निरूपण करने वाला शास्त्र इन सम्प्रदायमय व्याख्याताओं की कृपा से दुम्भ बन रहा है । व्याख्याताओं की दृष्टि में परमेश्वर—महेश्वर—ईश्वर—वैश्वर—आत्मा—आदि सब तरह समानार्थक हैं । उन की दृष्टि में सबत्र अमरवाय का भाषात्म्य है । बस एकमात्र इसी व्याख्यादोष य सर्वथा विमत परमेश्वर—महेश्वर—वैश्वर—आदि तरह हमारे लिए अवि भाव कोटि में प्रविष्ट रहत हुए सम्बेद के कारण बन रहे हैं । आत्मतत्त्व परिचय के लिए पहिल इन भेदों का स्वरूपज्ञान परम आवश्यक है । अत एव अप्राकृत होते हुए भी इस प्रकरण में आत्मवेदों का संक्षिप्त स्वरूप परिचय पाठकों के समक्ष उपरिष्ठ किया जाता है ।

“आत्मा ह्ययं प्रजापतिः” (राव० ७।५।१) इस भीत मिथ्यान्त के अनुसार आत्मतत्त्व को आत्ममन्दस्वरूपपरिचय—प्रजापति कहा जाता है । यह प्रजापति शब्द बड़ा ही उलझा हुआ है । प्रायःभवि के अक्षरलोक से आप को विदित होगा कि एक ही प्रजापति शब्द विभिन्न विभिन्न अर्थों के लिए भेदों स्थानों में प्रयुक्त हुआ है । उदाहरण के लिए कुछ एक रथों का दिग्विस्तार यहाँ भी करा दिया जाता है ।

“एष वै प्रजापतिर्यदग्नि” (ते जा० १।१।५।२)—“या इ कलु वाय प्रजापति, स उ एवेन्द्र” (ते जा० १।१।५।४)—“प्रजापतिर्वै मन” (को० १०।१)—“एष प्रजापतिर्वैश्वदेवम्” (राव० १४।

युक्त एक एक व्यवस्था है। एक एक वस्त्र (वस्त्रो) में स्वायम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी ये पाँच पाँच पर्व हैं। इन्हीं के सम्बन्ध से यह पञ्चार्थ समझि—“पञ्चगुणहीरा प्राप्तापत्या इत्या” नाम से प्रसिद्ध है। इन पाँचों पर्वों में पञ्चिमा व्यवस्था (जिस के कि महिमावशक्त में परमेष्ठी-सूर्योदि चारों प प्रतिष्ठित हैं) ‘आम्रप्रजापति’ — ‘परमप्रजापति’ — “भिन्नकम्माप्रजापति” — “अव्यक्तप्रजापति” — “वेदप्रजापति” — “पराप्रजापति” इत्यादि विविध-नामों से प्रसिद्ध हैं। इन पाँचों पर्वों को सम हमारा एक विरह है। अरक्ष्यमूर्ति पत्यक महारव के वस्त्र में वेस पेमे सहस्र महस्र वित्त हैं। विरवा विष्णु विरवोपाधिक वही महारव विरव का व्यापक वनता हुआ ‘अज्ञेय’ है। विरवोवर के लक्षण परमेश्वर-आदि एक एक पर्व उपर्युक्त है। एवं महापृथिवी से सम्बन्ध रखन वाली विराट्-विरव्यगर्म-सकाश की समष्टि ईश्वर है। उक्त तात्त्विकों से रूपयुक्त व्यापकताओं का सम्बन्ध रूप से स्पष्ट करल हो जाता है।

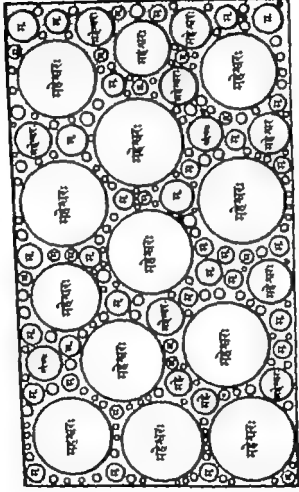
१—माविष्णुमा—सर्ववस्तुस्थितो विद्युदो रस—→ विरवोः
 १—
 २—सत्ताच्छया—सर्ववस्तुस्थितो रस—→ परमेश्वर
 —————
 } → विरवाणीत परमेश्वर

चतुर्थ का इति सप्तम
 १ { २—मायाविष्णुः सहस्रवस्तुस्थितोऽपत्यमूर्तिः चोदती → महारव प्रजापति
 २—पञ्चपर्वोपाधिक विरवोपादित → विरवोवर प्रजापति
 ३—स्वयम्भू-परमेश्वर-सूर्य-चन्द्र-पृथिवी (पृथक् २) → उपरव प्रजापति
 ४—विराट्-विरव्यगर्म-सर्ववस्तुस्थित साक्षी → ईश्वर प्रजापति

एक ही आत्मनश्च अनक भागों में कैसे विभक्त हो गया ? इस प्रश्न का उत्तर है आत्मपरिग्रह आत्मपरिग्रहमूलक—आत्मसम्भारमेव—परिग्रहों के तात्त्विक से वह एक ही अनक रूपों में परिवर्तित होता है। प्रबान्ध आत्म है विरवागत अक्षरक पदारव। इन्हीं के आधार पर हमारा अष्टौ सिद्धान्त ही मिले है। यह आत्मा मन्त्रा निष्पन्न है। अतएव आत्मज्ञान प्रकरण का अन्त अक्षर निर्गमक चरों अक्षर आत्मा है, अतएव परिग्रहों से समीप अतएव सत्ताच्छादन अतएव अनक रूपों में परिवर्तित सर्ववस्तु आत्मा का किंवा आत्ममन्त्राओं की भी आत्ममन्त्रा से बाहिर नहीं किया जासकता चतुर्वर्ग विरव गम में रहन बाल हमारी अपवा से तो आत्ममन्त्रा से अन्तर्विषयमन्त्रादुभूत सर्ववस्तुस्थित सत्ता आत्मविषयों का हो महस्र अपाधिक है। निर्गमक आत्मा निमग्नमह बानों भावों से परे रहता है अविज्ञेय है अनुगत्य है शास्त्रान्वित है। इस अक्षर सम्बन्ध ज्ञान को ही विज्ञाता करमक है। व हमारे ज्ञान का विषय बन सकता है। वही अन्तर्विषय का कारण है वही सर्ववस्तुस्थित है। आत्ममन्त्रा निष्पन्न जिस वस्तुस्थित का हम ने ऊपर्युक्त अक्षरगत निर्गमक, अन्तर्विषयमन्त्रादुभूत मन्त्रा व

१ - परमेश्वरप्रातिकृति

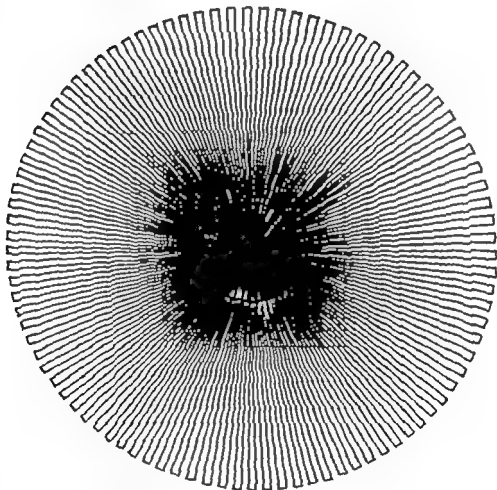
अनन्तमहेश्वराधिपता—अमायी परमेश्वर—‘अविज्ञेय’



प्राप्तीदिव तमोभूतमप्रज्ञानमलक्षणम् । अप्रतयमनिर्देश्य प्रसुप्तमिव सर्वत ॥ (मनु)

२ - महेश्वरप्रतिकृति

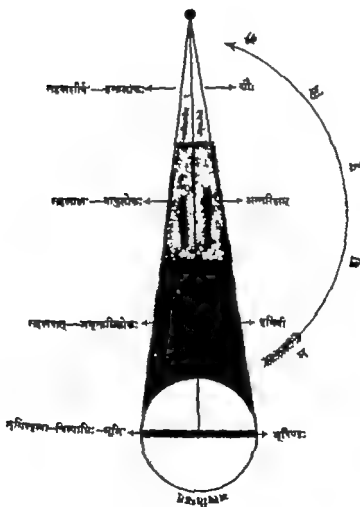
सहस्रवल्गाऽश्वत्थमूर्तिर्महामायावञ्छितोऽनन्तविश्वाधिपता
महेश्वरप्रजापति —(१) 'दुर्विज्ञेय'



ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाल एषोऽश्वत्थ सनातन ।
तस्मिंल्लाका ग्रिता सर्वे तद् नात्यति किञ्चन ॥

५ - ईश्वरप्रतिकृति -

विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञात्मक साम्नी-प्रजापति -“सुविज्ञेय”



राश्ट्रयोनिस्त्व से अस्मिन् विन्म बाह्यजात्या का प्रतिपादक मानने का अर्थ का साहस कर रहे हैं, ही शारीरक कुरान शारीरक राश्ट्र से संलग्न-आत्मा की ओर ध्यान कराता हुआ—“अथातो ब्रह्मसि-
त्सि” “ब्रह्माणस्य यत् शास्त्रयोनिश्चात्” “सर्वभस्मोपपत्तेश्च” इस आरम्भ की सूचकता
की से निरूपण राश्ट्रों में विरचमूर्ति सलबब ब्रह्म का ही निरूपण कर रहा है। बहुत प्रयास
रत पर भी हम अद्वैताभिमानी व्याख्याताओं के—“वेदान्त अखण्ड ब्रह्म का प्रतिपादक है” इस
प्रतिपक्ष पक्षैविक सिद्धान्त का पोषक सम्पूर्ण प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्-वेदान्तदर्शन-गीता) में एक भी बचन
न मिले न कर सके। मतवात् ही जाने इन शास्त्रमण्डों ने किस आधार पर इस कथित अद्वैतवाद को इतना
हस्त देखा। आद्य ही में नीरक्षीरविषयी विद्वानों ने भी न मान्य किन्तु आधार पर इस मिथ्या भ्रान्ति
ही अपना लिया।

अस्तु—परिमहों के सम्बन्ध स वही निर्वर्ण्य सर्वभस्मोपपन्न बने गया है, वही का शास्त्र में निरूप
पण है यह निर्विवाद है। वे आत्मपरिमह माया, कृता गुण, विकार, अज्ञान आवरण, मेघ से ६
भागों में विभक्त है। इन ६ भस्मों से परिगृहीत आत्मतरङ्ग ही सर्वभस्मोपपन्न है। इन ६ भागों में माया कला
का एक विभाग है, गुण-विकार का एक विभाग है, अज्ञान-आवरण का एक विभाग है। माया एवं कला
अमृतपरिमह हैं, गुण एवं विकार ब्रह्मपरिमह हैं, अज्ञान एवं आवरण अक्षरपरिमह हैं। परिमहदृष्टया
अमृतमाया-ब्रह्मात्मा-क्षुद्रात्मा तीनों एक ही हैं। परिमह क्षुद्र होने पर—“तदेव अक्षरं सद्रूपं
तदेवावृतमुच्यते” (कठ ६।१) के अनुसार तीनों एक ही आत्मतत्त्व हैं। वही विशुद्ध आत्मा सपरिमह
दावरा में छीन है परिमहगुणवाक्सा में तीनों एक आत्मा है—“आत्मा उ एक सन्नेतृ त्रय, त्रय
सद्रूपमेक-आत्मा” (शिव १।४।३।१)।

माया परिमह एकाकी है, निष्कल है। इसी की विरच की अभावात् सलब मायाओं की अपेक्षा ‘महा
सामामात्रप्रवर्त्यक माया’ परिमह—माया’ कहा जाता है। इस माया परिमह के स्वरूप स वही परास्पर
मायापुर से बलित होता हुआ सलोम बनता हुआ “पुरुष” नाम धारण करलेता है। “मायां तु प्रकृतिं
विद्यान्मायिनं तु महेदरम्” (श्वे० उप० ४।१०) के अनुसार वही निष्कल विशुद्ध केवले सीमित आत्म-
माया महेश्वर कहलाता है। असी-कलाओं का उद्भव नहीं है। कला ही विविध माया की बनता है। असी
इस में वैविध्य का अभाव है। यत् एव “न वैविध्यमेति” इस विवेचन के अनुसार अविध्य नाम से व्यक्त
होता है। केवल-मायापरिमहोपाधिक अत एव निष्कल विशुद्ध अविध्योत्पन्न इसी माया महेश्वर का
स्वरूप बनलाही हुए गोपबन्धुति कहती है—

सदृश त्रिषु लिङ्गेषु सर्वाण्यपि विभक्तियु।

बचनषु च सर्वेषु यन्म व्येति तदव्ययम् ॥ (गो० भा० पृ० १।२६)।

मावासीय परात्पर निरञ्जन है। यही निरञ्जन केवल मायासंसर्ग से मायी बना हुआ है परन्तु निष्कलता। अब भी इस की अपेक्षा है। यदि इस निष्कल अवस्था की स्थापना की जाती है, तो समानकक्ष किंवा अभिव्यक्ति होने से यह निरञ्जन परात्पर पद को प्राप्त हो जाता है। इसी अभिप्राय से उपनिषद्वाचि कहती है—

म भूमिरापो न च बहिरस्ति न चानितो मेऽस्ति न चाम्बर च ।

एव विदिता परमात्मरूपं शुद्धाद्य निष्कलमद्वितीयम् ॥

समस्तसार्थि सदसशिखीन प्रपाति शुद्ध परमात्मरूपम् ॥

(ऋ० व० २ अ० ४) ।

न चक्षुषा शृण्वते नापि वाचा नान्यैर्देवैश्चरसा कम्मणो वा ।

ज्ञानप्रसादेन विद्मद्भूतस्त्वस्तत्सु त पश्यते निष्कल प्यायमान ॥

(मुण्डकोपनिषद् ३।१८) ।

विशुद्ध भावामक (ज्ञानात्मक) इस निष्कल अवस्था से ही कला नाम के परिग्रह से आगे जाकर कलासर्ग का उपक्रम होता है अतः एव निम्नलिखित रूप से इस निष्कल को कलासर्ग की प्रकृतिज्ञान माना गया है—

मायप्रसादमनीहारूप भावामावकर द्विवम् ।

कलासर्गकर्तृ देव मे विदुस्ते जडुस्तनुम् ॥ (रवे ३।१४) ।

आगे जाकर 'कला' नाम के दूसरे परिग्रह का कथन होता है। अनेक जगहों में विभिन्न 'योगमाया' पौडपकलाप्रवर्गाक-कला' परिग्रह—का ही नाम कला है। यह कलात्मिका माया महामाया से निम्न कुछ रहती है अतः एव इसे योगमाया कहा जाता है। यही मोहमूक नागास्वभाव की प्रथम भूमिका है—'योगमाया इरे-इषैतत् तथा समाह्वते जगत्' । इस के 'विष्णुमाया रुद्रमाया, द्विवमाया, अग्नि माया, सोममाया, इन्द्रमाया' आदि अनेक अन्तर्भाव भेद हैं। अष्टावक्रव्यासिका अतः एव कला नाम से प्रसिद्ध इस योगमाया के रूप से यहाँ अव्ययमूर्ति निष्कल ग्योरेवर पौडराकल बनता हुआ—'योगेश्वर' नाम धारण करकेता है। योगमाया ही योगेश्वर की योगेश्वरता है। यही सत्त्व प्रजापति साहस योगकलाओं के सम्बन्ध से पौडप्यी नाम से प्रसिद्ध है—'पौडप्यकर्तृ वा इदं सर्वम्' (की मा ८।१) । इस वृत्ती आत्ममत्स्या का निरूपण करती हुई व्यञ्जनाति कहती है।

यस्मान्न ज्ञातः परो अन्यो मास्ति य आधिदैव्यं भुवनानि विश्वा ।

प्रजापतिः प्रजया सत्तराण्यस्त्रीणि ज्योतीर्णि सपत्ने स पौडप्यी ॥

(यजु सं० ८।११) ।

पञ्चक अण्वय, पञ्चक अक्षर, पञ्चक आत्मक्षर, सोलहवें अर्थमात्रिक वही परात्पर, इन की समष्टि ही पोहरी प्रजापति है। मायोपाधिक निष्कल महेस्वर, एवं कक्षोपाधिक सक्कल योगेश्वर, दोनों की एक संस्था है। यही अमृतसंस्था—पुरुषमस्या—अमृतारमसंस्था इत्यादि अनेक नामों से व्यवहृत की जा सकती है। आरम्भ की अमृतारामोपनिषत् में इसी संस्था का स्वीकरण किया गया है।

वक्ष्यामाय के पीछे 'गुण' एवं 'विकार' नामक दूसरा आत्मपरिग्रह युग्म आता है। इस का प्रधान मंगल—सर्वव्यापकप्रवर्णक 'गुण-विकार' परिग्रह—सम्बन्ध-अक्षरमूर्ति प्रकृतिमाय के साथ है। इसी अभिप्राय से—'विकाराश्च गुणाश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्बन्धान्' (गा० १३।१६) यह कहा जाता है। गुणमाय के उदय से सत्यप्रजापति का उदय होता है। वही—पुरुषात्मा सर्वगुणसंपन्न बनता हुआ (सत्त्व-रज-तमोगुण से युक्त होता हुआ) सत्यप्रजापति नाम से व्यवहृत होने लगता है। विकार सम्बन्ध स (पञ्चीकृत गुणमूर्तों के सम्बन्ध स) वही सत्यप्रजापति सत्कार बनता हुआ यज्ञप्रजापति नाम से व्यवहृत होने लगता है। सत्य के आधार पर ही यज्ञ प्रतिष्ठित है। सत्य त्रयीवैश्वामय है। त्रयीवैद ही त्रेतामिषद की मूल प्रतिष्ठा है। मौक्तिक वह सत्यप्रजापति है वही विकाररूप धौर्गत्य व्यवस्था में आकर यज्ञप्रजापति है जसा कि पूर्व की 'यज्ञारमोपनिषत्' में विस्तार से बताया जा चुका है। इसी आधार पर—'सैषा त्रया विद्या यज्ञः' (शत १।१।४३), 'ते द्वा अत्रु बन् यज्ञ कृत्वा सत्य तनवानहे' (शत ६।३।१२) इत्यादि निगम वचन प्रतिष्ठित हैं। महेश्वर-योगेश्वर का समन्वितरूप अव्यय प्रधान, अत एव अमृत नामक पुरुष का। सत्य-वज्र-प्रजापति का समन्वितरूप अक्षरप्रधान, अत एव यज्ञ नामक मूलप्रकृति संस्था है। यद्य शब्द वृद्ध भावका स्वक है। 'यतो वृहस्प भवति तद् यज्ञ' 'विमर्ति सर्वं तद् यज्ञ' इत्यादि अनुसार 'प्रमर्मे' ही निरुक्त कमालुता 'यज्ञ' बना हुआ है। 'वृह' धातु स 'मृत्' प्रत्यय करम से भी 'यज्ञ' शब्द निष्पन्न हो जाता है। जो छत्र वपादान कारण बनता हुआ स्वस्वरूप से अविज्ञ रहता है, वही अविज्ञ परिणामवाद के लिए 'वृहस्प' शब्द प्रयुक्त हुआ है। विमर्षकार मन्त्री स्वस्वरूप में अविज्ञ रहती हुई ज्ञात का उपादान कारण बनती है, एवमेव गुण-विकार युक्त सत्य-यज्ञा यज्ञ अक्षर स्वस्वरूप से सर्वत्र अविज्ञ रहता हुआ उपादान बनता है। इसी वृद्ध भाव के कारण इस यज्ञ कहा जाता है।—'तयाऽऽरादिविषाः सीम्यमात्राः प्रजापत्ये तत्र चैवापि यन्ति' (मुण्डक) 'अमाता यज्ञ जिज्ञाया' यज्ञ यज्ञाद्य स अमर्त्यमितम्—इतुमूय प्रकृतिरूप सत्य वक्ष्यात्मक गुणविकारमय इसी अक्षर यज्ञ का महत्त्व समझना चाहिए।

गुण-विकार के अनन्तर आवरण-अज्ञानरूप तीसरा परिग्रह युग्म आता है। स्वच्छ आधारण आवरण-साज्ञनमात्रप्रवचक 'आवरण-अज्ञान' परिग्रह—अज्ञान है, मक्षिण आवरण आवरण है। काच-दीपक का अज्ञान है वर दीपक का-आवरण है। काच के आवरण से दीपमया एकात्मता अवरण

महो होती, परन्तु-पट के आवरण से हीप प्रकारा सर्वथा प्रकट हो जाता है अन्धजन और आवरण में पड़ी-अन्धर है। इन में आवरण ही अर्कभाष का प्रत्येक माना गया है। यद्यप्यत्रापि ही अन्धजन परिष्कृत में विराटरूप में परिष्कृत होता है। इस में ईश्वर, एवं जीव मेव स वा विद्यते हैं। मासिक अन्धजनसे ईश्वर विराट् का वचन होता है, एवं वाच्या नाम स परित्यक्त तामस अन्धजन स जीवभाष का वचन-होता है। ईश्वरीय अन्धजन विभूति नाम स प्रसिद्ध है। इस क लोक-वद-द्वय-भूत-पशु, व पाँच आवाम्तर मर है। इन पाँचों विभूति अन्धजनों से मुक्त यद्यप्यत्रापि ही ईश्वरविराट्-परिष्कृति है। यही अन्धजनना १-पर्याय २-ऊर्मि, ३-आश्रय, ४-अवस्था ५-कलेश है-ऊर्मि ७-विपाक, इस सौव वाच्यारूप तामस अन्धजनों में जीवविराटरूप में परिष्कृत हो जाता है। ईश्वर नित्यमुक्त है। वह कभी मुक्त नहीं, कभी बन्धन में नहीं इस पर्याय मन्थन का उस में अभाव है परन्तु जीव विराट् कम्मलुसार कभी बन्धनपर्याय से मुक्त रहता है, कभी मुक्तपर्याय से मुक्त रहता है। ईश्वर में सुधा-विपाका, शोक-मोह-विरा-स्यापि इन ६ ओं ऊर्मियों का (वचनप्रकटनों का) अभाव है, वह एकरूप है। ईश्वर जीव जीव इन ६ ओं से-नित्यमुक्त है। ईश्वर में भावना-वासनात्मक शास्त्र-कर्म प्रत्येक रूप दोनों आश्रयों का अभाव है। जीव दोनों स मुक्त है। ईश्वर नित्यप्रमुक्त, नित्यैकैकस रहता हुआ आप्त-स्वप्न-सुषुप्ति मोह-मूढता-भूत्य इन कथों अवस्थाओं स विमुक्त रहता है। जीव ६ ओं से मुक्त रहता है। ईश्वर नित्य कम्मठ बमता हुआ भी बुद्धियोग क प्रभाव स कर्मक्षेत्र से प्रकट रहता हुआ कर्म-विरहित रहता है। परन्तु जीव पशु-सर्प-दान कण्ठ विद्यासमुच्चित प्रवृत्ति सत्कर्म, इस-आर्त-वच-कण्ठ विद्यानिरपेक्ष प्रवृत्ति सत्कर्म, सुरापान-अगम्यागमन-बुबाहिरो-स्तेष-भूषहता-कलहारा अनोपादन अपि शास्त्र निषिद्ध विकम्मरूप असत्-कर्म अलताद्वन-करावत्-पादभ्रमज-द्वयच्छेदन-बुबाहास्य अपि शास्त्रावधि पञ्चावधि विकर्म (निरर्थककर्म) रूप असत् कर्म, एवं सर्वकम्ममूर्त्यैव बुद्धियोगकण्ठ, अतएव मुक्तिसाधक निर्णय कर्म इन कर्मों में स किसी न किसी कम्मलुप्तान में स्थित रह रहता है। ईश्वर आर्ति-आयु-भोग, इन तीनों कर्मविपाकों से प्रकट रहता है, ईश्वर जीव कर्मपरिपाकम्बरूप योगि-आयु-भोग से स्थित मुक्त रहता है। इस का असा कर्म-परिष्कार होता है इसी के अनुसार यानि मिश्रती है तदनुसार ही आयु मिश्रती है, तदनुसार ही भोग-संपत्ति मिश्रती है। तीनों का अन्त से सम्बन्ध है। इसी आधार पर निम्न स्थिति तृप्ति प्रकटित है—

आयुः कर्म च विर्च च विद्या निधन मेव च ।

पम्पेतानि तु सुन्यन्ते गमस्थस्यैव दहिनः ॥

जीवन्मुक्त संपादक कथ्युक्त पाप्माओं का आगे मोक्षपक्षिक स्पष्टीकरण होने वाला है। यहाँ केवल यहाँ विमूर्ति, तथा पाप्मा—बतलाना है कि, अज्ञान की ही तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। ऐसा अज्ञान

को प्रज्ञा का अवरोधक न बने, उस विमूर्ति कहा जायगा। ऐसा अज्ञान, जो प्रकाश का अवरोधक तो न हो परन्तु प्रकाश को मलिन करे, वह 'पाप्मा' कहा जाएगा। एवं ऐसा अज्ञान, जो प्रकाश को ही रोकने वह 'आवरण' कहा जाएगा। इनमें विमूर्ति अज्ञान श्रवणस्वरूप समर्पक है। पाप्माज्ञान जीवन्मुक्त समर्पक है एवं आवरण विषय, एवं शरीर स्वरूप समर्पक है। आवरण से ही विषयस्वरूप ईश्वर का शरीर बनता है, एवं आवरण से ही शरीरस्वरूप जीव के विषय का निर्माण होता है। स्वतः स्वयं हीपक के द्विमे विमूर्तिरूप अज्ञान है। कृष्ण वर्ण्य हीपक के लिए पाप्माज्ञान है एवं चारों ओर से कज्जल से सवचा मित्र वर्ण्य हीपक के द्विमे आवरण है।

जीवन्मुक्तपति को छोड़ी देर के लिए झाड़ जीवित, कबल ईश्वर विराट् प्रजापति को ही अपना स्वयं विराट् प्रजापति— यनाह। यह कहा जा चुका है कि, अज्ञान नाम के पाँचवें परिमह से बड़ी यज्ञप्रजापति विराट् प्रजापति बन जाता है। यहाँ तक आत्मबोधि का अपभवा विकास रहता है, अतः आत्मा विना ऐतन् व्यवहार इस विराट्सत्त्वा पर्यन्त हो रहता है, आवरण से आत्मविकास एकमस्तव अवच्छेद हो जाता है अज्ञान का उद्वेग हो जाता है। यही है ठा विज्ञप्रजापति है। यही उस विराट् प्रजापति का प्रारंभ है। भौतिक कर प्रथम मत्स्य विषय ही विज्ञप्रजापति है। एक पात का विशेष भ्यान रक्षित। पूर्व स्वयंस्था उत्तर उत्तर की संस्था से परिगृहीत रहती है। सावरण विज्ञप्रजापति में साक्षन विराट् सवि कार यज्ञ मगुण सत्य सकल पोषणी मायी महेश्वर चारों अन्तर्भूत हैं। सवि कार यज्ञप्रजापति में सगुण सत्य, सकल पोषणी मायी महेश्वर तीनों अन्तर्भूत हैं। मगुण सत्यप्रजापति में सकल पोषणी, मायी महेश्वर चारों अन्तर्भूत हैं। सकलपोषणी मायी महेश्वर स तिस्रमुक्त है। मायी महेश्वर, और अमायी परात्पर एक वस्तु है। विद्युत् परात्पर विद्युत् आत्मा है। यही परिमहेश्वर उक्त संस्थाओं परियुक्त हो रहा है— 'आत्मैवेद सर्वम् एतदसम्प्रापित सर्वम् अन्तर्वेद सर्वम् सर्वं सुखिन्दं ब्रह्म, एक वा इदं विश्वम् सर्वम्', इत्यादि जीव सिद्धांतों का ध्यान विशेष कर सकता है ?।

परात्पर ही एकमात्र आत्मा है विज्ञप्रजापति की एकमात्र द्यार है। शेष मत्स्य की महेश्वर— पोषणी—सत्य—यज्ञ—विराट्, ये पाँचों संस्थाएँ आत्मन्वी (शरीरविशिष्ट आत्मा) हैं। परात्पर आत्मा का कोई शरीर नहीं है। यह वस्तु है, सर्वमज्ञान है— "महान्तं विशुमात्मानं मत्वा भीरो न शोषति" भुवि न इस विमु (व्यापक) के लिए 'मत्वा' कहा है, आत्मा नहीं कहा। यह कबल सत्तात्प्रा मानन की ही वस्तु है ज्ञान की नहीं। ज्ञान को ससीम आत्मा का ही होता है। महेश्वर आत्मन्वी है। स्वयं

निष्पन्न महेरवर इस अमरमयीभाव का आभा है पोखरी-मत्स्य-वृक्ष-बिराट-विरव इन पाँवों की समष्टि इस महेरवरास्मा का शरीर है। वह पूर्णपुरुष सर्वत्र समानरूप से वृक्षवत् स्तब्ध रहता हुआ व्याप्त हो रहा है। इसी महेरवरास्मा की व्याप्ति का विगूँर्जन करावी दुष्ट अति कहती है—

यस्मात् पर नापरमस्ति किञ्चित्—यस्मान्नाणायो न द्वायोऽस्ति कश्चित् ।

इव इव स्वम्भो दिशि तिष्ठत्यङ्गस्तनेव पूर्णं पुरुषेण सर्षम् ॥ (स्वे० ७० ३।४) ।

महेश्वरमयित योगशी आत्मा है, सत्य-वस्तु विराट् विश्वसमष्टि छुरीर है। यही दूसरा आत्मन्वी संबंधमोपपन्न पुरुषात्मा— है। महेश्वर-योगशीमयित सत्यप्रजापति आत्मा है वस्तु विराट् विश्वसमष्टि छुरीर है यही तीसरा आत्मन्वी है। महेश्वर-योगशी-सत्यप्रमयित वक्षप्रजापति आत्मा है, विराट्-विश्वसमष्टि-छुरीर है। यही चौथा आत्मन्वी है। महेश्वर-योगशी-सत्य वक्षप्रमयित विराट्प्रजापति आत्मा है, विश्व इस का छुरीर है, यही पांचवां आत्मन्वी है। माध्यादि ज्ञानो धर्मो की समष्टि विश्वप्रजापत्यवधिप्रम महेश्वर प्रजापति के साथ ही सम्बन्ध रखती है। वहाँ से वहाँ तक एक ही आत्मतत्त्व व्याप्त है। यही सर्वधर्मोपन्न नाम का दूसरा पदसंख्य आत्मन्वी विवर्ण है। निर्धर्मिक विद्युत् आत्मा दूसरा विवर्ण है। आत्मसम्बन्ध में ये ही दो प्रधान दृष्टियाँ हैं।

सर्वप्रमाणोपपन्न आत्मसंस्था में अन्वय अक्षर छर, इन तीनों का ही साक्षात्त्व है। महेस्वर, बीर प्रजापति जलुटपी—बोडरी में अन्वय की प्रथमता है यही असूतमाग है। सत्य, बीर ब्रह्म प्रजापति में अक्षर की प्रथमता है यही ब्रह्ममाग है। यहाँ तक तो मृत्यु की प्रथमता नहीं है। असूतात्मा में मृत्यु का अन्वय होना ही मृत्युपारा है। बिराद् एवं बिरव में करमुक्ति इसी मृत्युपारा की प्रथमता है। बीर वीररा शुद्धबर्च है। जब तक शुद्ध है तभी तक संसार है। शुद्ध अविक्रमय है—बिरवादिबर्चन है—
“उपासते पुंर्यं च शकामास्ते शुक्रमेतदतिबर्चन्ति बीराः”। यही आत्मा अन्वयवृद्धया अमृत (महेस्वर वाडरी) है यही आत्मा अक्षरवृद्धया ब्रह्म (सत्य-ब्रह्म) है, यही अक्षरवृद्धया शुद्ध (बिराद् बिरव) है। असूतब्रह्मशुद्धी-बोडरी सत्य-ब्रह्म बिराद्-बिरवादिबर्चन सर्वव्यापक महेस्वर की अप्रत्यक्ष प्रजापति है। यही आरम्भ में अक्षरार्थ गई परिष्ठी प्रजापतिसंस्था है। महेस्वर-बोडरीयुक्त सत्यप्रजापति विश्वेश्वर नाम की दूसरी प्रजापतिसंस्था है। महेस्वर वाडरी-सत्य-ब्रह्म गर्भित बिराद्-प्रजापति दुर्धर नाम की तीसरी-प्रजापतिसंस्था है एवं महेस्वर-बोडरी-सत्य-ब्रह्मगर्भित बिगाद्-प्रजापति ईश्वर नाम की चौथी प्रजापतिसंस्था है। इन चारों प्रजापत्यसंस्थाओं का पूर्व के चित्रों में भक्तिमार्ग स्पष्टीकरण हो जाता है। उपरोक्त सम्पूर्ण विषय का परिष्कार ही स्पष्टीकरण हो रहा है।

१-परात्परप्रेषासका	→ परात्परानुयायिनः	→ परमात्मिका गीतावाक्याः
१-अभ्ययाभोपामका	→ गुरुपात्मानुयायिनः	→ वेदास्थिनः
२-अक्षानुगृहीतमक्षरापामका	→ सत्पात्मानुयायिनः	→ साक्षपा
४-आभिरानुगृहीतचिह्नारक्षरापामका	→ अक्षानुयायिनः	→ वैशेषिका
५-चिह्नारक्षरानुगृहीतचिह्नारक्षोपामका	→ चिह्नारक्षानुयायिनः	→ माध्ववाक्याः
६-चिह्नारक्षचिह्नारक्षोपामका	→ चिह्नानुयायिनः	→ लौकिकवाक्याः



१-विरव-बिराट्-यज्ञ-सत्य-पोडशीप्रजापतिरूपशरीरावच्छिन्नः—आत्मन्वी	—मायी महेश्वर
२-विरव-बिराट्-यज्ञ-सत्यप्रजापतिरूपशरीरावच्छिन्नो महेश्वरान्तर्गमिव आत्मन्वी-सकलः पोडशी प्रजापति	
३-विरव-बिराट्-यज्ञरूपशरीरावच्छिन्नो महेश्वरपोडशीगमिवः—आत्मन्वी	—सगुण सत्यप्रजापति
४-विरव-बिराट्-रूपशरीरावच्छिन्न महेश्वरपोडशी सत्यमिव —आत्मन्वी	—सर्विकरो यज्ञप्रजापति
५-विरवशरीरावच्छिन्नो महेश्वरपोडशीसत्ययन्त्रमिव —आत्मन्वी	—सञ्ज्ञतो बिराट्प्रजापति
६-महेश्वरपोडशीसत्ययज्ञबिराट्गमिवस्तत्तत्कृत्तारमा	—सावरणो विष्णुप्रजापति



इस प्रकार में प्रधानरूप में हमें जीवात्मा का स्वरूप बतलाना है। जीवात्मा का वैज्ञानिक स्वरूप जीवात्मस्वरूपविष्करण-ना भाग जाकर स्वयं हाथों से, परन्तु बहुत श्रमों में बली आन वाली दार्शनिक भावना के अनुसार भी जीवात्मा की सन्धिप्र स्वरूप ज्ञान सेना अनाश्रयक न होगा। जीवात्मा इन्द्रियमा का अंग है एवं अर्थाभिज्ञ स बहाना (क-क) है। इस जीवनानास्वरूप का दृढमूल अनाश्रय द्वय निम्न विवरण अनाश्रय मूल हमारे सामान आन है

(-¹ अंशा नानाग्रपदशादन्यथा चापि दाशकितयादित्वमभायत एक" ॥

२- 'सत्यवशात्' ॥

३- 'अपिष स्मर्यते' ॥ (शा० सू० ० अ० १३ पा० १७ अ० १४३ ४४ ४५ सू०)

सदाभासी पूण पुरुष का स्वरूप का जिए । इस का हमन महार करहा ई । सभूय प्रपञ्च इसी महार

● ਸਿਰਫ਼ ਦਰਬਾਰਬਲਦੀਵਾਲੇਧੂ ਕਮੇਜ਼-ਬਲਦੀਵਾਲੇ ਸਮੇਤਿਕਾਰਨਾਕਾ ਕਰੀਬ ਅਥਵਾ ਇਹ ਬੇਰਮਾਨਾਕਾਰਮਾਫ਼
ਕਰਨੇ ਵਾਲੇਧੂਕੇ ਬਲਦੀਵਾਲੇ ਦੁਆਰਾ

छठ सं० २६६ 'अ'—

१—१—मायपरिमह—मायी महेश्वरो निष्कल—आत्मन्वी } —महेश्वरप्रजापति १
२—२—कलापरिमह—सकल पोडरी—आत्मन्वी }

—०—

३—१—गुणपरिमह—सगुण सत्यप्रजापति—आत्मन्वी } —विश्वेश्वरप्रजापति २
४—२—विष्णुपरिमह—सविष्णु वरुणप्रजापति—आत्मन्वी } —वपेश्वरप्रजापति

—०—

५—१—ब्रह्मणपरिमह—ब्रह्मणो विराट्प्रजापति—आत्मन्वी } —ईश्वरप्रजापति ४
६—२—आवरणपरिमह—आवरणो विरट्प्रजापति—विष्णु }

प्रसंगगत यह ज्ञान लेना भी अनुचित न होगा कि आज जो मित्र मित्र • दर्शनों में बिरोध पाया जाता है, इसका मुख्य कारण भी वस्तुतः आत्मसंस्थाओं का बिरोधभाव ही है। यदि आत्म संस्थाओं का पार्वक समझ लिया जाता है, तो मित्र मित्र एक एक आत्मसंस्था को प्रधान मन कर सकें ही में वैयक्य से शत्रु आत्मसंस्थाओं का भी विगृहीत करने वाले दर्शनों में कोई बिरोध ही रह जाय। इस दृष्टि से जो महत्त्व एक आत्मिक दर्शन का है, वही महत्त्व नास्तिक दर्शन का है। यहाँ दर्शन बच अभ्यासिक है, अथ वाचिकरूप से ही प्रकृत में दर्शनों का समन्वय बतसा दिया जाय है।

• इस विषय का विराट् विवेचन 'गीता वेदान्तभाष्यमूढिका' २ खण्ड 'क' विभाग 'आत्म परीक्षा' में वैदिक्य आदिप।

१-परात्परोपामका	→ परात्पराभुषाधिनः	→ परमास्थिका गीतावाक्या
२-अभ्युपगम्योपामका	→ पुनःप्राप्तभुषाधिनः	→ वेदान्तिनः
३-अक्षानुगृहीतमसुरोपामका	→ सत्यात्माभुषाधिनः	→ सांख्य
४-आत्मकानुगृहीतविकारकरोपामका	→ ब्रह्मात्माभुषाधिनः	→ वैशेषिक
५-विकारकानुगृहीतवैकारिकोपामका	→ विराडात्माभुषाधिनः	→ मान्दव्याधिका
६-वैकारिकविराडोपामका	→ विरहानुषाधिनः	→ लौकायतिका



१-विरह-विराट्-यज्ञ-सत्य-येदं प्रमाणविराट्पराशरीरावच्छिन्नः—आत्मन्वी	—मायी महेश्वर
२-विरह-विराट्-यज्ञ-सत्यप्रमाणविराट्पराशरीरावच्छिन्नो महेश्वरात्मगमिन्—आत्मन्वी	—सकलः पोटशी प्रजापतिः
३-विरह-विराट्-यज्ञरूपपराशरीरावच्छिन्नो महेश्वरपोटशीगमिन्—आत्मन्वी	—सगुण सत्यप्रजापति
४-विरह-विराट्पराशरीरावच्छिन्नो महेश्वरपोटशी सत्य गमिन्—आत्मन्वी	—सर्विक्रो यज्ञप्रजापति
५-विरहपराशरीरावच्छिन्नो महेश्वरपोटशीसत्ययज्ञर गमिन्—आत्मन्वी	—संज्ञको विराट्प्रजापति
६-महेश्वरपोटशीसत्ययज्ञविराट्गमिन्सत्ययज्ञोपासा	—सावरणो विश्वप्रजापति



इस प्रकार से प्रधानरूप में हमें जीवात्मा का स्वरूप ज्ञाताना है। जीवात्मा का वैज्ञानिक स्वरूप जीवात्मस्वरूपोपक्रम—आ भाग जाकर स्पष्ट होगा ही, परन्तु बहुत जिनो में बली ज्ञान बली दार्शनिक भावना के अनुसार भी जीवात्मा की मूर्तिप्र स्वरूप ज्ञान सना अनान्यरूपक न होगा। जीवात्मा श्रवणरत्ना का अरा है एवं उपाधिभक्त स वह ज्ञान। (कनक) है। इस जीवनानास्वरूप को दृढमूल बनाते हुए निम्न छिद्रित ब्रह्मन् सूत्र हमारे सामने आता है।

१-“अंशो नानान्यपदंशादन्वया नापि दाशकितपादिस्वमवापत एके” ॥

२-“मन्त्रवर्णाक्ष” ॥

३-“अपिच स्मर्यते” ॥ (शा० सू० २ अ० । ३ पा० १० अ० । ४३ ४४ ४५ सू०)

मदामात्री पूर्ण पुण्य का स्मरण करिए। इस ही हमने महेश्वर कहा है। सन्तुष्ट प्रपन्न इसी महेश्वर

● तद्विषय स्वरूपमहेश्वरपरिचयः ॥ १००-अन्वयः-स्तेषां अनेकविधपरिचयः अनेक अनेकदश इति अनेकमार्गमन्त्रमन्त्र ॥ १०१-पादार्थः-अनेकमार्गः इत्यर्थः ॥

का विभूति है। यही विभूति अवश्य प्रकट है। यह पुरुष पुरुषस्वरूप सर्वोच्च कायमा है। केवल अन्तः
बीजरूप में अभी अन्त नहीं होता। अपितु जीवमात्र में परिणित होने के लिए इसे स्वभावमूर्त अन्तरंगप्रति-
मा से प्रसिद्ध हरपुत्र अव्यक्त अक्षर का आश्रय लेना पड़ता है। जैसा कि पूर्वेतर कहते हैं—

अत्राऽपि मन्त्रव्यवस्थाया भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृति स्वरामधिष्ठाय ममबाम्यात्ममायया ॥ गी० १०/११)।

प्रकृतिविधिगत बड़ी महत्ता पुरुष बोधक बनता हुआ पांडुरीप्रकाशिता नाम से व्यवहृत होने लगता
है। विद्वत्, चिदात्म—इं जैसा कि पृष्ठ में बताया जा चुका है। इस पुरुषात्मा की स्ति

धारा के सम्बन्ध में प्रधानतया त्रिदात्म्या, विद्वत्, चिदात्मा से तीन विधितया होत हैं। सर्वव्यापक
सहस्रवक्त्राक्षर पांडुरीपुत्र ही विद्वत्मा है। दूसरे शब्दों में इस महेश्वर का विद्वत्मा कह सकते हैं। वह
बुद्धिमान स्वयं है। इसमें अनिश्चितता नहीं है। यह निश्चिन्त है। वह सबका अन्तर्मा है। जीव
स्वरूप का इस व्यापक विद्वत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। जीवमात्र-प्रकरण में सबव्यापक इस विद्वत्
का, पूरा रूप का भी नाम प्रकृत होती प्रकार व्यक्त है। जैसे कि तत्त्वमसि निरञ्जन विशालता परास्वर की का
संस्था व्यक्त है। अतएव हम इस यही छोड़कर विद्वत् की ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हैं।
विद्वत् प्रत्यक्षमात्रा शरीरकमात्रा में भी का अन्तर्मा में विद्यमान है। विद्वत्-बोधाक्षर-विरहवर्णमूर्ति
स्त्रीमात्रा में व्यक्त जिस इश्वर प्रकाशिता का पृष्ठ में विमर्शित कराया गया है। जीवमात्रा 'अन्तः'
का है। वह इश्वर विद्वत् पितृत्व को प्रकार में शरीरमन्त्र में प्रविष्ट होता है। इश्वर का जो कर्म
(विद्वत्) प्रकट बन कर अन्तर्मात्रा में प्रविष्ट बन सन्त्रय में शरीर में प्रतिष्ठित होता है वह ही शरीर
का अन्तर्मात्रा से संगत होता है। 'आत्माकात्मा (शरीरमन्त्रात्मा जीवमात्रा) कहलाता है। वह जो विद्वत्
प्रकट बनता हुआ वक्त्र साक्षीरूप में विद्वत्मात्रा (वाग) सम्बन्ध से शरीरमन्त्रा में प्रविष्ट होता है।
वह शरीरमन्त्रमिष्ट प्रकट होता हुआ ही शरीरमन्त्र से शरीर के वात्माकात्मा में संस्था प्रकट रह
हुआ 'प्रत्यक्षमात्रा' नाम से प्रसिद्ध होता है। शरीर को प्रतिष्ठाभूमि पकड़ी शरीरकटि है। दोनों इश्वर
प्रतिष्ठित हैं। कर्म प्रतिष्ठा में शरीरमन्त्र है। एक निर्धन है दूसरा सत्ता है। एक माता है दूसरा
पिता है।

यका अन्तर में जो सर्वमात्र वि व्यापक विद्वत्मा का शरीर के साथ विभूति सम्बन्ध है। शरीर-
मात्रा-वक्त्र-विभूति—अन्तर्मात्राका विद्वत्मात्रा का विद्वत्मात्रा में शरीर के साथ योग सम्बन्ध
है। यह प्रकटभूत विद्वत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध है। विभूतिमन्त्राका विद्वत्मात्रा व्यापक विद्वत्मा

निमग्नानुग्रह से परे रहता हुआ केवल आत्मस्वनमात्र है, आवरण है स्वरूप है, आविर्भावी है एक प्रकार से शार्ङ्गवत् ब्रह्म (परात्पर) ही है । योगसम्बन्धावच्छिन्न चिदंश निमग्नानुग्रह का अभिप्राय है । इसी की शक्ति वा जीवात्मा सञ्जातित है । इसका सर्वत्र समान वैभव था, इस का परमात्र हृदय के साथ योग है । इसी चिदंशरूप प्रत्यगात्मा (ईश्वरात्मा) का विग्रह र्शम कराते हुए भगवान् कहते हैं—

ईश्वर सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

आमयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया (योगमायया) ॥ गीता १८।११ ॥

बन्धसम्बन्धावच्छिन्न चिदंश ही शरीराभिमानी जीवात्मा है । प्रत्येक शारीरक आत्मा के लिए प्रत्यगात्मा स्वतंत्र है । स्वस्वनिपति भूय स प्रत्येक का प्रत्यगात्मा शारीरकात्मा की भाँति शरीरोपाधिभिः स पूरक बन रहा है । इस चिदंशरूप प्रत्यगात्मा की यद्यपि शरीरोपाधि युक्त ब्रह्मत्वा जाति है, परन्तु वस्तुतः यह जीवमात्र में समान है । जीवशरीर में रहता हुआ जीवसहकारी यह चिदंश जीवमात्रका अनुभाषक है । चिदंशमूल प्रत्यगात्मा एवं चिदंशरूप ही शारीरकात्मा के स्वरूप परिचय के लिए उद्हरणार्थ सौख्यस्थिति पर दृष्टि डालिये ।

जलपूर्णपात्र वर्षण, स्फटिकमणि, आदि के साथ सूर्यम्योति का सम्बन्ध होता है । यह सम्बन्ध आतप (चमक-म्योति प्रकार) एवं प्रतिबिम्ब मेघ से दो भागों में विभक्त है । जल-वर्षणपर सूर्य का (सत्रविम्याम के अनुसार) प्रतिबिम्ब प्रतिष्ठित होता है । यह प्रतिबिम्ब शरीरोपाधिकृत विलक्षण सम्बन्ध स वहीं ब्रह्मण में जाता हुआ प्रतिपात्रादि मेघ से "यक्पूरक बन जाता है । एक पात्र को छोड़ बीच-बीच केवल जसी के प्रतिबिम्ब का विलयन हागा शेष पात्रों के प्रतिबिम्ब ह्यों के ह्यों अग्रगण्य रहेंगे । सब प्रतिबिम्ब उस एक ही सूर्य के अंग हैं परन्तु पात्र आधार मेघ स, एवं आधारों के घनमेघ से वह एक ही प्रवर्त्यरूप से नाना रूपों में परिणत हो रहा है । इन प्रतिबिम्बों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है । प्रतिबिम्बदाय के अतिरिक्त प्रत्येक पात्र-वर्षणारूप शरीर के साथ त्रैलोक्य में व्यापक सूर्य के आतप माग म्योतिभाग) का भी सम्बन्ध होता है । यह आतप भी यद्यपि हस्तन में लक्ष्मणरीत्ययति है परन्तु प्रतिबिम्बवत् वह इस पात्र में प्रवर्त्यरूप से प्रतिष्ठित नहीं है । अत एव इस हम त्रैलोक्यव्यापक एक ही सर्वमाधारण सर्वमान्य वस्तु कहेंगे । यही परिस्थिति शरीररूप के सम्बन्ध में समझिए । विश्वव्यापक विद्यामा सूर्यम्यानीय है । वह स्वस्वरूप स सपदा अग्रगण्य है । इस व्यापक विद्यामा के चिदंश का सम्बन्ध प्रतिशरीर के साथ

चतनारूप ॥ एवं चिदाभाम रूप म दा दा प्रकार से जाता है। चतना (चिन्मात्र चित् प्रकार) को आनन्दप्रधानी का समझिए, एवं चिदाभाम को प्रतिविम्बस्थानीय समझिए। यद्यपि चतनारूप चिदा मत्तत्त्वत्रयी में आनन्दरूप रूप ज्ञ है तथापि यह प्रबन्ध सम्बन्ध से चर्चा प्रमेय मावत्तप से प्रतिष्ठित नहीं है। अतएव स्थूलदृष्ट्या शरीरगोचरिक दिवा शरीरपरिच्छिन्न बनता हुआ भी यह स्वशरीरमात्राग्रहण है। प्रतिशरीर में व्याप्त उस चिदाभाम से अभिन्न यह इन्द्रियरूप जीवमहयोग से गयाकथाचक्षु जागरण से भी व्यक्त होत किया जा सकता है। यह 'ब्रह्म' है दूसरा अक्षरमात्र 'ब्रह्म' है। यह प्रबन्धरूप से प्रतिष्ठित होता हुआ प्रतिशरीर में भिन्न है। इन दोनों में से स्वगर्भमत्तप चतना मात्र को लक्ष्य में रख कर ही— 'अभिन्नं च भूतेषु बिम्बकमिव च म्यितम्' (गी १३.११) 'मम सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्त परमेश्वरम्' (गी १५. ७) "आत्माद्बोधानां सुजनस्य तमा यथावर्षं चरति देव एवः" श्रुतं १ : १५८। ४) इत्यादि कहा जाता है। ब्रह्मन्तरां इसी सबमात्रा रूप प्रत्यगात्मा को आत्मा (जीवात्मा) मानता हुआ जीवन्मात्र का लक्षण करता है। कब प्रविशरीर में लक्ष्य से सर्वेषां विभिन्न जीवात्मा का ही निरूपण करने वाला साक्ष्य दर्शन जीवन्मात्र का अनुगमन कर रहा है। इस प्रकार यह मञ्जीमात्रि सिद्ध हो जाता है कि एकमात्र चिदाभाम चिदाभाम प्रत्यगात्मा-शरीरकआत्मा मत्त से तीन भागों में परिचित होकर सब कुछ बन रहा है। इन तानों में हमारे आत्मप्रकरण में चिदाभाम अविच्छिन्न है प्रत्यगात्मा एवं शरीरक आत्मा प्राण हैं। बानो निम्न सहचारी हैं। एक असंग है दूसरा समंग है। इनके इसी साहचर्यका वि धरण करता हुआ भगवान् ध्यास करते हैं—

तत्र य परमात्मा हि स नित्यो निगुण स्मृतः ।

न लिप्यते फलैर्भावि पद्मप्रमिषाम्ममा ॥१॥

कस्मात्मात्वपरा योऽसा मोक्षार्थं ॥ युन्यत ।

स सप्तदशकनावि राशिना युन्यत मदा ॥२॥

वार्तनिक दृष्टि से चिदाभामरूप कस्यात्मा का विवर्जन हो चुका। अब विज्ञानदृष्टि से जीवात्मस्वरूप का विचार किया जाता है। जीवात्मा ईश्वरप्रापति का ही अर्थ है, यह निर्बिबाद है। साथ ही में पूर्व प्रतिपादित चारों प्रजापतियों में से विराट्-हिरण्यगर्भ-

* ५ कर्मोद्धार २-कर्मोद्धार ५ विद्वत् बुद्धि तथा १-मम इन की समष्टि से जीवात्मा निम्नबुद्ध रहता है।

सर्वज्ञ त्विं स्त्रीम्यत्रिनोकी में प्रतिष्ठित तत्त्व का ही नाम ईश्वर प्रजापति है, यह भी स्पष्ट विषय है। एतद्वंशमूत्र जीवात्म-स्वरूपपरिचय के लिए एकमात्र इसी त्रैलोक्य व्यापक ईश्वरप्रजापति की आर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

‘यदि मन्यसे सुवेदसि दधमेवापि नून त्व वेत्य जज्ञयो रूपम्। यदस्य त्व, यदस्य च विदित-अविदित-विदिताविदितातीत-आत्मविषय-द्वेषु, अथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये

विदितम्। अन्यदेव तद्विदितयो अविदितदधि’ — (कनोपनिषत्) इत्यादि औपनिषद् सिद्धान्त क

अनुसार आत्मविषय विदितात्मा, अविदितात्मा, विदिताविदितातीतात्मा मेव से तीन भागों में विभक्त है। इन जानव हैं, कर्म करत हैं, ज्ञानकर्मामित अर्थों का ज्ञानकर्म द्वारा अभ्योग करत है। जानता ज्ञानशक्ति है, करना क्रियाशक्ति है। ज्ञानकर्मामित तीसरा भाग अध्याशक्ति है। इन तीनों ही भागों का आपापर-आधिपत्यन आकाशवृद्ध समी को सगानरूप म प्रत्यक्ष है। इन तीनों शक्तियों का विकास क्रमशः मधुश इन्द्र, सारारिखा वायु आतवेदा अग्नि इन तीन देवताओं से हुआ है। अग्नि अधेशक्ति की प्रतिष्ठा है, वायुदेवता क्रियाशक्ति का प्रवर्तक है एवं इन्द्र ज्ञान क सञ्चालक है। इन तीनों देवताओं की समष्टि ही देवता सम्बन्ध से ‘वसतत्पारमा’ नाम से प्रामाण्य है। यह अथरात्मा सचक लिए सचचा विहित है। ज्ञानक्रियाव मूर्ति, इन्द्रवाय्वप्रमथ, इन वसतत्पारमा का अनुमय प्रवक्तव्यनानुसार सभी को हो रहा है।

इसी आधार पर हम—‘विदितात्मा’ कहा जा सकता है। इन तीन का आधारभूमि पञ्च प्रकृतक ब्रह्मसत्त्वान्मा है। अथवा-ब्रह्म-विज्ञान-महाम-भूतान्मा इन सुप्रसिद्ध पांच पर्वों की समाष्ट ही ब्रह्मसत्त्वा मा है। शान्तिनाथ तत्त्व मा यह मनुष्या के लिए यह आत्मा अविज्ञात (न जाना हुआ) है आपर हम ‘अविदितात्मा’ कहा जा सकता है। तीसरा विश्व व्यापक पुरुषात्मा अनुभवकाल्य ज्ञान म विज्ञान-आधिपत्य ज्ञाना काग्न्या म पर रहता हुआ विदिताविदितातीतात्मा है। यही ‘यदस्य त्वम्’ वाक्य म अभिहित ब्रह्मसत्त्वान्मा की पाठसा है यही यदस्य त्वं दस्यु

इस म अभिहित वसतत्पारमा का आत्मबन्ध है। इन तीनों का व्यापक बन्धन हुए आमात्र्य है। यदि अस्माकं से आपन इन्हीं ब्रह्म देव विचरता या आत्मा समझा है, यदि इन्हीं के पारजान से आप आपन का सुवश (आत्मज्ञानी) मान रहे हैं तो विश्राम कीजिए। अथ आपन आत्मा का स्वरूप बहुत दध (योद्धा) समझा है। त्रिमय विश्राम म यह आत्मकर्म म प्रविष्ट हो रहे हैं वह विदिताविदितातीत योद्धापुरव ही मय आत्मा है। वसतत्पारमा ब्रह्मसत्त्वा मा भूतान्मा आपनब्रह्म के विषय म महिमाराती बन

रह ई— 'प्रज्ञाणो वा विजये महीयन्धम् ।' यह पुरुषब्रह्म पुरुष है, आत्म्यप्रधान है। ब्रह्मसत्त्व अक्षरप्रधान है एवं देवसत्त्व सत्त्वप्रधान है। पुरुषब्रह्म को ही पूर्वमें महेश्वरप्रज्ञापति कहा गया है ब्रह्मसत्त्व को ही समष्टिरूप सं विश्वेश्वरप्रज्ञापति एवं व्यष्टिरूप सं उपेश्वरप्रज्ञापति कहा गया है। एवं देवसत्त्व को ही शिराट्मूर्ति ईश्वरप्रज्ञापति कहा गया है। इन चारों संस्थाओं में स कर्मन्ता के साथ ईश्वरप्रज्ञापतिरूप देवसत्त्वारोमा का ही सम्बन्ध है। आत्मपरिभाषाज्ञान के अभाव से देवसत्त्वात्मक ईश्वर को जिन महानुभावों ने साक्षरों आसमान की कोई भौतिक-व्यभिज्ञेय वस्तु समझ रखी है विज्ञानदृष्टि के द्वारा आज हम आपको ईश्वर के साक्षात् दर्शन करा दते हैं। ईश्वर का स्वरूप अग्नि-वायु-इन्द्र, तीन देवताओं से संपन्न हुआ है। तीनों देवताओं की प्रतिष्ठाभूमि महापृथिवी नाम से प्रसिद्ध स्तौम्बिकाक्षी है। अतः पहिल इरी का संक्षिप्त स्वरूप बतलाया जाता है।

पृथिवी—अन्तरिक्ष—द्यौः इन तीन लोकों की समष्टि त्रिलोकी है। वह त्रिलोकी आठ पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः —भागों में विभक्त है। इन भागों में स प्रकृत में रोदसीत्रिलोकी, स्तौम्बित्रिलोकी ये दो त्रिलोक्यों हो व्यपक्षित हैं। जिस प्रविष्टा पर आप सपरिवार-सहोदर सपरिग्रह प्रविष्टित हैं वह पृथिवीलोक है बरी मूलोक है। प्रत्यक्षदृष्ट सहाय्य सूर्य्य स्युलोक है बरी स्वर्लोक है। सूर्य्यरूपा द्यौः पृथिवीरूपा पृथिवी का अन्तःगतप्रद्वय अन्तरिक्ष है। बरो सूर्य्य सूर्य्य है जैसाकि अनुपपत्ते ही स्पष्ट होने वाला है। 'अन्तरिक्षायतना हि प्रज्ञा' (वा मा १।१।१३) 'यथाय पुरुषो (प्रज्ञा) ऽमृत उभयतः (पृथिव्याः सूर्य्ये च) परिच्छिन्नो ऽन्तरिक्षमनुचरति' (शत १।१।१४) इत्यादि सिगम बचनों के अनुसार सन्मुख प्रजा (बहु दशाविध भूतमग) मुखेलोकात्मक इस अन्तरिक्ष में ही प्रतिष्ठित है। सूर्य्ये स्यु पृथिवी के अन्तःगत (सम्भ) में जो आकाश दत्ता जाता है बरी—'अन्त -ईक्षते' के अनुसार अन्तरीक्ष है। अपि च साथ कुछ इस पागों काका के अन्तः (मीतर) प्रवेष्टित है अत एव इसे अन्तर्य्यक्ष कहा जाता है। बरी अन्तरीक्ष किवा अन्तर्दक्ष (परोक्ष प्रथ १८-ताओं, विद्वानों) की परोक्ष भाषा के अनुसार 'अन्तरिक्ष' नाम से प्रसिद्ध है। अन्तरिक्ष के इसी स्वरूप को छदय में रखकर अनि कहती है—

१—'तद्यदस्मिन्निद सर्वमन्तः—तस्मादन्तपक्षम्। अन्तपक्ष इ वे नामैतत्—
तदन्तरिक्षमिति परोक्षमाचक्षते' (वे ३ १। १४)।

२-“अन्तरेष वा इदमिति, तदन्तरिक्षस्यान्तरिक्षत्वम्” (तां प्रा० २०।१४।२) ।

३-“सह द्वैमात्रे (पृथिविसूर्यौ) लोकात्पासतु । तयोर्विद्यतोर्मोऽन्तरेणाकाश आसीत्-तदन्तरिक्षममभवत् । ईदृशं हेतुनाम् । तत् पुरान्तरा वाऽइदमीदमभूदिति । तस्मादन्तरिक्षम्” (शत० अ१।२।२३) ।

४-“मध्यं वाऽन्तरिक्षम्” (शत० अ१।१।२६)

५-“क्षिप्रमिवेदमन्तरिक्षम्” (तां प्रा० ७।१।१८) ।

“अन्तरिक्षेण हीमेद्यावापृथिवी विष्टम्” (शत० १।२।१।१६) “एतेन इमौ लोका विष्कृण्वौ” (जै० ३० । १ । २०।३) इत्यादि के अनुसार क्षिप्ररूप अनिष्ट अन्तरिक्ष ही दोनों लोकों के स्वरूप को प्रकट प्रकट बतलाने वाला, दोनों का स्वप्न (स्वप्न-चंद्रमा) स्वातीथ है । अन्तरिक्षरूप आकाश ही यह पृथिवी है ” यह सूर्य्य है ” इस प्रकार पृथिवी तथा सूर्य्य के नामरूप का निर्वाह है- “आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वाहता” । यदि दोनों के मध्य में यह आकाशरूप अन्तरिक्ष न होता तो तब पार्थक्य व्यवहार असम्भव था । न केवल यावापृथिवी का ही, अपितु पदार्थमात्र के नामरूप में व्यवहार का सम्पादक एकमात्र आकाशात्मक अन्तरिक्ष ही है ।

भूपिण्ड से एक निराकार प्राण निकल कर वही वृत्त अपना एक मण्डप बनाता है । ब्रह्मण्ड यह प्राण व्याप्त है, ब्रह्मण्ड पृथिवीलोक की सत्ता मानी जाती है । इसी प्रकार ब्रह्मण्ड सौरप्राण की व्याप्ति है, ब्रह्मण्ड सूर्य्यलोक की सत्ता मानी जाती है । सूर्य्य के केन्द्र में वक्ष्यतः प्र प्रतिष्ठित होकर अक्षरूप से बाहिर निकल कर बितल होने वाला तत्त्व ही ‘अक्षर’ कहलाता है । ‘स्वरोऽक्षरम्’ (का० प्रा० १।६६) के अनुसार अक्षर को ही स्वर कहा जाता है । इसी अक्षररूप स्वर के सम्बन्ध से सूर्य्य को-“स्वरहर्देवा सूर्य्यः” शत० १।१।२।११ इत्यादि के अनुसार स्वर्लोक का । जाता है । विश्वामित्र पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि, सूर्य्य में ऊपर की ओर परमधाम में प्रतिष्ठित यज्ञमूर्ति परमेष्ठी, एवं अध्वरूपसि स्वधर्म इस दो लोकों में मतोमय असुतप्रधान अध्वयगुरु की प्रधानता है । सूर्य्य से नीचे की ओर अक्षरधाम में महामूर्ति चन्द्रमा, एवं भूतमूर्ति पृथिवी में बाह्यमय सत्त्वप्रधान सरपुत्र की प्रधानता है-“तस्माद्यत्किञ्चावापीनमोदिष्यात् सर्वं तन्मृत्सुनामम्” (शत० १०।१।१।४) ।

ब्रह्मदेवता बाह्यमय-अन्नात्मक-अन्नमय-होने से त्रिकल बनत हुए महादेव हैं। पूर्व प्रतिपादित अक्षयमूर्ति महेश्वर का स्मरण कीजिए। इस अक्षयमूर्ति को ही आगमशास्त्र में 'धूर्तुम' नाम से व्यवहृत किया गया है। हमारे ब्रह्मदेवता ब्रह्मामूर्ति महात्म इस धूर्तुम के अग्रभाग में प्रतिष्ठित हैं। अक्षयमूर्ति के अग्र-प्रक्ष-शुक्र, ये तीन विचरते पथलाए गए हैं। अग्र-विचरते अक्षयप्रधान है प्रक्षविचरते अक्षयप्रधान है, एवं शुक्रविचरते अक्षयप्रधान है। अक्षयमय मूर्ति की प्रतिष्ठा है, अक्षयमय प्राणमय देवता की प्रतिष्ठा है, एवं अक्षयमय मनोमय सत्यप्राप्ति की प्रतिष्ठा है। प्रक्ष-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम, ये पाँचो अक्षर प्राण-आप-वाक-अस्माद-अन्न, इन पाँचो धर्मों से निरूपित रहते हैं।

इन पाँचों के १-२-३- इस क्रम से तीन विभाग होता है। प्राणमय प्रक्ष का एक दक्षिणामूर्ति विचरत-स्वतन्त्र विभाग है। इस पर अक्षयमय महेश्वर के असूत प्रधान अक्षय का अनुग्रह रहता है। आपोमय विष्णु, एवं वाक्मय इन्द्र, इन दोनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। 'इन्द्राविष्णु समुग्रौ' कहा जाता है। दोनों को समुचित व्यवस्था का नाम ही विष्णु है। जो इन्द्र है वही विष्णु है। अतः एव विष्णु को उपेन्द्र कहा जाता है। इस पर प्रक्ष प्रधान अक्षर का अनुग्रह रहता है। एवं वाक्मय इन्द्र, अन्नात्मक अग्नि अन्नमय स्मोम इन तीनों अक्षरमय अक्षरों का एक स्वतन्त्र विभाग है। इन तीनों की समष्टि ही महादेव है। इस पर शुक्रप्रधान मौक्तिक कर का अनुग्रह रहता है करप्रधान होनेसे त्रिमूर्ति महादेव मूर्तनाम है वाक्पति हैं। अक्षरप्रधान होनेसे त्रिमूर्ति विष्णु स्वभेद व्यवस्था है प्राणपति हैं। अक्षय की प्रधानता से एकमूर्ति प्रक्ष स्वरनाम है, वित्पति हैं। ज्ञानमूर्ति प्रक्ष, क्रियामूर्ति विष्णु शान्ति ही ज्ञान-क्रिया के नीरूप होने से अपरपथ हैं, दृष्टि से परे हैं। इन दोनों के सापक (परिचायक-लिङ्ग) अर्गमूर्ति मूर्तपति महादेव ही हैं। अतएव इनकी विज्ञाकरसे व्यवस्था की जाती है।

बाह्यमय अक्षय मूर्तप्रधान ही अक्षय का लिङ्ग है। शुक्रमूर्ति वह कर किंवा मूर्तनाम सत्य-शुभ धूर्तुमय अक्षय के सब स जीवों के ज्ञान में (रोहणी प्रेक्षक में) प्रतिष्ठित हैं। रोहणी का वही मृग करत है अतः एव रोहणी को मृगपरणी कहा जाता है। अन्नात्मक धूर्तुमय अग्निज्वालि है अन्नमय अन्तरिक्ष पञ्चज्वालि है बाह्यमय सूर्य इन्द्रज्योति है। इन तीनों के सम्बन्ध से ये त्रैलोक्य व्यापक महादेव त्रिनेत्र बन रहे हैं। इसी ब्रह्मामूर्ति शिव की उपासना का प्रकार बताया हुआ आगमशास्त्र कहता है—

दक्षिणामूर्ति. शिव

व्याख्यामूलाधमालाकलशसुखिनिवे वाङ्मिषामपादम् ।

विभ्राणो जानुमूर्ध्ना पदतलनिहितापस्तुतिर्गुह्यमाध ॥

सौवर्णे योगपीठ लिपिमयकमले मृपविष्टस्त्रिनेत्र ।

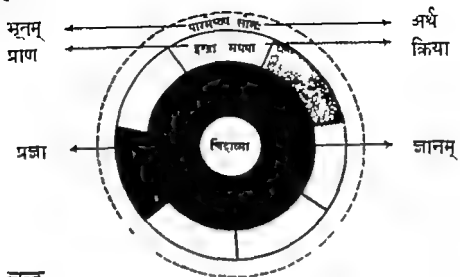
क्षीरामहचन्द्रमौलिचिह्नितस्तु विपुला शुद्धयुद्धि शिबो नः ॥१॥

“शुद्धयुद्धि” क अनुसार ‘यु’ शब्द अच्यय का सी चापक है । अच्यय ही अच्यय रूप में परिणत हो रहा है । इस का अरथचान शुद्धभाषा सर्वांग है, यही शिव मणि मित है । सौरभ्योतिगण्डल गिरि द्विगमय मन्त्रक है । यही शोभण योगपीठ है । कर्म से ही क-च-उ-त-पादि मनी लिपि का विकास होता है । यही अमृति महाशय का आसन है । मूर्ध्ने इन्द्र का मरुत स्थान है । इस म ऊपर पारममय मन्त्रावस्थिति चन्द्रमा है । इसीलिए उन्हें “चन्द्रमौलि” कहा जाता है ।

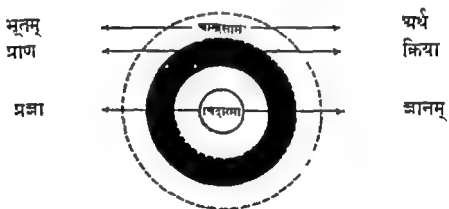
शेखरी शैलेश्वर का मूर्त्यु शिव विश्वेश्वर की बुद्धि है, अथवा उल का मन है, आत्म वायुदेहित मूर्ति—शिव वायु उम का हस्तात्मा है, श्रुतिही वाङ्मया स्थानीय । इस

शेखरी शैलेश्वर क सम्बन्ध में पाठकों की यह विरोध स्थान रखना चाहिए कि, शेखरी क अमर शिखर मुक्तलोक में चन्द्रमा—वायु—मरुतान् इन्द्र, ये तीन तत्त्व प्रतिष्ठित हैं । चान्द्रसोम एवं मरुतान् शोभी अभिन्न रहते हुए वायुपरातल पर प्रतिष्ठित हैं । यह वायु स्थिर—चर—मरुत दो प्रकार का है । स्थिरवायु वराह नाम म प्रतिष्ठित है, एवं चर वायु—वात (वात आवात मयक) नाम से व्यवहृत होता है । भूविण्ड क चारों ओर गिर रहने वाला भूविण्डरूप मयक वायु ही वराह है, जंसा कि अनुपम से ही स्वयं होने वाला है । इस विण्डरूप-मयक स्थिर वायु का भूविण्ड में ही अभ्यर्णव है । दूसरा चान्द्रास्वय मुक्तलोक स्थानीय वायु ही साम गमित इन्द्र की प्रकृति है । इस योगगमित चन्द्रवायु का पताचान क अनुसार ‘ग्रह’ कहा जाता है । योगगमित चन्द्र वायु ही अमरिच का प्रधान अभिधान है । इसी क लिए ‘इन्द्रयुक्तीया ग्रहा गृह्यन्ते’ यह कहा जाता है । इस बात वायु में एक चतुष्पाद इन्द्र रहता है । यदि भी चर वायु है तो उस में ७२ चर इन्द्र है, ७२ चर वायु किया वायव्य सोम है । इस मरुत नामक चन्द्र वायु क आवागम ४० विभाग हैं, जिन का निरूपण महाविज्ञान में ग्रहण्य है ।

१ - सूर्य



२ - चन्द्र



मूर्तिवत् दिवा पृथिवीलोका अम्नाह नाम की प्रकृति से युक्त है। वह पिण्ड पृथिवी अम्नाहप्रकृति-आतु मूर्तिवत्—(जिसे कि विद्वान् दृष्टि से इस पृथिवी न कहकर मू कहेंगे)।

अम्नाहप्रमयी ह, साथ ही ॥ बराह नामक स्थिर वायु म चारों ओर स निवस स्थित है। आभिमन्यु प्रिय पिण्ड पृथिवी का अपने अम्नाहप्रमयों से प्रत्यक्ष कर रहे हैं किसी समय इस का दूसरा ही रूप था। आपोमय अम्नाह समुद्र में पृथिवी 'काम्नालीकृतरूपा' थी। सर्वत्र पार्थिव मृत परमाणु इतलत व्याप्त थे। सत्यसंक्रुप प्रजापति की सत्यकामना से वायुद्वारा एक ही समय में चारों ओर स इस सुन्दरमाणुओं का नियत प्रवेश में संघटन हुआ, कालान्तर में पृथिवी पिण्डरूप में परिणत होता हुई—“अमृत-प्रतिष्ठा” इस निर्बचन के अनुसार भूमि नाम से प्रसिद्ध हो गई। वायुद्वारा ही आपोमय समुद्र में से काम्नालीकृतरूपा पृथिवी का पिण्डरूप में बदल हुआ जब एक वर्ष वायुतत्त्व “हृषुते-इति वर, अहोतीति अह, बरोधोर्वा अहस्पति बराह” इस निबचन के अनुसार बराह नाम से प्रसिद्ध हुआ। आप जितने भी पिण्ड दत्त रहे हैं उन सब का स्वरूपसम्पादक यह बराह वायु ही है। अक्षिद्वयसंख्यासे स्वल्पमू-परमद्वी आदि पांच पिण्ड हैं। पिण्डपाण्ड-अह स पिण्ड संपादक बराहवायु पांच स्वरूपों में प्रसिद्ध होता है। स्वल्पमू पिण्ड सम्पादक वायु “आदिबराह” है परमद्वीपिण्ड का यज्ञबराह” है सूर्यपिण्ड का “श्वेतबराह” है अम्नाहप्रमय का “महाबराह” है एवं मूर्तिवत् की स्वरूप समपक बराह वायु—“एमूय बराह” नाम से प्रसिद्ध है। पृथ्वी बराह अम्नाहप्रमयता की अवस्था से “एवयवत्” नाम से प्रसिद्ध है। अक्षिद्वयविज्ञान के अनुसार इस का एक ‘मातरिबराह’ वह साधारण नाम है। माता पृथिवी का नाम है। संकेत मन्त्र के अनुसार पृथिवी शब्द पिण्ड का वाचक है। जो वायु पिण्ड के चारों ओर स्थिररूप से व्याप्त रहता है वह ‘मातरि (पृथिव्या-सहस्रकृति विण्ड)-इदमृत’ इस निर्बचन से अवरवही मातरिबराह नाम से व्यवहन किया जासकता है।

प्रकृत में मूर्तिवत् के सम्बन्ध से एकमात्र पार्थिव एमूयबराह ही व्यपक्षित है। आ-अभि पार्थिव ‘एमूयबराह—व्याप्य समन्तात्’ ईम् (पृथिवीम्) वसति’ इस म्युतमिति से अमृत की निरंता से अभिगीत यह पार्थिव बराह एमूय (या एम्-वस) कहलाता है। वह अत्यन्त बलवान् है। बलता के कारण ही इस में स्थिरता का रूप होता है। अमृतमन्त्र

‘मातरिबराह’ का विचार अक्षिद्वय विज्ञान द्वारा नाम के तस्मिन्मनो मातरिबराह वसति’ मन्त्र-नाम से प्रत्यक्ष है।

पृष्ठ २७७ का शेषांश

इस प्रकार सूर्य—चन्द्रमा—मरुत्त्वानिन्द्र—यमुपराह—भूपिण्ड, भेद से इन पाँच तत्त्वों की सजा भिन्न हो जाती है। ये सब उसी ब्रह्मसत्तात्मक प्रकृतिवत्त्व के अवयव हैं। दूसरे शब्दों में यह विभाग उपेक्षर से सम्बन्ध रखता है। १—सूर्य, २—इन्द्रगमित चन्द्रमा, ३—बाधुवेष्टित भूपिण्ड। दोनों क्रमशः बाह्—अन्—अन्नाद् नाम की प्रकृतिपाँ हैं। इन तीनों प्राकृतात्माओं में से सूर्य का 'विज्ञानात्मोपनिषत्' में, मरुत्त्वानिन्द्रगमित चन्द्रमा का 'प्रज्ञान' रूप से 'महत्-त्मविज्ञानोपनिषत्' में निरूपण किया जा चुका है। प्रकृत में बाधुवेष्टित भूतत्मास्थानीय भूपिण्ड का ही निरूपण अपेक्षित है। उक्त विषय का स्पष्टीकरण परिलेखों से भलीभाँति हो जाता है।

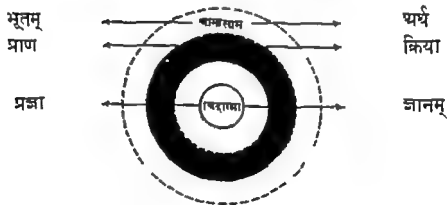
विशेष—

उक्त विषय का सङ्क्षिप्त १० सं० २७७ से आगे तथा २७८ से पूर्व समझना चाहिए।

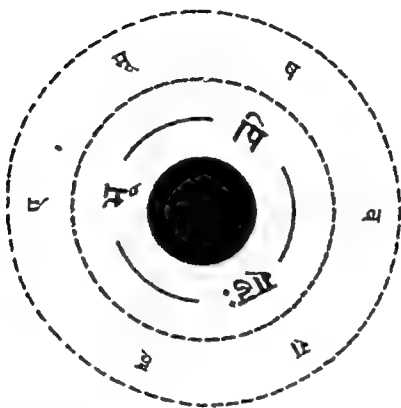
१ - सूर्य



२ - चन्द्र



३ - पृथिवी



१-पारमश्रुमामाद्यणम्पनि

१-दिव्यइन्द्रा मयशाममश्रणा मर -ग्रलोक मय विज्ञानात्मन प्रतिष्ठा

१-निदगा विज्ञानात्मा

१-ताद्रमामा भाव्या

१-इन्द्रा मयवान वायव्य -मुखलोक चन्द्रमा प्रज्ञानात्मन प्रतिष्ठा

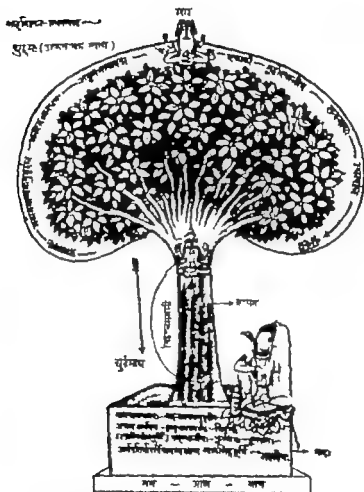
१-निदग प्रज्ञानात्मा

१-मयशामा गिरवायु

-भूलाव पृथिवी-माम्नायापाम्ना प्र

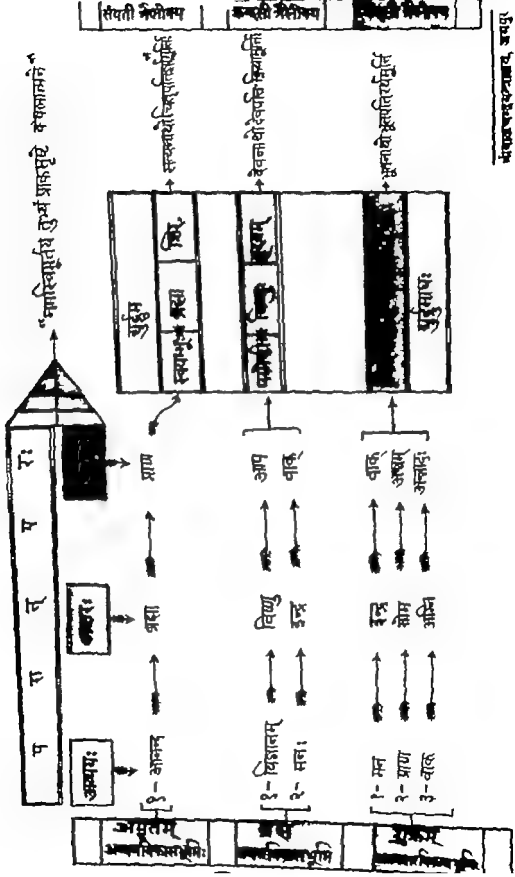
-निदगिन्

रा. प्र. म. (अव्ययवृत्तः) अश्वत्थ



व्याख्यासुत्राद्यमालाकलशशुभसिंहित बाहुभिर्भामपादम्-
 विभक्त्योऽनुयुज्यां प्यक्तलनिदिशत्यमुति धर्तुमां चः ।
 सौख्यं योमपीते क्षिपिमयकमते क्षपणित्तिनेत्रः—
 श्रीरामभञ्जमीतिर्भितरतु विप्रुधां श्रुतपुदि शिवो ब ॥

त्रियमिति -



स्य" (शत० अ० ११३) के अनुसार इस आन्तरिक वायु में घृत स्नेहत्व) भरा हुआ है। इसी घृतालुप्य पर्मेय वायु से शूकर पशु का जन्म होता है। दूसरे शब्दों में शूकर का आत्मा में, इतर प्राणियों की अपेक्षा बराहवायु की प्रधानता है, इसी प्रधानता के कारण शूकर पशु को "बराह" कहा जाता है। बराह वायु की हमने स्तम्भ बतलाया है। भूपिण्ड की ओर ही इस का रुत रहता है, दूसरे शब्दों में यह भूपिण्डानुगत है। अतएव तत्पाठप्रमाण शूकर पशु तथा भूपिण्ड की ओर ही अपना 'गुण' किए मूल्य से संज्ञा (सेट कर) होकर, सर्वथा करता हुआ ही चलता है। घृतालु वायु की प्रधानतासे ही बराह में इतर पशुओं की अपेक्षा घृत (चर्बी) अत्यधिक मात्रा में रहता है, अतएव इसे मेदुर (मैदवी) कहा जाता है— (श्विप शत० १४१३ १६)। सोमवाची दीक्षित इसी के जन्म की उपासना (जूता) पढ़िनाता है। पृथिवी पूषामात्र प्रदान है तमामय पार्ष्णि पूषामात्र ही शूद्र का आरमा है। दूसरे शब्दों में त्रिम के आरमा में १ जन्म से पार्ष्णि पूषामात्र की प्रधानता रहती है। वही वयासुष्टि में शूद्र का जाता है। इसी आधारपर निम्न लिखित निगम बचन प्रविष्टि हैं—

१-“स शूद्र वणमसुव्रत पूषणम्। इय (पृथिवी) वै पूषा। इय हीद सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च” (शत० १४१अ० २२२२)।

२-“इयं वै पृथिवी पूषा” (शत० २१११अ० ४)।

वैवर्ण्यवस्था-विज्ञान के अनुसार पूषामात्र शूद्र है, यह पार्ष्णि सत्त्व है अतएव शूद्र, और शूकरपशु—पृथिवी म सत्त्व सम्बद्ध बराह वायु के साथ इस शूद्र पूषा मात्र का पतिष्ठ सम्बन्ध है। पूषामात्रात्मक भूपिण्ड पर तद्वेषणरूप बराह वायु के इसी वाशस्थ को जन्म में रक्त कर इस बराह वायु को भी पूषा कह दिया जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

“अयं वै पूषा योऽयं (वातः) पवते। एष हीद-सर्वं पुष्यति”

(शत० १४१२ ११६) इति।

इस परिस्थिति से बतलाना यही है कि, भौतिक सृष्टि में शूद्र-एवं शूकर पशु का समान स्थान है। शूद्रमनुष्य में जिस पूषामात्र की प्रधानता रहती है शूद्रपशुरूप बराह पशु में भी वही पूषामात्र की प्रधानता है। ब्राह्मण मनुष्य के साथ ब्राह्मण भज पशु की रुत्रिय मनुष्य के साथ रुत्रिय भज पशु की, वैश्य मनुष्य के साथ वैश्य गो पशु की यदि समानता है, तो शूद्रमनुष्य के साथ शूद्र बराह पशु की समानता है। वही कारण है कि बराहपशु को मयमार्गक शूद्र (महतर भंगो) ही

आत्मन्येव ते हैं। बाद रक्षिण्य, जो कार्य महतर का है, वही कर्म शूकर पशु का है। मकारान्तर से शार्ङ्ग ही भक्त का संबन्ध करते हैं। भक्तमाग आसुर है। असुरप्राण अपोमय है, अपोमय, अतएव असुरप्राणमयान समुद्र गर्भ में स भूपियङ्ग का उद्धार करना इसी वराह वायु का कार्य है, जैसा कि पूर्ण में यत्कथाया त्रा चुका है। हमारे शास्त्रों में वराहवायु आसुर भाव का ताराक है। अतएव असुरभक्षक वराह वायु मन्त्रीमस यवन आदि वराहपशु ज सहज और रक्षत हैं।

जिस समय इस वराह वायुन^१ पियङ्गान्मर्माय प्रक्रिया आगम्य की थी उस समय इस एकवर्षे ब्रह्मा था। एक सम्बत्सर के अनन्तर जब भूपियङ्ग पूर्ण चल हागया, तभी वह वराह वायु इस के चारों ओर ब्रह्मसिद्ध हुआ। कहने का तात्पर्य वही है कि पियङ्गरूप चलभाव की निगमि के अनन्तर ही वराह को पूर्णरूप से जन्म लेने का अवसर मिलता है। इस प्रकार भूग नाम से व्यवहृत प्राकृतात्मा से भूपियङ्ग-वराह वायु, इस दो भागों की सत्तासिद्ध हो जाती है। इन दोनों में स वराह वायु को धीड़ी घर के किने छोड़ दीक्षिण, कबल भूपियङ्ग को अपना कक्ष बनाए।

भूपियङ्ग को हमने अन्नाद्यप्रकृतिक मतकाया है। अग्नि-व्यसुर ही जागे जाकर जरमान में परिचित होता हुआ अन्नाद्य नाम से व्यवहृत ज्ञान लगता है। अन्ताद्यतन्त्र साक्षात् अग्नि है। यह अन्ताद्याग्नि विराकलतमर्मा है। संकोचवर्मा अन्नाद्यप्रकृतिक सोम के बिना यह अग्नि एक क्षण भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकती। हम अन्न सम्बन्ध की निरूपणा के कारण ही को अग्नि को "अन्नाद्य" (अन्नाद्यमसोवि-अन्नाद्य-अन्न जाते जाता) कहना अन्वर्थ बनता है। अन्ताद्यगर्भित अन्नाद्योम की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती अतएव अग्निमामयी पृथिवी का कबल अग्निमयी ही मान लिया है — अचैशारम्भापते नाद्यम्^२। जैसा कि निम्न विनिग नीचे प्रमाणों से स्पष्ट है—

१- 'आग्नेयी पृथिवी' (ता० ब्रा १२।४।५ ।

२- 'इय वा अग्नि' (शत ५।३।१। २)

३- "अय वे। पृथिवी) साको वि (शत १४।१।१।४। १)

* स (प्रत्ययः) वराहो कथं कर्त्तव्यमव्यक्तम् । स पृथिवीव्यक्तं जायते । तस्मात् वराहको वराहव्यक्तम् । अथ पुनः कथं वराहव्यक्तम् । अथ पृथिवीव्यक्तं पृथिवीव्यक्तम् (ते ता० १।१।३।५) । इत्येते वराहव्यक्तमे पृथिवीव्यक्तं प्राप्तेन जायते । इत्येते ही वराह रक्षिण्य । अथ अग्निः (पृथिवीव्यक्तं) अग्निः प्रकृत्यति- (शत १।१।१।२१)

४—"अग्निगर्भा पृथिवी" (शत० १५।६।४०१) ।

५—"अथ वा नमिल्लोकाः" (शत० १५।१।१३) ।

पृथिवी-मर्यादा से सम्बन्ध रखन वाले अग्निाद् अग्नि अन्न सोम, दोनो ही अमृत-मृत्यु-
अमृत मर्त्यलक्षणा पार्थिवसंस्था—मेव से दो शो ऊपरवाची में विभक्त हैं। मर्त्य अग्नि, एवं
मर्त्य सोम दोनो ही सुप्रसिद्ध वेद एवं जल नाम के मूल हैं। अग्निमूल, एवं जलमूल के सम्बन्ध
से ही मूर्ति बनता है। पानी ही अग्नि के प्रवेश से कराहवायुकठारा कमरा आप - फल-
सृष्टि-सिक्तता-अर्कता-अग्नि-अथ हिरण्य' इस आठ पनावरवाचों में परिचय होता हुआ
पिण्डरूप में परिचय होगया है। इन आठ अवयवों के कारण ही अन्वेषिज्ञान के अनुसार इस
पिण्ड पृथिवी को "गायत्री" कहा जाता है। कारण अष्टाक्षर इन्द्र का ही नाम गायत्री है। 'या वै
सा गायत्री-आसीत् इयं वै सा पृथिवी' (शत० १५।१।१३)। दूसरा है अमृतभाग।
अमृतमग्नि, एवं अमृतसोम को 'देवता' कहा जाता है। इसी देवता के आधारपर मर्त्यमृत
प्रतिष्ठित है। ये दोनो प्राणदेवता भूकेन्द्र से बह निकल दूसरे शब्दों में केन्द्र का स्वप्रतिष्ठा
न। कर मूर्तिरूप से बाहिर निकलते हुए अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाते हैं। वहीं प्राणमण्डल,
किंवा देवमण्डल विज्ञानभाषा के अनुसार पुन पद-गाइसा-महिमा विमूर्ति' इत्यादि विविध
नामों से प्रसिद्ध है। वार्षिक भोग अपनी वक्षणाभाषा के अनुसार इसी को 'वपटकार' कहते
हैं—'देवपात्र वा यदेव वपटकार' (शत० १७२१)। प्रत्येक वस्तु में पिण्ड एवं महिमा
मेव से दो विभाग अवश्य रहते हैं। पिण्ड हम वस्तु का अन्तर्मण्डल है महिमा उस वस्तु का
बहिर्मण्डल है। पिण्डरूप अन्तर्मण्डल शून्य है इस आप कह सकते हैं देव नहीं सकते। महिमा
रूप बहिर्मण्डल हरमण्डल है इसे आप देख सकते हैं, छु नहीं सकते। जिस वस्तु का आप
स्पर्श करने में समर्थ हैं विरवास कीजिए वह आपकी दृष्टि में कभी नहीं आसकता। साथ ही में
जिसे आप देखने का अभिमान कर रहे हैं, स्वप्न में भी आप उसका स्पर्श नहीं कर सकते। इस
प्रकार विज्ञानशास्त्र आपका चिरानुभूत कल्पित सिद्धान्तों का सर्वथा विपरीत सिद्ध कर देता है।
भूपिण्ड, एवं भूमहिमा का विचार कीजिए। अमृताग्निमोमगर्भित, अमृताग्निमोमप्रधान भूपिण्ड है।
एवं अमृताग्निमोमगर्भित अमृताग्निमोमप्रधान भूमहिमा है। दूसरे शब्दों में भूपिण्ड में मर्त्यअग्नि
धामरूप मृता का साम्राज्य है एवं भूमहिमा में अमृतअग्निमोमरूप देवताओं का प्रमुख है।
मर्त्य भूपिण्ड में से बाह्यरूप से बाहिर निकलने वाले अमृतमृतामृत्यु अग्नि एवं सोम, बाहिर
निकलते हुए अपनी पाँच संस्थाएँ बनाते हैं।

येरता त्रैलोक्य की अपवा से बृहतीसन्द नाम स प्रसिद्ध विष्णुपुत्र पर विद्वत्पुत्र स
दशमुरप्रतिस्पर्धा—प्रतिष्ठित सूर्य के चार और सौर प्रकाशमण्डल के गर्भ में नियत स्थिति
 हृत् पर समक्षि सूर्यवर्ष की क्रमा लगाया करता है। परिक्रममाया इम पृथिवी का अष्टभाग
 सहा सूर्य के सम्मुख रहता है एवं आधा भाग सहा विमुख रहता है। पृथिवी का जो भाग सूर्य
 की ओर रहता है, उस भाग की चार सौरतन्त्र (प्रकाश) अविच्छिन्न रूप से पृथिवी पर आता
 है। इसी चौर प्रकाश के सम्बन्ध में इस ओर का पार्विक प्राणमि प्रकाशित रहता है। प्रकाश
 अग्नि का भस्म नहीं है अपितु “रूप रूप मयवी दोमर्षाति” (श्रुत्सं० ३।२२.२) के
 अनुसार और मयवी इन्द्र ही प्रकाश-कण है। अग्नि केवल वायुतन्त्र है। इस ज्योतिर्मय
 इन्द्रप्राण के सम्बन्ध में सौरप्राणानुगत पार्विक अग्नि मूलमवान् हावा हुआ भी ‘विषती’
 नाम से व्यवहृत जान लगेता है। हवपाण्यगमि (सौरप्राणगमि), अतएव अग्निमय ही
 पार्विक सूर्यानुगत अग्नि को ‘हवानां दूतः’ कहा जाता है। पृथिवी का वह अष्टभाग जिस
 ओर सौरज्योति का सम्बन्ध नहीं होता उस ओर भी प्राणमि प्रतिष्ठित है। क्योंकि सूर्य स
 तिक्रान्त वाक्ता यह प्राणमि चार ओर व्याप्य हावा हुआ बहुतकुछ बमकर मंडलामण्डल का
 स्वतन्त्रसाधक बनता है। सूर्य की निकट बिन्दु में प्रतिष्ठित अष्टमण्डलस्य इस प्राणमि में प्रकाश
 का अभाव है यह विरुद्ध दृष्ट्यामूर्ति है अमोघ है अत एव आसुर साधारण है। तम और
 माया असुर की ही प्रोतिस्वि सन्वयति मान्य गृह है—(इतिहास २।१४।४)। अत एव
 आसुरप्राणमयान इस अष्ट पार्विक प्राणमि का ‘असुराणां दूतः’ कहा जाता है। देवदूत-
 अग्नि है असुरदूत सहरसा है। इस प्रकार विग्रहेण स मण्डलावच्छिन्न एक ही पार्विक
 प्राणमि के दो रूप होजाते हैं। शान्ति की मूलप्रतिष्ठा सूक्ष्मरूप अक्षुण्णसुरास्य इत्यत्र प्रजापति ही
 है। सूर्यावच्छिन्नभागानुगता अतएव मन्त्रीमम प्राणमयी पृथिवी सौर प्रकाश के कट जान स
 ‘द्विदिपृथिवी’ (प्रकाश ॥ अविच्छिन्न पृथिवी) कहाजाता है एवं सूर्यभागानुगता, अतएव
 स्यातिमयवी पृथिवी चार प्रकाश के अविच्छिन्न सम्बन्धसे ‘अद्विदिपृथिवी’ नामसे व्यव
 हृत शान्ति है। बड़ा प्राणम अष्टभाग स अग्नि है अष्टभाग स द्विदि है। अद्विदि स स्यातिमय
 इवता प्रतिष्ठित है द्विदि में तमामय असुरों का साम्राज्य है। पूरे कबलानुसार दोनों इसी ही
 प्रजापति की मंडलमा सन्ताप हैं। विनि-अविनि दोनों इस हृत् मध्यापति की पत्नी हैं।
 मूर्तिवत् अक्षय्य के द्वारा अन्तर्गत प्राप्त करता हुआ मृगना है। इस सूर्यप्रभमय स द्विदि-
 अविदि गमने प्रतिष्ठित असुर एवं देवप्राण का परस्पर में सम्बन्ध सिद्ध होजाता है। बड़ी
 भवता एवं असुरों का तिष्ठता है। शान्ति के समन्वय स ही मीतिक जड़ चेतन पदार्थों की

कल्पति होता है। यद्यपि प्रत्येक पदार्थ में अपेक्षाकृत तारतम्य से विभूतिसम्बन्ध सदैव-आप्त, दोनों भाव उपलब्ध होच हैं, जैसा कि आगे जाने वाले कर्मात्मनिरूपण-प्रकरण में स्पष्ट होजायगा।

पार्ष्वि केन्द्राप्रित्ति पार्ष्वि प्रज्ञा का अधिष्ठाता होने से 'प्रज्ञापति' नाम से प्रसिद्ध विज्ञस्त-पार्ष्वि प्रज्ञापति—इ। अग्निमूर्ति यह प्रज्ञापति अपने विरोक्षणरूप स्वरूप धर्म के कारण निरन्तर विज्ञस्त होता रहता है। विज्ञस्त प्रज्ञापति का स्वाभाविक कर्म इ। इस विज्ञस्त के कारण ही इस सोमगमित प्राणानि की अग्नि-वायु आदित्य-दिक्सोम-मास्वरसोम, ये पार्ष्वि अवस्थायें हा आती हैं। यहाँ इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए कि, रोहसी त्रिकोणी में अग्नि अग्निवायु मुख्य अग्नि का विगौरान कराया गया है व सबका प्रथक तत्त्व हैं, एवं उक्त अग्निवायु स्वतन्त्र तत्त्व हैं। मास साम्य मात्र से इन में सांकर्य का भ्रम नहीं करना चाहिए। विज्ञस्त पार्ष्वि अग्नि रमरूप में परिणत होकर वायु य आचार्याप्ररूप वपट्कार मण्डप में प्रतिष्ठित होता है। सौर अग्नि सम्बत्सराग्नि कहलाता है एवं पार्ष्वि अग्नि "उरग्याग्नि" नाम से प्रसिद्ध है। विज्ञस्त पार्ष्वि प्रज्ञापति की कतिपयि इमा सौर मण्डपसराग्नि रा होती है। कैस हाती है? इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए आप्तस्कोर-विज्ञान की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

अग्निसामा मण्डपं ब्रह्मणं यह हमारा प्रथम सिद्धान्त है। स्वयम्भू-परमेश्वरी-सूर्य-अग्निमा पदप्रकारमक पार्ष्वि त्रिकोणी—धूमिनी इन पांच उपरवर्गों की समष्टि ही विश्व है। यह विश्व शुक्र की प्रधानता से वास्तव में अग्निसामा मण्डप ही बना हुआ है। अमृतमात्र प्रधान वायु-माय-अग्नि, मत्स्यमात्र प्रधान अग्नि-ओषध-वायु ये ३ उपप्रधान शुक्र का वरव के गुण लघुत्व हैं। इस ६ ओं में मध्य के दोनों अग्नियों का वर ही स्वान से समापरा है पक्षव ७ ही विपक्ष रहजाते हैं। वायुमय अमृत शुक्र १ प्राणप्रकृतिक स्वयम्भू से सम्बन्ध है। आपा मय अमृत शुक्र का अप्रकृतिक परमेश्वरी से सम्बन्ध है, अमृताग्नि शुक्र एवं मत्स्यन्ति इन दोनों का वाक्प्रकृतिक सूर्य से सम्बन्ध है। मत्स्य वायु शुक्र का अग्निप्रकृतिक अग्निमा से सम्बन्ध है। मत्स्यवायु शुक्र का अग्निमाप्रकृतिक धूमिपद से सम्बन्ध है। दूसरा शब्दों में यों कहा जासकता है कि यहाँ प्रकृतिक अपेक्षा से विश्व के स्वयम्भू परमेश्वरी आदि पाँच पर्य क्रमगत प्राणमय-वायुमय-वाक्मय-अन्नमय-अनादमय पहलावर्ग है। एतन्नापदया य हा क्रमशः अमृतवाक्मय अमृतापोमय-अमृतमत्स्यामिमय-मत्स्यामय-मत्स्यवाक्मय,

* इन ६ ओं शुक्रों का गोपयित्व विवरण प्रशोपनिषत् दिव्यी विज्ञान भाष्या ग। शुक्र विज्ञान प्रकरण में देखना चाहिये।

इन नामों में स्वयम्भूत अग्नि आसक्त है। यदि प्रकृतिभाव की दृष्टि से इन अग्निपोमात्मक शुक्ल का विचार किया जाता है तो स्वयम्भू प्राणाग्नि है, सूर्य बागग्नि है, इषिबी अन्नाग्नि है, परमहरी आपामय सोममूर्ति है, चन्द्रमा अन्नमय सोममूर्ति है। यदि शुक्ल की दृष्टि से ही विचार किया जाता है तो स्वयम्भू बागग्नि है, सूर्य अमृतमूर्त्याग्नि है, इषिबी वानग्नि है। परमहरी एवं चन्द्रमा आपामय सोममूर्ति है।

मौलिअग्नि

प्रकृत्यपञ्चवा

शुक्लपेक्षा

१-आकाशात्मा स्वयम्भू	प्राणाग्निमयः	अमृतबागग्निमय	अग्नि
२-वाय्वात्मा परमहरी	अप्योमय	अमृतआपोमय	सोमः
३-तेजोमय सूर्यः	बागग्निमय	अमृतमूर्त्याग्निमय	अग्नि
४-चन्द्रमूर्तिचन्द्रमा	अन्नसोममय	अर्त्यापोमय	सोमः
५-सुषुप्तो मुखिणः	अन्नाग्निमय	मर्त्याबागग्निमय	अग्नि

“अग्नीपोमात्मकं जगत्”—इत्याहुः।

इस में स्वायम्भूतअग्नि अगौरुपेय वेद सम्बन्ध से वेदाग्नि नाम से यज्ञ सन्बन्ध से पार्थिवान्नि के विविध विवर्त—प्राचीणाहुपाग्नि, सत्यावाक् के सम्बन्ध से सत्याग्नि, ब्रह्मा के सम्बन्ध से ब्रह्माग्नि, अन्नवत्त्व के अन्वयभूत अमृत के सम्बन्ध से अमृतान्नि इत्यादि अनेक नामों से प्रसिद्ध है।

सौर अग्नि पौरुषेय वेद के सम्बन्ध से पुरुषाग्नि, ऋषोषिर्वाही गायत्री के सम्बन्ध में गायत्रीअग्नि, मन्त्रस्वरपृथक् से सवस्तरान्नि अक्षिरा के सम्बन्ध से अक्षिरोऽग्नि, वेद प्रज्ञ के विकास से वेदाग्नि, अन्नवत्त्व के अन्वयभूत ब्रह्मभाग के सम्बन्ध से ब्रह्माग्नि इत्यादि रूप से अनेक नामों से प्रसिद्ध है।

सौर पार्थिव अग्नि पञ्चमात्रिक रूप से सम्बन्ध से यज्ञाग्नि, अष्टावक्त्र-सम्बन्धित तमोमयी गायत्री के सम्बन्ध में गायत्रीअग्नि उष्णवायु के सम्बन्ध से उष्माग्नि, वरमयान भूत के सम्बन्ध से भूतान्नि, अन्नवत्त्व के अन्वयभूत शुक्ल मास की प्रधानता से शुक्लान्नि आदि विविध नामों से प्रसिद्ध है।

१—वाग्नि	—	शुक्र की अपेक्षा से	
२—प्राग्वाग्नि	—	प्रकृति की अपेक्षा से	
३—वेदग्नि	—	अपौरुषेय वेद की अपेक्षा से	
४—सार्वायामुपाग्नि	—	यजुर्वेद की अपेक्षा से	
५—सत्याग्नि	—	सत्यावाक् की अपेक्षा से	→ स्वयम्भू १
६—ब्रह्माग्नि	—	अक्षर ब्रह्मा की अपेक्षा से	
७—अमृतानि	—	अमृत भाग की अपेक्षा से	
— १४ —			

१—अमृतमर्त्याग्नि	—	शुक्र की अपेक्षा से	
२—वाग्नि	—	प्रकृति की अपेक्षा से	
३—पुरुषाग्नि	—	पादपथ वेद की अपेक्षा से	
४—गायत्राग्नि	—	अयो० गायत्री की अपेक्षा से	
५—सम्यस्मराग्नि	—	संवत्सरापेक्षा से	→ द्यूय २
६—अक्षिरोऽग्नि	—	पारमेष्ठय अक्षिरा की अपेक्षा से	
७—इवाग्नि	—	त्रेवप्राण की अपेक्षा से	
८—ब्रह्माग्नि	—	ब्रह्म भाग की अपेक्षा से	
— १५ —			

१—सत्यवागाग्नि	—	शुक्र की अपेक्षा से	
२—अन्नावागाग्नि	—	प्रकृति की अपेक्षा से	
३—वमाग्नि	—	वज्रमात्रिक वेद की अपेक्षा से	
४—गायत्राग्नि	—	रामायणी गायत्री की अपेक्षा से	
५—इक्ष्वाग्नि	—	महिमा के सम्बन्ध से	→ पृथिवी ३
६—मृतानि	—	भूत की अपेक्षा से	
७—शुक्राग्नि	—	शुक्र भाग की अपेक्षा से	
— १६ —			

अथ—“अन्नाद् एवान्परोऽमवत् अन्नमन्यतर । अन्नाद् एवाग्रिमवत्,
 पार्थिवाग्निं का अन्नाद्—अन्नं सोम । अन्नादथ वाऽह्द सर्वमन्नं च” (शत० ११
 का० ११ अ० १६ ब्रा० १६ ब०) इस भीष्मिह्यस्त के अनुसार स्वायम्भुव सौर-पार्थिव, इन तीनों

हो अग्नि को का अग्निसम्बन्ध स अग्नाद् कहा जासकता है एवं पारमेष्ठ्य जान्, दोनों सोमों को अन्न कहा जासकता है। तथापि प्रकृतियाँ की अपेक्षा से केवल पार्ष्वि अग्नि को ही अग्नाग्नि कहा जायगा, एवं केवल आम्नसोम को ही अम्मसोम कहा जायगा। प्राणादि पौर्वो ब्रह्मियों में अग्नादपकृति का केवल प्रविष्टी में, एवं अन्नप्रकृति का केवल अम्नमा में ही विकास होता है। अन्न केवल आम्नसोम है। इस न स्वावन्मुष अग्नि प्राणा, न सौराग्नि। इस की आहुति एक मात्र पार्ष्वि अग्नि में ही होती है। अन्न (आन्) सोम को जाने का भा हो केवल पार्ष्वि अग्नि ही है इसलिये ही पार्ष्वि अग्नि को ही अग्नाद् कहा जायगा "वायवात्त होता है। अग्नाद् अग्नि की अन्न वसतावा निवत है, सौर वागाग्नि का अन्नव्यवहार अनियत है। वृद्धारु क क्षिप पार्ष्वि अग्नादग्नि-प्रधान पुठप को ही कीलिये। हमारे क्षिप "सायमातराभ्येवस्थात्" (यव १०-२५) के अनुसार अन्नव्यवस्था सर्वत्र नियत है। साथ प्राण हृषे निपठमात्रा में अन्न जाना गया है। परन्तु और अग्नि निरन्तर अन्न जाया करता है। अग्नादग्नि का अन्न अवाप्तित आम्नसोम है सौराग्नि का अन्न अवाप्तिसामाग्नित पारमेष्ठ्य आय है। स्वावन्मुष अग्नि केवल आचपनमात्र है। जहाँ प्रविष्टि होकर सौर, एवं पार्ष्वि अग्नि अन्न आत है ऐसा संभव है। इस प्रकार यह मानने में कोई आपत्ति नहीं की जासकती कि केवल पार्ष्वि अग्नि ही "अग्नाद्" है।

अप्युक्त अग्नि आपनी आपनी सत्त्वा के प्रजापति हैं। आद्यप्राणियों में सृष्टिधारा के हृष्याग्नि और पुष्करपर्क—सम्बन्ध में स्थान स्थान पर प्रजापति रुद्र प्रमुक्त हुआ है। यह प्रजापति रुद्र किसी एक अर्थ में अग्नाद् न रहता हुआ। प्रकृतमेव से विन्न-विन्न त्यों का ही सूत्रक बनता है। प्रकृत में अग्नादग्नि पार्ष्वि प्रजापति ही अग्निमेव है। इस की 'अग्नाद्', एवं रुद्र' मेव स ही प्रकृत व्यक्तार्थ है। अब तक पार्ष्वि अग्नि मूर्ध्वि में प्रतिष्ठित रहता है वरुण की अग्नाद् माय की पौर्वो ब्रह्मि स अनुगृहीत रहता हुआ यह 'अग्नादग्नि' मात्र न ही व्यवहृत होता है। यहाँ अग्नाद् विद्यमान होता हुआ मूर्ध्वि स बाहिर निकलकर अग्नाद् अग्नादि देवतारूप में परिणत होता हुआ 'रुद्राग्नि' नाम से प्रसिद्ध होता है। पुरोक्त महात्म्य देवमत्त्व विद्या के अनुसार अग्नाद् अग्नात्मा का व्यवहार है। अतः अग्नादग्निमूर्ति इस मूर्ध्वि को हम 'महात्म्यात्मा' नामक मूर्तात्मा ही कहेंगे। वृत्तरा मायामूर्ति अग्नादि देवमूर्ति है, यतः इस देवमत्त्वमा नामक मायामत्ता कहेंगे। हाँ तो निष्कर्ष यह निष्कर्ष कि अग्नादग्नि स मूर्ध्वि का एवं अग्नादि स रुद्रा इति नाम स प्रसिद्ध महात्म्यी का स्वरूप निगमन हुआ

- १ "इयं मे पुण्डरपण्यम्" (छा० ७७।१।१३)।
- २-१ "आह पुण्डरपण्यम्" (छा० १।४।१।७)।
- ३-२ "योनिं पुण्डरपण्यम्" (छा० १।४।१।७)।

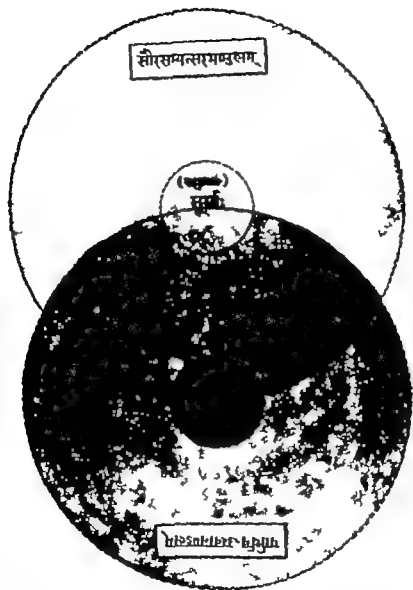
}—पुण्डरपण्य-पुष्पिणी

मूपिरह गार्हपत्यकुण्ड है। इस में रहने वाला अग्निवायुमि गार्हपत्याग्नि है। अथवा अग्निचितिरहस्य—कोई आहवनीयकुण्ड है। पार्थिवजन्माद् ही प्राणप्रधान बनकर इस में प्रतिष्ठित होता है, अथ एव इस उक्त आहवनीयाग्नि का आहुत (लगवा हुआ) कहा जाता है। यही कारण है कि, इस मित्य प्राकृतिक वस्तु के आधार पर विदित है कि यह वस्तु में गार्हपत्याग्नि को ही उत्पत्तित्व आहवनीयकुण्ड में अग्निवत् लोग प्रतिष्ठित करते हैं।

और सम्बत्सराग्नि पुष्पिणी की ओर निरन्तर आया करता है, ठीक इसक विपरीत पार्थिव चित्त अग्निवायुमि संवत्सर की ओर आया करता है। सूर्य से आनेवाला सम्बत्सराग्नि सत्त्व वर्णा हानके कारण मूपिरह से टकराकर परावर्तित होता हुआ उसी अपने मण्डल (सम्बत्सर) में प्रतिष्ठित होता है। मूपिरहापाव से प्रतिफलित पावत्रीमात्रिक नाम से प्रसिद्ध-यै-हयेव वेदावच्छिन्न (अग्नि-बलु-सामावच्छिन्न) सम्बत्सरमण्डल में प्रतिष्ठित अथ वच सम्बत्सररूप यही सौराग्नि उत्पन्न अथवाग्नि में अन्तर्भाव सम्बन्ध से प्रतिष्ठित होता हुआ इस पार्थिव अग्नि की पुष्टि का कारण बनता हुआ इस का अन्त बन जाता है। सीये शब्दों में प्रति फलित संवत्सराग्नि पार्थिव अग्नि का अन्त है। पार्थिव अग्नि अस्मदाग्नि प्रका निर्माण में चित्त (कर्तृ) होता रहता है। इस कर्म की पूर्ति सम्बत्सराग्नि से ही होती है। सौर सम्बत्सर एवं पार्थिव अथवाग्नि का एक स्वाम पर समन्वय होता है। इसी से वस्तु से सम्बत्सराग्नि एवं पार्थिव अग्नि का संस्कार होता रहता है। दूसरे शब्दों में वेदावच्छिन्न अथवा अग्नि-बलु-साम मूर्ति सौर अग्नि की विपरीत पार्थिव अग्नि में चित्ति होती रहती है अथ एव एव अग्नि-वत् (अग्नि में अग्नि का आहुत होता ही अग्नि वत् है) 'चित्पा-चिति-चपन' आदि शब्दों से व्यक्त किया जाता है।

चित्त पार्थिवान्नि प्राणपातल व्यापार से अथ विबोधी में जाता है अथ एव अन्त-महावत्-उक्त्य परिचय—'अथर्ववेद' इस आहवनीय मित्तवत् के अनुसार इसे 'अर्क' कहा जाता है। यह अर्काग्नि यद्यपि प्राकृतिकरूप से एक ही स्वरूप रहता है परन्तु इस की चित्त की पूर्ति (चतुर्गति) करने वाला अथ एव अग्नि होता है ही 'अग्नि'

सौरसम्बत्सर



॥ अथ एवार्थः—यद्यतमशानिमाह्वरन्ति । तस्य तदन्नं कथं, योऽयमग्निभिः ।
तदस्यै यत्तुष्टः । एव एव महान् । तस्यैतदन्नं व्रतम् । तन्महाव्रतं मायत ।
एव उ एव उक् । तस्यैतदन्नं धम् । तदस्यै श्रुतम् ॥ (श १०।१।३१४।)

नाम त्रय प्रसिद्ध शृंग-यजु-सामरूप-सम्बन्धरात्रि क सम्बन्ध स इत क अर्क्य-महाव्रत-
 उक्तम्, य तीन रूप होजात हैं। आत्मरूप अग्नाश्रित में आहुत होन वाला अन्न अग्न्याम
 सम्बन्ध त्रय आत्ममान् बनता हुआ आत्मा हो बन जाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर
 अष्टावक्र अग्नाश्रित्यन्त पार्थिव अग्नि को 'अर्क्य-महाव्रत-उक्तम्' नामों से संबोधन किया
 है। अर्क्य-महा-उक्त-इन तीनों की समष्टि अग्नाश्रित है, एवं क्यम्-ग्रथम्-धम् इन तीनों
 की समष्टि सम्बन्धरात्रिरूप अन्न है। क्य-यजुस्वरूप अन्न है। इस क सम्बन्ध में पार्थिव-
 अग्नाश्रित 'अर्क्यम्' बना हुआ है। व्रत-सामरूप अन्न है। इस क सम्बन्ध में पार्थिव-
 महाव्रत 'महाव्रतम्' बना हुआ है। य-शृंगरूप अन्न है। इस के सम्बन्ध में पार्थिव अग्नाश्रित
 'उक्तम्' बना हुआ है। इस प्रकार एक ही पार्थिव अग्नि शृंग-यजु-साममय उक्त-क्य-
 व्रतम्-सम्बन्धरात्रिरूप अन्नभक्ष्य में प्रिभूति बन रहा है। अर्क्याग्नि का ही पराश-भाषा में-
 "क्यम्" कहा जाता है। इस प्रकार शृंगयजु सामात्मक सार सम्बन्धरात्रि, एवं पार्थिव
 अग्नाश्रित (अर्क्याग्नि) का परस्पर सम्बन्ध होता रहता है। जैसा कि परिसंख्य से स्पष्ट
 हो रहा है।

त्रिम स्थान पर अष्टावक्रियन्त सार सम्बन्धरात्रि एवं विप्लव पार्थिव अर्क्याग्नि, इन
पाठमाहुतयो-ध्वरूपपरिचय-दानों का समन्वय होता है, वही प्रदत्त विराट्-उत्पत्ति की
 आधार-भूमि है। दूसरे शब्दों में अतिनिम्नस्थ का विराट् की वसिष्ठा माना जा सकता है।
 पृथ्वी की वसिष्ठा, आर अतिनिम्न का भूत वनगाय गत है। मृदिवश क निय भूमि, पृथिवी,
 दिवि, अदिति, मेदिनी, मागाराधरा महा, अराणा' इत्यादि अनेक शब्द व्यवहृत हुए
 हैं। मृदिवशरूप इन सब में यथावच्छिन्न पदार्थ सम्बन्ध मान लेंगे पर भी विज्ञान दृष्टि
 सभी शब्द विभिन्न भिन्न वस्तुवत्त्व के बावजूद हैं। मृदिवश भूमि ही भूमि है। इस का अग्ना
 श्रितभूति कहा गया है। अग्नि ऊपर भूमि पर प्रकाश प्रकाश का बाध क आधार पर प्रयत्न
 होता है। अर्क्य भूमि अग्नाश्रित-सम्बन्ध में बाध निवृत्त कर अग्ना सम्बन्ध बनाता है।
 इस अग्नि क साथ आर और बाध नाम के दो गुण होते हैं। शब्द-आर-अग्नि का समु
 चित्त सार ही मृदिवश है। इस तीनों गुणों के आधार पर अग्ना पा-मा-आर इन तीन
 पार्थिव मान लेंगे बाध व दत्तता है। अग्ना व अग्नि दत्त प्रकाश का। अग्ना विष्णु-उत्पत्ति
 का समष्टि ही दत्त प्रकाश है। इन में अग्ना दत्तता व विष्णु क साथ साथ व सम्बन्ध है।

इन्द्र के साथ अग्नि का सम्बन्ध है। अग्निाश्रय गौमय है विष्णुसोमाश्रय गौमय है, इन्द्राग्नि
 आश्रय है। अग्निस्वरूप पवित्री संस्था 'अग्निर्मूर्ध्नीनाः' के अनुसार मू (महापवित्री)
 है आपस्तरूप दूसरी संस्था गौमय मूय है एवं वाक्पस्तरूप तीसरी संस्था वीर्य रूप है।
 केन्द्रस्थ बड़ी तन्त्र रस रूप से ऊर्ध्वगमन करते हुए अपनी तीन संस्थाएं बनाते हैं। वाक्स्थ
 अग्नि केन्द्र से बह्य रहत हुए प्राणरूप से जहां तक विस्तृत होत हैं जहां तक वाक्स्थ अग्नि रहता
 है। यही सर्वाधारभूत गौमयी पवित्री संस्था है। इस में एक सहस्र मन प्राणमिता-विष्णु विवर्त
 माने जाते हैं। अत एव आत्मजन रूप यह वाक्स्तर "वाक्साहस्री" नाम से प्रसिद्ध है।
 इसी का विग्रहान कराली हुई मन्त्रमति करती है—

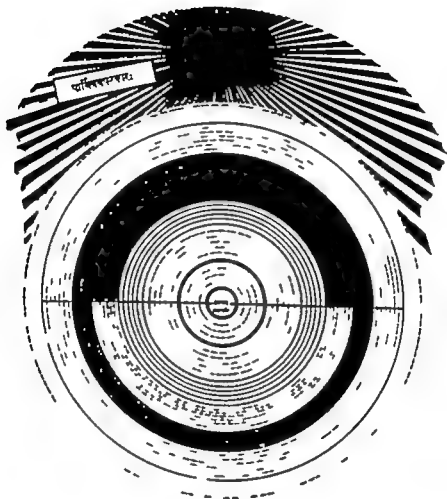
सहस्रधा पञ्चदशान्युक्त्या यागधावापृषिषी तावदित्तम् ।

सहस्रधा महिमोनः सहस्र यावत् ब्रह्म विष्ठित तत्पती वाक् ॥

।

(वाक्सा १०।११।५५)

इन सहस्र वाक्-तन्त्रों में स ३०-३ वाक्-राशि का एक एक अहर्गण होता है। इस
 संख्या क्रम से ६०६० वाग्वरिणियों के कुल ३६ अहर्गण होता है। १० अहर्गण रोप रह जाते
 हैं। यही तन्त्रिष्ठ भाग रूप चौतीसवाँ प्राजापत्य अहर्गण है—“प्राजापतिश्चतुर्विंश” (राव
 ५।१५।१)। वाक्स्थ ३६-अहर्गणों में तीन अहर्गणों का योग तो मूकेन्द्रस्थ अग्नि-विष्णु-इन्द्र,
 इन तीन इन्द्राश्रयों के साथ होता है। दूसरे शब्दों में तीन अहर्गण तो मूर्ध्निष्ठ में ही अन्त
 भूत हैं। शेष मूर्ध्निष्ठ से आरम्भ कर पूरे वाक्स्थान में ३ अहर्गण बच जाते हैं। इन ३ में से
 ६-६-अहर्गणों का एक एक स्वतन्त्र विभाग होता है। मूकेन्द्रस्थ ३ अहर्गणों के साथ ३ अह
 र्गणों को मिला दीजिए। इन ६ अहर्गणों का एक स्तोम त्रिविष्टोम कहलाएगा। इन में ३
 ओर मिला दीजिए। इन ९ अहर्गणों का दूसरा स्तोम पञ्चदशस्तोम कहलाएगा ५ आर ३
 अहर्गणों के योग से षड्विंशस्तोम का, ओर ६ अहर्गणों के योग से त्रिविष्टोम का, एक
 ओर ६ अहर्गणों के योग से त्र्यविंशस्तोम का स्वरूप संपन्न होगा। इस प्रकार १- ३- ३-
 ३-३-३ इस क्रम से पाँच प्रधान स्तोम होजायेंगे। यही पञ्चस्तोमात्मक वाक्स्थान कहिये
 रहस्य कहलाएगा। जिसप्रकार अन्तर्मेखकारूप मूर्ध्निष्ठ का एक निश्चित कन्द्र होता है एवमेव
 अहर्गणात्मक इस षड्विंशस्तोम का भी एक स्वतन्त्र केन्द्र होता है। यह स्थान सप्तदश अहर्गण
 मान्य गया है। ३३ का केन्द्र १० बॉं ही बन सकता है। यही स्थान सप्तदशप्रापति उग्रो



यप्रजापति, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। यही ६ ठा सप्तदशस्तोम है। इस प्रकार प्रथमयी वाक् क ६ स्ताम होजात है। इन्हीं ६ स्तोमों के कारण यह वाक् समस्त वाक् "वाक्-पटकार" कहा जाता है। वाक् का पटकार (६ स्ताम) ही "वाक्-पटकार" है। परोक्ष-भाषानुसार वाक्-पटकार ही वपटकार है।

बाह्यमय स्तोमविषय—बाह्यमय वपटकार में ३३ अङ्गण, किंवा ३ स्तोम बतलाए गए हैं।

यदि ओर भी सूक्ष्म विचार किया जाता है, तो ४८ स्तोम हो जात हैं। अथर्वत्रिशद्विंशत्यात्मक वपटकार में एकविंश स्तोम पद्यन्त इन्द्रात्मक अग्निशुक्ल व्यास है, त्रिणवस्तोमपद्यन्त विष्णुसम आपशुक्ल की प्रतिष्ठा है एवं अथर्वत्रिशद्विंशत्यात्मक बाह्यमय प्रजा का साक्षात्त्व है। ३४वें अङ्गण में विशुद्ध प्रजा प्रतिष्ठित है। अथर्वत्रिशद्विंशत्यात्मक वपटकार में २१ पद्यन्त अग्नि २३ पर्वत आप, पर्व ४८ पद्यन्त वाक् है। इन तीनों की आचारभूमि वही अग्निर्गमित इन्द्र सोमगमित विष्णु, एवं प्रजागमिता वाक् है। जहां तक अग्निगमित इन्द्र व्यास है वह पुरुषोक्त है, वही वा है। जहां तक विष्णुगमित आपत्तव्य व्यास है, वह गोलोक है। एवं प्रजागमित वाग्गोलोक ही वाक् है। कन्द्रस्य अग्निगमित इन्द्र सोमगमित विष्णु, तथा प्रजा-पुत्र वाक् तत्त्व ही वित्त होकर ४८ पद्यन्त व्यास हुआ है। वाक् का यह वित्तान ही इस का प्रथम है। इसी लिए—"यदुप्रथयत्" इस निर्बचन के अनुसार इस मीमंषिकों को 'पृथिवी' कहा जाता है। यह पृथिवी वस भूमिपट्ट के आधार पर ही प्रसिद्ध है। दूसरे शब्दों में पृथिवी के कन्द्र में भूमिपट्ट प्रतिष्ठित है। इस के चारों ओर प्रथम स्तर अग्नि का है। द्वितीय स्तर आप (जल) का है, एवं तृतीय स्तर वाक् का है।

इस स्तरमात्र का यह अभिप्राय नहीं है कि, अग्नि के अनन्तर अपस्तर का एवं अपस्तर के अनन्तर वाक्स्तर का आरम्भ होता है। अपितु तीनों स्तरों का उपक्रम मूकन्द्र ही है। मूकन्द्र में आरम्भ कर ४८ पद्यन्त व्यापक वाक्स्तर है। कन्द्र में ३३ पद्यन्त अपस्तर है, एवं मूकन्द्र में २१ पद्यन्त अग्निस्तर है। इसी लिए सुगम-असुगम स्तामों की स्वररत्ना कन्द्र से ही की जाती है। मूकन्द्र से आरम्भ कर ३३ पद्यन्त प्रतिष्ठित रहने वाले अपसुक्त त्रिवृत्-पञ्चदश-सप्तदश-एकविंश-त्रिणव-प्रपस्त्रिंश, य १ ओ स्ताम असुगमस्ताम हैं। एवं कन्द्र से ४८ पद्यन्त पावरी के सम्बन्ध से अनुर्विंशस्तोम, त्रिणव के सम्बन्ध में चतुर्विंशस्तोम एवं वाक् की के सम्बन्ध से अष्टाचत्वारिंशस्तोम, ये तीन छन्दोमास्ताम हैं। यही 'युगमन्ति स्तोमानि' हैं।

मूर्तिरूप पञ्चोक्त प्राणादि स निष्पन्न हुआ है। पृथ्वी अवस्था में इस में प्राणादि पार्श्व लोकाहस्ता-स्वरूप परिचय — अर्थात् में निस्व युक्त, प्राणादि पार्श्व चरपञ्चत्वों की सत्ता मिश्र हो जाती है। मूर्तिरूप ३ प्राणमय अष्टा, आपोमय बिण्ण व-हमय इन्द्र, अग्नाहमय अग्नि, वायुमय वायु पार्श्वों का योग सिद्ध है। ये पार्श्व ही भूतस्मक प्राणात्मक (इवात्मक), भव ३ दो मार्गों में विभक्त हैं। इन में भूतस्मक पार्श्वों से ही मूर्तिरूप का निर्माण हुआ है, एवं प्राणात्मक पार्श्वों वपटकारात्मिका पृथिवी के स्वरूप समपंक हैं। मूर्तिरूप में कन्ध और पिरुह, यही भाग हैं। इन में कन्ध में अष्टा-बिण्ण-इन्द्र-प्रतिष्ठित है। स्वर्ध गिरुह मूलप्रधान अग्निपात्रमय है इस प्रकार मूर्तिरूप में पार्श्वों का भाग मिश्र हो जाता है। पृथिवी के ३१ पञ्चत अग्निगर्भित इन्द्र ३३ पर्व सामगर्भित बिण्ण है एवं ४८ पञ्चत अष्टा है। इस स्तोम क्रम से पृथिवी में अष्ट प्रधान इन पार्श्वों का भाग मिश्र हो जाता है। मन्त्रम् का आकारा प्रवर्धन ४८ पृथिवी में आता है वही ४८ स्तोम में प्रतिष्ठित होकर पृथिवी की प्रातिष्ठिक वस्तु बन जाता है। परमेष्ठी का प्रवर्धन ४३ पर प्रतिष्ठित है। एवं सूर्य का प्रवर्धन ४२ पर प्रतिष्ठित है। अत्रमा स्वर्ध पृथिवी का ही वपम है। अष्टावस्तारिहास्ताम पृथिवी की अष्टिम परिधि है। इस का जगती मन्त्र स सम्बन्ध है। अतः समस्त मन्त्रा मूर्तिरूपमुक्त इस महापृथिवी को हम- 'जगती' कहेंगे। 'यत् किञ्च जगतीर्वाप्तात्' (ईरोपनिषत्) स वही जगती अभिप्रेत है। यदि ३३ में अष्टाव पर्वत पृथिवी लोक अपेक्षित है तो ऐसी अवस्था में इस हम जगती न कह कर 'सागराम्बरा' कहेंगे। कारण ३३ का स्वर आपोमय है। वही भागर (अर्धवस्तुम) अम्बवच्छिन्न पृथिवी का आकार बना हुआ है। यदि २१ विशस्तामपञ्चत पृथिवी लोक अपेक्षित है, तो ऐसी अवस्था में इस पृथिवी को हम 'तुम्बा' कहेंगे। कारण तुम्बापि पञ्चति पञ्चत ही व्याप्त है। यदि अन्तरित पञ्चत पृथिवी लोक अपेक्षित होगा तो इस अवस्था में हम इसे 'मेदिनी' कहेंगे। कारण मन्त्रमात्र-मन्त्रैक घृतात् वायु अन्तरिक्षस्थानीय इसी वस्तुका स्तोम में व्याप्त है। यदि कवच पिरुह ही स्वरूप रहगा तो इस अवस्था में हम इसे 'भूमि' कहेंगे। वही प्रथम का अभाव है। जगती-सागराम्बरा-वृषा-मेदिनी-वृत्ति-अविति भव का प्रथम भाग से सम्बन्ध है अतः न्त भाग को पृथिवी नाम से सम्बद्ध किया जासकता है। पृथिवी इन का साधारण नाम है। प मूर्ति-पिरुहभाग कवच भूमि-अर्ध-परिधी-अर्ध-हस्ता-इवादि नामों से ही व्यवहृत होगा। पञ्चत विमान कापट में भूमि और पृथिवी का परस्पर में पर्याप्त समझना एवं उक्त जगती आदि नामों में पर्याप्त सम्बन्ध मानना निश्चित असंगत हो जाता है।

ब्रह्म के सम्बन्ध से पूर्व में बाह्य-साहस्री का विगृहीतन कराया गया है। प्रसंगोपात्-लोक-वेद-साहस्री का भी नाम मात्र जान लेना अनावश्यक न होगा। अधिमूर्ति इन्द्र ही वेद साहस्री का प्रवर्तक है। २१ पर्यन्त व्याप्त रहने वाला इन्द्रमूर्ति अग्नि अग्नि-वायु-आवृत्त्य, इन तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। इन्हीं तीनों से क्रमशः ब्रह्मस्वरूप समर्पक, अत एव यज्ञमात्रिक नाम से प्रसिद्ध पार्थिव कर्तव्यक शब्द-यज्ञ साम का विकास होता है। यही वेदसाहस्री है। सोमार्थित विष्णु ही लोकसाहस्री के प्रवर्तक हैं। ३३ पर्यन्त व्याप्त रहने वाला विष्णु मूर्ति-सोम, किंवा आप ही भूकेन्द्र से ३३ पर्यन्त व्याप्त होता हुआ-‘पृथिवी-अन्तरिक्ष-घोः-जाप’-इन चार लोकों का आरम्भक बनता है। यही तीसरी लोकसाहस्री है। इसी त्रयी का लक्ष्य में रखकर अग्नि कहते हैं—

“तमा विष्णुर्न पराजयेयं न पराजिह्वी कतरन्व नैनाः।

इन्द्रश्च विष्णु पदपस्पृशेयां श्रैवा सहस्र वि तदैवेयाम्॥

(श्रुत्सं० ६।६६।=)।

किं तत् सहस्रमिति ?—इमं लोकाः, इमे वेदाः अथो वागिति मूयात् ।”

(वे० ब्रा० ६।१५)।

सोम प्रपञ्च के सभी विषयों का मन्त्र से विगृहीतन कराया गया। अब केवल विद्वि-अविद्वि का स्वरूप अवशिष्ट रहता है। संकर ने इस का भी विगृहीतन करा इस आधिमौलिक प्रकरण को समाप्त किया जाता है।

पृथिवी का वह भाग जो सूर्य को घोर रहता हुआ प्रकाश से युक्त रहता है, यही को अदिति-दिति विषय—पृथ्वी में हमने—अविद्वि कहा है। तत्प्रापृथिवी, ३३ पक्षिय देवता, अधिभ्रयी विमानपक्ष सच कुल इसी अविद्वि के गर्भ में प्रविक्षित है। विराट प्रजापति मात्र स प्रसिद्ध वैरवात-हिरण्यगर्भ-सर्वलक्ष्मी लब्ध इन्द्र प्रजापति भी इसी अदिति के गर्भ में जन्म लत हैं। अदिति पृथिवी ही जगन्माता है। भूषिणश्च अग्नि की पूर्व में सर्व-अमृत, मीन स वो अमृत्याश्च वतणाश्च गच्छेत् । मत्त अमृतानामि मृत है, अमृत प्राप्तामि रस है। यही रसाग्नि ऊपर जाता हुआ उक्त नाम से प्रसिद्ध होता है। बाह्य बपटकार के प्रिवृत स्वोम पर्यन्त यह रसाग्नि घनमात्र से रहता है, यही घनाग्नि अग्नि कहलाता है। पञ्चवरात्म्योम पर्यन्त विलत होकर यही वरशानस्या में परिणत होता है। इसी वरजाग्नि को प्रायु कहा जाता

है। आगे आकर विरक्त होता हुआ यह अग्नि वायुवस्था में परिणत हो जाता है। इस की विधि सप्तशतसोम पर है। विरक्तावस्थापन्न इसी अग्नि का आदित्य कहा जाता है। यमसिंहास्तोमावच्छिन्न अपट्टकार के अर्द्ध भाग में अमृतानि का साम्राज्य है, एवं शेष भाग में सोम प्रविष्टि है। १६ पर्यंत अग्नि है, ३२ पर्यंत सोम है, मन्त्रहोती स्वाम इस का कन्द्र है। यही आदित्य है। इस में कल्पस्थित सोम की आहुति होती है। इसी सोमाहुति के कारण 'आहृतं यज्ञ सोम' के अनुसार यह सप्तशतसोमावच्छिन्न आदित्याग्नि आदित्यीय कहलाता है। आदित्याग्नि दाहक है सोम दाहक है। दाह्य सोमाहुति में दाहक अग्नि प्रज्वलित हुआ है। प्रज्वलित होकर यह एकविंशतसोम पर्यंत व्याप्त हो जाता है। इस प्रकार १५ से १७ पर्यंत मूक रूप से प्रविष्टि रहते वाले इस आदित्याग्नि का २१ सोम पर्यंत विहान हो जाता है। अग्नि प्रविषी-शोक का अभिघात माना जाता है इस सामान्य परिभाषा के अनुसार मूक से आरम्भ कर २१ सोमत्वच्छिन्न इस आग्नेय प्रश्न का इस यमिया-यमिषी मानने के लिए तत्कार है। अग्नित्रय का अपने गम में प्रविष्टि करने वाली सूर्यानुगता यह महाप्रविषी ही "अदिति" है। अग्नि की इसी तीव्र रसावस्थाओं का निरूपण करती हुई वाजसनेति कहती है—

“आपो वाऽमर्कः। तथर्थांश्च आसीत्, तन्ममहन्तर। सा धूमिभ्यमवत्। तस्मात्प्रधाम्यत्। तस्य अन्तस्य तप्तस्य तेजा रसो निरवर्षतामिः। स त्रधात्मानं व्याकृत्य—आदित्यं तृतीयं, वायुं तृतीयम्। स एष प्राणः (प्राणान्तिः—अमृताग्निः) त्रेधा विहितः” (यज० १०।१।११)।

त्रिधाम्नामावच्छिन्न पलावस्थापन्न अग्नि का घनता में वारतम्ब है। इसी वारतम्ब से इस की अवाप्तर आठ अवस्थाएँ हो जाती हैं। वरणावस्थापन्न १ इमूर्ति वायु की अवाप्तर ११ अवस्थाएँ ही ११ कर हैं। विरक्तावस्थापन्न आदित्याग्नि की अवाप्तर १२ अवस्थाएँ ही १२ आदित्य हैं। इस प्रकार अग्निप्रमुख आठ वसु वायुप्रमुख व्याहृ ४३, इन्द्रमण्ड १२ आदित्य मन्त्र ३१ मास वेष्टा हो जाते हैं। त्रिहृत्-पञ्चपरा, पञ्चपरा-एकविंश, इन का सम्मिश्रण में रहने वाला वा प्रप्य अग्निनी नाम से प्रसिद्ध है। यही अग्नि पहिल अग्नि-वायु-आदित्य इन तीन स्वरूपों में परिणत होता है। अन्तर इसी की अवाप्तर ३३ अवस्थाएँ हो जाती हैं। ये ही ३३ वक्षिष्य कहता है। इसी को शक्य में रक्त कर वज्र-अग्नि कहती है—

इति सुरुषो असमा, रितादसो ये स्व प्रपश्य विष्टयः।

मनोर्द्धा यज्ञियास ॥ (अमूर्ति ५३।१२)।

सम्पूर्ण देवता एकमात्र अग्नि के ही विवर्त हैं—“अग्निः सप्ता देवता”—‘अग्नि पुरोगा सर्वे देवाः प्रीयन्ताम्’। उक्त चीनों अग्निधियों में त्रिवृत्तबन्धन बनामि गार्हपत्योमि है यह एकाकी है। एकविंशोऽवच्छिन्न आदिस्थानि आहवनीयाग्नि है, यही एकाकी है। मध्य क तरलाग्नि में आठ माण्डिक सप्त माण्ड प्रविष्ट रहते हैं। इस माण्डिक विष्णु प्राणों के समावेश स यह आन्तरिक अग्नि अप्रकृत बन जाता है। इस यक्षिण क्रमसे १—गार्हपत्य, ८ विष्णु १ आहवनीय इस प्रकार पार्थिव अग्नि वराक बन जाता है। यही वराकर विराट् क्रम के अनुसार ऋतुगत विराट् भगवान् हैं जैसा कि अनुपद में दी स्पष्ट होने वाला है। जिस प्रकार आत्मन्य लोक पृथिवी कहलाता है एवमव वाक्लोक आन्तरिक एव आदित्यलोक गु नाम स प्रसिद्ध है। इस परिभाषा के अनुसार एक ही अग्नि की व्याप्ति के कारण जहाँ ६-१५-२१ स्तोमयुक्त महाप्रवेश को हमन महापृथिवी कहा या एवमेव इस महापृथिवी के गर्भ में प्रतिष्ठित ६-१४-२१, इन चीनों रताम प्रवेशों को क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य-द्वारा शासित होने के कारण क्रमशः पृथिवी-आन्तरिक-यौ, इन नामों से व्यवहृत कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में त्रिवृत्तमात्रबन्धन बनामि प्रवेश मया-पृथिवी के गर्भ में रहने वाला पृथिवीलोक है पञ्चदश स्तोमावच्छिन्न तरलाग्नि (वायु-) प्रवेश महापृथिवी के गर्भ में रहने वाला आन्तरिकलोक है, एवं एकविंशोऽवच्छिन्न विराट्मि (आदित्य-) प्रवेश महापृथिवी के गर्भ में रहने वाला वलाक है। इस प्रकार मयापृथिवीरूप आदिति के गर्भ में ७० अ यौ इन चीनों की सप्ता सिद्ध होजाती है विज्ञानमाया म पृथिवी को माया कहा जाता है, यौ को पिता कहा जाता है—“यौमित पृथिवि मातरघृगने०” (श्रु. सं० १।१।१५)। इस परिभाषा के अनुसार आदित्यरूप महापृथिवी त्रिवृत्तमात्रबन्धन पृथिवी स्थानीया बनती हुई माया है एकविंशोऽवच्छिन्न पुराणीया जाती हुई पिता है। अदिति के इसी स्वस्वविज्ञान का लक्ष्य में रखकर श्रुति कहते हैं।

आदितिर्घोरदिति रन्तरिक्षम दतिग्माता स पिता म पुत्र ।

किञ्च देवा अदिति पञ्चजना अदितिजातमदितिर्दत्तित्वम् ॥१॥

(श्रु. सं० १।१।१६)।

अदितिर्द्यायपृथिवी अत महादिन्द्राविष्णू मरुत स्वर्गदत् ।

देवा आदित्यो अवस इवामहे यष्टुन्स्तविषार सुदससम् ॥२॥

(श्रु. सं० १।१।१७)।

बसु ३१ सविता-अग्नि-वायु आदित्य आदि सभी देवता यही प्रतिष्ठित हैं, इसी के पुत्र हैं। सोमादि-अमियुक्त कहते हैं—

अदित्यां अक्षिरे दशस्रपस्त्रिंशदरि-श्म !

आदित्या बसवो रुद्रा अक्षिनो य परन्तप ! (वाक्प्रीतिरा०)

इन सब देवताओं का स्वरूपधर्म आगे की पितृदेवता-स्वरूपविज्ञानोपनिषद् में बतलाया जान थाका है। प्रकृत में कहल यही जान लेना पड़्याम होगा कि, भू पृष्ठ स संक्रमणपट्टकार के २१ दिशि स्तोम पच्यन्त व्यास महापृथिवी का सूर्याग्निमुख, अत एव प्रकाशित, प्रेतस्तथात्मक अष्टमाग ही अक्षिनि पृथिवी है। स्तोम सम्बन्ध से ही इस महापृथिवीरूपा अक्षिति त्रिलोकी, ि वा वरुणा त्रिलोकी के “पत्नीम्यक्षितोकी” कहा जाता है। “या प्राणैत सम्म पत्पदित्तिर्द्वतामयी” (ऋ ४७४) के अनुसार इस का प्राणाभि के साथ सम्बन्ध है, वह देवतामयी है। इस के सम्बन्ध में इनका और भ्रान्त रचना चाहिए कि, सौर सम्बन्ध प्राप्त के आगमन से ही इस का स्वरूप निष्पन्न होता है जैसा कि पूर्व के अक्षय-समाप्त-उदय-प्रकरण में बतलाया जा चुका है। सौर उदय अक्षिणी रूप से भूविष्ट पर जाता है। भूविष्ट के दोनों प्राणों को काटता हुआ वह आगे निकल जाता है। आगे आकर भूच्छावरारूप राहु का शिर-च्छेद करता हुआ वह सावित्र सार प्रकोश पुनः महावृक्ष में परिणत हो जाता है। अतः सा सौर प्रकारा भूपृष्ठ से सम्बन्ध रहता है वह सत्य मन्त्र के कारण वायस लौहका हुआ या पृथिवी से सम्बन्ध होने के कारण वह गावत्री नाम से प्रसिद्ध होता है। इसी को अक्ष कहल जाता है— (ऐतरेय वे प्रा ६।१५)। जैसा आकार भू के सूर्य के निकट विष्ट में प्रतिष्ठित भूच्छावा का है ठीक वैसा ही आकार इस अक्ष का है। यही वास्तविक सौर अक्ष कि वा वास्तविकता गावत्री अक्षिति की प्रविष्टा है। अक्षिति महापृथिवी तमाम्बी अर्द्ध मागात्मिका वपट्टकार-पृथिवी चिति-पृथिवी है। यही अक्षुषों की आवास भूमि है। दोनों का परस्पर में अनिष्ट सम्बन्ध है। “देवेभ्यश्च अगतु सवम्” (बसु ४।१०) के अनुसार-वास्तविक देवता, एवं वरुणा से परिगृहीत विविधमे म प्रतिष्ठित असुर ही स्थान्य प्रजापत्य में रहने वाली यज्ञ के आरम्भक अन्ते हैं। इन दोनों में म प्रजापत्य का विकास (देवता के सम्बन्ध से) कहल अक्षिति पृथिवी में ही होता है। इसी वास्तविक अक्षिति का स्वरूप में बतलाकर अक्षिति कहली है—

१—“इय ये पृथिव्यदिति, सेय देवानां पत्नी” (राव १।१४)।

२-“तिस्रो वा इमा पृथिव्यः । इयमर्हका द्वेऽस्या परे” (राव० ५।१।२१)

२-“अथवा (अथरूपा) इ वा ऽइय भुत्वा मनुमुवाह” (राव० १।१।२।१२)

४-“इय ये देव्यदितिर्विषयरूपी” (तै० ब्रा० १।५।१।७)

५-“तस्या एतत् परिमित रूप यदन्तर्वेदि (मृणिक) । अथैव भूमाऽपरिमितो यो +अदिर्वेदि (महापृथिवी) (तै० ५।५।१।२) ।

६-“गायत्री वाऽइय पृथिवी” (राव० ५।१।२।१२) ।

७-“पृथिव्यामिमे (पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौरिमे त्रयो) लोको प्रतिष्ठिताः”

(तै० ५।१।१०।२) ।

भू-विवर्तों के सञ्चल से अचलक आ कुल कहा गया है, वह आगे के परिच्छेदों से सर्वथा बुद्धिमान बन जाता है ।

महापृथिवी— अचलम्	{	४८	{ १—ब्रह्मा (प्राण) — अचलब्रह्मा	}	{ — अचलत्वाय नमो नमः	}	मृ—विष्णुरूप
		३३	२—विष्णु (आप) — अचलविष्णु				
			३—सोम (अन्नम्) — अचलसोम				
		२१	४—इन्द्र (वाक्) — अचलेन्द्र				
			५—अग्नि (अम्नाक्) — अचलाग्नि				
— * —							
मृणिक— पृथिवी	{	विण्ड-	५—अग्नि (अम्नाक्) — अचलाग्नि	}	{ — अचल शिवत्वाय	}	मृ—विष्णुरूप
			४—सोम (अन्नम्) — अचलसोम				
		अन्तर्यामी	३—इन्द्र (वाक्) — अचलेन्द्र	}	{ — अचल शिवत्वाय		
			२—विष्णु (आप) — अचलविष्णु (मन्त्रतो विष्णुरूपिणे)				
			१—ब्रह्मा (प्राण) — अचलब्रह्मा (भूकला ब्रह्मत्वाय)				

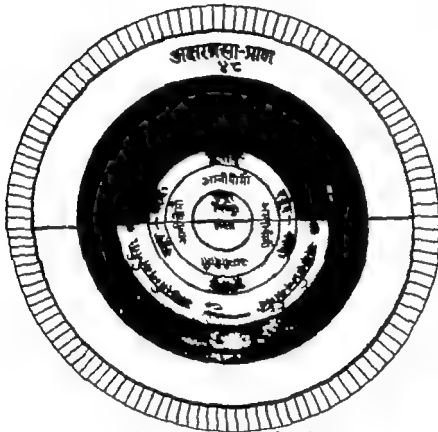
* मृणिक एक पृथिवी है सोममयबुद्ध महापृथिवी दूसरी पृथिवी है । इसी के गर्भ में प्रतिष्ठित विश्वरूपीमरवालीवा तीसरी पृथिवी है । इन तीनों में “इयमर्हका” के अनुसार एक ही मृणिक के सम्बन्ध है जो चोरी की परलोकवस्तु महिमाऽऽह से सम्बन्ध है वही उत्पत्त्य है ।

+ अन्तर्यामी मृणिक इतिवैद्य भी है इसी भी यज्ञमन्त्र में अन्तर्वेदि कहा गया है । एवं २१ सोममयबुद्ध महापृथिवी सोममय की प्रतिशब्दा महावेदि है । इसे ही ब्रह्ममयमयिमा होने से ‘अदिर्वेदि’ कहा गया है । महापृथिवी के इसी यज्ञिक रूप के आधार पर-“इयं ये अदि” (राव० ५।१।१।१२) । “एता बनी ये पृथिवी, यावर्षा यद्वि” (तै० ब्रा० १।५।१।१२)- “तस्माद्वाहुर्वावती अदिस्तावती पृथिवी-इति” (राव० १।१।५।१०) ‘अदिर्वेदि पराऽन्तः पृथिव्या’ (तै० ३।५।५।५) इत्यादि नियममय प्रतिष्ठित है ।

	इमं लोकाः	इमे देवाः	इमे देवाः	इमे स्तोमाः
वाक्साहस्री	४-आपः	अग्निमा	अन्नमा	त्रिणव-अवर्तिरास्तोमो-२७-३३
	४-स्यो	आदित्य	मामदेव	एकविंशस्तोम-२१
	२-अन्तरिक्षम्	वायु	अनुषेव	पञ्चव्यंशस्तोम-१५
	१-पृथिवी	अग्नि	अग्नेव	त्रिष्टुतस्तोम-६
इमं लोकाः लोकासाहस्री		इमे देवाः-देवमाहस्री		
'अथो वागिति ज्ञात्वा'-वाक्साहस्री-(४८ स्तोम)				

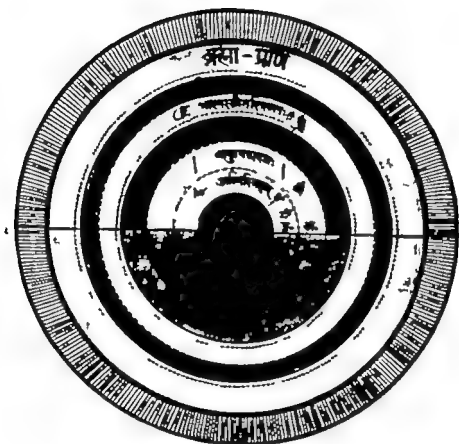
पूर्व के मौमबिबध निरूपण से यह स्पष्ट हो जाता है कि, पृथिवी मित्र वस्तु है एवं सर्वमूतान्तरारमा—मूपिबध मित्र वस्तु है। मूपिबध—मूतप्रबन्ध है, पृथिवीमरबद्ध देवप्रधान है। मूतमय मूपिबध का अन्नाद् प्रकृति का सम्बन्ध है, अन्नाद्वत्त्व अन्नसत्त्व से सम्बन्ध रखता है। अतः यह ईश्वरीय आत्मसंस्था-जन्म में इस ऐसे अन्नसत्त्वस्था, किंवा भूतात्मा कहेंगे। देवता सभी पृथिवी का प्राणात्मक उच्चाग्रि से सम्बन्ध है। प्राणवत्त्व ही देवता है। इस का विकास-अदिति पृथिवीस्वरूप-समपक एकविंश स्तोम पर्यन्त है। इस प्रकार २१ पर्यन्त व्याप्त, अग्नि-वायु-आदित्यात्मक इस प्राणाग्रि को हम प्राणारमा, किंवा देवसत्त्वस्था नामसे व्यवहार करेंगे। इसी देवसत्त्व का नाम त्रिष्टु प्रजापति है यही ईश्वर है। स्वर्ण कीमिष अस्वत्पुष्ट की पञ्चपुरवरीरा वस्त्रा का। ईश्वर को साक्षीमुष्ण-सर्वभूतान्तरारमा, ईयादि मामों से व्यवहार किया जाता है। गृहानिहित विष्णोमरवत्त्व का प्रमादमापा व निरूपण करते हुए कहा जाता है कि, 'एक ही वृक्ष पर सुनहरे पक्ष (पल-पर) वाले छोड़ले दो पक्षों बैठें। इन दोनों में एक पक्षी उस वृक्ष का फल खा रहा है, एक पक्षी फल खाने वाले की पीकसी कर रहा है'। इन दोनों पक्षियों का एक ही वृक्ष में प्रतिष्ठित रहना केवल अध्यात्मसत्त्वा की अपेक्षा से ही उपपन्न हो सकता है। पूर्वप्रतिपादित विदारमा-प्रत्यगात्मा-धारीरकरमा इन तीनों में व्यापक बोधो विदारमा है। यह जन्मातीत अवलम्ब्य गता है। वाक्य वक्ता हुआ प्रत्यगात्मा

भूविवर्तन (क)



सगती—	१-वाक् भयो ब्रह्मा (अष्टावस्तारितान्मयोमायच्छिद्रम्-८)	वाक्साहस्री-या-स्य
सप्तारम्भरा-२-	<div> <div>आत्माभयो विष्णु (त्रयस्त्रिंशत्तान्मयोमायच्छिद्रम्-२३)</div> <div> <div>१-विक्रताम (पारमेष्ठ्या) (आप)-त्रयस्त्रिंशत्तान्मयो-३३)</div> <div>२-मातृवरसोमरन्ध्रम् (आत्मम्) त्रिगुणन्मयो-(३४)</div> </div> </div>	वाक्साहस्री-या-स्य
उत्पत्ति-३-	<div> <div>अग्निगर्भित-इन्द्र (एकविंशत्तान्मयोमायच्छिद्रम्-२)</div> <div> <div>१-आदित्य (दिव्याग्नि)-एकविंशत्तान्मयो-१)</div> <div>२-वायु (तरलाग्नि)-(एकविंशत्तान्मयो-२४)</div> <div>३-अग्नि (धमाग्नि) (त्रिगुणन्मयो-६)</div> </div> </div>	वाक्साहस्री-या-स्य
भू-४-	महा नृविष्णुगर्भित-अग्नीषोमीभ्यो भूपितृ	प्रतिष्ठा साधनाम्

मृविवर्तम् (ख)



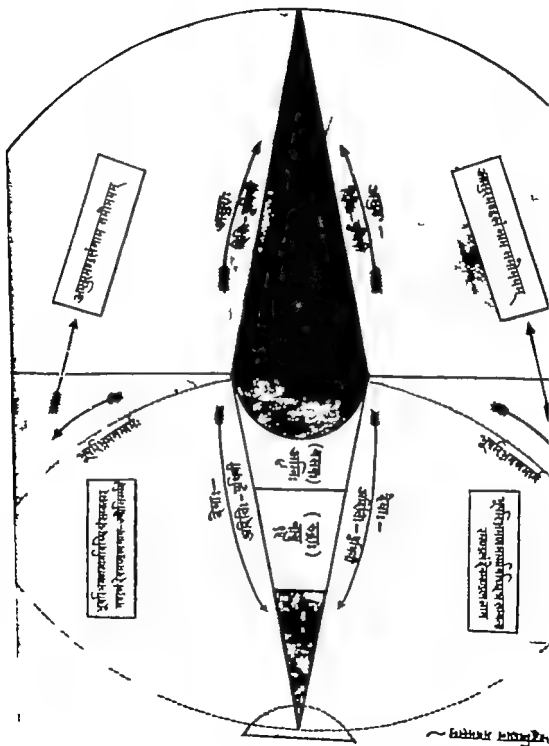
यज्ञ इन्द्रमवर्द्धयत्, यत् भूमिं व्यवर्चयत् ।
चक्रास्य भोयश दिवि ॥

—शाक्यसंहिता।

म. वि. व. त्तं म (ग)

[illegible]

दित्यदितिमराहलस



वैज्ञानिकों ने इसे—‘सुपर्ण’ (अच्छे पक्ष पाला) कहा है। जत पक्ष इन सुगोडर कहा गया है—
 “वीर्यं वै सुपर्णा गच्छमान्” (शत० १०।५।१४)। यही स्थिति आध्यात्मिक जीवधार की
 है। पक्ष अधिक स अधिक मू-बायु का तलम्परा कर मन्त्रा है। परन्तु हमारा यह कर्ममोक्ष
 जीवात्मा वो सुदूरस्थित विविध लोको में जाता करता है। यहाँ तक कि पृथिवी के २१ अर्ध-
 य पर सूर्य है—‘एकविंशो वा इतः (पृथिवीलाकात्) आदित्य (तै० भा० १।१।१०।११)
 यहाँ तक कह आ सकता है। भला इन स अधिक दूर जान की किम पक्षी में शक्ति है? जीव के
 साथ प्रत्यगात्मरूप ईश्वर भी निर्य है। यह रहता हुआ पटाकाशादित्य लाकाग्नर में जाता
 है। ईश्वरगमित जीव लोकाग्नर में क्या जाता है, माये ० यह पक्षी लोकाग्नर में घूम रहा है।
 यही इन दोनों की सुगता है। इसी सुपर्णमाह्वर स प्राप्ताचार्यों में आत्मगति में आत्म
 इस प्रेत जीव को “गृह्य” नाम स व्यवहृत किया है। इसीलिए इन समुच्चों को ‘सुपर्ण’
 (अच्छे-शक्तिशाली पक्षी) बाका पक्षी राज्य स व्यवहृत करना अन्वर्थ बन जाता है। अपिच,
 सुपर्ण राज्य का दूसरा अर्थ है—सुनहरी पक्ष। अग्नि को हिरण्यपरेता कहा जाता है। हिरण्य
 ही सुपर्ण है। चर अग्नित्रयमूर्ति १। ही हमने साक्षी कहा है। सोच भी इसी का अर्थ होता
 हुआ अग्नित्रयमूर्ति ही है। इस हिरण्य अग्नि के सम्बन्ध में भी इसे सुपर्ण (सुनहरी-आग्नेय-
 पक्षपाता) कहना अधिक होता है। अपिच, इन दोनों ही पक्षों का सुपर्णविति नाम से प्रसिद्ध
 अग्निविति से सम्बन्ध है। मृषियक से निकलने वाला पार्थिव अग्नि छेक पक्षी के आकार में
 परिणत होकर ही ११ स्थोम पम्पन बिलग रहता है। नीर सम्बन्ध न कुछ होकर यह सम्बन्ध
 रूप ही बन जाता है। इस रहस्य का वैज्ञानिकों ने सुपर्णमाह्वर ११ न निरूपण किया है।
 पार्थिव अग्नि गायत्री है। यह सुपर्ण पक्षी बन कर ही २१ स्थ मूय ११ ऊपर रहन बाकै सीम्-
 गन्धर्वप्राक्षों से सुरक्षित पारमत्र्य सोमका अपहरण करते हैं। इसी आधार पर निम्न लिखित
 निगम बचन प्राविष्ठ है—

१—‘इमे वै लोका गायत्री’ (ता० भा० १।१।१४)।

२—‘अग्निर्वा वा रात्रन् यापना गृह्यम्’ (वी० ५।५।०)।

० पक्षस्य प्रेक्षता शरीर के निरूपण किम किम लोको में रहता है? यहाँ क्या क्या पक्ष लोपता है? ,
 एतदि विषयों का निरूपण करने वाला आध्यात्मिक सुपर्ण वा “सुपर्णमाह्वर” नाम से प्रसिद्ध है। यह प्राणी के
 अत्यन्त आध्यात्मिक आधीनता में सर्वसत्तर इसी का अर्थ करते हैं।

३—“यद् गायत्री ज्येनो भूत्वा दिव सोममाहवत्—तेन मा ज्येनः”

(शत० ३। १।१२) ।

४—“तृतीयस्याप्रितो दिव सोम आमोत् । त गायत्र्याहवत्’ (वै० १।१।१०) ।

५—“इमं ऽहं स्तोत्राः सवत्सरः” (शत० ५। १।१०) ।

६—“अग्निर्वाँ सवत्सर” (तां० मा० १० १।१०) ।

एक वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि, पारिवर्तन क्रमों में प्रतिष्ठित गायत्र्याग्नि, सवत्सर, ज्येन, आदि तत्त्व अपेक्षया मिन्न मिन्न नामों से व्यवहृत होते हुए भी अग्निस्त्वेन अग्नि-स्त्वात् के ही बोधक हैं । इस पञ्चवर्षिक अग्नित्रयी का ही नाम इहवत्, किं वा देवसत्त्वात्मा है, यही सवत्सर प्रजापतिरूप महा सुपर्ण है । इति का अरूप जीव ह्यहं सुपर्ण है । सुपर्ण की इसी सुपर्णता का दिग्दर्शन कराती हुई आकाशमति करती है—

ईश्वरः—१—‘अथ इ वाऽहं महासुपर्ण एव यद् सवत्सर । तस्य—अद् पुरस्ताद्विपुलतः पश्चात्सुपर्णान्ति सोऽहं सवत्सर । अथ यान् पृथपरिहृत् सोऽहं सवत्सर । ओत्मा विपुलान् ॥’ (शत० १२।१।३०)

श्रीव — २ — “पुरुष सुपर्ण” (शत० ७।५।१५)

हो इस सम्बन्ध में इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि, यदि सुपर्ण शब्द का “पञ्चवर्षिक अग्निमय पुरुष सुपर्ण है” यह अर्थ अग्निमेव है, तब तो आत्मगति से कोई सम्बन्ध न रखने वाला निरस्वरूप सवत्सरात्मक त्रैलोक्य व्यापक विशात्मक ईश्वर ही सुपर्ण शब्द से व्यवहृत किया जायकता है । यदि सुपर्ण का — ‘लाकनार में पक्षी से गमन करने वाला सुन्दर पक्षी सुपर्ण है’ यह अर्थ है तो उस वृत्ति में निरस्वरूप शरीरोपाधिक प्रत्यगात्मरूप का ही वाणी सुपर्ण शब्द प्रयुक्त प्रमाण प्रमाण । ‘इह सुपर्णा’ इत्यादि में सुपर्ण शब्द से इसी आकाशमय सुपर्णपुत्र का प्रमाण अपेक्षित है । कारण—श्रोतों सुपर्णों का समान (एक) वृक्ष में अथवा वान् वीनों का समुद्र माय अथवा अमर्याद में ही समान होसकता है । अभिदैवतत्वा का अथवा सवत्सरात्मक—विशात्मक महासुपर्ण शैतिक विरह का समा गरूपसे साक्षात् होता हुआ भी अपने इस व्यापकरूप से वह अथवा अमर्याद का सखी नहीं-माना जासकता । साक्ष ही में उस व्यापक का इस परिच्छिन्न विशात्मक का साथ समान हुए

अतएव अक्षमोपरूप स प्रतिष्ठित य पाँचों उस एक ही के रूप (समीप) बैठे हुए हैं अंतःस्थ
इन्हें उपेक्षर कहा जाता है । अक्षरर यद्यपि अक्षरत्वर की अपेक्षा विशाल रूप वा, परन्तु
इन अक्षररों की अपेक्षा यह विशालता है अक्षरर विद्वत्ता है । विशालता एक है विद्वत्ता पाँच है ।
इस प्रकार एक ही विशालरूप अक्षर अक्षरर विद्वत्ता, अक्षरर विशालरूप मेरु से दो भागों में
विभक्त हो जाता है । इन दोनों में अक्षररर विद्वत्ता अक्षररमूर्ति है, एवं उपेक्षर सरास्यगामित
अक्षरप्रधान है । इन दोनों का क्रमः गुण विचार नाम के दो परिपटी से सम्बन्ध है । अक्षरर
सगुण सत्वप्रज्ञापति है उपेक्षर सविचार-यज्ञप्रज्ञापति है । तीसरा है विशालरूप देवविद्या ।
इसके भी साँची मोटा रूप से दो विवरण हैं । अक्षरसत्वात्मिका अक्षर के मुख्य अग्रभाग में सम्बन्ध
रखने वाले प्रविष्टी विवरण स ही इन दोनों का सम्बन्ध है । त्रैलोक्य व्यापक आभिप्रायमूर्ति देव
सत्वात्मा साँची है । यह यद्यपि उपेक्षरर की दृष्टि से अक्षर है, परन्तु अक्षरर की अपने
गर्भ में रखने के कारण अक्षरर की अपेक्षा से यह विशालता हो कहा जायगा । इसी को भौतिक
पार्थिव विवरणों में व्याप्त रहने के कारण "सर्वभूतान्तरात्मा" कहा जाया है । विशालरूप
सर्वव्यापक (मीमांसात्रैलोक्य में व्यापक) इस सर्वभूतान्तरात्मा के आगे आकर प्रत्यगारमा
शरीररत्मा मेरु से दो विवरण हो जाते हैं । त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित रहने वाला, केवल पार्थिव
विवरणरूप आभिभौतिक प्रपञ्च का साँची रहन वाला वही विशालता कहलाता है । अक्षर
सत्वा में प्रविष्ट होकर वही अपन दो रूप धारण कर लेता है । अक्षररूप के कर्म-प्रज्ञ, मेरु से
दो भागों में विभक्त है । इन में अक्षररत्न का सम्बन्ध आभिभौतिक सत्वा से है । एवं कर्मरत्न
का सम्बन्ध अक्षररत्नसत्वा से है । इसी में फल भोगने के लिए प्राणी को आना पड़ता है । इस
फलभोगा प्राणी के साथ वही अक्षररत्न में साँचीरूप स सर्वव्यापी-समान वही त्रैलोक्य व्या
पक साँची आत्मा सर्वभूतसाधारणप्रेमवा एकता से किन्तु अक्षररत्नप्रेमसे वक्ष्यर-
राक्ष्यरत्न वक्षता हुआ विशाल रूप से प्रतिष्ठित होता है । वही प्रत्यगारमा है । इस प्रकार एक
ही कर्मरत्न के शास्त्ररूप एक ही शरीर में (केन्द्र में) एक ही स्थान पर अक्षररूप से
प्रतिष्ठित रहते हुए अतएव 'सुषुम्नी' (ओढ़ने) भाग से प्रसिद्ध ये दोनों प्रतिष्ठित हो रहे हैं ।
इसी रहस्य को कल्प में रक्त कर भुक्ति कहती है—

इह सुपर्णा सुपुञ्जा सखाया समान (एक) हृत् परिपश्यताते ।
तपार्न्मः पिप्लव स्नादति, अनन्तन्नन्योऽभिवाकतीति ॥

—मुद्ररक्षोपनिषत् (११/११)

इन दोनों विश्वों में प्रत्यगात्मरूप साक्षी चित् शरीरोपाधिक बनता हुआ भी, सूर्य
आत्मगत्यधिष्ठाता—सुषणात्मा—आत्मपदत्त चेतनारूप से सूर्यप्रतिबिम्बत्वानीय सबका

विभिन्न जीवात्माओं का समानोपकारक बनता हुआ उस त्रैलोक्य व्यापक साक्षी से अभिन्न
है। अतः इसका और उसका अनेक मानत हुए दोनों को एक ही तरह मान लिया जाता है।
जो चित् आत्मा है, वही शरीरोपाधिक परमार्थतः निरुपाधिक रहता हुआ शारीर शायों से सर्वथा
निर्लिप्त रहता हुआ प्रत्यगात्मा है। इसका उस अधिकार यज्ञप्रजापति में अन्तर्भाव है। यही
सर्वभूतान्तरात्मा नाम का पहिला स्वसत्त्वात्मा है। दूसरा जीवात्मा इसी का अंशरूप चित् आत्मा
लक्ष्य शरीररूपात्मा है। इस का अज्ञान परिग्रह से सम्बन्ध है। यही साक्षन प्रतिशरीर भिन्न
प्रत्यगात्मा मा भूतिव्य अभिनामृत ओंका जीवात्मा अपनी अपनी प्रातिस्वक भूतमत्त्वा का
अभिमानी बनता हुआ 'भूतारमा' नाम से प्रसिद्ध है। मधुरूप फल भोगने के कारण ही महर्षि
कठ ने इस 'मन्वद्' (मधुरूप फल खाने वाला) नाम से व्यवहृत किया है। इस मन्वद् के
साथ इस का इशिता अथवा 'ईशान' नाम से प्रसिद्ध सर्वभूतान्तरात्मा असम्बन्ध सदा साथ
रहता है। जो जीव स्वान्तिक (मभीपत्य) इस ईश को न जानता हुआ अधीरा बना रहता है, वह—
"अनीशया शोचति मुष्मान" के अनुसार क्लेशादि में कैसा रहता है। परन्तु जो जीव
अपने प्रत्यगात्मरूप अपने इस ईशरूप को पहिचान लेता है वह—"अमुष्मानो न शोचति,
न शोचति"।

य इम मन्वद् वेद आत्मान जीवमन्त्रिकात् ।

ईशान भूतमव्यस्य न ततो विदुगुप्तते । ऐतद्वै तत् ॥ (कठो० ४५) ।

इन दोनों में सर्वभूतान्तरात्मा नामक स्वसत्त्वात्मा ही इश्वर है, भूतारमा नामक स्वस-
त्त्वात्मा ही जीव है। दोनों में इश्वर विद्युत् आत्मचरमूर्ति है, जीव अव्ययाचरगमित आत्मचर
मूर्ति है। यही आत्मविभक्त की तासरी सत्त्वा है। दोनों ही सुषण नाम से व्यवहृत हुए हैं। सुषण
शब्द का भी विचार कीजिए। जिस प्रकार अनुष का सौन्दर्य उस के सदाचार पर अवलम्बित
है, स्त्री का शक्ति पाठिग्रह पर निर्भर है एवमत्र पक्षी का सौन्दर्य उसके पक्षों पर आश्रित है।
पक्ष सम्पन्न से ही वह पक्षी कहालाया है। पक्षों से पक्षी आकाश में विचरण किया करता है। जो
पक्षी अपने पक्षों से आकाश में जितना अधिक दूर वह मकाना है, वही पक्षों की प्रशंसा है
यही पक्षों का सौन्दर्य है। पक्षसौन्दर्य बढता बढता से सम्बन्ध रहता है। इतर पक्षियों की
अपेक्षा गहक पक्षी अधिक वेग से, अधिक दूर तक उड़ सकता है, अत एव इसके पक्ष इतर
पक्षियों की अपेक्षा सुष्ठु (सुन्दर) माने जाते हैं। गहक पक्षी के इसी पक्ष सौन्दर्य के कारण

वैज्ञानिकोंने इसे—“सुपण” (अच्छे पक्ष वाला) कहा है। जन एक इसे एगोइवर कहा गया है—
 ‘वीर्यं वै सुपर्णा गरुत्मान्’ (शत० १०।५।१४)। यही स्थिति आध्यात्मिक जीवधर की
 है। पक्षी अधिक से अधिक भू-वायु का लक्ष्मण कर सकता है। परन्तु हमारा यह कर्ममात्र
 जीवात्मा को सुदूरस्थित विविध लोकों में जाता करता है। यहाँ तक कि पृथिवी के २१ अर्धा-
 ण पर सूर्य है—“एकविंशो वा इत (पृथिवीलोकात्) आदित्य (तै। ब्रा० १।१।१०।११)
 वहाँ तक वह जा सकता है। मला इस से अधिक दूर ज्ञान की किस पक्षी में शक्ति है? जीव के
 साथ प्रत्येकारूप ईश्वर भी निरूप्य सम्बन्ध रहता हुआ पदाकाशादिवात् लोकान्तर में जाता
 है। ईश्वरगमित जीव लोकान्तर में क्या जाता है? मानो। कुछ पक्षी लोकान्तर में घूम रहा है।
 यही इस श्रोत्रों की सुपणता है। इसी सुपणसादृश्य में प्राणाचार्यों में अमरगति में आत्म
 इस प्रेत जीव का “गुरु” नाम से व्यवहृत किया है। इसीलिए इन सधुओं को “सुपर्ण”
 (अच्छे-वाक्पितामी पक्षी) वाला पक्षी शब्द से व्यवहृत करना अत्यन्त बल जाता है। अपिच
 सुपर्ण शब्द का दूसरा अर्थ है—सुनहरी पक्ष। अग्नि को हिरण्यरेता कहा जाता है। हिरण्य
 ही सुपर्ण है। ऊपर अग्नित्रयमूर्ति भी ही हमने साक्षी कहा है। ओष भी इसी का अंश होता
 हुआ अग्नित्रयमूर्ति ही है। इस हिरण्य अग्नि के सम्बन्ध में श्री इसे सुपर्ण (सुनहरी-आग्नेय-
 पक्षवाला) कहा जा चला होता है। अपिच, इन दोनों ही पक्षों का सुपर्णचित्ति नाम से मन्त्रि
 अग्निचित्ति से सम्बन्ध है। मृपिच से निकलन वाला पार्थिव अग्नि छीक पक्षी के आकार में
 चरियात होकर ही २१ स्थोम पञ्चन चित्त रहता है। नीर सम्बन्ध में कुछ होकर यह सम्बन्ध
 रूप ही बन जाता है। इसी रहस्य का वैज्ञानिकों ने सुपर्णज्ञान का न नित्यपक्ष किया है।
 पार्थिव अग्नि गायत्री है। यह सुपर्ण पक्षी बन कर ही २१ स्वर सूर्य में ऊपर रहन वाले सौम्य-
 गन्धर्वप्रभों से सुरचित वारमन्त्र सामका अपहरण करती है। इसी आधार पर निम्न लिखित
 निगम बचन प्राविष्ट हैं—

१—“इमे वै लोका गायत्री” (ता। ब्रा० १।१।१४)।

२—“अग्निं वाच शब्दं गायत्री सुधुम्” (जे० उ। ५। २)।

क मन्त्रपञ्चम श्रोत्रा घटीर से निकलकर निम्न निम्न लोकों में जाता है। वहाँ क्या क्या पक्ष जोरता है।
 एतन्मि विपत्तौ वा निमग्न करने वाला अक्षयतीमावधक पुराण ही “नरकपुराण” नाम से प्रसिद्ध है। मृत प्राणी के
 हृत्स्थ अर्धकलक अक्षयतीमावधक में तर्जुनधर हृत्तौ का अन्वय करते हैं।

३—“यद् गायत्री ज्येनो भूम्वा दिव सोममाहवत्—तेन मा ज्येनः”

(रात० ३। ११।१२)।

४—“तृतीयस्यामिता दिव सोम आमोत् । स गायत्र्याहरत्” (दे० १।१।१।१०)।

५—“इमंउठ लोकाः सबत्सर” (रात० ५। १।१०)।

६—“अग्निर्वाव सबत्सर” (तां० मा० १० १३।१०)।

उक्त वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि, पारिवर्त ब्रह्मोक्त्त में प्रतिष्ठित गायत्राग्नि, सब स्तर, ज्येन, आदि तत्त्व अपेक्षया मिथ्य मिथ्य नामों से व्यवहृत होते हुए भी अग्निदेव अग्नि आत्मा के ही बोधक हैं। इस पञ्चवैतनिक आग्निदेवी का ही नाम इश्वर, किं वा देवसत्त्वात्मा है, यही सबत्सर प्रजापतिरूप महा सुपर्ण है। इन्हीं का अक्षररूप जीव ब्रह्म सुपर्ण है। सुपर्ण की इसी सुपर्णता का विगहराज कराती हुई माह्वणवति करती है—

ईश्वरः—१—“अथ इ वाऽएष महामुपर्ण एष यत् सम्बत्सर । तस्य—वत् पुरस्ताद्विपुवतः पश्मासानुपयन्ति सोऽन्यतः पक्ष । अथ यान् पक्षपरिष्टात् सोऽन्यतरः । आत्मा विपुवान् ॥” (रात० १।१।१०)

जीव —०—“पुरुष सुपर्ण” (रात० ७।४।१३)

हो इस सम्बन्ध में इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि, यदि सुपर्ण शब्द का “पञ्चवैतनिक अग्निमय पुरुष सुपर्ण है” यह अर्थ अग्निदेव है, तब तो आत्मगति से कोई सम्बन्ध न रखने वाला विश्वरूप सम्बत्सरारम्भक ब्रह्मोक्त्त व्यापक विश्वरूप ईश्वर ही सुपर्ण शब्द से व्यवहृत किया जायकता है। यदि सुपर्ण का—“लाङ्गनार में पक्षी से गमन करने वाला सुन्दर पक्षी सुपर्ण है” यह अर्थ है तो उस वक्ता में विश्वरूप शरीरोपेवाधिक प्रत्यगात्मरूप का ही भावी सुपर्ण शब्द में ग्रहण करना पड़ेगा। “इह सुपर्णः” इत्यादि में सुपर्ण शब्द से इसी आध्यात्मिक सुपर्णयुगल का ग्रहण अपेक्षित है। कारण—दोनों सुपर्णों का समान (एक) रूप में अवस्थान दोनों का समुच्च भाव अध्यात्मसम्बन्ध में ही समझ होसकता है। अविदेवसत्त्वा का अत्यन्त सम्बत्सरारम्भक-विश्वरूप महासुपर्ण भौतिक विरह का समा मरूपसे छाया भेदा हुआ भी अपने इस व्यापकरूप से वह अध्यात्मसत्त्वा का साक्षी नहीं माना जासकता। साथ ही में उस व्यापक का इस परिच्छिन्न विश्वरूप के साथ समान रूप

में अवस्थान, एवं सयुग्माव भी उपरम्भ नहीं होमकता। इस प्रकार द्विकल आत्मा, द्विकल प्रस, द्विकल देव, इन तीन युग्मों में चामय विवर्तों समान है। उत्तर उत्तर का युग्म पूर पूर्ण का आकार पर प्रतिष्ठित है। इस क्रम से दशमस्ययुग्म में राव दोनों आत्म-ब्रह्मयुग्मों की सत्ता सिद्ध होजाती है। दशमस्यात्म-परिज्ञान से सब कुछ विज्ञान है। दशमस्यात्मयुग्म त्रिकल है, इसी आकार पर "प्रि सत्या य देवा" यह अनुगम प्रतिष्ठित है।

अपरिच्छिन्न का परिच्छिन्न घन ज्ञान ही मयुग्मध्वन , यदा माय्य माय है। इस सीमा परिच्छिन्न-मृत्युध्वन—भाष क ठारम्य से विरय कर्षण में (महाभाषा क गर्भ में प्रतिष्ठित एक ठोती विवर्तों से इस भाग्य कह सक्त है। इस छत्रि स विरुद्ध आत्मप्रस आत्मा कवक विरवातीव अन्तर परात्पर ही है। यही मायी स्थिति है यही मायी उपनिषद् है। इस क गर्भ में प्रतिष्ठित सभी आत्मविबल परात्पर की अपक्षा माया भी है, भोग्य भी है। मायी भी है, भोक्ता भी है। परस आत्मयुग्म का हा आश्रय अचान्तर युग्मों की अपक्षा माया बनता हुआ भी बहरीगर्भित महरवर परात्परदृष्ट्या भव्य है। परात्पर विवात्मा है, पुरुष विवर्ता है। परात्पर सायी है, पुत्र्य सायी है। परात्पर प्रतिष्ठा है, पुरुष प्रतिष्ठित है। परात्पर अन्ता है पुरुष अन्त है। स्वयं आत्मविबल में सिद्ध महरवर विवर्ता है मायी है। योदरी विरय है, माया है। इस की अपक्षा मयम वारमविबल भोता है, आत्मयुग्ममाया है। स्वयं ब्रह्मसत्य-विबल में बहारावर माया है उपरवर आया है। इस की अपक्षा दशमस्यात्मविबल भोता है, ब्रह्मस्यात्मयुग्म सायी है। स्वयं दशमस्यात्मविबल में त्रैलोक्यवर मायी है जीवमय-विबल सायी है। मुदग कवक इमा अन्तिस मीमा का नाम है। कारण आत्मगति क माय इस दश मस्यात्मविबल का ही मयवर है।

एक बार चमयकार श्रुति है। सभी आत्ममत्वाओं में पञ्चकल अक्षय की प्रचानता चामनकारिक-पुरुषात्मा—है—“मनः परतर नान्यत् किञ्चिदस्ति घनकल्प” (गीता ७।६)। अक्षय आ मन मागवाहमय मृष्टिमायी। अक्षय का ज्ञानधन मन विवाधन प्राण अक्षय कक्षय है। वाहनी माया में बनता अक्षय अक्षर-क्षर रूपमें विवा गत होता है।

स्वयं अक्षय मन-प्रधान होता हुआ ज्ञानप्रधान है। अक्षर प्राणप्रधान होता हुआ विवा प्रधान है। स्वयं कर कक्षयधन बनता हुआ अक्षयप्रधान है। मयदृष्ट्य से स्वयं बाहरी अक्षय प्रधान है ब्रह्मस्यात्मयुग्म अक्षरवचन है दशमस्यात्मयुग्म चरप्रधान है। प्रत्येक में मुता मयपादवाहयान अथ एवं ज्ञानक्रियापूर्ति अक्षय-मक्षर-क्षर का विज्ञान है। बहारावर

के लिए आत्मयुग्म को ही लीजिए। इस में भी पहिले विशुद्ध पञ्चकला अव्यय नामक महेश्वर को लीजिए। इस की पाँच कलाओं में से आनन्द विज्ञान का एक विभाग है। यह विभाग ज्ञान प्रधान बनता हुआ अव्ययप्रधान है। प्राणवाक् का स्वतन्त्र विभाग है। यह विभाग अथ प्रधान बनता हुआ चेतप्रधान है। अव्यय समयात्मक मन का स्वतन्त्र विभाग है। यह उभयात्मक बनता हुआ सन्तुष्टानोय बनता हुआ अक्षरप्रधान है। कवक सृष्टिसाक्षी त्रिकल अव्यय में मन ज्ञानघन बनता हुआ अव्ययप्रधान, प्राण क्रियाघन बनता हुआ अक्षरप्रधान, वाक् अर्थघना बनती हुई अक्षरप्रधाना है। पौडरी मस्या में पञ्चकला अव्यय ज्ञानप्रधान बनता हुआ मनोमय, पञ्चकला अक्षर क्रियाप्रधान बनता हुआ प्राथमय, एवं पञ्चकला चर-अर्थप्रधान बनता हुआ बाह्यमय है।

ब्रह्मसत्त्वात्मरूप दूसरे युग्म का विचार कीजिए। इस में भी पहिले विशुद्ध अक्षरात्मक अक्षरपारीय ओंकारात्मक बह्मेश्वर पर दृष्टि डालिए। प्रत्यक्षस्थानीय, पार्विष सम्भा का अनुप्राहक विशुद्ध अक्षरमूर्ति वही बह्मेश्वर मकारात्मक अक्षर एवं वाक्प्रधान चर है। अक्षरीय स्थानीय, सौरसंस्था का अनुप्राहक विशुद्ध अक्षरमूर्ति वही उकारात्मक बह्मेश्वर प्राणप्रधान अक्षर है। एवं ओंकारस्थानीय, स्वायुग्मय संस्था का अनुप्राहक विशुद्ध अक्षरमूर्ति वही अकारात्मक बह्मेश्वर मनप्रधान अव्यय है। पर (अव्यय) परम (अक्षर) अक्षर (चर) रूप ओंकारात्मक विशुद्ध ही पारोक्षीय विशुद्ध अक्षरमूर्ति बह्मेश्वर नामक ब्रह्मसत्त्वात्मा है। ज्येष्ठेश्वरसंस्था में से प्रत्येक का विचार कीजिए। पहिले स्वयं भू को कीजिए। * स्वयंभू के बह-सूत्र-निवृत्ति-मेव से हीम मनोवा माने गए हैं। वेदमूर्ति वही स्वयंभू वृत्तान्तरूप ज्ञान का प्रवर्णक बनता हुआ ब्रह्मेश्वर से मनोमय बनता हुआ अव्ययप्रधान है। सम्बन्धसूत्रा वृत्तान्तेन वही प्राथमय बनता हुआ अक्षरप्रधान है। नियति-सम्बन्ध से वही वाक्मय बनता हुआ आक्षरप्रधान है। इन तीनों विषयों का स्वरूप पूर्व को अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत् में बतलाया जा चुका है। इसी प्रकार परमेशी नाम के उपेश्वर में ब्रह्मा (मनोमय अव्यय), ऊर्क (प्राथमय अक्षर) भोग (वाक्मय चर) इस रूप से, सूर्योपेश्वर में ज्योति (वाक्मय चर), औ (प्राथमय अक्षर), आयु (मनोमय अव्यय) इस रूप से अश्वोपेश्वर में रेत (वाक्मय चर), धृत्वा (प्राथमय अक्षर) यशु (मनोमय अव्यय)

* इस विषय का विवर निम्नलिखित इशोपनिषत् विज्ञानभाष्य प्रथमस्कन्ध के पुरुषारम्भाधिकार्यान्तगत "मनप्राणवाक्मय अव्यय की व्यापकता ज्ञान के प्रकरण में देख्य चाहिए।

इस रूप से, एवं मूर्धन्यरूप तपोहर में वाँक (बाह्यमय हर), गौ (प्राणमय अहर), पौ (मनोमय अहमय), इस रूप से तीनों पुरुषों का अवस्थान सिद्ध हो जाता है।

सर्वांग में वेदसंस्थानरूप तीसरे विवर्त का विचार कीजिए। इसमें भी साक्षीरूप प्रत्यक्ष-आत्मविवर्त पर पहिले दृष्टि बाजिए। इसकी वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ, ये तीन कर्तार हैं, जैसा कि अनुग्रह में ही स्पष्ट होन बाक्ता है। इनमें अर्धप्रधान वैश्वानर बाह्यमय हर की विकास मूमि है। क्रियाप्रधान हिरण्यगर्भ प्राणमय अहर से अनुगृहीत है। एवं सर्वज्ञ मनोमय अहमय के अनुग्रह से युक्त है। इसी प्रकार मोक्षा (जीवसुपर) वेदसंस्थान की वैश्वानर-सैवस प्राज्ञ, ये तीनों कर्तारें कमरा हर-अहर-अहमय से सम्बन्ध रखती हैं। यह है स्वस्मिन्शरीर। यदि ब्रह्मात्मजानुसार इस त्रिपुरुष की व्याप्ति के सूत्र वर्तन किए जावे हैं, तो अन्ततः त्रिपुरुष पर विभ्राम करते हुए, इसके द्वारा पञ्चकण्ठपुरुष तद्द्वारा निष्कण्ठ पुरुष, सर्वांग में उसी अहमय परात्पर का आश्रय लेना पड़ता है—'ऐतद्वस्तुमिदं सर्वम्'। उक्त विषय का निम्नलिखित वाक्यांशों से स्पष्टीकरण हो जाता है।

१—आत्मन्वीविबधे

<p>१- { वरतरे मात्परिप्रवृत्त्यन्वात् उत्तीमं सत् मात्परिप्रवृत्ति विवर्तः पुरुषोऽहम् }</p>	<p>महेश्वरप्रज्ञापतिः—अमृततत्त्वपुरुष</p>
<p>२- { अमृतं कर्म (जीवमात्मा) वरिप्रवृत्त्यन्वात् मात्परिप्रवृत्ति विवर्तः पुरुषोऽहम् }</p>	<p>(आत्मविवर्त)</p>

<p>१- { जीवमात्मा पुरुषोऽहम् पञ्चपञ्चीकृतं कर्मोत्तरः सत्त्वमात्मा }</p>	<p>विश्वेश्वरप्रज्ञापतिः</p>
<p>२- { अमृतमि विवर्तप्रवृत्त्यन्वात् स पर १० वत्त भा-इत्येता- पञ्च १० वत्त पञ्चोपेतं सत्त्वमात्मा }</p>	<p>तपोहरप्रज्ञापतयः (अहमविवर्त)</p>

- १- { सर्ववृत्तमूर्तिः-वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-
सर्ववृत्तमूर्तिः प्रत्यगात्मा साक्षी सुषर्माः } → ईश्वरः
- २- { मित्रदात्मिण्यमूर्तिः-वै सैवस प्रज्ञ-
कृतस्मा अन्तर्यामिप्रज्ञायोपात् शारीरकात्मा
मोक्ष द्रव्यैः } → जीवः
- ईश्वरप्रज्ञापतिः → देवसत्यात्सुगम
(देवविपत्ते)

२-विदात्म-विदम्बविपर्ष-

- १- { १-सर्ववृत्तमिदित्प्रसमृत्तिरमायी-अक्षरः परात्पर → विदात्मा-विद्वद्भासा
२-योद्धाकृत् महामायी विरवम्बापका महेश्वर → विद्वत् → आत्मन्वी
- २- { १-माधामात्रो निष्कलो विद्वद्वोऽम्बयपुरुष → विदात्मा-आत्मन्वी
२-अक्षरपुरुषाक्षरकृतरूप योद्धाकृत्त्रिपुरुषः पुरुष → विद्वत् → आत्मन्वी
- ३- { १-योद्धाकृत्त्रिपुरुष पुरुषो महेश्वर → विदात्मा-आत्मन्वी
२-उपेश्वर विरवेश्वर-कृतरूपो ब्रह्मसत्त्वात्मा → विद्वत् → आत्मन्वी
- ४- { १-अक्षरपारोक्षो यद्विरोधो ब्रह्मसत्त्वात्मा → विदात्मा-आत्मन्वी
२-दृक्कृत्सत्त्वाः स्व० प० सु० च० मू० इत्येषा उपेश्वराः → विद्वत् → आत्मन्वी
- ५- { १-उपेश्वरविरवेश्वरकृतरूपो ब्रह्मसत्त्वा मा → विदा मा-आत्मन्वी
२-अभिप्रवृत्तिरत्रैकोक्षक्यापको देवमत्त्वात्मा → विद्वत् → आत्मन्वी
- ६- { १-वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्ववृत्तमूर्ति-मैत्रासंवल्ल
रात्मको महामुषर्मा } → विदात्मा-आत्मन्वी
२-वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्ववृत्तमूर्ति-शारीरोपा
विदिशित-साक्षी सुषर्माः प्रत्यगात्मा } → विद्वत् → आत्मन्वी

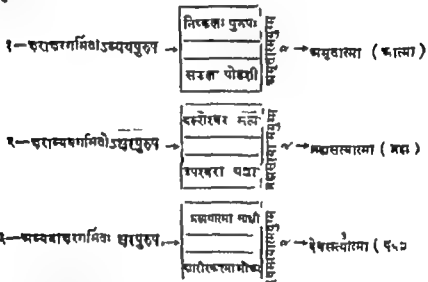
- ४- { १-महासंहरमुत्थामाभिन्तः साक्षी प्रत्यगात्मा --- विदात्मा --- आत्मन्वी
 २-सैव-सैवसमाप्रकृतमूर्तिर्भोक्तुं सुपर्ण शरीरकात्मा-विहरा --- आत्मन्वी

— * —

- ८- { १-विरहप्रपञ्च-विशुद्ध शरीरम्-विदात्मनः साक्षिण
 २-शरीरप्रपञ्च-विशुद्ध जगत्-विरहस्य भावः

— * —

३-त्रिपुरुषविषय



— मनःप्राणवायुमयविषय —

- १-माद्यबागमिषं त्रिभुवनम् --- तन्मयप्राणः --- अक्षरपुरुषा मानसम्
 २-मनोबागमिषं त्रिभुवनं प्राणः --- तन्मयप्राणः --- अक्षरपुरुषा क्रियामयम्
 ३-माद्यमनोमिषं त्रिभुवनं वायुः --- तन्मयप्राणः --- अक्षरपुरुषा अक्षरमयम्

४-मानसमायविषय —

- १-अक्षर परात्मा --- भावा (साक्षी)
 २-निष्कलाव्ययपुरुषा पोच्छीपुरुष --- भावा (भावा)

- २- १-निष्कलोऽभ्यस्यपुरुषः ————— मोक्षा (साक्षी)
२-चोदरी महेश्वरः ————— भोग्य (मोक्षा)

————— ०४ —————

- ३- १-चोदरीपुरुषो महेश्वरः ————— मोक्षा (साक्षी)
२-सोपेरबरो वरुश्वरः ————— भोग्य (मोक्षा)

————— ०५ —————

- ४- १-अवारपारीयो वरुश्वरः ————— मोक्षा (साक्षी)
२-पञ्चोपेरबरा पृथक् पृथक् ————— भोग्य (मोक्षा)

————— ०६ —————

- ५- १-सोपेरबरो वरुश्वरः ————— मोक्षा (साक्षी)
२-प्रत्यगात्माभिन्नो महासुपण्ड ————— भोग्य (मोक्षा)

————— ०७ —————

- ६- १-संबल्लारामको महासुपण्ड ————— मोक्षा (साक्षी)
२-प्रत्यगात्मा साक्षी सुपण्ड ————— भोग्य (मोक्षा)

————— ०८ —————

- ७- १-महासुपण्डाभिन्नः साक्षी ————— मोक्षा (साक्षी सुपण्डः)
२-शारीरको मोक्षात्मा ————— भोग्य (मोक्षा सुपण्डः)

————— ०९ —————

६-पुरुषात्मविवर्तः—(पुरुष एवेद सर्वं यद् गूढं यच्च भाव्यम्)

१-पञ्चकलाऽभ्यस्य ज्ञान-साम-कर्ममूर्ति —

१-ज्ञानमूर्तिज्ञान (ज्ञानात्माभ्यस्यः) → ज्ञानपनोऽभ्यस्य

२-सम (अमरमाभ्यस्यः) → क्रियापनोऽभ्यस्य

३-मायुषाया (कर्मात्माभ्यस्यः) → कर्मपनः सार

२—त्रिकुलोऽभ्यय सुष्टिसाक्षी—

- १—त्रिकुलोऽभ्ययो मनोमयः—अभ्ययः (इष्ट)
 २—त्रिकुलोऽभ्ययः प्राणः—अभ्ययः (प्राण)
 ३—अभ्ययमूर्तिर्वाक्—अभ्ययः (वाक्)

३—बोद्धव्यो भवेत्परः धराधरगमिणोऽभ्ययप्रधानः (सुष्टेराऽभ्ययम्)—

- १—पञ्चकोऽभ्ययो मनोमयः—अभ्ययः (मनो)
 २—पञ्चकोऽभ्ययः प्राणमयः—अभ्ययः (प्राण)
 ३—पञ्चकोऽभ्ययः वाक्मयः—अभ्ययः (वाक्)

४—वत्सेश्वरप्रजापतिर्विश्वदाधरसृष्टिः—

- १—स्वायम्भुवर्षत्वाधरमहकः—वत्सेश्वरसृष्टिर्मनोमयोऽकारः—अभ्ययः
 २—सौरवर्षत्वाधरमहकः—अग्निवर्षत्वाधरसृष्टिः प्राणमयः—अकारः—अभ्ययः
 ३—वार्ध्ववर्षत्वाधरमहकः—अधोवर्षत्वाधरसृष्टिः वाक्मयः—अकारः—अभ्ययः

५—वत्सेश्वरगमिताः अभ्ययधरगमिताधरप्रधानाः उपेश्वर स्वयम्भूः (१)

- १—वत्सेश्वरसृष्टिर्वाक्मयः—अभ्ययः (वाक्)
 २—सूर्यसृष्टिर्वाक्मयः—अभ्ययः (सूर्य)
 ३—निवर्षसृष्टिर्वाक्मयः—अभ्ययः (निवर्ष)

६—वत्सेश्वरगमिताः अभ्ययधरगमिताधरप्रधानाः उपेश्वर—वरमेष्टी (२)

- १—इष्टसृष्टिर्वाक्मयः—अभ्ययः (इष्ट)
 २—इष्टसृष्टिः किंवाप्रवर्षत्वाधरमहकः—अभ्ययः (इष्ट)
 ३—मोक्षसृष्टिर्वाक्मयः—अभ्ययः (मोक्ष)

७—वत्सेश्वरगमिताः अभ्ययधरगमिताधरप्रधानाः उपेश्वर—सूर्यः (३)

- १—वायुसृष्टिर्वाक्मयः—अभ्ययः (वायु)
 २—गोसृष्टिः किंवाप्रवर्षत्वाधरमहकः—अभ्ययः (गो)
 ३—अग्निमूर्तिर्वाक्मयः—अभ्ययः (अग्नि)

८—प्रत्यक्षमर्थगर्भितं—अभ्ययधुरगर्मितात्मधुरप्रधान—उपेक्षरूपचन्द्रना (४)

- १—प्रत्यक्षमर्थगर्भितं—अभ्यय (प्रति)
- २—अभ्ययधुरगर्मितात्मधुरप्रधान—अभ्यय (प्रति)
- ३—उपेक्षरूपचन्द्रना—चन्द्र (रत्न)

९—प्रत्यक्षमर्थगर्भितं—अभ्ययधुरगर्मितात्मधुरप्रधान—उपेक्षरूप धूपिष्ठ (५)

- १—प्रत्यक्षमर्थगर्भितं—अभ्यय (प्रति)
- २—अभ्ययधुरगर्मितात्मधुरप्रधान—अभ्यय (प्रति)
- ३—उपेक्षरूप धूपिष्ठ—धूपिष्ठ (प्रति)

१०—अग्नित्रयमूर्तिः—अभ्ययधुरगर्मितात्मधुरप्रधान प्रत्यागात्मा साक्षी सुपर्णः (१)

- १—अभ्ययधुरगर्मितात्मधुरप्रधान—अभ्यय (प्रति)
- २—प्रत्यागात्मा साक्षी सुपर्णः—सुपर्ण (प्रति)
- ३—अभ्ययधुरगर्मितात्मधुरप्रधान—अभ्यय (प्रति)

११—अग्नित्रयमूर्तिः—अभ्ययधुरगर्मितात्मधुरप्रधान साक्षरणी-भोक्ता सुपर्णः (२)

- १—अभ्ययधुरगर्मितात्मधुरप्रधान—अभ्यय (प्रति)
- २—साक्षरणी-भोक्ता सुपर्णः—सुपर्ण (प्रति)
- ३—अभ्ययधुरगर्मितात्मधुरप्रधान—अभ्यय (प्रति)

अधिति के गमने में हमने विशुद्धआपत्ति की सत्ता बतलाई है। इसी विराट्प्रजापति को प्राजात्मोपनिषत् की उपनिषत्—इमने साक्षीधूपिष्ठ कहा है। यही हमारी इस प्राजात्म-
 प्राजात्मोपनिषत् की मूल प्रतिष्ठा है। यही हमारा (आत्मा का) उपास्य ईश्वर है। पूर्वोक्त
 आत्मविषयों में से हम सुगमता पूर्वक इसी की उपासना कर सकते हैं, जब एक पूर्ण की प्राजा
 पत्यसत्वावतुष्टी में हमने इसे सुविशेष कहा है। इस बात को मूल्य आत्यकि, कर्म सदा विरम
 नि सम्बन्ध रखता है, उपासना एकमात्र ब्रह्मगर्भित इक्षता की ही होसकती है एवं ज्ञान का
 सम्बन्ध एकमात्र आत्मा के साथ ही है। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जासकता है कि, कर्मकाण्ड
 की मूलप्रतिष्ठा साक्षरणी मौक्तिक विरवरूप में परिचित आत्मा है, उपासना की आधारभूमि ब्रह्म
 सत्यगर्भित देवसत्तात्मा है, एवं ज्ञानकाण्ड का आधार अमृतात्मरूप साक्षरी धूपिष्ठ है। अथवा
 यों कहिए कि, मौक्तिक विरव को साथ लेकर यही आत्मा साक्षरणी-साक्षरणी बतला हुआ कर्म का

प्रवक्तृत्वमेव। ईषा प्राण (स्वप्न), आप (परमेष्ठी) वाक् (सूर्य), अन्न (चन्द्रमा) चन्द्राद
(भूषण) इन प्रथमचारमात्रक पाँचों प्रकृतियों में निरव्युक्त अग्नि वायु आदित्य की संगतिरूप
देवत्रयी की साथ सत्त्व तद्विशिष्ट ब्रह्म आत्मा उपमाना का प्रवर्तक बनता है। एवं अपने विद्युत्
पोषणरूप से बड़ी ज्ञान का प्रवक्तृ बनता है। सत्तातीत परात्पर (निराकार परमेश्वर) कर्म
उपासना-ज्ञान दोनों धर्मों में बहिर्मुख होता हुआ सचेष्टा निधर्मक है। और सुखमविचार
कीर्ति। अचरानामित अक्षयमूर्ति अमृतात्मा ज्ञानकाष्ठ का, अक्षय्यमार्गित अक्षयमूर्ति
प्रथमचारमात्रगुणीत देवमत्स्यात्मा उपासनाकाण्ड का एवं अक्षय्यमार्गित अक्षर (विकार
रहित) मूर्ति विरक्त कर्मकाष्ठ का आश्रय है। कर्म का भौतिक कारणवत् से ही
सम्बन्ध है—“अक्षरं सत्तामि भूतानि”। उपासनाका अक्षर पर प्रकृत्य से प्रविष्टि अतएव
कृत्य नाम से प्रसिद्ध अक्षरविशेष से ही सम्बन्ध है—“कृत्यस्योऽक्षर उच्यते”। इसीविध
रूपनिर्देशों में इसी अक्षरप्रधान देवमत्स्यात्मा की बिना देवसत्त्वसत्त्वा में विकसित अक्षर को
उपास्य माना है जैसाकि प्रति कहती है—

अनुर्गुह्यतरोपनिषद् मदास्य अक्षरं उपासा निश्चित सधीयते ।

आयस्य तनुमावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं विद्धि ॥३॥

प्रयत्नो भवतु अक्षरं ज्ञात्वा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।

अप्रमत्तेन वेदस्य अक्षरं च मयोमवेत् ॥२॥ (सुषुप्त ३/२/१४)

विद्युत् अक्षर उपास्य नहीं है अथिन्नु देवसत्त्वात्मागतित ब्रह्मसत्त्वावच्छिन्न अतएव ब्रह्म
नाम से उपास्य हो सोपाधिक अक्षर ही उपास्य बनता है। अथपि उपासना का आश्रय ब्रह्म
(ब्रह्ममत्स्यात्मक देवसत्त्वात्मा) है व अन्तु प्रधान लक्ष्य बड़ी अक्षर है। इसी दोनों भावों की
सुविष्ट करने के लिए पहिले धुनि “लक्ष्यं तदेवाक्षरम्” यह कहा तब आगे जाकर “ब्रह्मतल्लक्ष्यं
मुच्यते” यह कहा। ज्ञान का सर्वोच्चमत्स्यात्मक अक्षय्यविशेष से ही सम्बन्ध है। इस आत्मनस्वरूप
अक्षय्यमपासना आत्मा को ही आप उपासना कर सकत एवं न इस कर्म में अग्रणी बनाया
जामकता। यह ब्रह्म बुद्धिगम्य (ज्ञान से ही सम्य) है—“तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धारा”।
इसी रहस्य को लक्ष्यम उपास्य महति कठ कहत है—

अक्षरं ज्ञात्वा धर्ममदात्मनः पश्य ।

अक्षरं ज्ञात्वा या पदिच्छति तस्य तद् ॥ १५॥ (अनन्य १/२/१५)

उपयुक्त आत्मविषय के वैज्ञानिक पृथक् करण से अत्यन्तसूक्ष्मात्मा अग्निनिबिडो ने आज निराकार को उपास्यदेव मान रक्खा है। जहाँ उपास्य न निराकार आत्मा है न साधारण आत्मा अपितु सगुण सविकार देवसत्त्वात्मा है। तभी तो इस उपास्य "देव" कहा जाता है, वहाँ 'नराकार की गाथा गाते रहने का कितना महत्त्व है? यह इन्हीं देवमक्त निराकार-वाशियों ने पूछना चाहिए। इसी विज्ञान प्रधान भारतीयों की इस अविज्ञानिकता से सिवाय दुःखानुभव के और कर ही क्या सकते हैं।

१—शेखरीपुरुषोऽव्ययप्रधानः ————— ज्ञानकायम्

२—ब्रह्मसत्त्वात्मगमितो देवसत्त्वात्माऽऽक्षरप्रधानः उपासनाकायम्

३—प्राज्ञमौक्तिकं जगत् अक्षरप्रधानम् ————— कर्मकायम्

१—शराक्षरगमितः—अव्यय (असूतात्मा) ————— ज्ञानम्

२—शराव्ययगमितः—अक्षर (ब्रह्मसत्त्वगमित देवसत्त्वात्मा) ————— उपासनम्

३—अक्षराव्ययगमितः—शरा (सर्वगमित वैकारिकं जगत्) ————— कर्म

इन तीनों बिन्दुओं से बिना पाठकों को यह विदित हो गया होगा कि शराक्षरगमित अव्यय का ईश्वरसत्त्वा से सम्बन्ध है, शराव्ययगमित अक्षर का जीवसत्त्वा से सम्बन्ध है, एवं अक्षराव्ययगमित शर का जगत् संस्था से सम्बन्ध है। तीनों तीनों हैं इसलिये तीनों ही पूर्ण हैं—'पूर्णमहः पूर्णमिदम्'—'यदमुत्र तदन्विह'। विज्ञानभाषा के अनुसार इन तीनों को 'जगत्—ईश्वर—महेश्वर' नामों से व्यवहृत किया जाता है। जीवरूप श्रेष्ठा सुपर्य ईश्वररूप अक्षरप्रधान ब्रह्मसत्त्वात्मगमित वसी देवसत्त्वात्म नामक माही सुपर्य का अक्षर है, जैसा कि पूर्व में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है। न अव्यय जीव बनता, न शर। जीव बनता है देवसत्त्वात्मरूप अक्षर का अक्षर। अक्षर को पराप्रकृति कहा जाता है। यही जीवसृष्टि का प्रवर्तक है। इसी अभिप्राय से व्याख्या करते हैं—

—इतस्तन्न्या प्रकृतिं विद्धि मे परास्।

जीवमूर्ता महापाहा यत्रैव धार्यते जगत् ॥

यही अक्षर 'ब्रह्म तत्त्वमसि' क अनुसार ब्रह्म है। प्रकृति को ही पृथगात् ब्रह्म कहा जाता है। अक्षर-प्रतिपादक शारीरक वर्णों के 'अवातो ब्रह्म सिद्धासा' वाक्ता सत्य धर्मोपपन्न यही अक्षरब्रह्म है। विश्व सम्बन्ध से आरम्भ में प्रतिपादित मायादि १ ओं परिग्रह

पं. मों का पूर्ण विभाजन नहीं होता है। ब्रह्मसूत्रान्त में “अन्यास्य यतः” के अनुसार विभिन्नान्य तत्त्व को अन्तर्लक्षितमन्त्र का कारण माना है। ऐसा तत्त्व विषयमन्त्र व्यापक तत्त्व नहीं हो सकता। वह तो एकमात्र अक्षर ही हो सकता है। कारण—“तथाऽऽचाराद्विधाः सौम्यभाषा प्रशस्यन्ते तत्र वैवापिपन्ति” (मुद्राञ्जलिपत्र १॥१) इत्यादि श्रुति अक्षर को ही अन्तर्लक्षितमन्त्र का कारण बतलाती है। “अभ्यस्तुभ्यस्तयः सवाः प्रभवन्तगमे। राभ्यागमे प्रसीयन्तेतत्रैवाभ्यस्तसप्तके (अक्षरे) इत्यादि स्मृतियों भी वल्लभों के का समर्थन कर रही है। पं. सिद्धि में जो व्याख्याता अमिनिवेश में पड़कर अन्तर्लक्षितमन्त्र-प्रतिपादक वेदान्त दर्शन को अक्षरतत्त्व का प्रतिपादक मान रहे हैं, यह उनका मौढिलता ही सबलता कादिह। हर कार्यरतप जगत् है अक्षर कारणरूप जगदीश्वर है, अन्तर्लक्षितमन्त्रकारणरूपीत सर्वतत्त्वमन्त्र तत्त्व है। इन तीनों पूर्वमूर्तों से अक्षर द्वारा अन्तर्लक्षितमन्त्र का विकास होता है, जैसा कि आगे अक्षर स्पष्ट हो जायगा।

वहाँ एक हमारा अनुमान है, पाठक इस आत्मविश्वास से यह गढ़ होंगे। जम्मा तो
बैजानगर-विरम्यगर्म-सर्वकारमक विराट् क दर्शन—एक बार अपने बगलवन । विराट्
 प्रजापति) क वही कर विजय कीतिव । अविधि का स्वरूप बरतात हुए इस में अग्नि-वायु-
 आदित्यात्मक, तीन स्वराओं की मन्त्रा बतलाई गई है। अग्नि के ये तीन विवरण वहाँ विरचालम्ब
 ॥ पूर्वकर्ममनुसार ३३ अवस्थाओं में परिचयित है, वहाँ पद्य की अपेक्षा से इसकी १० ककारों
 का काटी है। एकादशम को ही विराट्कन्द कहा जाता है—“दशमस्यै विराट्”
 (इत् ० १।१।१।२।३)। पार्थिव प्राणान्तर-रूप वराकल बनता हुआ अवपन विराट्मन्त्र
 स मुख होवा हुआ विराट् प्रजापति नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। त्रिभुवन्तोमन्त्र-त एक
 गार्हपत्याग्नि है पञ्चरा पर्यन्त अथकल धिम्बर्वाग्नि है एक एकविंश स्थान पर्यन्त एकल आह
 बन्तीर्वाग्नि है। इन तीनों आगियों की स्व स्व स्थानों में तो उक्तभावस्था रहती है शेष दोनों स्तलों
 में बड़ी अकरूप से व्याप्त रहत हैं। त्रिभुवन प्रविष्टी पर्यन्त अग्नि एकवरूप से, पञ्चरा एवं
 अथर्विंश पर्यन्त अकरूप से व्याप्त है। पञ्चरावरूप अन्तरिक्ष में धिम्बरूप वायवर्वाग्नि एक
 रूप से एकविंश, एवं त्रिभुव में अकरूप से व्याप्त है। एकविंशतोमन्त्र ध्रुवोक्त में इन्द्रवर
 आदित्यार्वाग्नि अकरूप से एवं त्रिभुव पञ्चरा में अकरूप से व्याप्त है। इस प्रकार महाप्रविष्टी
 (अग्नि प्रविष्टी) के अवयवभूत ६-१६-२१ स्तोमस्तक ६० अन्तः, तीनों में अग्नि-वायु-
 इन्द्र, तीनों की व्याप्ति सिद्ध हो जाती है। वह अवयव समस्त होवा आदित्य के स्व स्व स्थान में
 तीनों की सम्मिश्र प्रकाशता है। अतः अग्नि प्रविष्टी लोक का वायु अन्तरिक्षलोक का, एक आदित्य
 ध्रुवलोक का अग्निपति अन्तः कावा है। तत्स्थान से अद्विष्ट तीनों की शोभो स्वायें में म्लेच्छा

आद्यविज्ञान-प्रथमस्कण्ड—

१—अव्ययसस्था—पूर्णापुरुष

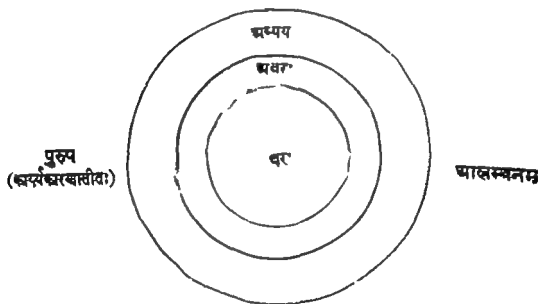
१—अव्ययसस्था—पूर्णापुरुष

परापरगमित—अव्ययप्रधानः—अक्ष—देवसत्याधिष्ठाता

अमृतात्मा

सर्वतः पाणिपदं तत् सर्वतोऽपिशिरोमुखम् ।

सर्वतः अस्मिन्लोके सर्वमावृत्य विद्यति ॥



एतदानम्बनं भेष्ट—एतदात्मम्बनं परम् ।

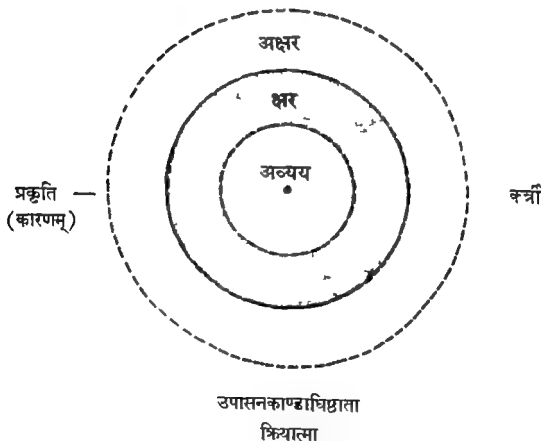
एतदात्मम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥

ज्ञानक्षयदाधिष्ठाता

ज्ञानात्मा

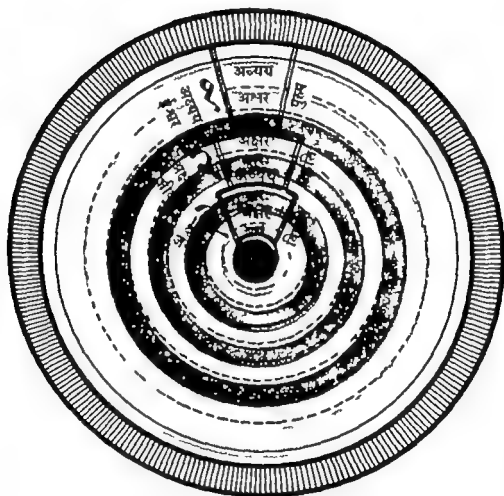
२ - अक्षरसंस्था—पूर्णप्रकृति

क्षराव्ययगर्भित—अक्षरप्रधान ब्रह्मसत्यात्मक प्राकृतात्मा





१ - समष्टि — तदिद सर्वम्



(विशिष्टाद्वैतमूर्ति —पुराणपुरूप)

यस्मात्परं नापरमस्तिकिश्चिद्यग्माज्ञाणीया न ज्यायाऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धा दिवि तिष्ठत्यकस्तेनेह पूर्णं पुरुषण सर्वम् ॥१॥

मातरिखा- { १-“अथ वै वायुमातरिखा योऽयं पवतः” — (रात० १।१।१४)
 २-“सर्वादिशा (मृषिण्डस्य समेतात्) अनुचिधानि सर्वादिरो अनुसन्धानि-स ता एष मातरिखैव” — (तै० ब्रा० २।३।११)

पमः- { १-“अथ वै यमो योऽयं (वायु) पवतः” — (रात० ६। १।१०)
 २-“यमो ऽवा अस्या अवस्थानस्पष्टे” — (रात० ७।१।१२)

पवित्रः- { १-“अथ वै पवित्रं योऽयं (वायु) पवते” — (रात० १।१।१२)
 २-“पवित्रं वै वायु” — (तै० ब्रा० १।२।१।११)

वासवः- { १-“इन्द्रो वै वासवो वसुभिः पुनस्तातपातुः” — (तै० ब्रा० १।२।१।१४)
 २-“वासवो बृहदा वृषा” — (अमरः)

मरुत्वान्- { १-“इन्द्रो वै मरुताः ऋषिः” — (गो० ३ १।२।३१)
 २-“इन्द्रो मरुत्वान्” — (अमरः)

मयवा- { १-“इन्द्रो वै मयवाम्” — (रात० ४।१। १।१४)
 २-“मयवा विद्वाजा” — (अमरः)

अग्निः- { १-पवमातामि - त्रिभुत्वोवावच्छिन्नः पवित्र-वक्त्ररूपः
 २-पावकाग्निः — पञ्चवक्त्रा आन्तरिक्षः — अवक्त्ररूपः
 ३-वृषिरेभिः — एकविंशती विद्यः — अवक्त्ररूपः } पृथिविप्रधानः

वायुः- { १-मातरिखा वायु-त्रिभुत्वः पवित्रा-वक्त्ररूपः
 २-यम वायुः — पञ्चवक्त्रा आन्तरिक्षः अवक्त्ररूपः
 ३-पवित्रवायुः — एकविंश विद्यः — अवक्त्ररूपः } अन्तरिक्षप्रधानः

इन्द्रः- { १-वासव, इन्द्र-त्रिभुत्वः पवित्रा-वक्त्ररूपः
 २-मरुत्वानिन्द्र-पञ्चवक्त्रा आन्तरिक्षः अवक्त्ररूपः
 ३-मयवाइन्द्र-एकविंश विद्यः — अवक्त्ररूपः } पृथ्वीप्रधानः

अग्नि-वायु-इन्द्र (आदित्य) इन तीनों देवताओं के (प्रत्येक के) तीन-तीन रूप क्यों होगे ?, इस प्रश्न का समाधान तानूत्रयविज्ञान पर निर्भर है। जिस वाक्यिक प्रक्रिया-विरोध के कारण हम तीनों देवताओं के शरीर सुरक्षित रहते हैं। जिस यज्ञ के आधार पर इन के तनु गिरने नहीं पाते, वही यज्ञेति "तानूत्रयेति" नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव अग्नि अर्थात्शरीरी है आन्तरिक वायु क्रियाशरीरी है, एवं दिव्य इन्द्र ज्ञानशरीरी है। ज्ञान-क्रिया-अर्थ, तीनों स्वतन्त्र रह कर कभी विकसित नहीं हो सकते। इन तीनों में अर्थ, एवं क्रिया के बिना ज्ञान यद्यपि स्वस्वरूप में रह सकता है, परन्तु अर्थ, एवं क्रिया बिना मित्यर्थमा ज्ञान को आत्मन्वन बनाए जीवित ही नहीं रह सकते। यदि ज्ञान को अर्थ, तथा क्रिया का सहकार प्राप्त नहीं होगा तो वह निविकल्पक बनता हुआ विज्ञान (आत्मता) कोटि से बाहर मात्र निकल जायेगा परन्तु इस की स्वरूप ज्ञानि नहीं होगी। "अथ घटः-अथ पट-तमइ आमानि" इस प्रकार का लौकिक ज्ञान बिना अर्थ (विषय) के कभी प्रविविध नहीं रह सकता। अथ यद्यपि क्रिया बिना ज्ञानाभित विषय (अर्थ) को अपना आधार बनाए सर्वथा अनुपपन्न है। इस प्रकार विरोधोपाधिक ज्ञान-क्रिया-अर्थ, तीनों को ही स्वस्वरूप सिद्धि के लिए परस्पर तीनों का सहयोग अपेक्षित है। अब तक तिनो पृथक् है—(यद्यपि ऐसा संभव नहीं है) अब तक तीनों ही आसुर भाषापन्न नास्वितार एक से अस्मि-भूत होते हुए परावृत्त हैं। अब तीनों परस्पर मिल जाते हैं, इस बात की प्रतिष्ठा (राय) कर देते हैं कि, असुरत्व को तप्त करने के लिए अपने सवा सिद्ध जुल कर रहेंगे, कभी अलग नहीं होंगे, ता इस संस्कार के प्रभाव से तीनों का सम्पूर्ण पार्थिव त्रैलोक्य (सम्बरसर) में एक-एक साधारण हो जावे। सम्बरसर में से असुर निकल जाते हैं। इसी राय (प्रतिष्ठा) के कारण इन के तनु नहीं गिरने पाते, अब एक राय को भी विज्ञान भाषा में "तानूत्रय" नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। देवताओं का वह तानूत्रय कर्म (राय कर्म) बढ़ाने के पर में होता है। मूर्खता के चारों ओर अर्थव समुद्र व्याप्त है। यही आपोमरुत बह्यमाय पञ्चान हानि वाक्यशोक कहलाता है। इसी वाक्य अप्रत्यक्ष के आधार पर इन्द्राविष्णु की स्पर्श स वन-लोक वाक्-साक्षियों का विज्ञान होता है, जैसा कि— "इन्द्रश्च विष्णु यदपस्पृशे पां त्रया सहस्र मि तर्देरयेयाम्" इत्यादि रूप से पृथ में कहा जा चुका है। इस तानूत्रय का विराट् रहस्य रातपय की तानूत्रयेति में ब्रह्मना जाइय—(रात ३।१।१०)।

अप्रितरव सत्रा गावत्रीह्यन् य ज्ञान्वत रहता है। अष्टाक्षर गावत्री ह्यन् के सम्बन्ध से इस गावत्राभि की आठ मात्राएँ हो जाती हैं। अष्टाक्षर गावत्राह्यन् अग्नि के ही अग्नि-वायु-इन्द्र य तीन विवर्त बतलाए गए हैं। इस दृष्टि से पार्थिव अग्नि-(अग्नि)-आन्तरिक आग्नि-(वायु)-विष्णु-अग्नि-(इन्द्र), तीनों की आठ आठ मात्राएँ हो जाती हैं। पार्थिव अग्नि की आठ मात्राएँ

रिश्य दिव्याभियो को यही एकविंशति मूल प्रतिष्ठा है, अत एव इसे मूर्ध्नि कहा गया है। मन्त्र्य
आन्तरिश्य अग्नि अक्षय्य क प्रायमाण से अनुगृहीत मन्त्र्य विष्णु-अक्षर से सम्बन्ध रक्ता
है। एव दिव्य अग्नि अक्षय्य क मनोमाण से अनुगृहीत शीर्ष स्वामीय ब्रह्माक्षर से सम्बन्ध
रक्ता है। इन तीनों में भी छत्र चरमपान अक्षर है, विष्णु अक्षरप्रधान अक्षर है एवं ब्रह्मा अक्षय्य
प्रधान अक्षर है। उपासना का प्रधान सम्बन्ध अक्षर से है, इसकी प्रधानता अक्षरमूर्ति विष्णु
में है, अतः उपासनाकायक में विष्णु ही प्रधान माने जाते हैं। इसी प्रधानता क आधार पर
प्रजा को "वैष्णवी" कहा जाया है। छत्र चरमपान अक्षर है, बीसा कि श्रुति कही है—

धर प्रधानममृताक्षर हर धरप्रमानाधीश्वरे देव एकः ।

उत्पामिभ्यानाद्योजनाद्यत्वमावाप्त्युपधान्ते दिव्यमापानिहृतिः ॥

(श्लो १११)

अत एव भारतवर्ष में विष्णु की उपासना की अपेक्षा ब्रह्मोपासना की कम प्रधानता है।
अक्षर अक्षय्य-प्रधान अक्षरमूर्ति ब्रह्मा की उपासना का प्रचार तो और भी कम है। क्यों कि
अक्षय्य प्रत्येक दशा में अनुपात्य ही रहता है।

१-वैश्वानरमूर्तिरिन्द्राग्निसोमाक्षरमयः	क्षरप्रधानः—छत्र	}—विराट्
२-विराद्यगर्भमूर्तिरिन्द्राक्षरमयोऽक्षरप्रधानः	विष्णु	
३-सर्वज्ञमूर्तिरग्राक्षरमयोऽक्षय्यप्रधानः	ब्रह्मा	

इन तीनों की सम्पत्ति ही विराट् है। विराट् की उपासना से ईश्वर उपासित होता है।
औ एक एक अक्षर (एकता) की उपासना करते हैं, वे भी परम्परया ईश्वर की ही उपासना करते हैं।

१-आत्माग्निः—पार्थिवः—अग्निः	}—समन्वयात् विराट्प्राप्तिः
२-विराग्निः—आन्तरिक्षः—वायुः	
३-आत्माग्निः—जलः—इन्द्रः	

१-गार्हपत्याग्निरेकः—पार्थिवः	}—स एव रुद्रविष्णुब्रह्ममूर्तिर्देवकृता विराट्
२-विष्णवाग्निरष्टकलाः—आन्तरिक्षः	
३-आहवनीयाग्निरैकः—दिव्यः	

अर्थ	$\left\{ \begin{array}{l} १-पञ्चमान-पार्थिव्याग्नि (अर्थ) \\ २-मातरिश्वा पार्थिव्याग्नि (क्रिया) \\ ३-वासव-पार्थिवेन्द्र (ज्ञानम्) \end{array} \right\}$	$\left\{ \begin{array}{l} त्रिमूर्तिरग्निरयमप्राधन-पार्थिव (१) \\ \\ \\ \end{array} \right\}$	<div style="border: 1px solid black; padding: 2px; text-align: center;">पार्थिव</div>	<div style="border: 1px solid black; padding: 2px; text-align: center;">विराट्</div>
क्रिया	$\left\{ \begin{array}{l} १-पावक-आन्तरिक्षोऽग्नि (अर्थ) \\ २-यमा-आन्तरिक्षो वायु (क्रिया) \\ ३-मरुत्मान्-आन्तरिक्ष इन्द्र (ज्ञानम्) \end{array} \right\}$	$\left\{ \begin{array}{l} त्रिमूर्तिरायुः क्रियाप्रधानः आन्तरिक्ष (२) \\ \\ \\ \end{array} \right\}$	<div style="border: 1px solid black; padding: 2px; text-align: center;">विराट्</div>	
ज्ञानम्	$\left\{ \begin{array}{l} १-शुचि-दिव्याग्नि-अर्थ) \\ २-पवित्र-दिव्याग्नि-क्रिया) \\ ३-मयवा-दिव्य इन्द्र (ज्ञानम्) \end{array} \right\}$	$\left\{ \begin{array}{l} त्रिमूर्तिरिन्द्र-ज्ञानप्रधाना दिव्य (३) \\ \\ \\ \end{array} \right\}$	<div style="border: 1px solid black; padding: 2px; text-align: center;">विराट्</div>	

पाठकों को स्मरण होगा कि, इस विराट् प्रकरण के आरम्भ में हमने महिमा-पृथिवी में रहने वाले असृज्यमात्रात्मक अग्नि, एवं सोम, दोनों की संयुक्त पांच अवस्थाएँ बतलाई हैं— (देखिए पृ सं० २८४)। पार्थिव अग्नि वायु आदिरव, दोनों की पूर्व में उक्त अर्क-मेद से दो दो अवस्थाएँ बतलाई हैं। इन दोनों में उक्त अवस्था मूलप्रतिष्ठा बनती हुई आत्मा है, एवं अर्कवरदा मूलप्रतिष्ठा बनती हुई प्राण है। प्राणों की अनुचीन, मुख्य, मेद से दो जातियाँ हैं। मुख्यप्राण आत्मा है। यही उक्त है, इसी को आन्तरिक्षमति ने उद्गीथ कहा है। उस उक्त (दिव्य) रूप उद्गीथमात्मक आत्मप्राण से निकलने वाले पञ्चप्राण अनुचीन नाम से व्यवहृत होते हैं, वे अक्षप्राण हैं। “यस्मिन् प्राणः पञ्चधा सविशेषः” (मुण्डकोपनिषत् ३।१।६) के अनुसार आत्मप्राणरूप इस मुख्य प्राण में ये पाँच अनुचीन अक्ष प्राण नित्य युक्त रहते हैं। वह मुख्य प्राण अग्नीषोमात्मक है। अत एव उससे निकलने वाले ये पाँचों अक्षप्राण भी अग्नीषोमात्मक ही हैं। इन में तीन अग्निप्रधान हैं, दो सोम किंवा अपप्रधान हैं। ये पाँचों सभी उद्गीथ की उपासना किया करते हैं। यही उद्गीथ उग्र एवं श्रेष्ठ प्राण माना गया है। मुख्यप्राण के इसी आसनमात्र का निरूपण करती हुई उपनिषद्गुरु कहती है—

“अथ इ य एवाय मुख्यप्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्जिरे ।

त हासुरा अस्वा विदधसुः—+—+—+ आगाता इ नै का—

माना मयति य एतदेव विद्वानधरमुद्गीथमुपास्ते” (जा० ३।२)।

में से ४ मात्रा पर तो स्वयं अग्नि प्रतिष्ठित होता है। एवं शेष चार में से २ पर वायु, १ पर इन्द्र प्रतिष्ठित है। इस प्रकार अष्टमाग में अग्नि की सत्ता सिद्ध हो जाती है एवं अर्द्धभाग में वायु, तथा इन्द्र दोनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। अतएव पार्थिव अग्नि अग्नि वायु इन्द्रात्मक बनता हुआ सर्वमूर्ति बन जाता है। अग्नि अर्थ है वायु क्रिया है, इन्द्र ज्ञान है। अग्नि यद्यपि त्रिमूर्ति है, तथापि प्रधानता अर्थमूर्ति अग्नि की ही है। अतः—इस त्रिवेदमूर्ति अग्नि को अथर्वाक का ही अभिधाता माना जाता है। पृथिवी एक विरच है, अन्तरिक्ष एक विरच है, द्युलोक एक स्वर्ग्य ही विरच है। इन तीनों विरचों का अग्नि-वायु-इन्द्र, ये तीन नर हैं। त्रिमूर्ति तापधर्मा अग्नि इन्हीं विरचकों के सम्बन्ध से सम्पन्न हुआ है। अतः जब इसे 'वैश्वानर' कहा जाता है। यह त्रैलोक्य में व्याप्त है इसी आधार पर 'वैश्वानरो यतसे द्युर्व्येण' (श्रुत् १।३।१। आ दो धाँ मास्वा-पृथिवीम्) यह कहा जाता है। ठीक यही व्यवस्था आन्तरिक वायु, दिव्य इन्द्र की आठ आठ मात्राओं के सम्बन्ध में समझिए। वायु में से चार में वायु, २-२-में अग्नि-इन्द्र हैं। इन्द्र में से चार में स्वयं इन्द्र, २-२-में अग्नि-वायु हैं। यही त्रिमूर्ति वायुप्रधान अतः एव क्रियाप्रधान वायु हिरण्यगर्भ नाम से त्रिमूर्ति इन्द्र प्रधान अतः एव ज्ञान प्रधान इन्द्र सर्वज्ञ नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे शब्दों में तो कहिए कि पार्थिव अग्नि अग्नि है, इसमें सोमस्थानां वायु-इन्द्र की आहुति से वैश्वानर का जन्म होता है। वायु अग्नि है, इसमें आसीन की आहुति से 'हिरण्यगर्भ' प्रकट होता है। एवं इन्द्र अग्नि में, इसमें आत्मनि की आहुति होने से सर्वज्ञ का विकास होता है। सर्वज्ञ (ज्ञान) की प्रतिष्ठा हिरण्यगर्भ (क्रिया) है हिरण्यगर्भ की प्रतिष्ठा वैश्वानर (अर्थ) है। वैश्वानर की प्रतिष्ठा मूर्तिरच है। मूर्तिरच से आरम्भ कर 'त्रिकलयुक्त त्रिमूर्ति इराक्य अग्निमूर्ति विराट् पुन्य कक्षा हुआ है।' समष्टि रूप से एक अग्नि ही विराट् है। इसी अग्निमात्र से मूर्ति कहती है—

दक्ष वा एतानम्रीक्षिचनुते । अष्टौ चिष्ण्वान्, आहवनीय च-
गाहपत्य च । तस्मादाहुर्विराड्भिरिवि । दक्षाध्वरा हि विराट् । तान्नु
सवान्नरु इवेवाचसत-श्रुमिरिति । एतस्यैवेतानि सवाणि रूपाणि”

(शत० १।३।१। १।) इति ॥

वैश्वानर इराक्य पाए है, हिरण्यगर्भे हृदयस्थानात् है, सर्वज्ञ शिरस्थानात् इ मूर्तिरच प्रतिष्ठा है अतः कि पूर्व का इराक्यमूर्ति में स्पष्ट कर दिया गया है। अग्निप्रमहन्मूर्ति सम्बन्ध रात्मक यह विराट्प्रजापति स्वसिद्धात् से पतिवर्जोक्त्य आधार कर लता है। विराट् अग्निमूर्ति है यह अन्नाद्य की ही अवस्थाग्रह है। अन्नाद्य सोम के बिना यह अतिष्ठित है। अतएव विराट् का

अभिसोममूर्ति मानता आचर्यक हो जाता है। एक स्थाण पर अभि आभार है सोम आघेय है, यही पवि है। अन्धत्र सोम आभार है; अभि आभय है, यही पत्नी है। सोमगर्मित अग्नि वृषा है, अग्निगर्मित सोम घोषा है। वृषा पुरुष है, घोषा स्त्री है। दोनों स्वतन्त्र विराट् हैं। दोनों में १०-१० कण अभि विद्यमान है। केवल अभि सोम की प्रधानता अग्रधानता का तारक्य है। दोनों एकमूर्ति बन कर त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित हैं। दोनों में प्रधानता अर्थात् अभि पुरुष की हो है, अतः विराट् को पुरुष शब्द से ही व्यवहृत कर दिया जाता है। घोषा-वृषात्मक इसी विराट्-सिधुन से प्रकटोत्पत्ति होती है। पवि-पत्नी-माघ से यह विराट् सर्वत्र विराजमान हो रहा है। य-“विगज्जते” से ही विराट् नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। हमारे प्रकरण का यही साक्षी सुपर्य है। कन्त्र परिभाषा के अनुसार यही ‘पक्षीराज’ नाम से प्रसिद्ध है। उपनिषत् परिभाषा के अनुसार यही ‘सर्वभूतान्तरात्मा’ नाम से प्रसिद्ध है। यज्ञपरिभाषा अनुसार यही ‘सर्वभूतपञ्च’ नाम से प्रसिद्ध है। अथ्यःस्मयापानुसार यही ‘प्रत्यगात्मा’ नाम से प्रसिद्ध है। विद्वानमाया में यही ‘देवसत्पात्मा’ नाम से प्रसिद्ध है—“सोऽनुष्मसत्स्य, स विजिज्ञासितस्य, स उपासितस्य, सोऽन्वेष्टस्य”। इस में आचरण ‘मूकक क्लेशकर्मादि का अभाव है। अतः एव इस का—“क्लेशकर्म्मविपाकाद्यैरपराधैः पुरुषविशेष ईश्वरः” यह कथन किया जाता है।

इसी त्रैलोक्य व्यापक अभिमूर्ति विराट् की स्वरूप से भी उपासना की जासकती है, ब्रह्मरूप स भी की जासकती है, बिष्णुरूप स भी की जासकती है। क्यों कि अयैराष्ट्रियुत अभि का अभ्यय के बागमाग से अनुमोहोत् इन्द्र-सोम-अभि समष्टिरूप तीनों अक्षरों से सन्बन्ध है। अक्षरत्रय समष्टि ही उर, किंवा शिव है। यह मूलमें सब की प्रतिष्ठा बनत हुआ है। व्यक्त मूर्ति करप्रधान बनता हुआ यह एकादिवर शीघ्र हो आत्मसात् होजाता है अतः एव इस “आशु साप” कहा जाता है। यही उर त्रिकोण्याभि रूप में परिखन हाव रूप बिष्णु और ब्रह्मा की प्रतिष्ठा बनत हुए विरवाधिव बन रहे हैं, जैसा कि भगवान् स्वतन्त्र कहत हैं -

यो देवानां प्रभवात्मानम विष्वाधिपा रुद्रा महपि ।

हिरण्यगर्भं धनयामास पूर्णं स ना शुष्या गुभया सयुनक्त ॥ (१५ १५)

इस का पापिक प्राणायाम स सम्बन्ध है, इसी को ऊपिबिधान के अनुसार पूरे स दमन पवमान कहा है। उद्गमूर्ति पवमानाभि प्राणरूप हान स ‘श्रपि’ है। अतः इस श्रुति शब्द स व्यवहृत किया गया है—“अपिर्श्रपिः पवमान-इति” (प० २।१७)। अपिमूर्ति आत्म

रिच्य दिव्याग्निषों की यही एकर्षि रुद्र मूल प्रतिष्ठा है, अत एव इसे महर्षि कहा गया है। सम्प्रत्य
आन्तरिक्य अग्नि अम्बय क प्राणप्राग स अगुगृहीत मध्यस्थ बिष्णु-अक्षर से सम्बन्ध रखता
है। एव दिव्य अग्नि अम्बय क मनामाग स अगुगृहीत शीर्ष स्थानीय ब्रह्माक्षर से सम्बन्ध
रखता है। इन दोनों में भी रुद्र अक्षरप्रधान अक्षर है, बिष्णु अक्षरप्रधान अक्षर है एवं ब्रह्मा अम्ब-
यप्रधान अक्षर है। उपासना का प्रधान सम्बन्ध अक्षर से है, इसकी प्रधानता अक्षरमूर्ति बिष्णु
में है, अतः उपासनाकारण ये बिष्णु ही प्रधान माने जाते हैं। इसी प्रधानता क आधार पर
प्रजा को "वैष्णवी" कहा जाता है। रुद्र अक्षरप्रधान अक्षर है, जैसा कि सुवि कहती है—

अक्षर प्रधानममृताक्षर हर अक्षरप्रधानावीश्वरे देव एकः ।

तस्यामिध्वानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयमानान्ते विश्वमापानिवृत्तिः ॥

(ख० १।१०)

अत एव भारतवर्ष में बिष्णु की उपासना की अपेक्षा रुद्रोपासना की कम प्रधानता है।
अक्षर अम्बय-प्रधान अक्षरमूर्ति ब्रह्मा की उपासना का प्रचार तो ओर भी कम है। क्योंकि
अम्बय प्रत्येक दशा में अनुपात्य ही रहता है।

१—वैश्वानरमूर्तिरिन्द्राग्निसोमाक्षरमम्ब अक्षरप्रधाना—रुद्र
२—हिरण्यगर्भमूर्तिर्विष्णुः अक्षरमयोऽक्षरप्रधानः—बिष्णु
३—सर्वज्ञमूर्तिर्ब्रह्माक्षरमयोऽम्बयप्रधानः—ब्रह्मा }—बिराट्

इन तीनों की समष्टि ही बिराट् है। बिराट् की उपासना से ईश्वर उपासित होता है।
जो एक एक अङ्ग (वक्ता) की उपासना करते हैं, वे भी परम्परया ईश्वर की ही उपासना करते हैं।

१—आत्माग्नि—वार्षिक—अग्नि
२—दिव्याग्नि—आन्तरिक्य—वायु
३—अग्नाग्नि—दिग्—रुद्र }—समन्वयान् बिराट्पति

१—वार्हस्पतिरेकः—वार्षिक
२—बिष्णुवामिरप्येकः—आन्तरिक्य
३—आहवनीयाग्निरप्येकः—दिग् }—स एव रुद्रबिष्णुअग्निमूर्तिर्द्व्यङ्गुलः बिराट्

१-अर्थ	$\left\{ \begin{array}{l} १-पवमान-पार्थिवामिः (अर्थ) \\ २-मातरिषा-पार्थिवायुः (क्रिया) \\ ३-वासव-पार्थिवेन्द्र (ज्ञानम्) \end{array} \right\}$	त्रिमूर्तिरमिरथप्राधन-पार्थिव (१)	पार्थिवः	विराट्—विराट्प्रापसिरीकर साधी वराकलो
२-क्रिया	$\left\{ \begin{array}{l} १-पावक-आन्तरिक्षोऽग्निः (अर्थः) \\ २-यमा-आन्तरिक्षो वायुः (क्रिया) \\ ३-मरुत्वाम्-आन्तरिक्ष इन्द्र (ज्ञानम्) \end{array} \right\}$	त्रिमूर्तिर्वायुः क्रियाप्रधान-आन्तरिक्षः (२)	विराट्प्रापः	
३-ज्ञानम्	$\left\{ \begin{array}{l} १-सुवि-विष्णुमि-अर्थः) \\ २-पवित्र-विष्णुमि-क्रिया) \\ ३-मघवा-विष्णु इन्द्र (ज्ञानम्) \end{array} \right\}$	त्रिमूर्तिरिन्द्र-ज्ञानप्रधाना विष्णु (३)	सुविः	

पाठकों को स्मरण होगा कि, इस विराट् प्रकरण के आरम्भ में हमने महिमा-पृथिवी में रहने वाले असुतमाबाधन अग्नि, एवं सोम, दोनों की संमूय पांच अवस्थाएँ बतलाई हैं— (देखिए पृष्ठ सं० २८४)। पार्थिव अग्नि, वायु आदित्य, दोनों की पूर्व में एकत्र भर्क-मेरु से दो दो अवस्थाएँ बतलाई हैं। इन दोनों में एकयावस्था मूलप्रतिष्ठा बनती हुई आत्मा है, एवं अर्कावस्था तूलप्रतिष्ठा बनती हुई प्राक्क है। प्राक्कों की अनुशील, मुख्य, मेरु से दो आदित्य हैं। मुख्यप्राण आत्मा है। यही एक है, इसी को ज्ञानोपपत्ति ने उद्गीच कहा है। इस एक (विष्णु) रूप उद्गीचात्मक आत्मप्राण से निकलने वाले पञ्चप्राण अनुशील नाम से व्यवहृत होते हैं। वे अक्षप्राण हैं। “यस्मिन् प्राणः पञ्चधा सन्निवेशः” (मुद्राङ्गोपनिषत् ३।१।६ के अनुसार आत्मप्राणरूप उस मुख्य प्राण में ये पांच अनुशील अक्ष प्राण मिल्य युक्त रहते हैं। वह मुख्य प्राण अग्नीषोमात्मक है। अब एक उससे निकलने वाले ये पाँचों अक्षप्राण भी अग्नीषोमात्मक ही हैं। इन में तीन अग्निप्रधान हैं, दो सोम किंवा अपूपधान हैं। ये पाँचों सभी उद्गीच की उपासना किया करते हैं। यही उद्गीच वयस एवं मेरु प्राण माना गया है। मुख्यप्राण के इसी आत्मप्राण का निरूपण करती हुई उपनिषद्गुंते कहाती है—

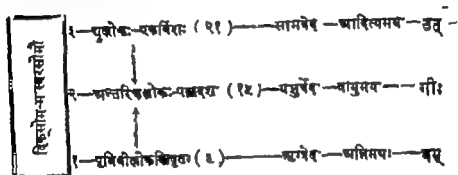
“अथ ह य एवाय मुख्यप्राणस्तमुद्गीचमुपासाञ्चक्रे।

त हासुरा अत्वा विदन्वसुः—+—+आगाता ह वै का—

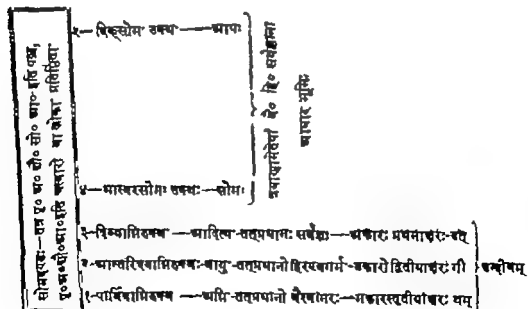
मानां भवति य एतदेव विज्ञानमरमुद्गीचमुपास्ते” (जा० ३।२।)।

उद्गीथ में 'उत्-गी-यम्' ये तीन अक्षर (किन्तु, व्यञ्जन ८) हैं। 'उत्'-एक अक्षर है, 'गी' दूसरा अक्षर है 'यम्'-तीसरा अक्षर है। उत्-सर्वावभाष का सूचक बनता हुआ लिट स्थानीय है, 'गी'-गच्छत भाष का सूचक बनता हुआ इदपरबामीय है, यम्-स्मितिभाष का सूचक बनता हुआ पोदस्थानीय है। अन्त-मध्य-मूठ, प्राण की इन तीन अवस्थाओं के लिए ही क्रमशः उत्-गी-यम् ये तीन अक्षर प्रयुक्त हुए हैं। तीनों में 'यम्' इन्द्राग्निसोमाक्षर है 'गी' विष्ण्वक्षर है, 'उत्' मरुताक्षर है। त्रिमूर्तिरूप यही पञ्चमूर्ति सम्पूर्ण त्रेकोन्य का उन्नीय (प्रमथ प्रतिष्ठा-परावण) है। धौ-सामवेद-आदित्य, तीनों का 'उत्' से सम्बन्ध है। अन्तरिक्ष-यज्ञवेद-वायु, इन तीनों का 'गी' से सम्बन्ध है। पृथिवी अग्नेवेद-अग्नि, इन तीनों का यम्-अक्षर से सम्बन्ध है। पृथिवी ही स्तोमवेद से पू० अ० चौ, तीस रूप में परिणत हो रहा है। अग्नेव ही विज्ञान के वारतन्त्र से ऋक्-यजु-साम-रूप में परिणत हो रहा है। अग्नि ही अवस्था मेघ से अग्नि-वायु-आदित्यरूप में परिणत हो रहा है। तीनों लोकों में प्रतिष्ठित तीनों वेदों से कृतराशरी तीनों वेदता ही उत्-गी-यम् हैं। यही आप का सुपरिचित विराट् पुरुष है। यद्यपि अग्नि-वायु-आदित्य, तीनों ही प्राणमय हैं, तथापि आदित्य में प्राण की प्रधानता है। वायु में वाक्त्व की प्रधानता है। अग्नि में अन्न की प्रधानता है। प्राणमय आदित्य उत् है, वाक्मय-वायु गी है, अन्नमय अग्नि यम् है, समष्टि उद्गीथम् है। उत्तरूप आदित्य अकार है, गीरूप-वायु वकार है, यम्रूप अग्नि मकार है, समष्टिरूप उद्गीथ ओंकार है। "अथ उत्तु य उद्गीथः स प्रयथः, यः प्रमथः स उद्गीथः" (ऋ ३१) के अनुसार यही प्रयथ है। प्रयथ की अकार कक्षा का विकास आदित्यप्रधान खड्ग में है, वकार कक्षा का विकास वायु प्रधान शिरवयगर्म में है। यथ मकार का विकास अग्निप्रधान वैरवानर में है। इस दृष्टि से इन इतर प्रजावर्ग का भी प्रत्यक्षमूर्तित्व सिद्ध होजाता है— 'तस्य वाक्कः प्रयथः'। निष्कर्ष यही हुआ कि उक्त रूप अग्नि-वायु-आदित्य की समष्टि ही 'यम्-गी-उत्' रूप उद्गीथ प्राण है। यही मुख्य प्राण है यो य त्मा है। इस त्रिकल उद्गीथाक्षररूप प्राणराश का अर्थ ही प्राण प्राण है। उक्तमग्नि की अर्कवशा आग्नेयप्राण है, उक्तवायु की अर्कवशा वायव्यप्राण है, उक्त आदित्य की अर्कवशा सूर्यप्राण है। मात्सरे सोममय प्राण सौम्यप्राण है, विश्वो मावच्छिन्न प्राण आप्यप्राण है। ये पाँचों अद्भुत प्राण वस ईश्वरात्मरूप मुख्य प्राण के इन्द्रिय स्थानीय है, जिसाकि अध्यात्मविषयन से स्पष्ट होजायगा। इसी प्राणरहस्य को तरण में रक्त कर सामभवि कहती है—

“अथ सप्त-व्यूहोऽपराण्युपासीत इति (आवेरा) । प्राण एव तत्, पाणेन हृदि
 ष्ठि । वाक्-गीः, वाचो ह गिर इत्याचष्टे । अन्न यम्, अग्ने दीदं सर्वं त्वत्तम् । पौरेव
 तत्, अमृतरिषं गी, पृथिवी यम् । आदित्य एव तत्, वायुर्गीः, अग्निश्चम् । सामवेव
 एव तत्, यजुर्वरो गी, अन्वेवश्चम्” (छां० उ० ३।१) । “ओमित्येतद्वराष्टुङ्गीयमुपा
 सीत” (छां० ३।४) ॥ इति ॥



मुख्यप्राणः—आत्मा—महती—



अनूचीनप्राण-अङ्गानि

आत्मा विराट्	प्राणा — विराट् विभुस्य	
अन्ध्याप	१-अन्ध्यापस्तोमावच्छिन्ना	आप्याः अर्का (आन्ध्याप्राणः)
अन्धसोम	२-अन्धसोमस्तोमावच्छिन्ना	सौम्या अर्का (सौम्याप्राणः)
अन्धवित्त	३-अन्धवित्तस्तोमावच्छिन्ना	वित्त्या अर्का (वित्तप्राणः)
अन्धवायु	४-अन्धवायुस्तोमावच्छिन्ना	वायव्या अर्का (वायव्याप्राणः)
अन्धामि	५-अन्धामिस्तोमावच्छिन्ना	पार्विया अर्का (आन्ध्याप्राणः)

- १-अन्ध्याप — प्राण — क्त (सर्वज्ञो अन्ध्यापः)
 २-अन्धसोम — वायु — णी (विराट्गर्भो विष्णुः) मुख्य-प्राणत्मा
 ३-अन्धवित्तस्तोमावच्छिन्ना — अन्धवायु — वम् (वैराग्यो अन्धवायुः)

अन्ध्यापक विराट्मकापि साक्षी देवसत्त्वात्मा है। यही ईश्वर है इस में कोई सम्देह नहीं। साथ ही मैं अन्ध्यापक विराट्मकापि श्रेष्ठ देवसत्त्वात्मा है, इसमें भी कोई सम्देह नहीं। तथापि जिस प्रकार जीवात्मा एक ही है रहता हुआ अपने परिकर के साथ रहता है, एवमेव यह ईश्वर भी अपने परिकर के साथ निश्चय सम्बन्ध रहता है। जीवात्मा में शरीर-मात्र ही विभूति मन-बुद्धि-महत्-अव्यक्त-पुरुष स्थिति परिकर हैं। अतः परिकरविशिष्ट जीव ही जीवसत्त्व से सम्बन्ध कर दिया जाता है। एवमेव भू-विभूति-पन्त्रमा-धृत्-परमेष्ठी-स्वप्न-पुरुष-इत्यादि परिकरों से ईश्वरसत्त्वा की प्रकृति होती है, अतएव परिकरविशिष्ट ईश्वर ही ईश्वर कहलाये योग्य है। ईश्वरीय सत्त्वा में कितने अक्षय्य हैं, उन सब की आनन्दगुण ही योग्यता है। दूसरे शब्दों में समग्र में एक रूप से अज्ञात रहता हुआ भी योग्यता गुण लब्धसत्त्वोपाधि मेवसे प्रत्येक का स्वस्वरूप से आत्मस्वरूप बना हुआ है—'अविमर्शः च भूतेषु विमर्शमिव च स्थितम्'। इसी विमर्शभाव के कारण ईश्वरीय, एव जीवसत्त्वा में अनेक कक्षार्थ होजाती हैं। इस विरोधकाओं का विचार आगे कीजिए। सभी दोनों ही सामान्य कक्षाओं पर दृष्टि डालिए एव ओर ईश्वरसत्त्वा को रखा कीजिए, दूसरी ओर जीवसत्त्वा को रखा कीजिए। दोनों का सम्बन्ध कम आपने समान मिलेगा। सपत्नी-क्रन्दसी-रोदसी मेवसे ईश्वर में तीन प्रतीक हैं। रोदसी

भूः है, ऋन्वसी भुव है सयसी स्व है। प्रत्येक लोक त्रिवृत्मात्र से पुनः 'भू-भुव-स्व' में से तीन-तीन लोकोंमें विभक्त है। इस प्रकार यद्यपि तीन के ६ लोक हो जाने चाहिए थे। परन्तु रोवसी त्रिलोकी का स्वर्लोक ऋन्वसी त्रैलोक्य का भूलोक बन जाता है, एवं ऋन्वसी का स्वर्लोक संयसीत्रैलोक्य का भूलोक बन जाता है। इस क्रम से दो लोकों का मध्य में व्यत्यय हो जाता है ६ के स्थान में सात ही लोक रह जाते हैं। एक-एक लोक एक-एक विद्युत्ति है। अतएव सप्त लोकात्मक ईश्वर को 'सप्तवितस्तिक्काय' कहा गया है। एक विद्युत्ति में १२ अक्षुब्ध होते हैं। संभूय सात विद्युत्तियों के ८४ अक्षुब्ध हो जाते हैं। इत्यस्मात् विराट् पुरुष अपनी अक्षुब्धियों के प्रमाण से ८४ अक्षुब्धकारक है। जीव इसी का अंश है, फलतः इस जीव के अक्षुब्ध प्रमाण से ८४ अक्षुब्ध ही माने जाते हैं। अन्तर दोनों में कबल इतना ही है कि, ईश्वरीय परिमाण जहाँ विद्युत्ति नाम से व्यवहृत होता है, वहाँ जीव परिमाण प्रादेश नाम से प्रसिद्ध है। विद्युत्ति जहाँ १२ अक्षुब्ध की है वहाँ प्रादेश १०॥ (साठे वस) अक्षुब्ध का माना गया है। सप्त विद्युत्तय, अतएव सप्तलोकात्मक अग्नि से अग्निमूर्ति ईश्वर जहाँ सप्तवितस्तिरूप होता हुआ ८४ अक्षुब्ध का है, वहाँ गायत्र्याग्नि की विद्युत्ति सम्बन्ध से अग्निमूर्ति जीव अष्ट प्रादेशमित्व होता हुआ ८४ अक्षुब्ध का है। गायत्र्याग्नि से ही जीवसंस्था का स्वरूप निर्माय्य हुआ है। गायत्र्याग्नि अष्टाक्षर बलता हुआ गायत्री छन्द से अन्वित (सीमित) है। एक-एक अक्षर एक-एक स्वतन्त्र प्राण है। एक गायत्र्याग्नि ऐसे आठ प्राणों की समष्टि है "प्रादेशमितो वै प्राणः (कौ० ब्रा० २।२।) इस श्रौत सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक प्राण की व्याप्ति प्रादेशमित है। ब्रह्मरन्ध्र से कथत पर्यन्त एक प्रादेश कथत स हृदयपर्यन्त वृक्षरा प्रादेश, हृदय से नासिकपर्यन्त तीक्ष्णरा प्रादेश नासिक से ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त चौथा प्रादेश, यहाँ से ग्रेहों तक दो प्रादेश, यहाँसे पादपर्यन्त दो प्रादेश, संभूय पुरुषराशरीर में आठ प्रादेश हैं। सब के संकलन से ८४ अक्षुब्ध हो जाते हैं। एक वर्ष मास का शिशु भी अपनी अक्षुब्धी के परिमाण से ८४ अक्षुब्ध का है, साठे तीन द्वाय का एक दीपकाय मनुष्य भी अपनी अक्षुब्धी के परिमाण से ८४ अक्षुब्ध का ही है। यह समानता सर्वात्मता केवल पुरुष (मनुष्य) के साथ ही समन्वित होती है अन्य प्राणियों के साथ नहीं, जैसा कि आगे आकर स्पष्ट हो जायगा।

ईश्वर यदि पादस्थानीय बैरवानर भाग से मृषिबद्ध पर खड़ा है, तो तत्समानपद्मां पुरुष भी अपने पैरों से इसी मृषिबद्ध पर प्रतिष्ठित है। पैर से आरम्भ कर हृदयपर्यन्त रोवनी त्रैलोक्य है। हृदय से आरम्भ कर तालुमूल पर्यन्त ऋन्वसी त्रैलोक्य है, एवं वहाँ से आरम्भ कर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त संयसी त्रैलोक्य है। ईश्वरीय संस्थावत् ब्रह्मरन्ध्र में स्वयम् प्रतिष्ठित है

वास्तुमूक में ब्रह्मस्वन (कायली) स्वरूप = परमात्मा प्रतिष्ठित है, इत्यर्थ में प्रज्ञानबन्धुमा के आचार पर विज्ञानमूर्त्य प्रतिष्ठित है। ईश्वररायीरूप बिम्ब के बन्धु में पवि सूर्य है, तो जीवरायीरूप बिम्ब के बन्धु में विज्ञानात्मा प्रतिष्ठित है—“आदित्यो वै बिम्बस्य इत्यम्”^१ पाद स इत्य पर्वण्य पृथिवी लोक की प्रधानता है। तीनों में पुन. मू-मुष-स्व का विकास है। पृथिवी भूतपृथिवी की प्रतिष्ठित ब्रह्मप्रतिष्ठ (शुद्धत्वान) है, यही पुष्क प्रतिष्ठा है, प्रतिष्ठा ही पृथिवी है—(इतिव शत० ३६।१।१२)। ब्रह्मप्रतिष्ठ से आरम्भ कर पादमूक पर्वण्य पृथिवी प्राण की ही प्रधानता है, अतएव इस प्राण का हम महिलापृथिवी मानन के लिए तय्यार हैं। पादमूक से आरम्भ कर गर्भो तक त्रिगुणत्वानीय पृथिवी लोक है यही स्वीम्य त्रिलोकी का भूलोक है। यहाँ से ब्रह्ममूक तक का प्रवेश पञ्चरास्यामीय अन्तरिक्ष लोक है, यही स्वी० का सुबलोक है। यहाँ से नाभि पर्वण्य एकविंश स्थानीय सुलोक है। यही स्वी का स्वलोक है। तीनों की समष्टि रोवसी त्रिलोकी का भूलोक है। नाभि, पद इत्य के मध्य का प्रवेश रोवसी त्रिलोकी का अन्तरिक्ष वाकात्मक सुबलोक है, विज्ञान प्रज्ञान प्रतिष्ठाम्प इत्यस्थान रोवसी का सुलोकत्मक स्वलोक है। तीनों की समष्टि रोवसी त्रिलोकी है। इत्यरूप सुलोक कम्बली त्रिलोकी का भूलोक है इत्यर्थ से वास्तु मूक तक का प्रवेश कम्बली का अन्तरिक्ष लोकत्मक सुबलोक है, स्वयं वास्तु स्वान कम्बली का सुलोक स्थानीय स्वलोक है। यही संवसी त्रिलोक्य का भूलोक है, शिरोमुखा संवसी का सुबलोक है, ब्रह्मरूप संवसी का स्वलोक है। इस प्रकार ईश्वर बिम्बोक्त जीवसंस्था में सातों का को का संस्थान सिद्ध हो जाता है। यहाँ कबल विपत्ति इतनी ही है कि जीवसंस्था अन्धप्रमत्तत्वा में रोवसी त्रिलोक्य में प्रतिष्ठित है, एवं अचिरवच में स्वीम्यात्रिलोकी में प्रतिष्ठित है। स्वीम्यत्रिलोकी का सुलोक स्थानीय, रोवसी त्रिलोकी का भूलोक स्थानीय ब्रह्म प्रतिष्ठान्तर्गत की प्रतिष्ठा है। नाभि, और ब्रह्मप्रतिष्ठ का मध्य स्थान त्रैलोक्य की प्रतिष्ठा है। एवं स्वयं नाभि प्राण की प्रतिष्ठा है। इत्यर्थ का अर्थ प्रवेश अन्तरात्मक प्रज्ञान की स्वयं इत्य सूर्यात्मक विज्ञान की, वास्तुत्वान् मूक की ब्रह्मरूप स्वबन्धु की प्रतिष्ठा है। इत्यर्थ स ब्रह्मरूप पर्वण्य काम्यवच है। इस के आधार पर तीन आश्रय प्राण, दो स्वीम्य प्राण प्रतिष्ठित हैं। मूक में रहने वाला धीम्य (भास्वरसौम्य) प्राण इन्द्रियमन है, बाह्य (मुख) अग्निप्रधान है प्राण (नासिका) वायुप्रधान है वायु आदित्यप्रधान है, ओत्र बिम्बस्वीम्य प्राणप्रधान है। अग्नि-देवत में ये पांच स्वीम्य त्रिलोकी में ही प्रतिष्ठित हैं। भूबाधु का अर्थ ही अन्ध्यात्म में ईश्वरमा है मृषिबर्मा ही बाह्यारमा है। इस प्रकार दोनों सत्त्वानों के सम्बन्ध में—“मदेवेह तदसुप्त।

यदमुञ्च तदन्विह" यह श्रौत सिद्धान्त सर्वोत्पत्ति संगत हो रहा है, जितने पदार्थ ईश्वरसंस्था में है, उतने तो जीवसंस्था में हैं ही। परन्तु प्रकृतिपरमेश्वर जीवसंस्था में कुछ और भी पदार्थ सम्मिलित हो जाते हैं। वे ही आगन्तुक पाप्मा ईश्वर और जीव के पापमय के कारण हैं। यदि इन प्रतिबन्धकों का हटा दिया जाता है, तो जीव अपना जीवरूप छोड़कर ब्रह्मा ईश्वर भक्ति में प्रविष्ट हो जाता है।

ईश्वरसंस्था—

पोषणीपुरुषः—अमृतात्मा

१-सत्यलोकाः १-स्वर्गः	२-तपोलोकाः २-ऋषीन्द्राणां	३-वनलोकाः ३-परमेष्ठी	४-महालोकाः ४-सुखा	५-स्वलोकाः ५-सूर्यः
<div style="display: flex; justify-content: space-between; align-items: center;"> <div style="border-left: 1px solid black; padding-left: 10px;"> <p>सर्वलोकानां</p> </div> <div style="text-align: center;"> <p>सर्वलोकानां</p> </div> <div style="border-right: 1px solid black; padding-right: 10px;"> <p>सर्वलोकानां</p> </div> </div>				

६-सुबलोकाः- { १ पद्मसा- } सुबा- येवसी विषोकि
 { २ वायु- } मन्
 { ३ मङ्गलानिम्ब- }

७-भूकोट-५	प्रायश्चित्त	वि० सौ० प्रायः (३)	प्रवृत्तिना प्रायश्चित्तः	सौम्यप्रियोऽपि	५
	प्रायश्चित्त	मा० सौ० प्रायः (४)			
	प्रायश्चित्त	पेन्द्रप्रायः (५)			
	प्रायश्चित्त	वायव्यप्रायः (६)			
	प्रायश्चित्त	भद्रप्रायः (७)			
		प्रायश्चित्त			

अष्टमांशसिद्धि-पुरुष	१-अष्टमांश से कण्ठपच्यन्ते १ प्रादोरा १० भाग्युक्त	अष्टमांशसिद्धि
	२-कण्ठ से-हृदयपच्यन्ते (,)	
	३-हृदय से-मांसपच्यन्ते (,)	
	४-मांस से-अष्टमांशपच्यन्ते (,)	
	५-अष्टमांश से-अष्टमांशपच्यन्ते (,)	
	६-अष्टमांश से-अष्टमांशपच्यन्ते (,)	
	७-अष्टमांश से-अष्टमांशपच्यन्ते (,)	
	८-अष्टमांश से-अष्टमांशपच्यन्ते (,)	

जिस प्रकार है० हि० सर्वज्ञ की समष्टि का नाम ईश्वर है, एवमेव है०-तैत्तिरीय-पात्र, इन तीनों के समुच्चितरूप को ही जीवात्मा कहते हैं। जीवात्मा का वैश्वानर भाग अर्धप्रधान घनता हुआ शरीर रसादि सप्तधातु-वर्षातुओं का निर्माण करता है। तैजसात्मा क्रिया का प्रवर्तक है। गर्भाशय में आरम्भ में शुक्र रूप में प्रतिष्ठित गर्भ प्रादोरापच्यन्ते कैसे फैल गया १, एवं वही बाहर निकल कर मातृगर्भात् होता हुआ २। बाह्य कर्मा कैसे हुआ १, इन प्रश्नों का समाधान क्रियामूर्ति इसी तैजसात्मा पर ही प्रवर्तित है। एवं विषय-भोग करना तीसरे ज्ञान प्रधान माहत्मा का काम है। वह प्राज्ञ आत्मा अन्तरसम्बन्ध है। इसका अन्तर्ध्यात्म सम्बन्ध शुक्र के द्वारा होता है, वहिर्ध्यात्म सम्बन्ध प्रवृत्ति होता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। वास्तव में यद्यपि ब्रह्मसत्तात्मा का वह प्राज्ञ भाग ही भोक्तात्मा है, परन्तु वह तैत्तिरीय-वैश्वानर से अभिनामूत रहता है। अतः तीनों के समुच्चित रूप को ही योग्यतया मान लिया जाता है। इस रीति ब्रह्मसत्ता के सर्वदादि तीनों विषयों का विनिर्गमन कराया जायुका है। अरु कर्मप्राप्त जीव ब्रह्मसत्ता के तीनों स्वरूपात्मों का कर्मण विनिर्गमन कराया जाता है।

त्रिषत् पृथिवी, पञ्चपरा अन्तरिक्ष, पञ्चविंश ध्रुव, ये तीन विषय हैं, तीनों विषयों के शुद्ध अर्थमूर्ति-वैश्वानरात्मा-सोमपात् (अविष्ठाणा-अभिष्ठाणा) कर्मण अग्नि-वायु आदित्य, तीन नर हैं, जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है। पार्थिव अग्निनर में आन्तरिक्ष में वायुनर तथा दिव्य इन्द्रनर की आहुति होने से अग्नि-वायु इन्द्र, तीनों का वजन (सर्गसिद्धिरुक्त) होता है। इस रासायनिक संयोग कण्डू अन्तर्ध्यात्म सम्बन्धप्राप्त वाग से जो कुछ अपूर्व सांघौगिक, वैचारिक भाव उत्पन्न होता है वही वैश्वानर नाम से प्रसिद्ध है। अग्नि-वायु-इन्द्र-तीनों ही प्राणा

प्रियाँ हैं। प्राणमय होने से तीनों ही रूप—रस—गुण—स्पर्श शब्द, इन मात्रोक्तों से रूम्भ है। परन्तु पञ्चकण्ठ इन तीनों प्राणियों से अल्पम् बरवानर में ताप है। सर्वाङ्गरासी में वह व्याप्त है। पार्थिव प्राणामि अपान है, आन्तरिक्य प्राणामि व्याप्त है दिव्य प्राणामि प्राण है। इन तीनों से प्राणावाक विचाकी हैं, मध्यस्थ व्याप्त स्थिर है। यह स्थिरधर्मा व्याप्त ही महान् परिमाणा के उपांशुसुवन (सिता सित) नाम से प्रसिद्ध है, यह विचाकी पार्थिव अपान अन्तर्ध्याम विचाकी दिव्य प्राण उपांशु नाम से प्रसिद्ध है, कैसा कि प्रहसुति कहती है—

“प्राण इ वा अस्य (पद्महस्तमानः) उपांशुः, व्याप्त उपांशुसुवनः,
उदानं (अपान) एवान्तर्ध्याम” (षष्ठ ४।१।१।१)।

१ यदि उपांशुमन्त्र रूपे व्याप्त रूप (सित) है तो उपांशु, एवं अन्तर्ध्याम रूप प्राणोदान (प्राणोदान) उपलब्ध (कोपी) हैं। उपांशुमन्त्र रूप स्थिर शिवा पर होने बाधा उपांशु अन्तर्ध्याम रूप प्राणोदान व्यापार ही “उपांशुसुवनम्” नाम से व्यवहृत हुआ है। पार्थिव प्राण मूलमन्त्र से अन्न रूप की ओर (हृदय की ओर) आता है, जो उस समय यह समान नाम से व्यवहृत होने लगता है। कबो कबो यह ऊर्ध्वगमन करता है, तबो तबो व्याप्तस्थिता पर आता हुआ दिव्य प्राण पार्थिव प्राणोदान से ऊपर (कण्ठ-मध्या की ओर) चले जाता है, इस अवस्था में वही दिव्य प्राण उदान नाम से व्यवहृत होने लगता है। चरम सीमा पर (मूलमन्त्र नाम से प्रसिद्ध अन्तरध्याम पर) पहुँचने के अनन्तर यह उदान प्रत्याघात में वापस झोट कर हृदय की ओर चले जाता है। इस आगच्छत् अवस्था में वही दिव्य प्राण प्राण कहलाने लगता है। तबो तबो व्याप्तस्थिता पर आता हुआ पार्थिव समान प्राण इस दिव्य प्राण के आघात से मध्या की ओर (हृदय की ओर) चले जाता है। इस आगच्छत् अवस्था में वही पार्थिव प्राण अपान कहलाने लगता है। चरम सीमा पर (मूलमन्त्र नाम से प्रसिद्ध अन्तरध्याम पर) पहुँचने के अनन्तर यह उदान प्रत्याघात में वापस झोट पड़ता है। कबो कबो यह समानावस्था में परिणत होता हुआ ऊपर चले जाता है तबो तबो प्राणोदान से परित्यक्त दिव्य प्राण ऊपर जाता हुआ अन्तर्ध्याम में परिणत होने लगता है। प्राणोदान की इसी निर्गच्छत्-आगच्छत् अवस्था का नाम “प्राणोदानम्” है। प्राणोदान की सीर रश्मियों में आघात जो ताप (गर्मी) देखत है वह ही प्राणोदान व्यापार की महिमा है। “अस्य प्राणोदानवी” (मनु सं ३।१।)।

२ षष्ठ के प्रहसुति में उपांशु के कर्तृ मान्य ही ज्ञात होता है। तबो प्राणोदान व्यापार का गमन होता है।

इसी धर्म से प्राण-अपान-आनरूप इन्द्र अग्नि-वायु के सम्बन्ध से शरीर-सत्त्वा में तापक प्रण अपूर्ण अग्नि उत्पन्न हो जाता है। यही आध्यात्मिक बैरवानर है। क्रियामूर्ति तैजसात्मा आनमूर्ति ब्राह्मोत्मा, दोनों की मूल प्रतिष्ठा यह बैरवानर है। एवं इस की प्रतिष्ठा व्यान है। व्यामाधार पर प्रतिष्ठित यह बैरवानर रुधिररूप आशय में व्याप्त रहता है। शरीर में जहाँ तक रुधिर की व्याप्ति है, वहीं तक बैरवानराग्नि व्याप्त है। यहीं तक बैरवानराग्नि तैजस प्राक्त व्याप्त है, इसी आधार पर “वासानु वै रसस्तावानात्मा” यह कहा जाता है। केश कोमलताम भागों में रसरूप रुधिर का अभाव है। प्राणपि से वारित (निवारित-अप्रिय) सप्त माग (अग्नि का दृष्टिमान भाग) ही निवारित होने में वार है, वार ही वाक् किंवा वाक् (केशकोमल, है। अन्-रूप इन्द्रियप्राणरूप प्रकृति माता ही ‘अ-रन्ध्र’ के अनुसार तत्त्व है। कौक आपा में यही नास्त्वन (काम से विरहित भाग) है। यहाँ अग्निरस का अभाव है। अवश्य इन में अस्मा नहीं रहता। अतएव इन के निरन्तर से कोई पीड़ा नहीं होती, अपितु मार (घोक) उठता ही नास्तुम होता है। केश मलों का जो मूलभाग रसाग्निरूप रुधिर में अन्धःप्रविष्ट रहता है उसमें अपरय ही आत्मा है। यही कारण है कि यदि नापित की असाधवानी से उस रसमय, अवश्य आत्ममय केशनक्षमूल पर झुरिका (उत्तरा) स किसी प्रकार का आपात होजाता है, ता पीड़ा होने लगती है। अतएव आत्मव्याप्ति के सम्बन्ध में—“आलोमस्य आनखाग्रेभ्यः” यह कहा जाता है। इस शरीर का जहाँ छूत है, गरम पाते हैं, यही बैरवानर की दृष्टि (त्वक् प्रत्यक्ष) है एवं कान-न के बन्ध करकेन स जो एक पक्ष-पक्ष शब्द सुनाई पड़ता है, वह इसकी श्रुति (श्रोत्रप्रत्यक्ष) है। शरीर में अभिन्न भाग पानी का है, जैसा कि अष्टतमविद्वानोपनिषत् में “अप्यात्मकत्वात् भूयस्त्वात्” इत्यादि सूत्रार्थ के सम्बन्ध में कहा जाचुका है। शरीररूप पात्र में पानी भरा है, नीचे के स्तर में बैरवानर का प्र प्रव्यक्त हो रहा है। इसी अग्नि से वह पानी खील रहा है। लोहके हुए पानी का जो शब्द है यही अनादितनाद है। काम नाक बन्ध करन पर हम इस ही सुनते हैं। नाद शब्द को कहते हैं। ‘सयोगादिमागांश्च शुब्दाश्च शुब्दनिष्पत्तिः’ (वै ४० २५।३१) इस बार्तनिक सिद्धान्त के अनुसार शब्द आपात से उत्पन्न होता है। परन्तु यह शब्द बिना आपात के उत्पन्न होता हुआ अभास्य है। बैरवानर की इसी दृष्टिभक्ति का निरूपण करती हुई सैत्री श्रुति कहती है—

“अन्यत्राप्त्युक्तमपमग्निर्वैद्वानरा योज्यमन्तः पुरुषे येनेद—

मन्न पश्यते, पदिवमघते, तस्यैव शोषो मवति, यमेव ५ १

हृत्कारिणाय शृणाति । स यदनुष्मिष्यन् भवति, नैन बोधं
शृणाति । स वा एष पञ्चपाप्मान विमन्य निमित्तो गुहायां
मनामय, प्राणशरीर, भारूप, सत्यमकल्प, भावागोत्मा”

(इ० भा० १।५) ।— (जै० व० २।१) इति ।

हृत्कारिण भवति क वरीरूपमव्याप्त सत्त्व प्राणशरीरान् व्यापार मे हो वास्तव्य
बैरहान्तर वा न्यून होना है । अतएव बैरहान्तर भवत्य न प्रसिद्धि है, कथो वक्तुं वेदात्मा एव
प्राण शरीरों को व्यापार तथा ह मर्मा मय आत्म सत्ता है । बैरहान्तर क इमी सर्ववैयर्थ्य कर्म
को नाशिकरण करता हुआ अति बलवान् है—

‘ स एको नाशकः । स पञ्चपाप्मान विष-पाप्मने, स प्राणा-प्यान, समानं
उत्पन्ना, पान इति । अथाप स उर्ध्वदुष्कामति, एष वा स प्राण । अथवाऽथ
वाह मकामति पर वा स पा-पान । अथ एन वैतानुश्रीतेत्ये वा स व्यान ।

अथ वा ‘यं स्वशिष्टा भावु-तत्प्राप्तान प्राप्तप्रति, अमिष्टावाऽत्र अत्रे नवान्
वति एष वा स समानमज्ञा । उच्यते व्यानस्य रूप वैतानुश्रीता प्रवृत्ति वादानस्य ।
अथ यो ‘य वागार्थान्तराभिनि, निमित्त इति वै स वा स उत्पन्ने । अथवाऽप्राप्तस्य
ममविमवति अ-तर्थात् उ-त्प-पान अतर्थात् अतर्थात् प्राप्त । अथवाऽप्राप्तस्य
(लक्ष) प्राणवत् । यदाप्य न पुन । अथ य पुन मा विवेकवान् ।’ (जै०
१८) इति ।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगक्ष्यति ।

मध्ये धामनमासीनं सर्वं देवा उपासत ॥१॥

न प्राण्येन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतामुपाश्रिता ॥२॥

(कठोपनिषत् ५।१४)

यद्यपि पूर्वं कथनानुसार अग्नि-वायु-इन्द्र तीनों का समुच्चित रूप ही वैश्वानर है । परन्तु आचार मास की सुस्पष्टता के कारण प्रधानता इसमें अग्नि को है । अग्नि योनि है वायु-इन्द्र-रेतु है । दूसरे शब्दों में अग्नि आचार है, वायु इन्द्र आप्य है । चतुर्मात्रिक अग्नि है, द्विमात्रिक वायु है, त्रिमात्रिक इन्द्र है, जैसा कि ईश्वरीय एंवसस्मिन्स्वरूप में बतलाया जा चुका है । अग्नि का अथमात्रा स सम्बन्ध है । अर्धं श्रौतिक है । वैश्वानर में इसी की प्रधानता है । क्रियामूर्ति वैजस, तथा ज्ञानमूर्ति ब्राह्म, दोनों इसमें युक्त हैं । अतएव जिन अस्तंश जीवों में (क्षोष्ठ पापाय पादु आदि उच्च पदार्थों में) केवल वैश्वानर का विकास होता है, न इनमें क्रियारूप बुद्धि । व्यापार देखा जाता न इनमें भोग-सामग्र्य देखा जाता । दूसरे शब्दों में लोकमाया में धातुजीव अक्षपदार्थ आदि नामों से प्रसिद्ध जीवों की जीवन सत्ता यही वैश्वानर है । अतएव इन्हें विद्वान् भाषा में 'ऐकात्मक' जीव कहा जाता है क्योंकि माया में यही 'असत्' (अदृ) नाश प्रसिद्ध है ।

शरीर में छिरी घमनी स्नायु मेरु से तीन प्रकार की नाड़ियाँ हैं । रक्तवहन करने वाली नाड़ीयाँ शिरा हैं । वायु बहन करने वाली घमनी हैं । एव ज्ञान का संचार करने वाली नाड़ियाँ 'स्नायु' हैं । इन तीनों में से वैश्वानर के मात्र रक्तवाहिन शिरा नाम की नाड़ियों का ही सम्बन्ध है । रत्नाग्नि ही वैश्वानर का आशय (व्याप्त्यर्थ) है जैसा कि पूर में कहा जा चुका है । इन्हीं के द्वारा वैश्वानर अग्नि का सर्वांग, शरीर में संचार होता है । शुक्त अन्न का परिपाक करना, केवलसोमादि उत्पन्न करना, शुक्लान का रसासृज मांसादि धातुजी में परिणत करना उत्पन्न धातुओं को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रखना, अर्धशक्तिप्रधान वैश्वानर का ही कर्म है । साथ ही वे वागिन्द्रिय, धातु आग्नय प्राण (समाप अपान), शरीरसंस्था इनको प्रतिष्ठा भी यही वैश्वानर है । भूताग्नि के सम्बन्ध में इस वैश्वानर को हम 'धूतात्मा' कह सकते हैं । इस वैश्वानर का प्रमुख त्रिगुणसोमाक्षिप्त

आयुर्वेदोक्त चैरवानरायधियं न पार्थिव आनामक शुक्र ई प्रतिष्ठा प्रथममथि हे, चेति धम्म हे, आशय महाद्ग राशिरह । त्रिमूर्ति इमा चैरवानर का स्वरूप निरूपण करती हुई पात्रिभक्ति करता है—

म प म वैश्वानर इमे स लोका । इयमेव पृथिवी विश्व अग्निर्नर ।

अन्तरिक्षमथ बिम्ब-पायुः । घोरम बिम्ब आदित्या नर ॥" (शुद्ध २।१।१३)

— ० —

पार्थिव पञ्चदश भूमि में वायुवृत्ता की प्रधानता है । यहाँ हृदय में वायु प्रातेष्ठित है । इस

तैजसात्मा-क्रियामूर्ति — वायु क साथ पार्थिव अग्नि, एवं बिम्ब आदित्य का सम्बन्ध होता है ।

इ अनुसर्पक वायु म त्रिमात्रिक अग्नि, एवं द्विमात्रिक अग्नि का प्रकरा होता है । इस प्रकार वायुप्रधान वायु-आद्य-अग्नि का सम्बन्ध म ओ मांशर्पिक रक्षासंरक्षकत्व स प्रत्यक्षानुभूत अनुभव भाव अत्यन्त होता है, यही "तैजसात्मा" है । यहाँ वायु योनि है, अग्नि एक अग्नि रत है । हृदय शब्दों में वायु आकार है, अग्नि है । अग्नि-आश्रय आपय है सोम है । तैजस में प्रधानता वायु का ही है । उधर वायु ही प्रथमात्र क्रियाकर्ता का अभिप्राय है, अन्त तत् प्रधान इस तैजसात्मा का इस अकार्य ही क्रियामूर्ति मान्य कल्पित होता है । "तैजो वै वायुः" (ने भा ३. ३५) क अनुसार वायु तैज है । इसी क सम्बन्ध स वह क्रियात्मा "तैजसात्मा" कहा गया है । अथर्व-ब्रह्मसंहिता में चैरवानर क मध्य मध्य इस तैजसात्मा का भी निगम होता है । ज्ञानयजन प्रोक्त आत्मा यहाँ मुक्त है, अत एव इह-जन्तु मुक्त कहा जाता है— अन्त मंत्रा यवत्येते मुसदुःखसमन्विताः । दो आत्माओं क । ब्रह्मण क काण्ड २। ३६ विज्ञानमाया में "हृत्पातक" जीव माना गया है । यही ब्रह्मचैतन्य जीव है । इस का मूल पृथ्वी क गम में प्रतिष्ठित रहता है अत इन्में धूलज्जीव भी कहा जाता है । तैजस क विज्ञा । म हा इन का उच्च गमन होता है यही क्रियामूर्ति तैजसात्मा क प्ररबध निर्दान है ।

इस तैजसात्मा का प्रधान सम्बन्ध वायुवाहियो धमनी मांस की नाइको म है । इहो नदीवी क दाया वर चरवानर दाया निर्मित धातुओं का वायु द्वारा महाद्ग राशिर में संचार करता हुआ धातुओं का पुन करना है । अन्ति तैजसात्मान दाया मा पायर्वायन गद्य कटी दुर्बलाकार म परिलभ न होता । अतीवग्न इति माया का निवृत्तता, शरीरधातुओं का महाद्ग राशिर में प्रसार करना, धातुओं का इहिवत करना, आपमज्जास का मचायन

करना, इस वैजसात्मा के मुख्य कर्म हैं। प्राणेन्द्रिय (नामाद्रिय), वायुप्रमाण (ब्रह्म)
मोक्ष इनकी प्रतिष्ठा भी यही वैजसात्मा है। वायुतन्त्र प्राणप्रधान होता हुआ ही क्रियामूर्ति है।
इसी प्राण के सम्बन्ध में हम इस ' प्राणात्मा ' नाम से व्यवहार कर सकते हैं। यही वैजसात्मा
त्मा का दूसरा विवरण है। इस वैजसात्मा का प्रभु पञ्चरात्मामाबद्धित्व आधिवैजिक
हिरण्यगर्भाबद्धित्व आन्तरिक वायु प्रधान अन्नात्मक शुद्ध इति प्राणा इत्येव योनि आत्मा
है, आराध सर्वाङ्गशरीर है।

पारिविषयकविशालोम में आधिर (इन्द्र-) तन्त्र प्रतिष्ठित है। इस इन्द्र तन्त्र के साथ
ज्ञानमूर्ति—प्राणात्मा—आधिवैजिक, एवं आन्तरिक वायु का सम्बन्ध होता है। यहाँ इन्द्र
चतुर्मात्रिक है अपि द्विमात्रिक है, एवं वायु भी द्विमात्रिक है। अतएव इन्द्र की प्रधानता मिथ
हो जाती है। इन्द्र योनि है, अपि एवं वायु तैत्तिरीय है। इन्द्र आधार है, अग्नि है अपि-वायु
आधेय है, सोम है। इन्द्रतन्त्र एकविंशत्योमाबद्धित्व युक्तोक्त की वस्तु है। इसके ऊपर ही
त्रिषुव-त्रयविंशत्योमाबद्धित्व वारमध्य बीजसोम प्रतिष्ठित है। इस सोम का भी इन्द्र के साथ,
सम्बन्ध हो जाता है। सोम महारा है, महान् ही ज्ञानपत्र विद्वत्त्वा की योनि है। अतएव
(महत्त्वोम सम्बन्ध स) इस इन्द्र में विषयक (ज्ञानराशि) का विकास हो जाता है। इन्द्र
सोम विद्वत्त्वा तीनों की समष्टि विषय इन्द्र है। इनके गर्भ में अपि वायु प्रतिष्ठित है। इस प्रकार
सोमविद्वत्तागर्भित इन्द्रप्रधान-इन्द्र अपि-वायुमूर्ति इस सीमा विषय आत्मा का ज्ञानमयत्व मन्त्री
भाषि सिद्ध हो जाता है। इसी ज्ञान के सम्बन्ध में इस ' प्राणात्मा ' कहा जाता है। विद्वत्विशाल
योम प्रज्ञा है, तदुक्त प्राण इन्द्र है। प्रज्ञाप्राण की समष्टि ही प्राणात्मा है। इन्द्र ही विद्वत्ता
रूप तन्त्र के समीपतम है इसी आधार पर इसके लिये—'स हि नैदिष्ट वस्पर्श' (ज्ञानोप
निषत्) यह कहा जाता है। भाग का ज्ञान में ही प्रधान सम्बन्ध है अतः इस प्राण का ही
हम प्रधानतया "मोक्षत्मा" कहने के लिये तैत्तिरीय हैं। नागधर (मृते) में दोगे हुए एक रूप
में ज्ञान जाने वाले पदार्थों का प्रतिबिम्ब विकसित होता रहता है। प्रतिबिम्ब रूप में वह पदार्थ रूप
के द्वार में मुक्त हो जाता है। यही रूप का मोक्ष है। जिस के द्वार में जो वस्तु चली जाती है वह
मोक्ष है मोक्ष को द्वार में रहने वाला अन्तर्ही मोक्ष है। यही मोक्ष भाषा की माध्यात्म्य मीमांसा
है। किता प्राण पदार्थ के यह मोक्ष आधुनाय उचित नहीं हो सकता। एक वागवत प्रतिबिम्बों का
मोक्ष हो सकता, न प्रतिबिम्ब पदार्थ के द्वार में मुक्त हो सकता। रूप्य मोक्ष है, अतः यहाँ मोक्षमोक्ष
भाव का उद्भव सुझाव है। वैजानर-वैजस प्राण तीनों में महत्त्व सोम सम्बन्ध में एकमात्र प्राण
ही प्रीति है। अन्द्रिज मन-बुद्धि के संयोग जनित व्यापार से ज्ञान बाह्य प्रतिबिम्ब आधीन विषय

संस्कार यही प्रतिबिम्बित होते हैं। यही संस्कारों की आवास भूमि है। विषय संस्कार रूप से प्राप्तिपर में भुक्त हैं अतः इन्हीं का आकाशमा मानना उचित होगा है।

इस प्राप्तिरमा का प्रधान रूप में ज्ञानवादिनी स्नायु नाम की मादियों से सम्बन्ध है। इसी मादियों के द्वारा यह ज्ञानधारा सर्वत्र व्याप्त रहती है। यदि कहीं भी किसी प्रकार की भी बाधा होती है, तो इन्हीं प्राप्तिरमा से तत्काल उभरकर अनुभव हो जाता है। यही प्राप्तिरमा सुख-दुःख मोक्ष है। यही संस्कार यही जन्म मरण है। यही पाप पुण्य का फल प्राप्त है। यद्यपि ब्रह्मसत्त्व ससङ्ग नाम से प्रसिद्ध कुमा-काट-पथी पशु पुरुष पाशों में प्राप्त का विकास है दूसरे स्तरों में पाशों में ही वे० वे० प्राप्तिरमा तीनों आत्मार्थों का विकास है परन्तु प्राप्तिरमा का पूर्ण विकास तो पुनः में ही होता है। वे० वे० प्राप्तिरमा का समष्टि रूप यह ब्रह्मसत्त्वार्मा अर्थात् क्रिया ज्ञानमय है। यह अपारम्भा अर्थात् नाम से प्रसिद्ध मन्त्रप्राप्तिरमा यही अक्षरपर विरचरकर आत्मा के आधार पर प्रतिष्ठित है। जिस कर भाग में आत्मा की मन्त्र-प्राप्ति-वाक्य, इन तीनों ब्रह्मार्थों का पूर्ण विकास होता है, करन्त्रि में यही करन्त्रि पुरुष कह जाता है। वातु-मूल पशु पथी आदि कर प्रत्यक्ष पुरुष नहीं कहलाती। कारण इन में वे० वे० प्राप्तिरमा प्राप्तिरमा में अवस्थित है। मनुष्य में तीनों का पूर्ण विकास है अतः यही पुरुष कहलाता है। और और तीनों की अपर्याय वैराग्य मन्त्र-प्राप्तिरमा के पूर्ण विकास के कारण एक मात्र पुनः ही इस अवस्थापर प्रजापति के निष्ठ (निष्ठ तम) कहलाता है। इन्हीं विज्ञान के आधार पर—'पुरुषा वे प्रजापतेर्नदिष्ठम्' (शत० १।१।१।) यह कहा जाता है। वैराग्य अर्थात् क्रिया प्रधान है, यह अवस्थापर की वाक्य कला का विकास है। तबस क्रियाशक्ति प्रधान है यह अवस्था की प्राप्त कला का विकास है। प्राप्तिरमा ज्ञानशक्ति प्रधान है यह अवस्था की मन्त्र कला का विकास है। इस प्रकार यह ब्रह्मसत्त्व तत्त्व मन्त्र प्राप्तिरमा अक्षरपर के करभाग का भाग कर अक्षर वातु इन्द्र को अपना स्वल्प समर्थक वाता वा वैराग्यर वैराग्य प्राप्तिरमा से अक्षरमत्ता जीवब्रह्म मन्त्र प्राप्तिरमा है - मन्त्रों का जाग्रत जाग्रत मनाउन (गाथा)

भूतारमा वैराग्यर प्राप्तिरमा वैराग्य मोक्षारमा प्राप्तिरमा तीनों परस्पर अविनाशित हैं। तीनों मिल कर ही आध्यात्मिक कर्मकाण्ड का संवाहन करने में समर्थ होते हैं। कर्म में ज्ञान क्रिया अर्थात् तीनों का सहयोग अवस्थित है। अतएव यह तीनों की समष्टि का हम कर्मों रमा' नाम से व्यवहार कर सकते हैं। साथ ही में तीनों के अदिमामय से समष्टि को मा वैराग्यरमत्ता भूतारमा, वैराग्यरमत्ता प्राप्तिरमा प्राप्तिरमा मोक्षारमा कहा जा सकता है। इन तीनों में से प्राप्तिरमा का प्रथम पक्षविशालीमोक्षशक्ति आध्यात्मिक सर्वज्ञावच्छिन्न दिव्य

इन्द्र प्रधान अन्तरात्मक शुक्र है, प्रतिष्ठा ब्रह्मरूप है, योनि अन्न है, आशय सर्वाङ्गराशरीर है। इस के अतिरिक्त पार्थिव इरास प्रधान होने से हिरण्य नाम से प्रसिद्ध यह पार्थिव प्राग्भूत प्रपञ्च से भी प्रसिद्ध होता है। अतएव अत्यन्त शिशु क पैरों में हो सर्वप्रथम चेतना का विकास देखा जाता है। त्रिपदानुभव, सुख-दुःख भोग, घातुवग का यथाव्यवस्थित संज्ञान, इत्यादि प्राज्ञ के मुख्यकर्मा हैं। माथ ही में मन, चक्षुरिन्द्रिय दिव्यप्राण, आवि की प्रतिष्ठा भी यही है।

पूरे कथन से निष्कर्ष यह निकला कि अग्नि-वायु आदित्य प्रधान बैश्वानर-वैश्वानर प्राज्ञ की समष्टिरूप, ज्ञान-क्रिया अथ शक्तिमय उच्चत्रिलोकी में प्रतिष्ठित वै० हि० सर्वभूतार्थि साची एवं सत्य का अंशभूत चिद्विशिष्ट एवमस्य हो 'जीवात्मा' है। स्थूलशरीर के नष्ट हो जाने पर बरी कर्मात्मा कर्मफल भागन के लिए लोकान्तर में जाता है। इस जीवात्मा का स्वरूप सुषुप्त (गुरुपक्षी) जसा है। पाँच अग्निर्वा का चित्ति से इसका स्वरूप निष्पन्न हुआ है। प्रकारान्तर से चार आत्मा, वा पक्ष पुष्प प्रतिष्ठा, इस प्रकार मात्र व्यवस्था से इसका जयन हुआ है। विज्ञानमाया में यही चित्ति सुपूर्णचित्ति नाम से प्रसिद्ध है। आन्तर मन भोगसाधन है। आन्तर विवर्ध में सोम चिद्विशिष्ट प्राण, इन दोनों तत्त्वों का समावेश है। प्राण इन्द्र है, सोम मृत है। इमी के संबन्ध से यहाँ चिद्विशिष्ट प्रतिष्ठित हुआ है। अतएव यह आन्तर मोम भी दिव्य इन्द्र वत् प्रज्ञा नाम से ही व्यवहृत होता है, जैसा कि पुरु की महद्दत्तमविज्ञानोपनिषद् में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इस प्राज्ञ प्राण की समष्टि ही प्रज्ञान मन है। बिना इस के विषयभोग संभव नहीं है। माथ ही में बिना बुद्धि एवं इन्द्रियों के भी भोग अनुपपन्न है। इसी आधार पर उक्त भोक्त्या का—^१“आत्मेन्द्रियमनोपुक्त भोक्त्याहुर्मनोपिण्ड” (कठोपनिषत् १।३।४) यह लक्षण दिया जाता है। अव्यक्त ब्रह्मात्मा-विज्ञान-महद्युक्त प्रज्ञान-शरीरकी समष्टि ब्रह्मसत्य है, पञ्च वैश्वानर तैजस-माज्ञ की समष्टि देवसत्य है। यह आन्तर प्रज्ञान के बिना एक कथ भी नहीं रह सकता। कम के बिना भोग ही नहीं बन सकता। अतएव ब्रह्मसत्त्वांशभूत द्यम आन्तर प्रज्ञान का “एतद्देव सत्यं यच्चन्द्रमा” के अनुसार देवसत्त्वस्य उक्त ज्ञानम जीवात्मा में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है। यह तो हुआ मूर्खित ५ आधार पर विनत पार्थिव उक्त्या त्रिलोकी में सम्बन्ध रखने वाल कर्मात्मा का मूर्ध्नि स्वरूप परिपक्व। अथ मूर्खपराह नाम से प्रसिद्ध पार्थिव विद्व। वायु (मुवायु) से निष्पन्न होने वाल हमारात्मा की ओर बिड़ पाठकों का ध्यान आकषिप्त किया जाता है।

शुद्ध शोणित के समन्वितरूप में औपपातिक कर्मों माका अधिकारमा गर्भाशय में प्रविष्ट वायुमर्चि इसारमा—होता है क्योंकि वायुमर्चि मात्रा की वृद्धि होती है तब तब गर्भ पुष्ट होने लगता है। अतःकाल में पिता आनिगत आम्र य अधिर में सौम्य शुद्ध की आहुति होता है। सिद्ध कीम औपपातिक आत्मा में अनुगृहीत रहता हुआ एक आहारात्र की प्रविष्टा के अनन्तर कलठ रूप में विकृत होजाता है। ईष्यपुनर्पुल्लभ्यमावापक शुद्धशोणित समष्टि ही कलठ है। मात रात्रि में वृद्धपुदायस्या होती है। एक पक्ष में विष्ट निष्पत्ति होती है। एक मास में कठिनता आती है। ७ मास में अस्तुक्त बनता है तीन मास में पाद निर्माण होता है। चतुर्थ मास में अंगुलियाँ, अङ्गूर, एवं कृत्ति प्रवेश सम्पन्न होता है। पञ्चम मास में मेरुदण्ड (पीठ की हड्डी) बनता है। षष्ठमास में नासायुध भात्र की स्वरूप निष्पत्ति होती है। सप्तम मास में शीघ्र नीच शक्ति प्रवृद्ध होती है। अष्टम मास में सर्वाङ्ग निष्पत्ति होती है। (इतमक अङ्गीकारों की शीघ्रवस्था के अनुसार सर्वत्र एक के अनुगुणानुसार मर की एक साथ ही अष्टम मास में पूर्ण निष्पत्ति होजाती है—(स्वल्प चरक में शा ३।) तब के रत (शुद्ध) की अधिकता से पुष्प (कड़वा) प्रजा माता के रत (शोणित) की अधिकता से स्त्री (कड़वी) प्रजा के विन्द बनत है। दोनों का समानता से अर्धमक प्रजोत्पत्ति होती है, एवं विषमता में शुक्लाहुति प्रबल आती है। शुक्लाहुति रत समय यदि पिता ११ पित्त व्याकुल रहता है उस समय उसकी त्रिम इन्द्रिय में त्रिम व्ययय में विकार रहता है वही विकृतत्वमा प्रजा में उत्पन्न होजाती है। अन्ध-रुद्ध यक्ष वामन-अधिर अतिरिक्ताङ्ग आरि विष्ट भात्र का बड़ी कारण है। आनिगत आम्र व वायु शुद्धगर्भ भात्रवायु दोनों आह्विरम मागव वायुओं का यदि परस्पर मध्य होजाता है तो बड़ा ही 'प्रययामरु' मास में प्रसिद्ध देहोष्ण मान होता वायु भी वा माता में विमल होता तथा शुद्ध का वा माता में विमल कर होता है। त्रिना विमल मम शुद्ध से वमर (मोहनी) ममान उत्पन्न होजाती है। यदि प्रययामरु के तीनवार अथवा इसम अधिक विमल होजात है तो ब्रह्मे में ही उत्पन्न गद्य बन जात है। इसी वायु-विमल की वृत्ति में एक ही समय में मात मात गर्भों का स्थिति रहती रह है। इस गर्भों निष्कम से प्रकृत। इस यदा यदाहमा है कि गर्भ उत्पन्न हो बनत आता है। मम मामानम्बर प्रययामरु के प्रवापान में प्रययामरु गर्भों गद्य में बाँटा निकल कर मूर्धन्य होता है तो इसका मात इसी वायुमर्चि वायु का मध्य

॥ अतिरिक्त शक्ति पुनः कल्पवृक्षमादिः ।

अनुक्त तब कर्म केपेक्षा करेगाती ॥ (आयुर्वेद)

होने लगता है। इस वायु में अश्मा सोम रहता है। वायुद्वारा अश्मा सोम की घनता उत्पन्न शिष्ट में पीरे पीरे प्रविष्ट होने लगती है। यदि माता पिता सबल, एवं पूर्ण स्वस्थ होते हैं, तो इन ८ मियुनमास स उत्पन्न शिष्ट में पृथिवी की एक साम्प्रतसरिक परिक्रमा के अनन्तर ही इस में अश्मासोम ० 'दन्त' (दांत) रूप से प्रविष्ट हो जाता है। अश्मासोमगर्भित समूपवायु एक पप म ही प्रविष्ट हो जाता है, इस की सत्ता क चोतक दांत ही है। पृथिवी का पार्थिविक प्राण पुपा है। यह अश्मासोम विरहित है। एक क्षण तक पृथ्वी में इसी पार्थिव पुपा-प्राण की प्रधानता रहती है, अत एव इस काल म पृथ्वी क दांत उत्पन्न नहीं होते। इसी विज्ञान के आधार पर— "तस्मादादुरदन्तक पुपा" (शत० १।७।४।७) यह कहा जाता है। जब तक दांत उत्पन्न नहीं होत, तबतक भूमिपर वायु प्रविष्ट नहीं होता दूसरे शब्दों में प्रविष्ट होकर भी स्थिर नहीं होता। दन्तपट्टि उत्पत्ति क महकाल में ही पृथिवी हान वाला यही वायुद्वारा 'हंसात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। हंसात्मा क उपादानमृत वायु का समूप बराह रूप से पूर्व में निरूपण किया जा चुका है, अत यहां विष्टपेयक की आवश्यकता नहीं है। प्रकृत म कथन हंसात्मा के कुछ एक कर्मों का दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

हंसात्मा का उपादान मूत्रायु है। एक वर्ष क पार्थिव परिभ्रमण से शरीर में जब घनता (प्रतिष्ठा) आजाती है, तभी दांत उत्पन्न होते हैं, यह कहा जा चुका है। तभी हंसात्मा उत्पन्न होता है। मूत्रायु तब तक स्वस्वरूप में प्रविष्टित रहता है, जब तक कि मृपिण्ड स्वस्वरूप से प्रविष्टित रहता है। ठीक इसी प्रकार यह वायुय हंसात्मा भी तबतक शरीर स अवरय ही बद्ध रहता है जब तक कि शरीरधातु प्रविष्टित रहते हैं। जीवात्मा नाम स प्रसिद्ध पूर्णोक्त कर्मात्मा के शरीर से निकलते ही अम्यक्त-बल विज्ञान-महान-प्रज्ञान, आवि मय रूपदात्मा उत्क्रान्त होजाता है। परन्तु शरीर-पिण्ड स सम्बन्ध रहने वाला यह हंसात्मा यही, इसी मीतिक मर्त्य शरीरमि ब स बद्ध रह जाता है। यह तबतक शरीर-पिण्ड स बद्ध रहेगा, जब तक कि शरीर भौतिक धातु अमि क सम्बन्ध स विशाकलित न कर दिए जायेंगे। इस को उत्पत्ति दन्तोत्पत्ति मम कालमा बतलाइ गई है। अत एव जिस कालक क दांत पैदा नहीं होत, धर्मशास्त्रन उस केवल मूर्ति म गाढ़न का आदेश दिया है। परन्तु दांत पैदा हो क अनन्तर यदि दांत को नहीं रखाया जाता है तो हंसात्मा को शरीर क साथ बंधा रहना पड़ता है। कर्मात्मा अपने गृह रूप शरीर का दोष कर लाकांतर म कर्मों योगन क लिए पछा जाता है, परन्तु हंसात्मा प्राण

* पहिले पीरे के दांत क्यों उत्पन्न होते हैं १, पीरे के पतले सहज ऊपर के पीरे एवं निम्न क्यों होत हैं १। २५ बरीकती क्यों होती है १, इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए शतपथ विज्ञाननामान्य ग्रन्थ है।

शुक्र शोभित के समन्वितरूप में औपपातिक कर्म मोक्ष जीवात्मा गर्भराज में प्रविष्ट बाधुमुक्ति इसात्मा—होता है। ज्यों ज्यों पार्ष्णि मात्रा की वृद्धि होती है त्यों त्यों गर्भ पुष्ट होने लगता है। अतः शुक्र में पिता योगित आत्मा य रुधिर में सौम्य शुक्र की आहुति दत्ता है। सिद्ध कीय औपपातिक आत्मा से अनुगृहीत रहता हुआ एक अहोरात्र की प्रविष्टा क जन्मतर कलत्र रूप में परिणत हो जाता। ईषधनवर्षसहस्रमावापक शुक्रशोभित समष्टि ही कलत्र है। सात रात्रि य बुधपुदावस्था होती है। एक पक्ष में विष्ट निष्पत्ति होती है। एक मास में कठिनता आती है। दो मास में मस्तक बनता है तीन मास में पाद निर्माण होता है। चतुर्थ मास में अगुलियाँ, अठर, एवं कटि प्रवेश सम्पन्न होते हैं। पञ्चम मास में मेरुखण्ड (रीढ़ की हड्डी) बनता है। षष्ठमास में नासा अक्षु भोज की स्वरूप निष्पत्ति होती है। सप्तम मास में जीव नीय क्षुक्ति प्रवृद्ध होती है। अष्टम मास में सर्वाङ्ग निष्पत्ति होती है। (इत सब अङ्गोपाङ्गो की बीजावस्था के अनुसार महर्षि चक्र के मतानुसार सब की एक साव ही अष्टम मास में पूर्ण निष्पत्ति हो जाती है—(शक्ति चक्र सं शा० ३१) पिता के रेश (शुक्र) की अधिकता से पुष्प (सङ्का) प्रजा माता के रेश (शोभित) की अधिकता से स्त्री (जङ्गी) प्रजा क निर्णय बनता है। दोनों का समानता से नपुंसक प्रशोत्पत्ति होती है एवं विषमता में शुक्राहुति प्रबल जाती है। शुक्राहुति रेश समय यदि पिता की अति व्याकुल रहता है उस समय लम्बी त्रिम इन्द्रिय में त्रिम अजय्य में विकार रहता है वही विकृतावस्था प्रजा में उत्पन्न हो जाती है। ब्रह्म-सुख कष्ट वामन-वधिर अविरिक्ता आदि विकृत भावों का वही कारण है। योगित आत्मा बाधु, शुक्रगत सौम्यशुक्र दोनों आङ्गिरस भाग्य बाधुओं का यदि परस्पर सघर्ष हो जाता है तो वहाँ का 'एषयामक' नाम का प्रसिद्ध रेशोपा मात रेशवा बाधु जो दो भागों में विभक्त होता है शुक्र की दो मार्गों में विभक्त कर दत्ता है। शिवा त्रिमल ऐसे शुक्र से वमज (जोड़नी) सम्मान उत्पन्न हो जाती है। यदि एषयामक के तीन भाग अथवा इससे अधिक विभाग हो जाते हैं तो उनमें ही स्वतन्त्र गर्भ बन जाते हैं। इसी बाधु-विमर्श की कृता से एक ही समय में सात मात गर्भों की स्थिति होती गई है। इन गर्भों-गति क्रम से प्रकृत हैं वही बतलाना है। का गम जलरात्र पन बनत जाता है। जबकि मामामन्तर एषयामक के प्रवापात से जब यह गर्भ रात्र में बाहिर निकल कर भूमिगत होता है तो इसके साथ वही पार्ष्णि स्वर बाधु का सम्बन्ध

क अधिकत रेशः पुनः कम्पराधार्तपथिके ।

शुक्र ततोः ताम्ने वनेच्छा कारयेदती ॥ (अष्टाध्याय)

आज भी प्रतिष्ठित है। इतना ही नहीं इतिनिरोधरूपा सपमविद्या से आज भी इन का साक्षात्कार किया जासकता है। यही ईशाना वरानमाया में—“अभिमानि” देवता नाम से प्रसिद्ध है। “अमुक देवताने दत्तन दिए” “अमुक मनुष्य आज हमें स्वप्न में ‘दिसलाई दिया” “अमुक प्रवात्मा आज हमें दीक्षा, और उसने यह कहा” यह ‘अमुक’ शब्द वाच्य यही ईशाना है।

मनुष्य सब पोर निद्रा में (बेचकर) सो जाता है, तो उस का ईशाना उसकी रक्षा किया करता है। आप सो रहे हैं। कर्मात्मा प्रधान विद्या को साथ लेकर पुरीतति नाकी में प्रतिष्ठित हो रहा है। ऐसी अचेतनावस्था में यदि एक बिपत्ति सर्प आप की ओर जाता है, अथवा ऊपर की ओर गिरना चाहती है, अथवा कोई शत्रु आक्रमण करने आ रहा है, अथवा और कोई आकस्मिक आपत्ति आ रही है, तो इस समय आप अकस्मात् हड़बड़ा कर जग पड़ते हैं, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव है। यह कर्मात्मा यही ईशाना का है। पोर बिपत्ति में यही ईशाना विचार में स्फूर्ति लाकर, अथवा अन्य योनि में आकर संकेतद्वारा आपको सावधान कर देगा। आप किसी बिपत्ति की गुत्ती (प्रस्थ) मुलामने में व्यस्त हो रहे हैं। एक व्यक्ति आप के सामने से कुछ बड़ बड़ाता हुआ निकल जाता है। यह उस समय ऐसी बात बोलता है, जिस से आप की गुत्ती मुक्त हो जाती है। यह यही ईशाना का संकेत है। बच्चे का ईशाना निर्मल, अत एव सत्यवादी होता है। इसी लिए शत्रु परीक्षक बच्चे से प्रश्न कर उस के निष्पक्ष कंठ आचार पर शुभाशुभ की व्यवस्था कर लेते हैं। योग प्रक्रियाविरोध से यह ईशाना सिद्ध हो जाता है एवं हम सब यथेष्ट काम किया जाता है। यही निद्रा पातञ्जल योगदर्शन में—“छायापुरुषसिद्धि” कह करती है। आप सोते समय जरा हड़ मानना से यह विचार कर लीजिए कि, मुझे आज प्रातः ३ बज ठठना है। पोर निद्रा में निमग्न रहते हुए भी आप अपने यही संकल्पित समय में जग पड़ेंगे। इस सम्बन्ध में हम आपसे प्रार्थन करेंगे कि, कर्मात्मा-विद्या-प्रधान, सब इस समय तुम से फिर किसने आप को जगाया? इस प्रश्न का एकमात्र समाधान यही ईशाना होगा। साथ ही मैं यह भी स्मरण रखिए कि, कर्मात्मा जिस से य शरीर छोड़ता है उस समय शरीर की सुखी, अथवा दुःखी जैसी अवस्था होती है उस का ईशाना अविद्य में यही अवस्था सहायता देता है। अविद्य अवस्था में भी जो अवस्था शरीर की होती है, यही अवस्था ईशाना की रहती है। शरीर के बड़ा देह पर वह स्थावतनभूत मूल्यायु में बिचरा करता है। और प्रकाश हम का पोर शत्रु है चान्द्रबोधि हम का परम मित्र है। ईशाना जब रक्षण छाया में, एवं अग्नि में। पूरा यह सत्यमात्र भी यही ईशाना है। इसी ईशाना के स्वरूप परिचय के लिए

वेद प्रतिमाओं के चारों ओर, विशेषतः शिरोमण्डल के चारों ओर एक त्रयोविमर्शक बनाया जाता है। त्रिज का हस्तात्मा सार्वभौम-पवित्र-दान मुक्त रहता है, जो मनुष्यों के शरीर के, एवं मुक्त मण्डल के चारों ओर भी एक कान्तिमण्डल रहता है। अतिरेकस्त्री के मुख पर सार्वभौम व्यक्ति की आत्मा नहीं उठ सकती। यह मण्डल वही हस्तात्मा का है। तामस हस्तात्मा का वहिर्मण्डल भ्रमस्वरूप रहता है। इसी वायुमय हस्तात्मा-मण्डल को लोकभाषा में—‘आत्मा-वरण’ कहा जाता है। इस के परिधान से मनुष्य के मानसिक भाव विरहित होजाते हैं। कारण मनुष्य अपने मन में जैसा संकल्प करता है उस का हस्तात्मा-मण्डल वातावरण, किंवा वहिर्मण्डल वैसे ही भावों से मुक्त होजाता है। मार्मिक विद्वान् हम में उस के अन्तर्भावों का पता लगा लेते हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रक्खकर यजुःमुक्ति कहती है—

‘तस्माद्वाहुः मनो वै देश मनुष्यस्याग्रान्ति’—इति । मनसा संकल्पयति तत्-
प्राप्तमपि पश्यते प्राणा वात वातो देवेभ्य आचष्ट यथा पुरुष मन । तस्मा-
देतव् ऋषिषाम्यन्कम्—

“मनसो संकल्पयति तद्वातमपि गच्छति ।

वातो देवेभ्य आचष्ट यथा पुरुष ते मन ॥” (राव ३।१७।१६) ।

इस हस्तात्मा का प्रथम मूलायु है, पवित्र वहिर्मण्डल है जो कि संवत्सर चक्र है, आश्विन नाम कि शरीर है। ईश्वर शरीर में वही यम्युवराह नाम से प्रसिद्ध है, एवं जीव शरीर में वही ‘हस्तात्मा’ नाम से कहल होता है। “त्रिष्टुत च हस्तयोहुः” (अथर्वसं० १०।८।१०)
‘हस्तो वासुदेव’ (अथर्व २४।१३) ‘वासु हृतायम्’ (राव १।१।१।१३ श्वाधि मन्त्र ।
नामकोष्ठ प्रमाणों के अनुसार ही यह वायव्यात्मा “हस्तात्मा” नाम से प्रसिद्ध है। लोकभाषा में त्रिज लक्ष्य के लिए—‘हमा उड़ गया, खरीर रह गया’ यह किंवदन्ती प्रचलित है वह हस्ता’ (वही) वही हस्तात्मा है। हस्तात्मा का वही सक्रिय स्वरूप निर्वर्ण है ।

प्राण-माय-वाक्-जन्त-जन्माद्, इन पाँचों पुरुषार्थों का पञ्चीकृत रूप ही ‘भूविष्ट’
वायव्यात्मा-भूतमूर्तिः—है पाँचों ही अभिमूर्ति हैं, जैसाकि पूर्वे प्रकरणों में कई स्थानों में स्पष्ट किना जाचुका है। अग्नि गोपज जन्म से अग्निव रहने के कारण अज्ञात नामा जाता है। इस

मात्रा मात्र के कारण प्राणानि पाँचों पुरजनों की (प्रत्येक की) आठ आठ मात्राएँ होजायी हैं। इन में चार मात्रा में प्राणानि स्थित रहते हैं, शेष चार मात्राएँ इतर पुरजनों में रहती हैं, यही प्रक्रिया पञ्चीकरण नाम से प्रसिद्ध है। इन में यदि चतुर्भात्रिक अन्नाद् है, एवं—प्राण-आप-वाक्-अन्न, ये चारों एक एक मात्रिक हैं तो पञ्चीकृत अन्नाद् का स्वरूप निष्पन्न होता है। यही पञ्चीकृत अन्नाद् विद्वान् साधानुसार “भूत” किं वा महाभूत नाम से प्रसिद्ध है। इसी पञ्चीकृत अन्नाद्प्रधान पञ्च महाभूतात्मक भूत से भूपिण्ड निष्पन्न हुआ है। प्राण आकाश है, आप वायु है, वाक् तेज है, अन्न जल है, अन्नाद् मिट्टी है। “पृथिवी वै सर्वेषां भूतानां रस” (शत० १३५५५१) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड में पाँचों महा भूतों का समन्वय है, सभी तो इस का सर्वभूत-रसमूर्त्तिस्व सिद्ध हो सकता है। इन्हीं पञ्चात्मक पञ्च महाभूतों से शरीररपट्टि का निर्माण होता है।

मौस अस्थि-कपास त्वचा-मेद मज्जा शुक्र, आदि आपेक्षिक पत माग पृथिवी है। स्वेद-मूत्र-रस-असृक्-लाला-कफ, आदि तरलमाग अल है। शरीर ऊष्मा (गमी) तेज है श्वासप्रश्वासादि वायु है। बिबर आकाश है। इस प्रकार शरीरसंस्था में पाँचों महाभूतों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष होरहा है। पञ्च महाभूतों से निष्पन्न होने वाला ये शरीर महाभूत “सत्त्वभूत,” किं वा भूतमौलिक नाम से प्रसिद्ध है। सत्त्वभूतों के मूल महाभूत हैं, महाभूतों के मूल अपञ्चीकृत भूत हैं इन के मूल अणुभूत हैं, इन के मूल पञ्चतन्त्रात्रा नाम से प्रसिद्ध शुष्मभूत हैं। इन्हीं (जो कि सम्बन्ध आधौगिक हैं) भारतीय विद्वान् न “तुक्” नाम से व्यवहृत किया है। इन्हीं तन्त्रों की चरम बौगिक अवस्था शरीररूप सत्त्वभूत है। इन्हीं के सम्बन्ध में इस शरीर को भूतारमा कहा जाता है। पार्थिव कल्पना त्रिकोणी में सम्बन्ध रखने वाला कर्मात्मा भी पार्थिव प्राणपथम भूतमय बनता हुआ भूतात्माई ऊपर शरीर भी भूतात्मा है। ऊपर वायव्य ईशारमा भी भूतात्मा है बीनों में अन्तर केवल इतनादो है कि, कर्मात्म-ईशारमरूप भूतारमा प्राणपथम होत हुए अन्तरारमा हैं, एवं भूतप्रधान शरीररूप भूतारमा पाद्यारमा है। इन्हीं चारों भूतात्मविभक्तों के वाधेत्त्व का विमृष्ट निरूपण करती हुई यैत्री श्री केशी दे—

“कोऽपमात्मास्या योऽय सितासितैः कर्मफलैरमिभूयमानः-
यदसद्योनिमापद्यता इति । अवाप्त्वाप्त्वा वा गतिर्द्वन्द्वैरमि-
भूयमान परिभ्रमति । अस्ति एवमन्याऽपरो भूतात्माक्यो योऽ-
य सितासितैः परिभ्रमति, इत्यस्य (प्रोणात्मकस्य मोक्षभूतात्मनः)
उपन्यास्यानम् । पञ्चतन्मात्रा भूतद्वन्द्वेनोच्यन्ते । अथ पञ्च-
महाभूतानि भूतद्वन्द्वेनोच्यन्ते । अथ तेषां यत् समुदय उच्छरीर-
मित्युक्तम् । अथ यो ह खलु वायु शरीर इत्युक्तः स “भूतात्मा”
इत्युक्तम्” (मै० ७० ३ म) इति ।

इस शरीररूप भूतात्मा का प्रथम भूषणबोझारमक शुक्ल-शोणित की समष्टि है प्रविष्टा
आत्मा है, जोति चक्षु है आशय सम्पूर्ण चक्षुस्पर्शमात्रा है । यही हम प्राणोत्साविकरस्य का
पाँचवाँ विद्यत है ।

इस प्रकार भूषण, भूषण त्रिभुजलोमरूप प्रविष्टी में प्रविष्टि वैश्वानर, पञ्च
अन्तरिक में प्रविष्टि हिरण्यगर्भ, पञ्चविंशत्युक्तोक्त में प्रविष्टि मन्त्र, इन पाँच पाँच भिन्न
विशेषों से क्रमशः शरीररूप प्राणोत्सा, वायुरूप इन्द्रात्मा, वैश्वानरारामून् वैश्वानरारामा, हिर
ण्यगर्भोत्साभूत तैजसात्मा सबल्लगामून् प्राणोत्सा, इन पाँच आन्तरिक प्रपञ्चों का अर्थ
होनावा है यह अब तक के प्रकरण से अभीमात्रे सिद्ध होनावा है । नाब ही में यह भी सिद्ध
होनावा है कि पञ्च पाँचों विश्वों में वैश्वानर-तैजस-प्राण की समष्टि ही मोक्षात्मा किंवा
कर्मात्मा है । यही लोकान्तर में कर्मोत्साव के लिए जाता है । साब ही में बिना पाठको को
बह भी समझ सकन बाकि कि उक्त पाँचों विश्वों में किनो विश्वों के साथ आहूकर्म्म का
काह सम्बन्ध नहीं है । केवल शरीराभाहू का सम्बन्ध बायव इन्द्रात्मा के साथ है जैसा कि
आगे के भाष्यप्रकरण में स्पष्ट होनावा ।

मै०-वि०-वि०	{	मै०-वि०-वि०	{	३-५-सर्वज्ञ — २१-एक० यो —————> प्राणोत्सा (३)	} — कर्मविद्या	{	मै०-वि०-वि०
				२-४-हिरण्यगर्भो — १५-पञ्च अ० —————> तैजसात्मा (४)			
				१-३-वैश्वानर — ३-वि० —————> वैश्वानरारामा (३)			
मै०-वि०-वि०	{	मै०-वि०-वि०	{	२-१-भूषण — पञ्चमहाभूतानि —————> इन्द्रात्मा (२) — इन्द्रात्मा	}	{	मै०-वि०-वि०
				१-१-भूषण — पञ्चमहाभूतानि —————> शरीर (१) — शरीर]			

प्रकाशारम्भ से चाब तक आधिदैविक-आध्यात्मिक, भिन दो संस्थाओं का स्वरूप मर्षण-अल्पज्ञममत्तुलन-ीरूपित हुआ है उक्तों में दोनों ही समानधर्मा हैं। भिन्ननी कक्षाएँ ईश्वर में हैं कीक इतनी ही कक्षाएँ जीव में हैं। य सब तो दोनों के स्वरूपधर्म हैं। इन के अतिरिक्त विभूति-पाप्मा, य दो अभाग बन जात हैं। इन दोनों में सब विभूति भाग ईश्वर का स्वरूप धर्म है साथ ही में उस में पाप्मा का अभाव है। जीव में रहने वाली विभूति पाप्मा के अभाव में जीव का स्वरूप धर्म है, एवं पाप्मा के रहने पर वही विभूति आश्रित धर्मकोटि में बहिष्ठ हो जाती है। यही जाग्रदवस्था की पहिली विषमता है। ईश्वर पूर्णन्द्र है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्ति है, सर्ववित् है। जीव अर्द्धेन्द्र है, अल्पज्ञ है, अल्पशक्ति है, अल्पवित् है। यही ओवरलर की दूसरी विषमता है। इन सब विषमताओं का मूल पाप्मा ही है। इन पाप्माओं का ईश्वर संस्था से बाह्य सम्बन्ध नहीं है। यह ओवरलर की स्वतन्त्र कमाई है स्वतन्त्र कमाई कहा है, प्रज्ञापराध है, यन्त्रन के मूल हैं। क्योंकि बन्धन मुक्ति लक्षणा विभूति का भी यह संभव करता है, परन्तु वित्त-साहस मृग्य बना हुआ यह विशेषरूप से बन्धन के हेतुभूत पाप्माओं का ही मंचय करता है। पशु-पक्षी-मादि इतर जानिबों प्राप्त भाग की अल्पता से प्रज्ञापराध करने में असमर्थ हैं। एकमात्र मनुष्य ही प्रज्ञा की पुष्पमात्रा लेकर यहाँ से अनुचित लाभ उठाता हुआ प्रज्ञापराध कर बैठता है। इस की स्वतन्त्रता प्रज्ञापराध के कारण इसी के बन्धन का कारण बन जाता है। जब से मृष्टिक्रम चला है तब से अद्यायधि देवता-असुर-पितर-पशु, आदि किसी भी प्रज्ञान इश्वरीय मरय-नियमों का चलाहक नहीं किया है। कारण इस का यही है कि इनमें किसी में भी पुष्पमात्रा नहीं है अतः जब इन में से कोई भी ईश्वर प्रज्ञापति के प्रतिष्ठ नहीं है। एकमात्र मनुष्य ही इश्वरीय सम्पूर्ण सम्पत्ति प्राप्त कर नियति का अतिक्रमण करने लगता है—

“ता इमाः प्रज्ञास्तथैवापजीयन्ति, पथेनाथ प्रज्ञापतिन्पश्चात् । नैव देवा अतिश्रामन्ति न पितर, न पशव । मनुष्या एवैकैः इतिश्रामन्ति” (रस० १९.२१.१६, १७)

“इह-पितर-ममुरादि सब की अपत्ता इश्वरीय मात्रा की पूर्णरूप में सब के कारण, साथ ही में प्रज्ञाबल में अपथे मुक्ति का अधिप्राता यन्त्रन के कारण मानवजन उद्विग्नतम, अतः अब दुःख है”—यह आर्यमधेस्य (पुराण) का निरुक्त मिश्रित है। परन्तु प्रज्ञापराध अनित पाप्माओं से आकाश हाकर मुक्ति के स्थान में वह अपने आपका आर भी अधिक बन्धन में डाल जाता है।

पूर्व में विभूति को हमने पाप्मा के सम्बन्ध में जीव का धार्मिक धर्म कहा है, एवं पाप्मा के अभाव में उन्हीं को स्वरूप धर्म कहा है। इन विभूतियों के सम्बन्ध में इतना स्पष्टीकरण और कर समा चाहिए कि कुछ विभूतियाँ तो ऐसी हैं, जो पाप्मा के रहने, न-रहने, दोनों अवस्थाओं में स्वरूपधर्म ही बनी रहती हैं। एवं कुछ विभूतियाँ ऐसी हैं जो पाप्मा के रहने पर वे ही स्वरूप-धर्मरूप में परिवर्तित हो जाती हैं। जीवजग के विभूति-पाप्म-मग्न को बोधी रेर के लिए बोधिये। पहिल ईश्वरीय विभूति का विचार कीजिये। सबसे कम के अनुसार ईश्वर में २-१ (दोसी बिबासी) तो विभूति-कक्षाई हो जाती है एवं ७२ (बहुर) आत्म कक्षा हो जाती है। सम्पूर्ण सृष्टि से ईश्वर विराट् ३६४ (भीम सौ बीबन) सत्ताओं से कुछ घना नामकता है। आत्मकक्षाओं का दिग्वर्तन कराया जा चुका है। कबल-विभूति-कक्षाओं के नामों का उल्लेख कर दिया जाता है। इस ईश्वरीय विभूति के भी सामान्य विरोध रूप से दो विभाग हैं। इन में सामान्य विभूतियों २३१ (दोसी इकतीस) हैं विरोध विभूति २१ (इक्कीस) हैं। मनुष्य २२४ हो जाती है। इन में २३१ सामान्य विभूतियों की ईश्वर, जीव दोनों में समानता है, एवं २१ विरोध विभूतियों असाधारण हैं। इन में से कबल सामान्य विभूतियों का ही दिग्वर्तन कराया जाता है।

१-अथवा १२) — (विरुपास न्द ज्ञापय)

सब में पहिली विभूति 'अधि' है। असल प्राण का ही अधि कहा जाता है। यही विभूतिनक्षत्र 'अधि' तत्त्व—सृष्टि के मूल-प्रवक्तक हैं। इस अधि प्राण की एकविंशति—अथर्वि—सप्तविं—त्र्यविं—आदि अनेक जातियाँ हैं। “विरुपास इह अथर्वस्त इह धर्मीर वेपसः” (अथर्व १०।११।२) के अनुसार अथर्वि अधि प्राण अजन्त हैं परन्तु सृष्टि बना है १२ अधि प्राणों को ही ईश्वर की प्रधान विभूति माना गया है। आप धामिष्ठ कल्प-भर शास्त्र-अप्रहमि अधि विचरने अधि काम सुना करत हैं विरुपास कीजिये य सब मौलिक प्राणों के नाम हैं। यह अधि प्राण वेदमूर्ति है इसी आधार पर “अधिर्विद्वन्त्रः” यह कहा जाता है। जिस अधि प्राण का जिस विज्ञान में आर्षेष्टि से सर्व प्रथम साक्षात्कार किया जाति प्रकार किया प्रथम इच्छा यह विज्ञान इस अधि प्राण नाम से प्रसिद्ध होगया। वसिष्ठ आत्मन-विरवामित्रादि मौलिक अधिप्राणों के प्रथम ब्रह्मा विज्ञान ही वसिष्ठ-आत्मन-विरवामित्रादि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। इस अधि प्राण का—“करसगन्धस्पर्शस्त्वचमसतपसाधाम अष्टदशं प्राणतन्म” यह कल्प किया जासकता है। यह रूप रसादि से पूरक होता हुआ

रीत्य है, अतः एव यह जगह नहीं रोकता। एक ही बिन्दु (Point) में अनन्त प्राण समा सकते हैं। जिसे आप शक्ति (Force) कहते हैं, जोड़ी देर के लिए इसे ही आप शक्ति प्राण कह सकते हैं। प्राण मायात्मक शक्ति है। शक्तिपूर्ण पितर-देवता-आत्मन्, सगी प्राण है। परन्तु जो जो एक देवमूर्ति अमल प्राण है, उसे ही शक्ति कहा जायगा। इस शक्तिप्राण की विकास-मूर्ति इन्द्रिय सत्त्वा का 'इन्द्रियम्' भाग है। दूसरे शब्दों में अपौरुषेय देवमूर्ति स्वायम्भुव-असत् प्राण का ही शक्ति कहा जाता है। शक्तिपूर्ण का इसी शक्ति प्राण से सम्बन्ध है। इस बिन्दु का प्रदान करने है—ज्ञानतत्त्वप्रसार। हमारे आध्यात्म में इस इन्द्रिय सत्त्वा का जो शक्ति भाग होता है, वही 'शक्तिप्राण' नाम से प्रसिद्ध है। स्वायम्भुवसत्त्व ज्ञान दान ही शक्तिप्राण का शोभक है। बिना आत्मयत्नाभ्यास (देहाभ्यासनाभ्यास) के हमारा आत्मा कभी शक्तिप्राण से मुक्त नहीं होसकता। आगे की सम्पूर्ण विमूर्तियों इसी शक्ति विमूर्ति पर प्रविष्ट हैं अतः एव हम इसे मूलविमूर्ति कह सकते हैं। अब कुछ नहीं रहता, अब एकमात्र इमी असत्प्राण का साम्राज्य रहता है। वही भाग जाकर पितर-देवता का उपादान बनता हुआ चिरवस्तु का करण बनता है—(देखिए शां० ६।१।१)। इन विमूर्ति के प्रदान १२ वर्ण हैं।

२-पितरः (८)—

बिज्ञातीय अनेक, अथवा ही मौलिक शक्ति प्राणों के सांसारिक संयोग से उत्पन्न होने विमूर्तिष्ठान-पितरः—याना मौलिक अपूर्वभाव ही प्रितरः है। आने-आहितरस प्राण के सम्बन्ध से ही पितर को स्वरूप मिलाने होती है। वही पितर प्राण सैषुनी सृष्टि का प्रथम आरम्भक है, अतः एव इस पितर (आत्मा-आप) कहा जाता है। आगत प्राण सौम्य है, आहितरस प्राण आगे है। दोनों ही पारमेष्ठ्य वर्ण हैं। इन पारमेष्ठ्य वर्णों के सम्बन्ध से उत्पन्न, दूसरे शब्दों में शक्तिप्राण के सम्बन्ध से उत्पन्न इन पितरों की आठ जातियाँ हैं, जैसा कि आगे की पितरस्वरूपनिरूपणोपनिषत् में चित्तरास में वर्णनाया जाने वाला है। अथी प्रकार सृष्टि के लिए केवल यही जानलना पड़ता है कि 'अनेक शक्ति प्राणों के योग से उत्पन्न, सैषुनी सृष्टि का मूल प्रवर्तक परमेष्ठी-से सम्बन्ध रखता वाला मौलिक अप्रतिमिष सोम प्रदान वर्ण (आने व प्राणगर्भित सौम्यप्राण) ही प्रितरविमूर्ति है।

३-मसुरा: (६६)—

परमेश्वर में प्रतिष्ठित मृगु की मौम्बावावा का सम्बन्ध पितरों से है एवं मनावस्वरूप विभूतिलक्षण—मसुरतत्त्व—आप्य भाव का म मन्त्र मसुरों से । दूसरे शब्दों में आप्य पार मन्त्र पाण्ड का ही नाम मसुर है । यह मसुर प्राण संख्या में भी रचताओं से त्रिगुण है, एवं रूप में भी प्रबल है । कारण परमेश्वर के चमत्कार ही देवावास मूर्तिरूप सृष्टि का तत्त्व होता है । चर चरता ३३ हैं तो आप्य मसुर प्राण ३३ हैं । ये ही मसुर प्राण मातियों—बुद्धि, नमूनि, अरक, त्वष्टा विरूपाक्ष, विष्णु, ब्राह्मणी, आदि नामों से प्रसिद्ध हैं । एक प्रधान करना इस मसुर प्राण का मुख्य कर्म है । देवता यदि ज्ञान प्रदान हैं तो मसुर ब्रह्मवर्मा हैं । मसुर एवं पितर दोनों विभूतियों का ईश्वरीय सत्त्वा के दूसरे परमेश्वर विभक्त के साथ सम्बन्ध है ।

४-देवा (३३) —

परमेश्वर के अङ्गित नाम के मसुरा म मोम-मन्त्रद्वारा जो एक अतिविशेष प्राण विभूतिलक्षण—देवतत्त्व—स्वरूप होता है, वही शिवनाम् देवता नाम से प्रसिद्ध है । अङ्गित की चतावस्था अग्नि है तरणावस्था वायु है विरूपाक्ष आदित्य है । तीनों के आगे जाकर ३३ विभाग होजाय । जैसा कि पुनः के अङ्गित प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है । अग्नि-वायु-आदित्यमूर्ति इन ३३ गों प्राणरचताओं की विकासमूर्ति ईश्वरीय सत्त्वा का तीसरा विभक्त सृष्टि ही है । वही वस प्रजापति की चौथी विभूति है । इस देवप्राण को जो प्रबन्धों से अभ्यास का आरम्भक बनता है वही “देवप्राण” नाम से प्रसिद्ध है । अतिविशेषादि वस ही इस देवप्राण के निराकरणार्थ कथन मान गये हैं ।

५-मनुष्य: (४)—

सूक्ष्म संज्ञा के कर्म में रहने वाली वह विभूति जो बिगट्त्वरूप से अण्डज-पिण्डज-विभूतिलक्षण—मनुष्यतत्त्व—सौदज-तृप्तिज, इन चारों प्रजाधियों का अन्तर्गत बनती है वही “मनु” नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि आरम्भ के “अमृतसमिधानोपनिषत्” के मन्त्रान्तर निरूपण में विस्तार से बतलाया जा चुका है । अतः यहाँ पिछले पक्ष की व्याख्यानकता मही है ।

यहाँ कवच यानी समझना बस होगा कि, अबह आदि मेव से चार प्रकार का यह मनुष्य स्वर्ग की ही विभूति है। अनुस्वस्व ही मानव विषय की मूल प्रतिष्ठा है।

६-गन्धर्वाः (२७)—

सोमवस्व को आशुप्राण प्रधान असुरों के आक्रमण से सुरक्षित रखने वाला सौम्य विभूतिलक्षण-गन्धर्वतत्त्व—वायव्य प्राण ही गन्धर्व नाम से प्रसिद्ध है। गन्धर्व को आपस। प्राण का भी उपलक्षण समझना चाहिए। क्योंकि यहाँ गन्धर्व प्राण रहता है, यहाँ अपना प्राण अवश्य रहता है। गन्धर्व प्राण ही अपलसा-वलासिता का प्रवर्तक है। इस के २७ रूप हैं। इन सब का सम्प्रसा से सम्बन्ध है। अत एव गन्धर्व को इस आन्ध्रविभूति कहने के लिए सम्भार है।

७-ग्रहाः (४) —

आम्र सोम अकेलप से वायव्यान्तरिक में व्याप्त रहता है। वायु पात्र में प्रतिष्ठित यह विभूतिलक्षण—ग्रहोन्म—आम्र नाम ही “ग्रह” नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रह जिस वायु में प्रतिष्ठित रहता है, वहाँ वायु “ग्रहपात्र” नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रह सोम से ही ग्रहयाग निष्पन्न होता है। इस ग्रह तत्त्व की उपांशु-अन्तर्यामि-उपांशुमवन-मरुत्वतीय-एन्द्र-वायव्य-मैत्रावरुण-आदि ४ आतिथी हैं। यह एक प्रकार के गेहूँ हैं। इन्हीं के समन्वय वागन्म से विरचक मन्त्रालय है। शतपथ ब्राह्मण के चतुषकाण्ड में इन आत्मीयों ग्रहों का सुविशाल-सोमपतिक वैज्ञानिक मिरूपण हुआ है। इस एसा विरवास रहता है कि, जिस दिन भारतीय विद्वान् इन आत्मगिह्य वायव्य ४० ग्रहों को पहिचान कर इन से काम लेने लगे, उस दिन परिचम का गतकाण्ड इस म काण्ड में ही प्राप्त होजायगा। परन्तु आश्चर्यकवा है परीक्षा की। इस ग्रहविभूति का भी सम्प्रसा से ही सम्बन्ध है।

८-पशुवः (५) —

त्रिभुं शुचिषी पञ्चवरा अन्तरिक्ष, एकविंशतु, इन तीनों लोकों के अष्टाष्ट मार्गा के विभूतिलक्षण-पशुतत्त्व—समन्वय ३३ तन्म से जो एक अनात्मयाव अरम्भ होता है, वही पशु-विभूति है। इस पशुविभूति के ‘छन्दः-पोष-सतिल-अग्नि-अन्न’ भद्र से अनाम्यर पांच विभाग हैं। पाँचों ही पशु महाशुचिषी रूप पावाशुचिष्य हैं। इन पाँचों में जो आग्नि नाम का पशु है, उस के पुन-अवान्तर पाँच विभाग हैं। वे ही पाँचों आग्नेय पशु पुरुष-अन्न-गौ-अवि-अन्न, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। ये पाँचों ही पशु प्राणात्मक हैं। जिस प्राणी पशु में

त्रिंशत् प्राणपशु की प्रधानता रहती है, वह प्राणपशु इस प्राणपशु के नाम से ही स्वरूप होता है। इस कण्ठविमूर्ति का सम्बन्ध स्तौम्य त्रिकाकी रूप महाशक्ति से ही है। अतः वह वे ३२ पाँचों पशुप्राणों से कृत्स्नमा पाँचों प्राणी पशुओं का सम्बन्ध की वृत्ति होती है।

६-बीजाः (३)।—

संस्तुत जीव, अस्त-संस्त जीव, अस्तम जीव (जीव-जीव, मूल जीव-बाहु जीव), इन विमूर्तिसंस्तु-जीवतत्त्व—तीनों जीवों की समष्टिरूप जीव विवर्त ईश्वर की अस्तित्व विमूर्ति है। जीवमात्र ईश्वर की साक्षात् है, विमूर्ति है, ईश्वर के गर्भ में प्रसिद्ध है, विमूर्ति सम्बन्ध से ही ईश्वर जीवों में व्याप्त हो रहा है। वस्तु तीनों जीव भूविषय पर प्रतिष्ठित है, अतः ईश्वरीय सत्त्वा का अस्तित्व विवर्तरूप भूविषय की ही जीवविमूर्ति का आत्मन्वन माना जा सकता है।

इस प्रकार अमरा स्वयम्भू की विमूर्तिरूप १२ अग्नि, परमेष्ठी की विमूर्ति रूप ३३ पद ११ अमर, सूर्य की विमूर्ति रूप ३३ वेदना, एवं ४ मनु, अन्तर्यामी की विमूर्ति रूप २० गन्धर्व, एवं ४० मह, महाशक्ति की विमूर्ति रूप २ पशु, भूविषय की विमूर्तिरूप तीन प्रकार के जीव संज्ञान से कुल २३१ सामान्य विमूर्तियाँ हो जाती हैं।

सामान्य विमूर्तयः—

(१) — १२ — अमर }	→ स्वयम्भू
(२) — ३ — विवर्त }	→ परमेष्ठी
(३) — ३३ — अमर }	
(४) — ३३ — अमर }	
(५) — ४ — मनु }	→ सूर्य
(६) — २० — गन्धर्व }	
(७) — ४० — मह }	→ अन्तर्यामी
(८) — २ — पशु }	
(९) — ३ — जीव }	→ महाशक्ति
(१०) — ३ — जीव }	
(११) — ३ — जीव }	→ भूविषय
(१२) — ३ — जीव }	

२३१

सामान्यविमूर्तयः—२३१

- स्व० { १-श्रुपयः—“विरूपास इव श्रुपयस्त इदगम्भीरवेपसः ।
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्रे ॥परिब्रजिरे ॥”-श्रुत्सं० १०।६२३ ।
- पर० { -पितर—“त्वं सोम प्र चिकितो मनीषा त्वं शमिसुमनु नेपि पन्थाम् ।
तव प्रणीतो पितरो न इन्दो वषेयु रत्नमम्भस्त घोरतः ॥
—श्रुत्सं० १।३११ ।
- ३-मसुराः—“इन्द्रो वधीषो अस्वभिर्बु श्राप्यमतिष्णुत ।
अधान नवतीनेष (३६) ॥”-श्रुत्सं० १।८५।१३ ।
- सू० { ४-देवा—“इति सुतासो असवा रिशावसो च स्व अयरेच त्रिशङ्ख (३३) ।
मनोर्देवा अङ्गिरासः ॥”-श्रुत्सं० ८।३०।२ ।
- ५-मनवाः—“पुनस्तु मा वेदवना पुनस्तु मनवो विधा ।
पुनस्तु विरवा भूतानि पथमाव पुनातु मा ॥”-अथर्वसं० ६।१५।१ ।
- च० { ६-गन्धर्वा—“अप्सरसा गन्धर्वाणो युगाणो वरये वरम् ।
केतो केतस्य विद्याभसला स्वातुर्नेमिस्तमः ॥”-श्रुत्सं० १०।१३।६ ।
- ७-ब्रह्मा—“सुपथं विप्रः कथमो वचोभिरेकं सत्यं वक्ष्या कथयन्ति ।
इन्द्रांसि वजरा अप्यरेच ब्रह्मास्तोमस्य भिमते हावरा ॥”
—श्रुत्सं० १०।११।५ ।
- पू० { ८-पशुव—“तद् अत्र तव वसना पीकाय चिच्छवयति ।
त्वां वयन्ते पशुवः समासते समिद्धः पिशोरे ॥”-श्रुत्सं० ३।६।७ ।
- ९-जीवा—“वैशामाचक्षरावाम् कुमारी अथि भातरि ।
मिरेतु जीवी अकतो जीवी जीवन्वा अथि ॥”-श्रुत्सं० १।५।५ ।

अथ क्रमपात विरोध विमूर्तिषो का विचार कीजिए । ये विमूर्तिषो २६ मातों में विध
। इन्हीं विमूर्तिषो का संक्षेप से विगृह्यते करा दिया जाता है ।

१—विद्याविभूति (४)—

पहली सर्वात्मन विभूति विद्या है। इस का उद्भव सूर्य में होता है, अतः हम इसे सूर्य-विद्याचतुष्टयीलक्षणा—विद्याविभूति—विभूति मानने के लिए तय्यार हैं। सूर्यसंस्था में विपद्या—प्राज्ञ, ये दो विभाग हैं। इन में विपद्या भाग ज्ञानप्रधान बनता हुआ विद्याविभूति का अभिधावा बनता है। यही विपद्यात्मक विद्याभाग धर्म-ज्ञान-वैराग्य ऐश्वर्य, इन चार भागों में विभक्त होता हुआ विद्यात्मक ज्ञानम्बुविज्ञानमनोमय अम्बुबपुच्छ के प्रसाद का कारण बनता है। हमारे शत्रुओं में सौर विपद्या चतुष्टयी से अम्बुब का विद्याभाग विकसित होता है। अतः यह इस बुद्धिरूप विपद्या को “विद्याविभूति” कहा जाता है। जीवसृष्टि में जिसाजीव में इस चारों विद्याओं का पूरा विकास होता है, वह ईश्वर के समकक्ष होता हुआ अवतारपुत्र कहलाता है। जैसा कि अभिमुक्त करते हैं—

एश्वर्यस्य च समग्रस्य धर्मस्य यद्यस विद्याः ।

ज्ञानवैराग्ययोश्चैव पण्या भग इतीरिणा ॥१॥

उत्पत्तिं प्रलय चैव भूतानामागतिं गतिम् ।

वेति विद्यामविद्यां च स वाण्या भगवानिति ॥२॥

ईश्वर में विद्याभाग की प्रधानता है। चर बीज में विद्या के साथ माय वाण्या रूप अविद्या भाग का भी प्राबल्य रहता है। यही बीज का बीजत्व है। हमारे में ॥ (अध्यात्मसंस्था में) जो धर्म-ज्ञान-वैराग्य-परमार्थ भागों का उद्भव होता है वह एक मात्र ईश्वरविभूतिरूप विपद्यात्मक सौर विद्याभाग की ही महिमा है। इस विभूति के प्रसाद से जीवात्मा अविद्या—अस्मिता—रागद्वेष—अभिनिवेश रूप अविद्या चतुष्टयी के बाधरक्त स विमुक्त होता हुआ विपष्ट किम्बिध रूप कर मुक्त होजाता है। इस विद्या विभूति की प्राप्ति का उपाय है—उत्तुंगीय रूप से सूर्य की उपासना जिस का कि प्रकरण ज्ञान्बोम्बादि उपनिषद्ओं में विस्तार से बतलाया गया है। देखिए श्री च २ प्र० । “धीश्वते लक्ष्मीद्वय फल्ग्वी०” (पञ्च स ३१।२२) के अनुसार भी एवं लक्ष्मीपति सूर्यनारायण के अतिरिक्त दूसरा बीज ऐश्वर्य प्रदाता ‘य एवैव

आदित्ये पुरुषस्तमेपाहवृषासे' (कौ० व० ३।४।—“असङ्ख्योऽस्य पुरुषो न सञ्जतै, न व्यप्यजे, न रिप्यति” (बृ० व० ४।३।१७) इत्यादि रूप से उपस्तुत, विरह के प्रत्येक पत्रार्थ में उभाग्र रहते हुए भी सर्वथा असङ्ग-सौरविद्वान् सत्त्व के अतिरिक्त दूसरा कौन वैराग्यभाव का उदय कर सकता है। “धियो यो न प्रचोदयात्” (बज्र० २२।६, “प्रपी वा एषा पिया तपति” (शत० ५।०।१।७२) “त्रयीमयाय त्रिगुणोत्तमाने नमः” इत्यादि भीतस्मार्त्त सिद्धांशों के अनुसार त्रयीमूर्ति, अत एव ज्ञानमूर्ति, अत एव य सविता (प्रेरयिता-) प्राणात्मक सूर्य के अतिरिक्त दूसरा कौन हमारी बुद्धि में ज्ञानोदय कर सकता है। प्रकृति सिद्ध निवृत्ति भाव के मरुत्पातक, विरह-अप्यस्य, अत एव अक्षरमूर्ति ज्ञास्ता नियन्ता सूर्य के अतिरिक्त और कौन हमारी बुद्धि को धर्ममार्ग पर आरुढ़ रख सकता है। इस प्रकार सर्वस्मना यह सिद्ध होजाता है कि, सौरविपणा भाग ही ईश्वर की विद्याविभूति है एवं इस के धर्म-ज्ञान-वैराग्य एवम्बधे, ये चार पर्व हैं। साध ही में यह भी सिद्ध होजाता है कि, जीवात्मा में यह विद्या विभूति जन्मना, एवं उद्गीथोपासनारूप कर्मण उमयथा सूर्य में ही आती है।

२-कामविभूतिः (२)—

दूसरी है काम नाम की महाविभूति। आवश्यक मम में सम्पन्न रहने वाले मन का रेतो महाविभूतिरुत्पत्त्या—कामविभूति—रूप यह काम ही विरह का मूल है। इसी काम विभूति से ईश्वर प्रजापति सत्त्व-रस के आधार पर असङ्ख्यका प्रज्जिबन्धन कर सृष्टि के अपिष्टादा बन्त हैं एवं इसी काम से प्रज्जिबिमोक द्वारा गुणि के प्रवर्धन बन्त हैं। ईश्वर की इसी महा विभूति का प्ररूप बलशालि हुए रूपि कहन हैं—

कामस्तदग्र समवर्त्तापि मममो रतः प्रथम यदामीत् ।

ममो बभ्रुममति निरविन्दन् हः प्रतीप्या कवयो मनीषा ॥

—(चक्षु० १०।१०।४)।

“एको ह बहु स्थाम्” “स एषत-सोऽकामयत भूयान्त्स्या प्रजायेय” इत्यादि काम विभूतियों से ही ईश्वर प्रजापति विरह, एवं तत्प्रतिष्ठ प्रजोत्पत्ति में समर्थ हुआ है। इस काम की मूल प्रतिष्ठा अव्ययमन ६ जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इन त्रिप इस काम

क—“सिद्धि” ‘सुद्धि’ व दो रूप हो जाते हैं। मन रम-बलात्मक होन से वदमात्मक है। रसानुग्राहक काम मुमुक्षा (मुक्ति की कामना) है, बलानुग्राहक काम सिद्धि (सुद्धि की इच्छा) है। मुमुक्षावस निर्वर्णक पक्ष है सिद्धिवाचक प्रवर्णक पक्ष है। शब्दार्थ की जमिन मर्प्याह क अनुसार मुक्त का वाचक “कम्” है। मौक्तिक सृष्टि में निज अन्तर्मूर्त रहता हुआ भी मन स्वरूप स सबन्ध बन जाई। अत एव इस अक्षर मन क द्विप “अकार” का संकेत है। शब्दसृष्टि में ‘अकार’ कवठतात्पर्य क अधिप्रात से सबन्ध अक्षरसृष्टि रहता हुआ निरूप है। अक्षरानुसार ही प्राप्ति क द्विप कामना होती है। उदाहरण के द्विप जीव कामना को सामन रहता। हम जो भी विषय प्राप्त करना चाहते हैं वहिसे उस की क मना होती है। कामना विषय प्राप्ति का प्रथमद्वार है। बिना कामना के विषय प्राप्ति अशक्य है। इसी कामना से हमारा मन प्राणमय विषयमय (विषयकाराकारिण) बन जाता है। हम बौद्ध विषय स मन मुक्त का अनुभव करन लगता है, अत एव हम बौद्ध विषय की “कम्” (सुद्धि) संज्ञा रख लेते हैं। मन इस विषय में हवा रहता है। बायें ओर विषय अक्षर रहता है। दूसरे शब्दों में मन अक्षरगत विषय स धिया रहता है। इसी सिद्धि स्थिति का अन्त से रख कर अक्षिसे हम अनेकविध का “काम” शब्द स व्यवहृत किया है। काम शब्द की “क-अ-स-अ”—यह परिस्थिति है। कम् रूप विषय अकार रूप मन में आवे है, मन रूप अकार विषय रूप कम् में प्रवेश है। यही दोता का (मन-प्रब विषय का—अकार एव कम् का) ओतप्रोत भाव सम्बन्ध है। मुक्ताशमन ककार क आगे मनोमूर्ति अकार है। इस प्रकार कम् क मध्य में क-अ-म-हम रूप से अकार बैठे हैं (सुलक्षण विषय क मध्य में मुक्तमूर्ति मन बैठे है)। मुक्ताशमन अकार क आगे भी म-अ-हम रूप से मनोमूर्ति अकार बैठे हैं। इस प्रकार मन विषय क बाहिर यांतर, मन ओर अक्षर ही रहा है। इस क-म अ-को मन्त्रित सिद्ध अक्षरवा ही “कामः” है। ध्यान स्थिति, एक शिष्यी पहिले अपने परात्म में अधि कवित चित्र बनाता है। यही शरीर (कवर्ण) चित्र है। विषयरूप चित्र पहिले पन में प्रति छित होता है। यही हम का चित्रकाम (चित्रनिर्माणकाम) है। इसी काम रूप चित्र स यह हमें भौतिक रूप पता है। हम तब हम कह सकते हैं कि, काम में बौद्ध विषय प्रतिष्ठित रहता है। इस काम क काम और इच्छा व दो रूप है। इन में कामात्मक काम का इष्टरीय विमूर्ति स सम्बन्ध है, एवं इच्छात्मक काम का जीवविमूर्ति स सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में ईश्वर का

इच्छा "क्रोम" कहलाती है, जीव का काम "इच्छा" राज्य से व्यवहृत होता है। कामस्त्वेन शोतो समान होते हुए भी इनमें सम्बन्ध विभक्त तत्त्व हैं।

यदि विषय के साथ मन की आसक्ति होजाती है, तो विषय प्रधान बन जाता है मन गौण रहजाता है। दूसरे शब्दों में मन विषयमय बन जाता है। यही मन सुप्त है, विषय जाग्रत हैं। इस विषयासक्तिप्रधान काम को काम न कह कर हम "इच्छा" कहेंगे। इष्ट अन्न है, सम्पूर्ण—विषय मन के माध्य बनते हुए इष्टरूप अन्न है। आसक्तिवश मन इस इच्छा में सुप्त है। अब एक विषय में सुप्त, विषयाधीन मन ही—“इष्ट-विषयात्मकमन्न-सुप्त मनः”—“इष्ट-सुप्त स्तेते” के अनुसार “इच्छा” है। इसी विषयानुपनिषती इच्छा को “उत्थिताकाङ्क्षा” कहा जाता है। इच्छारूप यही काम आसक्ति का मूल बनता हुआ अन्न का कारण है। इस का सम्बन्ध एकमात्र जीव के साथ ही है। ठीक इस के विपरीत यदि अनासक्ति पूर्वक मन का विषय के साथ सम्बन्ध होता है, तो ऐसी अवस्था में मन प्रधान रहता है, एवं विषय गौण होजाता है। यही मन जाग्रत है विषय सुप्त हैं। इस अनासक्तिमूलक काम को हम—“काम” ही कहेंगे। ईश्वर में इसी कामविभूति की प्रधानता है। यदि जीवात्मा इस कामविभूत या अनुगामी बन जाता है तो शरीर यात्रा मिवाइक मात्र आगत विषय वस्तु के प्रधान मन पर कोई प्रभाव नहीं बना सकते। ऐसा काम अकाम है, ऐसे काम से कृत कर्म अकर्म हैं। यही इच्छा अनिच्छा, किं वा इच्छरेच्छा है। इसी को ध्यान भाषा में—“उत्थिताकाङ्क्षा” (स्वाभाविकी इच्छा) कहा जाता है। इस कामप्रधान अनासक्तिमूला इच्छा से हान बाधा अन्नादिति (विषय भाग) अज्ञान के गर्भ हैं, आत्मार्थ कर्म हैं, अब एक व अवस्थित हैं। इन के अतिरिक्त जो क म आसक्ति (न क बनत हुए विषय प्रधान बन जात है, व अज्ञ (आत्म) मन्नास से अहिभूत होत हुए अन्न का कारण बन जात है—“यस्मात्प्रातु कर्मणाऽन्यत्र लोकाऽय कर्मवर्धनः” गीता 18) निश्चयम गार्थ प्रात पुनुष्ठा लगना स्वाभाविक कामना है, उत्थिताकाङ्क्षा है। इस कामना के शान्त धरम के लिए विषय संयत् करना अवश्यन कर्म है। आप भाग्यन स गृप्त होगए। सामन पाठ वस्तु का दत्त कर पाठ ध्यान की दृष्टा हो पड़ता है। यही अन्नावाकाटका है, यही अन्न का मूल है। मूल अग्नी, भोजन कर लिषा, प्यास लगी, पानी पी लिषा, गरमी लगी पंखा चल लिषा बटे पैट धक गए, टहलन लग, व सब उत्थिताकाङ्क्षा मूलक अवस्थान कर्म हैं। बिना मूल स्वादवश सप्ता मद

में कुछ शक्तियाँ रह, बिना व्यास के ही सोदा-सेयन आश्चर्यहीन आदि को गले में लीचे जायेंगे रहे, बिना आचर्यकता के ही विद्युत् व्यवहारा (विद्युत् की पद्धति) से शरीर को चम्पित करते रहे, बिना भक्तान् के ही इतर सब भक्त रह, सोते रहे, वे सब अथावास्वाभूतक कर्म कर्म हैं। यमा इत्यादि काम विमूर्ति नहीं अपितु पाप्मा है। ईश्वर नित्य काम होता हुआ भी निर्लेप है। सब का काम निरुक्त है। अत एव — "कुर्वन्निवि न तिरस्ते"। वेसी काम विमूर्ति शरीर में सहज सिद्ध है। जीव में भी यद्यपि वह सहज सिद्ध है, परन्तु वहाँ बन्ध पाप्मा का बाध है, जो इस का सहजमात्र प्राकृत होमाया है। अतएव इस काम प्रवृत्ति से प्रकृत में नहीं है कि, ईश्वर का काम निरुक्त-मुमुक्षा इन ही मार्गों में दिव्य है। इन दोनों की प्रतिष्ठा श्रद्धासीयम नाम से प्रसिद्ध अम्भव मन है। इतर जीव के निरुक्ति काम की प्रतिष्ठा पुत्रिमुक्त मन है एवं प्रवृत्ति काम की प्रतिष्ठा विषय प्रधान मन है।

२-कर्मविमूर्ति: (७) —

मोक्ष विद्याभाग का निरूपण करते हुए हमने बताया है कि सूर्य में विषया-प्राप्त अनुष्ठानलक्षणा-कर्मविमूर्ति — नाम के दो कर्म प्रतिष्ठित हैं। "न दोनो में सक्रिय प्रकार विषया भाग विद्याविमूर्ति की मूल प्रतिष्ठा है, प्रथम प्रायमाण कर्मविमूर्ति की आत्म भाव है। सूर्यमात्र प्रतीक है। इसी वही प्राय का आधार पर स्तोत्र-मन्त्र रूप ब्रह्मकर्म का विधान होता है। मोक्ष अक्षर से ब्रह्मकर्म का, मोक्ष सामान्य से स्तोत्रकर्म का एवं मोक्ष अनुष्ठान से ब्रह्मकर्म का स्वरूप निष्पन्न होता है। स्तोत्र औदुगात्र कर्म है, शस्त्र औत्र कर्म है एवं महा आचर्यक कर्म है। अग्नि द्वारा शस्त्र कर्म, वायु द्वारा आचर्यक कर्म एवं आदित्य द्वारा औदुगात्र कर्म सम्पन्न होता है। इस प्रकार प्रकृति सत्त्व में (ईश्वर संस्था में) यह सब कर्म प्राकृत सूर्योदया पर प्रतिष्ठित है — "सैवा प्रया विद्या यज्ञः" (शत १ १३३) । कर्मप्रवृत्तिप्रकार ब्रह्म कर्म मोक्ष प्राय का प्रथम कर्म है। इसी कर्म से वह मोक्ष प्राय ब्रह्मकर्म सर्वपर रूप में परिणत होकर ही ही प्रजा का उत्पन्न करता है — "सहस्रा प्रजाः सृष्टा"। प्रकृति सत्त्व में जितने भी कर्म हैं उन सब में श्रेष्ठतम वही यज्ञ कर्म है। जिस ब्रह्मकर्म से प्रजोत्पत्ति होती है जो यज्ञ कर्म प्रजा का सिद्धि का कारण है, जो यज्ञकर्म ईश्वर का स्वरूप सम्पादक है, जो यज्ञकर्म समधि-

व्यतिष्ठ त्वं से सम्पूर्ण विरक्त में व्याप्त हो रहा है, इस यज्ञकर्म से बढ़ कर दूसरा कौनसा कर्म भेद होसकता है ? अत एव—‘इमे त्वोर्जस्ता धायवस्य देधो न्ना प्रार्पयतु भेष्टतमाय कर्मर्षी’ (यजुसं० १।१) इस मन्त्र का व्याख्यान करत हुए मगबाग माधवस्वयं न—
 “यज्ञो धं भेष्टतम कम्म-तस्मतदाह भेष्टतमाय कर्मर्षण” (शत० १।७।१।५) यह कहा
 है। इस यज्ञकर्म के अवान्तर अनेक सेव हैं, जिन का कि संक्षिप्त निबन्धन पूर्व की विद्या
 नोपनिषत् में किया जाचुका है।

सौर प्राण साधित्राग्निमय है। इस प्राणमूर्ति साधित्राग्नि में निरन्तर पारमहंस्य ब्रह्मस्वति
 सोम को आहुति हो रही है। इसी आहुति में सौरप्राणाग्नि प्रकाशित बन रहा है—‘स्व ज्यो
 तिषा पितृमा वक्ष्ये’ (ऋक्सं० १।६।१९२)। इस प्रकाशित प्राणाग्नि में पारमहंस्य आहुत सोम,
 एवं स्वयं प्राणाग्नि, इन दोनों का सम्मन्वय है। दूसरे शब्दों में सोमाग्नि का सम्मिश्रित रूप ही
 सौर प्रकाश है। यह प्रकाश ही इन्द्र प्र रापति की तपो विभूति है। सूर्य क्या तप रहा है, ईश्वर
 प्रजापति तप कर्म का अनुष्ठान कर रहे हैं तपश्चर्या कर रहे हैं। तपोमूर्ति यह सौर प्राण
 (सोममर्मित, अत एव प्रकाशित सम्बत्सरावच्छिन्न साधित्राग्नि) पृथिवी-बुध-मङ्गल-
 बृहस्पति-शनि-बेधसेना, आदि स्व-उपग्रहों के पोषण में प्रबलरूप से निरन्तर कार्य हो रहा
 है। वर्षों परमेष्ठी में यह इस में निरन्तर सोम आहुत होता रहता है। अत एव उपग्रह रूप बौद्ध,
 एवं तत्प ननिष्ठ प्रजाओं में प्रबल रूप से निरन्तर अपना प्राण समर्पित करता हुआ भी सूर्य
 स्वमात्रा से क्षीय नहीं होने पाता। बिना किसी स्वाधे के सूर्य इस प्रकार निरन्तर अपने प्राणों
 का कार्य करता रहता है वही सौर प्राण का दूसरा तप कर्म है। इस तपो रूप प्राणाग्नि
 में हमन सोम अत इन दो तत्वों का सम्मन्वय प्रवक्ष्यामि है। सोम मृगु है, अग्नि अक्षिरा
 है। भृगु-अक्षिरा का सम्मन्वय ही तप का प्रवृत्त है इसी आधार पर “भृगूणामक्षिरसां
 तपसा तप्यन्तम्” (यजुसं० १।१८) यह कहा जाता है। अपने प्रत्येक निरन्तर अम्योपयोग
 में कार्य करना ही तप है। इसी आधार पर तप का—‘एतद् तप इरपादुर्यन् स्व ददाति’
 यह लक्षण दिया जाता है। वही सौरप्राण सम्बत्सरा रूप में परिकृत होकर स्वयं तपो मूर्ति
 बनता हुआ मन्त्र को तपो रहा है। इसी तप के सम्मन्वय में ग्रीष्म ऋतु के दोनों मास (ज्येष्ठ-
 आषाढ) तप तपस्य नाम से अतिष्ठ है। सूर्य के इसी तपोस्वरूप को लक्ष्य में रख कर वाग्नि
 अति कहती है—

संभविमूला होजाता है। ऐसी अवस्था में ब्रह्म-तपो-दान तीनों इष्ट-आप्त-वत् इन रूपों में परिणत होजाते हैं। ये तीनों पारिविक कर्म्म हैं। बभ्रुवत्सु—“प्राणः प्रजानां हृदयस्थो सूर्यः” (परमोपनिषत्) इस ओर सिद्धान्त के अनुसार कर्ममात्र का प्रवचन सौरप्राण हो इ परन्तु पारिविकप्राण स आकाश होके पारिविकरूप में परिणत होना दुष्सा वह स्व विद्या भाग स विरहित हो जाता है। इसी आधार पर इष्ट-आप्त-वत् नाम की कर्मत्रयी को वैज्ञानिकों ने—“विद्यानिरपेक्षसत्कर्म” इस नाम स सम्बद्ध किया है। पृथिवी गृह (घर) है। पृथिवी का अग्नि—गृहपति इस स सम्बन्ध रखन वाल पारिविक कर्म्म इष्ट है। जल पूरित प्राकृतिक मत्त मरिचों का श्वर उबर बढ़कर प्रजा का पोषण करना, ओषधि। वनस्पतियों का परोपकाराव परिपक्व होना, ये सब “आपूर्ति” हैं। वृक्षजाला—पर्वत जम्बरा—आदि का सब भूमि रूप स पारिविक विवरों का दूसरों के उपभाग में आना ही वत् है। इन तीनों प्राकृतिक विद्या निरपेक्ष कर्मों के आधार पर क्रमशः प्रतिष्ठित पञ्चव्यापारि नित्यकर्म, एवं परमाग्नि स सम्बन्ध रखन वाल पाकपञ्च नाम से प्रसिद्ध गृहकर्म “इष्टकर्म” है। न कर्म शब्द सूक्त है। तापो-कूप-तडाग-धूम्रोष्ठाका-पाठशाला आदि बनवाना आप्त है। एवं अममर्षा को देना वत् कर्म है। आपूर्ति और वत्स का एवम् से सम्बन्ध है। इन तीनों हो पारिविक कर्मों में शास्त्र ज्ञान अव्योक्त है। सरस्वती के अवतम शत्रु, एवं सप्तमी के अतन्त्र मक्त भी इन तीनों कर्मों में निष्कृत व वत्ते जात हैं। ईश्वरीय मन्त्रा में ये तीनों पारिविक कर्म भी निष्काम भाव स सम्बन्ध रखत हुए अव्यक्त हैं। यदि जीव भी निष्काम बुद्धि स इन में प्रवृत्त होता है, तब या वह भी मुक्त ही होजाता है। आसक्ति का प्रधानता स ये ही तीनों पारिविक विभूतियों एकमात्र विवरणों प्राप्ति का कारण पतली है।

इन पारिविक कर्मों के विनि, अविति भेद स दो विभाग हो जाते हैं। अविति कर्म सप्त क म हैं, विधि कर्म सप्त प्रधान होने हुए अपवत् कर्म हैं। पृथिवी स सम्बन्ध रखन वाले विधि अविति दोनों विधियों का स्वस्व पूर्ण में विलीन से अवस्थाया जा चुका है। प्रकरण समन्वय के लिए करल इतना स्मरण करलमा चर्चाना होगा कि, सूर्य की आर रहने वाला मूमाग सौर प्राण सम्बन्ध स प्रकाशित रहता है जिसका भाग अव्यक्त शिष्ट रहता है। प्रकाशित पारिविक विवरों अविति है, अव्यक्त शिष्ट मूमागारूप पारिविक भाग विधि है। जबबुद्ध इष्ट-आपूर्ति-वत् कर्मों का सम्बन्ध अविति पृथिवी से है, एवं हिंसा तप—आकस्मादि तमोमय कर्मों का

उत्पत्तिविधि भाग से सम्बन्ध है। येसे कर्म “विद्यानिरपेक्ष असत्” कर्म कहलाते हैं। मादक वस्तु का सेवन—हिंसा—स्तय, ये तीनों कर्म इष्ट-आपूर्ति-इष्ट-के प्रतिद्वन्द्वी भाग हैं। दूसरे को बना जहाँ दत्त है, जहाँ दूसरे का ज्ञान ज्ञेया स्वेय है। दूसरे का पालन करना जहाँ आपूर्ति है, जहाँ दूसरे का नारा करना हिंसा है। अपने आत्माज्ञान को विकसित करना जहाँ इष्ट कर्म है, जहाँ मद्यादि मादक पदार्थों से अपने ज्ञान को विरोधित कर लेना अनिष्ट कर्म है। सूर्य उत्तर में है, उत्तरपक्ष स्वर्गपक्ष है।

“विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः पराहता ।

न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्यास्तस्त्वपरिवनः ॥”

यस्य तौ त सिद्धांत के अनुसार अपर्युक्त विद्यासाधेयप्रवृत्तिसत्कर्मोधिकारी उत्तर भाग रूप देवयान का आगम लेते हुए वैतुस्वर्ग में जाते हैं। विविधशक्त के अनुसार पृथिवी वक्षिणादिक् में मानी गई है। पवन सम्बन्धी (अदिति पृथिवी सम्बन्धी) विद्यानिरपेक्ष प्रवृत्तिसत्कर्मोधिकारी वक्षिणापन का आगम लेते हुए वितुस्वर्ग में जाते हैं। एवं विविध पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाले विरुद्धकर्मोधिकारी (विद्यानिरपेक्ष शास्त्रनिषिद्ध कर्मोधिकारी) तमोमक्ष नरक लोकों के अधिकारी बनते हैं। ईश्वरीय सरा में सौरकर्म—अदिति कर्म—दिति कर्म, तीनों ही अनासक्तिभाव के कारण विमूर्च्छित में प्रविष्ट मान किए जाते हैं। यदि देवीसम्पन्न देवीविमूर्ति है, तो आसुरीसम्पन्न आसुरी विमूर्ति है। सदसत् (अच्छा बुद्धि), मक्ष इस कर्म में निविष्ट है। इस का दोनों पर समान रूप से निमग्नता प्रकट है। इस प्रकार कर्मविमूर्ति के सम्बन्ध में इस कर्म के (ईश्वरमत्त्वा की अपेक्षा में, सौर यज्ञ तप-दान, अदिति पृथिवी से सम्बन्ध पार्थिव इष्ट-आपूर्ति इष्ट, दिति कर्म, साव कर्म) होजाते हैं। जीवसत्त्वा के ज्ञान से विभाजित होजाते हैं। इन ६ में ३ अन्य के तीन आवापधायक पाप्मा हैं। आर म के ३ मिश्रितपक्ष में ज्ञानमरूपा विमूर्तियाँ हैं। प्रवृत्तिपक्ष में संसाररूपा विमूर्तियाँ हैं।

जीवसत्त्वा के इन ६ विभागों में से विद्यासाधेय यज्ञ-तप-दान, इन तीनों की प्रतिष्ठा सूर्य है। विद्यानिरपेक्ष इष्ट-आपूर्ति इष्ट, इन तीनों सत्कर्मों की प्रतिष्ठा अदितिपक्ष पार्थिव-शुद्धमात्र है। विद्यानिरपेक्ष अनिष्ट-हिंसा-स्तय, इन तीनों असत्कर्मों की प्रतिष्ठा दिति

सुक्त पार्थिव कृष्णप्राण है। प्रकारान्तर मे यो समझिए। सूर्य को मन-प्राण-बाह्यम
बतलाया है। सूर्य की हम तीनों कक्षाओं से क्रमशः ज्ञान क्रिया अर्थ; का विकास होता है।
मन कल्पना का जनक है, प्राण विज्ञाप की प्रसिद्धा है एवं बाह् आचरण की जननी है। इन
तीनों का क्रमशः सूर्य-अद्वितिय अन्तरिक्ष दितिपृथिवी, इन मार्गों में विकास होता है।
स्वयं सूर्य मनःप्रधान होता हुआ ज्ञानप्रधान है। अतएव मौर कर्म विद्यासमुच्चय कर्म कह
जाता है। सत्य का ज्ञान स सम्बन्ध है अतः इस कर्मत्रयी का हम सात्त्विक कर्म कह सकते
हैं। अद्वितिय अन्तरिक्ष प्राणप्रधान, होता हुआ क्रियाप्रधान है। यहाँ विद्यामग गीत है।
अतएव इस अद्विती-कर्मत्रयी को विद्यानिरपेक्ष कहा गया है। तमोगुण का क्रिया से सम्बन्ध है।
अतः यह कर्म विद्वत् "रोजसकर्म" कहता सबसे है। दितिमय पार्थिव भाग बाह्यप्रधान
बतला हुआ अर्थप्रधान है। यहाँ विद्ययोह की प्रधानता है। अतएव इस कर्म का 'जसत्
कर्म' कहा गया है। तमोगुण का आचरणस्य बाह्यमय अर्थ से सम्बन्ध है, अतः इसे "तामस
कर्म" कहा जासकता है। इन तीनों में जो आत्मा की विमूर्तिथी हैं, तीमय विभाग इसर में
तो विमूर्ति, किन्तु बीच में पाया है। मन्-प्राण-बाह् तीनों ही त्रिवृतकृत हैं। अतएव प्रत्येक
कर्म तीम-तीन मार्गों में विभक्त होजाता है। कर्मविमूर्ति + का यही संक्षिप्त स्वरूप परिचय है।

१-विद्यासमुच्चितसतकर्म—

- १-मन् (मनोमय) - काममय }
२-प्राण (प्राणमय) - विद्यामय } सौरकर्मविमूर्ति (मनोमय सात्त्विक कर्म)
३-बाह्य (बाह्यमय) - आचरणमय }

— x —

२-विद्यानिरपेक्षमत्कर्म—

- १-इन्द्र (गन्धर्व) - काम }
२-आपुष (गन्धर्व) - विद्या } अद्वितिकर्मविमूर्ति (प्राणमय राजस कर्म)
३-वसु (बाह्य) - आचरण }

— x —

11

† इस तन्त्र का विषय विवेक गीताविद्यानामाप्तागर्तगत कर्मयोगपरहस्य का है प्रकरण में
देखा जाये।

३-विद्यानिरपेक्षासत्कर्म—

- १-अनिष्टम् (मनो०) - काम०
 २-ईसा (प्राण०) - विषेप०
 ३-स्तेयम् (बाह्०) - आश्रय०
- दितिकर्मविमृति (वाङ्मय तामस कर्म)

ईश्वरसंस्थापेक्षया विभूतिकर्माणि—सप्त (७)

- | | | | | |
|-----------|--|--------|---|------------|
| कौटिल्यम् | { १-अष्टकर्म
२-तपःकर्म
३-दानकर्म } | विभूति | { १-इष्टकर्म
२-आर्पणकर्म
३-वसकर्म } | १-दितिकर्म |
|-----------|--|--------|---|------------|

जीवसंस्थापेक्षया विभूतिकर्माणि—षट् (६)

- | | | | | |
|--------|--|--------|---|--------|
| विभूति | { १-अष्टकर्म
२-तपःकर्म
३-दानकर्म } | विभूति | { १-इष्टकर्म
२-आर्पणकर्म
३-वसकर्म } | विभूति |
|--------|--|--------|---|--------|

४-शुक्रविभूति (६)

शुक्र विभूति शुक्र है। जिस विभूति के द्वारा इश्वरात्मा चरित्र का उपादान करने में सफल होता है, वही शुक्रविभूति—समर्थ होता है, वही शुक्रविभूति है। यह शुक्र अमृत-सृष्टि, धन से दो मार्गों में विभक्त है प्रत्येक की पुनः तीन तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। संभूत ६ शुक्र हो जाते हैं। यही ६ वीं शुक्र विज्ञानमात्राये अमृतवाक-अमृतवापः-अमृतादि, मर्त्यादि, मर्त्य आप-मर्त्यावाक, इन मार्गों से प्रसिद्ध हैं। अमृत वाकशुक्र स्वयम्भूपुर का, अमृत आपशुक्र परमेष्ठीपुर का, अमृतादिशुक्र, एवं मर्त्यादिशुक्र दोनों सूर्यपुर के, मर्त्यादि

* इस विषय का विषय विवेक इति उपनिषद् विज्ञानमात्रायां स्तौत (प्रथमकाण्ड) अथर्ववेद
 महतिरूपस्य प्रकरण के 'शुक्रनिर्दिष्ट' प्रकरण में देखने का विशेष है।

एक चन्द्रपुर का, एवं सर्वे बाणग्रन्थ पृथिवीपुर का उपादान है। जब तक यह एकविंशति है, अभी तक एकमूला-विंशतिमूर्ति (संसार) है। बुद्धोपनिषत्सिद्धांत ही स्यात्कथा करवायी है।

— 0 —

५—प्राणविभूति —(१७)

पांच ही प्राणविभूति हैं। इस प्राणविभूति के तीन प्रधान विधर्त हैं। १. अन्नसंवायक प्रविष्टिचक्षणा—प्राणविभूति—अन्नप्राण है, २. देवसत्त्वात्मक देवप्राण है। साध साक्षर प्राण है। सम्पूर्ण १७ प्राण हो जाते हैं। स्वप्नसु स्वप्न है, इसका अर्कस्व सुखप्राण परीरकी है। परमेष्ठी स्वप्न है इस का अर्कप्राण बाह्य है। सूर्य स्वप्न है, अर्कप्राण ऐन्द्र है। अन्नप्राण स्वप्न है, अर्कप्राण सौम्य है। भूपितृ स्वप्न है, अर्कप्राण आर्मीय है। स्वप्नसु-परमेष्ठी आर्मी पांचों परों की सम्पत्ति अन्नसत्त्व है। अब एक एकविभूतिस्वप्न इन पांचों को हम अन्नप्राण कह सकते हैं।

स्त्रीमन्त्रिकाकी में प्रविष्टि सर्वज्ञ विरचनार्थ-वैश्वानरमूर्ति देवसत्त्वात्मक पर्विच है। इन में से सर्वज्ञ स्वप्न है इसका अर्कप्राण प्राण है। विरचनार्थ स्वप्न है, इन का अर्कप्राण अन्नप्राण है। वैश्वानर स्वप्न है, इसका अर्कप्राण अपान है। सर्वज्ञप्रविष्टिरूप २१ स्तोमा ब्रह्मिन्म गुणों से अन्तरिक्ष की ओर जाता हुआ दिव्य प्राण प्राण है, स्वप्न की ओर जाता हुआ बड़ी उपाय ? इसी प्रकार वैश्वानर की प्रविष्टिरूप विष्णुस्तोमाब्रह्मिन्म प्रविष्टि लोक से अन्तरिक्ष की ओर जाता हुआ पर्विचप्राण समान है, स्वप्न की ओर जाता हुआ बड़ी अपान है। इन प्रकार वायुप्राणक हो हा रूप हो जाते से हम पर्विच प्राण के पांच विभाग हो जाते हैं। यह देवसत्त्व का अर्क है अतः इन पांचों को “देवप्राण” कहा जा सकता है।

सूर्य में सत्त्वात्मक अविषाण का विकास कर होता है। सामान्य विभूति में। त्रिण अन्नप्राणकात्मक अविषाण का दिग्वर्तीकरण कराया गया है तब से यह ममपिण्ड सर्वज्ञ विभूति है। ४ अविषाण स्वप्नप्राण के पितामह स्थानीय हैं य साक्षर अविषाण देवप्राण के पुत्रस्थानीय हैं दूसरे स्थानों में ४ अविषाण विष्णुद्वारा स्वप्नप्राणों के अन्तर्गत है वे अविषाण स्वप्न व हैं। सूर्य स्वप्नप्राण है। यहाँ, इसी स्वप्नप्राण से हम साध सहपाठी विरच पाणों का विकास

होता है। इसी को उपनिषत् परिभाषा के अनुसार ब्रह्मप्रोण भी कहा जाता है। यही साकञ्ज सप्तर्षि, चापि नामों से भी पसिद्ध हैं। इन्हीं का विगुरान कराती हुई मन्त्रमुक्ति कहती है—

साकञ्जनां सप्तममाहुरेकञ्ज पठिष्यात् श्रपयो देवत्राः ।
 वेधामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेवन्ते विकृतानि रूपशः ॥
 —श्रुत० १।१६।१२।

अर्थांगुलिधमस ऊर्ध्वं बुध्नस्तस्मिन् यदो निहित विभ्यरूपम् ।

तस्यासत् श्रपयः सप्त सीरे बामष्टमी ब्रह्मणा संविदाना ॥१॥

—श्रुत० भा० १।१६।१२।

छम्पिकमानुसार अग्नि से पितर पितर से देवता उत्पन्न होते हैं। परन्तु यहां विपरीत क्रम है। सीर प्राणरूप देवता से इन साकञ्ज अग्निप्राणों का विकास होता है, अर्थात् पद इनके लिए 'श्रपयो देवत्रा' कह कहा गया है। स्वायम्भुव विभूतिरूप अग्नि असुवप्रधान वे, सीर विभूतिरूप ये अग्नि सत्युप्रधान होते हुए चिरय हैं। इन सार्वों में चार प्राण सदा मध्य में रहते हैं, दो प्राण ऊपर दोनों पार्वों में रहते हैं, एक प्राण सदा मुख में रहता है। इसी अभिप्राय से—'अद्वार आरमा, डौ पसी, पुच्छ प्रतिष्ठा' (श्रुत० १।१६।१६) कह कहा जाया है। प्रत्येक पदार्थ का सीर (पिण्ड) इसी सप्तर्षिरूप साकञ्ज प्राण के संस्थान पर प्रसिद्ध है। शरीर में सत्त्वा में सूक्ष्मप्राणप्रधाना सवैद्यसंस्था शिरोगुहा है। हिरण्यगमसंस्था उरोगुहा है। वैश्वानरसंस्था उदरगुहा है। भूपरक वस्तिगुहा है। इन चार स्थानों में समानरूप से हम साकञ्जप्राण की स्वतन्त्र स्थिति होती है। समूह चारों गुहाओं के १० प्राण हो जाते हैं। ये अहोर्दिवसों प्राण मृत्युविभूति हैं। पूर्वोक्त प्राणोदानादि पञ्चप्राण पार्थिव विभूति हैं, पञ्च अप्र प्राण ब्रह्मसरयुविभूति हैं। इनके अविरिक्त इन्हीं की अचान्तर विभूतियों से देवदत्त धनञ्जय हम चापि मेरु स अनन्त प्राण हो जाते हैं। कबल स्थानप्राण के ही ७२०० (बहसर उबार) मरु हो जाते हैं। इन प्राणविभूति के सन्बन्ध में अधिक विस्तार नहीं किया जा सकना। इस विषय की अधिक विज्ञप्ति रत्न बाबा को 'प्राणोपनिषत् (अभ्यासोपनिषत्) —हिन्दी विज्ञानप्राप्त' देखना चाहिए। प्रकृत में प्राणविभूति के सन्बन्ध में केवल यही आम लोग पर्याप्त होगा कि ५-ब्रह्माण्य ब्रह्मसत्त्वात्मा की ब्रह्मप्रोण देवसत्त्वात्मा की पद ७ गुना

प्रत्यक्षं सूर्य की विभूतिर्वा है। सम्मुख १७-प्राण हो जाते हैं। प्राणविभूति का भी संज्ञा दिग्विस्तार है।

—*—

५-ब्रह्मप्राणाः-ब्रह्मसत्यात्मनि प्रतिष्ठिता विभूतिरूपाः—

१-स्वायम्भुवार्कप्राणः-बरोरजा

२-पारमह्यार्कप्राणः-वायुः

३-सौरार्कप्राणः-केतु

४-चान्दार्कप्राणः-सौम्यः

५-सौम्यार्कप्राणः-आग्नेयः

—x—

६-देवप्राणाः-देवसत्यात्मनि प्रतिष्ठिता विभूतिरूपाः पार्ष्णिवा—

मार्गविधी-विभूतिः { १-सूर्ये प्रतिष्ठितः-गविमाचमुक्तो विभूतिप्राणः—प्राण
२-सूर्ये प्रतिष्ठितः-आग्निमाचमुक्तो विभूतिप्राणः—अपान
३-हिरण्यगर्भे प्रतिष्ठितः-गविमाचमुक्तः-आग्निमाचमुक्तः—अपान
४-वैश्वानरे प्रतिष्ठितः-गविमाचमुक्तः-पार्ष्णिवाप्राणः—समान
५-वैश्वानरे प्रतिष्ठितः-आग्निमाचमुक्तः-पार्ष्णिवाप्राणः—अपान

७-साक्षप्राणा-सूर्यात्मकमर्बज्ञ हिरण्य०-वैश्व०-मृषिषहेपु
तत्तद्गुहासुचितिरूपेण प्रतिष्ठिता सौरविभूतिरूपाः सौरा



४-आग्निप्राणा

२-पश्चमाक्षी

१-पुच्छप्रतिष्ठाप्राणः

७-साक्ष साक्षप्राणाधिरवा

—x—

६—ज्ञान कर्मेन्द्रियविभूति —(५)

इस ६ वीं विभूति का सम्बन्ध बहुवचनित केवल पार्ष्णि अग्नि के साथ ही सम्बन्धित है। वीमनयाशासावनलक्षणा क्षाम-कर्मेन्द्रियविभूति—चाहिये। वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वेश्वर मूर्ति ईश्वर आत्मा है। अन्तर्यामि इस का प्रधानमन है, सूर्य इसको मुख है, परमेष्ठी इसका यज्ञरत्ना है, स्वयम्भू इसका आत्मा है, चोबरा इसका प्राकम्बल आत्मा है। अब सब विचर्य इसमें सर्वों के स्वों (चोबरा) प्रतिष्ठित हैं तो अवरुध हो ज्ञानकर्मेन्द्रियों का भी यहाँ सम्बन्ध मानना पड़ेगा। मानना क्या पड़ेगा, है ही। यदि ईश्वरसंस्था में ज्ञानकर्मेन्द्रिय विचर्य न होता, तो बीजसंस्था में इन्द्रियों का विकास असम्भव था। अब देखना यह है कि, त्रिमूर्ति देव सत्त्वात्मा इस साक्षी ईश्वर की इन्द्रियों का स्वरूप कैसा है? ईश्वरवत्त्व भूपिवरु के आचार पर प्रतिष्ठित महापृथिवी में प्रतिष्ठित है। भूपिवरु यदि अर्थाभिधोममय है, तो यह पृथिवी (स्वीम्ब त्रिलोकीरूपा महापृथिवी) अमृताभिधोममयी है। इन दोनों की एकता, एक, मेद स दो दो अवस्थाएँ हैं जिनका कि विगृह्यमान पूर्व में बताया जा चुका है—(देखिए पृ० संख्या ३२३)। पूर्व की प्रायविभूति में ब्रह्मसत्त्वात्मा भूतपञ्च ब्रह्मप्राण नाम से प्रसिद्ध जिस भीम आत्मैव प्राण का शिखर्यमान कराया गया है इसी की वन-तरु-चिरक, मेद से तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में एक ही अग्नि-आग्नि बाहु, इन्द्र इस तीन स्वरूपों में परिचित हो रहा है। एक कल्पाभिध की तीन कल्प वन रहे हैं एक साहसी की तीन साम्रज्ञियों वन रही हैं, एक आत्मा प्रियव वन रहा है। भूपृष्ठ से आरम्भ कर ३३ वें स्तोम तक का वचस्कार मन्त्रब्रह्म भूतप्रधान होता हुआ परमेष्ठी है—“अथमेव परमेष्ठी”। इस भूत परमेष्ठी के गर्भ में समस्त भूपिवरु प्रतिष्ठित है—“अस्ते भूमिरिय भिता”। (गोपबन्ध्याय)। यह भूत पारमेष्ठ्य वत्त्व सोम है। ऐसी अवस्था में यह सिद्ध हो जाता है कि भूपृष्ठ से अवस्था भूकेन्द्र से आरम्भ कर ३३ तक सोमपरावत है। इस सोमपरावत के त्रिभुजस्तोम तक कल्पारूप अमाभिर्मूर्ति सहायमात्रापन्न वैश्वानरात्मा प्रतिष्ठित है, सोमपरावत के पञ्चदश स्तोमपर्यन्त कल्पारूप वरुणाभिर्मूर्ति सहाय मात्रापन्न चर्बक प्रतिष्ठित है। इन तीन स्तोमों में तो कल्पाभिधयी प्रमाण है, सोम गर्भ में है। अतः इन तीनों को अग्नि शब्द से ही व्यवहार कर दिया जाता है। आगे के त्रिष्वध प्रवक्षिषा (२०-३३-७) नमो स्तोमों में सोम की प्रधानता है, यहाँ अग्नि गर्भ में है। अतएव सोमहवा बन्धित्यम इव अग्निगर्भित सोम लोक को—“अस्ति वै अतुर्यो दयलोक आवा” इत्यादिरूप में सोमलोक ही नाम दिया जाता है। यही स्तोमलोक अन्तर्यामि की प्रतिष्ठा है। इसी आचार पर

वेद्यगणना में—“अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रश्च” यह क्रम माना गया है। चान्द्रसोम विद्वत् से पुत्र होकर कालमूर्ति बना हुआ है, एवं प्राणमिन्द्रश्च क्रियामूर्ति है। इस प्रकार पञ्चसंख क्रिया चतुर्मेव तन्वाप्रसोममूर्ति इस वेद्यसंस्थाया में सोमरूप अर्घ्य, विद्वद्रूप ज्ञान, प्राणरूप क्रिया तीनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इन तीनों के प्रधानरूप से ५ विभक्त हो जाते हैं। तीनों ही गन्ध पाँच भागों में विभक्त होकर प्रविक्षित हो गई हैं। इनकी पूर्वोक्त तन्वाबला को १५वें भागमा ॥ एवं इन पाँचों की अर्कवत्त्वा इन्द्रियों हैं। पाँचों का ज्ञानांश ज्ञानेन्द्रियों है, प्राणांश कर्मेन्द्रियों है। दूसरे राशियों में सूत्रप्राणगमित ज्ञानांश ज्ञानेन्द्रियों है, ज्ञानगमित प्राणांश कर्मेन्द्रियों है प्राणजालगमित सूत्रप्राण सूत्रमात्रारूप इन्द्रियों के विषय हैं। अर्क की पाँच अर्क स्थानों के कारण ज्ञान-प्राण-सूत्र, तीनों की पाँच पाँच अर्कस्थाप्य हो जाती है। संमुख पन्द्रह कलाएँ हो जाती हैं। इन १५ हों का अविष्टावा यही अन्त्य रचसंस्थाप्ता है,—“बोद्धव्यकलु वा इह सर्गसु” ।

अग्न्याग्नि में जो स्थान अग्निमिन्द्र का है, वही वही सोमगमित आग्नेय अर्कस्थान है। दूसरे राशियों में वही ईश्वर की अग्निमिन्द्र है। वही वाक् नामों की अग्निप्राप्ती है। अग्निमिन्द्र के आमार पर ही नाम विभक्त प्रविक्षित है। प्राण (प्राण) स्थानीय सोमगमित वाक् अर्कस्थान है। वही गन्धमात्रा का, एवं स्वरा के आलम्बन है। चतुर्स्वातीय सोमगमित आदित्यार्कस्थान है। अर्क का अग्निप्राप्ता यही है। इन्द्रियमन्तत्वातीय अग्निगमित मन्त्ररक्षी अग्न्यार्कस्थान है। सोमस्थानीय अग्निगमित तन्वात्सी अर्कस्थान है। दर्शनगमित ११ इन्द्रियों का इन्द्री पाँच में अन्त्यमार्ग हो जाता है। मन्त्राव्यवस्था वही पाँच अन्त्यमिन्द्रों है, प्राणायाम्येरेण ये ही पाँच कर्मेन्द्रियों हैं। संमुख १० इन्द्रियों हो जाती हैं। ईश्वर में इन इन्द्रियों का सर्वोत्तम विकास है। जोमाया निवेन्द्रिय है ईश्वर सर्वेन्द्रिय है। इसका कारण इसकी पूर्णता ही है। ईश्वर वर्तुल है। सर्वोत्कृष्टाकारमुक्त कला के वर्तुल में से सभी शक्तियों आरो और समानरूप से निवृत्त होती है। इत्यन्तरीर का प्रत्येक अवयव सत्त सत्ता है, वेद्य सत्ता है, बोध सत्ता है, गन्धमय्य कर सत्ता है। वस बोधेश्वर की इन्द्रियों में वही वेद्य है। इन्द्रियों के सर्वोत्तम विकास के कारण ही वह सर्वज्ञ-सर्वकर्मज्ञ-सर्वशक्ति-सर्वविद्य, इत्यादि नामों से व्यञ्जित होता है। इसी ईश्वरीय इन्द्रियमात्र का स्वकीकरण करती हुई भुक्ति करती है—

सर्वतः प्राणिपाद यत् सर्वतोऽधिशिरोमुखम् ।

सर्वत भुसिन्ऋतेके समीमास्त्य तिष्ठति ॥

साथ ही मैं वह भी स्मरण रखना चाहिये कि, आपके (जीव के) शरीर में अक्स कान, नाक, आदि इन्द्रियों का अपना आकार है, उसकी इन्द्रियों का वैसा आकार नहीं है। दूसरे शब्दों में वह आप वैसा शरीर नहीं रखता। इसका शरीर अर्थात्-गोलाकार है। उसमें शक्ति रूप से ही इन्द्रियों का विकास है। इसी अभिप्राय में शक्यपेठया ईश्वर की वासिष्ठा-वांछि रूप इन्द्रिययुक्त मानसी हुई भी अति इसे आकारमय के अभावे के कारण प्रतीतिपाव-वतला रही है—

अपाविपदो बभूवो गृहीता पशुस्यपुष्टः स प्रयोत्पक्याः
स वेत्ति वेद्यं न च पशुपास्ति वेत्ता, समाहुरग्रंथं पुल्य महात्मम् ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रियविविधित्वम् (श्लो ३१४५)
जीर्णो ॥ ३२ ॥
सर्वस्य प्रसूरीधानं सर्वस्य धरणं पृथक् ॥

सोमपावक-	(३३) ५-अभिगमितो-उक्तपाप (आत्मा)	सर्वत्र	उक्तपापितोममृतिः आत्मा (मुक्तपाप)
	(३०) ४-अभिगमितो-उक्तसोम (आत्मा)		
	(३१) ३-सोमगमित-उक्तपापस्य (आत्मा)		
	(३२) २-सोमगमित-उक्तपापस्य (आत्मा)		
	(३३) १-सोमगमित-उक्तपाप (आत्मा)		

आयुर्वेद-संग्रह	(३३) ५-आयुर्वेदसंग्रहगमित-अर्थात् (माया)-आयुर्वेदसंग्रह	आयुर्वेदसंग्रह	आयुर्वेदसंग्रह
	(३२) ४-आयुर्वेदसंग्रहगमित-अर्थात् (माया)-आयुर्वेदसंग्रह		
	(३१) ३-सोमार्कपावगमित-अर्थात् (माया)-आयुर्वेदसंग्रह		
	(३२) २-सोमार्कपावगमित-अर्थात् (माया)-आयुर्वेदसंग्रह		
	(३३) १-सोमार्कपावगमित-अर्थात् (माया)-आयुर्वेदसंग्रह		

मृतमात्रा ५	प्रश्नमात्रा ५	प्राश्नमात्रा ५
१-विकसोमो — विकसूर्ति, सौम्यविदरा प्रश्ना — विकसौम्यप्राश्न प्राश्नः		
२-मास्वरसोमो — मास्वरसौम्यविदरा प्रश्ना — मास्वरसौम्यप्राश्न प्राश्नः		
३-पेम्बसोमो — पेम्बसौम्यविदरा प्रश्ना — पेम्बप्राश्न प्राश्नः		
४-वावम्बसोमो — वावम्बसौम्यविदरा प्रश्ना — वावम्बप्राश्न प्राश्नः		
५-वाम्बेसोमो — वाम्बेसौम्यविदरा प्रश्ना — वाम्बेप्राश्न प्राश्नः		
अर्थः	ज्ञानम्	क्रिया
अर्थो मृतप्रतिष्ठा	अर्थोपारे अभ्यवृत्तिः	अर्थोपारे कर्मप्रवृत्तिः

येकशक्यो देवसत्त्वामा-ईश्वर

७-पूर्णोन्मत्तविभूतिः (१) —

पूर्वोन्मत्ता ईश्वर की विभूति है। इसी पूर्णता न इस "आत्मकाय" बना रहता है। इसी सर्वव्यापित्वका-पूर्णोन्मत्तविभूति — आत्मकायना से वह कामचल रहता हुआ भी निष्काम है। ईश्वर की इसी पूर्णता से स्त्रीपुरुषाद समाविष्ट है। अपने अहं भाग से वह मुक्त बन रहा है, अहं भाग से रक्त बन रहा है। सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-वैश्वानर की सन्धि ही ईश्वर है, वह पाठक में पूरे होगे। ईश्वर का रोवली त्रिलोकी के अभिष्ठावा कृष्णवज्रावृत्ति के साथ ही सम्बन्ध है। इत्येव ईश्वरा प्रोक्तसन्धि है। इन १२ वाक्यों में ही आत्मस्वरूप समपद, आत्मा मायाविवादा जेड, एवं जेड, सर्वगुण अक्षरबान प्राक् ही "इन्द्र" नाम से प्रसिद्ध है। वह इन्द्राक्ष (सीत्याय) कूर्माक्षि में परिणत होकर ही सम्पूर्ण विश्व का समग्र बनवा है — पठते कर्ण करण प्रश्ना असुम्न, यदसुम्न-अकरोत्तत्, यदकरोत्तत्मात् कूर्माक्षि कस्पवाये कूर्मः। तस्मादाहुः सवाः प्रश्नाः काश्यप्य "इति" (शत ७५१५५)। 'काश्यपात् सकल अयत्'। इसी सीर प्राप्ति इन्द्राक्षि करण प्रजापति के गर्भ में, वरुण हा पूर्ण ईश्वर तरव प्रवेष्टित है। सीरप्राक् हा तो सप्तसरस्व में परिणत होता है। आत्मात्मा प्रजापति ही वो ईश्वरोव देवसारव प्रजापति है।

इह-करण प्राक् के इन्द्राक्षि-अद्वयमण्डल, जेड से हो विभाग है। किसी निरा वरुण प्राक् में आत्मा अहं हा प्राप्ति। वहो चारों ओर का भूतल आत्मा को समग्र प्रसिद्धाई

वेगा, सांभ ही में चारों ओर का हरिश्चन (चितिके-Horizon) आकारा से संक्षिप्त दिखाई देगा । यही हरिश्चन करवप प्रजापति की साक्षात् प्रतिकृति (चित्र) है । जैसा स्वरूप कूर्म (कछुप) का है, ठीक वैसा ही स्वरूप करवप का है, अतः एव इसे 'कूर्म' नाम से व्यवहृत किया गया है । इस सौर संस्थात्मक करवप किंवा कूर्मप्रजापति के चारों ओर पारमेष्ठ्य अपूर्वत्व स्थापित है । दूसरे शब्दों में वायुमूर्ति सम्बन्धरात्मक करवप समुद्र गम में प्रतिष्ठित है । इसी विज्ञान को करवप में रक्त कर यन्त्रप्रति कहती है—

अथा गम्भन्तसनसीद मा एवा सूर्वोऽभिताप्सीन्माग्निर्वैश्वानरः ।

अभिहन्तपद्माः प्रजा अजुवीक्षस्तानु एवा *दिव्यो हृदि सचन्ताम् ॥

—(बभ्रुः १३।१०)

आपोमह-चतुर्ध्र कोक के गर्भ में प्रविष्टित त्रैलोक्यमूर्ति इस करवप प्रजापति का त्रिपुत्र स्वासीय त्रैपानप्रमितसप्त पार्श्विकरस वृत्ति (पत्र) है, पञ्चदशस्वासीय हिरण्यगार्जनापुमप आ-प्यदिव रस घृत (तरुण) है, एकविंश स्वासीय सर्वज्ञ आदित्यमप हिर्यरस मधु (विरक्त) है, एवं एवं पारमेष्ठ्य रस अमृत (सोम) है । अग्नि भाग से द्वयारे अस्ति संसादि कम भागों का, आम्बरिश्च घृत रस से मेघ-मज्जा-कण्ड-काका-असृग्-रस-आदि तरुण भागों का, दिव्य मधु रस से शुक्र का, एवं पारमेष्ठ्य अमृत रस से मन का निर्माण होता है । इन्हीं चारों रसों से ही करवप प्रजापति प्रजा विमर्शात् में समर्थ होते हैं । यही अवरवा अहरथ मरुद्वैत्य कूर्म प्रजापति की है । दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि, अहरकूर्म से अह स्वरूप संपादिका अविति के सम्बन्ध से सूर्व की प्रधानता है, एवं अहरथ कूर्म से रात्रिस्वरूप संपादिका विति के सम्बन्ध से चन्द्रमा का सोमत्व है । इस प्रकार जगोक्तारमक (आकारा गेतात्मक) करवप सर्वज्ञ भुविष्ठ के मन्त्र पठित होने से दो भागों में विभक्त हो रहा है । ऊपर के अह कटार में सौर अग्नि की प्रधानता है, अजोऽमृत्स्विन् अवर कटार में चान्द्र सोम की प्रधानता है । एक ही आबहप्रजापति अग्नि-सोम की प्रधानता से दो भागों में विभक्त हो रहा है । इस का अग्निमुख्य पञ्चभाग पुरुष है, सोममुख्य पञ्च भाग स्त्री है । आया इन्द्र प्राण अग्निप्रधान बन कर पुरुष बन रहा है आया इन्द्र प्राण सोमप्रधान बनता हुआ स्त्री कहला रहा है । दोनों की समष्टि पूर्वोक्त रूप करवप प्रजापति है । इस के इसी वाग्धर्य स्वरूप का निकटवर्त करवा हुआ मानव शास्त्र कहता है—

सु प्रज्ञा में यह निश्च जाग्रत रहता हुआ मया एक ही अवस्था में युक्त है। परिच्छिन्न वस्तु को अनेक लक्ष्णाओं में परिचित होने का व्यवसर मिल सकता है, परन्तु जो पूर्ण है, एक रह है, वह किस प्रदेश में परिचित हो। फलतः इस में अपरिवर्तनमात्ररूपरूप एकात्म्यस्थ सिद्ध हो जाता है। इसी विभूति का निरूपण करती हुई उपनिषद् कहती है—

य एषु सुप्तेषु जागर्षि कामं कामं पुरुषो निर्म्मिमाण ।

सदेव गुह्यं सर्वमसूतमुच्यते ।

सर्वमन्लोकाः भिता सर्वे तदु नास्तेति कश्चन “एतद्” चत् ।

(कठ० ५८) ।

११-१२—विश्वव्यापकत्व, एव विश्वसृष्टत्व—(२)

अपनी ज्ञान-क्रिया-वर्ध शक्ति से यही सम्पूर्ण विश्व को (स्त्रीम्य त्रिलोकी रूप पार्विष विश्वव्यापकत्व, विश्वसृष्टत्व विभूति—विश्व को) उत्पन्न कर आत्मरूप से सब में प्रविष्ट हो रहा है। सम्पूर्ण भूत इन्में प्रविष्ट हैं, सब भूतों में वह प्रविष्ट है अत एव रवेता रवरादि ने इसे “सर्वभूतान्तरात्मा” कहा है। “प्रज्ञापति सर्वमसृजत, यदिद किञ्च । स आत्मन्नेव (आत्मनि-एव) प्रजातिमयत्त” । इसी शोनों विभूतियों का उल्लेख करती हुई श्रुति कहती है—

अनाद्यनन्त कठिलस्य मये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।

विश्वस्यैक परिवष्टितार ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपात्रैः ॥१॥

—रव० ७० ५।१३ ।

१३-१४-१५—“सर्वसाक्षित्व, सर्ववशित्व, एव कर्माध्यक्षत्व—(३)

पुरुषोत्तमा के प्रभाव से ही यह अपम विश्व, एवं प्रज्ञा को प्रत्यगात्मरूप में साक्षी सर्वसाक्षित्व, सर्ववशित्व, कर्माध्यक्षत्व विभूति—जनता द्वारा साक्षीसुवर्ण नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। यही प्रत्यगात्मरूप स शरीरकारमा (मोक्ष सुपण) की प्रविष्टा जनता द्वारा अमृतव्यामी रूप से अपन नियतिर्व्यक्त से इस पर शासन करता हुआ “वसी” (वरा ।

रखने वाला) बन रहा है। यही नियति द्वारा हमारे कर्मों की प्रवृत्ति का कारण बनता हुआ कर्मोपदेश बन रहा है। इन्हीं दोनों विभूतियों का स्वरूप परिचय कराते हुए श्रुति कहते हैं—

एका देव सर्वभूतेषु गूढः सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्मभिन्नो सर्वभूताधिवास साक्षी चेता कवलो निर्गुणश्च ।
एको वशी निष्कषयार्णो बहुनामेक बीज बहुधा यः कराति ।
तमात्मस्य येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं चाश्रयं मतरेयम् ॥

—श्व० उप० ६/११/१२ ।

१६-पाप्माससृष्टत्त्व—(१)

ईश्वरसत्त्वा के स्वर में ही सबसत्त्व सब कुछ प्रतिष्ठित हैं। पाप्माओं से संसृष्ट जीव भी पाप्मोऽससृष्टस्व विभूति—इसी के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं। परन्तु निःकाम कर्म के प्रभाव से सब में रहता हुआ भी वह इन पाप्माओं से दूबद्ध रहता है। क्लेशादि पाप्मा इस पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते। यही तो ईश्वर की ईश्वरता है—‘पश्य मे योगमैश्वरम्’। इसी विभूति का स्पष्टीकरण करते हुए—“क्लेशकर्मविपाकाद्यैरपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वरः” यह कहा जाता है।

—०—

एक विभूतिओं से कुछ अग्नि-वायु-आदित्य की समष्टि रूप अथवा अग्नि-वायु-आदित्यवत् रूपानुवृत्ति इसी सर्वभूतान्तरात्मा बैरवानर-हिरण्यगर्भ-सबजन्मसि माझी देवसत्त्वात्मा का समग्र रूप से निरूपण करते हुए श्रुति कहते हैं—

अग्निर्भूद्वा भक्षुषी अन्त्रघ्न्यो विद्यः शीघ्रं वाग्बिभृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणा हृदयं विधमस्व पद्भ्यां पृथिवी क्षेप सर्वभूतान्तरात्मा ॥१॥
तस्मादग्निः समिधा पश्य सूर्यः सोमात् पर्जन्य औपधय पृथिव्याम् ।
कुमान् रेव सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसृताः ॥२॥
तस्मादस्य साम यजूंषि दीक्षा यज्ञोश्च सर्वं कृतवो दक्षिणाश्च ।
सहस्ररश्मयश्च यजमानश्च सोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्य ॥३॥

सर्वभूतेषु देवा बहुधा सम्प्रसृतो साध्या मनुष्या पशवो घ्रासि ।
 प्राणापानौ ग्रीहियथौ सपञ्च भर्ता सत्य ब्रह्मचर्यं निधिश्च ॥४॥
 सप्तप्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्ताक्षिप समिध सप्तहोमा ।
 सप्त इमे लाका येषु चरन्ति प्राणा गुहाश्रया निहिताः सप्त सप्त ॥५॥
 अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात् स्पन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।
 अतश्च सत्त्वा ओषधयो रसश्च येनैव भूतेस्तिष्ठन्ते ह्यन्तरात्मा ॥६॥
 पुरुष एवेद विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
 एतद्यो वेद निहित गुहायां तोऽविद्यामन्यि विकिरतीह सोम्य ॥७॥

(सुखक० ११)

- १—अग्निर्धैको ह्यन प्रविष्टो रूप रूप प्रतिरूपो बभूव ।
 एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूप रूप प्रतिस्यो बहिश्च ॥८॥
- २—वायुर्धैको ह्यन प्रविष्टो रूप रूप प्रतिरूपो बभूव ।
 एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूप रूप प्रतिरूपो बहिश्च ॥९॥
- ३—सूर्यो यथा सर्वलाकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुर्धैकोऽपि ।
 एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकादु खेन बोध ॥१०॥

नित्याऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेका बहूनां वा विदधाति क्रामान् ।
 तमात्मस्य येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिं श्लाघती नेतरेषाम् ॥११॥
 तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्य परम सुखम् ।
 कथं नु तद्विधानीयां किमु भाति विभाति वा ॥१२॥

— ० —

पूरे में जिस आत्ममय्या का सामान्य विभूति ब्रह्मचो का, एव विराट् विभूति
 चक्षुषो का दिग्दर्शन करावा गया है, यदि इन सब का संकलन किया जातो है, तो इन्द्रमय्या

में निम्न लिखित क्रम से ३२६ कक्षाएँ हो जाती हैं। इन के सम्बन्ध में जो यह ध्यान रखना चाहिए कि, यह संख्या व्यवस्था सर्वथा नियत ही नहीं है। अन्तर्गत भी विभूतियों भी अन्तर्गत ही हैं। उनकी गणना कौन कर सकता है। ब्रह्मदेव के लिए इस की एकमात्र उद्भूति विभूति की ही सीमाएँ। सामान्य दृष्टि से "एको रुद्रः" के अनुसार वहाँ रुद्र उस की एक विभूति मानती गई है, वहाँ रुद्र को दो अन्तर्गत विभूतियों के सम्बन्ध में "असंख्यपाताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूयाम्" यह कहा जाता है। अतः सन्धान में—"सहस्रपा मोहिमान सहस्रम्" इत्युक्तविमूलक 'सर्षमिदमानन्तम्' इनो सिद्धान्त पर विषय मानना पड़ता है।

१-आत्मकलाविभागा —(७२)

१-पराररकला	}	अक्षमात्रा
२-अक्षयकला		
३-अक्षरकला		
४-आमक्षरकला		
५-आमकला	}	अकार
६-आयकला		
७-पयकला	}	अकार
८-पयकला		

३२-कला अक्षयविभूतिपरवत्परि
रेखसंख्या-मापी

२-सामान्यविभूतिकलाविभागा —(२३१)-(देखिए पृ० सं० ३४०),

३-विशेषविभूतिकलाविभागा —(५१)

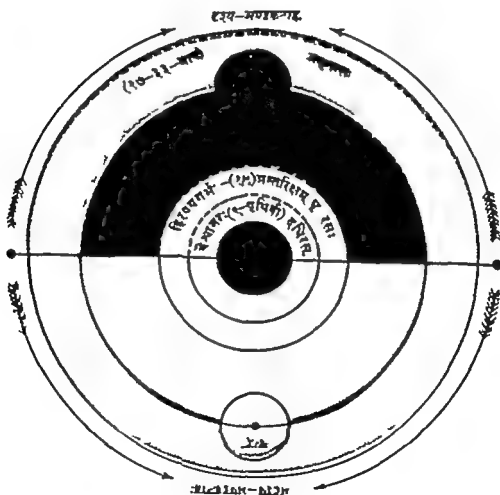
- १-विषयविभूति—(४)।
- २-कामविभूति—(३)।
- ३-कर्मविभूति—(३)।
- ४-गुणविभूति—(३)।
- ५-प्राणविभूति—(१५)।
- ६-ज्ञानविभूति—(१५)।
- ७-पुरुषविभूति—(१)।
- ८-सत्यविभूति—(१)।

- ९-पुरुषविभूति—(१)।
- १०-पुरुषविभूति—(१)।
- ११-विषयविभूति—(१)।
- १२-विषयविभूति—(१)।
- १३-सर्वविभूति—(१)।
- १४-सर्वविभूति—(१)।
- १५-सर्वविभूति—(१)।
- १६-सर्वविभूति—(१)।

(५१)

पूणेन्द्रविभृतिरूप, कड्यपप्रजापति पश्यक साक्षी

मामगर्भितमावित्राग्नि—अह—पुरुष (अदितिमण्डलम्)



(अह—अह) (अह—अह)

Sl. No.	Particulars	Amount	Particulars	Amount	Total
1
2
3
4
5
6
7
8
9
10
11
12
13
14
15
16
17
18
19
20
21
22
23
24
25
26
27
28
29
30
31
32
33
34
35
36
37
38
39
40
41
42
43
44
45
46
47
48
49
50
51
52
53
54
55
56
57
58
59
60
61
62
63
64
65
66
67
68
69
70
71
72
73
74
75
76
77
78
79
80
81
82
83
84
85
86
87
88
89
90

इश्वरीय विभूतियों का विगौरन समाप्त हुआ। अब क्रमशः वैश्वानर-सैजस-
पारपात्री मोक्षात्मा—प्राज्ञ भूति मोक्षा जीव की विभूतियों, एवं पाप्मनों का संहित
 निरूपण कर इस प्राग्भात्मविज्ञानोपनिषत् को समाप्त किया जाता है। जीवात्मा एक पथिक
 है। उसे कष्टकापीण अनेक मार्ग पार करने पड़ते हैं। अपनी प्रज्ञापराधमूला असावधानी
 से वह पथभ्रष्ट बनता हुआ लक्ष्यस्थान (ईश्वरीय अगत) में पहुँचने में असमर्थ रहता है।
 पात्री यात्रा करने वकाही नहीं जाता, अपितु यात्रोपयोगी अनेक उपकरणों को साथ लेकर,
 ध्यान पीन की सामग्री (पाथेय) जुटा कर, सब प्रकार का प्रयत्न करके ही यात्रा करने निक
 सता है। इस जीवपात्री का भौतिक शरीर रथ है। ज्ञान-कर्मोन्निर्वाण अथवा धाँड़ है।
 प्रधान मन प्रग्रह (जगाम) है। बुद्धि सारथि है। भाषणा वासनात्मक संस्काररूप कर्म-
 फल ज्ञान पीने की सामग्री है। इन यात्री का बुद्धिरूप सारथी यदि सावधान रहता है, तो
 वह सारथी समारूप जगाम से इच्छिन्न रूप अर्थों को उत्पन्न नहीं जाने देता। अपितु साथ
 पानी के साथ यात्री को ठीक लक्ष्य स्थान पर पहुँचा देता है। यदि सारथी असावधानी कर
 बैठता है तो उस के हाथ से जगाम (मन) छूट जाती है, थोड़े बिगड़ जाते हैं, रथ टूट जाता
 है, यात्री लुप्त बिकल होता हुआ पथभ्रष्ट होजाता है। ऐसी अवस्था में इस यात्री का सब स
 प्रधान, एवं प्रथम यह आवश्यक कर्तव्य होना चाहिए कि, वह सदा अपन बुद्धिरूप सारथी
 के हाथ में मनोरूप जगाम को सीपे रहे। यदि जीवात्मा का कर्म बुद्धिपूर्वक होता है, तो वह
 कभी वन्धन में नहीं पड़ता, कभी पथभ्रष्ट नहीं होता। यही कर्म बुद्धियोग है। इस में मन
 बुद्धि के बरा में रहता है। यदि कर्म मनःप्रधान बन जाता है, तो बुद्धि निर्यस्त होजाती है।
 आत्मा का मन के साथ योग होजाता है, बुद्धियोग बिच्छिन्न होजाता है। ऐसा यात्री कर्म
 कर्म पर नहीं पहुँच सकता। ऐसे जीव की क्या परिस्थिति होती है ? इस प्रश्न का समाधान
 करते हुए महाभाग कहते हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भाषणा ।

न चाभाषयतः क्षान्तिरक्षान्तस्य कुतः सुखम् ॥

इस निदशम से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि मन-बुद्धि-इन्द्रिय, इन सब
जीवात्मा की विभूतियाँ—स योग साधन हैं। मोक्षा जीव पश्यति है, मन्त्रब्रह्म

मन-बुद्धि इन्द्रियों प्राणायामादीय ज्ञान से पाये हैं। एवं इस पारा द्वारा मान्य जिन परलौकिक पारलौकिक भागों का भाग करता है, व सब योग्य विषय पश्ये हैं। भोगस्व पश्य (सामान्य विषय) बन्धन के कारण नहीं, अपितु पाप्मा बन्धन के कारण है। इतर भी सम्पूर्ण विषय, एवं विरचयका का भाग करता है, परन्तु विभूति द्वारा। जीव भी यदि विभूति को प्रदान करा ही माग करता है, तो वह भी इतरवत् कभी बन्धन में नहीं पड़सकता। अब हमना यह है कि, जिस विभूतियों से जीव भोगरत रहता हुआ भी निमित्त रहता है, व विभूतियों कीवसी हैं। एवं जिन पाप्माओं के कारण यह पद हा जाता है वे पाप्मा कौन हैं ?

इतरसंस्था में ७२ आत्मकलाओं से अतिरिक्त २२१ तो सामान्य विभूतियों बतलाई गई हैं, एवं २१ विशेष विभूतियों बतलाई हैं। वही वह भी कहा गया है कि, २२१ सामान्य विभूतियों जीवरत में समाप्त हैं। अतः उन का विषयपण कान की प्रकृत जीव प्रकरण में कार्य आचरणकता नहीं है। शेष २१ विशेष विभूतियों के संस्थान में अन्तर है, वह भी कहीं कहीं। एकीकटाहन्त्याय से पहिले इन विशेष विभूतियों का ही विगृह्यन करा दिया जाता है।

जीव में प्रधान रूप से विद्या, काम, कर्मे, शुक, प्रायः शान्तेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय, व सात विभूतियों हैं। सोचों में स पहिले विद्याविभूति को ही लीजिए। इस के जन्म कोण से ही सूर्य द्वारा जो विषया भाग आलस्यार्थ सम्बन्ध में प्रतिष्ठित रहता है वही इस की विद्याविभूति है। इस के अन्ते-ज्ञान-वैराग्य एतद्वत्, व बार विषय हैं, जैसा कि ईश्वरीय विद्याविभूति प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। वरि निष्कामभाव है, तब ही यह विद्यावस्तुष्टी सम्बन्धितक का कारण बनती हुई विभूति है। सकामभाव में वही विद्या स आश्रुत होकर अमूर्त हो जाती है। उस अवस्था में जीवप्रमा अपनी इस विद्याविभूति को बैठता है।

दूसरी है काम नाम की महा विभूति। बुद्धिपूर्विका स्वभावकालका ही काम विभूति है। ईश्वरात्मा में यह विभूति अव्यय मन से सम्बन्ध रखती भी, एवं जीवसंस्था में इस कामविभूति का आन्तः प्रमाण (सर्वेन्द्रिय मन) से सम्बन्ध है। वही विशेषता है। वरि इस मन की कामना बुद्धिपूर्विका है तब ही वह अवस्थान का कारण बनती हुई कामरूपा विभूति है। वरि बुद्धि का प्राधान्य नहीं है विषय की प्राधान्य है तो एही वरत्ता में वह काम

विमृति पत्र से व्युत्पन्न होता हुआ 'इच्छा' रूप पाप्मभाव में परिणत हो जाता है, वैसे कि वामविमृति प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। तीसरी विमृति कर्म है। इसका उदय सूर्य के प्राण भाग में होता है। तीन कर्मों और हैं तीन पार्थिव हैं। ६ ओं निष्काम भाव में विमृति हैं, सकाम भाव में वे ही पाप्मा हैं। चौथी विमृति शुद्ध है। इस क सम्बन्ध में बिरोध पक्षक्य है। ऐहिक-आमुष्मिक, भद्र स कर्मकलाप दो भागों में विभक्त है। शाण्डिन्य-रोन्य-सेवा-मित्र्य-कला-संगीत, आदि मांसारिक कर्म ऐहिक कर्म हैं। यज्ञ-तप-दान-इष्ट-आर्पण-दत्तादि-आमुष्मिक हैं। एक का फल प्रत्यक्ष दृष्ट है, दूसरे विभाग का फल भुवि सिद्ध मात्र होने से आनुभविक है। ऐहिक कर्मों का फल हमें इसी लोक में मिल जाता है। हम इन कर्मों का फल इसी शरीर से, यहीं देख सकते हैं, अतः एव प्राधानिक दर्शन ने इन लौकिक कर्मों के फल को "दृष्ट" नाम से व्यवहृत किया है। परन्तु—“ज्योतिष्टोमेन स्वर्ग-कामो यजेत” इत्यादि शास्त्रीय अनुष्ठानमन्त्रों से सम्बन्ध रखने वाले पारलौकिक कर्मों का फल इन शरीर से न मिल कर परलोक में मिलता है। यह फल केवल मुक्त हुआ है। कर्म केवल मुक्त होने की वस्तु है। अतः एव उक्त दर्शन में यह “आनुभविक” (मुक्त हुआ) नाम से सम्बोधित हुआ है। केवल अतिवचन को मुक्त कर उसी पर विरवास कर के स्वर्गादि मुक्त साधक कर्मों में हम प्रवृत्त हो जाते हैं। इन चारों प्रकार के कर्मों का मूल है भावना-वासना संस्कार। आत्मा ज्ञानकर्ममय है। “ज्ञायते, अयं च किञ्चित् क्रियते” के अतिरिक्त हमारे समीप अन्य हीसरी सम्पत्ति का अभाव है। उन में न ज्ञान द्वारा आत्मा पर (प्रज्ञान मन्त्र न अनुग्रहीत कर्मात्मा पर उस में भी विरोध प्रज्ञा भाग पर जो क्षाणीय संस्कार होता है, वही भावना नाम से प्रसिद्ध है। यह कर्मजनित संस्कार वासना नाम से व्यवहृत हुआ है। भावना-वासना संस्कार की चित्ति (समृद्ध) ही विज्ञानभावा में “बीजचित्ति” नाम से प्रसिद्ध है। यही बीजचित्ति जन्म-मृत्यु की मूल प्रविष्टा है। उन दोनों चित्तियों में भी कर्ममयी बीजचित्ति ही प्रधान है। यह कर्म आत्मा में प्रक्रम, अमिक्रम रूप से प्रतिष्ठित रहता है। एक एक कर्म प्रक्रम है कर्मों सम्बन्ध अमिक्रम है। ब्रह्महर्षार्य पाककर्म को लीखिए। पृथ्वी-इक्षु-दीपञ्जलाका-फूटकार-स्थाला-चटाना, आदि पाक कर्म के साधक अथवा अथ सव कर्मों (प्रत्येक) एक एक स्वतन्त्र प्रक्रम है। इन अनेक प्रक्रम कर्मों से पाक कर्म

रूप एक अभिप्रेत कर्म का स्वल्प निष्पन्न होता है। तैमिनि दर्शन के अनुसार कर्त्तृत्व कर्म प्रक्रम है, पुष्पार्थ कर्म अभिप्रेत है। अनेक क्रमवध कर्मों से एक पुष्पार्थ कर्म का स्वरूप निष्पन्न होता है। चौपाटी के मैदान से हम बिक्टोरिया गाढ़न जाते हैं। एक तैर उड़ते हैं, दूसरा आग पकते हैं। हम से एक एक पाद बिम्बास (पाँचडा) एक एक प्रक्रम है, ऐसे ऐसे अनेक प्रक्रम मिल कर गतिरूप एक अभिप्रेत रूप महागति का स्वरूप निष्पन्न होता है। इसी महागति के आधार पर—‘हम मात्र बिक्टोरिया गाढ़न गये थे’ से अक्षर निकलते हैं। इसी प्रकार भाजन-श्रवण-पान-पठन-पाठन, आदि प्रत्येक कर्मों का प्रक्रम अभिप्रेत रूप हो हो व्यवस्था से आकाश समझना चाहिए। अनेक प्रक्रम गति से अनेक अभिप्रेत कर्मों वासना रूप से अभिसरावश पर प्रतिष्ठित रहते हैं। हम सब अभिप्रेत कर्मों की समष्टि को “कर्मव्यूह” कहा जाता है। निर्बुध क्रिया आत्मा आगत, एवं अतीत कर्मों से मुक्त हो सकता है। हमारे शब्दों में बुद्धिबोगानुवाची आत्मा ज्ञानाग्नि के प्रभाव से सञ्चित कर्मों को नष्ट कर आत्मतुल्य कर्ममरुतों का द्वार अवच्छेद कर विवृष्ट मुक्ति का अधिष्ठापन कर सकता है। परन्तु जो अभिप्रेत कर्म पक्का है, उस का तब तक रूप असम्भव है जब तक कि तद्गुण सम्पूर्ण प्रक्रम कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता है। यही कर्म “प्रारम्भ कर्म” कहा जाता है—“प्रारम्भकर्मणा भोगादेव ध्रुव”। हाँ जो मुक्तमाना होते हैं वे अभिप्रेत (प्रारम्भ) कर्म पक्का भोगता हुए भी तत्प्रति प्रत्यक्ष, बुद्ध्यादि से जल दृष्ट रहते हैं। इसी कर्मविज्ञान को कर्म में रक्त कर भगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यङ्गया न विपत्ते ।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य प्रापते महतो मयाम् ॥ (गी० २४)

१. यद्यपि यह ज्ञान कर्ममय त्रिज भावना-वासना-व्यक्तियों की मध्य मृत्यु चक्र का कारण बतलाया गया है उन दोनों का क्रमशः व्यक्त संसार एवं अव्यक्त प्रकृति से सम्बन्ध है। भावनात्मक कर्म व्यक्त संसार की ओर ल जाता है भावनात्मक ज्ञान अव्यक्त प्रकृति की ओर आकर्षित करता है। एक ऐह्यौकिक प्रकृति का कारण है, दूसरा पारलौकिक प्रकृति का हेतु है। दूसरे शब्दों में एक दृष्ट है दूसरा आनुभविक है। परिणाम में दोनों ही दुःख के मूल हैं। यदि धर्मात्मिक, निष्काम कर्मरूप, बुद्धिबोगानुवाची, ज्ञानभोग के द्वारा हम वासना भावनात्मक शक्ति को मर्द कर दिया जाता है, तो आत्मा व्यक्त संसार, एवं धर्मिक प्रकृति,

शरीरों से धृष्ट होता हुआ उस व्यक्ताव्यक्त से परे रहने वाले अव्यय पुरुष में क्षीन हो जाता ।
इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर सर्वश्री ईश्वरकृष्ण कहते हैं—

दृष्टदानुभविकं स ह्यविशुद्धसंयोग्ययुक्त ।

तद्विपरीतः श्रयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञाविज्ञानात् ॥ (सांख्यकारिका २)

कहना यह है कि, दृष्ट-पूर्व आनुभविक कल स सम्बन्ध रखने वाले, एहिकामुम्भिक भावना वासनारूप विषयसंस्कार ही जीवार्त्मा के पुनः पुनः होने वाले जन्म मृत्यु के कारण हैं । इस उपादान कारणात्मा के सम्बन्ध से ही इस संस्कार पुञ्ज को “शुक्र” कहा जाता है ।

पृथिवी का मूल भाग, दूसरे शब्दों में पार्थिव भौतिक संघ त ही वासना का कारण है । अतः इस इस शुक्रविभूति को पार्थिव विभूति मानने के लिए तैयार हैं । इतर सम्पूर्ण विभूतियों की मूल प्रतिष्ठा भी शुक्रविभूति है । शुक्रविभूति ही काम की अमनी है । इस के बिना जन्म नहीं, जन्म के बिना इतर विभूतियों का उदय असंभव । इस शुक्रविभूति के साथ ऊष्मा का भी सम्बन्ध रहता है । शुक्र को पार्थिव कहा गया है । उपर पृथिवी में रहने वाला अग्नि चित्त—चित्तेनिधय मेव से दो भागों में विभक्त है । चित्ताग्नि मूल है, चित्तेनिधेयाग्नि प्राण है वही ऊष्मा है । मूल भाग वासना का जनक है, प्राणभाग ऊष्मा का प्रसवक । दोनों परस्पर में नित्य सम्बद्ध हैं । इन दोनों में प्रधानता ऊष्मा भाग की ही है । जब तक शरीर में गर्मी प्रतिष्ठित रहती है, तभी तक शुक्र स्व स्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है । जिस समय ऊष्मा इतकान्त हो जाती है, उस के अव्यवहितोत्तरकाल में ही यह शुक्र भी जन्मान्तर का कारण बनने के लिए शरीर से इतकान्त हो जाता है । “शुक्र” अग्नि भावक । वही वायु-रूप शोक का जनक है । सम्भव शुक्र भी जन्म सृष्ट्युत्पन्न शोकाखेव का ही प्रसवक है । जब तक शुक्र है तभी तक जीव जीव है । वृत्ति शुक्र के आधार पर ही जीव का स्वरूप प्रतिष्ठित रहता है अतः एव इस के दुःख मूल होने पर भी (जीवापेक्षया) इस विभूति मान लिया गया है । जो विज्ञान् निष्काम भाव से आत्मज्ञ की उपासना करते हैं व ही इस संस्काररूपा शुक्ररूपी का अतिव्यग्न कर मृष्ट होने का अधिकार प्राप्त करने में समर्थ होते हैं—‘उपासते पुरुष ये दक्षामास्ते शुक्रमेव ददतिर्धन्वन्ति धीराः’ ।

पाँचवीं विभूति प्राण है । इस के ७-सौरगुहाप्राण, ३ मज्जाप्राण, ५-देवप्राण पर स १० विभक्त हैं जिन का कि स्वरूप परिचय इक्षरीय प्राण विभूति निरूपणावसर में बताया जा

सुखा है। इनमें से गुहायाणात्मक साकम्ब प्राण शरीर की चारों गुहाओं में समाज
क्रम से प्रतिष्ठित हो रहे हैं। अप्वात्म में इन के १८ विभागों का स्पष्ट विकास है। अतः यहाँ
सात के स्थान पर (संख्या क्रम के अनुसार) हम १८ गुहा प्राण मानेंगे। पंथरवा-वाह
आदि पाँच ब्रह्मप्राण हैं, प्राणादानादि पाँच देवप्राण हैं। समूह १८ प्राण होना चाहिए।
गुहाप्राणचतुष्टयी का संस्थान क्रम इतिहास-द्वे प्राण दोहों नोज विवरों में, दो प्राण दोहों
नासा विवरों में, दो प्राण दोहों चक्षुर्गोष्ठको में, एक मुख में प्रतिष्ठित है। सातों में ६ सङ्कु हैं
कोढ़के हैं, सातवाँ मुख स्वाधीय प्राण यकाकी है। यह समस्त क्षिरोगुहा का संवाहक है। दो
हान, दो स्वन दो कुत्सुस्त, द्वयव, इन सातों में वृसरा समस्त प्रतिष्ठित है। वह सप्तक
सुरोगुहा का सञ्चालक है। यकृत् (जिगरी), प्लीहा (तिल्ली), दो क्लीम, दो हृत्क, नाभि, इन
सातों में तीसरा सप्तक प्रतिष्ठित है। यही उदरगुहा का सञ्चालक है। दो मोखी, मूत्र-प्रेतसी
दो अपक, गुद, इन सातों में चौसरा सप्तक प्रतिष्ठित है। यही वस्तिगुहा का संवाहक है।

१-७-वीं विमूनि ज्ञान-कर्ममित्रियाँ हैं। स्वात्मसुख-पारमेष्ठ्य-सौर-पार्विच-मायतत्त्व
क्रमशः चित्त-प्राण रश्मि-प्राण, विषया-माय, भूत-प्राण इन नामों से प्रसिद्ध हैं। एवमेव
बाम्प्र प्राण प्रज्ञा-प्रज्ञ मेर से दो मार्गों में विभक्त है। प्रज्ञा भाग सोम के कारण ज्ञानप्रधान
है। प्राण भाग क्रियाप्रधान है। ज्ञानक्रियात्मक प्रज्ञा-प्राणसमस्त बाम्प्ररस औपधियों में प्रति
ष्ठित होता है। औपधियों पार्विक मूल से उत्पन्न हुई हैं। पञ्चव औपधियों में प्रज्ञा-प्राणसमस्त
बाम्प्र रस एवं पार्विक मूल भाग की सत्ता सिद्ध हो जाती है। पञ्चकण्य औपधिरूप अन्न
शरीरान्तर में आहत होकर रस-मज्जा के कर्मिक विशाकसान से अमृता रस-अमृत्-मौल-मद-
अस्ति-ममदा-शुक्-ओज-भातुओं में परिणित होता हुआ अमृतत्व अपने विशुद्ध रूप से
'अमृती' रूप में परिणित होता है। इस प्रकार प्रज्ञा-प्राण-मूलमय अन्न से उत्पन्न इस मन में
भी इन तीनों कक्षाओं की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इन तीनों में से पार्विक मूल भाग-
माम, गंध, रूप, स्पर्श, अन्तरस, कर्म्य, सुखदुःख, आनन्द इति प्रजाति, इच्छा, धी-
भरत इव भागों में विभक्त है। दूसरे शब्दों में मूल मात्रा १ है। इन के सम्बन्ध से ही
प्रज्ञा-मायात्मक मन को भी अर्कत्त्व से १ भाग में विभक्त हो जाता प्रकटा है। वृत्त १० सौ
मूलमात्राओं में से गंध-रूप-रस-स्पर्श-धी-सुखदुःख, इन पाँच मात्राओं का प्रज्ञा
भाग से सम्बन्ध है, शेष कर्म्यप्रधान हैं। ज्ञानप्रधान भाग शान्तिमित्रियाँ हैं, कर्मप्रधान भाग

कर्मेत्रियो हैं। भोग-स्वप्न-चक्षु-जिह्वा-प्राण, ये ज्ञानेत्रियो हैं। वाक्-पाणि-पाद-पायु उपर्य य पांच कर्मेत्रियो हैं। प्रज्ञाभाग प्राण में जोत है, प्राखभाग प्रज्ञा में जोत है। इसी तादात्म्य, य को लक्ष्य में रख कर मूर्ध्नि कौपीनक कहत हैं—

“यो वै प्राण-सा प्रज्ञा, या वा प्रज्ञा-स प्राणः ।

या वै प्रज्ञा स प्राणः, यः प्राणः सा प्रज्ञा ।

स ह स्तोमस्मिन् क्षीरे वसत सहोत्क्रामत ॥” (कौ० ब्रा० २।३) ।

इस से पतञ्जाला यही है कि, प्रज्ञाप्राण ज्ञानेत्रियो में भी प्राणमात्रा है एवं प्राण-प्रधान कर्मेत्रियो में भी प्रज्ञामात्रा है। अत एव ज्ञानेत्रियो में भी क्रियामात्र प्रतीत होता है, एवं कर्मेत्रियो में भी ज्ञान का आभास होता है। वस्तुतस्तु भूतमात्रा—रूप-रस-गन्ध-स्पर्श शब्द, मेद स पांच ही भागों में विभक्त हैं। यही प्रज्ञा-प्राण युक्त होकर १० भागों में विभक्त होजाती हैं। पांच प्रज्ञा मात्राएँ ज्ञानेत्रियो की प्रतिष्ठा हैं पांच प्राणमात्राएँ कर्मेत्रियो की प्रतिष्ठा हैं। यह इन्द्रियविभूति प्रज्ञा प्राणरमक प्रज्ञान मन से सम्बन्ध रखती हुई परम्परा चन्द्रमा स सम्बन्ध रखन क कारण चान्द्रविभूति कहलाती है। प्रज्ञान इन्द्र के सम्बन्ध से ही इन दसों विभक्तियों को “इन्द्रिय” शब्द स व्यञ्जित किया जाता है।

जीवात्मा की इन सातों विभूतियों क अन्तर्गत में जो का यदि संकलन किया जाता है, तो कुल ४० विभूतियाँ होजाती हैं, असा कि निम्न लिखित वाकिका स स्पष्ट होजाता है—

१—विद्याविभूतिः (४)—ब्रह्म-ज्ञानम्-वराहम्-पेरबर्हम्→सौरविभूति

२—कामविभूति (१)—एकविद्य-विषयमहावनकविद्य→चान्द्रविभूति

३—कर्मविभूति (६)—वक्त्र-वप-हानम्-(सौरविभूति), इह आधूर्त-दश→पारिविभूति

४—शुक्रविभूति (२)—१ भावना २ वामना→पारिविभूति

५—प्राणविभूति (१०)—पक्ष्म ब्रह्मप्राणा, पक्ष्म ब्रह्मप्राणा, सप्त गुहाप्राणा
आत्मविभूति—देवविभूति सूर्यविभूति

६—ज्ञानेत्रियवि० (३)—आत्र-स्वप्न-चक्षु-जिह्वा-प्राण } चान्द्रविभूति
७—कर्मेत्रियवि० (३)—वाक्-पाणि-पाद-उपस्थम्-पायु }

• — — — (४०) सदि-य चत्वारिंशन्

से निम्न आक्रान्त रहता है। इन ६ ओं ऊर्मियों में से सब से प्रधान ऊर्मि क्षुधा है। यह अशनायो नाम का महापाया है—“पाप्मा वै अशनायो”। जीवात्मा में निरन्तर किसी न किसी की मूल बनी रहती है। एक विषय की क्षुधा शान्त होती है, दूसरी का उदय हो जाता है। यही अवस्था पिपासा की है। सांसारिक आपत्तियों का आक्रमण सहने में यह असमर्थ है। कारण इस का यही है कि, जिस संसार चक्र के गम में जीवात्मा प्रतिष्ठित है, वह इस अप्पायम मत्वा की अपासा कहीं अधिक बल रखता है। प्रकृति का आपाण सदा प्रबल होता है। इस को सहने में असमर्थ इस का मन व्याकुल हो पड़ता है। शरीर में मन के स्रोत से जो एक प्रकार की जलन (संताप) होती है, वही “मुक्त” भाव है। शुद्ध वृत्ति ही “स्रोत”, किंवा सन्ताप है। यही तीसरी ऊर्मि है। यही यह शोकाग्नि पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, जो मन इस प्रबलतम शोकाग्नि से अभिमूढ होता हुआ अपने ज्ञानमय विकास स्वरूप से विरोधित हो जाता है। उस समय मन को कुछ भी ज्ञान (ज्ञान) नहीं होता। सुषुप्ति अवस्था में मन की जो दशा होती है शोकाविवर्ग में मन की वही दशा हो जाती है। अतएव सुषुप्ति रूप है, मन सुषुप्ति भाव में नहीं है, इसलिये जो इस अवस्था को सुषुप्ति नहीं कहा जा सकता। भाव ही में आपावस्था में पश्चिष्णु ज्ञानानुभवस्वरूप मन का जो व्यापार होता चाहिए, उस का भी यहाँ अभाव है, इसलिये इस अवस्था को आपावस्था भी नहीं कहा जा सकता। वस्तु यह दोनों की सम्भावना है। इस में एक प्रकार की स्वप्नवृत्ति रहती है। जिस वृत्ति के लिए लोक-माया में “माँ चका रह गया” “हफा चका रह गया” इत्यादि शब्द प्रयुक्त होते हैं वही वृत्ति यह मध्यम वृत्ति है। आत्मकस्यायण्यु को सांसारिक आपत्ति से पचने के लिए, संसार कोप से बचने के लिए इसी मध्यम वृत्ति का आश्रय लेना चाहिए—“मत्पां वृत्तिं समोभयेत्”। दूसरे हम को पागल समझें, मोहमत्त समझें, ऊन्मत्त समझें, अपम्यावित मानते रहें, इसी हमारा कस्यायण है। इसी अवस्थिति का विगर्शन करात रूप अभियुक्त करते हैं—

नापृष्टः कस्यचिन्मूपात्—न आम्हायेन पृष्ठत ।

मानमपि हि मेघापी स्रवह्लोक आवरेत् ॥

यमा कृत्रिम मोहभाव यहाँ आम्हायित का कारण है, वही यह प्राकृतिक शोक समुत्पानमूक्त मोह वास्तव में अकृमाव का कारण है। इस में आमत सुषुप्ति, दोनों अवस्थाओं

का सम्मिश्रण है। इसी अभिप्राय से भगवान् व्यास ने इस का “सूत्रं ऽहं सम्पूति” (शा० सू० ३।२।१०) यह लक्षण किया है। गीताविज्ञान के अनुसार अज्ञान से आहत ज्ञान ही मोह है। अज्ञान किंवा एतद्विज्ञान ज्ञान ही मोह है। मोह ही मय का मूल कारण है। पुरुष अज्ञान में भी मय का अभाव है—“अज्ञान तस्य धरणम्” (पातञ्जल महाभाष्य० १।१२)। जब पुरुष ज्ञान में अमय भूमि है—“विज्ञान तस्य धरणम्”। मय जाता है—अज्ञान स्वरूप मोह से। यही मयभूमिका मोह नाम की चौथी ऊर्मि है।

प्रत्येक मनुष्य प्रतिक्षण जीव होता रहता है। चायु के २५ वर्ष वर्धन्त शरीराय पुत्र होते हैं। ५ वर्ष पद्मन्त समान रूप से रहते हैं। २० के अनन्तर विशेषतः व र्मा इन्द्र के प्रसन्न होवान् से अधिक मात्रा में शरीर मात्राओं के मिश्रण ज्ञान से शरीराय कर्मरा शिथिल होते जाते हैं। यही वरामात्र इन की नित्य सत्य कहलाती है। यही जरा नाम की पांचवीं ऊर्मि है। होनयास—प्रतियोग—मिथ्यायोग—अयोग, प्रज्ञापरान्मूलक इन चारों दुःख बलों से मिथ्याहार—विहार करता हुआ जीवात्मा अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट मोह से होता है ज्ञाना बाह्य से भर, ज्ञाना वाच भर ही, यह हीनयोग है। सेर के स्थान में १ सेर का गण मरी अतियोग है। ज्ञाना बाह्य प्रकृति के अनुकूल अन्न, का गण प्रकृति से विरुद्ध अन्न—यही मिथ्यायोग है। जिस असह्य अन्न का आत्मा के साथ योग करना बाह्य, उस समय तो जाया नहीं तो विज्ञान कर के अनिश्चित समय में योग्य किया यही अयोग है। प्रज्ञापरान्मूलक के ही चार विषयभाग योगरसि के कारण हैं। अतएव के प्रथमत्रा अत एक अमृत सहित मनुष्य से प्रज्ञापरान् होना स्वाभाविक है, फलतः राग का आश्रय होना भी स्वाभाविक ही है—“धरीरं व्याभिमन्त्रिणम्”। यही व्याधि नाम की ६ ऊर्मि है। इस ६ की में दो-दो के तीन युग्म हैं। तीनों युग्मों से प्रत्येक युग्म की प्रथम कक्षा आभार है दूसरी आघेयरूप है। पिपासा के रहन पर सुधा नहीं भी रह सकती परन्तु सुधा है, तो पिपासा अवरूप है। साथ ही में अन्न से सुधा प्राप्त कर लेने पर पिपासा अवरूप दूरित होती है जब कक्षा के साथ साथ ही इस पिपासा को भी राग्य करना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार शोक ही मोह की मूल वृत्ति है। पहिल शोक है, फिर मोह है। जरा दो व्याधि का

सूक्ष्म स्थात है। अरा जीर व्याधि का घानघ सम्बन्ध है। इसी भाष का बड़ी प्रसाद भाष में विग्रहान करात हुए एक महात्मा कहत हैं—

यम सेना की विमल ध्वजा अब “जरा” दृष्टि में आती है।

करती हुई युद्ध रोगों से देह हारती आती है।

१—सुषा	१—शोकः	१—जरा	पहर्म्य
२—विषासा	२—मोह	२—व्याधि	

जिस प्रकार महासमुद्र में प्रक्षिप्त एक काष्ठ लखड़ समुद्र की बत्ताल तरङ्गों में इतस्ततः दोलमान रहता है इसी प्रकार विरबरूप समुद्र में काष्ठ स्थानीय यह धोकात्मा रूपमु क बल रूप ऊर्मियों से इतस्ततः दम्बमान रहता है।

— ०५० —

२—अवस्था—(६)

दूसरा पात्रा अवस्था नाम स प्रसिद्ध है। जीवात्मा जाग्रत—(जागता), स्वप्न

पञ्चवस्थास्वरूपपरिचय—(मयना) सुषुप्ति (सोना), मोह (विक्षिप्ता), मूच्छा

(बहोरी), मुत्सु (शरीरावमान) इन अवस्थाओं में से अवरत ही किसी एक में एक अवस्था स मुक्त रहता है। अन्धकारमयता में महान् (सत्त्व) विज्ञान बुद्धि प्रज्ञान (मन) स स तीन अद्वय ज्ञान धारा प्रवाहित रहती हैं। इन तीनों में महात्मा प्रकाश है, यह चिरमा की प्रतिष्ठा है, जैसा कि पृथ की महादामविज्ञानोपनिषद् में विस्तार में बतलाया जाचुका है। इसी महाज्ञान से विज्ञान (बुद्धि) प्रकाशित रहता है विज्ञान से प्रज्ञान प्रकाशित रहता है। प्रज्ञान मन क द्वारा बड़ी ज्ञानप्रकाश इन्द्रिय द्वारों में निकल कर विषयों को प्रकाशित करता है। विषयज्ञान में मनाज्ञान की प्रयत्नता है। बहिर्जगत् क भौतिक विषयों क परिज्ञान क लिए मानस ज्ञान का इन्द्रियों क द्वारा बाहिर निकलना सबेदा अपेक्षित है। त्रिम समय मन का इन्द्रियों क द्वारा विषय ज्ञान क साथ सम्बन्ध होता है एतौ स्थिति में यह मान

सना पड़ा है कि, हम वहाँ में महान्-विज्ञान-प्रज्ञान-इन्द्रियों-वार्ता ज्ञापन हैं, अद्भुत हैं। वार्ता अपना काम कर रहे हैं। इन वार्ता विषयों की ज्ञापनवस्था को "ज्ञापनवस्था" है। दूसरे शब्दों में इन्द्रिय सहकृत ज्ञापनवस्थापन्न प्रज्ञान ही ज्ञापनवस्था का अभिप्राय है ॥

तब इन्द्रियों अपना काम करना छोड़ देते हैं, इन्द्रिय द्वार बन्द हो जाते हैं, तो उस समय प्रज्ञान मन के पास बाहिर के विषयों का आगमन बन्द हो जाता है। उस समय कबल भावना वासना रूप मौलिक विषय ही रहते हैं। संस्कारात्मक इसी विषय समष्टि को "अन्तर्ज्ञान" कहा जाता है। प्रज्ञान मन विज्ञान प्रकार से अनुमोदित रहता हुआ मूर्तारिक विषयों के आचार पर लीन रहना किया करता है। मन की इसी अवस्था का नाम "स्वप्नावस्था" है। यह अवस्था सुषुप्ति, एवमज्ञापनवस्था के मध्य की अवस्था है, अत एव इसे "संज्ञावस्था" भी कहा जा सकता है। "संज्ञा सुप्तिराह हि"—"निष्मातार चैके पुत्रादयस्य" (शा० व ३।१।१) "संज्ञावस्था हि" (शा० व ३।१।२) इस वार्ता निक सिद्धान्त के अनुसार ज्ञापन-सुषुप्ति की अवस्था में रहने वाली इस स्वप्नावस्था में प्रज्ञान मन लीन लीन रहना ही किया करता है। यह मानस रहना ही श्रमाद्युक्त को सुचित करता है। इस स्वप्नावस्था के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त समझना चाहिए कि, ज्ञापनवस्था में इन्द्रियों के द्वारा जिन बाह्य विषयों का (स्वप्नावस्था) साक्षात्कार करता है स्वप्न में जहाँ इस पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है। हाँ संस्कारों के समन्वय में अवश्य ही विद्यमान हो जाती है। स्वप्न में आप वही बात बतल सके हैं सुन सकते हैं, आ कि ज्ञापनवस्था में देख-सुन चुके हैं। एक अनुपम स्वप्नावस्था में आप आप का आचार से उड़ता हुआ देखता है। आप प्रश्न करेंगे कि ज्ञापनवस्था में वह काकाया में कमी नही बड़ा या फिर स्वप्न में यह अद्भुतता कैसे उत्पन्न हुई ? इस का उत्तर वही संस्कार विद्यमान है। इन स्थिति आचार में वही का बड़ना बतल है। इस का संस्कार इस के यथा भाग पर लक्षित है। स्वप्न में इस के मन का उस उड़ने के साथ सम्बन्ध हो जाता है। अतएव यह अपने आप को उड़ता हुआ समझने लगता है। वही अवस्था असमन्वय-अदृष्टवत् प्रतीत अभ्यास्य स्वप्न दृष्टों के सम्बन्ध में समझने चाहिए। इसी अभिप्राय से—इन्द्रियवत्क मति कहती है—

"स्वप्नान्त उच्छ्वासवर्मीयमानो रूपाणि च दृष्टुं बहूनि ।

उदेव तस्मिन् मह मादमानो लक्षदुर्लभाणि मयानि पश्यन् ॥

अथो सन्नाह — जागरिषदेश एषास्यैव इति । यानि ह्येव ज्ञातृ पश्यति,
तानि सुप्त इति" (६० भा० ६।१।११४) ।

कहना यही है कि, विज्ञानसङ्कलित संस्कारावच्छिन्न अन्तर्मुख प्रज्ञान मन ही स्वप्ना
वस्था का अभिप्राय है । यहाँ केवल अन्तर्जगत् का भोग है । आगे जाकर विज्ञानात्मा प्रज्ञा
नात्मा को मात्र लता हुआ पुरीतति नाम से प्रसिद्ध इत्यस्य व्यापन नाड़ी में प्रविष्ट हो जाता
है । किद्भिश्चिद् महानात्मा ही इस व्यापनारिका पुरीतति नाड़ी की प्रतिष्ठा है, यही विज्ञान
अपीत हो जाता है । दूसरे शब्दों में अपन विजयोविषय स्वस्वरूप में हब जाता है । विज्ञान
का स्वतन्त्र प्रकारा विरोधित हो जाता है । बस प्रज्ञानावच्छिन्न विज्ञान की इस स्वस्वरूप में
अपीत ही स्वपिति नाम की सुषुप्ति अवस्था है ।

चौथी अवस्था मोह है । ऊर्मि बाका मोह स्वप्न वृत्ति थी, इस अवस्था सम्बन्धी मोह
का विक्षिप्तता स सम्बन्ध है । किसी आकस्मिक प्रबल आघात से, साहस पदार्थों के अत्य
धिक मात्रा में सवन स शक्ति परिमाण स अधिक ज्ञान वस्तुओं को काम में लाने से, इत्यादि
इत्यादि कारणों से मनुष्य के स्तामुत्पत्ति (ज्ञानवस्तु) शिथिल होजाते हैं । ज्ञान वस्तुओं के
आधार पर होन वाले मुख्यवस्थित इन्द्रिय व्यापारों की व्यवस्था टूट जाती है । बिबेक नष्ट हो
जाता है, मन स्वयम्भवासी बनता हुआ इन्द्रिय स्वातन्त्र्य का कारण बन जाता है । यही
अवस्था मोह (पागलपन) है ।

यदि मोह की मात्रा परकाष्ठा पर पहुँच जाती है, तो मन प्रतिमूर्च्छित हो जाता है ।
कारण इस का यही है कि, इन्द्रियों स इन की नियत एवं परिमित शक्ति के अनुसार ही बनि
काम किया जाता है, तो वे स्वस्वरूप से सुरक्षित रहती हैं । परन्तु मोहावस्था में इन्द्रिय संयम
टूट जाता है । किम इन्द्रिय से कितना काम सेना, वह बिबेक जाता रहता है । मुग्ध (पागल)
भावनी बनि बीहमा आरम्भ कर देता है तो वह घंटों निरन्तर बाढ़ा ही करता है । बोलना
आरम्भ कर देता है तो अनर्गत बोलता ही करता है । इस भैरन्तर्प्य से इन्द्रियों की शक्ति लोप
हो जाती है । अन्तर्लोगस्था इन्द्रियों अपना काम करना छोड़ देती हैं, निरपेक्ष हो कर आन्मी
परा पर गिर जाता है । यही "मूर्च्छा" है । इस प्रकार प्रबल मोह ही इस मूर्च्छावस्था का
कारण बन जाता है ।

पञ्चमौलिक स्थूलशरीर के माय सांवात्मा का चतु रत्नन वाक्का सौर सूत्र ही "आयु" नाम से प्रसिद्ध है। इन्द्रात्मक सौर आत्मसूत्र ही हमारी आयु का प्रतिष्ठा है। जब तक शरीर, पंच आकाश आयु-सूत्र से बद्ध है, तभी तक जीवन मत्ता है। सामान्य सृष्टि विज्ञान के अनुसार सूर्य से पंच ३६०० (इत्तीस हजार) आयु-सूत्र आता है। प्रतिदिन एक एक आयु-सूत्र का भोग समाप्त हो जाता है। वृम क्रम से ३६०० दिन की समष्टि रूप १०० वर्षों में आयु-सूत्र निशेष हो जाता है। इसी आधार पर—"क्षतायुर्वै पुरुष" वह नीचे सिद्धांत्य प्रतिष्ठित है। जिस दिन वह आयु-सूत्र सर्वथा निशेष हो जाता है उस दिन जीवत्मा ।। पञ्चमौलिक शरीर-व्यवस्था दृढ़ जाता है। यह अवस्था मृत्यु नाम की ३० ठो अवस्था है।

— : —

३—अविद्या—(४)

हरद्वीप विद्याविमूर्ति का निरूपण करत हुए हमने सूर्य में विद्या-प्राप्त नाम के अविद्यास्वरूपपरिचय — को बाहु बतलाए हैं। इन बातों में विपण्यमान विद्या है, प्राणमात्र कर्म है। सत-वसत मय से दोनों ही दो दो भागों में विभक्त हैं। विद्या-अविद्या विवक्षाभाज प्रधान प्रधान हैं, सभूति-विनाश प्राणमात्र प्रधान हैं। कर्म-ज्ञानादि चार विद्या भागों के, अधर्म-अज्ञान-आसक्ति-अधर्म के चार विपर्यय हैं। इन चारों अविद्या-दुष्टियों में कर्म ज्ञानादि चारों विद्या भाग दण्ड खाते हैं। अज्ञान अविद्या है। किसी भी विषय के बंधन स्वरूप को न जानना ही अविद्या है। अग्निनिवरा ही अधर्म है। "हम ऐसा नहीं करते, वह नहीं मानते, हम वा ऐसा ही करेंगे" इस प्रकार का दुरामर (इच्छर्मा) ही अधर्म का मूक है। ऐसे अमिहिविद्ध (दुराग्रही) का समोरक्षण सर्वथा असंभव है। राग-इष आसक्ति है। मन का लक्ष्मीमूल विषय के रंग में रञ्जित हो जाना, तल्लीन हो जाना ही राग है। वह राग अतृप्त-प्रतिद्वेष भेद से ही अवस्थाओं में परिवर्तन रहता है। अनुद्वेष्टराम राग है, प्रतिद्वेष्टराम द्वेष है। एक पैसी जिस प्रकार बड़ा मन पर बसा रहता है। इस से भी

* इन ३ में अवस्थाओं का दौलतिक वैज्ञानिक निरूपण मापकध्वन्योपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानमाध्यम से देखा जाई।

कहीं अधिक शत्रु सन्ध्याल पर चढ़ा रहता है। शत्रों के साथ बन्धन का पूर्ण सम्बन्ध है। इन पानों का मूलप्रभव रजोगुण है। ये श्रोत्रों आत्मिक क मूल हैं। शत्रों बन्धन सञ्जानीय हैं, अत एव रागद्वेष की ममृष्टि का आश्रय शब्द से भी व्यञ्जित किया गया है। आत्मा में सम्पूर्ण विभूतियों स्वभावतः प्रतिष्ठित हैं। तथापि मनुष्य सदा— आज मेरे पास बहुत वस्तु नहीं है, आज यह नहीं है, आज यह नहीं है” इन गृष्ट्या में लिप्त रहता है। दूसरे शत्रुओं में वह सदा अश्रुता का अनुभव किया करता है। यही आत्मा का अनैश्वर्य है। इस अवस्था में आत्मस्वरूप के विकास का अभाव है, अत एव इस ‘अस्मिता’ (विकासभाव) कहा जाता है। एक कहनायुमार राग द्वेष को एक वस्तु मान लान पर अव्यय-अज्ञान-आसक्ति-अनैश्वर्य के चार ही अविद्याभाग बच जाते हैं। धम्मबुद्धिभाग से अव्यय का, ज्ञानबुद्धि भाग से अज्ञान का, वैराग्यबुद्धिभाग से आत्मिक का एवं एतद्व्यबुद्धिभाग से अनैश्वर्य का निराकरण किया जा सकता है। भाग्यशान न—अज्ञान का अविद्या शब्द से अनैश्वर्य का अस्मिता शब्द से, आसक्ति का राग द्वेष शब्द से अव्यय का अग्निनिवेश शब्द से व्यव हत करत हुए कलशरूप का अविद्या बुद्धियों का पञ्च कलश माना है—“अविद्यास्मिता रोगद्वयानिनिवेशा पञ्च कलेष्टा” (या ६० २३)। अविद्याचतुष्टयात्मक ५० वीं सरा महा मया वह पाप्मा है।



४—बन्ध—(३)

यह कम्ममोक्षा बन्धनोत्ता शान दुःखों से प्रायः दशा पिरा रहता है। क्रोध-क्रोध-व-वस्वरूपपरिषय—छाम-माह-मह-मात्सर्य-अविद्या-अस्मिता-रागद्वेष-अग्निनिवेश-ज्वर-वातव्याधि-आदि दुःख आध्यात्मिक दुःख हैं। इनमें भी ज्वर-उदरशूल-शिर शूल-पादशूल—(गृधसी—पाण्डुरोग—छर्दी—द्विकका—धात उपदंश—कणशूल—राजपद्मा—आदि रोग प्रधानरूप से स्पृहाशरीर पर आक्रमण करते हैं। काम क्रोध माहादि पश्रियु सूरमशरीर पर प्रघाम रूप से आक्रमण करते हैं, एवं अविद्यादि कलेशचतुष्टयो प्रधान तथा कारणशरीर पर आघात करती है। स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरत्रयी ही आध्यात्मिक

प्रपन्न है। प्रकारान्त मरम-अमृक-वास मेरु अस्थि मन्त्रां शुक्र, य मात पातु बाह्मय स्थूल-
 क्षरीर की प्रतिष्ठा है। काम-क्रोध-लाम-माह-मर्द मात्सर्य, ये ५ पातु प्राणमय सूक्ष्मक्षरीर
 की प्रतिष्ठा है गण क्लेश अनुष्ण की आधार पर प्रतिष्ठित भावना वासना नाम के दो शुक्र
 मयोमय कारणक्षरीर की आधारभूमि हैं। 'त्रयमेतन् त्रिदण्डवत्' के अनुसार तीनों का
 परस्पर पल्लित सम्बन्ध है। यदि एक शरीर व्याकुल रहता है तो शेष दोनों भी स्थान रहत
 हैं। वासना भावना संस्कार की जागृति से मूर्खमारी सप्तपातु समष्टिरूप स्मृतक्षरीर,
 दोनों क्षुब्ध हो जात हैं। शरीरपालन से मन क्षिप्त रहता है मनोवृत्ता से शरीर से कल्प क्रोधादि
 सब पातु निरपेक्षप्राय रहत हैं। यदि तीनों के पातु सम हैं तो स्वस्थता है, विषमता में दुःख
 व अशांति है, ताम है। इस विषमता का मूल कारण एकमात्र प्रज्ञापराध ही है। प्रज्ञापरध
 मन का काय है। अत एव आप्यामिक पूर्वोक्त विविध दुःखों का कारण भी वही मन है, एवं
 पुष्टिपात्र के प्रभाव से मुक्त का कारण भी एक मात्र वही मन है। चैता कि अभिपुत्र
 पटन है—

मना हि द्विविध प्राक्त शुद्ध चोद्धूयैव च ।

अशुद्ध काममकल्प शुद्ध कामविचलितम् ॥१॥

मन एव मनुष्याणां कारण बन्ध-मोक्षयो ।

यद्योप विषयामक्त मुक्त्यै निर्विषय स्मृतम् ॥२॥

(महाबिन्दुविषय)

एतत्पातु सम्बन्धी वैषम्य विराजत स्मृतक्षरीर की हानि करता है परन्तु सम्बन्धी
 वैषम्य विराजत मूर्खमारी की क्षुब्ध करता है एवं संस्कार सम्बन्धी वैषम्य विराजत कारण
 शरीर के लोभ का कारण बनता है। तानों का मूल प्रज्ञापराधमूलक मन ही है। माय ही में
 पूर्ण वस्तुमानुसार सामान्य रूप से तीनों वैषम्य तीनों पर भी आक्रमण किए बिना नहीं रहत।
 वही कारण है कि, भारतवर्ष के परम वैज्ञानिक प्राणाचार्यों में धृष्टिके आधार पर ही
 क्रोधादि का विधान किया है। विज्ञान की जगत् भीमा पर वर्तमान का गण करन बाधा पातु
 निक विषयमात्र (आध्यात्मिक चिकित्सक-टाक्टर) आत्र भी इस प्रवृत्ति। विज्ञान से किनन ही
 चंगों में अपविष्ट है वह वटने में बाध आपत्ति न हागी। वशाद्वय के निरुद्ध एक पातु
 वनमान चिकित्सा कृति में एमी विज्ञानी हैं जो "अधेर नगरी जवूझ रात्रा, रके सेर
 मारी, रके सेर रात्रा" वाली चिकित्सी को सदायमा परिणाम कर रही है।

इन तीनों दुःखोंसे कर्मात्मा का विकास अवश्य हो जाता है, वह स्वरूप से आवृत हो जाता है, अतः एव इस दुःखत्रयी को हम चन्द्रशेखरी राम्य से व्यवहृत करने के लिए सम्भार हैं। “ए-व” नाम म प्रसिद्ध घोरघातक दुःखमय पाप्मा का यही सक्षिप्त विवेचन है।

— ०१ —

५—कर्मविपाक—

कर्मविपाक ही कर्मविपाक है। इसके फल जाति आयु-भोग भेद से तीन भागों में कर्मविपाकस्वरूपपरिचय—विभक्त हैं। संस्काररश्मि अन्तर्से लेने वाला प्राणी संस्काररश्मि ही का कर्म करता है, प्रज्ञान मन पर सम कृत कर्म का वासना संस्कार ज्वलित हो जाता है। यही संस्कारपुच्छ इस प्राणी के उत्तर (जागामी) अन्तर् का कारण बनता है। पार्ष्वि प्रज्ञा से सम्बन्ध रखने वाला प्रकृति में प्रधानरूप से सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी, ये तीन ही विभक्त हैं। पार्ष्वि प्राणियों क माय इन्हीं तीनों का प्रतिष्ठ सम्बन्ध रहता है। ये ही तीनों क्रमशः आयु-जाति-भाग की प्रतिष्ठा बनते हैं। पट्विशालसहस्र (१६०००) बृहतीप्राणायामक बृहती क्षर (विषुवदृष्ट Equator) पर प्रतिष्ठित सूर्य ही आत्मस्वरूपसमर्पक आयु क अभिघाता है जैसा कि पूर्व के अवस्थापाप्मा में कहा जा चुका है। चान्द्रसोम ही भोगविरूप में परिणत होकर भोग की प्रतिष्ठा बनता है। एवं त्रिभुत पञ्चदेव एकविंश-भूपिण्ड भेद से चतुष्ठा विभक्त पृथिवी ही क्रमशः ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य शूद्र प्रपाय्य पौनियों की प्रतिष्ठा बनती है। पृथिवी में जितनी भी योगियाँ हैं, प्रत्येक में एक जाति, किंवा बर्णविभाग समानरूप से व्यवस्थित है—‘न्यायोऽयं भैरवैजोक्तः पदार्थैर्विखिलेष्वपि (अष्टाङ्गसंग्रह)। प्राणी जैसा कर्म करता है, तदनु रूप ही इसे जाति-मिलती है, तदनु रूप ही आयु एवं भोग मिश्रित हैं। यही भाग्य है, भाग्यभेद है, विधि का अटक बिधान है। जाति आयु-भोग (विभक्त), तीनों स्वरूप क साथ ही सम्बन्ध रखते हैं, जैसा कि अभिमुख कहते हैं—

आयुः कर्म च विधा च विधा निघनमेव च

पञ्चैतानि तु सृज्यन्ते गर्भरश्मयैव देविनः ॥१॥

इन तीनों का विकास तत्तदनु रूप गुण-कर्मों से ही होता है। किंवा जाति क जैसे कथल गुणकर्म निरर्क है, गुणकर्म में जैसे जाति परिवर्तन का सामर्थ्य नहीं है परमत्र विना

रागादिरोगोन् सततानुपक्तानशेषकायप्रसूतानशेषान् ।

मोक्षमुक्त्यमोहारविदान् अपान यो पूर्वैषाथ नमोऽस्तु तस्मै ॥ (च० ६० १)

हमारे आचार्यों ने जन्मी शोचयितों का विधान किया है, जो स्वरूपराशरी को लम्ब करती हुई —कारण एवं सूक्ष्मराशरी पर किसी प्रकार का आघात नहीं करती हैं । जिस प्रकार स्वरूपराशरी की चिकित्सा करने वाले आयुर्वेदशास्त्र को इतर दोनों राशरीयों की रक्षा का ध्यान रखना पड़ता है वयमंभ सूक्ष्मराशरी की चिकित्सा करने वाले धर्मशास्त्र, एवं कारणराशरीरूप आत्मा की चिकित्सा करने वाले उरनिपञ्चास्त्र, एवं वेदान्तशास्त्र को स्वरूपराशरी की रक्षा का पूर्ण ध्यान रखना पड़ता है । वेद-काल-पात्र-द्रव्य भद्रादि की पूर्ण परीक्षा कर के ही धर्मशास्त्रों का विधान है एवं इसी परिस्थिति के अनुसार अधिकारी के भेद से स्वरूपस्थ ही आश्रयोपासना विधि है । वह है आध्यात्मिक दुःख का सकल निगूरान । इस दुःख का चिकित्सक प्राणाय वगे है ।

दूसरा आध्यात्मिक दुःख है । वन्य हिंसक पशुओं का आक्रमण अन्य पशुओं का आक्रमण, मोटर-साइकल-टॉया-बग्गी आदि से आघात ये सब आध्यात्मिक आक्रमण हैं । इन सब का चिकित्साध्यान राजद्वार एवं तत्सम्बन्धी व्यापक हैं । मूक्य विद्युत्पात अनादृष्टि प्रतिवृष्टि सप्ताघात (आगी)-ठरझपात चोरझीठ-चोरगामी-अकाल दुष्कोट जनपदविघ्नोसिनी (महामारी), आदि सब आधिदैविक आक्रमण हैं । आध्यात्मिक आध्यात्मिक आक्रमणों का सम्बन्ध व्यक्ति से है, भक्त इनका दुमाद्युभ कत भी व्यक्ति को ही भोगना पड़ता है । परन्तु इस तीमरे आक्रमण का सम्बन्ध राष्ट्र से है । जिस राष्ट्र में राजा एवं प्रजा बग पाप कर्म में लित हो जाते हैं, वहाँ का प्रकृतिमण्डल दुष्प्र हो जाता है । वन्य प्रकृतिमण्डल ही मूक्यगति आक्रमणों का कारण बनता है । वह राष्ट्र के पाप का फल है भक्त इसका आक्रमण किसी व्यक्ति विरोध से सम्बन्ध न रखता दुष्प्र ममूय राष्ट्र के साथ सम्बन्ध रखता है । इस की चिकित्सा प्रकृतिरूपस्मरेता कर्मों वेदक प्राणाय हैं । वे ही पञ्चकर्मों द्वारा प्रकृति के दोष को शान्त करने में समर्थ हैं । इसी दुःखवशी का निरूपण करत हुए आध्यात्मिक कहते हैं—

दुःखत्रयामिषोषान्निद्रोषा तदपघातके हेतौ ।

एष्ट साधार्मा चेन्नेकान्तोत्पन्तीऽमावाह ॥ (सां का० १)

परी पाप्मा है। ईश्वरीय पूर्णता विभूति में पूर्णैश्वर्य रूप करवप प्रजापति का स्वरूप बतलाया गया है। उन दोनों अण्डकटाहों के सौराभिप्रधान हरण अण्डकटाह से पुरुष का, एवं आन्ध्र सोमप्रधान अण्डकटाह से स्त्री का स्वरूप निम्नाण होता है। दूसरे शब्दों में पुरुष-स्त्री में आधा आधा इन्द्रमाण ही प्रतिष्ठित रहता है, अर्थात् जीव सृष्टि को 'अर्द्धेन्द्रसृष्टि' कहा जाता है। 'ब्रह्मण्ये प्रसन्नय मे' इत्यादि मन्त्र समष्टिरूप अर्द्धेन्द्रसूक्त इसी रहस्य का प्रतिपादन करता है। (ऋषि यजु मं १८ अ०)। जीव में आधे जगोल क मन्त्र का पून विष्णुसूक्त नाम से प्रसिद्ध है। यह विपुल प्राण जीव में मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) रूप से प्रतिष्ठित होता है। आधा विपुलपुन पुरुष में आधा है, आधा अण्डकटाह विपुल स्त्री में आधा है। स्त्री पुरुष के समसमुख होने से ही पूर्ण विपुलपुन का स्वरूप संशुद्ध होता है। दूसरे शब्दों में श्री समस्किर कि पुरुष आधा है, इसके अर्द्धभाग की पूर्ति स्त्री से होती है— 'सौज्यमाकाशः पत्न्या पूर्यते'। बिना शम्पत्यभाव के वह पूर्णपुरुषात्मक यज्ञपुरुष के साथ योग करने में असमर्थ है। इस यज्ञाधिकारप्राप्ति के लिये पूर्णतासम्पादक परतीसम्बन्ध निराम्य अपेक्षित है। बिना पत्नी के यज्ञकर्म कथमपि संपन्न नहीं हो सकता। अत एव (यज्ञसिद्धि के लिए ही) एक पुरुष अपने प्रथम स्त्री के अभाव में अन्य स्त्री के साथ परिष्वस कर सकता है। परी कारण का कि मर्यादा पुरुषोत्तम अर्वाच्य रामचन्द्र को अश्वमेध यज्ञ की सिद्ध के लिए अगम्यता सीमा की सुबर्ण प्रतिमा का सम्बन्ध करना पड़ा। सबभूष बिना पत्नी के पुरुष अधुण है। "एका की न रमते, तद्भित्तीयमैच्छत् पतिव पत्नी च" वह भीव सिद्धान्त सर्वसम्मत है। अत एव परती का अर्द्धाङ्गिनी माना गया है।

हमन कितने ही कल्पनापिनी के आमुक्त स वह कहते सुना है कि 'न्यासिष्यात्वा का सिद्धान्त एवं मणित भाग वा कहा है किन्तु कठिनांश सर्वथा निरर्थक है। कठिनांश की विस्तारता बतलाते हुए एक महाशुभाह कहते हैं कि— "न्यासिष के सिद्धान्त के अनुसार अमुक प्रहयोग में श्री व्यक्ति उत्पन्न हो, उस धन्य से ब्राह्मण होना चाहिए, उसके गृह को द्वार पूर्व की ओर होना चाहिए, उसका वर्ण कृष्ण होना चाहिए, इत्यादि। हम देखते हैं कि, उसी याग में भूमण्डल में अनेक स्थानों में अनेक प्राणी उत्पन्न होते हैं। मान लीजिए, पूर्वोक्त याग में एक मनुष्य योरोप में उत्पन्न होते हैं। आपके उपयुक्त कर्त्ता में से वहाँ एक का भी सम्बन्ध नहीं होता। परी

गुणकर्म के नाति का भी विकास असम्भव है। इस वर्य अर्थात्गुण्य वरत गुण वर्य (निम्न वर्य) ही कहलाते हैं। वर्यप्रतिष्ठा के लिए प्रकृति (काति) वर्य संस्कार (गुणकर्म), शक्तों का समन्वय व्यवेष्टित है। इसी समय विज्ञान को लक्ष्य में रखकर वासुदेवि महर्षिओं ने वास्तुर्चर्य का—“प्रकृतिविशिष्ट वास्तुर्चर्य संस्कारविशेषाद्य” (वासिष्ठस्मृति)—वद लक्ष्य किया है। कर्मविपाक, विषा विपाक नाम के पाप्मा कायही मरिक्त्र निन्दन है।

६—आश्रय (भोगहेतु)—(२)

उपद्रुत सम्पूर्ण विमूर्ति, पर सम्पूर्ण पाप्माओं की आश्रयभूमि शुभाशुभ शरीर ही है। इसी आपवक में प्रसिद्धि होकर मोक्षात्मा कर्म भागम में समर्थ होता है। अतएव इस शुभाशुभ शरीर को हम “भोगहेतु” भागम के लिए तैयार हैं। सुन्दर स्वस्थ—शामन आह्वयिमुक्त शरीर शुभ शरीर है। अस्वस्थ—नाटा—हीनाङ्ग—अतिरिक्ताङ्ग—सीपक्ष आह्वयिमुक्त शरीर अशुभ शरीर है। एक मङ्गलमूर्ति है तो दूसरे अमङ्गलमूर्ति को देखते ही चित में अङ्ग अस्वस्थ हो जाता है। शुभ कर्म से शुभ शरीर मिलता है, अशुभ कर्म से अशुभ शरीर प्राप्त होता है। “आलोमस्य आनन्दाग्रेया” के अनुसार भावात्मा कोम मन्त्राओं को छोड़कर सभाङ्ग शरीर में स्वात है। स्वाति स्वोन को ही आश्रय कहा जाता है। अतएव आत्मव्याप्तिस्वानीय भाग-वदुत्तु वद दोनों शरीरों को आश्रय नाम के पाप्मा कहा जा सकता है।

१—एकविंश-पञ्चरात्रीन्वयायगमिता, विदुषा प्रमिषी मोक्षात्मन—प्रमव

२—अर्ध मोक्षात्मनः—प्रतिष्ठा

३—मयवर्त्तन—व्योचरमनः—बोनि

४—शुभाशुभशरीरे मोक्षात्मनः—आरव

७—अपूर्णत्व—

सातवों पाप्मा अपूर्णता है। उक्त सम्पूर्ण पाप्माओं की अपेक्षा यह पाप्मा में अतिष्ठ है अपूर्णत्वस्वरूपपरिचय— ईश्वर, एवं जीव में प्रतिबन्ध सागान बाधा, दूसरे शक्तों में ईश्वरारा-त्त जीव को ईश्वरता से वृत्त करी जाता वही पाप्मा है। को-पुत्रभाव का स्वरूप समर्थ भी

• इस विषय का विवर विवेक “वेदेव कर्ममन्त्र नाम के निम्न में देख्य अष्टिप।

यही आठवों पाप्मा है। इस पाप्मा से छुटकारा पाने के लिए पहिले मात पाप्माओं में निस्तार पाना आवश्यक है। धन्यपर्याय, मुक्तपर्याय, नाम के शब्दों का भी इसी प्रकार पाप्मा में अन्तर्भाव है।



ये आठों ही पाप्मा प्रज्ञापरायणक कर्तव्य रूप जीवार्त्ता की स्वतन्त्र (अपनी) कमाई है। ईश्वर में इन पाप्माओं का आत्यन्तिक अभाव है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि “जीव ईश्वर का अंश माना गया है। साथ ही मैं ईश्वर में उक्त पाप्माओं का अभाव है। इसके साथ ही ईश्वर की व्यापकता भी सचोसिद्ध पदार्थ है। फिर यह पाप्मघर्म जीवसंस्था में कहाँ से आए ? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए महर्षि कहते हैं—

यद्येवम् दुर्गं भूय पर्वतेषु विधावति ।

एव धर्मान् पुण्यक पश्यस्तानेवानु विधावति ॥ (कठोपनिषद् ४।१४)

मूलक पर एक यज्ञ पश्य है पर्वत पर एक दुर्ग (किला) है, दुर्ग पर आकाश से वृष्टि होती है। मयस्थ वृद्ध यज्ञ दुर्ग पर आते ही पर्वतकेशराओं में आया हुआ सब कुछ खरब रूप में परिवर्तित होता हुआ दुसरे एवं पर्वत की सक्रियता से सक्रिय हो जाता है। यही अवस्था यज्ञ है। यही ईश्वरीय गुण शरीररूप भूमिस्थ पर प्रतिष्ठित प्रज्ञानरूप दुर्ग में आकर पर्वतस्थानीय, किंवा पर्वतावयवस्थानीय जीवसंस्था में आकर प्रज्ञापरायण, मल-अम से मुक्त होत हुए पाप्मारूप में परिवर्तित हो जाते हैं। ईश्वरवत् जीव भी मयभा विद्युत् है ईश्वरीय जो गुण जाय में आते हैं, वे भी विभूतिरूप ही हैं। परन्तु प्रज्ञापराय की कृपा से वे ही गुण शरीररूप में परिवर्तित हो जाते हैं, ‘गुणा गुणेषु गुणा भवन्ति, ते निगुण प्राप्य भवन्ति दायाः’। यों स्वतन्त्र पदार्थों में का गुण, अवकाश यों नहीं देखे जाते, यों के सम्बन्ध के वैशिष्ट्य से यों गुण-बोध का उदय हो जाता है।

इस प्रकार ७ विभूति = पाप्मा, मल-मुक्ति, इन सब सामग्रियों को लेकर ही भोक्ता पानी पात्रों के लिए इस धरातल पर अवतीर्थ होता है। साथ विशेष विभूतियों के अभाव पर भेद ४० हैं, एवं आठ पाप्माओं के अभाव पर भेद १६ हैं। संयुक्त ५६ कर्तव्य हो जाते हैं। इनक प्रतिरिक्त २३१ सामान्यविभूतिकर्तव्यों का सम्बन्ध यहाँ ईश्वरवत् विद्यमान है।

अवस्था में ज्योतिष का फलितभाग केवल बिद्यम्बनामात्र रह जाता है।" इस विषय विपत्ति के सम्बन्ध में हमें कहना यही नियत करना है कि जिस वस्तु को आगे रक् कर पश्चित पर लक्ष आयेन किन्ना जाता है, वह हेतु ही अप्रतिग्रिप्त है। जिस ग्रहयोग में जो व्यक्ति उत्पन्न होता है, वह ग्रहयोग सम्पुष्ठा विधमें कहल गयी क लिए नियत है। दूसरे शब्दों में एक समय में विरह में एक ही व्यक्ति उत्पन्न होता है। हरवीय पूर्वोक्त विमृष्टि प्रकरण में जिस कूलमें का स्वरूप वतकाया गया है, उस की एक निरुक्त कम्प विमृष्टि बनती है। रेतोवा पिता जब गर्भोत्पन्न शोष्णविरुपा बोनि में मातरिका बायुद्वारा रेत का आधान करता है उसी समय हुक में कम्प बनता हुआ कूलमरुत पारों और स आन लगता है। यही कूलमरुत गमे-पुष्टि का कारण बनता है। इस स्थिति में इस गर्भ की उसी ग्रहसंस्था रहती है, जग्रेक में वस्तुतः ही इसक अर्थों का लक्षण होता है। भुवनकाश (भुवृत्त) में भी ३६० अंश है परं ग्रहप्रविष्टा भूत ज्योतिष्यक (लग्नाक) में भी ३६० ही अंश है। भूपिण्ड की अपेक्षा कई सड़स गुणित बृहत्सूर्य जग्रेक क जिस एक छोटे स काय में समा रहा है, उस जग्रेक की कृष्ण का अनुमान लगा कर इसके अर्थों की व्याप्ति को कक्ष में रक्षित। इस जग्रेकीय महाद्वय क ३६० अर्थों क सात भूगोलीय ३६० अंशों का सम्बन्ध होता है। भूपिण्ड पर जो अंश एक अनुसमान का व्यवधान रहल है, जग्रेक म यही अन्तर इससे कई सड़सगुणित हो जाता है यह मात्र सन में कोई व्यापति नहीं की आनकती। सात ही में सम्पूष्ण ग्रह हुकमति से ब्रूम रहे हैं। कही दृष्टा म यह ७ मात्र सन में कोई व्यापति नहीं का बा स इती कि—“एक काठ में एक ब्रूम में एक ही माता के गर्भ से उत्पन्न दान वाली यमक सन्तानों की भी ग्रह-संस्थाओं में बड़ा अन्तर है।” जब ग्रहसंस्था ही व्यक्तिये से भिन्न है, तो कलसात्र कैसे संभव है। सुवर्ण कलस सम्बन्धों पूर्व जाकप एकान्तव तथिद्वय हो जाता है। अस्तु प्रकृत में यही कहना है कि जाय अर्थोक्त होन से अपूर्ण है। अपूर्णता अवस्था है। अपूर्णता ही हुक की आनासभूमि है। अपूर्णतात्प इम सातमें पाप्मा का यही सक्षित विवरण है।

८—संसार

पूर्वोक्त सातों पाप्माओं का एकमात्र फल है—संसार समुद्र में व्योमसा का इकल्ला समार (गमनाममन) स्वरूपपरिचय— विविध भागियों में गमनाममन। जब तक इस के सात उपरुक्त पाप्माओं का सम्बन्ध रहता है, तब तक इसे संसारचक्र में घूमना पड़ता है।

वही आठवों पाप्मा है। इस पाप्मा में धुन्कारा पान के लिए पहिले मात पाप्माओं में निस्तार पाना आवश्यक है। बन्धपर्याय, मुक्तपर्याय, नाम क हा पर्यायों का भी इसी प्रकार रूप पाप्मा में अन्तर्भाव है।



ये आठों ही पाप्मा प्रज्ञापराधमूलक बनते हुए जीवात्मा की स्वतन्त्र (अपनी) कमाइ है। ईश्वर में इन पाप्माओं का आत्यन्तिक अभाव है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि "जीव ईश्वर का अंश माना गया है। साथ ही में ईश्वर में उक्त पाप्माओं का अभाव है। इसके साथ ही ईश्वर की व्यापकता भी सचोत्तिर पदार्थ है। फिर यह पाप्मधर्म जीवसत्त्वा में कहाँ से आए ? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए महर्षि कह रहे हैं—

यथादक दुर्गे बृष्ट पर्वतेषु विधावति ।

एव धर्मान् पृथक् पथ्यस्तानि शानु विधावति ॥ (कठोपनिषत् ४।४)

मूलक पर एक चक्र पर्वत है, पर्वत पर एक दुर्ग (किला) है, दुर्ग पर आकाश से वृष्टि होती है। मयस्क शुद्ध जल दुर्ग पर आते ही पर्वतकन्दराओं में आया हुआ जल जल रूप में परिणत होता हुआ दुर्ग, एवं पर्वत की मलिनता से मलिन हो जाता है। वही अवस्था कहाँ है। व ही ईश्वरीय गुण शरीर रूप विविध पर प्रतिबिम्ब प्रकाशन रूप दुर्ग में आकर पर्वतस्थानीय किंवा पर्वताश्रयस्थानीय जीवसत्त्वा में आकर प्रज्ञापराधमूलक मल-आग से युक्त होते हुए पाप्मारूप में परिणत होजाते हैं। ईश्वरवत् जीव भी अवस्था विग्रह है। ईश्वरीय ओ गुण जाब में आते हैं, व भी विमूर्तिरूप ही हैं। परन्तु प्रज्ञापराध की कृपा से व हो गुण स्वरूप में परिणत होजाते हैं। 'गुणा गुणक्षेपे गुणा भवन्ति, ते निर्गुण प्राप्य भवन्ति दावः।'। वा स्वतन्त्र पदार्थों के जो गुण अवस्था दोष नहीं देखे जाते, दोनों के सम्बन्ध के वैशिष्ट्य से वहाँ गुण-दोष का उदय होजाता है।

इस प्रकार ० विमूर्ति, ८ पाप्मा, मन-बुद्धि, इन सुलभ सामग्रियों का लेकर ही मोक्षा पात्री पात्रों के लिए इस घरातक पर अकथनीय होजा है। साथ विरोध विभूतियों के अन्तर्गत में ४० हैं, एवं आठ पाप्माओं के अन्तर्गत में ३६ हैं। संभूत ७६ कहाँ होजाते हैं। इनक अधिष्ठित २३१ सामान्यविभूतिकलाओं का सम्बन्ध वहाँ ईश्वरवत् विद्यमान है।

इसके पतिरिक्त ज्ञान किया सुखे श्वास प्रकाश-जल जल, वे सात अन्न और होता है। इन सातों अन्नों का कर्मविपाक मायक पाप्मा में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है, मनुष्य जीवसंस्था में १०६ कक्षाओं की सजा सिद्ध हो जाती है, जैसा कि आत्मा की तमि काओं से स्पष्ट होता है।

इसप्रकार पति पूर्वोक्त होता हुआ पूर्वोक्त है। अतएव "अह-अह" इस स्थिति में अह का अकार पद का अन्त माग बनता हुआ अह का मा गी बन जाता है—'अ-ह-अह' यह स्थिति होती है। शुद्ध-पूर्वरूप से 'ओम्' शब्द निष्पन्न होता है। इसका ही उपनिषद् बही आहार है—'तस्योपनिषद्वहमिति'। इस जीवप्रजापति अर्द्धेन्द्र यथा हुआ पूर्वोक्त कोटि में बहिष्कृत रहता हुआ अहम् है। जीव सम्बन्धी "अह-अह" इस स्थिति का अह का अकार अह जीव का अन्त माग बनता हुआ अपरान्त है। अतएव यह अह माय न बहिष्कृत रहता हुआ "ओम्" न बन कर 'अहम्' ही रह जाता है। "तस्योपनिषद्वहमिति" इस शब्द सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा की उपनिषद् अहम् ही है। जब तक अहम् ही है, तभी तक जीव जीव है। जिस दिन इसका अहम् नष्ट होता है, उस दिन पूर्वोक्तमाय का प्राप्त होता हुआ वह पूर्वोक्त में विलीन होता है—

अथोदकं शुद्धं शुद्धमासिक्तं वाद्यमवति ।

एवमुनेर्विज्ञानत आत्मा भवति गौतम ॥ (अ० ४।१५) ।

यह है जीवप्रजापति-अपराध संविदा विचार्य। इसे आत्म ही नहीं मनुष्य का विरासत है—
प्रकारोपसहार—कि इस आत्मोपनिषत् का सम्बन्ध परिरिक्तन से आत्मविषयिणी जिज्ञासा सर्वात्मना शान्त होजायगी, एवं आत्मस्वरूप को न जानने का कारण आत्म के सम्बन्ध में जो शङ्का उपस्थित होती है उनका मा समूलोन्मूल होजायगा।

- | | | |
|--|-----------|---|
| १—अहोपनिषत्संज्ञे शेषोहो, अहोपनिषत् इति वद | अहोपनिषत् | १ |
| २—आत्मस्वरूपमुक्तमो ओहोपनिषत् इति वद | अहोपनिषत् | २ |
| ३—अविद्यासिद्धतागद्वेषमिनेवेता—इति पञ्च | अहोपनिषत् | ३ |
| ४—अहोपनिषत्संज्ञे शेषोहो, अहोपनिषत् इति वद | अहोपनिषत् | ४ |
| ५—अहोपनिषत्संज्ञे शेषोहो, अहोपनिषत् इति वद | अहोपनिषत् | ५ |
| ६—अहोपनिषत्संज्ञे शेषोहो, अहोपनिषत् इति वद | अहोपनिषत् | ६ |

७-स्त्रीपुरुषाभ्यामात्मना विद्याभावात् ————— अर्जुनस्यम् — १
८-संसार-दम्भपर्याय, मुक्तपर्याय-इति प्रब-पर्याया — २

८-पाप्मनः ————— पाप्मानः-वद्विभक्त-३६

— x —

— . x . —

आत्मकज्ञाविभागा- ७०

सामान्यविभूतिज्ञाविभागा- २३१

विशेषविभूतिज्ञाविभागा- ४

पाप्मकज्ञाविभागा- ३६

मनुष्य जीवसंस्कारा- ३७१ कला ।

— . x . —

इत्यात्माविज्ञानोपनिषदि प्रथमायां—

प्राणात्मविज्ञानोपनिषत् ६—

समाप्ता

— . —

समाप्ता चेयं-आत्मविज्ञानोपनिषत्

प्रथमा

१

— . —

समाप्तवाय आदिविज्ञाने प्रथमम्वगद

१

— . —

ॐ शान्ति ! शान्ति ! ! शान्ति ! ! !

— . —

४२-बीषात्मा की प्रशान्ति का मूल कारक—

आत्म्यपुरुष 'आनन्द-विज्ञान-मनः' प्राण-वाक् मेरु हैं पञ्चकोशात्मक माना गया है। पञ्चबाह्य-त्मक इस आत्म्यपुरुष के विद्यात्म्य, अविद्यात्म्य मेरु से दो विभाग रहते हैं। आनन्दविज्ञानमनोमय वही आत्म्यपुरुष रत्नप्रधान बनता हुआ विद्यात्म्य है वही मुक्तिदात्री ब्रह्मात्मा है। मनःप्राणवाहमय वही आत्म्यपुरुष क्लृप्तप्रधान बनता हुआ कर्मात्म्य है, वही अविद्यात्म्य है वही दुष्टिदात्री कर्मात्मा है। मुक्ति-दात्री विद्यात्म्य दुष्टिदात्री कर्मात्म्य से अलग रहता है। इसका कारण वही है कि—'महाभ्युत्थेण प्रकृतिः सुखते स चराचरम्' के अनुसार शुद्धव्यापिका योगमाया के द्वारा दो बर कर्मात्म्य दुष्टिद्वय में प्रवृत्त होता है। इस योगमाया के लम्पट से ही आत्मात्मरूपता का आनन्दविज्ञानमनोमय विद्यात्म्य तो स्वविद्यत व अलग रह जाता है एवं मनप्राणवाहमय अविद्यात्म्य प्रकृत बन जाता है। वह अविद्याप्राप्त्य ही आत्म्य-त्मिक शीव की अग्राणि व मूल कारण है।

[illegible]

इंद्रात्मिक अविद्याबुद्धिबलशून्यी से अन्वयवस्तु के कर्मात्मक अविद्याभाग को तो मोक्षान्न मिलता है एवं ज्ञानात्मक विद्याभाग प्राप्त हो जाता है। मगतिवश विद्याबुद्धिबलशून्यी से अन्वयवस्तु के ज्ञानात्मक विद्याभाग को तो मोक्षान्न मिलता है तथा कर्मात्मक अविद्याभाग प्राप्त हो जाता है। इस दिग्धि से निष्कर्ष यह निश्चय है, विद्याबुद्धि का यदि अन्वयवस्तु के लक्ष बल हो जाता है तो अन्वयवस्तु का विद्याभाग स्वयम्भ से विकसित हो जाता है फलस्वरूप लक्षिक बलशून्य की आत्यन्तिक मिथ्या हो जाती है। यदि अविद्याबुद्धि का अन्वयवस्तु के लक्ष बल उपस्थित रहता है तो अन्वयवस्तु का विद्याभाग प्राप्त बना रहता है, फलस्वरूप लक्षिक बलशून्य अनाद्यसेन मनुष्य रहते हैं। अर्थात् बुद्धिबलशून्यी से क्योंकि अन्वय के विद्याभाग का उपकार होता है। अथ विद्योपकारकत्वात् इस बुद्धिबलशून्यी को 'विद्याबुद्धि' कहना अनर्थ्य बनता है। अथर्थात् बुद्धिबलशून्यी से क्योंकि अन्वय के अविद्याभाग को मोक्षान्न मिलता है। अथ अविद्योपकारकत्वात् इस बुद्धिबलशून्यी को 'अविद्याबुद्धि' कहना अनर्थ्य बनता है। बुद्धि इसलिए 'विद्याबुद्धि' कहाती है कि, इससे अन्वय का विद्याभाग उपलब्ध है। बुद्धि इसलिए 'अविद्याबुद्धि' कहाती है कि, इससे अन्वय का अविद्याभाग उपलब्ध है।

मगधुदि विद्योत्कारकत्वात् विद्याबुद्धि है, ऊँशुबुद्धि अभिव्योत्कारकत्वात् अभिविद्याबुद्धि है, यही निष्कर्ष है। बीचवर्त्तना में स्वभावतः ऊँशुबुद्धि का प्राधान्य है, और यही आध्यात्मिक जीव की अस्तित्व का मूल कारण है।

४३—गीता का प्रतिपाद्यनिष्कर्ष—

‘यद्यपि विद्याया—करोति, भद्रया—उपनिषदा तदेव धीर्घ्यवत्तरं भवति (छां उप १।१।२।) इस बीच विद्वान्त के अनुसार विद्या, भद्रा उपनिषत्, के सहयोग में किया जाने वाला कर्म बलवत्तर होता है। यही उपनिषत् शुद्ध मौखिक उपपत्ति से सम्बन्ध रखता है। मौखिक उपपत्तिके परिष्कृत से ‘इदमस्मिन्मय नान्यथा’ इत्याकारक विश्वास का उद्भव हो जाता है, जिसके उप भू प्रथमसूत्र के ‘उपनिषद्सुम्नरहस्य’ प्रकरण में विस्तार से व्याख्या का सुझा है। मनोयोग का नाम ‘भद्रा’ है जो उपनिषत्परिष्कार पर अवलम्बित है। कार्य—कारणसम्बन्ध—परिष्कार ही ‘विद्या’ है। जिस प्रकार से पद्धति से आत्मा का लक्ष्य के साथ योग होता है—वह विशेष प्रकार—वो कि कार्यकारणसम्बन्धपरिष्कारात्मक है—ही विद्या’ है। मगधुदिविद्युत्की का अभ्यव्यवस्था के विद्यामय के साथ योग हो जाना ही जीवात्मा की शान्ति का मूलकारण है। यह योग कैसे हा है, इसके लिए विद्या—उपनिषत्—भद्रा—तीनों साधन अपेक्षित हैं। योग के मौखिक स्वरूप का परिष्कार ‘योगोपनिषत्’ है। योग के साथ मनोवर्त्तना हो जाना ‘योगभद्रा’ है। एवं कार्यकारणसम्बन्धपरिष्कारात्मक योगप्रकार जान लेना ‘योगविद्या’ है। इसप्रकार योगविद्या (योगानुष्ठानप्रकार) योगभद्रा, एवं योगोपनिषत् तीनों के सम्मन्ध से ही ऊँशुनिर्वाचक मगधुदि का अभ्यव्यविद्या के साथ योग सम्भव है। सम्पूर्ण गीताशास्त्र का यही निष्कर्षत्व विषय है। अभ्यव्यवस्था है तत् प्राप्तिप्रकारभूता विद्या ‘ब्रह्मविद्या’ है। ब्रह्मविद्या के द्वारा प्राप्तव्य अभ्यव्यविद्या के साथ होने वाला बुद्धि का योग ‘योग’ है। ब्रह्मविद्या और योग में ही ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इसीलिए ही गीताध्यायावसंहार में—इति श्रीमद्भगवद्गीतासुप्रनिषत्सु—‘ब्रह्मविद्याया—योगशास्त्र’ यह उक्त हो रहा है जिसका तात्पर्य है—‘अभ्यव्यविद्यायां बुद्धियोगशास्त्र’। अभ्यव्य—अक्षर—घर—भद्री में से यहाँ गीता मुख्यतः से ‘अभ्यव्यवस्था निरूपक शास्त्र है यहाँ बुद्धि ज्ञान, भक्ति, कर्म—योगों में है मुख्यतः ‘बुद्धियोग’ निरूपक शास्त्र है। अभ्यव्यवस्था का स्वरूपविश्लेषण करते हुए उपनिषत्प्रकारभूता अभ्यव्य—ब्रह्मविद्या का निरूपण करना, तथा उसके साथ होने वाला मगधुदिव्योग का निरूपण करना ही गीता का प्रतिपाद्यनिष्कर्ष है।

४४—गीतानुगता विद्या, और योग—

मगधुदिवी के सम्बन्ध से अभ्यव्यवस्थाविद्याका योगप्राप्तिप्रकार चार भागों में विभक्त है। वे विद्याप्रकार चारों प्रकार ही रात्रिर्विद्या—मित्रविद्या—रात्रविद्या—आर्षविद्या इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। यही गीता की विद्याचतुष्टयी है जिसका होने क्रमिक विश्लेषण करना है। दूसरा है—‘योग’ पदार्थ। गुणव्याप्तिका साधनात्मक के आचरण से प्राप्त अठारह स्व—विद्याभाग में अव्यक्तित अभ्यव्यवस्था—अभ्यव्यवस्था का विद्याका स प्रकाशित करने का साधन—उपाय ही ‘बुद्धियोग’ है। विद्याबुद्धि का अभ्यव्य के विद्यामय में योग हो जाना ही विद्वान्धुत्त बुद्धियोग है जिसके लिए—‘इदमस्मिन्मय बुद्धियोग’ नाम कहा गया है। इसी विद्याबुद्धि से युक्त अठारह स्वविद्याभाग से विकसित विद्यामय ही बुद्धियोग’ नाम से व्यवहृत किया जाएगा, जिसके—‘इदमस्मिन्मय

योग प्रोक्तवान् इत्यव्ययम् (४।१।) इस गीतावचन में प्रमाणित है। यहाँ स्पष्ट ही भगवान् ने योग को 'अभ्यस' शब्द से व्यक्त किया है। इस प्रकार बुद्धियोगपाति-उपायकर्म साधना में बुद्धियोग है अभ्यस के साथ जुटा बुद्धि भी बुद्धियोग है एवं ऐसी विद्याबुद्धि से युक्त विद्याभ्यस भी बुद्धियोग है। रात्रिविद्यानुगता वैराग्यबुद्धि का योग वैराग्यबुद्धियोग है, इसमें 'अविद्या' नाम के प्रतिद्वन्द्वी (अविद्याबुद्धि) की निवृत्ति होती है। मिदिविद्यानुगता ज्ञानबुद्धि का योग ज्ञानबुद्धियोग है इसमें 'अविद्या' नाम के प्रतिद्वन्द्वी की निवृत्ति होती है। रात्रिविद्यानुगता ऐश्वर्य्यबुद्धि का योग ऐश्वर्य्यबुद्धियोग है इसमें 'अविद्या' नाम के प्रतिद्वन्द्वी की निवृत्ति होती है। एवं आद्यविद्यानुगता धर्मबुद्धि का योग धर्मबुद्धियोग है 'लघे अभिनिवेश' नामक प्रतिद्वन्द्वी निवृत्त होता है। वही मन्त्रादिगीताध्यातव्य का संक्षिप्त इतिवृत्त है। चार विद्याएँ, चार योग वही चैतन्यात्मक का हास्य विषय है। चारों विद्याओं में रात्रिविद्या अग्रगण्य है शेष तीनों विद्याएँ परस्परानुगता हैं। चारों योगों में वैराग्यबुद्धियोग अग्रगण्य है शेष तीनों योग परस्परानुगत योग हैं किन्तु लोकोत्तरादिक से संभावनपूर्वक भगवान् ने गीताध्यातव्य में संभव कर दिया है। यही यैता की विद्या के तथा यैता के योग का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है।

४५-धम्म, आर नीति का साहचर्य्य—

उक्त चारों विद्याओं में से सञ्ज्ञ की आर्यविद्या का तथा उदनुगत धर्मबुद्धियोग का गीता के ११ में अभ्यास में आरम्भ कर १८ में अभ्यासपर्यन्त ६ अध्यायों में प्रतिपादन हुआ है। सर्वप्रथम इन दोनों विद्या-बोधविभूति की सीमास्था करनी है। इस विद्या-योग-की प्रतिष्ठा 'धम्म' तथा है। अतः विद्या-बोधविभूति की सीमास्था में पहिले दो शब्दों में धम्म तथा का स्वरूपपरिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक होगा। धम्मशब्द के अर्थ 'नीति' शब्द किन्ना ही निमग्नत्व के उपरिष्ठ हो जाय है। किस प्रकार आत्मा और शरीर, दोनों निरप सम्बद्ध हैं एकमेक धम्म और नीति का भी भावीय दृष्टिकोण से बन्धित सम्बन्ध है। नीति शरीर-स्थानीय है धम्म आत्मास्थानीय है। नीति वही नीति है जो धम्म स्वरूप का संरक्षण करती है। धम्म वही धम्म है जो आत्मे आचार पर प्रतिष्ठित नीति को लोभसम्मुख में प्रवृत्त रहता है। यैता नीति अननीति है जो धम्म शरत्त्व पर आक्रमण कर उसे स्वरूपयुक्त कर देती है। यैता धम्म 'अधम्म' है जो नीति को लोकोत्तरादिक की विपत्ति का बना देता है। इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य बना कर धम्म, एवं नीति का समन्वय करविए।

४६-धम्मपद्धति, आर नीतिपद्धति—

आध्यात्मनैर्या का द्वि पद्धति में जीवननिर्वाह होता है वह पद्धति ही धम्मधर्मतरणा का धर्म तथा नीति है। धम्मधर्मतरणा में आत्मा, और शरीर, ये दो मुख्य विषय हैं। आत्मार्थ आत्मार्थ है, शरीरार्थ शरीरार्थ है। अन्तर्मुख आत्मरक्षण इतिप्रयत्नीय है बहिर्मुख शरीरार्थ इतिप्रयत्न है, प्रत्यक्ष है। आत्मा और शरीर के इन स्वरूपभेदों के आचार पर ही धम्म तथा नीतिमार्ग स्थापित हुए हैं। आत्मप्रधान आत्मा भूतप्रधान शरीर की प्रवृत्ति है अतएव धर्म की नीति की प्रवृत्ति यदा कायज्या है। शरीरप्रधान आचार-बहुधर्म (बद्ध-बेधन) में से दो अर्थों में विभक्त है। स्वधर्मप्रधान 'विरम' है, बहुधर्मप्रधान 'बल' है। विरम (बद्ध-धर्म), और बल (बेधन धर्म) दोनों दृश्य-भौतिक प्रपञ्चों की मूलप्रवृत्ति धर्म ही प्रपञ्च बना है। इसी आधार पर—'धर्मों विरमत्व, अज्ञान प्रवृत्ति पर विद्वान् स्थापित हुआ है। अज्ञानप्रधान धर्म—

पक्ष के आधार पर प्रतिष्ठित भूतस्मक नीतिपथ आगे जाकर 'धर्मपथ' में ही अन्तर्भूत हो जाता है। यही अर्थ है कि अन्तर्भूत धर्म, एवं बहिर्भूत नीति के विभिन्न स्वरूपयुक्त होने पर भी भारतीय दृष्टिकोण से नीति भी धर्ममार्ग ही मान लिया गया है। वास्तव्य-भारतीय परिग्रहण में नीति वही नीति है जिसकी प्रतिष्ठा धर्म है। धर्ममार्ग-भूत विशुद्ध नीतिमार्ग वहाँ अनीतिपथ ही माना गया है। लोकस्मवहार नीतिमार्ग पर प्रतिष्ठित है पारलौकिक कौराल धर्म है। यदि लौकिक चातुरी केवल चातुरी है, इससे केवल लौकिक स्वार्थवादन, तथा ही आत्मविश्रुतिरामावर्णक पारलौकिक कौराल की हानि होती है, तो ऐसी चातुरी वहाँ नीति न मान कर अनीति ही मानी गई है। 'या लोकद्वयसाभिनी अनुसृता सा चातुरी चातुरी' इस लोकद्वय के अनुसार चातुरी (नीति) वही चातुरी है जिससे लोकस्मवहारपरम्परापूर्ण आत्मकौराल सुरक्षित बना रहता है। शरीरस्मवहार आत्मस्मवहारानुकूल बना रहे, यही वहाँ की नीति है आत्मस्मवहार शरीर-स्मवहारानुकूल बना रहे, यही वहाँ का धर्म है। और इस दृष्टिकोण से धर्म-और नीति के पृथक्कर्ण होने पर भी दोनों का एकत्र सम्मन्वय हो रहा है। इस सम्मन्वय से कभी दोनों के संघर्ष का अवसर उपस्थित नहीं होता। यदि कभी किसी प्रसङ्ग पर नीतिमार्ग धर्ममार्ग पर आक्रमण करता हुआ प्रतीत होने लगता है, तो ठठ दशा में वहाँ उस नीतिमार्ग की उपेक्षा कर दी जाती है। दोनों के कावित्व संघर्ष में धर्म का ही समर्थन किया जाता है। धर्मविरुद्ध नीतिमार्ग वहाँ का से उपेक्षणीय ही माना गया है। धर्ममार्ग का स्वस्मोपदेहा वेदविद्वांस्य है, नीतिमार्ग का संरक्षक मूर्खमिषिक्त ज्ञानिय राजा है। राजा का नीतिमार्ग वाङ्मय के धर्ममार्ग का आधार बना कर ही प्रवृत्त होता है। अतएव भारतीय नीतिमार्ग का प्रवर्धक-संरक्षक राजा यहाँ निष्कर्षतः धर्ममार्ग का ही संरक्षक माना गया है। राजा की राजनीति धर्ममार्ग का ही संरक्षक करती है। यहाँ आकर हम कह सकते हैं कि वहाँ धर्म और नीति कहने वाले सिद्ध दो विभिन्न पक्ष हैं। बहुतो दोनों अभिन्न हैं। वेदशास्त्रविद्वांस्य धर्म ही वहाँ की राजनीति की मूलप्रतिष्ठा है, जिसका निम्न लिखित शब्दों में स्वरूपविरुद्धोपपन्न हुआ है।

क्रमेण शृणु राजेन्द्र ! यया नीत्या नियुज्यते ॥

आत्मा, सुतो, वा मार्या वा, तद्विशेषं शृणुस्व मे ॥१॥

ज्ञानब्रह्मास्वपोद्ब्रह्मन् योद्ब्रह्मन् सुदक्षिणान् ॥

सेवेत प्रथमं विप्रानघ्रापापरिवर्जितान् ॥२॥

तेभ्यश्च शृणुयाचित्य वेदशास्त्रविनिर्णयम् ॥

यदुज्ज्वले च तत् कार्यं प्राञ्चैतन्नुपभरत् ॥३॥

—आत्मिकपुराण-रामनीति वि प्र० ८२ अ० १।

४७-मतवाद की निमीषिका—

नीतिमार्ग धर्ममार्ग पर किठ दशा में प्रतिष्ठित रहता है, इस प्रश्न का उत्तर आत्मप्रधानता पर निर्भर है। आत्मस्वरूप का समन्वय इन्द्रतत्त्व से एवं शरीरस्वरूप का समन्वय बहिरात्म से स्थाना गया है, प्रकृति कि भूमिप्रकृति प्रथमतया से 'शुक्ल-कृष्ण-हर' नामक प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादन किया जा चुका है। पूर्व-

देहों में इन्द्र का प्राधान्य है बरह गीश है। अतएव इन्द्रानुगत आत्मवत्त यहाँ प्राधान्य है बरहानुगत शरीर गाण है। आत्मा के आधार पर यहाँ शरीर प्रतिष्ठित है। आत्मा के प्राधान्य से ही यहाँ आत्मा यहाँ अनुग्रह है यहाँ बरह—गीशता से शरीर कथ्य है। परिचय दिया कि किन्तात बरह पश्चिम देहों में प्राधान्य है, इन्द्र गीश है। अतएव बरहानुगत शरीर यहाँ प्राधान्य है इन्द्रानुगत आत्मा गीश है। शरीर के आधार पर यहाँ आत्मा प्रतिष्ठित है। शरीरप्राधान्य से ही यहाँ शरीर यहाँ अनुग्रह गुण है यहाँ इन्द्र—गीशता से आत्मा अनोपमिष्ठ है। यहाँ नीति धर्म के लिए है यहाँ धर्म नीति के लिए है। यहाँ धर्म नीति का आधार है, यहाँ नीति धर्म का आधार है। यहाँ दोनों के संघर्ष में नीति को उपेक्षा की जाती है यहाँ दोनों के संघर्ष में धर्म की उपेक्षा की जाती है। यहाँ का प्रत्येक धर्म प्राकृतिक बनता हुआ धर्म है यहाँ का धर्म मानवीय कल्पना से उत्पन्न रहता हुआ 'मन' है। और यही धर्म तथा मन में अज्ञेय का अन्तर है जिसे न समझ कर ही मतवाद की भाँति भारतीय धर्म भी बच मान सिद्धि—यथा की दृष्टि में एक अनात्मिक लाभ ही शान्तिपैसाक तथा अन्या कारण है।

४८—मतवाद का स्वरूपपरिचय—

मतवाद और धर्म के सांस्कृतिक स्वरूप का विचार कर के ही हमें भारतीय धर्म की उपादेयता की सीमाया बतानी चाहिए। उत्पत्तिमयविशेषों में उत्पत्तिमयिक परिस्थिति के अनुसार उत्पत्तिमय के व्यवहार—गुणत बुद्धिमान् समाजोदायो के द्वारा सामाजिक स्थिति के संरक्षण के लिए उत्पत्तिमय के लिए ही का नियमों पवित्रता स्थापित करने हैं उन उत्पत्तिमयिक—आत्मिक—निबन्धनधर्मों की समष्टि का ही नाम 'मतवाद' है। भारतीयों में प्रथम जन्म ब्रह्मचर्य मतवादों पश्चिमी देशों में प्रचलित प्रिमिथ धर्मों से तब मानवीय मन से उत्पन्न रहते हुए मतवाद है। का भारतीय मतवाद ब्रह्मचर्य पर प्रतिष्ठित है (धी) उनका छोड़ कर हम—स्त विश्व के धर्मों का केवल 'मतवाद' ही बच जायगा। सूत्रधारमय में आरम्भ कर प्रत्येकधर्म के समानरूप से प्रचलित 'कतिपय' शास्त्र निबन्धनधर्मप्रति ही 'धर्म' है जिनके उत्पन्न का प्रकार—प्रकार का एकमात्र भेद एतद् शास्त्र उन सामाजिक तत्त्वों पर निर्भर है। यही भिन्न है जिनकी दृष्टि का आधार वैयक्तिक है, एवं किसी दृष्टि से वह मानवधर्म अनुग्रहित में प्रतिपाद्य हुआ है। धर्म कभी नहीं बलता, बलते हैं—मतवाद। धर्म और नीति में कभी संघर्ष उत्पन्न नहीं होता। संघर्ष होता है—मतवाद, तथा नीति में। यही कारण है कि पश्चिमी देशों में धर्म सामक मतवाद के लाभ नीति का मध्यम संघर्ष दृष्ट रहता है। धर्म में विज्ञान एवं गुणि काय का आधार है। अतः इनके संघर्ष के कारण उत्पन्न ही नहीं रहते। मतवाद में केवल अन्धमता है यही विचारानुगत का द्वार लक्ष्य का अर्थ है। अतएव केवल धर्मिणों के लक्ष्य पर मुक्ति दिये मतवादों में धर्म का जन्म हो जाता सामाजिक है। हम के साम्यवाद से दृष्टि मत—वाद के धर्म में धर्म और ईश्वर की उपेक्षा करने में ही अपना कल्याण समझा। साम्यवाद का धर्म देने वाले सामाजिक धर्मों की परिभाषा उनके लक्ष्य में न आता। मान्य हैं मतवादीधर्म धर्म ही शिखरी धर्माति का कारण है। यही कि हमने धर्मवाद ही धर्मवादकाय मतवादी का निश्चय समझा है। मतवाद धर्मिक—गन्धर्व का प्रेरणित करता है। यह धर्मिकता का धर्म ही अनारिपन्न का कारण बनता है। धर्म दे हि मा हीन अनारिपन्न का धर्म भी आता मतवादीधर्म मतवाद ने धर्म दिया है अथवा हा हीनता काय है। यही मतवादीधर्म एवं धर्म धर्म पर प्रतिष्ठित रहते हुए लक्ष्य ही धर्मिक धर्म तथा में धर्मधर्म

करते हुए वहाँ उपादेय, अतएव संश्लेषीय हैं वहाँ अपने अपने सामयिक दृष्टिकोण को ही प्रचलनता देते हुए, अपने आप ही को कस्याय का प्रवर्तक समझते हुए, साथ ही इतर सम्प्रदायों की निन्दा कर समाज-संघटन तोड़ने का महापातक करते हुए सर्वथा अनुपादेय अतएव उपेक्षणीय ही हैं। सम्प्रदायवाद की पातक प्रविष्ट्याभा के अनुग्रह से ही आद्य भ्रम की सर्वनीमिकता अस्तप्राय बन रही है। जो 'तनातनधर्म' किसी युग में सम्पूर्ण विश्व की शान्ति का सन्देशवाहक या वही आद्य सम्प्रदाय के रंग से रजित होकर अशान्ति का कारण बन रहा है। सम्प्रदायवाद के पातक अभिनिवेश (दुराग्रह-दृष्टधर्मी) से ही साम्यवाद के मूलमूल 'समदर्शन' का विनाश हुआ है एवं समदर्शन का विनाश ही समाजशान्ति का उन्नेदक बना है।

शास्त्रकृता के अनुग्रह से पश्चिमी देशों का पूर्व-देशों से सम्बन्ध हुआ। इस सम्बन्ध से दोनों की पुरातन संस्कृतियों का परस्पर आगमन-प्रदान हुआ। परिचाम क्या हुआ, यह भी एक अनुरञ्जन की सामग्री है, जिसका दो धर्मों में विरोधपूर्ण कर देना अप्रासङ्गिक न माना जायगा। हमने उनसे क्या लिया। इसका उत्तर स्पष्ट है। बिम्बता की संस्कृति विविधों को विवरण बन कर लीप्यार करनी पड़ती है। 'कलात' हमने उनकी संस्कृति सम्पत्ता आदर्श स्वीकृत्य, को ही अपने आभ्युत्थन का कारण समझा। अपनापन छोड़ कर हम सर्वात्मना 'दासधर्म' में दीक्षित हो गए। इमार के सब आचार-व्यवहार हमनी ही दृष्टि में केवल ढोंग बन गए, जिनका हमने उनके आचार-व्यवहार से विरुद्ध गमन देखा। उन्हें हम से क्या मिला, सब कुछ। इसप्रकार इस पारस्परिक सम्बन्ध में हमने सब कुछ लो दिया, और उन्होंने सब कुछ पानिया। वे वे ही बने रह कर वहाँ सब कुछ पा गए, वहाँ हमने 'वे' बन कर सब कुछ लो दिया। हमने वैदिक विद्वान्तों की उपेक्षा की, उन्होंने वैदिक संस्कृति का मुलकच्छ से स्थोगमन किया। हमने भारतीय आभ्यात्मता को केवल कल्याण समझा उन्होंने इसी को शान्ति का का कारण माना। उनके इस दृष्टिकोण की प्रामाणिकता के लिए एक दो उदाहरण उद्धृत कर देना भी अनायास्य बन न माना जायगा।

४६-पश्चिमी साम्यवाद पर एक दृष्टि—

जर्मनी के अधिनायक हर हिटलर के आध्यात्मिक गुरु गुप्रतिष्ठ दार्शनिक 'नीत्शे' महोदय ने प्राय विश्व के सम्पूर्ण मनों (ISM) का तथा मनुहसों (RELISEON) का अध्ययन किया। इनके अध्ययन से आप इस निष्कर्ष पर पहुँचें कि 'मृत और मनुहस, दोनों मानवबीजन की स्वभाविक शान्ति के अन्वतम शत्रु हैं। न तो इनसे यज्ञ का वैदिक विधायक ही हो सकता, एवं न इनसे मानव की स्वच्छिन्नेता का ही कोई आभ्युदय सम्भव। क्योंकि इनका नियम संकुचित, अतएव दासता के प्रवर्तक हैं'। आगे जाकर जब नीत्शे को यह विदित हुआ कि, धर्मवत्त्व मृत और मनुहस से कोई विभिन्न वस्तु है विषयों बुद्धि-उत्कृष्टि का समान है जिसकी दृष्टि उत्तर है जिसके नियम निश्चित हैं तो वे धर्मवत्त्व के परिज्ञान के लिए स्थिर हो पड़े। आपने वैदिक-ग्रन्थों का अध्ययन किया। इस वेदशास्त्राय के अनन्तर वेदमिद तनातनधर्म के सम्बन्ध में आपकी यह धारणा हो गई कि—“वे” से बहुत कर कोई भी उत्तम वैशानिक ग्रन्थ नहीं है एवं न वेदमिद मानवधर्म के अतिरिक्त कोई धर्म ही। मानवधर्मप्रतिपादिध 'मनुस्मृति' के सम्बन्ध में आपका यह कथन था कि— इतने उत्थ का सा प्रकाश है। इसमें मानवबीजन को लज्जल बनाने वाले वैशानिक-सत्त्व का विरोधपूर्ण हुआ है। यदि मनुष्य मनु महागात्र के कथाएँ हुए सामाजिक नियमों का पालन करे, तो वह कभी बुद्धि नहीं रह सकता। गुप्रतिष्ठ वेगम्भाती सर्वधी मेस्मूलर महोदय के भी

इस लक्ष्य में वे ही विचार थे। आपने एक समय एक महत्त्वपूर्ण परिणाम (तथा) में सम्पन्न होने से इस लक्ष्य में आपने के विचार प्रकट किए थे कि—“यदि मूक में पूर्ण रूप से, किम देश के बाधुमयदल में मानसिक विकास की ऐसी विधित्ति उत्पन्न हुई है जिन्होंने जीवन-विज्ञान के गूढ़तम रहस्यों पर विचार किया है किन्तु आपकी कक्षा का अर्थपूर्ण प्रयोग, और कक्षा के विद्यार्थी को भी है ?, ता में मारत का और शृंगार करने का”। डॉक्टर बेलेम्यान की लगभग 10-12 वर्षों का लक्ष्य है और मारत का मर से मुक्ति प्राप्त करना। बर्लिन विश्वविद्यालय के संस्कृत प्रोफेसर माननीय स्मृति में तद्विषय में बर्लिन विश्वविद्यालय के प्रमुख का पर्यटन अध्ययन किया। परिणाम में आप इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि—“यदि महत्ता की भावना (एक के सम्बन्ध के आधार पर) आपने जीवन में एक बार भी अपने धर्म के लिए मनुष्यता का अध्ययन कर लेते तो बहुत समय था कि, वे लक्ष्यवाद के प्रस्ताव होने के बजाय वैदिक-सम्बन्ध के एक समर्थ प्रस्ताव बन जाते। हिन्दु धर्म का गुणवत्ता का कि उन्हें ऐसा अवसर ही प्राप्त न हुआ”। जिस युग में पश्चिमी विद्वानों की बड़ी वेद-साधना की और अधिपतिवत् कृती का रही थी, उन बर्लिन की वेद-ग्रन्थ का उस युग के अधिकांश विद्वानों का अध्ययन का अनुभव हो सके। आप अपने समय के बहुत नास्तिक थे। आपका विचार था कि मनुष्य स्वयं ही अपना निर्माता है इस मानवीय शक्ति से वह कर कर कर शक्ति नहीं है। इस दृष्टिकोण को स्थापित कर आपने वेद-धर्म की कटुपरीक्षा प्रारम्भ की। तब से पहिले आपने गीता का अध्ययन प्रारम्भ किया। केवल एक महीने के अध्ययन से ही आपका दृष्टिकोण बदल गया। वेदशास्त्रतत्त्वज्ञान पुनर्बर्लिन विद्वानों पर पूर्ण विचार करने हुए आपने यह स्थापित कर दिया कि—“आहु, तथा परमाणुओं की मुख्य गति की आधार अध्ययन ही सर्वप्रकार के अध्ययन का लक्ष्य नहीं है किन्तु लक्ष्य के लिए बिना मानव का अनुभव अध्ययन है”। आपने बाद में आपने यह विचार प्रकट किया कि, “अन्ततः शिखर पर पहुँच कर विद्वान धर्म के मुख्यतः अधिपतिवत् धर्म में विश्वास हो जाता है”। इसी प्रक्रम प्रियेक मारत, नेली, लोड पीक काकि विद्वानों, और विद्वानों ने भी प्रकट करने से वेद-धर्म की उपादेयता स्थापित कर मनुष्य मारतों का अधिपतिवत् अध्ययन है।

परिचयी विद्वान् इत्यकार वहाँ उद्योतार इमारे वर्म की कौन आकर्षित होते का रहे है वहाँ आत्मसुखानि में निमग्न हम माणीव, विरोधव शिषित माणीव-उनके स्वभाव का अनुसरण करना ही अपना परमपुकार्य मान रहे हैं। अपने वर्म का विरोध और परिचयी (इसके) सम्बन्ध का समर्पण करते हुए माणीव सम्बन्ध कर कलह के धीरे धीरे दूर हम अपने हाथों ही अपने सर्वसाध का आत्मनस करके हुए 'प्रणति के मुक्त स्वप्नी की आत्मनस कस्मान में कस्मान ही रहे है। वैयक्ति क्या क्या है कौन मार्ग का सम्बन्ध करने मर के लिए सम्बन्ध है। उत्पत्ति का विचार विमर्श है। मानते हैं कि, कहीं एक आर्थिक समरका का प्रथम है वहाँ एक मार्ग की विचारणाया योका सुचार कर लगी है। मार्ग का वह कहना कि,—"महर्षि गुरीव, महर्षि, और विद्वान के लिए आर्थिक है, जो उसे अपने अविश्वर का ज्ञान नहीं होने देता" कहना किसी भीमा पर्याप्त लग है। हम स्वयं मत्कारणमय मन्त्रण को शान्ति का शान्ति मान रहे हैं। फलतः हमारे करने में सम्बन्ध से सम्बन्ध नहीं माना जा लगा। मोक्षर स्मृति के शायी में मार्ग की केवल कुलीन मर्त्य का ही ज्ञान का विमर्श होयो का कहना अनिश्चय है। अत्यन्त महर्षि से उर कर लगीं उन्मत्त विरोध किन्ना। वर्म क्या है? वर्म और मर में क्या अन्तर है? इत मर के इमार्थन का कौन उम्मी अन्तर नहीं मिला। अत्यन्त उम्मी 'सम्बन्ध की लुके कर जाती। विमर्श

और ईसाइयत (मत) में परस्पर पर्याप्त संघर्ष हुए हैं । मार्क्स के युग में भी योरोप में मतवादी के अत्याचार ने प्रकट रूप धारण कर रक्खा था । ईसाईयत का पालन-पोषण राजाओं तथा क्रूर पूँजीपतियों के द्वारा होता था । और इस प्रकार ईश्वर के नाम पर गरीबों का चूँसा हुआ रक्तक्षेप उसी प्रकार पूँजीपति पादरियों के उपसनामिन्दों में सञ्चित होता रहता था जिसकि वर्तमान मार्ल के पूँजीपतियों के द्वारा पुष्किल प्रस्तुतित सम्प्रदायाचार्यों के कोष मुक्त अन्यमयाशु आस्तित्वप्रथा के शोषणधर्मों से संघटित अतुल्यद्रव्यराशि से परिपूर्ण हैं । ऐसी स्थिति में मार्क्स ने जो कुछ किया, ठीक किया । धर्म के नाम पर मतवाद का पोषण करने वालों के लिए यदि मार्क्स इस से भी कठिन दयद्वयकरणा करते तो हम उत्कृष्ट भी अभिनन्दन ही करते । परन्तु दुःख है कि धर्म के आस्तिक स्वरूप न जानने कारण अनीश्वरवादतमक ऐसे धर्मवाद का उनकी ओर से आविष्कार हो पड़ा जो करने मर के लिए शान्ति का कारण बना हुआ भी उत्कृष्ट अशान्ति का ही वनफ तिष्ठ हुआ । आध्यात्मिक ज्ञान ही आत्मसंयम और इच्छादमन की मूलप्रतिष्ठा है । आध्यात्मिक ज्ञानतमक ईश्वरीय धर्म से वञ्चित मार्क्स के मौरिक साम्यवाद में भी मतवाद की भाँति आत्मसंयम, और इच्छादमन का अभाव है । अतएव केवल अर्थाशासनक साम्यवाद आत्मशान्ति से कोटौ बुर रहता हुआ मानवजीवन को घुराण्ट बनाए रखने में निरान्त अक्षमर्थ है, जिसका प्रत्यक्षप्रमाण अनेकान्ता अयतिष्ठ ही पर्याप्त है * ।

५०-भारतीय साम्यवाद और धर्मवृष्टि-

भारतीय धर्मवाद की मूल प्रतिष्ठा यह धर्म है जिसके लक्ष्य अहिंसा तथा अस्तंय आत्मसंयम, इच्छा दमन आदि गुण माने गए हैं । एकाधिक धर्म में ही साम्यवाद विरचशान्ति का कारण बन सकता है, जो साम्यवाद मीला के शब्दों में 'समत्वयोग' कहा जाता है । समदर्शन ही इस समत्वयोग की आचारप्रतिष्ठा है एवं यही भारतीय साम्यवाद की मौलिक परिभाषा है जिस न समझ कर वलमान युग के कतिपय राष्ट्रीय मोक्षामर्तो न मीला के साम्यवाद के साथ मार्क्स के साम्यवाद की तुलना कर डालने की भाँति कर डाली है । क्या पूँजीपति होता होर है ? नहीं । क्या लक्ष्य समानरूप से सुखी रह सकते हैं ?, जब कि सुख-दुःख प्राप्ति का स्वधर्म-संस्कारों से सम्बन्ध है ?, नहीं । फिर साम्यवाद का क्या अर्थ ? । साम्यवाद यही आदेश करता है कि यह ठीक है कि अमृदु व्यक्ति अपने कर्मों से ही सुखी है । परन्तु मानवता के लक्ष्य दुःस्वारा यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि, तुम उसके दुःख में हाथ डेंडाओ । प्रकृतिलिख अक्षम्यकरणा से उसकी पारिवारिक स्थिति को सम्प्रती । यह भावना तभी हो सकती है जब आत्मा में दया-कथया-अहिंसा-सर्वभूतहितरति, आदि गुणों का विकास हो । इन गुणों का विकास तभी सम्भव है जब कि आत्मा धर्मागम पर आकृष्ट हो । धर्मभावना के आधार पर प्रतिष्ठित समदर्शनमूला साम्य-भावना ही पूँजीपतियों की प्रकृतियों में उद्वेग उद्वारण का घनावेश कर सकती है । और धर्मात्मिका यह सहबोधाया ही दुःखी-असमर्थ-प्रभावण को कष्ट में भी शान्ति का व्यवसाहन कर सकती है । यही हमारा धर्ममूलक साम्यवाद है जिसके सारा है अदर्शि (भाद्रपद), एवं

* श्वेतकान्तिमूलक भारतीय साम्यवाद तथा रक्तकान्तिमूलक प्रतीय साम्यवाद इन दोनों विभिन्न दृष्टिकोणों का विराट निवेचन 'भारतीय हितमानव, और उसकी मनुष्यता नामक लखद्वयतुल्यतमक सामाजिक निष्पन्न के श्वेतकान्ति का महात्म्य सम्बन्ध' नामक लघुग्रन्थ में देवना चाहिए ।

मंदिर है—राजर्षि (क्षत्रिय) । धम्म मार्ग के उपदेशक ब्राह्मण एवं धम्मजुगत नीतिमार्ग के संरक्षक क्षत्रिय दोनों ही विभाग ब्राह्म मुक्त हैं । ऐसी स्थिति में कार्यक्षेत्रमन्वक गुप्तलगाव (वैरफसनाभ—पूँजीपति) यदि उपलब्ध न बने तो महा आश्चर्य है । और उभय रक्षाधर्म ने अभिहित ऐसे पूँजीपतियों के द्वारा प्रभुत्व का स्वरूपोत्पन्न न हो, तो महा आश्चर्य है । तब तो हम मानिजिरोय यह निवेदन करने की प्रवृत्ति कर रहे हैं कि, यदि हम भारत में भारत राष्ट्र का धम्मजुगत् चाहते हैं, तो सर्वप्रथम हमें समस्त प्रजा के दुःखों का धर्मोपेक्षा करना पड़ेगा । इसके लिए पूँजीपति वैरफसनाभ का ध्यान धम्ममूलक सम्प्रदाय की ओर आकर्षित करना पड़ेगा । "सके लिए धम्मजुगत नीतिमार्ग के संरक्षक क्षत्रियप्रजा का आश्रय लेना पड़ेगा । एवं क्षत्रियप्रजा की दृष्टिनीति को धम्मजुगत् बनाए रखने के लिए वैरफसनाभमान मानवधर्म के उपदेशक ब्राह्मणवर्ग का आश्रय लेना पड़ेगा । संस्कृत में ब्राह्मणवर्ग को वर्तमान संप्रदायवा (मतवाद) की संकुचित दृष्टि से बचा कर इसे राष्ट्रवर्ग धर्म—मानवधर्म में पुनः दीक्षित करने के लिए किमुत्तमाय वैदिकिजन का पुनः उद्धार करना पड़ेगा । तभी मानवधर्म धम्म और नीति की उच्च परिभाषाएँ, पुष्पित प्रकाशित हो सकेंगी, किन्तु विराट वैदिक विवेचन धम्म निरूपण में हुआ है ।

५१—आत्मजुगत धम्मतन्त्र, और शरीरजुगत नीतितन्त्र—

उक्त धर्म और नीति स्वरूप किमुत्तमाय का निष्कर्ष यही हुआ कि आत्मतन्त्र धम्म प्रदान है शरीर तन्त्र नीतिप्रधान है । धम्म प्रदान आत्मा के आधार पर ही तो नीतिप्रधान शरीर प्रतिष्ठित है । नीतिप्रधान शरीर तो धम्म प्रदान आत्मा की आश्रयभूमि है । दोनों में मुख्य वृत्ति धम्म प्रदान करना है तथापि आत्मस्वरूप का रक्षा—विधान तो शरीरस्थिति पर ही अवलम्बित है । शरीर ही तो धर्ममूलक आत्मा का घर बाह्य केन्द्र है किन्तु स्वरूप—उत्पन्न रहने पर ही आत्मा स्वधम्मजुगत्त में समर्थ बनता है । इसी आधार पर—'शरीरमात्रं सन्तु धम्मसाधनम्' का सिद्धांत स्थापित हुआ है । इसी से यह भी सिद्ध हो गया कि बिना नीतिमार्ग की आश्रय धम्म रक्षा असम्भव है । किमुत्तमाय धम्म धुने धावों में नीतिनिष्ठ धम्म धमी सुरक्षित नहीं रह सकता । स्वधम्म रक्षा के लिए प्रत्येक दशा में नीतिमार्ग का अनुगमन अवश्य है । और इतिहास भारतीय धम्म के नाथ भारतीय राजनीति का धर्मिण लक्षण माना गया है । अतएव राजनीति का सम्बन्ध भारतीय राष्ट्रा यही धम्म लक्षण—धम्म मंदिर माना गया है । अतएव स्वधम्म के अनन्वीयवेदा स्थापना धम्म ने—ये बचा मां धर्मधर्म सांस्तधर्म भवाम्बद्धम् को आधार बना कर स्व—धम्म रक्षा के लिए धम्म धर्म पर नीतिमार्ग का अवलम्बन किया है । शिवाजी की आश्रय धम्म धर्म धर्म धर्म पर प्रहार करना 'अरक्षधम्म एत—नरो वा कुञ्जो वा' के आधार पर रोष का बच करना, धर्म के द्वारा दुष्प्रवृत्ति की रक्षा पर धर्मप्रहार करना स्वधर्म के धर्म में रक्षित धर्म पर अवलम्बन करने पर प्रहार करना व एक नीति मार्ग के प्रत्येक उदाहरण है किन्तु स्वधम्म रक्षा के लिए स्वर्ग भवाम्बद्ध की ओर से प्रयोग हुआ है । पर धर्म धर्म है कि बिना नीतिमार्ग के धम्म मार्ग धमी सुरक्षित नहीं रह सकता । तभी तो यही धम्म के स्वधर्म नीति का अवलम्बन माना गया है । नीतिमार्ग भी तो एक प्रकार का धर्म ही है । इसीलिए तो राष्ट्रा के राजनीतिक मार्ग की यही 'राजधम्म' मात्र से ही स्वधर्म धर्म गया है । कुछ है कि, यह कुछ एक शताब्दियों से इस देश में यह धर्मिण उत्पन्न हो गई है कि, धर्ममार्ग एक स्वधर्म धर्म है एवं राजनीति एक स्वधर्म धर्म है दोनों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है । हमारा ध्यान तो इस सम्बन्ध में देश

मन्तव्य है कि, इसी भ्रान्ति ने भारतीय साम्राज्य का अपहरण किया है। विगत शताब्दियों के भ्रमप्रिय भारतीय राजाओं में भ्रम भावना का अनुचित उद्गार करते हुए आध्यात्मिकों को बार बार घमा कर अपना और अपने साम्राज्य का नाश कर लिया जिसके उद्गारण भारत के अस्तित्व सम्राट् पृथिवीराज बीहान हैं।

५२-मताभिनिवेश के दुष्परिणाम—

मताभिनिवेश यन्त्रों के अनन्तर राजनीतिकुराल विदेशी शासकों की इस देश पर अनुप्रासित हुए। नीति के तात्त्विक स्वरूप को भुला देने वाले हम भारतीयों के हृदय में पुनः इस आशङ्का का बम हो पड़ा कि, कहीं वे नवागन्तुक अतिथि भी हमारे धम्म पर तो प्रहार न कर बैठें। यही हमारी निर्बलता का मुख्य बीज था। हम भूल चुके थे इत भिन्नान्त की कि, नीतिकुल धर्म पर कोई भी आक्रान्ता अपना आक्रमण नहीं कर सकता। हम तो उक्त भ्रान्ति के अनुग्रह से कोई धार्मिक बने रह गए थे। 'तुम्हें की कमजोरी से काम उठाना अपने बड़ी बुद्धिमानी है' राजनीति के इस अन्वय भिन्नान्त का धर्म समझने वाले उन नवागन्तुकों ने भारतभूमि पर पैर रखते ही हमारी इस कमजोरी का पता पा लिया। फिर क्या था। महारानी क्रिस्टीना के शासनकाल में यह घोषणा कर दी गई कि 'हमारी राजनीति किसी के धर्म में कोई हस्तक्षेप न करेगी'। हम भ्रान्त भारतीयों ने बड़ी प्रसन्नता से इस बात को धारणा का अभिनन्दन करते हुए अपनी नम्र मूर्खता का स्वरूप विदेशी शासकों के सम्मुख रखने में अपने आपको गौरवान्वित माना। भूतलिप्ताप्रदान उनकी राजनीति के प्रयोग आरम्भ हुए, इस कौराल से कि जिनके द्वारा अपत्यक्ष रूप से हमारा सर्वत्र दिन बहाने सुटने लगा। हम धर्म-धर्म बिहाते रहे और उनकी राजनीति के महोदर में हमारा धर्म, साहित्य, संस्कृति सम्पदा आचारधर्मभार, शिखर कला, वाणिज्य, सब कुछ विनिर्मित होते गए। आगे बाहर उक्त घोषणा की भी उपेक्षा आरम्भ हुई। क्रिस्टीना में अन्तर्जातीय विवाहादि अन्न उपस्थित होने लगे। उनके द्वारा नहीं, भारतीयों के ही द्वारा। इसलिए कि राजनीति के ध्यामोह ने उन्हें धर्म स्वरूपरक्षण से सर्वथा बञ्चित कर दिया था। तभी तो आज के शिक्षित भारतीयों के यह अनर्गल प्रताप देखे-सुने का रहे है कि विदेश का धर्म से क्या सम्बन्ध है, खान पान से धर्म का क्या सम्बन्ध है। मानी इनकी दृष्टि में धर्म तो एक बड़े लोकगीत-अध्वन्यास्य पदार्थ है जिसका मानवसमाज के वैदिक प्रवृत्तियों से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। वहाँ हमारी राजनीति एक धर्मभूला थी वहाँ हमारा धर्मपथ भी धर्म सीमा से बहिष्कृत मान लिया गया। तब कहीं बाहर हमारे धर्मनेताओं (पवित्रतमज) की आँखें खुलीं। क्रिस्टीना की घोषणा दोहराई गई। परन्तु सुनता कीन था। व्यवहारबगुन में उठी की मुनी जाती है जिसके हाथ में नीतिशास्त्र सुरक्षित रहता है। वह धर्मनेताओं के पास है वहाँ। फिर इन निर्बलों की ओर सुने और क्यों सुनें। आज भी तो हम उसी भ्रान्तभावना को दोहराने का पाप कर रहे हैं। किसी भी धार्मिकमध्य पर बुरा बाह्य। पहिली घोषणा यह होगी कि 'हमारी वह संस्था, यह तथा राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। हमारा लक्ष्य एकमात्र धर्म प्रचार है। घोषणा करने वाली से क्या हम यह पूछ सकते हैं कि, धर्मव्यवहार। क्या राजनीति धर्म नहीं है?। क्या आपके धर्मशास्त्रों में राजनीति का निरूपण नहीं हुआ है, क्या आपकी राजनीति को धर्म (राजधर्म) नाम से व्यवहृत नहीं किया गया है। फिर आपने किस आधार पर यह मान लिया कि, धर्म का नीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। स्मरण रखिए, यदि आप भी इसी भ्रान्ति में पड़े रहे तो धर्म तथा तो आप क्या करेंगे—अपनी रक्षा भी आप न कर सकेंगे। धर्म को मूलप्रतिष्ठा बनाइए, राजनीति को धर्म प्रयोग का द्वार बनाइए। तभी तो आपके राष्ट्र का अभ्युदय सम्भव है। उच्च विदेशियों

की नकल करने वाले बात मान राष्ट्रवादीयों से हम यह निवेदन करेंगे कि पण्डितश्रीमानुषह से उनके सम्मुख धम्म का जो स्वयम् उपाधित हुआ है, नीतिव्यवस्थित, अतएव रचनात्मक मार्ग से सर्वथा बहिष्कृत यह धम्म बहुत मठवादी है। शान्तिविधात्मक सम्प्रदायविशेष है। एतद्वत्ता ही भारतीय विज्ञानमित्र धम्म की आर से उनका स्वरूप हो जाना भेष-धन्वा नहीं है। उन्हें यह नहीं मुझा देना चाहिए कि, जित्त बहिष्कृत के आचार पर वे मातृकर्त के सम्मुख की कामना कर रहे हैं, जित्त राजनीति के द्वारा वे साम्प्रदाय के मुख स्कन् धर रहे हैं, यह बहिष्कृत यह साम्प्रदाय सम्प्रदायानुगत बनाया हुआ धम्ममूलक ही है। बिना धम्म को आचार बनाए न हो उनका राष्ट्रधर्मना ही कभी पुण्यित पञ्चवित्त हो सकती एवं न धम्मबन्धित, अतएव साम्प्रदायिक बहिष्कारवाद को ही वे मुरझित रख सकते।

५३-धम्म, और अधम्म बशपरिचय—

बहिष्कारवादी राष्ट्रीय नेता कहा करते हैं कर्ण को अपना मित्र समझो। बहिष्कृत को दुःख बनाया।। सुखामन्त्र!!! परन्तु कैसे? क्या वह किमुक्त राजनीति-मार्ग विरुद्धनी का अनुगामी बन सकता है बिल्कुल समोपग्रहान समझे आत्मक बड़ा व्यवहार से सम्भव है।। धर्मतन्त्रबार्ध आचरन्कल्प से अपेक्षित विधायक का अपनाते वाले राजनीति-धर्म में क्या बहिष्कारवाद मुरझित रह सकता है।। कभी नहीं। यह तो धम्म मानना का मूलकार बनाने पर ही सम्भव है। क्योंकि मैत्री, बहिष्कृत, उत्तम सर्वव्यापक्यति आदि गुण धम्म से ही सम्भव सकते हैं। हमारे राष्ट्रीय नेता दासद्वि से भी ए. आर. मी भारतीय धम्म तत्त्व पर दृष्टि डालने का अनुग्रह कर लेते तो धम्म के प्रति उनकी यह उपेक्षा न होती। धम्मबन्धनधर्मों का दिग्दर्शन करते हुए शास्त्र ने हमें कल्याण है कि, दशव्यापसि का १ धम्माधी में ११ धम्माधी का धम्म के साथ पश्चिमवृत्त हुआ है। इन ११ धर्मियों से धम्म के ११ पुत्र उत्पन्न हुए हैं, वही धम्मवंश है। वे धर्मिणी क्रमशः बड़ा मैत्री, दया, शान्ति, दृष्टि, पुष्टि, किञ्च उच्चति, बुद्धि मेधा विविधा, ही (करुण), मूर्ति, न नामो स प्रविष्ट है (धीमन्मोक्ष)। मातृव्यापसि इन ११ धर्मियों के क्रमशः श्रुत (स्व) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ है। मैत्री से प्रसाद (आत्मविश्वास) दया से करुण शान्ति से सुख दृष्टि से समतोय, पुष्टि से गन्ध (आत्मामितान) विद्या से वाग (धम्मबुद्धिमेधा) उच्चति से धर्म (आत्मनिर्मल-स्वात्मविशेष) बुद्धि से अर्थ (आत्मकल्पति), मेधा से स्मृति विविधा (स्मरणशक्ति) से धर्म ही से प्रचक्षुष एवं मूर्ति से नन्दारायसु (नर बाण नायक्य ईश्वर, शेनो का लक्ष्मणकर्म) नामक पुत्र उत्पन्न हुए हैं। नर, नारायण का बहिष्कृत माना गया है तो ११ के स्थान में बौद्ध संस्था हो जाती है। पुण्यकर्मों में दृष्टी धम्मवंश का धम्म विविध शब्दों में स्वीकारण हुआ है—

धृदा-सहमी-धृति स्तुति-गुणि-मेधा-तथा क्रिया।

मुदि-संज्ञा-वपु-शान्ति-सिद्धि-कीर्ति-स्योदरी ॥

पश्यन् प्रतिज्वाह धम्मो दादायसी प्रह ॥ १ ॥

भद्रा-कामम्, भी-दम्, नियम पृथिरात्मजम् ॥

मन्तापम्भ तथा तुष्टि, लोभ पुष्टिरमृत ॥ २ ॥

मेघा-भुम्भे, क्रिया-द्वन्द्व, नय-चिन्ता मेव च ॥

पाथ पुष्टि, स्तथा लज्जा चिन्ता, वपु-रात्मजम् ॥ ३ ॥

ध्वजसाय प्रज्जे वै, क्षेम शान्तिरमृत ॥

सुमुख सिद्धि, येश कीर्तिरित्यते धर्मधनव ॥ ४ ॥

अधर्मवशा का निरूपण करत हुए शास्त्र ने कहा है—हिना अधर्म की कमी है, हमने अनृत (मिथ्यामायण) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ है । निरुति नाम की कन्या उत्पन्न हुई है, जिसके गर्भ से नरक, और भय नाम के दो पुत्र (अधर्म के दो हिस्से) उत्पन्न हुए हैं । नरक का विनाश माया ने हुआ है मय का विनाश वेदना ने हुआ है । माया से मयपुत्र उत्पन्न हुआ है, वेदना ने दुःखपुत्र उत्पन्न हुआ है । मृत्यु से बरा व्याधि, शोक दुःखा आदि पुत्र उत्पन्न हुए हैं । यही अधर्म का लक्षित वंशवित्सार है, का वर्तमान युग में सर्वप्रमत्ता पुष्पित पक्षित हो रहा है । और निश्चयेन यही अधर्म वंश का वर्तमान राष्ट्रमत्ता का मूलाधार बनता हुआ हिंस, मिथ्यामायण माया वेदना व्याधि शोक दुःखा, आदि का उद्योग निरु हो रहा है । (मार्कण्डेयपुराण) । अथ चम्पू लक्ष, तन दान निरुध धमा शीघ्र, अस्तेष, अहिना तुयान्ति, इन दत्त अर्द्धों ने युक्त धर्म ही आत्मतत्त्वमूर्तक इन्द्रादमन का कारण बनता हुआ उत भारतीय आत्मवाद का पौरुष बनता है जिसने धर्मात्मक आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले 'समर्थन' को प्रधान बना कर नीत्यात्मक शरीर से सम्बन्ध रखने वाला शिवमर्षन (प्रकृतिमैदिक विभिन्न व्यवहार) पुष्पित पक्षित हुआ है । ठीक इनके विपरीत इन्द्रियप्राप्त का अन्वय, कृपणा उच्छ्रूल आहार्यहार, अशुचि, हिंस, अप्रति, शयादि अर्द्धों ने युक्त अधर्म ही आत्मतत्त्वमूर्तक इन्द्रियमार्गमार्ग का कारण बनता हुआ उत पाश्चात्य आत्मवाद का पौरुष बन रहा है जिसने आत्मतत्त्वमूर्तक अधर्ममार्गमार्ग शिवमर्षन तथा शरीरानुसृत सम्बर्धन (प्रकृति-मैदिक आत्मतत्त्वमूर्तक समानाधिकार) पुष्पित पक्षित हो रहे हैं । दोनों आत्मवादों में से कौन उदात्त है ? हम प्रश्न के निर्णय का मार बिंदु पाश्चात्य पर ही खोजने हुए हैं । सम्बन्ध में हम अपनी आर से यही निवेदन करना पर्याप्त समझते हैं कि किसी भी कार्य पद्धति की किंवा निष्ठा की उपयोगिता उसके फल से निर्गम होती है । परस्पर में हम एक दूसरे के शत्रु बने रहें अधर्मनिष्ठा में निमग्न रहें व्यक्तिप्रतिष्ठा में मग्नमग्न बने रहें और ऐश्वर्य करते हुए विभिन्नप्रकृति वाले यन्त्रवाचक मनुष्यों का समानाधिकार का पाठ पढ़ते हुए उन्हें सर्वोच्चतुल्य अविधारमिद विभक्त धर्मपथ से व्युत्पन्न करते रहें एवंविध विमर्शनानुगत सम्बर्धनप्रमथ शरीरमी आत्मवाद एक कार्य पद्धति है । इसका फल क्या हुआ ? यह आज प्रत्यक्ष हो चुका है । इसी पद्धतिमत्ता में आज स कैवल्य मार्ग ही, अति नग्न विरह का मानवमार्ग अश्रवणित लक्ष्य में निमग्न हो रहा है । इसी फल से इसी उपयोगिता स्पष्ट है । परस्पर में वैरोधाच रखी, अधर्मनिष्ठा ने बचे रहें, व्यक्ति-

को नङ्ग करने वाले का मान राष्ट्रवादियों ने हम यह निवेदन किया कि पश्चिमाश्रयियों से उनके सम्पूर्ण धर्म का जो स्वरूप उद्घाटित हुआ है नीतिमयज्ञान, अतएव रचनात्मक मार्ग से सर्वथा बहिष्कृत वह धर्म सम्पुनः मृतवा है। आन्तिमप्राप्तक सम्प्राप्तियों है। एतावता ही भारतीय विज्ञानविद् धर्म को मात्र स उनका उद्घाटन हो जाना अपेक्ष्य नहीं है। उन्हें वह नहीं मुना वेना चाहिए कि, विश्व धर्म के आधार पर वे भारतीय धर्म के सम्पुनः को जानना कर रहे हैं, किन्तु राष्ट्रीयता के द्वारा वे सम्प्राप्त के मुन स्वयं दल रहे हैं वह धर्म वह सम्प्राप्त सम्पुनःनामुन बनला हुआ धर्ममूलक ही है। बिना धर्म को आधार मानकर न तो उनका राष्ट्रधर्म ही कभी पुनित पञ्चित हो सक्ती, एवं न धर्मज्ञान, अतएव आधुनिक धर्मधर्म को ही के पुनित रह सकते।

५३—धम्म, प्यार अचम्म बरुपरिषय—

आदिनामदी राष्ट्रीय सेवा करा करते हैं बागू को अपना मित्र समझे। अहिंसा को मुख्य बनाया।। मुन्हालाम्।। परन्तु वेन ? क्या वह किण्व राक्षसीति-साग विरचमैत्री का अनुसंधान की लक्ष्य है शिवाय समानुप्राधान शब्दोंवाचक बागू व्यवहार से लक्ष्य है ?। अर्थात् अहिंसा का अर्थ अहिंसा विनाश की अभिमान बाग राक्षसीति-पथ में क्या अहिंसा मुक्ति पर लक्ष्य है ?। कभी नहीं। वह तो अहिंसा का मुन्हालाम् बनाम पर ही समझ है। क्योंकि मैत्री, अहिंसा, अन्तः, सर्वव्यापक, आदि गुण धर्म में ही लक्ष्य लक्ष्य है। हमारे राष्ट्रीय सेवा दशरथ से भी ए बार भी भारतीय ब्रह्म लक्ष पर दृष्टि डालन का अनुसंधान कर लें तो लक्ष्य के प्रति उनकी वह उल्लास न होनी। अहिंसाधर्मियों का गिन्तान कराने हुए ध्यान में इन लक्ष्य है कि, अहिंसाधर्मियों का १ कम्पाओं में ११ कम्पाओं का धर्म के साथ पाणिपट्ट हुआ है। इन ११ पत्रियों में धर्म के ११ पुत्र उत्पन्न हुए हैं वही धर्म बंध है। वे पत्रियों कम्पा बाग मैत्री, दया शान्ति बुद्धि, पुष्टि, विद्या उत्पत्ति, बुद्धि मैत्री विविधा, ही (बाग), धर्म, इन नामों में प्रसिद्ध है (अहिंसाधर्म)। अहिंसाधर्म इन ११ पत्रियों का कम्पा बाग में उत्पन्न (लक्ष्य) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ है। मैत्री में प्रसाद (आत्मविश्वास) दया में अमय शान्ति में सुख भुक्ति में सम्राज्य पुष्टि में राज्य (आत्मविश्वास) विद्या में धर्म (धर्मपुष्टि) उत्पत्ति में धर्म (आत्मविश्वास-व्यापक) बुद्धि में अहिंसा (लक्ष्य), मैत्री में स्मृति विविधा (अहिंसा) से लक्ष्य ही में प्रकट एवं धर्म में अहिंसाधर्म (नर बीज, बागपुत्र ईश्वर, दोनों का अहिंसाधर्म) नामक पुत्र उत्पन्न हुए हैं। नर, बागपुत्र को यदि बुद्धक माना जाता है तो ११ के ११ धर्म में बीज अहिंसा ही जाती है। अहिंसाधर्मियों में ही धर्म धर्म का निम्न निम्न शब्दों में लक्ष्य लक्ष्य है—

भद्रा-लक्ष्मी-शुनि स्तुति-शुद्धि-मेषा-तया क्रिया ।

धुदि-ल-त्रा-चपु-शान्ति-मिति-सि-सि-अपादरी ॥

पन्त्यं प्रतिप्राद धर्मो दादापत्नी प्रभु ॥ १ ॥

भद्रा-कामध, श्री-दप, नियम श्रुतिरात्मजम् ॥

सन्तोषञ्च तथा तृष्टि, लोभं पृष्टिरक्षयत ॥ २ ॥

मेघा-भुत, क्रिया-व्याह, नय-धिन मेघ ध ॥

षोड शुद्धि, स्तथा लज्जा धिनय, वपु-रात्मजम् ॥ ३ ॥

व्यवसाय प्रज्ञे वै, ज्ञेय शान्तिरक्षयत ।

सुमुखं सिद्धि, येन श्रीर्षिरित्येते चर्ममनव ॥ ४ ॥

अधर्मवर्ग का निरूपण करते हुए शास्त्र ने कहा है—हिंस्र अधर्म की फणी है, इससे अनुवृत्त (मिथ्यामायया) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ है । निरुक्ति नाम की कन्या उत्पन्न हुई है, जिसके गर्भ से मरक, और मय नाम के दो पुत्र (अधर्म के दोहित) उत्पन्न हुए हैं । मरक का विवाह माया से हुआ है, मय का विवाह वेदना से हुआ है । माया से मुमुपुत्र उत्पन्न हुआ है, वेदना से दुःखपुत्र उत्पन्न हुआ है । मृत्यु से बरा व्याधि, शोक वृष्णा क्रोधादि पुत्र उत्पन्न हुए हैं । यही अधर्म का लक्षित वर्गनिस्सार है, जो वर्तमान युग में सर्वप्रमाणा पुष्पित पल्लवित हो रहा है । और निरन्तरने यही अधर्मवर्ग आज वर्तमान राष्ट्रकल्पना का मूलाधार बनता हुआ हिंस्र, मिथ्यामायया माया, वेदना व्याधि, शोक वृष्णा, क्रोधादि का उत्प्रेषक सिद्ध हो रहा है । (मार्कण्डेयपुराण) । अथ अधर्म, लज्जा, लप, दान नियम धृमा शौच, अस्तेय, अहिंसा दुरान्ति, इन दस अङ्गों से युक्त धर्म ही आत्मवचनपूर्वक इन्द्रियारमन का कारण बनता हुआ उस माखीव धर्मवाद का पोषक बनता है जिसमें धर्मात्मक आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले 'अमर्शन' को प्रधान बना कर नित्यात्मक शरीर से सम्बन्ध रखने वाला विषमवर्तन (प्रकृतिभेदसिद्ध विभिन्न व्यवहार) पुष्पित फलवित हुआ है । ठीक इसके विपरीत इन्द्रियारमन का अस्व, कृपकता उन्मुख कल काहारविहार, अशुचि, हिंसा, क्रान्ति, हत्यादि अङ्गों से युक्त अधर्म ही आत्मवचनपूर्वक इन्द्रियव्यापार का कारण बनता हुआ उस पारवचन धर्मवाद का पोषक बन रहा है जिसमें आत्मवचनपूर्वक अधर्म बनित विषमदर्शन तथा शरीरानुगत सम्बर्तन (प्रकृतिभेदसिद्ध अमाहृतिक अमानाधिभार) पुष्पित फलवित हो रहे हैं । दोनों धर्मवादों में से कौन उपादेय है ? इस प्रश्न के निर्णय का भार सिद्ध पाठकों पर ही छोड़ते हुए इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से यही निवेदन करना पर्याप्त समझते हैं कि किसी भी धर्म्य प्रकृति की किंवा सिद्धान्त की उपयोगिता उसके फल से निर्धार होती है । परस्पर में हम एक दूसरे के शत्रु को रहें, अर्थशिक्ष में निमग्न रहें, व्यक्तिप्रतिष्ठा में मग्न रहें और देख करते हुए विभिन्नप्रकृति वाले व्यवसाय मनुष्यों को अमानाधिभार का पाठ पढ़ते हुए उन्हें स्वबोध्यानुगत अधिभारसिद्ध विषमक धर्म्यपथ से व्युत्पन्न करते रहें अर्थविष विषमदर्शनानुगत, अमवर्तनमय परिचयी धर्मवाद एक धर्म्य प्रकृति है । इसका फल क्या हुआ ? यह आज प्रत्यक्ष हो चुका है । इसी राष्ट्र कल्पना से आज न केवल भारत ही, अपितु सम्पूर्ण विश्व का मानवसमाज अधमाराधित लक्ष्मी में निमग्न हो रहा है । इसी फल से इसकी उपबोधिता स्पष्ट है । परस्पर में वैभीषाव रहें, अर्थशिक्ष से बचे रहें, व्यक्ति-

प्रक्रिया के मोड़ में न पड़ें और ऐस करके हुए निमित्तप्रकृतिक मनुष्यों को विभिन्न कर्मों में प्रतिष्ठित रखते हुए उन्हें स्वातन्त्र्य पर आकृष्ट बनाए रहें। एर्षयिष्य सम्पूर्णानुगत नियमवर्तनात्मक पूर्वी शास्त्रवाद एक कर्म्य-पद्धति है पूर्ण परीक्षित विद्यन्त है। इच्छा फल क्या हुआ था !, वह उठ खड़ीत भारत से पूर्वस्थ, किन्तु मुक्त-शान्ति का पूर्ण अभ्यास था इसी फल से इच्छा कावरक उपारोपण प्रमाणित है और प्रमाणित है भारतीय सम्पूर्णानुगत आत्मयुक्त ब्रह्म, तथा नियमवर्तनानुगत शरीरयुक्त नीति की उपदेष्टा। यही ब्रह्म और नीति का प्राग्वहिक स्वरूपमिच्छावर्णन है।

५४-धर्मस्वरूपविज्ञान-

शास्त्रवाद के प्रसङ्ग में पूर्व में हमने कि धर्मत्व का यथोक्त विद्या उच्छा दार्शनिक स्वरूप परिवर्तन भी अपेक्षित है। मनु, ब्राह्मणस्वरूप धर्मशास्त्रों में धर्म के जो लक्षण दिए हैं वे सुप्रसिद्ध हैं। उत्तर-स्मृति स्मृतियों में उनका आकलन किया जा सकता है। धर्म के मूलभूत विज्ञानतत्त्व के विस्तृतमात्र हो जाने से परिचयी विज्ञान के आकलन से प्रमाणित होने वाले वर्तमान विज्ञित मातृत्वों की दृष्टि में केवल शब्दप्रमाणमात्रक समारं धर्मलक्षणों का विशेष महत्त्व नहीं है। अतएव प्रस्तुत परिच्छेदों में हमें विज्ञानदृष्टि से ही धर्मत्व का स्वस्वरूपपरिचय करना है कि परिवर्तन के अन्तर्गत किसी भी वैज्ञानिक को धर्म की शाब्दिक उपयोगिता में कोई रुचि नहीं रह सकती। 'धर्म शब्द का अन्वयार्थ है—'भारत करने वाला'। आर्यावर्त का भाव है 'भूत भारतो मयि-या ए ८१।२७) 'मन्' शब्द के हाथ 'धर्म' शब्द मिलन हुआ है। किन्तु जो भारत करने वाला होने लक्ष धर्म है। यह धर्म उपनिषद् हुआ। इन धर्म के समाधान के लिए हमें सर्वप्रथम 'भारत' का अर्थ करने की आवश्यकता हुई। क्योंकि 'भारत' अर्थ आचार्य वैद्यनाथ से भी उपलब्ध रहता है। सम्पूर्ण पदार्थों की दृष्टि में भारत कर रहता है। इस दृष्टि से दृष्टि की पार्थिव पदार्थों का धर्म है। शरीर पर कर्तव्य है, कर्तव्य पर रग है। मेव पग पुस्तक है। इष्टत में रहनी है। क्या इन समात्मक-वर्तमान धर्ममात्रों का ही नाम धर्म है। हाँ तो अर्थधर्म भी धर्म का आका। क्योंकि अधर्म लक्षण पाप के आधार पर भी तो अलक्षणी प्रसिद्धि रहते हैं। क्या आर्यावर्तक धर्म की यही दार्शनिक परिभाषा है।

५५-स्वधर्म, परधर्म-परिभाषा-

धर्म के समाधान के लिए वैज्ञानिकों ने धर्म तत्त्व के 'स्वधर्म' 'परधर्म' में से दो भेदविभक्त माने हैं। किन्तु तब से किन्तु मौखिक पदार्थ का स्वस्वरूप वृत्त रहता है यही भारत तत्त्व उक्त भेदिक पदार्थ का स्वधर्म है। इस स्वधर्म के आभित आत्मशास्त्रिक धर्म ही उक्त भेदिक वृत्त के लिए परधर्म है। यदि परधर्म आभित मौखिक पदार्थ की स्वस्वरूपान्विति नहीं करते उच्छेद स्वस्वरूपक स्वधर्म को हानि नहीं पहुँचाते तब तक तो वे परधर्म आभितधर्म कहलाते हैं। यदि इन परधर्मों से पदार्थ के स्वधर्म की हानि हो जाती है तो वे ही परधर्म अधर्म कहलाने लगते हैं। अतएव स्वधर्म आभितधर्म अधर्म भेद से धर्म तत्त्व के तीन विधाय हो जाते हैं। आभितधर्म अधर्मक परधर्म प्रत्येक दृष्टा में भेदधर्म ही बना रहता है अर्थात् कि—'स्वधर्म' निषेध दोष परधर्मों भव्यवहार बचन से प्रमाणित है। मौखिक विज्ञान (पदार्थविद्या) की दृष्टि से पदार्थों की उदाहरणों का भव्यवहार नीतिव्य। अर्थात् उदाहरणों में

‘असेज-संयोगात्’ (नै ए ५।२।२५) सिद्धान्तानुसार ‘द्रव’ नामक घनाग्निधर्म के समावेश से बड़ी पानी संपादनात्मक में परिणत होता हुआ द्वार (कर्क) बन जाता है, एवं ‘धर्त’ नामक तरलाग्निधर्म के समावेश से बड़ी पानी द्रवमात्र में परिणत हो जाता है। बल में द्रवधर्म विज्ञानदृष्ट्या सांख्यिक (नित्य) नहीं है अपितु नैमित्तिक है। घनाग्नि पानी को घन बना देता है तरलाग्नि तरल बना देता है। पानी को तरलरूप में परिणत करने वाला तरलाग्नि पानी में अन्तर्व्याप्त सम्बन्ध से प्रसिद्ध हो रहा है। आत्मसमर्पणसम्बन्ध ही अन्तर्व्याप्त सम्बन्ध कहलाया है। तरलाग्नि के तापलक्षणात् स्वधर्म ने बल के प्रति आत्मसमर्पण कर अपने ताप धर्म को बल के द्रवस्वरूप स्वधर्म में परिणत कर रक्खा है। बड़ी ताप द्रवस्वरूप से बल का स्वधर्म बन रहा है। बड़ी द्रवत्व बल का स्वरूपलक्षण स्वधर्म है। क्योंकि इसी द्रवधर्म की सत्ता में द्रवत्वलक्षण बल की स्वधर्मलक्षा है। जिस दिन वह द्रवत्व उत्पन्न हो जाता है, उसी क्षण बल का स्वरूप ही उत्पन्न हो जाता है। अतएव स्वधर्मरूप इस द्रवत्व को हम बल का स्वरूपकारक स्वधर्म कहने के लिए सम्यक् हैं। स्वधर्म कुछ इस बल को किसी पात्र में रक्त कर हमने इन्धन के संयोग से इसमें आग्नेय ताप का बहिर्धर्म-सम्बन्ध से प्रवेश करवा। पानी गरम हो गया। यह आग्नेय तापधर्म बलाभिध बनता हुआ बल का अभिध धर्म लक्षण परधर्म है। इसके बाद जाने से पानी का कुछ बनना नहीं निकल जाने से पानी का कुछ सिगड़ता नहीं। अतएव इसे आगन्तुकधर्म कहना अन्वर्थ बनता है। यदि अग्नि-संयोग तीव्र कर दिया जाता है, तो आगन्तुक तापधर्म प्रबल बन जाता है। प्रबल तापधर्म बल को वाष्परूप में परिणत कर उत्कृष्ट स्वरूपनाश कर देता है। इस दशा में आभिधधर्मलक्षण बड़ी ताप धर्म के स्वधर्म का स्वरूप-विपाक बनता हुआ अधर्मलक्षण परधर्म बन जाता है। इसप्रकार बहिर्धर्मसम्बन्ध से प्रसिद्ध आगन्तुकधर्म गरम सीमा पर पहुँच कर अधर्म बन जाता है। यही परधर्मजिह्व अधर्म स्वधर्म का उल्लेख बनता हुआ धर्मापदार्थ के स्वरूपनाश का करण बन जाता है। इस धर्म-तत्त्व-निर्वचन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि जिस प्राणायाम का शक्ति के आधार पर आत्मिक (भूतलमक) पदार्थों का धर्म स्वरूप प्रसिद्धि, सुरक्षित यज्ञा है वह धारक शक्तिरूप ही उग पदार्थ का धर्म, जिसे स्वधर्म है। एवं जिसके समावेश से पदार्थधर्मोन्मोहद्वारा धर्मावस्था निवृत्त हो जाता है, बड़ी उत पदार्थ के लिए अधर्म जिसे प्रसाह परधर्म है। जब तक धर्मापदार्थ स्वधर्म से युक्त है, धर्म पर प्रसिद्धि है तभी तक उत की स्वधर्मप्रसिद्धि है। ताप-प्रकाश सूर्य के धर्म हैं इनके निकल जाने पर सूर्य का कोई स्वधर्म नहीं। शीत प्रकाश आह्लादाग्नि आन्ध्रधर्म हैं इनके अभाव में अन्धता का कोई मूल नहीं। तत्त्व पदार्थों की तत्त्व विभिन्नप्रकृति के भेद से विभिन्न तत्त्व स्वधर्म हैं तत्त्व पदार्थों के विभिन्न धर्म हैं। इसप्रकार प्रकृतिमे से एक ही धर्म आगे जा कर चतुर्धर्म आचतुर्धर्म पशुधर्म मानवधर्म देवधर्म, गन्धर्वधर्म आदि अनन्त शाला-प्रशालाओं में विभक्त हो जाता है। इसी में बर मो दिख हो गया कि ‘अ’ धर्म किसी के लिए स्वधर्म है बड़ी धर्म प्रकृति वाले के लिए अधर्म है। शीतधर्म अन्धता का बड़ी स्वधर्म है बड़ी शीतधर्म अग्नि के लिए परधर्म बनता हुआ अधर्म है। इसी प्रकृति मे- के आधार पर धर्माधर्म की व्यवस्था हुई है। यही क्यों, देश-आज-पात्र-द्रव्य भेद के कारण से बड़ी धर्म परिनिष्ठितप्राप में अधर्म बन जाता है बड़ी अधर्म धर्म बन जाता है। निरपराध का मारना अधर्म है अपराध साक्षात्कारी का मार देना धर्म है। बड़ी हिंसा एक रथान पर अधर्म बन रही है अन्ध बड़ी धर्म बन रही है। ईर्ष्याएँ तो धर्म का कोई नियत लक्षण नहीं दिया जा सकता। देश-आज-पात्र की

अनुस्यूत से चर्म का चर्म शस्त्रास्त्रिक बन कर ही हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। इसी आधार पर प्राणी बाहर चर्म से-देशचर्म, आतिचर्म, कुलचर्म आदि अपने-अपने विपरीत हो जाते हैं। इसी आधार पर चर्मचर्मों में चर्म का निम्न स्थिति यौगिक लक्षण किया है—

देशे काल उपायन द्रव्यं भक्ष्यसमन्वितम् ।

प्राप्ते प्रदीयते यत्तु सकल चर्मलक्षणम् ॥

—भा. सू० १।६।

यस्मिन् देशे य आचारो व्यवहार कुलस्थिति ।

तत्रैव परिपाल्योऽसौ यदा वक्ष्यमाणतः ॥

—भा० सू० भा० १। ३४३।

यह ही चर्मका चेतन पशु हो अथवा मनुष्य, देशता हो अथवा अति विदेशी जैसी प्रकृति है, जिसका जैसा वर्ण है वही अनुगत उस प्रकृति चर्म की व्यवहारपूर्वक को चारक उत्पन्न उस वस्तुत्व की व्यवहारता करता है वही उस अनुगत चर्म का चर्म है। इसमें मैं प्रसिद्धि अस्तव्योमी ही प्रकृतिरूप है। वही प्रकृति उस अनुगत को निवर्तयमानुगामी बनाए रखती है। अतएव इस प्रकृति को नियमितकन कहा गया है। यही निवर्त व्यवहार चर्मरूप है (वेस्तिरुत या १४।१।१९।) जिसका वर्णवर्णवर्ण के निम्न के लिए ब्रह्म की ओर से प्रादुर्भाव हुआ है। यही वह स्नातन रूप है, जिसका मौलिक विज्ञान तो मुद्रिपत्र (वेदशास्त्र) में निवर्तित हुआ है एवं व्यवहार्य आदेश स्तुतिपत्र में उद्धृत हुए हैं। किन्तु कि गीतानुमिश्र 'का' विज्ञान के आरम्भचर्मप्रकृति में विज्ञान के व्यवहार का युक्त है। प्रकृतिमैत्र के आधार पर व्यवहारित्य वही वैज्ञानिक चर्मवेद मायौव स्नातनचर्म की मुख्यप्रकृति है। वैज्ञानिक विभिन्न चर्म कर ही व्यवहारकन को अनुगत का अनुगामी बनाता हुआ इसे नि-वेदकप्रकृति बनाता है। इसी आधार पर महर्षि कणाद ने चर्म का लक्षण किया है—

‘यद्योऽनुस्यूत-नि-म्रेयससिद्धिं स चर्मः’ ।

—वेदोपनिषद् १।१२।

१६-चर्मविशेषप्रतिपत्ति, और तद्विचारकथा—

यह लक्षण चर्म प्रकृतिरूप है तो इसके लिए आवेश की आवश्यकता नहीं हुई। पशु, पक्षी, अति देशता चर्म, सभी ही प्राकृतिक चर्मों में किया किन्तु ही प्रवेश के ही आकृति है। मनुष्य भी चर्म प्राकृतिक रूप है तो उसके लिए शास्त्राचार कभी आवश्यक माना गया है, वह प्रजन उपस्थित होता है। जिसका स्नातन है-मनुष्य का स्नातनिक अनुगतकण प्रकृति। अतः महर्षि ही इसमें योनि करता है। अनुगत व्यवहार से व्यवहारता बहिष्कृत है। अतएव मानवत्व ही अनुगतकण का माना गया है। इसी प्राकृतिक अनुगतकण के कारण मनुष्य प्रकृतिरूप बनाता हुआ अपने स्नातनिक मानवचर्म से एकत्रित हो जाता है। किन्तु कि निम्न स्थिति वही से भी प्रमाणित है—

ॐ अमेज्यो वै पुंस्यो यद्वर्तनं वर्तते । तेन धृतिरन्तरतः । (शत० १।१।१।१।)

सत्यमेव वेद्यं, अन्तर्त मनुष्या (शत० १।१।१।१।) ।

“ता इमा प्रजा-तपैवोपजीवन्ति-यथैवाम्य-प्रजापतिर्व्यदधात् । नैव देवा अति कामन्ति, न पितरः, न पशवः । मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति” ।

—शां० भा० २।४।२।५, ६, ।

अतमूलक अतएव अदृष्टात्मक मानवशुक्लम प्रजापराध से होने वाले इस मर्यादातिक्रमस के निरोध के लिए ही इसके लिए शास्त्रोपदेश अपेक्षित हुआ । कैना शास्त्रोपदेश ? जिस के प्रवर्तक वे आत्मदर्शि वे जिन्होंने इन्द्रियातीत गुणतम प्राकृतिक रहस्यों का साक्षात्कार किया एवं उसी के आचार पर मानवधर्मात्मक प्राकृतिक नियमोपनिबन्धों का शब्दरूप से सम्पादन किया । अग्निप्रतिष्ठ, विधि-नियमक्रमक यही सम्पूर्ण शब्द-राशि अनुशासनधर्म के सम्बन्ध से—शास्त्र कहलाया जिसका निर्बचन गी भू प्रथमतयाज्ञानतर्गत ‘शास्त्र-शास्त्रनिबचन प्रकरण में किया जा चुका है । यही शास्त्र मानव कर्तव्य-अकृतव्यम्य का अन्वतम तथा निर्गन्त निर्यायक माना गया, जिसके सम्बन्ध में स्वयं गीताचार्य श्री-‘तस्माच्छास्त्रं प्रमाद्य ते कार्यार्थं कार्यव्यवस्थितौ’ यही सम्मति प्राप्त हुई है । शास्त्रार्थ-श्रुति-स्मृति-पुराण-नेत्रकों में प्रतिपादित, एतच्छास्त्रनिष्ठाव सन्नितानों के द्वारा अनुष्ठित प्रकृतिभिन्न मानव-धर्मकलाप ही धर्म है जिसके अनुगमन में मानव की स्वरूप-रक्षा है । जिसके परिष्कार के मानव का स्वस्मयिनाश है । यही भारतीय वैज्ञानिक धर्म का संक्षिप्तत्वकम परिचय है जिसका यथार्थ बोध प्राप्त करने के अनन्तर कर्म ही इसकी उपबागिछा का निरोध नहीं कर सकता । इन धर्म-परिभाषा का अवगत कर लेने पर हमारे नवनिश्चित माट्टीयों को यह स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि धर्म केवल पारलौकिक निर्भयस का ही आवक नहीं है, अपितु “तथा ऐहलौकिक धर्मुप के साथ भी परिष्कार सम्भव है । हमारे ऐहिक, आधुनिक, कल्पवाक्य कर्म कलाओं का साकल्य धर्मानुगमन पर ही सम्भव है । धर्मानुगत कर्म ही गीतापरिभाषा में स्वकर्म है शेष धर्म विरुद्ध धर्म विरुद्ध अकर्म बनते हुए आत्म-शरीर-पवन के ही कारण हैं-‘तस्माद्धर्म परमं यदन्ति’ ।

५७-विज्ञानसिद्ध धर्म के अवान्तर भेद—

यों ता विज्ञानसिद्ध इस धर्म के अन्तर्गत में है परन्तु बुद्धिबुद्धि प्राणिधर्म की दृष्टि से हमका कथितव्य संख्याधी से भी बिरहोपलब्ध किया जा सकता है । निरन्तर यह उपो-ज्ञान साधण विद्याभ्युदितव प्रवृत्तिधर्म का अनुगमन करते रहना आत्मिक वाचपूर्वक वेगति सम्पन्नता में रह रहना निरन्तर निष्ठापूर्वक-स्मृति का अनुगामी होने रहना य सब द्वयधर्म हैं तनुगामी मनुष्य भूवत् है । अधुपराधम से ध्यान लेना मन्त्रता को आचार बनाए रहना बुद्ध्यापार में निष्ठ रहना विगुह नीतिमार्ग का अनुगमन करना ये सब द्वयधर्म हैं तनुगामी मनुष्य दैव्य है । ज्ञानयोग में रह रहना, ब्रह्मविज्ञान का अनुगमन करना इत्यादि-सिद्धधर्म हैं तनुगामी मनुष्य मिथ्य है । नृत्य गीत-वाद्य-में रह रहना नरम्पती की उपासना करना ये सब गान्धर्वधर्म हैं तनुगामी मनुष्य गन्धर्व्य है । गान्धर्व के बाध्यों में प्रवृत्त रहना, विज्ञानतत्त्वा अनुगमन करना कन्यका की उपासना करना ये सब विद्याधर्म हैं तनुगामी मनुष्य विद्याधर है । शक्तिवि शिख-कलाधी में निपुण बन रहना गान्धर्वविद्यानिष्ठ बन रहना, शिखोपासना में रह रहना, ये

एव कम्पुरुषधर्मः है तदनुगामी मनुष्य किम्पुरुष है। ब्रह्मचर्य, मानवाहित्य, योगाभ्यासपति, सर्वकाम-
चारित्य, ये सब पुरुषधर्म हैं तदनुगामी मनुष्य पितर हैं। ब्रह्मचर्य निषिद्ध आहारविहार, दण्डन इन
गतिमा निष्करोतिनियम सेवन इत्यादि व्यापधर्म हैं, तदनुगामी मनुष्य अपि हैं। शास्त्रसाध्याय ब्रह्मचर्य,
दण्डन यज्ञन आचार्यरय अनायास शीघ्र माङ्गल्य शिव-राक्षसपुत्रान इत्यादि मानवधर्म हैं, तदनुगामी
मनुष्य मानव हैं। वनव्रतव, वैश्रवण योग दयाध्याय शिवरूढन चरद्धार, अग्रीव इत्यादि गुह्यधर्म
हैं तदनुगामी मनुष्य गुह्यक हैं। परदारगमन परवनशोचपुत्रा, प्रसक्तोराजानादि धर्म राक्षसधर्म हैं
तदनुगामी मनुष्य राक्षस हैं। परदारगमन अविशेष्य, मद्य-मांससेवन अज्ञान अपवित्रता, अकर्मभाव
इत्यादि पैशाचधर्म हैं तदनुगामी मनुष्य पिशाच हैं। सुखेही नानक राक्षस के प्रन करने पर मर्हिनी
ने इन्हीं द्वार धर्मनानियों का विस्तारण किया है।

सुखेशिरुवाच—किं लघुशो मयधर्मः, किमाचरणसदृक्पि ।

यमाश्रित्य न सीदन्ति उवाचास्तु, तदुच्यताम् ? ॥

श्रुप कञ्चु —योनयस्तु द्वादशौता सहस्रमावस रावस ॥

ब्रह्मणा कथिताः पुण्या द्वादशैव गतिप्रदा ॥

—बामनपुराण ११ अध्याय ।

४२—माकृतिक—धर्मस्वरूपपरिचय—

देव, दैत्य, भिद्र, गन्धर्व, विषादर, किम्पुरुष, पितर, श्रुति पुण्य राक्षस, पिशाच, वे म्बरह
मुनसिद्ध देवयोगिनो हैं। इनका ईश्वरपरायण में ब्रह्मस्थान आवास है। मनुष्य में इन पाण्डों का उपावेश
हुआ है। किन्तु मनुष्य में किन्तु प्राकृतिक देव-दैत्यादि का प्राधान्य कमतर रहता है, वह तत्प्राप्तानुगत धर्म
की ओर ही अभिमुख रहता है। इसी आधार पर देवपुत्रा में मानवधर्म में ही उक्त बाह्य में शिथिलता है।
तब भी है कि, मनुष्य तदर्थेकादिकधर्मों का अनुगमन करता हुआ अपने आन्तरिक उपादेशों से मुक्त
कर लता है। इन द्वार धर्मयोगिनी में मानवधर्मानुगत मानवधर्म इत्येक सन्निधय महत्त्व पूर्व
पाना वाक्य है, इन्हीं ईश्वरधर्म धर्मधर्मों का सम्बन्ध हो रहा है जो 'सर्वधर्मोपपत्तेर्य' विधान ईश्वर
के लिए प्रकृत हुआ है वह अन्तर्गत पुण्य के लिए ही धरित हुआ है। इसी आधार पर 'पुरुषो ह वै
प्रजापतर्नैविक्रम' यह निम्न प्रतिष्ठित हुआ है। मनुष्य अपने में उच्चवृत्ति में पहुँच कर देवता बन
रहता है। निम्न भूमिका में पहुँच कर नहीं राक्षस, पिशाचयोनि का अनुगामी बन लता है। किन्तु को
के धर्म का वह अनुगमन करेगा यह उही रूप में परिणत हो वाक्य। क्योंकि पुण्य के अन्तर्गत का धर्म
कोई रूप नहीं है। अति ब्रह्मरूप के अनुगम ही ब्रह्म को परिणत हो जाना प्रकृत है। 'मह्यमयोऽप्युपको
वा पच्यते' स एव सः—'तं यमायधोपासने तथैव यजति' इत्यादि भौत-मात्र क्रियन्तों के अनुसर
ब्रह्मरूपता महा ही इसके धर्म की आवाणीता करो है। यही कारण है कि, ब्रह्मरूप के परब्रह्म-

मन्त्रों के स्वरूप में परिणित हो जाने में आब हम भारतीयों की अद्भुत स्वभाव में विमुख होती जा रही है एवं परधर्म का अनुगमन करती जा रही है। स्वयं भारतीयों की दृष्टि में उनका वैशिष्ट्य कनातन-धर्म आब अभिमान बना हुआ है एवं मत्वाङ्गलक्षण परधर्म इनकी दृष्टि में अद्भ्यो बनता जा रहा है। यह व्यामोह तभी दूर सकता है, जब कि हम भारतीय उस मानवधर्म का तात्त्विक स्वरूपपरिचय प्राप्त करें जिसमें समावापकारक आनुवंशिकधर्म तथा व्यक्त्युपभारक आभिमनधर्म युक्ति पन्तवित हुए हैं। काममात्र शब्द से रही कामना करते हुए धर्मस्वरूपपरिचय उपरत हो रहा है • ।

आर्यविद्या के आचार पर प्रतिष्ठित धर्म नाम की विद्याबुद्धि से युक्त 'धम्मबुद्धिवोग' नामक योग ही गीताशास्त्र में 'निष्कामकर्मयोग' नाम से व्यवहृत हुआ है। इस दृष्टि से गीता का 'कर्म योगशास्त्र' कहा जा सकता है। 'कहा जा सकता है' इस लाघार्य वाक्य का प्रयोग 'न' लिए किया जा रहा है कि निष्काम-धम्म योग गीताशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय नहीं है। मुख्य प्रतिपाद्य विषय है-आर्यविद्या का आचार पर प्रतिष्ठित वैराग्य नामकी विद्याबुद्धि से युक्त 'वैराग्यबुद्धिवोग' नामक योग, जो गीताशास्त्र में 'बुद्धिवोग'-'योग'-'समत्वयोग' इत्यादि नामों से व्यवहृत हुआ है। और इस दृष्टि से गीताशास्त्र को प्रधानतः 'बुद्धि-योगशास्त्र' कहना ही सर्वात्मना सुगृह्यत बनता है। ऐसी स्थिति में जिन आर्यवीन (सिद्ध) गीताधर्मशास्त्रियों ने गीताशास्त्र को एकदिलका जो 'कर्मयोगशास्त्र' नाम से व्यवहृत कर दिया है वह उनका आधातम्यवर्णन अतएव अमान्य सिद्धान्त ही माना जा सकता है। इसी अमान्य सिद्धान्त का प्रचलनता देते हुए आब सर्वथापारय के मुख से, भिद्योत, गीतामह गद्योप दल के भीमुख से यह कहते सुना गया है-कि, गीता केवल निष्काम-धम्म का उपदेश दे रही है। अथ मे इसी धर्मगत गीता में मुख्यतः से केवल निष्कामधर्मयोग का ही प्रतिपादन हुआ है। अन्ति का व्यवस्थान बड़ी क्पाप्त नहीं होबता। अपितु जब हम उन निष्कामधर्म-पक्षपातियों की ओर में उपस्थित की गई कर्मपरिमाया पर दृष्टि डालते हैं, तो हमें आश्चर्यचकित इत-लिए रह जाना पड़ता है कि जिस गीताशास्त्र को आचार बना कर वे अपने कर्मवाद का स्वतन्त्र सामान्य प्रका के सम्मुख उपस्थित करने के लिए आगे बढ़ते हैं उस कथित धम्मवाद का गीताशास्त्र में एक शब्द से

इस उक्त धर्मस्वरूपपरिचय-प्रसङ्ग में हमने यत्रतत्र धम्म को 'प्रकृतियिद्ध' धम्म' कहा है जिसका अर्थ होता है 'प्रकृतधम्म'। प्रकृति जब अपने प्रकृतियिद्धविशेषण चरमाप से परिवर्तनशीला है, तो तत्पू प्रकृतधम्म 'शारवतकनातन' केमे हुआ। यह प्रश्न उपस्थित होता है, जिसका व्यवहृतप्रवर्तक सामयिक निष्काम में विचार से समाधान हुआ है। प्रकृत में बड़ी जानकर स्तोत्र कर लेना चाहिए कि, पू में 'विद्या' स्वरूप प्रसङ्ग में हमने आचार-धर्म-मूला जिन परा-अपरा-विद्याओं (निर्वविद्याओं) का दिग्दर्शन कराया है प्रकृत धम्म का इन्हीं प्रकृत धर्मधर्मविद्याओं से सम्बन्ध है जिसे हम 'निर्वधम्म' भी कह सकते हैं। सर्वापारम्य अम्पधमा ही इस प्रकृत निर्वधम्म की प्रकृति है। प्रतिप्राप्तक बड़ी धम्मवत्तधम्म-'शारवतस्य च धम्मस्य' (गीता) के अनुसार शारवत कनातनधम्म है जो सर्वथा अप्रकृत (पुरुषात्मक) है। इस शारवत आश्रमधम्म पर प्रतिष्ठित निर्वधम्म ही प्रकृतधम्म है जिसे 'प्रवीरधम्म' माना गया है। आश्रम-धर्माङ्गुत यह प्रकृतधम्म भी आश्रमधर्म का संवाहक बन जाता है। पञ्चाशत ही निम्न प्रकाशकत हम प्रकृतधम्म को भी (प्रवीरधम्म) को भी 'शारवत कनातनधम्म' उपाधि से सम्बन्धित मान लिया है। इस व्यवस्थे-रूप को लक्ष्य बना कर ही अत्र निरूपित 'धम्म' स्वतन्त्र का सम्बन्ध करना चाहिए।

मी नहीं भी समर्थन नहीं हुआ है। भारतीय वेदादि शास्त्रों में वर्णाश्रमधर्मविरोधी, हिनाचारविहारकुल को उच्छृङ्खल कर्मवाद एकान्तता निषिद्ध माना गया है, समस्त नानुगत विषमदर्शनमुक्त, अतएव अश्व-शर्म्य, अतएव विकर्म—अकर्मालोक को अश्वालीक कर्म एवं पीठाश्वाल में परे परे निम्न मांषित हुआ है, निष्कामकर्ममूलक राष्ट्रीय गीताश्रमों की दृष्टि में निच-निषिद्ध आश्वालीक कर्मवाद ही आश्व गीता का निष्काम कर्मयोग बना हुआ है। यदि वे शास्त्रविद्वि गीतासम्मत वर्णाश्रमधर्मानुगत निष्काम वैदिककर्म को धर्मो कर गोश्व को निष्कामकर्मप्रधान धोषित करने का अनुग्रह करते तब भी किसी क्षीमापधर्म उन का अपराध सभ्य या परद्व बल हम यह देखते हैं कि, गीताके नाम की अनन्वयमयि प्रकाशित करते हुए अब वे गीता से एकान्तता विद्वद अपने कल्पित कर्मवाद को ही गीतासम्मत मानने-मनवाने की कृता कर रहे हैं। तो कहना पड़ता है कि अभी वे गीताशब्द के अन्वयार्थ से भी अपरिचित हैं। सब के साथ समानकर्म से अन्वयारकरी ईश्वरीय सृष्टि में सब को समानाधिकार प्राप्त है। वर्णाश्रमधर्मकत्वा एवं अनुगत अधिकाधिक दृष्ट-दृष्टक निवृत्त कर्म केवल प्राचीनों की भ्रान्त कल्पना है। इत्यादि शास्त्राल का अन्वयार्थ विद्वान करने वाले इन राष्ट्रीय निष्कामकर्म धोषितों का सम्मत अतएव अब भी विदित न हुआ-मेवा कि, 'निष्कामकर्म योग' का शास्त्रार्थ भी क्या है। यह तो है उनकी प्रकाशित और वैद्य है उन का कर्मयोग एवं सर्वोपरि गीताशब्द का अन्वयार्थ एकेकमप्यनार्थ।

५६-निष्कामशब्द की निरर्थकता—

निष्कामशब्द का अर्थ है—'किना कामना-इच्छा-के किया गया कर्म'। तत्त्वज्ञ से विचार कीक्य, क्या किना इच्छा के कर्मप्रवृत्ति सम्भव है।। इही निष्कामकर्म का दूस्त इतिवृत्त है—'अज्ञानप्र का सर्वथा परिच्छिन्न विच्छा—'कर्मोपेक्षाधिकारमत्ते मा फलपु कदाचन' इत बचन से ही स्पष्टीकरण हुआ है। वही आकर 'निष्कामकर्म' का विज्ञानार्थ अर्थ होता है 'किसी भी फलप्राप्ति की इच्छा न रखते हुए कर्म करने करना। शास्त्र कहता है कर्म करने वाला कर्माला ज्ञान-किना-अर्थ-रहितम है। अतएव-उत्त का स्वकार 'स वा एष आत्मा धातुमया प्राकृतमयो मनोमया' इत्यादि औपनिषद् विज्ञान के अनुगत मन-प्राण-बाह-मय है। मनसर्व ज्ञानराक्षिप्रधान है। प्रत्यक्षपर्व विज्ञानराक्षिप्रधान है एवं बाह्यपर्व अर्थराक्षि-प्रधान है। इतके इन तीनों पर्वों से क्रमशः काम तब अब इन तीन विभिन्न व्यापारों की प्रवृत्ति होती है। ज्ञानमय मन से किया मनोमय ज्ञान से सर्वप्रथम 'इह' दुर्बल, इह से स्पष्ट इत्यकारण 'अम (कामना-इच्छा) का उद्भव होता है। अतएव शिष्ट केद ने कहा है—'अमस्तत्त्वमे समवर्ततामि मनसा देत' प्रथम कदासीन (अध्याय २।१९।१७)। कामना मन का ही रेत है एवं प्रत्येक कर्मप्रवृत्ति से पहिले इच्छा उदित होना अनिवार्य है। लौकिक-पारलौकिक-न्य-अल-अर्थ म भी कर्म हो प्रत्येक के मूल में मनमयी कामना प्रवृत्ति है। इत कामनाप्रवृत्ति का उद्भव का मूल कारण है—'अज्ञान'। यदि हमें यह बोध हो जाय अथवा तो बोध करा दिया जाय कि अमुक कर्म करने से कोई फल नहीं मिलेगा तो वह प्रवृत्ति है कि, उत कर्म में हमारी प्रवृत्ति ही न होगी। प्रवृत्तिमनमनुशिरव न मनोऽपि प्रवर्तते' इत लौकिक न्याय के अनुसार किना प्रबोधन-कल को लक्षण बनाए एक अत्र भी किसी काम में हाथ नहीं डालता। मुन से 'निष्काम शब्द का उच्चारणमात्र कर देने की कथा तो बृत्ती है। नहीं, तो हम पूर्वोक्ते हैं क्या विरव का बड़े से बड़ा निदान मेवा अपने हृदय पर हाथ रख कर शपथ-गुस्तर यह

कह सचदा कहि, 'इन तो बिना कमेन्द्रा के ही, बिना कामना के ही कम्म कर रहे हैं' । कलप्पा की भाति में अन्तर हो सकता है। किसी की कलप्पा मनुचित हो सकती है किसी को विद्या। कम्म कमेन्द्रा का रहना प्रत्येक दशा में अनिवार्य इसलिए है कि बिना इच्छा के प्राणव्यापारलक्षण तप (मन-वृत्ति-वेदा) अन्तर्भव है एवं बिना तप के वाग्व्यापारलक्षण जम (शरीरव्यापारलक्षण बहिर्गम्यार) अन्तर्भव है। हम सुत्रप्रणिपों की तो बात ही क्या, वह कि सम्पूर्ण विष्णु का अपीरकर स्वयं जगत्पति भी स्वधर्ममिति के लिए काम-तप-जम-लक्षण व्यापारणी का ही अन्तर्भव करता है, वैरागि-‘जम या इन्द्रम पक्ष आसीत् सऽकामयन्-‘पक्षेऽहं बहु स्थाम्’। सोऽकामयन्, स तपोऽन्यत् स मोऽकामयन्’। तस्य कामयमानस्य अन्तर्भव तत्त्वस्य मन्तव्यस्य तजो रमो निरवश्यामिः इत्यादि भूमि में प्रमाणित है। प्रत्येक कर्म सर्वप्रथम कामना भाषेष्ट है। हाथ दिखाना एक कम्म है। नर्वप्रथम हाथ दिखाने’ इस कामना का उदय होता है, वह कम्मन्मा की मन बना का व्यापार है। इस मानमेन्द्रा के अव्यवहिततर बाध में ही प्रमाणव्यापारलक्षण तप हो सकता है। इच्छा क होने ही इन्द्र में आरम्भ कर हमनयन् हाथ उठाने का अन्तर्भाव हो सकता है जिसे वेन्मा में मनु, दशनमाया में वृत्ति व्यापारमाया में मन-वेदा एवं वाक्माया में ‘कोशित’ कहा गया है। यही प्राणव्यापार है जिसका हमें अन्तर्भव अन्तर्भव में अनुभव होता है। इस अन्तर्भाव के अव्यवहिततरनाल में ही वाग्व्यापारलक्षण बहिर्गम्यार हो सकता है हाथ दिख पड़ता है। यही कम्ममान की कामान्य-अनिवार्य व्यवस्था है। मूलाधार जनमेव मन हमने कर्मकर्मपूर्वक सर्वप्रथम इच्छा का उदय तदनन्तर वृत्ति का उदय अन्तर्भव कम्म (बहिर्गम्यार) का उदय एवं इच्छा-वृत्ति-कर्म इन तीनों कामान्यापारों में कम्म की स्वकल्पित्वमिति । इसी कम्मन्मक का निम्न विनिर्दिष्ट बचनों में समर्थन हुआ है—

मानवन्त्या मबदिच्छा, इच्छावन्त्या वृत्तिमवत् ॥

वृत्तिवन्त्य मवत् कम्म, तन्तत् कृतमुच्यते ॥१॥

अकामस्य क्रिया अपिदु द्रव्यत नेह कदिपित् ॥

यपदि कृत किम्बिचत्त कम्मस्य पेरितम् ॥२॥

—मनुः १५४

६०—कलत्यागानुगत निष्कामकम्म का महान् व्यामोहन—

बिना मन (शरीरव्यापार) के कर्ममिति अन्तर्भव, बिना तप (प्राणव्यापार) के जम अन्तर्भव, एवं बिना जम (मनव्यापार) के तत्त्ववृत्ति अन्तर्भव । यन्तः यच्चत्तत् कर्ममिति की अन्तिम विद्या-भूमि ब्रह्मा होता है। अब कलहाए, आरत निष्काम कर्म का क्या महत्त्व रहा ?। निष्काम कर्म का वह अन्तर्भावार्थव्य क्या आरत कल्पित निष्कामान का मुक्ति रत्न कोश ?। हाँ हाँ तो अनुभव कर बनाए बने ।। हाँ नहीं, हाँ काब में ही वह कहना कुछ दीर्घ कि निष्कामकर्म केवल ब्रह्म मात्र की मनु है व्यापारमा में इच्छा कोई उत्पन्न नहीं। दात प्रत्येक कोने-यँ पैना या बिना है हाँ काबान में वह वेमे किन आचार का वह दाता कि ‘हैन ब्रह्मा का मुँहने दूर कर्म करो । उतर में हम आन में निवेदन की कि, मण्डन म जो बड़ी की वह नहीं कहा है कि, ‘हम वक्त व उदय व्यापार बिना निरदेष

बन्धु कर्म में प्रवृत्त हो जाओ।' अणि ठीक इसके विपरीत बुद्धकर्म के लिए अणुन को प्रेरित करते हुए भगवान् ने यही कहा है कि—'इमे अपरम इव अविबन्धोन्वित इव बुद्धकर्म में इतिष्ठि प्रवृत्त इति। आदि कि, इन बुद्धकर्म में तेरा दोनों मति लाभ है। मर गया तो स्वर्ग मिलेगा और मर तो अमरत्व मुझ का उपमान होगा—'इतो या मात्स्यसि स्यार्य, मिस्था या भोषयसे महीम्' (गी १।१०)। इसी बात को धारो कर भगवान् अणुन को बुद्ध के लिए उत्साह करते हैं—'तस्मादुत्तिष्ठ कोमल ! मुखाय कृतनिश्चयः। स्वग, और अस्मायुक्तप्राप्त्यर्थ, फलों को उदरेय बना कर अणुन को बुद्धकर्म में प्रवृत्त करने वाले भगवान् ने 'कलाया लोहव हुण कम्म करो' यह कहाँ अपने कर्म का दावा ! कर्म व कर्म उपलब्ध फलप्राप्त में ही इन दोनों की ऐसी भगवन्निष्ठ उपलब्ध नहीं हुई। फिर आपने किंतु आपात पर अपने अस्मिन् निष्पामकर्म को भगवत्कर्म कृताने का दावा कर दावा ! ठहरिए, लम्बकर्म मिला के 'कर्मण्येवाधिचारस्तं मा फलेषु कदाचन' इन वाक्य ने आपका धर्म में दावा दिया है। हमने निष्पामकर्म धारियों को शठ्या गीता के इत वाक्य का उच्चारण करते सुना है। और इतका यह धर्म भी सुना है कि भगवान् करते हैं 'हम केवल निष्पामकर्म करो, फल की इच्छा न करो। लम्बकर्म इसी भान्त धर्म ने आपका भान्त निष्पामकर्म धारी बना दावा है। बुद्ध है कि आपने स्वर्ग फल का अभ्यस्त नहीं किया। केवल पुन-पुन कर ही आप गीताधि बन गए। नहीं, तो वस्तु वास्तव के लम्बकर्म में आपको भान्त न होती। लीचिप, पूरा रहोके उह व करते हुए आप हम इनके धर्म से लम्बकर्म करने वाली भान्त का निवकरण किए देते हैं। ध्याताम् ! मुक्ता आपराधार्थ्याम् !।

कर्मण्येवाधिचारस्तं मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा त सज्जोऽस्त्यकर्मणि ॥ (गीता१।४६)।

६१-कर्म, और कर्मफल-मीमांसा—

'तं कर्मणि पत्र अधिचारः कर्मणु कदाचन मा (अधिचारबुद्धि कुरु, इति शेष) कर्मफलहेतु मा भू। तं कर्मणि सज्ज—मा (भू-इति शेष)।' इत्यन्वयमत्र रत्नाक का अद्ययने श्री है कि—'तय कर्म में ही अधिचार है (अतएव) फल में कमी अधिचार बुद्धि न कर। (२) कर्म फल का कारण न बन (लाभ ही) तय कर्म में लज न हो।'। अत्र तत्पर्याय पर दृष्टि आतिष्ठ। अधिचर्यवर्तित होता रहे, और पानी गम्य न हो, यह अलम्ब है। फलतः रहे, और मार्ग न कर यह अलम्ब है। तत्पर्य अणुकृत कर्म नहि लोकोक्ति है। तय कर्मण्येव वद फल का बनक करता है। कोरे भी कर्म अविबन्धक से किंच करने पर कर्मण्येव तदुक्त फल उत्पन्न करता है। इत्यन्वय कर्म तत्त्व 'कर्म और कर्मफल' इन दो बातों में विभक्त रह्य है। अत्र अधिचार का प्रश्न उपस्थित होता है। हम जानते हैं कि, इन दोनों में कि फल पर आपका अधिचार है। कर्म, और कर्मफल दोनों के बनक क्या बात है। इति लम्बकर्म ने भगवान् निर्वच करते हैं—'हम कर्म मात्र के अधिचारी हो, फल के प्रति वृथाप कोरे अधिचार नहीं।। फल दपार्थ है। जो फल धर्म का कारण प्रत्यक्ष होता है वही उत धर्म का अधिचारी माना गया है। फलदायक कर्म का कारण कर्मात्मा है, अतएव कर्मात्मा अपरम ही कर्माधिचारी माना का लब्ध है, माना जाता है। परन्तु कर्म फल का कर्मात्मा कारण नहीं है। कर्म फल कर्मात्मा (इव) लब्ध नहीं करता।

कर्म फल उत्पन्न होता है—'कर्म' से । अतः कर्म को ही कर्म फल का कारण (प्रवर्तक-जनक) माना जायगा । और ऐसी स्थिति में कर्म को ही कर्म फल का अधिकारी माना जायगा । स्वयं पाचक (रसोद्भा) पाकद्रव्यरूप फल (मोक्ष पदार्थ) का कारण नहीं है, अपितु पाचक का पाकद्रव्यरूपानुसार पाककर्म ही पाकद्रव्य का कारण बनता है । उदाहरणार्थ में—हम स्वयं कर्म फल उत्पन्न नहीं करते, अपितु हमारा शुभबलिष्ठ कर्म ही कर्म फल का जनक बनता है । जब 'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' बचन से इसी विमल अधिकारमय्याणा का विरोध हुआ है । भगवान् यही कहना चाहते हैं कि, तुम्हारा (कर्म कर्त्ता का) अधिकार केवल कर्म में है अतएव कर्म फलों के कारण बनने की अनधिकार चेष्टा मत करो । बात अभी पूरी स्पष्ट नहीं हुई । अतएव चतुर्थ में भगवान् को कहना पड़ा कि, 'मा कर्म्मफलहेतुर्मु' । तुम कर्म फल के कारण मत बनो । भगवान् का अभिप्राय यही है कि कर्म्मफल के हेतु तुम नहीं हो । अपितु तुम्हारा कर्म कर्म फल का हेतु है । कारण—तुम कर्म फल उत्पन्न वही करते अपितु तुम्हारे कर्म से कर्म्मफल उत्पन्न होता है । जब कर्म फल के तुम कारण हो ही नहीं, तो बल्कि तुम कर्म्मफल में अधिकारशुद्धि का समावेश क्यों कर रहे हो !

६३—अधिकारलुप्त कर्म्म—

अब वन भगवान् के इस कथन से ज्ञानि में पड़ कर कर्म की ओर से उदासीन हो सकते हैं । विल कर्म फल को ही लक्ष्य बना कर मनुष्य कर्म में प्रवृत्त होता है, उसे यदि यह दिया जाय कि 'तुम्हारा फल में कोई अधिकार नहीं है तुम्हारा अधिकार है केवल कर्म में । फल का नाम होना भी तुम्हारा अप्रयत्न है', तो अवश्यमेव वह अल मनुष्य अधिकारमय्याणा के तत्व से अपरिचित रहता हुआ कर्म की ओर से उदासीन बन सकता है । वह वह समझता हुआ कि, 'विल फल के लिए मैं कर्म करने का रहा हूँ, उस फल पर अब मेरा अधिकार ही नहीं है, तो मैं कर्म्म कर्त्ता ही क्यों ?' कर्म छोड़ बैठेगा और अकर्म बच बन जायगा जो भगवान् को किसी भी दशा में अभीष्ट नहीं है । इसीलिए अन्त में भगवान् को यह कहना पड़ा कि—'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि' जिसका एक तात्पर्य यही है कि—'अधिकारमय्याणा का तत्व न समझने के कारण कदा तुम अकर्म में आश्रित न बन बैठना कर्म न छोड़ बैठना । निश्चय रहना ! कर्म कभी निरन्तर नहीं जाता । यदि तुम अनन्तनिष्ठा के लक्ष्य कर्म त्वरुपसम्पादन कर लो तो अवश्यमेव उसके फल उत्पन्न होगा । और वह फल तुम्हें ही प्राप्त होगा । तुम फल के अधिकारी न हो, इतना वास्तव्य वह न समझे कि, तुम फल से वंचित हो रहे हो । अरे ! कर्म्म पूरा हो गया तो फल तुम्हारे लिए ही सुरक्षित है । हमारा अभिप्राय तो यही है कि, कर्म्मालुप्तजनक में तुम फल की चक्षुषा से बच रहो । यह तभी सम्भव है, जब कि तुम यह समझो कि, कर्म्म के कारण हम हैं और फल का कारण कर्म है । इतना निश्चित परिणाम यह होगा कि, तुम अनन्तनिष्ठा से कर्म्म में अवश्य प्रवृत्त रहोगे, कभी अकर्म में (कर्म परित्याग में) तुम्हारी प्रवृत्ति न होगी । साथ ही फल भी स्वातन्त्र्य (कर्म्मस्वतन्त्र परिपाकानन्तर) तुम्हें मिल जायगा । अतः अधिकारमय्याणा के इस तत्व को न समझ कर कभी तुम्हें अकर्मलुप्त (कर्म्मपरित्यागी) नहीं बन जाना चाहिए । 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि' वाच्य का यही एकप्रकार का सामान्य दृष्टिकोण है ।

बने-बूझ कर्म में प्रवृत्त हो जाओ। अथिष्ठ ठीक इसके विपरीत मुक्तकर्म के लिए शत्रुभ को प्रोत्साहित करते हुए मगवान् ने यही कहा है कि—‘तुम्हारे आवश्यक इस क्षत्रियवर्गोचित इस मुक्तकर्म में इसलिए प्रवृत्त होना चाहिए कि, इस मुक्तकर्म में तेरा दोनों मोक्ष लाभ है। मर गया तो स्वर्ग मिलेगा बंति गया तो स्वर्गात्म मुक्त का उपभोग करेगा—‘इतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भाष्यसे महीम्’ (गी १।१७)। इसी वक्त को आगे कर मगवान् शत्रुन को मुक्त के लिए समझ करते हैं—‘तस्मात्पुंसिष्ठ कोऽन्तव । मुखाय कृतनिश्चयः । स्वर्गं शीघ्रं साध्यात्मसुखोपभोगः, कष्टो को उद्देश्य बना कर शत्रुन को मुक्तकर्म में प्रवृत्त करने वाले मगवान् ने ‘इत्याद्या द्योतयं हुप कर्म करो यत् कदा भिष्ठो क्व बह्म बाला !, कर्म सं कर्म उपलब्ध पंथारात्म में तो हमें कहीं भी ऐसी मगवसुमित उपलब्ध नहीं हुई। फिर आपने किंतु आचार पर आपने कसिष्ठ निष्कामवाद को मगवत्कर्मस्य कृतज्ञाने का साहचर कर डाला !। ठहरिए, सम्मत्ता गीता के ‘कर्मण्येवाधिष्ठास्ते मा फलेषु कदाचन’ इस वाक्य ने आपका भ्रम में डाल दिया है। हमने निष्कामकर्म वादियों को शठरा गीता के इस वाक्य का उपचारण करते सुना है। और इतना वह कार्य भी सुना है कि, मगवान् कहते हैं ‘इमं कर्म निष्कामकर्म करो, फल की इच्छा न करो’। सम्मत्ता इसी भ्रान्त वाक्य ने आपको भ्रान्त निष्कामकर्म वादी बना डाला है। दुख है कि आपने स्वयं योक्त का अभ्यस्त नहीं किया। कैवल्य सुन-सुना कर ही आप योक्तिस्त बन गए। नहीं तो उक्त वाक्य के सम्मत्ता में आपको भ्रान्त न होती। सीधिए, वृत्त रत्नोक्त उक्त करते हुए जब हम इसके कार्य से सम्मत्ता करने वाली भ्रान्त का निराकरण किए बैठे हैं। अथवा, मुक्ता वाच्यवाक्यम् !।

कर्मण्येवाधिष्ठास्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भू, मा ते सङ्गोऽस्त्यकर्मसि ॥ (गीता २।४७)।

६१—कर्म, और कर्मफल—मीमांसा—

“ते कर्मसि पच अधिष्ठाः फलेषु कदाचन मा (अधिष्ठासुहि कुरु, इति शेषः) कर्मफलहेतु मा भू । ते अकर्मसि सङ्गः—मा (मू—इति शेषः) इत्यन्वयवाक्य रत्नोक्त का अन्वयार्थ की है कि—तेषां कर्म में ही अधिष्ठा है (अवश्य) फल में कभी अधिष्ठा बुद्धि न कर । (४) कर्म फल का कारण न बन (त्यय ही) तेषां अकर्म में सङ्ग न हो । अब तात्पर्यार्थ पर दृष्टि बाधिए। अधिष्ठात्वमित होता रहे, और पानी गरम न हो, वह अस्मत्त्व है। बसते हैं और मार्ग न बने वह अवस्मत्त्व है। तात्पर्य शत्रुकुल कर्म यदि लोकाधिपति है तो अन्वयमेव वह फल का बनक करता है। कोई भी कर्म अन्वयमेव फल से भिन्न जाने पर अन्वयमेव लोकात्म फल उपलब्ध करता है। इत्यादि कर्म तात्पर्य ‘कर्म और कर्म फल इन दो बातों में भिन्न रहता है। अब अधिष्ठा का प्रश्न उपस्थित होता है। हम आप से पूछते हैं कि, इन दोनों में से कि पर आपका अधिष्ठा है ? कर्म और कर्म फल दोनों के बनक क्या आप ही हैं ? इसी सम्मत्ता में मगवान् निर्णय करते हैं—इमं कर्म मात्र के अधिष्ठा ही हो, फल के प्रति तुझारा कोई अधिष्ठा नहीं है। बात ब्याप्य है। जो किन्तु कार्य का कारण प्रकट क ईंता है, वही उक्त कार्य का अधिष्ठा माना गया है। फलवाचक कर्म का कारण कर्मात्मा है अतएव कर्मात्मा अन्वय ही कर्माधिष्ठा माना या सम्यक् है, माना जाता है। परन्तु कर्मफल का कर्मात्मा कारण नहीं है। कर्म फल कर्मात्मा (हम) अन्वय नहीं करता।

कर्म फल उत्पन्न होता है—‘कर्म’ से । अतः कर्म को ही कर्म फल का कारण (प्रवर्तक—जनक) माना जायगा । और ऐसी स्थिति में कर्म को ही कर्म फल का अधिकारी माना जायगा । स्वयं पाचक (खोइया) पाकद्रव्यकर्म फल (भोजन स्वार्थ) का कारण नहीं है अपितु पाचक का पाकद्रव्यतत्त्वात्मानुरूप पाककर्म ही पाकद्रव्य का कारण बनता है । व्यवसाया में—हम स्वयं कर्म फल उत्पन्न नहीं करते, अपितु हमारा व्यववस्थित कर्म ही कर्म फल का जनक बनता है । जब ‘कर्मव्येथाधिकारस्ते, मा फलोपु कदाचन वचन मे इती विमृष्ट अधिकारमप्यादा च विरोधोप दुष्ठा है । भगवान् यही कहना चाहते हैं कि, दुष्टाया (कर्म कर्ता का) अधिकार केवल कर्म में है अतएव कर्म फलों के कारण बनने की अनधिकार जहा मत करो । बात अभी पूरी स्पष्ट नहीं हुई । अतएव उत्तरदा में भगवान् को कहना पड़ा कि ‘मा कर्मफलहेतुम्’ । तुम कर्म फल के कारण मत बनो । मतान् का अभिप्राय यही है कि कर्म फल के हेतु तुम नहीं हो, अपितु दुष्टाया कर्म फल फल का हेतु है । कारण—तुम कर्म फल उत्पन्न नहीं करते अपितु दुष्टाया कर्म से कर्म फल उत्पन्न होता है । जब कर्म फल के तुम कारण हो ही नहीं, तो कलात् तुम कर्म फल में अधिकारमुद्रि का समावेश क्यों कर रहे हो ?

६३—अधिकारलुप्त कर्म—

अब जब भगवान् के इस कथन से भ्रान्ति में पड़ कर कर्म की ओर से उदासीन हो सकते हैं । बित कर्म फल को ही लक्ष्य बना कर मनुष्य कर्म में प्रवृत्त होता है, उसे यदि यह दिया जाय कि दुष्टाया फल में कोई अधिकार नहीं है दुष्टाया अधिकार है केवल कर्म में । फल का नाम लेना भी दुष्टाया अपराध है, तो अवश्यमेव वह अह मनुष्य अधिकारमप्यादा के तत्त्व से अपरिचित रहता हुआ कर्म की ओर से उदासीन बन सकता है । वह यह समझता हुआ कि ‘बिना फल के लिए मैं कर्म करने का रहा हूँ, उस फल पर जब मेरा अधिकार ही नहीं है, तो मैं कर्म क्यों ही क्यों ?’ कर्म छोड़ बैठेगा और अकर्मत्व बन जायगा जो भगवान् को किसी भी दशा में अनीष्टित नहीं है । इसीलिए अन्त में भगवान् को यह कहना पड़ा कि—‘मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मसि, बिना एक वात्सर्व्यं यही है कि—‘अधिकारमप्यादा का तत्त्व न समझने के कारण कभी तुम अकर्म में आकर्षित न कर बैठना कर्म न छोड़ बैठना । विवाध शक्ता । कर्म कभी निरर्थक नहीं जाता । यदि तुम अनन्तविहा के साथ कर्मत्वकर्मतत्त्वात्मानु कर लोगे तो अवश्यमेव उसके फल उत्पन्न होगा । और वह फल तुम्हें ही प्राप्त होगा । तुम फल के अधिकारी नहीं हो, इत्यत्र वात्सर्व्यं वह न समझे कि, तुम फल से बन्धित हो रहे हो । अरे ! कर्म पूरा हो गया तो फल दुष्टाया लिए ही उपचित है । हमारा अभिप्राय तो यही है कि, कर्मलुप्तानकाल में तुम फल की व्यवस्था से बच रहो । यह तभी सम्भव है, जब कि तुम यह समझो कि कर्म के कारण हम हैं और फल का कारण कर्म है । इसका निमित्त परिणाम यह हुआ कि तुम अनन्तविहा से कर्म में अवश्य प्रवृत्त रहोगे कभी अकर्म में (कर्म परिणाम में) दुष्टाया प्रवृत्ति न होगी । साथ ही फल भी क्यातन्मय (कर्मत्वकर्म परिणामान्तर) तुम्हें मिल जायगा । अतः अधिकारमप्यादा के इस तत्त्व का न समझ कर कभी तुम्हें अकर्मलुप्त (कर्मपरिणामी) नहीं बन जाना चाहिए । मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मसि वाच्य का यही एकप्रकार का सामान्य इतिवृत्ता है ।

६४-‘कर्मण्यपवाधिकारम्’ का समन्वय—

जब एक पूर्ण तात्त्विक दृष्टिकोण से उक्त वाक्य का समन्वय कीजिए । क्या कर्म है जिसका गुणभूतों के पारंगत सत्त्वज लक्षण हुआ है ? गुणायक यह क्रियारूप कर्म ही क्या और कार्य में से वा मागी में परिणत होता हुआ ‘कर्म, आर अकर्म’ नाम से व्यञ्जित हुआ है । प्रत्येक भौतिक पदार्थ गुणव्यापक है यैनाधि-‘गुणकृतो न्यम्’ से प्रमाणित है । इसी दृष्टिकोण से नास्तिकदर्शन के-‘अयक्रियाधारित्वं सन् इत मयाशङ्कत का कर्मत्व हुआ है । तात्पर्य यही है कि क्रियात्मक ही मजबूति की श्रम सीमा पर पहुँच कर निष्प्रियमान में परिणत होती हुए अर्थव्यवस्था में प्रकट होती है । निष्प्रिय अय क्रियात्मक कर्म’ का ही उत्तरक है । कार्य का पूर्वक कियामक कर्म है कर्म का पूर्वक राज है । वही राज वशों के योग में कर्म बनता है वही कर्म कृत्रिमि से कार्य करता है । ‘तत्कारकत्वमिति के अभाव में एककप बना हुआ राजक ही कृत्रिमि के कारण से ज्योतन राज प्राप्तर कर्म बाधक कार्य इन तीन विषय मागी में परिणत हो रहा है । यैनाधि ‘आत्मा उ एक सन्नेतृ न्यम्-‘एक का इति वि समूह सन्नेतृ’ न्याधि भुक्तियों से प्रमाणित है । राज कर्म कार्य सीमा में राज भी निष्प्रिय बनता हुआ ‘अकर्म’ तत्व है एवं कर्मण्य का कार्य (भौतिक विषय) भी निष्प्रिय बनता हुआ ‘अकर्म’ है । राजक अकर्म तत्व तो अतन्त्र जनकर्म’ न सत्य बनता है अतन्त्र इसके साथ तो कृत्रिमि का धार्मिक का प्रश्न ही नहीं उठा हो सकता । अतन्त्र न-‘मा त मन्त्राऽन्त्रकर्मणि’ का अकर्म राजक अकर्मत्व से कोई सम्बन्ध नहीं रखता । ‘कर्मण्यकर्म य परबन् अकर्मणि न कर्म य’ इत श्लोक में पठित ‘अकर्म’ शब्द-‘तन्त्रात्स सत्त्व तदु सत्त्व बाधन-‘अन्तरं भूयोरसुतं सुखायसुतं आहित’ इत्यादि भुक्तियों के द्वारा उपरहित राजक अतन्त्रक अकर्म अथ एवं क्रियात्मक सुखक अकर्म, दोनों के अन्तर्गताना-कर्म के अन्तर्गत से वही राजक अकर्म अथ का वाक्य है वही-‘मा त मन्त्राऽन्त्रकर्मणि’ का ‘अकर्म’ शब्द ‘तन्त्रात् सत्त्वमयं मे कर्मात्मक अकर्म का ही वाक्य माना जायगा । क्योंकि कार्य ही आत्यन्तिक तन्त्र का बनक बनता है । न इति ने इन न वाक्य के ‘अकर्मणि’ का अर्थ ‘फल’ बर्ये । कर्म’ वा क्रियात्मक कर्म है । इन कर्म में उत्तम लक्षणक पत्र अर्थसेन अकर्म है । मन्त्रात् अत ई इत अकर्म क्म राज में दुम्हारा तन्त्र (आत्मिक) नहीं होना चाहिए । यही वही तात्त्विक दृष्टिकोण है । इन के तन्त्र का तो क्या कारण है एवं अकर्म मेहानि क्या हो जायगी ? यह विचारण किए किनाभा से तन्त्रात्मकमणि का मम्म समझ में नहीं आ सकता अतः हो शब्दों में इच्छा लक्षिकरय भी कर लीजिए ।

६५-इच्छा, और कन्धन-मीमांसा—

इच्छा, कर्म कर्मजनित पत्र और फलामति, इन बार परिमर्षों में ने कन्धन का कारण सीमा ? परिने इसी प्रश्न की मीमांसा कीजिए । ‘इच्छा (आमता) क्या कन्धन का कारण है ? देखने हैं-‘इच्छा ने तन्त्रात् सत्त्व का निम्नात कर्म हुआ भी ‘तन्त्रात्सत्त्व तन्त्रात्सत्त्वमणि न्यम् से इच्छा से उत्पन्न विषय

७ गुणधर्तरपयं समूह कमजन्मनाम् ।

पुद्गला प्रकल्पितामेदं क्रियति व्यपदिशत ॥

के गर्भ में रहता हुआ भी सर्वकर्मों अगदीरकर कथन से रहित है। इसी से लिख है कि इच्छा कथन का कारण नहीं है। ऐसी इच्छा !—स्वेच्छा न कि परेच्छा। स्वेच्छा, और परेच्छा में अज्ञेयता का अन्तर है। स्वात्मिक—नियत कर्मों की अनिच्छा ही इच्छा स्वेच्छा कहलाई है इसी को विज्ञानमाया में 'काम' कहा गया है। 'कर्म' सुख का वाचक है 'अकार' मन का वाचक है। सुख में अतोप्रोत मन का नाम ही 'काम' है। 'क-अ-म-का' के समन्वय से ही 'काम' शब्द निष्पन्न हुआ है। विद्वत्प्रश्न है—'सुख, मन सुख विषयानुगत मन तभी सुखी—शान्त रह सकता है जबकि विषय उसकी इच्छा के आधीन बने रहते हैं। विषय ही मन का अन्न है। इस काम पर अपना प्रभुत्व रखने वाला विषयों को दास बनाए रखन वाला मन ही सुखानुगायी बनता हुआ 'कामा' है, यही इच्छा अकथनरूप है। यही कामात्मिक इच्छा स्वेच्छा है। ईश्वर इस कामात्मिक इच्छा को मूल बना कर कर्म में प्रवृत्त होता है। अतएव यह स्वयं विषयों पर अपना प्रभुत्व रखता है विषय उसके दास बने रहते हैं। ऐसा स्वात्मिक तद्वत् कामभाव रहता हुआ भी कथन से विमुक्त है। अतएव गीतापरिभाषा में ऐसा स्वेच्छाक्रमक कामभाव 'निष्कामभाव' कहलाता है। निष्कामभावात्मिक इच्छा ही काम, कामना स्वेच्छा, आत्मेच्छा, ईश्वरेच्छा, इत्यादि नामों से व्यञ्जित हुई है।

दूसरी है—'परेच्छा'। आत्मा स्व है, पराविषय 'पर' है। विषयों के अविचार से अधिकृत बारी स्वेच्छा (आत्मेच्छा) पर विषयानुगत बनती हुई 'परेच्छा' बन जाती है। परेच्छात्मिक बारी विप्रेच्छा काम न कहला कर केवल 'इच्छा' शब्द से इसलिए उन्मोचित हुए हैं कि, इसमें कामरूप मन विषयों को अपना दास नहीं बनाए रहता अर्थात् स्वयं आत्मरमक विषयों का (मोक्ष का) दास बन कर अपना स्वात्मिक आनन्दरूप आत्मविश्रुत आह्वय कर लेता है और यही विषयदास बने हुए मन की सुखाकम्पा है जिसका 'इच्छा' शब्द से अभिप्राय हुआ है। मोक्ष विषय आत्मरमक होने से 'इष्ट' है तब सुप्त मन ही 'इष्ट-अन्त' तब रोते मन—निर्वचन से इच्छात्मक है। विषयदासता में मन की स्वात्मिक शान्ति का इसलिए उल्लेख हो जाता है कि विषय अनन्त है। अनन्त विषयों के कारण मन की बुद्धियोगानुगत एकतागमनवृत्ति का निरोध हो जाता है। इच्छा अतुल्यता से मन मग्न हो पड़ता है। यह आत्मरूप ही कामकामी (इच्छाकरावसी) मन की अशान्ति का कारण बन जाता है—'स शान्तिमाप्नोति, सा-निष्कामः, इच्छापीनस्तु कामकामी न शान्तिमाप्नोति'—('स शान्तिमाप्नोति न कामकामी' (गी २।२।))। यही इच्छा परेच्छा, विषयच्छा कीचेच्छा आदि नामों से व्यञ्जित हुई है। तात्पर्य—विषयवशवर्तिनी इच्छा 'पच्छा' है, एवं यह विषयवशवर्तिनि बनती हुई कथन का कारण है। मनोवशवर्तिनी इच्छा काम है यही निष्कामभाव है एवं यह विषयवशवर्तिनिवर्तिता बनती हुई अकथनता है।

अभी विषय स्पर्शमना स्पष्ट नहीं हुआ। इच्छाद्वयी के स्वीकरण के लिए सुप्रसिद्ध दार्शनिक-शब्दहीन की और पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। दर्शन में 'उत्थिताकांक्षा और छत्वाकाकांक्षा, यद्वा शब्द उक्त दो स्वेच्छा परेच्छाओं के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अपने भाव उठी हुई इच्छा उत्थिताकांक्षा है यही स्वेच्छा आत्मेच्छा किंवा कथननिवर्तिता ईश्वरेच्छा है। इस इच्छा का उद्भव तो बचपि मन में ही होता है। परन्तु यह मन बुद्धि का दास बना रहता है। बुद्धिदास मन अवज्ञा—और वैबोलाबल बुद्धितत्व का अवज्ञा भ्रम से आकम्पित रहता हुआ अपने स्वात्मिक लज्ज—आनन्द—लोकालोक भ्रम से अभिभूत रहता है।

अतएव एषा बुद्धिमुक्त मत्त 'उत्तम महाभूषण' इत्यपि न पुनरापुनरिदमर्थव्यापारी की आशयित म वृत्त
 गच्छति । 'या बुद्धि परात्म्य मा' क अतएव बुद्धि म परी नान्तरात्ति ईश्वरव्यक्तता प्रतिष्ठित है ।
 बुद्धिमुक्त मत्त नै बुद्धिबन्धन म इति ईश्वरव्यक्तता का सामान्यिक अनुकूल-अनुग्रह रहता है । अतएव
 बुद्धिमुक्त मत्तम इच्छा इच्छाबन्धन में परिणत होती हुई अन्तर्निर्वर्तिता बनी जाती है । यही उत्तमव्यक्तता
 का अधिकृत स्वभाव-व्यक्तता है । निरन्तरव्यक्तिवन्धन मूर्ति क बाग उत्तम गुरु इच्छा उत्तमव्यक्तता है यही
 परम्य विद्या अन्तर्निर्वर्तिता बनेका है । इस इच्छा का उत्पन्न नै यदपि इच्छा मा मे ही है ।
 परन्तु पर मत्त बुद्धि का बलता गत अतएव गुरु है । बुद्धिमुक्तानी पर मत्त अतएव बुद्धिबन्धन का आहार कला
 हुआ मत्त अतएव मत्त म अन्तर्निर्वर्तिता बनी रहता है । अतएव बुद्धि का सामान्यिक विद्याबन्धन ईश्वरव्यक्तता का
 नै मत्त ह बाग है । अन्तर्निर्वर्तिता मत्त पुनर एषा मत्त पुनरापुनरिदमर्थव्यापारी मे मत्तव्यक्तता अन्तर्निर्वर्तिता हा बाग है ।
 बुद्धि कोर मत्त के मत्त म परीव बलता (ईश्वरव्यक्तता) प्रतिष्ठित है । मत्तव्यक्तता मे बलता मत्तव्यक्तता
 मत्त हुआ मत्तम इच्छा का ईश्वरव्यक्तता बनी रहता है । अतएव मत्तम इच्छा ईश्वरव्यक्तता मे परिणत होती
 हुई अन्तर्निर्वर्तिता बनी जाती है । यही उत्तमव्यक्तता का अधिकृत स्वभाव-व्यक्तता है । निरन्तर मत्त पर
 मत्तव्यक्तता के अतएव आहार विद्या बन्धन मत्त इच्छा म मत्तव्यक्तता उत्तम है नर सामान्यिक इच्छा ही
 उत्तमव्यक्तता है । अन्तर्निर्वर्तिता मत्त पुनरव्यक्तिवन्धन इति बाग आहार-विद्या की अधिकृतता इति मत्त हा
 मत्तव्यक्तता है । अन्तर्निर्वर्तिता मत्त पुनरव्यक्तिवन्धन इच्छा मे मत्तव्यक्तता मत्त ही है अतएव मत्त
 ईश्वरव्यक्तता अन्तर्निर्वर्तिता है । उत्तमव्यक्तता मत्त इच्छा मत्त हा इच्छा मे मत्तव्यक्तता का उत्तम हा है अतएव
 एषा इच्छा अन्तर्निर्वर्तिता है ।

६६-कम्म और स-घन-सीमांता-

[illegible]

है। जगहरण के लिए—हितात्मक वचनकर्म में नियुक्त वचिक के वच कर्म की इच्छाएँ निम्न नहीं होती कि इस कर्म में वचिक की इच्छा का समावेश नहीं है अपितु लोकसत्तावह शासक की इच्छा से प्राप्त अधिकारमय्यानि के पालन के लिए वह वचकर्म में प्रवृत्त होता है। 'केनापि वेवेन इदि स्थितेन, यथा निमुक्तेऽस्मि तथा करोमि' ही अधिकारकर्म की व्याख्या है। इच्छा उसकी निमित्तमात्र हम, फिर कथन होता है। 'निमित्तमात्रं मयः सख्यसात्पिबन्' से भी इसी अकथन युक्तकर्म का समर्थन हुआ है। अधिकारव्यक्त कर्म क्या ईश्वरेच्छा (उचितार्थाचा-अमना) मूलक बनते हुए निष्कामकर्म हैं और वे अकथन हैं। ये ही गीतापरिभाषा में 'अहंकार' कहलाए हैं, जिनके लिए भगवान् ने—'सहजं कर्म कोमतेय! सद्योपमपि न त्यजेत्' यह व्यवस्था की है। बीबेच्छा—(उत्पाद्यार्थाचा)—मूलक, अवश्य व्यक्तित्वार्थानुगत, कर्म काममय बनते हुए सक्षमकर्म हैं, एवं वे सकथन हैं। 'काम्यानां कर्मणां म्यासं, संम्यासं कथयो विदुः' से इसी के परिचय का आदेश हुआ है। तात्पर्य—ईश्वरेच्छाव्यक्त कर्म अकथन हैं, तथा बीबेच्छा व्यक्त कर्म सक्षम के द्वारा सम्कथन हैं।

६७—फल, और बन्धन—मीमांसा—

क्या फलों से बन्धन होता है?, प्रश्न के समाधान से पहिले फल के स्वरूप का अन्वेषण कीजिए। ईश्वर ने कर्म किया इस कर्म से फल उत्पन्न हुआ वही ईश्वर का अन्तर्बल कहलाता। 'संस्कार' का ही नाम अन्तर्बल है। अन्तर्बल ही कर्म बनित फल है। संस्कारवर्षक बीबाया को उत्पन्न बना कर अन्तर्बल के स्वरूप का विशेषण कीजिए। 'सहस्रबाह्मसु' के अनुसार 'अहं'—शब्दवाच्य बीबरमा ज्ञानसङ्घात अक्षतात्मक एवं कर्मसङ्घात मुख्य रूप अहम्, दोनों की समष्टि है। अपनी ज्ञानप्रज्ञा से बीबाया बान्ध है। कर्मकला से कर्म करता है। बान्धति, करोति इन दो व्यापारों पर ही जीव का पुकार्य विभान्त है। इन दोनों कलाओं के व्यापार से बीबाया पर (बीबामित्र प्रधानमनोवराज पर) माधना बाधना नामक दो प्रकार के संस्कार लपित होते रहते हैं। हम कुछ कर नहीं रहे, पुण्यपाप बैठे हैं परन्तु अपने बीबबल में केवल ज्ञान के सहारे नवीन नवीन रूपनारों करते रहते हैं। वही ज्ञानी व्यापार है। इससे जो ज्ञानात्मक संस्कार उत्पन्न होता है, वही ज्ञानफल है। वही ज्ञानबन्धित संस्कार 'माधना' कहलाया है। इसी प्रकार कर्म करने से जो मन पर एक प्रकार का अस्थिर प्रतिष्ठित हो जाता है वही कर्मबन्धित फल है वही 'बाधना' संस्कार कहलाता है। माधना, बाधना-संस्कार ज्ञानीय, कर्मात्मक विषयभेद से अक्षम हैं। इन अक्षम, उमवधिय संस्कारों की राशि ही हमारा अन्तर्बल है। वही हमारे जीवन की मूलप्रतिष्ठा है। संस्कारों के उन्मूलन से जीव श्रुत हो जाता है। हम अपनी आसों से किन स्वर्ग—चन्द्र—यशु—परवादि विषयों को देखते हैं। रचना से किन खादों का अनुभव करते हैं। प्राण से किन गन्धों का आभास करते हैं। मनसे किन विषयों का मनन करते हैं। इन्द्रियानुभूत उन सब विषयों का हमारे सांस्कारिक अन्तर्बल से ही सम्भव है। हम हमारे ज्ञानकर्म से ईश्वरीय अन्तर्बल (बीबावेच्छा बहिर्बल) के आचार पर हमीयों के द्वारा निर्मित अपने सांस्कारिक अन्तर्बल का ही ऐश्वर्य अनुभव करते हैं। विरवाध कीजिए। जो स्वर्ग हम देखते हैं, वह हमारा बनाया हुआ सांस्कारिक स्वर्ग है। प्रकृतिक स्वर्गचन्द्रादि के आचार पर हमारे मानव पटल पर सांस्कारिक चन्द्र स्वर्गों का सांस्कारिक निर्माण होता है। तत्कालिक वैदिकान से वह दूरी भी हमारे अन्तर्बल में ही उत्पन्न हो जाती है। अतएव मान ऐसा होने सगद्य है। मानों हम स्वर्ग

को आकाश में बिखर बेल रहे हैं। वस्तुतः यह पूरी, यह एक सत्य हमारे अन्तर्ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित है। यही ऐतिहासिक विषयों के सम्बन्ध में पठित है। महाविशिष्ट ईश्वरीय सूर्य को धूमिल से भी नहीं छद्मगुणित रहस्यमय है। उसे हम कैसे देखते हैं? एक बात और—महाविशिष्ट सूर्यादि पदार्थ ईश्वर के आत्मिक अन्तर्ब्रह्म-अवस्था पर प्रतिष्ठित हैं। सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च ईश्वर का अन्तर्ब्रह्म है। जब एक जीव आत्म जीव के भी अन्तर्ब्रह्म को नहीं देख सकता तो वह ईश्वरीय अन्तर्ब्रह्म का साक्षात्कार कैसे कर सकता है? अन्व व्यक्ति अमुक समय क्या करपना कर रहा है उसमें कौन कौन सांसारिक हान-कर्म (मायना-वासना) प्रतिष्ठित हैं? यह द्रष्टव्य व्यष्टि नहीं जान सकता। इसी आधार पर वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि, प्रत्येक आत्मा स्व-स्व अन्तर्ब्रह्म का ही द्रष्टा है। एवं प्रत्येक का अन्तर्ब्रह्म उसके प्रातिरिक्त हानकर्म से ही सम्पन्न हुआ है जो सम्पन्नकर्म मायना-वासना-संस्कारात्मक है।

उक्त स्थिति का ईश्वरीय कर्म के साथ सम्बन्धन भीष्ट है। उदात्त सूर्य-चन्द्रादि कुछ प्राकृतिक महाविश्व ईश्वरीय हानकर्म से सम्पन्न ईश्वरीय अन्तर्ब्रह्म हैं। वह विश्व ही ईश्वरीय कर्म से उत्पन्न वह पदार्थ है जो अन्तर्ब्रह्म रूप से उदात्त ईश्वरीय हानकर्मोपर पर प्रतिष्ठित रहता है। इस प्रकार ईश्वर स्व हान कर्म जनित विश्वरूप कर्म से निरन्तर जुड़ा है। देखते हैं—विश्वरूपक पदार्थ से निरन्तर जुड़ा हुआ भी ईश्वर छद्मकर्म मूला-निष्कर्ममहाव्यक्ति का कामना के सम्बन्ध से पदार्थ में व्यक्त नहीं है। अतएव यह पदार्थ उदात्त हुआ भी ईश्वरत्वात्म्य पर आक्रमण नहीं कर रहा। ठीक इसी प्रकार जो जीवात्मा अपने हान-कर्म-सम्पन्न का मूल ईश्वरेच्छा बना होता है उस जीवात्मा के ईश्वरेच्छाजनित हानकर्म से सम्पन्न पदार्थात्मक मायना-वासनासंस्कारात्मक अन्तर्ब्रह्म जीवात्मात्म्य पर आक्रमण नहीं कर सकता। यदि जीव अपनी प्राकृतिक मूला उदात्ताकांक्षा को मूल बना कर कर्म पदार्थ उत्पन्न करता है तो इस पदार्थ के प्रति उसकी अक्षरबदेव आकृति हो जाती है। और इच्छा (जीवेच्छाजन्त) हानकर्म से उत्पन्न ऐसा सांसारिक पदार्थ अक्षरबदेव जीवात्मात्म्य का विधातक बन जाता है।

६८—पदार्थात्मिक, और कल्पन-मोमांसा—

अब शेष यह बाकी है—‘पदार्थात्मिक’ किन्तु मूल है—मानव जीवेच्छा। वह आकृति ही जीवात्मात्म्य का मूलभूत पदार्थ है किन्तु मूल में उदात्त-बोध व्यक्तियुक्त है किन्तु उदात्तों का ‘उदात्तविधातुगता वैराग्यमुद्रित्योम’ स्वप्न में किन्तु से विश्लेषण किया जाने जाता है। इस प्रकार इच्छा कर्म पदार्थ पदार्थात्मिक बायीं में से जीवेच्छाजन्त पदार्थात्मिक का ही कल्पनप्रवर्तकत्व सिद्ध हो जाता है। इच्छा उभय, परन्तु ईश्वरेच्छात्मिक इच्छा, कल्पन न होगा। कर्म भीष्ट परन्तु ईश्वरेच्छाजनित बहार्थकर्म कभी कल्पन न होगा। पदार्थात्मिक मूल को रखिए, परन्तु इच्छा को ईश्वरेच्छात्म्य में परिणत रहिए, कभी पदार्थ आत्मरसात्म्य पर आक्रमण न करेगी। ऐसा करने पर पदार्थात्मिक स्वयं निष्कर्म हो जायेगी, पदार्थ (संस्कारों) के साथ प्रत्येककर्म सम्बन्ध न होगा। ऐसी इच्छा रखते हुए भी आप निष्कर्म बहार्थकर्म से ऐसी निष्कर्ममयपना से किता हुआ कर्म भी निष्कर्मकर्म बहार्थकर्म ऐसे कर्म से उत्पन्न पदार्थ (संस्कार) भी आत्मके स्वात्मिक आत्म-विकास को बाधित न कर पायेगी। इस प्रकार अक्षरबदेव पदार्थ के प्रति उदात्त (आकृति) न रखते हुए आप केवल कर्म के ही पदार्थ को रखेंगे। पदार्थात्मिक भी बन जायेगी पदार्थात्मिक से भी बन्ध रहेगी। इसी तत्त्व को हान्य बना कर मगाना ने कहा है—‘मा तं सङ्गाऽस्त्यकर्मसिद्धि’ (अक्षरमात्मके सांसारिक पदार्थ से उदात्त—आकृति मोमांसा)।

६६-फलसङ्गस्वरूपविश्लेषण—

फलसङ्ग (पञ्चासक्ति) का क्या तात्पर्य है, एवं फलावस्थि से हमें क्या हो जाती है ? प्रश्नों के समाधान की वेढा की गई । परन्तु अभी यथावत् स्पष्टीकरण नहीं हुआ । महाभाषा में स्पष्टीकरण कीजिए । आप अधिकांशक कर्म में प्रवृत्त हुए, कर्म प्रवृत्ति का लक्ष्य बनाया आपने कर्म बतित फल को, क्योंकि बिना फल को उद्देश्य बनाए तो आप सन्तानक कर्म में प्रवृत्त ही नहीं हो सकते । यहाँ एक परिस्थिति ठीक ठीक बनी रही । फलोद्देश्य को सफल बनाने के लिए आपने अनुकूल कर्म आरम्भ किया । कर्म बल में आपने बार बार मावी फल की ओर अनुपाकन आरम्भ कर दिया । और यही एक ऐसी मयङ्कर भूत हो पड़ी, जिससे आपका कर्म-क्षेत्राल विगड़ गया । आपकी मानस शक्तियाँ परिमित हैं । एक समय में स्वर्गमना एक ओर ही इस शक्ति के समावेश से कर्म स्वरूप स्वर्गमना सुखमय बन सकता है । आपने अपनी शक्ति को कर्म के साथ साथ मावी फल की चर्चणा में भी समाविष्ट कर दिया । कर्म में बिल अनन्यशक्ति का समावेश होना चाहिए था, न हो सका । कर्म अपूर्ण रह गया । पूर्ण कर्म ही तो पूर्ण फल का जनक बना करता है । अनन्यमात्रात्मिक पूर्णशक्ति के समावेश से ही तो कर्म पूर्णता का कारण बनता है । जब आपने कर्मानुष्ठानकाल में बार बार फलचर्चणा की ओर मानस-शक्तियों का प्रवर्णन कर डाला तो बिल पूर्ण शक्ति के समावेश से कर्म स्वाधीन बनता है, वह पूर्णशक्ति पूर्ण कहाँ रही ? यही क्यों कमी कमी तो इस फलचर्चणा का वह दुष्परिणाम होता देला गया है कि फलचर्चणात्मिका फलावस्थि में (कास्त्विक फल की आवस्थि में) ही मन की अधिक शक्ति समाविष्ट हो जाती है । और उस श्रेयस्विक्की की मूर्ति तब हमारी आँखें कुछही हैं जब हम देखते हैं कि, फलजनक कर्म हमने पूरा किया नहीं, कर्म—(पुनर्वाचकर्म) खरक कर्त्तव्य कर्मों का स्वकर्म और विगड़ गया । उदाहरण के लिए एक उस पाचक को लक्ष्य बनाइए, जो सब खमपी लेकर पाककर्म में प्रवृत्त हो रहा है । पाचक रखेई बनाते बैठा । पाचक का पाककर्म पुनर्वाचक-कर्म है । क्योंकि पाककर्म से सुगुणन पाकफल का (सिद्ध-सम्पन्न-वस्तु का) पुनर्वाचन से सम्बन्ध है । चूल्हा बलाना कटोरी पछाना, दुग्ध-शर्करा-अनुल-आदि का उरुमें प्रक्षेप करना आदि आदि अनेक कर्मों से पाककर्म का स्वकर्म सम्पन्न होता है । इन अनेक कर्मों से पुनर्वाचनपात्र पाककर्म का स्वकर्म सम्पन्न होता है । अतएव इन पुनर्वाचनपात्र पाचक के अन्तर्गत कर्मों को हम 'कर्त्तव्य-कर्म' (मनु-पुनर्वाचक कर्म, कर्त्तव्यक अमाशन्तरकर्म कर्त्तव्यकर्म) कह सकते हैं । दुर्भाग्य से पाचक इन कर्मों के साथ साथ ही फलचर्चणा आरम्भ कर देता है । कल्पना करने लगता है—अहा ! आज ऐसी बड़िया रखेई बनेगी कि जाले बाले प्रसन्न हो जाँयेंगे । और ऐसी बनेगी, चाग बैठे सुस्वादि बनेंगे । इन कल्पनाओं का परिणाम वह होगा कि मन की बिल अवधानशक्ति से पाचक के कर्त्तव्यकर्म पुनर्वाचकर्म की स्वाधीनता बनाते हुए कर्म फल (पाककर्म) को पूर्ण करने वाली धे वे कर्त्तव्य कर्म फलचर्चणावस्थि में अनवधानता से विहृत हो जाँयेंगे । इस बल बाधना और या तो कभी वह बाधनी, आपका बल बाधनी, चाग में नमक अधिक गिर बाधना । इसप्रकार कर्म काल में फलचर्चणा से फलजनक कर्म और उदात्तक कर्त्तव्यकर्मों का स्वरूप विहृत हो बाधना परिणामस्वरूप कर्म फल आशाजनक न बन सकेगा ।

मान लेते हैं—पाचक पाककर्म में बस कुशल है । वह आज मीथ कर भी अन्दाज से बोले करेगा, पाकफल उठी से निर्दिष्ट पूर्ण होजायगा । इस स्थिति में फलचर्चणा में क्या दोष रहा है, वह कि

फलबर्धना करते हुए भी पापक का पाककर्म सुखमय होगा ? इसका उत्तर है—आसक्तिरूप बनन । फलबर्धना फलसक्ति है । इससे आत्मा में फलछन्दर के साथ प्रसिद्धकथनकथन व्यवस्था होनाका जो प्रसिद्धकथनकथन स्मृति के द्वारा फलकामना की ओर मनको आकर्षित करता हुआ उतकी स्वाभाविक शान्ति मङ्ग किया करता है । इसी सम्पूर्ण परिमित को लक्ष्य बना कर भगवान् करते हैं—माई ! तुम्हारा अधिकार केवल फलजनक कर्मों के लिए निरुक्त है । कर्म करना तुम्हारा कर्तव्य है कर्म कर्मोंको उत्तर बनना तुम्हारा काम नहीं । यदि तुमने अनन्य-मिष्टा से कर्म का स्वल्प सर्वाङ्गीकृत बना लिया तो फल अप्रत्यक्ष उत्पन्न होगा । अतएव फल की चिन्ता—बर्धना—बोझ कर तुम कर्म का कर्म के अधिकारी बने रहो, अपने आत्मा कर्म का रहे बनाओ, कर्मफल का रहे मत बनाओ । क्योंकि कर्मफल का रहे तुम नहीं, तुम्हारा कर्म है । यदि तुम अनधिकारवेष्टा करते हुए कर्म के साथ साथ (कर्मनिष्ठान फल में) फल का भी रहे अपने आप को बना लोगे तो कर्म में अनन्यता न रहेगी, कर्म स्वल्प सम्पूर्ण रह जायगा, फलक कर्मफल सुखमय न हो सकेगा । यदि पुण्याचरण्या से कर्मफल सुखमय बन भी जायगा तो फलसक्ति से तुम अपने आप का न बना लो, जो फलसक्ति आत्म-आराधित आत्मकथन का कारण मानी गई है । अतएव हम ध्याइ करते हैं कि, तुम आत्मकथन फल में आसक्ति न रखो—‘मा तं सङ्गो’स्त्वकर्मणि । ऐसा करने से तुम्हारे कर्तव्य—पुण्याचर्यकर्मों में सर्वाङ्गीकृत बन जाँकी इस कर्मबोधन से फल भी सुखमय हो जायगा और अपने बड़ा लाभ होगा कि, तुम फलसक्ति से भी बच रहोगे । इत्यकार फलकामनावन्ति-परिष्कार के अनुग्रह से तुम करते हुए भी शिष्ट न बनोगे—‘सर्वत्रापि न सिष्यते’—‘न करोति न सिष्यते’० ।

७०—इन्द्रानिवन्धना कर्ममीमांसा—

‘कर्महेतुर्वाचकारस्त’ श्लोक की उक्त मीमांसा से स्पष्ट है कि, इस श्लोक का वह तात्पर्य लब्धा अलङ्कृत है कि, ‘तुम बिना इन्द्रा के कर्म करो’ । मन्ना ऐसी अलङ्कृत आका भगवान् दे मो केन लब्धते य । माई इसके अन्तारात्मा का समर्थन हुआ है । प्रत्येक कर्म की प्रवृत्ति की कामवाचक ही हामी, अथ आरा रत्न अथवा न रत्न सुखमय कर्म से फल भी व्यवस्था ही उत्पन्न होगा । फल (संसार) का कामना से सम्बन्ध भी अनिवार्य होगा । ऐसी स्थिति में भ्रान्त कर्मवादियों के इन्द्राद्वित निष्कामकर्म का फलकामनाभाव का क्या अर्थ रहा ? यह उम्हीं कथित निष्कामकर्मवादियों से पूछना चाहिए । क्या निष्कामकर्म गीता का निरुद्ध नहीं है ? है और अवश्य है । परन्तु न तो—‘हम बिना इन्द्रा के कर्म करते हैं अतएव हमारा कर्म निष्काम है’ यह कहने मात्र से ही कर्म निष्काम बन जाय एवं न देवे वचनमात्र पर अवगति का व्यवस्थाधारविहारलक्षण उच्छ्वसक कर्म ही मीमांसा कर्म माना जानकता । अतः गीतामय ‘निष्काम’ शब्द का अर्थ है—ईश्वर का एवं निष्कामकर्म का अर्थ है—ईश्वरकथन प्राकृतिक कर्म । हमारी अन्तारात्मा में ईश्वर, जोष, हामी प्रसिद्ध है ईश्वरकथन नामना है ईश्वर इन्द्रा है । ईश्वर का नामना से फल कर्म प्राकृतिक कर्म निष्कामकर्म है । येन इन्द्रा ते

० प्रमत्तपापाय कर्माणि मङ्ग त्यक्त्या फलानि य ।

सिष्यते न स पापन पणपत्रमिहाम्मा ॥

गीता

मुक्त कर्म' इन्द्रियानुगत विषयानुगति से सकामकर्म हैं। सकामकर्म प्रत्येक दशा में फलालसक्तपुन्य बनते हुए सम्बन्धन हैं, निष्कामकर्म फलालसक्तिविरहित रहते हुए सम्बन्धन हैं और यही गीता का कर्म मार्ग है जिसकी मूलप्रतिष्ठा 'आर्षविद्या' मानी गई है, जिसका स्वरूपविरलोपण ही प्रकृत स्वप्न का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

ईश्वरेच्छा सहज इच्छा है, वह स्वयं उत्पन्न होती हुई उत्पिताकांक्षा कहलाती है। अतएव तदनुगत निष्कामकर्म भी गीतापरिष्ठा में सहजकर्म कहलाए हैं। जो यह कहते हैं—'हम तो निष्कामकर्म करते हैं' उन्मुक्त वे नहीं भ्रान्ति में हैं। उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि, निष्कामकर्म होते हैं किए नहीं बाते। 'करिष्यत्यवराडपि तत्' के अनुसार निष्कामकर्म अपने आप होते रहते हैं इनमें निमित्त बना कर वे स्वतः प्रवृत्त होते रहते हैं। इनमें हमारी (बीज की) इच्छा का अलुप्तता भी समावेश नहीं है। यदि हम यह कहते समझते हैं कि 'हम निष्काम कर रहे हैं' तो यह निष्कामकर्म कहाँ रहा ! अस्तमूला इच्छा का तो इनमें आत्म में ही समावेश कर दिया। चाहिए, करते हैं कर रहे हैं करोगे आदि सब व्यवहार बीजे-च्छाप्रधान बनते हुए सकामकर्म हैं। और इन्हीं का अनुगमन करने वाले भर्त्समानपुत्र के गीताप्रमेयी अभिनिवेश कहा करते हैं 'हम तो गीता के आदेश का पालन कर रहे हैं'। कैसी भ्रान्ति है !।

७१—आर्षविद्याप्रतिष्ठुत्तमक श्रुतिवच—

कोहिए इस विवाद को। आप तो गीता को कर रही हैं उसका समन्वय कीजिए। यह छिद्र होनुका है कि गीताकृत कर्म वा' विशुद्ध शास्त्रीय कर्म वा' है। क्योंकि शास्त्रीय कर्म ही प्राकृतिक है प्राकृतिक कर्म ही ईश्वरेच्छानुगत सहज कर्म हैं जिसकी मूलप्रवृत्ति 'आवरण' से हुई है। अतएव यह कर्मात्मक धम्म पद्य 'आर्षधम्म' नाम से संबद्धत हुआ है। अतएव तन्मूला विद्या आर्षविद्या कहलाती है। श्रुति ही ईश्वरीय कर्म की प्रतिष्ठा कैसे है। इसके लिए श्रुतिमूलक सधिविज्ञान का विरलोपण आवश्यक होगा। वही संक्षेप से आर्षधम्म प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित किया जाएगा है।

धम्म' अर्धधम्म पाप-पुण्य कर्-अकर् आह-प्राप्ति, निश्च आदि आदि में से बिना समय किसी की कृपा न थी, तो उस समय क्या था ?, बुरे शब्दों में सब कुछ न था तो क्या था ?, इस सधिविचारणात्मक प्रश्न का उत्तर देते हुए तत्त्वप्रज्ञा श्रुति ने हमें बताया कि—'आज्ञा बिना विषयप्रपञ्च का धर्म स्वरूप से अपने अनुमन का अङ्गुली निर्देश का लक्षण बना रहे हो सृष्टि से पहिले कर्-वृष्टि (विद्यमान विषयप्रपञ्च) से पहिले यह सब कुछ 'अकर्' ही था। (और यह अकर् ही इस स्रष्टाविश्व का मूलप्रभव था) —'असद्व्या इदमम आसीत्'। कर्-अ अर्ध होता है—भाव। अकर् का अर्थ माना गया है—'अभाव'। क्या भावात्मक (कलात्मक) विश्व का मूलकारण अभावार्थक अकर् है ?, नहीं। क्योंकि अभाव किसी का उपादानकारण नहीं बन सकता। जो स्वयं 'नस्ति' रूप है वह अस्तित्व का कारण कैसे बन सकता है ?। फिर श्रुति के अकर् का क्या अर्थ ?, इसी प्रश्न का उत्तर बना कर श्रुति ने स्वयं आगे बढ कर यह प्रश्न किया कि कर्-विश्व का कारण अभावार्थक अकर् तो बन नहीं सकता। फिर उस कारणार्थक अकर् का क्या स्वरूप ? 'किं तदसदासात्-इति' ?। श्रुति स्वयं उत्तर देती है—'सृष्टि का मूलकारणक यह अकर् तब (अभावार्थक अकर् नहीं, अपितु) 'श्रुति' नामक अकर् तत्त्व ही था—श्रुतया वाच तदमेऽमदासीत्। श्रुति शब्द

मी छन्दोदात्त है। अरण्य-श्रुतिराज्य की अनेकधा प्रशंसा देखी-सुनी जाती है। वेदतत्त्वज्ञा वसिष्ठ-कश्यपप्रदि मानव श्रुति मी श्रुति कहलाए हैं। वही क्यों, सर्वसाधारण की दृष्टि में तो 'श्रुति' शब्द का अर्थ मानव श्रुति ही है। जो कर्त्तृ-सृष्टिमर्यादा में अन्तमुक्त रहते हुए 'अस्तित्व' श्रुति मर्यादा से वसिष्ठ है। अतः एक प्रश्न होना स्वाभाविक है कि-‘कर्त्तृत्व का मूलभूत अस्तित्व श्रुति क्या अस्तित्व है ?-‘के से श्रुत्य-इति ?’। इसी श्रुतित्व का परिचय कराती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है-‘प्राकृत्य का ही नाम श्रुति है-‘प्राण्या व श्रुत्यः। प्राण को श्रुति क्यों कहा गया, इस प्रश्न का समाधान करती हुई अन्त में श्रुति कहती है-‘उन प्राणों में इस विश्वत्मा से पहिले क्योंकि इस विश्वत्मा की इच्छा करते हुए मन, और तब से गान्ध किया था अतएव-‘इच्छन्त अमेवा तपसा अरिपम्’ इस निर्बंधन से वेदान्तिकों ने उन सृष्टिमूलक प्राकृत्य को ‘श्रुति नाम से व्यञ्जित किया-‘तत्तु पुरात्मात् सर्वस्मात्-इहमिच्छन्त’ अमेवा तपसा अरिपम्-तस्मात्-श्रुत्यम्’ (वेदिक-रात० भा० १।१।१।१।)।

कम २५, गन्ध भयं शब्द, इन पाँचों गुणधर्मों (तत्त्वार्थों) से अर्द्धशत अक्षरमन्त्र (ह्यान न रोक्ने वाला) अतएव अमूर्त अतएव केवल शरीरगत, अतएव इन्द्रियधर्मों से अर्द्ध अतएव व इन्द्रिय-अप्राप्त तत्त्वविशेष ही विज्ञानमात्र में ‘प्राण नाम से व्यञ्जित हुआ है। इस प्राण के समावेश से ही मूर्तिक बन्धु ‘प्राणी कहलाए हैं। किन्तु बड़बाही चेतनप्राणी, मरु से ही विद्युत मार्ग मरु हैं। पराण लोभ आदि किन प्राणों को हान ‘बध’ करते हैं, उनमें मी वह प्राणत्मा विद्यमान है, केवल इन्द्रियविक्रय का अभाव है। अतएव चेतन अचतन का मूलविभक्त इन्द्रिय, और इन्द्रियप्राप्त ही माना गया है न कि प्राणत्माप्राप्त, केवल-‘सेन्द्रिय चेतन ब्रह्म, निरिन्द्रियमचेतनम्’ इत्यादि से मी प्रमायित है। प्रत्यक्ष में मी बड़बाहियों के ‘आपते अस्ति, विपरिणामते, अस्ति अस्तीत्ये नरवति’ इन त्रैगुणिक ब्रह्मवैश्वदेवों के द्वारा प्राण का अनुमान हो रहा है। प्राण का पुण्य हो जाता है तो उसके अत्यन्त मूर्तिक प्रमाण स्वरूप हो जाते हैं। मी प्राण का अपनी बुद्धावस्था में हृदावस्था था, वही हृदावस्था में आकर बाह्य शरीर हो जाता है, उसके अवनत लक्षण से क्लृप्त हो के अन्त कर दिए जाते हैं, और उस द्वारा में प्राण के लिए हमारे मुक्त से यही निष्कर्ष है कि ‘अब पर्यार में हम नहीं रहे’। यह अनुमूल ‘हम’ ही हमारे ‘प्राण तत्त्व है जिसे हम देखते नहीं, किन्तु अनुभूत है। अनुमान अन्तः प्राण लेते हैं। इसप्रकार प्राणतत्त्व की बड़-चेतनोन्मेषावस्था लक्षणता सिद्ध हो जाती है। श्रुति ने इस प्राणतत्त्व को ‘अस्तु-‘श्रुति इन ही नामों से व्यञ्जित किया है। जिस मूर्तिक बड़-चेतन प्राणों में अब तक प्राणतत्त्व अन्तर्धर्मतत्त्व से उमायित रहता है, तभी तक वह प्राण तत्त्वमात्र (अस्तित्व) में परिणत रहता हुआ मरु (विद्यमान) कहलाता है। प्राणोन्मेषित ही तत्त्व प्राणों की लता की उत्पत्ति है। लता प्राण को अस्तु (अस्तु) रूप में परिणत करती है। अतएव कहा और माना था तत्त्व है कि, कर्त्तृ प्राणतत्त्वप्राप्त से ही ‘तत्त्व’ कहलाते हैं। किन्तु प्राण रहता है वही ‘तत्त्व’ है, क्योंकि तत्त्व प्राण ही ‘तत्त्व’ है इत्यादि कर्त्तृ ही तत्त्वतत्त्व की मूलप्रतिष्ठा है। ‘तत्त्व प्राणतत्त्व’ तत्त्वमूलक ‘सामान्य सामान्यमात्रा’ इस तत्त्व के अनुसार अतएव में तत्त्व का अभाव है। जैसे मनोमय, प्राणमय अथवा इन्द्रियमय के अनुसार ‘अमना अमना’ कहलाता है किन्तु तत्त्वमय होता है-‘मनोमय-प्राणमय’। तभी वह तत्त्वमय मी अस्तु कहलाता है। किन्तु कर्त्तृ (प्राण) रहता है वह मूर्तिक तत्त्व ‘तत्त्व’ है। कर्त्तृ (प्राण) में कर्त्तृ (प्राण) का रहेगा जैसे रहेगा। एतद्वत् ही आचार पर अर्थमा तत्त्वमय मी

प्राणतत्त्व विज्ञानमाया में 'असत्' नाम से व्यक्तित्व हुआ है, किन्तु तात्पर्य निकलता है—'ऊर्म्म' । इसी लिए तो 'असत् इदमत्र आसीत्' भुक्ति का अन्वय 'सदेवेवमग्रे सोम्य असत्सीत्' कथमसत्: सञ्जायेत' इस रूप से समन्वय हुआ है । असत् ही सृष्टि का मूल या एवं वह सत् या । अमानात्मक असत् से भावात्मक सृष्टि उत्पन्न भी कैसे हो सक्ता या । 'तत् सदासीत्' से 'मी प्राण के इस सदाभाव का ही विशेषण हुआ है । तात्पर्य—प्राणवत्त्व की शुद्ध स्वरूपता ही इसके 'असत्' नाम व्यवहार का मूलकारण है ।

असत्सञ्चार उक्त प्राणतत्त्व के सम्बन्ध में भुक्ति में 'इच्छन्त-अमेय-तपसा' कहे हुए इसके लय इच्छा तप, अम, सृष्टि के इन तीन सामान्य अनुकूलों का सम्बन्ध माना है । इच्छा मन का व्यापार है, मन ज्ञानप्रधान है । तप प्राण का व्यापार है प्राण क्रियाप्रधान है । एव अम वाक् का व्यापार है वाक् अर्थप्रधाना है । ज्ञानमय मन की इच्छा क्रियामय प्राण का तप अर्थमयी वाक् का अम सृष्टिकर्म में तीनों अपेक्षित हैं, क्योंकि 'कर्म' एवेवाधिपत्यते इत्यादि श्लोकमीमांसा करते हुए पूर्व में विस्तार से बखाना जा चुका है । इच्छात्मक ज्ञानमय मन की अम्यय विक्रमभूमि है, यह सृष्टिकर्म का आत्मन्य कारण बनता है, जिसे विज्ञानमाया में 'अधिष्ठान' कहा गया है । शब्दपरिमाणा में 'स्फोट' कहा गया है । तपोलक्ष्य क्रियामय प्राण आधर की विक्रमभूमि है जो शब्दपरिमाणा में 'स्वर' कहा गया है । यही सृष्टि का निमित्तकारण बनता है । एवं अमत्तमक अर्थमय वाक् उत्तर धर की विक्रमभूमि है, जो विज्ञानमाया में 'आरम्भण एव * शब्दपरिमाणा में 'वर्ण' कहा गया है । यही सृष्टि का उपादानकारण बनता है । आत्मन्य, निमित्त, उपादान इन तीन कारणों के एकत्र समन्वय से ही सृष्टि कार्य का विकास हुआ है । इसी आचार पर यार्जिकों का 'कारणसमुदायस्यैव कर्म्य प्रति कारणत्त्वम्'—('न तु कारणस्य') यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है । उत्पन्न कायकर्म कर्तु के स्वकर्मविशेषण से ही हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है । प्रत्येक पदार्थ में पदार्थ का 'रूप' पदार्थ का 'कर्म' पदार्थ का 'नाम' इन तीन विभागों का समन्वय उपलब्ध होता है । रूप-कर्म-नाम, तीनों पदार्थ के अत्यन्त आवश्यक हैं । 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' के अनुसार नामपर्व कारणत्मक वाक् उत्तर पर प्रतिक्रिया है कर्मपर्व आधरत्मक प्राणतत्त्व पर प्रतिक्रिया है, एवं रूपपर्व अम्ययत्मक मन-पर्व पर प्रतिक्रिया है । मन-प्राण-वागाधारेण प्रतिक्रिया रूप-कर्म-नाम की समष्टि ही पदार्थ का पदार्थत्व है । इस विशेषण से हमें यह मान लेना पड़ेगा कि केवल प्राणतत्त्व ही सृष्टि का मूल नहीं है अस्तित्व इच्छात्मक मन अमत्तमक वाक्, दोनों से युक्त तपोलक्ष्य प्राण ही सृष्टि का मूल है । इसी लिए भुक्ति को 'इच्छन्त-अमेय-तपसा' कहना पड़ा है । इच्छन्त-मन सम्बन्ध का सूचक है अमेय वाक् सम्बन्ध का सूचक है एवं तपस्य स्वयं प्राण के सम्बन्ध का सूचक बन रहा है । यदि ऐसा है तो फिर भक्ति ने 'असत्' का कार्य केवल प्राण ही क्यों किया ? तब तो भुक्ति को 'किं तदसत्सीत्' प्रश्न के उत्तर में कहना चाहिये था । 'मन आसत्, प्राण आसीत्, वाक् आसीत्' । इस प्रश्न का भी निराकरण कर लीजिए ।

७२—अधिप्राण की सदात्मकता—

अम्ययप्रमक, इच्छाप्रतिक्रियन ज्ञानमय मन सृष्टिकर्म में आत्मन्यरूप से अपेक्षित अवरय है, परन्तु अपने स्वमयिक ज्ञानप्राधान्य के कारण यह 'कर्म' मर्यादा से अवशिरहित रहता हुआ गतिगम्य है ।

* 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्-मृधिकेन्येव सत्यम्' () ।

एवमेव चरित्तमक भ्रमशक्तिपन, कार्यमय बाह्यतत्त्व ही यद्यपि सृष्टि का उपादान बनता है। परन्तु अपने स्वामात्रिक अद्यप्राप्त्य से यह कह है गतिधन्य है। सृष्टिकर्म' कर्म है। क्रियामय है, क्रियाप्रधान है। व्यापारस्थिति है। यह धर्म' एकमात्र बाह्यरमक, तप-शक्तिपन क्रियामय प्राकृतत्व का ही है। प्राण ही गतिधर्म है। इसके अग्रगामी बनने पर मन की इच्छा और वाक का भ्रम शक्तिधर्म में सञ्चल होता है। यही रेल सीटिंग न। अतः केवल बड़ी बड़ी इच्छाएँ करते रहें किसी कर्म की स्थिति नहीं होगी। अतः अतिशय भ्रमरमक शरीर भी है। भ्रमरमक अन्य द्रव्यादि भौतिक वस्तु साधन भी हैं। परन्तु जब तक आप प्राणव्यापार (वेष्टा) को अग्रगामी न बना लेंगे तब तक आपकी इच्छा आपका भ्रम बड़ी सञ्चल न होगा। 'मौ से एक तत्त्व और निकल आया। कितने एक मनुष्य हाथ-पैर हिलाते या प्रतीत होते हैं। परन्तु वेगद है। फिर भी उनका कर्म स्वात्मना सञ्चल नहीं होता। कारण यही है कि उन्होंने इच्छा भी की, शरीरानुगत भ्रम भी किया परन्तु प्राणव्यापारलक्ष्य तप को उन्होंने गौण बना डाला। अन्तर्व्यापार-लक्ष्य तप का 'इच्छा और भ्रमने प्राप्त कर लिया। अतएव 'नका कर्म' सञ्चल न हो सका। यही वर्तमान प्रगति की का तरंग है। इन अर्थों यही अद्योक्तों में सञ्चलता क्यों नहीं मिलती? जब कि हम इच्छा करते हैं और काम करते हैं वस्तु भी करते हैं। उत्तर है—तप का अभाव, प्राणव्यापार की स्थिति। प्राणव्यापारमक 'तप' का अर्थियों में लक्षण दिया है—'यत्तु तप इत्यादुर्यन्त्वं त्वं ददाति। दत्तं महत्त्वर्यं लक्षण है। 'नते ही वैज्ञानिक 'तप' कहते हैं जिसमें कर्माभ्यासात् त्वं अपने आपका दान कर देता है' यही वस्तुलक्ष्य का अर्थ है। यही तप गतापरिमित्वा में 'अनन्तनिष्ठा' कहलाई है। अपनी आत्मन्तर शक्तियों का सर्वत्र दान ही तप है यही आत्मकर्मत्व है। यही वास्तविक प्राणव्यापार है यही कर्म सात्म्य का मूलधार है। यदि हमारी स्वान के स्वान में 'पयस्वान की ओर प्रवृत्ति है, यदि हम अपने प्राण का स्वानशिला पर रत्न कर उपायन्तर्ध्याम द्वारा उसे सर्वत्र में नहीं डाल सकते तो स्वप्न में भी हमारे पयस्वर-वास्तव्य से वर्तमान निस्तव्य आबोधन कभी भेषःप्राप्ति का कारण नहीं बन सकते। निवेदन प्रकृत में यही करना है कि मनः-प्राण-बाह्य-दीनों में मन ही स्वतः निष्क्रिय है बाह्य की स्वतः निष्क्रिय है। यदि है एकमात्र बाह्यरमक यह प्राणतत्त्व, जो ज्ञानमय मन और कार्यमयी वाक दोनों के मध्य में प्रवृत्ति रहता हुआ उत और के मनोमय ज्ञान से ज्ञानमय, इस ओर के बाह्यमय कार्य से कार्यमय एवं स्वातुगता प्राणमयी क्रिया से कुत रहता हुआ ज्ञान-क्रियाधर्ममय बन कर स्वात्मक बना हुआ सृष्टिकर्म में समर्थ हो जाता है। प्राण ही 'अरिपन (गर्तधर्मा) है। इसके गमन से ही इच्छात्मक मन अमात्मिक बाह्य दोनों सन्ध्यन्तु बनते हैं एकमात्र प्राण के ही गतिधर्म से अति ने बाह्यरमक प्राण को ही प्रचलनरूप से सृष्टिकर्म का प्रवक्तृ माना है। वैज्ञानिक निम्न लिखित उपनिषद्कृति से भी प्रमाणित है—

यथा मुदीप्तात् पावकप्रतिष्कृतिज्ञा सहस्रां प्रमथन्ते सरूपाः ।

तथाऽऽपराधविधाः सौम्य ! मावा प्रजायन्ते, तत्र वैवापियन्ति ॥

स्वयं गीताधार्य भी इसी भीम मिश्रत का अनुगमन कर रहा है। अत्यन्त पुण्य है बाह्यतत्त्व अत्यन्तप्रकृति नाम की 'पराप्रकृति' है। एवं चरित्तम अत्यन्तप्रकृति नाम की 'अपराप्रकृति' है। पुण्य मनोमय है पराप्रकृति (अत्यन्तप्रकृति) प्राणमयी है अपराप्रकृति (अपराप्रकृति) बाह्यमयी है। 'अत्यन्तप्रकृति' सदाः प्रमथन्त्युरागम यथाह भूति के—अपरात् सौम्य ! मावा प्रजायन्ते' से समुत्पन्न है। एवं—'प्राणमय

७३-सप्तपिलवण्य अधिप्राय का परिचय—

विविधरूपों से युक्त उक्त प्राणलक्षण, अणू नामक अणितत्त्व का 'सप्तर्षि' नामक विशेष विभाग (जाति) ही सृष्टि का मूल बनता है। 'सप्तार आत्मा, हो पशो, पुच्छं प्रतिष्ठा' रूप से इन लक्षण (घाघ रहने वाले) सात प्राणों का '४-२-१' इस क्रम से सन्निवेश हुआ है, जिसका हम अपनी शरीररक्षा में प्रत्यक्ष कर सकते हैं। कष्टरूप से आरम्भ कर मूलरूपपर्यन्त भित्त शरीरवर्षि ने चार समविभाग कर दक्षिण। इनमें चार प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं। इस प्राणचतुष्टयी के आधार पर ही पञ्च-पुच्छप्राण प्रतिष्ठित रहते हैं अतएव उदयेधमा इस प्राणचतुष्टयी को आत्मा नाम से व्यवहृत कर दिया गया है। दक्षिण हस्तपाद दक्षिण पक्ष है, वाम हस्तपाद वाम पक्ष है मेरुदण्ड की अन्तिम अक्षःशीमास्थ त्रिकारिभ पुच्छ है। तत्र प्रविष्टि प्राण्य इसलिये 'प्रच्छिन्ना' (पुच्छं प्रतिष्ठा) कहालाया है कि, जब तक अण्यस्मत्संस्था में त्रिकारिभप्राण स्वस्वरूप से विवक्षित रहता है, तभी एक इसके आधार पर शरीरवर्षि तनी रहती है। (बृहदारण्यक में) इस प्राण के मूर्च्छित हो जाने पर कमर झुक जाती है। इस प्रकार शिरोभाग को छोड़ कर मध्य (घड़) हस्तपाद, त्रिकारिभ, इन तीनों स्थानों में क्रमशः आत्मप्राणचतुष्टयी पञ्चप्राणवर्षी, पुच्छप्राण से अष्ट प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं। सातों प्राण अन्वयमानस्त्वेन अनुतात्मक हैं, एवं चरवाचस्त्वेन मर्त्य हैं। इन सातों का अनुवर्तन ही 'भी' नामक प्राण कहालाया है। यह भीप्राण शिरोभाग में प्रतिष्ठित रहता है। अतएव कर्मपरिणाम में बलि पशु का शिरोभाग भी कहालाया है। सप्तर्ष्य-अधिप्राय की 'सप्तर्षि जाति ही 'सप्तपुच्छपुच्छात्मक पुच्छ-प्रभापति कहालाया है। यही सृष्टि का प्रवक्तृ बनता है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथमन्त्र में ग्रह्य है।

सप्तपिलवण्य प्रभापति सर्वप्रथम मनोलाक्षण आत्मन के आधार पर अपने बाह्यार्गित प्राणमात्र से लक्ष्मात्मक वेद का प्रवर्तक बनता है जो वेदलक्ष अक्ष-धाम से अनुपरीत रहता हुआ 'यजु' नाम से प्रविष्ट हुआ है। मत् प्राणलक्ष अणुि है 'य' वाक्-लक्ष है। वाक्-प्राण की समष्टि ही 'वक्' है। स्थितिप्रकृतिक वागात्म्य 'य' है। यतिप्रकृतिक प्राणवायु 'म' है। मन के आधार पर प्रतिष्ठित 'व' नामक अधिप्राय के गत्यात्मक व्यापार से 'य' नामक वाक्-लक्ष के उपहानाहार आगे की पारमेष्ठपादि सृष्टियों की प्रवृत्ति हुई है। इसप्रकार लभ्युय विषय लक्ष्य प्राणलक्ष अणुि के व्यापार से ही उत्पन्न हुआ है। प्राणलक्ष अणुि वेद की पूर्वावस्था है, स्वयं लक्ष्यैव अधिप्राय की उत्तरावस्था है। अतएव 'अधिर्विबुधमन्त्रः' इत्यारिरूप से अणुि, और वेद का तादत्म्य मान लिया गया है। इस अधिलक्ष को ही हमने सम्मत्त 'प्रकृति' कहा है। इसी आधार वाक्य से प्रकृति को ही विरक्तर्षी मान लिया है। प्रकृति से वेद के द्वारा स्मृत्यन्त विरक्त, एवं विरक्तवा कर्ण-अक्षरमिह से दो भागों में विभक्त रहती है जिसका 'गीता य' 'ल' विभागात्तरगत 'वर्णव्यवस्था-विज्ञान' में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। प्रकृति (अधिप्राय) अपने विगुह्यमान से आगे बाहर विभिन्नवर्मात्तुगता बन जाती है। विभिन्न वर्मात्तुगता प्रकृति से समुत्पन्न र्मा में भी प्रत्यनुसार ॥ चर्म' (प्रकृति-स्वभाव-स्वचर्म) विभक्त हुआ है। स्वयम्भू मयु नामक प्राणलक्ष (अध्यस्तप्रकृति) से समुत्पन्न विरक्त एवं उसके शार्कलक निरक्षिलक्षण चर्म का ही नाम 'आर्यचर्म' है। अधिप्राय क्योंकि इस चर्मप्रवृत्ति की मूलप्रतिष्ठा है अतएव कर्ण-अक्षरमिहक यह प्राकृतिक चर्म 'आर्यचर्म' कहालाया है। अधिप्राय ही स्वयम्भू मयु है, अतएव कर्मात्मक इस प्राकृतिक चर्म को 'मानवचर्म' भी कहा जा सकता है। प्रकृति (अक्षरलक्ष-प्राण) - 'प्रकृति' पुरुष और विद्वज्जाती वमावर्षि के अनुसार निरक्त है, कर्मात्मक है, अतएव लोकात्म्यहार

प्रभीप्सते तर्जनाभ्यस्तंशब्दे' गीताश्रमभूति के—'तत्र चैवापियमित' से समुद्दिष्ट है। अतएव—'अस्तद्वा इन्मम आसीत्' इत्यादि प्राणश्रमभूति ने 'इच्छन्त-अमण-तपसा' हाथ लक्षिकर्म में मना-प्राण-बाह्-तीनों का लक्ष्यता स्वीकार करत हुए भी 'अपयो बाह तन्मेऽसन्नासीत्-माय्या वा अपय-अरिपय-तस्मात् अपयः पर कर कर गतिवर्मा अचरामक, अणक प्राणतत्त्व को ही लक्षिकर्म का प्रथम प्रवर्तक माना है। गतिवर्मा से ॥ पर अमयमी तन्मूर्ति प्राणतत्त्व 'अरि' कहलाया है।

प्राणश्रम इव गतिवर्मा अतिवर्मा के 'सप्तर्षि-उर्कर्षि-द्वयर्षि-त्र्यर्षि' आदि अनेक विवर्त हैं। इनके भी अग्रे बाहर अरुण्य विवर्त हो जाते हैं। इन अरुण्य आधिदैविक श्रुतिधरों के आचार पर अग्रे बाहर स्थिराण देवप्राण अनुप्राण मन्त्रवर्माणा पशुप्राण मानवप्राण आदि आदि अनेक विवर्त हो जाते हैं। इत्यन्तर यह अतिप्राण विविधमन्त्रापन्न बनता हुआ अरुण्य, अतएव अतृप्ति अरुण्यदि आचारण व्यक्तियों के लिए अचिन्त्य-अभिज्ञे ही बना रहता है। गमीमूल इन अतिप्राण का परिचय अतिरुद्धि पर ही अवलम्बित है किन्तु मनुष्यदि तर्जना स्थित रहती है। अतिवर्मा के इसी वैविध्य का लक्षण बना कर अति तन्मात्राश्रयों अति ने कहा है—

विरूपास इव अपयः, त इव गम्भीरवेपसः ।

त अग्नेः परिज्वरित, तेऽङ्गिरसः सुतव ॥

—शुक्ल०

मनोमय अमय 'शारवतवर्मा' नामक पण्यर से अविनाशित रहता हुआ 'शारवतवर्मा' है। प्राणमय अचरतत्त्व इन्द्र है। आरमय धरतत्त्व सोमगमित अग्नि है। अमय, अचर, धर-अमदि बाहरीप्रजापति है। मण्यय प्राणमय अचर, किञ्च अचरमय प्राणतत्त्व ही 'योऽयं मण्यतराम्य' निर्वचन से इन्द्र है यही अमय त्वयम् नामक 'मनु' है। इत्यन्तर मनोमय अमय तथा आरमय धर, दोनों हैं नित्य अविनाशित, अतएव मनप्राणआरमय अमयतप्राणमय त्वयम् को ही लक्षि का प्रवर्तक माना गया है। इन्के अमयमयक रूप को लक्षण बना कर ही मन्वान् मनु ने कहा है—

१—तत् स्वपम्भूमगतानप्यक्तो व्यञ्जयभिदम् ।

महाभूतादि वृषात्रा प्रादुरासीषिमोनुदः ॥

—मनु १६-० ।

२—योऽमावर्गान्त्रियप्राण यन्मोऽप्यक्त मनोमन ।

सर्वभूतमयोऽपिन्यः ॥ एव स्वयमुत्थयो ॥

३—एतमक वदन्त्यमि, मनुमन्य, प्रजापतिम् ।

इन्मक, पर प्राण-मपर प्रस शान्तवन् ॥

४—एव मवाणि भूतानि पञ्चमिन्याप्य निष्ठति ।

जन्म-वृद्धि-वपनिन्य ममारपति चक्रपन् ॥

मनु १० १०३-१०४।

माया में यही चरम 'सुतप्तनक्षत्रम्' नाम से सुप्रसिद्ध हुआ है। श्रुतिप्राण से कैसे निरव उत्पन्न हुआ है ? उत्तम विश्व के प्राकृतिक चरमों का क्या स्वरूप है ? कारणभूत श्रुतिप्राण के साथ कार्यभूत निरवचरम का क्या सम्बन्ध है ? इत्यादि प्रश्नों का समाधान करने वाली कार्य-कारण-विज्ञानात्मिका श्रुतिप्राणागुगुण्य श्रुतिविद्या (प्राणविद्या-वेदविद्या) ही 'आपविद्या' है, उत्तुगत प्राकृतिक न्यायवर्णचरमा ही वैदिक चरम योग है, बिद्यका उद्योचितरुम गीतापरिमाणागुगुणर 'चरमभुक्तियोग' नाम से भवद्वत हुआ है ।

७४-श्रुतिप्राणात्मिका आपविद्या-

'आपविद्या' शब्द का अर्थ है—'श्रुति की विद्या'। यह श्रुतिविद्या 'तत्त्वात्मिका राश्यात्मिका, मे' से दो भागों में विभक्त है। तत्त्वात्मिका आपविद्या ईश्वरीय विद्या है राश्यात्मिका आपविद्या मानव-श्रुति विद्या है। मानव-श्रुतिविद्या से ही तत्त्वात्मिका आपविद्या का बोध होता है। ईश्वरीय आपविद्या नाम है, मानव-श्रुतिविद्यात्मिका आपविद्या नामक है। यह राश्यात्मिका विद्या है, यह अर्थवद्विद्या है। अर्थवद्विद्या के मूल प्राणविद्य श्रुति हैं राश्यात्मिका विद्या के मूलप्रवर्तक प्राणीविद्य मनुष्य-श्रुति हैं। मानव-श्रुति-चरम में परम्परा प्रतिष्ठित यही आपविद्या 'वेदविद्या' कहलाई है जिसमें प्रतिपादित प्राकृतिक चरम 'विद्या-समुचित प्रवृत्त चरम' कहाया है, एवं जिसके चरमचरम 'तपाचरम' दानचरम ने तीन कालान्तर मुच्य पर्व मानें गए हैं। तात्पर्य इस विस्तेषण का यही है कि, अतीतानागत, विहितवेदितचरम अभिगतायातचरम भाव्यव महर्षियों ने निरकाल के तपोयोग से (प्राणव्यापार से) प्रादुर्भूत अतीतानागतपरिज्ञानमूला योगव-द्वि (श्रुतिद्वि, आर्षद्वि) से प्रकृति के प्राणतमक श्रुतिचरमों का साक्षात्कार किया। जिस तत्त्ववेद्य मानव ने जिस प्राणतमक श्रुति, का एवं उत्तुगत निरवचरम का सर्वप्रथम साक्षात्कार किया, वह मानव, एवं उस मानव के चरम में उत्तुक्त ज्ञाणपरीक्षक चरम उत प्राणश्रुति के नाम से ही प्रसिद्ध हुए। सर्वमूलभूत चरमक स्वचरम प्राण के परीक्षक 'स्वचरम' मनु' कहाया। इसीप्रकार बलि, करप, विश्वामित्र अक्षिण, चण्ड, अग्नि इव चण्ड, आदि आदि प्राणों के प्रथमप्रज्ञा तत्त्ववेद्य चरम बलिहारी नामों से ही प्रसिद्ध हुए, जो नाम इन मानव श्रुतिचरमों के 'चरमनाम' मानें गए हैं। स्वचरम मनु इस श्रुतिविद्या के मूलप्रवर्तक मानें गए। क्योंकि प्रकृति में चरमक स्वचरम ही श्रुतिविद्या का मूल है। स्वचरम मनु से आरम्भ कर आगे की मानव श्रुतिपरम्परा में ही श्रुतिप्राणात्मिका इत आपविद्या का प्रधानरुम से परम्परा प्रचार रहा। अतएव मानवचरम'राश्यात्मिका यह श्रुतिविद्या, 'आपविद्या' नाम से प्रसिद्ध हुई।

७५-मानवश्रुतिशालुगता आपविद्या-

पूर्व के 'विद्यास्वरूपपरिचय' नामक परिच्छेद में यह स्पष्ट किया था पुछा है कि, निगमागमविद्या श्रुतिविद्या है, अपराविद्या है। त्रिगुणात्मिका योगमाया के सम्बन्ध से यह अपराविद्या-(वैदविद्या, वेदोक्त-चरम'कावद) त्रिगुणमायाप्रा है, ऐसा कि—'त्रैगुण्यविषया वेदा' इत्यादि मन्त्रवचन से प्रमाणित है। सम्पूर्ण विद्य निरवचरमा, एवं निरवचरमा के प्राकृतिक चरम त्रिगुणात्मिका प्रकृतिमूलक बनते हुए त्रिगुण-

मात्रात्मक है। सर्वत्र विगुणमात्र का साक्षात्कार है ॥ इती विगुणमात्र के कारण अमृत-अमृतमूलक भी वे विरचनार्थ (वैदिक महासिद्धि) कायगुणत कसे हुए हैं। विगुणमात्रात्मक होने प्रकृति-साक्ष्य वैदिक कर्म स्वप्न-स्वप्न के परिवर्तक बनते हुए आगच्छितकर्म हैं। अतएव सर्वविध कर्मयोग कर्मन का प्रवर्तक बनता हुआ त्याग्य है। अतिरिक्त में परम्परया प्रचलित आर्यविद्यागुणत कर्मयोग महाविद्यालय ही बना हुआ था।

आद्य भी तो कर्ममय प्रतिपादक आद्यप्रमाणों में— अग्निप्रोवेन स्वर्गवर्गों से— इत्यादिरूप में वायनागुणत विगुणमात्र का ही प्राथम्य उपलब्ध हो रहा है। तभी तो महात्मा में स्वर्ग केर की ही विगुणात्मक बताया है। क्या महात्मा वेदराज्य एवं लुप्त कलाविलक्षण कर्मयोग के शिरोही हैं? नहीं, सर्वथा नहीं। 'तस्मात्पुद्गलं प्रमाणं तं अद्वयकाम्यकर्मयोगी—यत्तद्वत्तत्पुद्गलं न त्याग्यं अद्वय-मं च तत् इत्यद्वयत्वं से वेदराज्य एवं कर्ममूलक यदवयवमयत्वं को कर्तव्य-कर्म निर्णायक माननेवाले म्यादि कर्मों की अवश्य-कर्तव्यता का समर्थन करने वाले परे परे शास्त्रागुणत वर्णममूलक विमृत स्वयम्प्राप्तन के लिए प्रेरित करने वाले अक्षरि गीतापदेय के मुख्य पात्र अत्रुन को अतिरिक्तोचित शास्त्रीय पुद्गलकर्म' में प्रकृत करने वाले महात्मा वेदराज्य एवं लुप्तवादित कर्मयोग को त्याग्य टहलने देते हैं। कर्तव्य का विगुणात्मक है। महात्मा केवल विगुणमात्र का विरोध कर रहे हैं। इतीतिह्ये—'त्रिगुण-विद्या वेदा' के अनन्तर ही महात्मा ने—'निर्भ्रमगुणयो महात्मा' रूप से अपने मन्त्र्य का स्वीकार कर दिया है। यह कलात्मक का गुण है कि, ईश्वरत्वमात्रा उपलब्ध कर्म वगैरहित पक्ष कलावर्ति, चारों में से वलात्मक ही कर्मन का कारण है। कलावर्ति का मूल बीजत्वमात्रा है—बीजत्वकर्म योगमात्रगुणत है, योगमात्रा विगुणात्मिका है। इसके पक्षिण से बीज ईश्वरगुणत कला हुआ विगुणात्मिका निवृत्ति में परिणत हो जाता है। और उक्त दशा में पहुँचने पर इत्यत्र कर्म आगच्छितकर्म के स्थान में आगच्छितनिवर्तक बन जाता है। अतएव इसे 'निवृत्तकर्म' कहा गया है। प्रकृतकर्म भी प्राकृतिक कला हुआ 'धम्म अवश्य है। परन्तु यह कर्म आगे बढ़कर कलावर्तितरूप में परिणत होता हुआ आत्मावरक बन कर 'आगच्छी' रूप में परिणत हो जाता है। आर्यवर्त्ममार्ग लक्ष्यमात्र में अलक्ष्यमात्रा अधर्म बन जाता है। अतएव महात्मा ने इत अति-तत्त्वशास्त्रगुणत कर्मयोग में यह लक्ष्यजन आनन्दक माना है कि हम कर्म अवश्य करो, परन्तु अपनी (बीज की) वासना को प्रधान न बना कर उसे ईश्वरार्पित कर दो। इससे गुप्तार्थ कर्ममार्ग की सुरक्षित गेहा कर्मनका भी बचावकर उत्तर ही बाबाग उत्तरा हम उदमंग भी कर लानी लय हैं। कर्मन से भी बने योगी। मनी आर्यविद्यागुणत गीतोक्त 'धर्ममुद्रियोग' है बिने हम 'लक्ष्योचित कर्मवला' यह कहने हैं। इत्यत्र प्रधानतः साक्ष्यवर्ग में ही प्रचार रहा है। इतीतिह्ये आद्य भी तो आद्य के लिए लोक में वह निष्कण्टो प्रचलित है कि—'अनुक्त आद्यक बड़ा कर्मन है। कर्म-कर्म है तो आद्य का स्वरूप है।

० न तदस्ति पृथिव्या वा दिवि दक्षु वा पुन ।

सर्वं प्रकृतिर्जमुक्त यदेभिः स्यात्-प्रसिद्धा ॥

७६-वर्णाभिमन्यवस्यानुगता आर्षविद्या—

वर्णाभिमन्यवस्यानुगत, वेदशास्त्रसिद्ध कर्मकाण्ड ही कर्मयोग है। यही धर्म है। तन्मूला वेदविद्या ही आर्षविद्या है। कामभावामक यही कर्मयोग त्रिगुणात्मक बनता हुआ सम्भव है। निष्कामभावामक यही कर्मयोग त्रिगुणातीत बनता हुआ 'धम्म बुद्धियोग' है। लोकप्रचलिता योगनिष्ठा (कर्मयोग) और भगवत् सम्मता योगनिष्ठा (धम्म बुद्धियोग) में यही महान् अन्तर है। यही गीता का निष्कामकर्मयोग है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा है—वेदशास्त्र एवं तन्मूलिका वर्णाभिमन्यवस्या। त्रिगुणभाव के परिमाण से दृष्टि 'सम' हो जाती है अतएव ऐसा कर्म योग 'समत्वयोग' बन जाता है। समग्रानुगत, अतएव आत्मनिःश्रेयस्यवत्क साथ ही प्रकृतिसंश्लेष विभिन्न वर्णानुगत विभिन्न व्यवहारानुगत अतएव लोकान्मुद्रयप्रवक्तृ, शास्त्रसिद्ध ऐव समत्वयोग ही गीता का 'सम्यग्वाद' है यही निष्कामकर्मयोग है, जिसका स्वरूप न जान कर केवल अपनी विशुद्ध कल्पना के आधार पर कितने वर्णाभिमन्यवों, त्रिगुणभावामक, उत्कृष्टतम, विषमदर्शनानुगत—सम्यग्व्यवहारामक प्रतीत्य सम्यग्वाद के साथ हमारे वर्तमान राष्ट्रीय गीतामठ समुलान करने का अक्षम्य अपराध करते हुए 'वृन्मन्त्रमायाः परिरन्ति मूढाः, अन्धेनेव नोयमाना यथाश्वा' को जर्मनता बरिधाय बना रहे हैं।

७७-प्राचीनामिता कर्मयोगनिष्ठा—

वाक्यनिष्ठा त्यागमूला है, योगनिष्ठा संश्रमूला है। वाक्यनिष्ठा प्राचीनमिता ज्ञानयोग है, इसमें कर्म का परित्याग है। योगनिष्ठा प्राचीनमिता कर्मयोग है—तत्वे ज्ञानना का संश्रम है। और इस दृष्टि से दोनों मोक्षनिष्ठार्थें बुद्धियोगात्मक से अधिक रहती हुईं रूपक-पूर्वक बन रही हैं। मात्मान्ने योगात्मिक कर्मनिष्ठा के सम्बन्ध में यही आदेश दिया कि, तुम केवल इसे ही (कर्मयोग को ही) उन्मत्तनिष्ठामक बना डालो। यह तभी सम्भव है जबकि तुम अपने कर्म योग में त्याग और संश्रम दोनों का सम्मेलन कर दो। त्याग करो ज्ञानना का (जिसका वास्तव्य है—बीजेषा का परित्याग), संश्रम करो ईश्वरानुगत प्राकृतिक कर्म का। काम-त्याग से तुम्हारी यही कर्म योगनिष्ठा ज्ञानयोगनिष्ठा बनती हुई आत्मविक्षाख्यवर्तिका बन कर निःश्रेयस-(मुक्ति)-साधिका बन जाती, एवं यही कर्म योगनिष्ठा कर्म संश्रम से कर्म योगनिष्ठा बनती हुई लोकसंश्रमवर्तिका बन कर आमुद्रम-(मुक्ति)-साधिका बन जाती। इसप्रकार उन्मत्तनिष्ठ ऐसी योगनिष्ठा (कर्म योग-धम्म बुद्धियोग) से तुम्हारे ऐहिक-आध्यात्मिक दोनों पुरुषार्थ सिद्ध हो जायेंगे।

७८-भगवत्सम्मता धर्मबुद्धियोगनिष्ठा—

ठीक इसके विपरीत, यदि तुमने अपने शास्त्रीय कर्म योग को बीजकामानुगत बनाते हुए केवल संश्रम का अनुगमन किया तो, ऐसा कामनामक कर्म तुम्हारी लोकस्थिति का संश्रम बनता हुआ भी तुम्हें तुम्हारे परमपुरुषार्थसंश्रम आध्यात्मिक आत्मनिःश्रेयस से अधिक बन देगा। और तुम-स्वर्ग-सुख भोगने पर भी—'शीघ्र पुरुष मत्प्रेक्षोक्तं विश्रान्ति' के अनुसार—'वाक्य प्रियम् इह दुःखप्रद-अज्ञान-अवमय-वत्क से अपना न कर सकोगे। 'एवं साधयं च योगं च न' पर्यन्ति स पर्यन्ति के अनुसार कामत्याग से तुम्हारी योगनिष्ठा 'धम्मनिष्ठा' बनती हुई मुक्तिप्रदायी बन जाती, यही योगनिष्ठा कर्म संश्रम से 'योगनिष्ठा' मन्त्रिणां ही बन जाती। और इसप्रकार इस संश्रमिद-धम्म बुद्धियोग' संपन्न उन्मत्तनिष्ठामक,

मायापत्र है। सर्वत्र त्रिगुणमात्र का व्यापार्य है ॥ इसी त्रिगुणमात्र के कारण अक्षय-अक्षयशक्त भी ये विरचकर्म (वैदिक प्रवृत्तिकर्म) ज्ञानुगत बने हुए हैं। त्रिगुणमात्रात्थ ऐसे प्रवृत्ति-साधक वैदिक कर्म ब्रह्मि-स्वार्थ के परियोजक करते हुए आस्तिकजनक हैं। अतएव सर्वविध कर्मयोग कर्मन का प्रवर्तक बना हुआ स्वार्थ है। श्रुतिबंध में परम्परया प्रवर्तित आर्याविद्यानुगत कर्मयोग प्रवृत्तिप्रधान ही बना हुआ था।

आद्य भी तो यज्ञकर्म प्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थों में—अग्निहोमन स्वर्गकर्मो यजेत इत्यादिक्रम से कर्मनानुगत त्रिगुणमात्र का ही प्राधान्य उपलब्ध हो रहा है। तभी तो मगवान् ने स्वयं वेद को ही त्रिगुणात्मक कहा था है। क्या मगवान् वेदशास्त्र एवं उत्पत्ति कहाविलक्षण कर्मयोग के विरोधी हैं? नहीं, सर्वथा नहीं। 'तस्माच्छास्त्रं प्रभाषांते कर्ष्याकाम्योभ्यश्चिह्नौ'—'यजुश्चतुष्टयकर्म न स्यात्तं काम्य-मेव तत्' इत्यादिक्रम से वेदशास्त्र, एवं तन्मूलक मानवधर्मशास्त्र को कर्ष्य-कर्म निर्वाहक माननेवाले कहादि कर्मों की आक्षेप-कर्षणता का समर्पण करने वाले परे परे शास्त्रानुगत कर्षमममूलक विमूक्त स्वकर्म पाठन के लिए प्रेरित करने वाले लोपेति गीताश्लेष के मुख्य पात्र अजुन को क्षत्रिण्यर्णोचित, शास्त्रीय युद्धकर्म में प्रवृत्त करने वाले मगवान् वेदशास्त्र, एवं उत्पत्तिवादित कर्मयोग को तत्पत्र टहराते होने का कल्पना भी अनुचित है। मगवान् का विरोध केवल आस्तिक से है बीजानुगत उत्थापनाका से है। क्योंकि वह त्रिगुणात्मिक है। मगवान् केवल त्रिगुणमात्र का विरोध कर रहे हैं। इसीलिए तो—'त्रिगुण-विषया वेदा' के अनन्तर ही मगवान् ने—'निर्गुणयो मयाजुन'। कर्म से अपने मन्त्र का स्वीकरण कर दिया है। यह कहाया था हुआ है कि ईश्वरकर्मना अनुगत कर्म लक्षणित वह कर्मात्मिक, बापों में से अर्थात्कि ही कर्मन का कारण है। कलात्मिक का मूल बीजकर्मना है—बीजकर्म योगमात्रानुगत है, योगमात्रा त्रिगुणात्मिक है। इसके परिणाम से अब ईश्वरानुगत बना हुआ त्रिगुणातीता रिक्ति में परिणत हो जाता है। और उस दशा में पहुँचने पर इसका कर्म आस्तिकजनक के स्थान में आस्तिकनिवर्तक बन जाता है। अतएव इसे 'निवृत्तकर्म' कहा गया है। प्रवृत्तकर्म भी प्राकृतिक बना हुआ 'धर्म' अक्षय है। परन्तु वह धर्म अतो आकर उत्थापनकर्म में परिणत होना हुआ आत्मावरक बन कर 'अधर्म' रूप में परिवर्त हो जाता है। आर्यधर्ममार्ग लक्षणमात्र से अधर्मलक्षणा अधर्म बन जाता है। अतएव मगवान् ने इस श्रुति-उपदेशानुगत कर्मयोग में वह लोचन आक्षेपक माना है कि, धर्म कर्म अक्षय करो, परन्तु अपनी (बीज की) कर्मना को प्रधान न बना कर उसे ईश्वरार्पित कर दो। इससे धर्मकार कर्ममार्ग भी सुपरिष्ठ रहेगा कर्मपत्र भी बपाक्षर उत्पन्न हो जायगा उत्पन्न धर्म उपयोग भी कर लो लोच ही कर्मन से भी बने रहोमे। यही आर्याविद्यानुगत गीतोक्त 'धर्मबुद्धिबोग' है जिसे हम 'उद्योगित कर्मयोग' कह सकते हैं। इत्यत्र प्रधानतः ब्राह्मणधर्म में ही प्रचार रहा है। इसीलिए आज भी तो ब्राह्मण के लिए लोक में वह विद्वान्ता प्रवर्तित है कि—'अनुक्त ब्राह्मण बड़ा कर्मट है कर्म-धर्म ही तो ब्राह्मण का स्वकर्म है।

॥ न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।

सर्वं प्रकृतिजैमुक्त यदेभिः स्यात्-त्रिमिश्रणैः ॥

७६-वर्णाश्रमव्यवस्थानुगता आर्षविद्या—

वर्णाश्रम-व्यवस्थानुगत, वेदशास्त्रसिद्ध कर्मकाण्ड ही कर्मयोग है। यही धर्म है। तन्मूला वेदविद्या ही आर्षविद्या है। काममात्रात्मक यही कर्मयोग त्रिगुणात्मक बनता हुआ तन्मय है। निष्काममात्रात्मक यही कर्मयोग त्रिगुणातीत बनता हुआ 'धम्मबुद्धियोग' है। लोकप्रचलित योगनिष्ठा (कर्म योग) और भगवत् सम्मता योगनिष्ठा (धम्मबुद्धियोग) में यही महान् अन्तर है। यही गीता का निष्कामकर्मयोग है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा है—वेदशास्त्र एवं तन्मूलिका वर्णाश्रमव्यवस्था। त्रिगुणमात्र के परिचाय से दृष्टि 'उम' हो जाती है, अतएव ऐसा कर्म योग 'समस्तयोग' बन जाता है। समर्थानुगत, अतएव आत्मनि वेदव्यवस्था, क्षय ही प्रकृतिसंश्लेष विभिन्न वर्णानुगत विभिन्न व्यवहारानुगत, अतएव लोकान्तरानुगत क, शास्त्रसिद्ध ऐसा समस्तयोग ही गीता का 'साम्बन्ध' है यही निष्कामकर्मयोग है, जिसका स्वरूप न ज्ञान कर केवल अपनी त्रिगुण कस्यता के आधार पर विज्ञान, वर्णाश्रमविविधी, त्रिगुणमात्रापर उच्छ्वस्त विषमदर्शनानुगत-समस्तव्यवहारमक प्रतीत्य साम्बन्ध के साथ हमारे वर्तमान राष्ट्रीय गीतामस्त समुत्थान करने का अद्यत्म अपगम करते हुए 'दन्त्रम्बमाणाः परित्यज्य मूढा अम्बन्धेय नोयमाना मयान्धा' को उत्तमना धारितार्थ बना रहे हैं।

७७-प्राचीनामिता कर्मयोगनिष्ठा—

सर्वकनिष्ठा स्वयम्भूता है, योगनिष्ठा संश्रमूला ३। संकल्पनिष्ठा प्राचीनभिमत ज्ञानमता है, इसमें कर्म का परिचाय है। योगनिष्ठा प्राचीनभिमत कर्मयोग है इसमें कामना का संश्रम है। और इस दृष्टि से दोनों शास्त्रनिष्ठों बुद्धियोगवत्त्व से वञ्चित रहती हुई पुण्य-पूर्वक बन रही हैं। भगवान् ने योगनिष्ठा कर्मनिष्ठा के संकल्प में यही आदेश दिया कि, तुम केवल इते ही (कर्म योग की ही) उभयनिष्ठतामक बना जाओ। यह तभी सम्भव है, जबकि तुम अपने कर्म योग में त्याग और संश्रम दोनों का समन्वय कर दो। त्याग कर कामना का (जिसका शास्त्रार्थ है—बीबेच्छा का परिचाय) संश्रम कर ईश्वरानुगत प्राकृतिक कर्म का। काम त्याग से तुम्हारी यही कर्म योगनिष्ठा ज्ञानयोगनिष्ठा बनती हुई आत्मविक्षयप्रवर्तिता बन कर निःशेषक-(मुक्ति)-साधिका बन जायगी, एवं यही कर्मयोगनिष्ठा कर्मसंश्रम से कर्म योगनिष्ठा बनती हुई लोकसंश्रमप्रवर्तिता बन कर आत्मव्यय-(मुक्ति)-साधिका बन जायगी। इसप्रकार उभयनिष्ठता ऐसी योगनिष्ठा (कर्म योग-धम्म बुद्धियोग) से तुम्हारे ऐहिक-आधुनिक दोनों पुरुषार्थ सिद्ध हो जायेंगे।

७८-भगवत्सम्मता धर्मबुद्धियोगनिष्ठा—

ठीक इसके विपरीत यदि तुम अपने शास्त्रीय कर्म योग को बीबेच्छामानुगत बनाते हुए केवल संश्रम का अनुगमन किया हो, एवं कामनामय कर्म तुम्हारी लाकड़ियाँ का संश्रमक बनता हुआ भी तुम्हें तुम्हारे परमपुरुषार्थलक्षण आधुनिक आत्मनिःशेषता से वञ्चित रख देगा। और तुम-स्वर्ग-तुल्य मानने पर भी—'सौण्य पुण्य मत्पलोक विश्रुति' के अनुसार—आत्म्य सिद्ध यह पुण्यप्र-अज्ञान-मगमय-बन्ध से अपना मतान्न न कर सके। 'उच्छ्वस्तस्य च ध्यानं च न परयति स परयति के अनुसार कामत्याग से तुम्हारी यही योगनिष्ठा 'संश्रमनिष्ठा' बनती हुई मुक्तिप्रदाता बन जायगी, यही योगनिष्ठा धम्म संश्रम से 'योगनिष्ठा' बनती हुई मुक्तिप्रदात्री बन जायगी। और इसप्रकार इन मर्यादित-धम्मबुद्धियोग लक्षण, उभयनिष्ठतामक,

निष्कामकर्म योगात्मक कर्म योग से हम सब कुछ प्राप्त कर लेंगे त्रिगुणी मूलप्रतिष्ठासूत्रिका, तत्त्वज्ञानसूत्रिका
विद्या ही 'आर्यविद्या' कहलाई है ।

७८-धम्मभुद्धियोगात्मक कर्मयोग का समन्वय—

विभिन्न दृष्टियों से आर्यविद्या एवं तत्तुगत धम्मभुद्धियोग का स्वरूपविरहोपलब्धि किया गया । अब एक अन्य दृष्टि से इसका समन्वय किया जाता है । 'धम्म' शब्द का स्वरूप-परिचय करते हुए हमने यह स्पष्ट किया है कि—'प्रवृत्तिविह्वल-प्रवृत्तिरोमिष-वर्णावशानुगत-विभिन्न-कर्मस्य कर्म का ही नाम 'धम्म' है । इस कर्मात्मक धम्म शब्द के ही आगे जाकर 'विधिधम्म', 'कर्मार्थकधम्म', 'सांस्कारिकधम्म' भेद से तीन विभाग हो जाते हैं । 'अहरह' सम्प्रदायुपासीन' (प्रतिदिन कर्म करे) 'अहरह' स्वाध्यायी उपसंन्यस्य (प्रतिदिन शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए), इत्यादि आश्रमनाशक्य विन आदेशों का विधान कर रहे हैं वे आदेशात्मक विधिवचन ही 'विधिधम्म' है । मन्वादिशास्त्र इस विधिधम्म के सम्बन्ध में ही 'धर्मशास्त्र' कहलाए हैं । विधि के साथ साथ इनमें निष्ठिधम्मों (अधर्मात्मक धर्मों) का भी समावेश हुआ है । 'मा हिंस्यात् सवा मृतानि' (किसी को मार न हो) 'नक्षेत्रोपान्तमारिष्यम्' जगते हुए स्वर्ग को नहीं देखना चाहिए) इत्यादि नियमों का भी धम्मशास्त्र में ही संग्रह हुआ है । कर्मात्मक धम्म भी इतिवृत्त ज्ञाता कलाने के कारण धर्म (कर्म) प्रविष्टात्क विधि-नियम-वाक्यों का संग्रहात्मक शास्त्र 'व्यवस्थान्याय' से धर्मशास्त्र (धर्मप्रतिपादशास्त्र) कहलाता है बिना शास्त्रात्मक, विधिनियम-वाक्यात्मक धर्मों को हम 'विधिधम्म' कह सकते हैं । शास्त्र ने वैयाकरणों की आज्ञा ही लेख हमने किया । विलक्षण नियम किया, वह न किया । इस अनुष्ठेय धर्म का नाम ही 'कर्मार्थकधर्म' है, और यही धर्म का शास्त्रात्मक स्वरूप है । विधिधर्म केवल आदेशधर्म है । जब तक धर्म केवल धर्मों में सीमित है तब तक वह आदेशधर्मता से अधिकृत रहता हुआ हमारा कोई उपकार नहीं कर सकता । आदेशधर्म पर ही धर्म आदेशात्मक ज्ञाता हुआ हमारी स्वस्मरणा करता है । अतएव ज्ञातधर्म 'विद्यधर्मधर्म' माना गया है । 'आत्मना धृतः सम् आश्रयतः स्वरूपं दृष्टि' ही धर्म का स्वस्मलक्षण है । विधि नियम वक्तों को (विधिधर्म को) हमारा आत्मा चरक नहीं करता । चरक करता है वह विधिधर्मविरहित धर्म को । अतः धर्म को ही धर्म कहना अनर्थक्य है । यह विधिधर्म वही धर्मशास्त्र में उपलब्ध रहता है वही कर्मात्मक वास्तविक धर्म धर्मों में सुलक्षित रहता है । यही 'कर्मार्थकधर्म-वानक इत्येव धम्मविशेष' है ।

८०-ज्ञानकर्मात्मिका धम्ममीमांसा—

कर्मात्मक धर्म ज्ञानार्थक है । अतएव इस कर्मात्मक धर्म के आगे जाकर आश्रमप्रधान धर्म, धर्मप्रधान धर्म से दो विभाग हो जाते हैं । ज्ञानात्मक धर्म से जो संस्कार उत्पन्न होता है वह 'ममनाधर्म' कहलाया है एवं धर्मात्मक धर्म से उत्पन्न संस्कार वाचनाधर्म कहलाया है । हमारे ज्ञानाचरण और धर्माचरण से संस्कार उत्पन्न होते रहते हैं । ये उत्पन्न ममना-वाचनासंस्कार भी धानकर्मात्क आत्मा के द्वारा हृत रहते हुए 'धम्म' नाम से ही व्यञ्जित हुए हैं । इसी संस्कार-धम्मपुञ्ज का नाम निष्कामयोग में 'तत्त्व' है । यही उत्पन्नधम्म ज्ञानी धानकर्मात्कदृष्टि का कारण जाता है । यदि उत्पन्न धर्मों का ज्ञान

हैं तो आत्मा बीजमुक्त बन जाता है। अतएव मानना पड़ेगा कि, जब तक सांस्कारिक धर्म है, तबो तक आध्यात्मसंस्था की स्वस्मरणा है। इन्हीं से कर्म-कर्म-चक्र प्रवाहित रहता है। यही भाषनावाक्या संस्काररमक संस्था 'सांस्कारिकधर्म' है, जिसे हम कर्मात्मकधर्म से उत्पन्न 'फल' भी कह सकते हैं।

८१-एकदशोन्ध्रियाधिष्ठाता कर्मात्मा—

क्या फल कर्मन का कारण है ? प्रश्न की मीमांसा करते हुए पूर्व में यह मतलाया गया है कि आध्यात्मसंस्था का स्वस्मरणा उक्त अन्तर्बन्ध है एवं भाषना-वाक्यात्मक संस्कारमुक्त से ही इस अन्तर्बन्ध का निर्माण हुआ है। यही सांस्कारिक अन्तर्बन्ध ज्ञानकर्मनिमित्त फल है जो ईश्वरमानुगत बनता हुआ कभी कर्मन का कारण नहीं बनता। ईश्वरमानुगत संस्कार वहाँ आत्मधर्म है, वहाँ यही बीजधर्ममानुगत बनता हुआ 'अग्निनिवेश' नामक अधर्म बन जाता है। यही अग्निनिवेश फलात्कृतिकर्म में परिणत होता हुआ आत्मस्वरूपावरक बन कर आत्मकर्मन का कारण बन जाता है। 'अग्निनिवेश' का क्या स्वरूप है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें संस्कार का एक विभिन्न दृष्टि से समन्वय करना पड़ेगा।

आत्मा ज्ञान-कर्ममय है यह स्पष्ट किया जा चुका है। ज्ञान-कर्ममय कर्मात्मा जिन इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान-कर्ममयार के सम्बन्धन में समग्र होता है वे इन्द्रियाँ भी ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मेद से दो भागों में ही विभक्त हैं। चक्षु, श्रोत्र, ग्राह्य, रसना, स्पर्श ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। शब्द, प्राण, पाद, पायू, उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ कर्मनिमित्त ज्ञानप्रधान हैं। कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानगर्भित कर्म प्रधान हैं। ग्राह्य-संस्कार-विकल्पात्मक मन उभयामय है इसमें ज्ञान-कर्म का समानरूप से समन्वय है। तन्मय दार्शनिक दृष्टिकोण से आध्यात्मसंस्था में ११ इन्द्रियाँ ही जाती हैं जिनका वैदिक वाक, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, इन पाँच इन्द्रियों में अन्तर्भाव माना गया है जिनका 'आत्मस्वरूप-प्रतिरति' नामक परिच्छेद में विस्तार से विरोध किया जा चुका है। विस्तार आत्म रात्र की प्रकाश पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए पहिले वहाँ के राष्ट्रपति पर विजय प्राप्त करना आवश्यक होता है। एकमेव इन्द्रियवर्ग के संयम के लिए पहिले लक्षितता उभयत्मक मन का संयम अपेक्षित होता है। वैदिक निम्न स्थिति मनु-वचन है—

१—एकदशोन्ध्रियाध्याप्याहुयानि पूर्वे मनीषिण ।

तानि सम्मक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥

२—भोत्र-त्वक्-चक्षुषी-जिह्वा-नासिक-चैव पञ्चमी ।

पायू-पस्थं हस्त-पाद-वाक्-चैव दशमी स्मृता ॥

३—युदीन्द्रियाणि पञ्चेषां भोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।

कर्मेन्द्रियाणि पञ्चेषां पाज्यादीनि प्रवक्ष्यते ॥

४—एकप्रश्न मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोपमात्मकम् ।

यस्मिञ्चित्ते जिज्ञासतां भक्तः पञ्चकां गणान् ॥

—मनुः २। २६, ६० ६१ श्लो० ।

८२—आत्मेन्द्रियमनोमय-मोक्षरूपा—

मनोऽनुगत ज्ञानेन्द्रियों में उत्पन्न भावनासंस्कार एवं मनोऽनुगत कर्मेन्द्रियों से उत्पन्न वाक्यासंस्कार आत्मा पर प्रत्यक्षित रहता है । अतएव आत्मा संस्कार-संस्कृत बनता हुआ स्वकियासे चमकित हो जाता है । आत्मस्वरूपप्रतिष्ठा से अपरिचित अन्न जन प्ररन कर सकते हैं कि 'ब्रह्म' शास्त्रों में आत्मा को 'न संव्रजते, न व्यथते, न रिप्यति' स्वरूप से सर्वथा अलग बतलाया है तो उसे भावना-वाक्यासंस्कार कैसे आहत कर सकते हैं ? । जिस प्रकार अहो-रात्र ब्रह्म में रहता हुआ भी पच बलसम्पर्क से दूषक-निर्लेप बना रहता है एवमेव ब्रह्मोपाय इन्द्रियानुगत ज्ञान-कर्म्म (भावना-वाक्या) में रह रहता हुआ भी आत्मा-सिद्धिसे न स पापन पछपत्रमि वाग्मिमा के अनुसार सर्वथा अन्न-निर्लेप ही रहता है । ऐसी अवस्था में संस्कारों में आत्मा को किये बलाना और उपमय से आत्मा का कुली मानना कैसे रहित हो सकता है ? । प्रतीति का समाधान 'ब्राह्मसिद्धि' प्रकार में विस्तार में किया जायुका है । सर्वप्रथम अस्मत्प्रत्यय अपरव ही प्रत्येक दशा में अस्त है जिसे 'अस्त्वहम्' कहा गया है । इस अस्त्वहम्-प्रत्ययगत के आधार पर अस्मत्कारि पाँच खण्ड-व्यक्तियों का विचार होता है जिनमें दो स्वहम्ना ही अस्त है एवं तीन अस्तव है । स्वयम् के अस्त प्राप्त (अस्ति) एक से समुदाय अस्मत्प्रत्यय और स्वयं के अस्त-अस्तिवाचि में उत्पन्न विज्ञानरूपा (अस्ति), ये दो स्वहम्ना ही अस्तव है । परमेही के लोहवर्मा अतएव कर्म्म उपमय से समुदाय महानात्मा अन्नमा के मास्वर-लोहगुणक-रूप में उत्पन्न प्रज्ञानात्मा (मन), एवं वाङ्मयस्वर्गमित श्रुति से समुदाय वैश्वानर-तैजस-अकर्मणि कर्म्ममोक्षा कर्म्मरूपा, ये तीन अस्तवत्मा लब्ध हैं । महानात्मा कर्म्मरूपा की योगि है प्रज्ञानात्मा कर्म्मप्रवृत्ति का द्वार है । मास्वर्गमित प्रज्ञानरूपपरिष्कृत कर्म्मरूपा अपने महत्-यज्ञान-एवं स्वात्मत लब्धकर्म्म में अस्त्वमेव संस्कारात्मक बना रहता है । जिस मन के द्वारा संस्कार उत्पन्न होते हैं, वह मन लोहगुणक लोमप्रधान बनता हुआ लब्ध है । कर्म्मरूपा का इस लब्ध मन के साथ संबंधकवन-अस्त्वय है । समुदायक लब्ध मन में ही ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा भावनासंस्कार, एवं कर्मेन्द्रियों के द्वारा वाक्यासंस्कार का उत्पन्न होता है । मन में उत्पन्न संस्कार मन पर प्रत्यक्षित रहते हैं । कर्म्मरूपा मन से संश्लिष्ट है अतएव मन पर प्रत्यक्षित संस्कार कर्म्मरूपा को भी आहत कर लेते हैं । अतएव इन्द्रिय, मन कर्म्मरूपा दोनों के समन्वित रूप को ही उपनिष्ठा में 'मोक्षरूपा (कर्म्मरूपात्मिका संस्कारिक कर्म्मरूपा) नाम से व्यक्तित किया है—'आत्मेन्द्रिय-मनोयुक्त मोक्षरूपात्मिका'मीषिष्ठ (कप्रपत्तिपत्ति) ।

८३—अनुभव, और भ्रम-तत्त्वपरिचय—

अनुभव और भ्रम के दो व्यापार ही उत्पन्न संस्कारों की मूलप्रतिष्ठा हैं । अनुभवप्रति संस्कार की भावना है । इन्में ज्ञानेन्द्रियव्यापार का प्राधान्य है । अभाहितसंस्कार की भावना है । इन्में कर्मेन्द्रियव्यापार प्राधान्य है । किन्में एक संस्कार वैयक्त अनुभवप्रतिष्ठित (भावनात्मक) है किन्में एक वैयक्त अभाहित (वाक्या-

त्मक) हैं एवं किन्तु एक अनुमग्न-भमाहित (भावनावासनात्मक, उभयपक्षक) हैं। हम पुनःपुनः चेतें हैं, कोई कर्म नहीं कर रहे, कर्मेन्द्रियाँ शांत हैं। एक व्यक्ति काकर कहता है कल प्रातः दुर्घट भयमक विप्रपुरुष ने मिसने बुलाया है। सुनते ही अन्तर्बन्ध में प्रसन्नता की लहर दौड़ जाती है। उत्पन्न प्रज्ञानमन में एक प्रकार की छाप लग जाती है। यही केवल ज्ञानात्मक अनुमग्न-भमाहित भावनासंस्कार का उदाहरण है। किसी के हम बोर से खण्ड मार चेतें हैं। हमारे अन्तर्बन्ध में एक खोम की लहर दौड़ जाती है। इसकी छाप भी प्रज्ञानमन में छत्राला उठी प्रकाश प्रतिष्ठित हो जाती है, जैसे कि बाह्य के टीले पर हाथ मारने से उस पर हाथ की छाप लग जाती है। यही केवल कामात्मक भमाहित वासनासंस्कार का उदाहरण है। मोहन कर रहे हैं। ज्ञानेन्द्रियों का भी व्यापार हो रहा है कर्मेन्द्रियों का व्यापार भी प्रकट है। स्वाद, गन्ध, प्रत्यक्ष, शब्दाली (पापक) जाने से शब्दादि ज्ञानमात्र भी प्रकट है। इन्द्रियाणां उत्पन्न कर्म भी प्रकट है। यही अनुमग्न-भमाहित भावनावासनामयसंस्कार का उदाहरण है। तत्पर्य-भावनात्मक अनुमग्न-भमाहित-स्वादि, एक वासना-त्मक भमाहितसंस्कार, दोनों कर्मात्मकानुगत स्नेहशुद्ध, स्वयं प्रज्ञानमनोवरात् परावृत्त हो जाते हैं। संस्कारों का प्रज्ञानचतुष्टय पर लक्षित होना ही-‘अभिनिवेश’ है।

८४-विभूति, योग, बन्धन-लक्षणा सम्बन्धवर्गी-

अभिनिवेश शब्द की तात्पर्यावगति के लिए सम्बन्धवर्गी का ज्ञान लेना आवश्यक होगा। विभूति योग, बन्धन भेद से दो कस्तूरों का किता अनेक वस्तुओं का परस्पर होने वाला सम्बन्ध तीन भागों में विभक्त माना गया है। सूर्याप सूर्यप्रतिबिम्ब सूर्यचित्र, तीनों तीनों सम्बन्धों के उदाहरण माने जा सकते हैं। एक काच पर सूर्य के आतप (धूप) का सम्बन्ध हो रहा है। जैसे जेलोस्य के अन्व पदार्थों के साथ आतप का सम्बन्ध है। एकमेव इस काच के साथ भी अतःरूप से आतप का सम्बन्ध हो रहा है। काच, और आतप का वह सम्बन्ध विभूतिसम्बन्ध है जिसे हम असम्बन्धारम्भ सम्बन्ध ही कहेंगे। दर्पण पर सूर्यप्रतिबिम्ब लक्षित हो जाता है। दर्पण पर प्रतिबिम्ब प्रतिष्ठित अक्षय है। परन्तु दर्पण के साथ प्रतिबिम्बित सूर्य का हृदयनि-कल्पन नहीं है। आतप दर्पण को शान्तमनसित करते ही प्रतिबिम्ब स्वयंमयसूर्य में विलीन हो जाता है। दर्पण और प्रतिबिम्बित सूर्य का यही पारस्परिक सम्बन्ध ‘योगसम्बन्ध’ है, जिसे हम ‘निवेश’ कम सम्बन्ध कहेंगे। किसी विशेष कारण से लगावित दर्पण पर सूर्य का चित्र लेंबा गया। सूर्य प्रतिबिम्बित हो गया, दर्पण पर सूर्य का चित्र (छोटी) उठर आया। इस विशात्मक सूर्य के साथ दर्पण का भी सम्बन्ध है बही कल्पन’ सम्बन्ध कहलाता है। इसमें विभूति सूर्य अमिश्र (सर्वात्मना) दर्पण में निविष्ट (प्रविष्ट) हो जाता है। आतप हृदयनि-कल्पनात्मक इस सम्बन्ध को हम अक्षय ही ‘अभिनिवेश’ नाम से व्यपकृत कर सकते हैं। ठीक इसी प्रकार भावना-वासना-संस्कारों का भी कर्मात्मक के साथ होने वाला पारस्परिक सम्बन्ध तीन भागों में विभक्त रहता है। इन तीन सम्बन्धों के अधिष्ठान करते हैं—तीन आत्मा। आत्म्यात्मा अक्षय है। बही आत्म्यात्मिक ईश्वर है। यदि कर्मात्मक की इच्छा इस अक्षय आत्म्यात्मा में व्यपकृत है, तो तब प्रकाश आत्मवेधर सर्वत्र विभूतिरूप से व्याप्त रहता हुआ भी निर्लेप है। एकमेव आत्म्यात्मागत कर्मात्मक भी रहते हुए भी संस्कारों के साथ विभूतिरूप से सम्बन्ध करता हुआ निर्लेप बना रहता है। ऐसा कर्मात्मक (जीवत्मा) ‘बुधप्रति-न क्षिप्यते’ के अनुसार लक्षात् ईश्वर है। दूसरा है-विज्ञात्मा (बुद्धि), जिसे हमने अविज्ञाति के सम्बन्ध से अक्षय बनाया है। यदि कर्मात्मक इस विज्ञात्मा को प्रयत्नमय से आत्मजन्य बना कर कर्म में प्रवृत्त होत,

है तो तदुत्तरा संस्कार प्रतिबिम्बस्वरूप से कर्मात्मा पर प्रतिष्ठित रहते हैं। यही दूसरा योगसम्बन्ध है जिसे साध-बुद्धिमान कदा साधकता है। तदनुगामी पुण्य पुञ्जानयोगी कलाएँ हैं। तीसरा है—प्रज्ञानात्मा (मन), जिसे हमने भानत्रयोम ॥ सम्बन्ध से उल्लेख किया है। इस मनका स्नेहगुण तत्त्व है जिसे साधारण प्राण कृपणकारिणिक चित्रप्राणिक फल (फोट) रूप में परिणत हो जाता है। यदि कर्मात्मा इस प्रज्ञानात्मा को प्रधानरूप से आत्मिक बना कर ऐन्द्रियिक कर्मों में प्रवृत्त होता है, तो तदुत्तरा संस्कार चित्ररूप से कर्मात्मा में स्थापना निमित्त हमारे हैं, संस्कारों के साथ कर्मात्मा का प्रत्येकक्षण सम्बन्ध हो जाता है। यही तीसरा सम्बन्धसम्बन्ध है जिसे आत्मिककर्मात्मा कदा साधकता है। तदनुगामी मनुष्य ही आत्मिकामी—विषयपरक—संस्कारी कलाएँ हैं। इस प्रकार आत्मिक, विज्ञान प्रधान प्राधान्य से संस्कारों का कर्मात्मा के साथ तीन प्रकार से सम्बन्ध सम्भव है। आत्मिकमूलक विभूतिसम्बन्ध भी आत्मिक है विज्ञानमूलक योगसम्बन्ध भी आत्मिक है। सम्बन्ध है प्रधानमूलक कर्मात्मिक, इन्द्रियिककर्म आत्मिकसम्बन्ध जिसे 'अग्निनिवेश' कहा गया है। शिव है कि, स्वयं संस्कार अपनी ओर से, अपने स्वयं से कर्म के कारण नहीं हैं, अपितु संस्कारों का प्रधानमूलक कर्मात्मिककर्मक अग्निनिवेश ही आत्मिककर्म का कारण ॥ जो अग्निनिवेश 'प्रकाशित' नाम से व्यक्त हुआ है। जिस प्रकार एक रश्मिकर्म कर्मकर्मात्मा से जाने वाले रंग से उद्भूत होकर अपनी स्वाभाविक रश्मिकता से बाह्य हो जाता है वैसे ही मन की स्वाभाविकता से उद्भूत कर्म में हमें हुए रह से जैसे कर्म का स्वाभाविक योग्य विद्यमान हो जाता है, एवमेव आत्मिककर्म प्रधान मन के स्नेह-गुण (आत्मिक-आत्मिक) की स्वाभाविकता से स्वयंस्व से आत्मिककर्म का स्वाभाविक योग्य-मर्म बाह्य हो जाता है। इस एक अग्निनिवेश से ही बुद्धि के कर्म-ज्ञान-नैराश्य-देवत्व, वे चारों विधाभंग बाह्य होते हैं, उद्भास कर्मात्मा सुकुचित बन जाता है। स्मरण रहित, संस्कारों का कर्मात्मा के साथ इन्द्रियिककर्मसम्बन्ध हो जाता ही अग्निनिवेश है। दूसरे शब्दों में 'प्रत्येकक्षण' का ही नाम अग्निनिवेश है। इससे वह भी निष्कर्ष निकल आता है कि, प्रत्येकक्षणनामाय में केवल योग, तथा विभूति-सम्बन्ध से रहने वाले संस्कार उही प्रकार आत्मिककर्म के आधार नहीं बन सकते जैसे कि एता हुआ भी विषयपक्ष अक्षर ईश्वर के स्वाभाविक विभूत को बाह्य नहीं कर सकता। अतस्त्वं-संस्कार स्वयं दोष नहीं ॥ आत्मिककर्मपरिणामक नहीं है, अपितु संस्कारप्रत्येकक्षणक अग्निनिवेश ही आत्मिककर्म का प्रतिफलक है। संस्काराग्निनिवेश (संस्कारप्रत्येकक्षण) आत्मिककर्म स्वयं के विद्यमान प्रकाश को बाह्य करने वाला कृपणमय है। संस्कारकर्मक अग्निनिवेश विद्यमान बना हुआ 'पर-कर्म' है विद्यमान कर्म है। इस पर (विद्यमान) कर्म के पाप में आत्मिक आत्मा अपने लक्षणकर्म विषयपक्ष से बाधित होता हुआ 'परकर्म' बन जाता है। स्व-कर्मनाशक आत्मा बड़ा सुखान्त रहता है वही परकर्मनाशक आत्मा अक्षिराजकेण कर्मक बन जाता है। आत्मिककर्म आत्मिक है कर्मनाशक आत्मिककर्म है। इस प्रकार स्वयं परकर्म भाव ही गुण-गुण-प्रति के मूल को हुए हैं। लक्षणकर्म गुण है परकर्मकर्म है, वही गुण-गुण का वास्तविक लक्षण है किन्तु निम्न शिष्टित स्मार्त कर्मों से स्पष्टीकरण हुआ है—

यद्यत् परवशं कर्म तद्यत्नेन वर्जयेत् ॥
यद्यथात्मवशं तु स्यात् तद्यत् सेवेत यत्नतः ॥ १ ॥
सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम् ॥
एतद्विधात् समासेन सूचय सुख-दुःखयो ॥ २ ॥
—मनु ४।१२३, १६, १

८५-अग्निनिवेशात्मक संस्कारवचन—

कतलावा गया है कि, संस्कार दुःख के कारण नहीं हैं। अस्तित्व संस्कारवचनकम् अग्निनिवेश दुःख का कारण है। कारण यही है कि, उपाध्याकांक्षा नाम की आसक्तिभूता जीवधमना (जीवेच्छा) से सर्वज्ञ प्रज्ञान मन तो प्रकट हो जाता है एवं असह्य विज्ञानरूपा (बुद्धि) निर्बल बन जाता है। ज्ञानकर्मोन्निवर्ग शरीररथ के 'अश्व' हैं प्रज्ञान मन प्रमाद (लगाम) है बुद्धि सारथि है। सारथि के प्रमाणी बन जाने से लगाम का हाथों से छूट जाना अनिवार्य है। लगाम के निष्कण्ठ के स्थिति होने ही अश्वों का उत्पन्नमान करता अनिवार्य है। इसप्रकार आमासक्ति के अनुमह से प्रकट होने हुए मन के प्राकृत्य से बुद्धि के प्रमादशील बनते हुए इस मनोभ्रम में इन्द्रियारब स्वतन्त्र (असंयत) बन जाते हैं। विपश्यतुगति का निषेध जाता रहता है। इसप्रकार असंयत इन्द्रियों की उन्मत्तकलता से जाने वाली संस्कार मनःप्राक्त्व से कर्मप्रमा के साथ प्रतिक्रियनरूप में परिणत हो जाते हैं। अतएव आश्रयक है कि, इन्द्रियों का संयम किया जाय, इन्हें प्रकृत्यनुकूल नियन्त्रणविधारणका वाच्य, सर्व मन पर बुद्धि का निष्कण्ठ किया जाय एवं कर्म जीवधमना को ईश्वरधमना में अर्पित किया जाय। इस ईश्वरधमनात्मक निष्कामभाव से जीवधम निर्बल हो जायगा मनःस्वात्म्य इह वाचना। इसी धम-निष्कामभाव का स्वीकरण करते हुए मगवान् मनु ने कहा है—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छन्त्यसंशयसु ॥
संनियम्य तु तान्येव कतं सिद्धिं नियच्छति ॥ १ ॥
यथे कृत्वेन्द्रियग्राम संयम्य च मनस्तथा ॥
सर्वान् संसाधयेद्यानधिष्वन्योगस्तस्तनुम् ॥ २ ॥
—मनु २।३३, १००।

८६-विद्या, काम, कर्मात्मक शुक्रवचन—

'मयाम् संसाधयेद्वर्षाणाम्' यह पाठ्य महत्त्वपूर्ण है। मनु कह रहे हैं कि, इन्द्रिय-मनसंस्मरणक परिश्रम पुरुषार्थश्रमक कर्मों में प्रवृत्त रहने में तो श्रम संस्कारवचन में भी आश्रय न देंगे, धार ही लोभान्मुख से भी प्रवृत्त न रहने में। यही तो कामवाच्य-कर्मोत्साहक निष्कामकर्मयोग का आत्मकर्मयोगावस्था वैशिष्ट्य है। इस संकल्प में एक महत्त्वपूर्ण लक्षणा का विशेषण और कर लीगिए। ज्ञान-कर्म-जनित मायना-वाचना-संस्कार वास्तव्य से स्थिति हट-कतते रहते हैं। निश्चय एक संस्कार उत्पन्न होते ही विनिर्बल हो जाने हैं, निश्चय

महीनों, किन्तु बरती रहते हैं। किन्तु एक बाधशील रहते हैं, किन्तु एक बन्मान्तरपर्यन्त अनुभावन करते हैं। अनुभावन क्या करते हैं ऐसे इक्ष्वाकु संस्कार ही तो बन्मान्तरप्रवृत्ति के कारण करते हैं। भावना-वाचनात्मक संस्कारों का अत्यन्तमात्र तो ज्ञान-शुद्धि-बल का ही पर्यवसान है। ज्ञान-कर्म से उत्पन्न होने के कारण भावना-वाचना संस्कार भी 'ज्ञान-कर्म' नाम से ही व्यवहृत हुए हैं। सांसारिक ज्ञान 'विद्या' कहाया है सांसारिक कर्म 'अविद्या' कहाया है, दोनों की मूलाधारभूता तीव्रता कामना है। विद्या (भावन) अविद्या (वाचना) ज्ञान दोनों की समष्टि ही 'शुद्धि' (बन्मान्तरप्रवृत्ति का उपादानभूत शैल) नाम से व्यवहृत हुए हैं। जब तक कामवीर्य सुरक्षित है तब तक संस्कारात्मक शुद्धि सुरक्षित है। जब तब शुद्धि सुरक्षित है तब तक ज्ञान-शुद्धि-बल सुरक्षित है। अज्ञानमय ही शुद्धिनिवर्तन का कारण माना गया है। हेतुए।

स वेदैर्ह परमं यथा धाम यत्र विरव निवर्तितं भाति शुभम् ।
उपासते पुण्यं ये सक्रामास्ते शुक्रमेवदतिवर्षन्ति धीरा ॥

—सुष्टक ३।१।१।

८७-संस्कारात्मक मायत्व—

आत्मा में उच्चित संस्कार ही 'माय' है, जो कर्मजनित होने से 'कर्म' ही कहाया है। अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य के लिए कहा गया है कि—'इसके कर्म ही ऐसे हैं। यहाँ कर्मजनित संस्कारों के लिए प्राप्ति हुआ है। इन संस्कारिक कर्मों की उच्चित, प्रारब्ध, क्षीण, ये तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं। किन्तु संस्कारों का योग आत्म में नहीं होता वे 'उच्चितकर्म' हैं। योगानुगत संस्कार 'प्रारब्ध' कर्म हैं। एवं मुक्त संस्कार 'क्षीणकर्म' हैं। इनमें निष्कर्मकर्म योनात्मक धर्मशुद्धियोग से उच्चित कर्मों की ही निवृत्ति सम्भव है। प्रारब्धकर्मों का जब तो योग पर ही निर्भर है। यही कारण है कि, धर्मशुद्धियोगनिष्ठ निष्कर्मकर्मयोगी भी प्रारब्धकर्मोंका दुर्लभ वेले-मुने बाते हैं। प्रारब्धानुगत कर्मक्षेत्रों से वे भी अपने आपको नहीं बचा सकते। हाँ योगानुगत में अक्षर्य साधारण मानवापेक्षया उनमें विशेषता रहती है। योगयोग से उनमें मात्रा-स्पर्शादि शारीरिक कष्टों की स्थिति (छन्दान्तर) उत्पन्न हो जाती है। प्रारब्धक्षेत्र उनको स्वाभाविक अप्रत्यक्षान्ति की ओर हानि नहीं पहुँचा सकते। उच्चर यमान्तर बीच योगमान से इन क्षेत्रों से बचा-बचा बाते हैं। इनमें स्थिति का सर्वथा ज्ञान्य रहता है।

८८-संस्कारधन्वनकारवाग्निज्ञासा—

संस्कार उत्पन्न हो अवश्य होते। परन्तु प्रश्न है—इनके जन्म का। ज्ञान-कर्म से उत्पन्न भावना-वाचनासंस्कार इक्ष्वाकु कौन बन बाते हैं, यह प्रश्न उपस्थित होता है। प्रश्नोत्तरस्थिति का कारण बही है कि, हममें कर्ममय मन जो अज्ञातस्थितकर्ममय अभिविवेका का जनक कहालाया है। मन के स्वस्थ को बेकते हुए वह बात अतृप्त प्रतीत होती है। मन स्नेहाशुद्धि का कारण है परन्तु इसमें निवर्तन का अभाव है। ऐश्वर्य-इन्द्रियवृत्ति के कारण जब ही विषयमात्रक शुद्ध के तृप्तिजनक न होने के कारण मन किसी भी ऐश्वर्यक विषय पर विरक्तता पर्यन्त इष्ट नहीं रह सकता। यह ज्ञान का नहीं नवीन निष्कर्मकर्मनामों का अनुपाती बना रहता है। कभी हृदय, कभी उच्चर, वही इच्छा 'आत्मस्थ' है। 'अज्ञानं हि मनः कृच्छ्रं' रूप से प्रीति

ने भी मन के इत अस्मिन्धर्म का समर्थन किया है। मन के इस स्वाभाविक व्याप्त्य का इसलिए भी सुरक्षित रहना अनिवार्य है कि, जिस सौम्य चक्षुषा से यह प्रकृत है वह चक्षुषा भी गतिचम्पवचन ही है। वह मन की अस्मिन्धता शास्त्र, एवं अनुभव से उभरना प्रमाणित है, तो इसे प्रत्यक्षचक्षुष्य अस्मिन्धर्म का प्रवर्तक कैसे माना जा सकता है ?। मनका यह अस्मिन्धर्म ही हमारे इत पूर्व प्ररनोदयान का कारण बन जाता है कि, अमनामय मन वह चक्षुष्य है, तो तदनुगत संस्कार इत्यमूल कैसे बन जाते हैं ?।

८६-बुद्धिस्वरूपपरिचय क द्वारा-प्रज्ञासासमाधि-

प्रश्न का उत्तर मिलेगा आपको 'बुद्धि' में। बुद्धि खर लाविश्रामि से प्रकृता होने के कारण वहाँ अवज्ञ है वहाँ—'मध्ये एकल एव स्वाता'—'बुद्ध तत्प्री मुचनेष्यस्त'—'सूय्यो बुद्धीमन्बुद्धस्तपवि' इत्यादि विद्वान्तनुस्तर शिथिलक्षण सूय्य से प्रकृत होने के कारण बुद्धि शिथरधर्मप्रयोजिका भी बन रही है। चान्द्र सोमामुस्त तद्वमाव और चान्द्रस्य, वे वहाँ प्रकानमन के स्वरूपधर्म हैं, वहाँ और व्याविश्राम्यनुगत अवज्ञमाव, और शिथरता, वे विज्ञानबुद्धि के स्वरूपधर्म हैं। यदि मन का बुद्धि का व्यवोग मिल जाता है, तो मन अपने तद्वमाव से, एवं बुद्धि की शिथरता से संस्कारों का इत्यमूल बनाने में समर्थ हो जाता है। बुद्धि का व्यवोग कैसा ! परकृततामूलक। यदि बुद्धि स्वतन्त्र है, तब तो यह मन के प्रति अस्मत्तमर्पण नहीं करती, अपितु ठीक इसके विपरीत यह मन का अपना दास बना लेती है। परिणामस्वरूप बुद्धिव्यक्तियों मन का तद्वमाव बुद्धि के अवज्ञमाव से आकान्त हो जाता है। और उस स्थिति में बुद्धि का शिथरधर्म मानस-संस्कारों में उपयुक्त न हो कर आत्मनिष्ठानुगामी बन जाता है। यदि बुद्धि मन के प्रति अस्मत्तमर्पण कर देती है, तो इतका स्वावच्य उच्छिन्न हो जाता है। मनोव्यक्तिकर्तनी ऐसी बुद्धि का अवज्ञ धर्म वा प्रवण बने हुए मन के तद्व धर्म से आकान्त हो जाता है, एवं बुद्धि का शिथर धर्म मन के तद्वमाव से मिश्रित हो कर मनोऽनुगता इन्द्रियों के द्वारा आगत संस्कारों की दृष्टा में विवश बन कर उपयुक्त हो जाता है। बुद्धि मनोऽपेक्षता तबत रहती है—निष्प्राममय से। मन बुद्धापेक्षता तबत रहता है—अमनाव से। निष्प्राम-मयात्मिक बुद्धि ईश्वरकामना से युक्त रहती हुई मानस कामना (बीबेच्छा) का भी निष्प्राममाव में परिणत कर डालती है। अकाममावात्मक मन बीबकामना में युक्त रहता हुआ बुद्धिकामना (ईश्वरकामना) का भी अकाममाव में परिणत कर डालती है। निष्प्राममावात्मिक बुद्धि से युक्त मन परतन्त्र है, अतएव बुद्धियुक्त मन शुभाशुभ उभय संस्कारकान्त से विमुक्त है—'बुद्धियुक्तो जहातीह बन्धे मुह्यत-दुष्कृत'। अकाममावात्मक मन से युक्त बुद्धि परतन्त्र है। अतएव मनोयुक्ता ऐसी बुद्धि अपने शिथरधर्म का मन में अस्मत्तमर्पण करती हुई संस्कारों को दृष्टा की प्रवर्तिका बन जाती है। निष्प्राम यही हुआ कि—बुद्धिगर्भित काममय मन संस्कार-वचनात्मक अभिनिवेश का बन्ध है एवं मनोऽभिज्ञा निष्प्रामबुद्धि संस्कारकान्ततात्मक अभिनिवेश की निर्वर्तिध है।

८७-अपवा-उपवा-बुद्धि का तात्त्विक स्वरूपपरिचय-

मनोऽभिज्ञा बुद्धि दर्शनमाया में 'उपवाबुद्धि' कहलाता है। एवं मन के गर्भ में युक्ता बुद्धि—'अपवा बुद्धि' कहलाती है। अपवाबुद्धि मनोऽभिज्ञा की बुद्धि है, वही कथनप्रवृत्ति का मूल है। उपवाबुद्धि बुद्धिग-परी मन है यही कथननिवृत्ति का मूल है। अपवा-उपवा-राश्री के राश्री का भी परोक्षता दनभिर

आपसक है कि, बीजा अर्थां व्यवहार में इन शब्दों का समझ आ रहा है, वह अर्थ यही प्रमित नहीं है। अपेक्षा का अर्थ जिसे जाता है 'लगन'—'व्यावधानता'। अपेक्षा का अर्थ किया जाता है—'दलमदोली'—'अनवधानता'—(लापरवाही)। तबिल में काम करना अपेक्षा है सावधानी बन कर काम करना अपेक्षा है। उपेक्षापुत्रि से मुक्त कर्मों से उत्पन्न संस्कार दृढ़ नहीं बनते' इत मितान्त की रक्षा ही सम्भव नहीं। क्योंकि यदि कर्म में उपेक्षा (अनवधानता—लापरवाही) है तो कर्मस्वरूप ही सम्भव नहीं होता। कर्म का स्वरूप तभी सुस्पष्ट हो सकता है जबकि अपेक्षापुत्रिपूर्वक मनोयोग से उत्तम प्रवृत्ति होती है। लक्ष्य कर्म हो, अथवा निष्काम कर्म। कर्म अपनी स्वरूपसिद्धि के लिए प्रत्येक दशा में अपेक्षापुत्रि के व्यवहार की ही अनिवार्य अपेक्षा रखता है। तभी तो कर्मनिष्कामता का उक्त होता है। 'कर्मव्येथाभिज्ञारते' इत्यादि श्लोकों का विवेचन करते समय भी पूर्व में हमने बही कहा है कि पूर्ण अवधानता के साथ कर्त्तव्य-कर्म में अनन्वयता से प्रवृत्त हो जाना ॥ हमारा आधिकारिक धर्म है। क्या उपेक्षा में अनन्वयता का उद्भव हो सकता है?। नहीं, मरणा नहीं। पात्रक के दृष्टान्तसार बही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, कर्मानुष्ठानकाल में यदि हम मावी कर्म की भी अपेक्षा करने लग जायें हैं तो कर्म अपूर्ण रह जाता है। फिर अपेक्षा रखने से तो कर्म की पूर्णता कैसे सम्भव हो सकती है। साथ ही यह भी निश्चित है कि अपेक्षापूर्वक किया हुआ कर्म संस्कार-कर्मन का प्रयत्नक बन जाता है। फिर हमें किन आधार पर यह सिद्धान्त स्थापित कर जाता कि "उपेक्षा-पुत्रिदृष्टक कर्म कर्मन का प्रयत्नक नहीं बनाता अतः इन उपेक्षापुत्रिपूर्वक ही कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए।

६१-ईश्वर, एवं जीवानुगत अपेक्षा-उपेक्षा-भावों का तारतम्य—

उक्त निश्चिति के निष्कर्षक के लिए ही उपेक्षा-अपेक्षा शब्दों के तत्त्व का परिचय अपेक्षित हो जाता है। अन्वयमानुगता बुद्धि ईश्वरधर्मात्मिका अपेक्षापुत्रि है बीजानुगता बुद्धि बीजधर्मात्मिका अपेक्षापुत्रि है। बीजधर्मात्मिका अपेक्षापुत्रि काय-कर्मयोग का लक्षण बनाती है, एवं ईश्वरधर्मात्मिका अपेक्षापुत्रि निष्कामकर्म का लक्षण प्रदान करती है। काय कर्म योगानुष्ठान में ईश्वरधर्मात्मिका अपेक्षापुत्रि उपेक्षामात्र में परिणत रहती है एवं बीजधर्मात्मिका अपेक्षापुत्रि अपेक्षामात्र में परिणत रहती है। निष्कामकर्म योगानुष्ठान में बीज-धर्मात्मिका अपेक्षापुत्रि उपेक्षामात्र में परिणत रहती है एवं ईश्वरधर्मात्मिका अपेक्षापुत्रि अपेक्षामात्र में परिणत रहती है। दोनों कर्मों में एक अपेक्षामात्रप्रधाना रहती है एक उपेक्षामात्रप्रधाना रहती है। ईश्वरानुगता अपेक्षा बीजानुगता अपेक्षा का उपेक्षात्व में परिणत कर डालती है, वही उपेक्षापुत्रिदृष्टक निष्कामकर्मयोग है। ईश्वरानुगता बुद्धि की अपेक्षा है इसलिए तो कर्मस्वरूप सम्भव हो जाता है। बीजानुगता बुद्धि की अपेक्षा है इसलिए कर्म बलित संस्कारों का प्रविकल्पन नहीं होने पाया। बीजानुगता अपेक्षा ईश्वरानुगता अपेक्षा की उपेक्षामात्र में परिणत का दावती है। वही अपेक्षापुत्रिदृष्टक काय कर्म योग है। बीजानुगता बुद्धि की अपेक्षा है इसलिए तो कर्म का उक्त सम्भव हो जाता है ईश्वरानुगता बुद्धि की अपेक्षा है इसलिए प्रविकल्पन हो जाता है। निष्कर्ष बही तथा कि ईश्वरानुगता बुद्धिमानुगता बीजानुगता अपेक्षापुत्रि की अपेक्षा बही निष्काम-कर्म का मूल है वही बीजानुगता अपेक्षापुत्रिदृष्टक ईश्वरानुगता अपेक्षापुत्रि की अपेक्षा काय कर्म का मूल है। निष्कर्षार्थ में बीजानुगता बुद्धि की अपेक्षा है किन्तु ईश्वरानुगता बुद्धि की अपेक्षा है। कर्मवर्तीक कदाचि बीजानुगता है अन्वयता ही निष्कामकर्मयोग 'उपेक्षापुत्रिदृष्टक नाम से व्यपहत कर दिया जाता है। जो मरणा कर्मनिष्ठक माना गया है। कायकर्म में ईश्वरानुगता बुद्धि की अपेक्षा है किन्तु बीजानुगता बुद्धि की अपेक्षा है। इसलिए काय-कर्म का 'अपेक्षापुत्रिदृष्टक नाम से व्यपहत कर दिया जाता है। जो

एकान्ततः अवनमप्रवर्तक है। दोनों स्थलों में एक ही उपेक्षा है तो अग्न्य की अपेक्षा है। इरवतीय अपेक्षाबुद्धि में सहजतः बीजसमा का कर्म बीजबुद्धिदृष्टि में उपेक्षाबुद्धि—अवनमकर्म है यही उपेक्षाबुद्धिसहज (बीजापेक्षा सहज) निष्प्रममकर्मयोग है, जिसका उत्तराधिकार ईश्वर पर अवलम्बित है। इस कर्म का प्रवर्तक ईश्वर है जीव निमित्तमात्र है। ईश्वरोपेक्षाबुद्धिसहज बीजसमा का कर्म बीजबुद्धिदृष्टि से अपेक्षासहज सम्बन्धन कर्म है, यही अपेक्षाबुद्धिसहज (बीजापेक्षासहज) काम्य-कर्मयोग है जिसका उत्तराधिकार जीव पर अवलम्बित है। इस कर्म का प्रवर्तक जीव है, ईश्वर निमित्तमात्र है।

६२—लौकिक उत्साहरणों के माध्यम से अपेक्षा—उपेक्षा—मार्ग का समन्वय—

उपेक्षा—अपेक्षा के एक शान्तीय विरोधकमात्र से तब तक विरोध स्पष्ट नहीं होता जब तक कि उदाहरणपूर्वक इसका स्पष्टीकरण नहीं कर दिया जाता। आध्यात्मिक कर्म के ईश्वर और जीव, ये दो तत्वाधी मान लीजिए। ईश्वर जिन कर्मों का प्रेरक बनता है वे कर्म यजार्थकर्म कहलाए हैं "नंदे ही इस स्वाभाविक—स्ववर्मात्मक प्राकृतिक—सहबन्धन कहा करते हैं। नियत समय पर हम प्रकृति की प्रेरणा से मोहन—कर्म में प्रवृत्त हुए। प्रकृत्यनुसार भाजन किया। यह कर्म इरवतीय प्रेरणा से सम्बन्ध माना जायगा। इससे का संस्कार होता उसका सम्पत्ता के साथ प्रतियकचन न होता। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जीवनयात्रा के निर्वाह के लिए ईश्वरद्वारा नियत दैनिक—नियत आहार द्रव्यों का हमें दूसरे दिन न तो स्मरण होता न उनके लिए हम व्यस्त बनते। जीव जिन कर्मों का प्रेरक बनता है वे कर्म अव्यभिच कहलाए हैं "इंदे ही हम कर्मि—अप्राकृतिक—कर्म कहा करते हैं। "नमैं बीजसमा का प्राधान्य रखता है। हमने (जीवसमा ने) अपनी मानस कामना की प्रेरणा से किसी भी दिन किसी विशेष मांगद्वय का अनुगमन किया। कामना लई आह तो कषाकषा लया जाय। कामनानुसार कषाकषा लया। यह आहार ईश्वर—कामना के विपरित किन्तु बीजसमा का अनुकूल हुआ। अतएव इसके करने में उत्पन्न संस्कार के साथ कर्मयोग का प्रतियकचन हो गया। प्रमाण यही है कि दैनिक—नियत—आहार—द्रव्यों में बीजेन्द्र का प्रेरणा से अभावित स्थिति—आहारद्रव्यों से सम्बन्ध करने वाला संस्कारकचन स्पष्टिद्वारा बार बार बीजसमा का स्मरणप्रवर्तना की ओर ले जाया करता है। नियत आहार के लिए मन कभी लात्तामि नहीं होता। किन्तु अनिश्चित आहार के लिए मन चला करता है।

बुद्ध उदाहरण लीजिए। आप अपने महान में जिन में सभी बार आप जान है। ईश्वरद्वारा अनेक बार आपकी सीढ़ियों पर कर्तव्य होती हैं। सीढ़ियों पर चढ़ते हैं उतरते हैं। यह स्वाभाविक गमनागमन ईश्वरकामना से सम्बन्ध रखता है अतएव हमने स्मरणप्रवर्तना—इतिहास का प्रतियकचन नहीं होता। मेरुही बार गमनागमन करते हुए भी आप यह नहीं जाना करते कि आरामे महान में किसी सीढ़ियों हैं ? कभी ? क्या होकर नहीं चलते ? क्या चढ़ते—उतरते में उपेक्षा है ? या क्या होता है ? आप गिर पड़ते ? पतन होता होता तो नहीं ? फिर संख्या का स्मरण क्यों नहीं ? कारण यही है कि यह गमनागमन स्वाभाविक है ईश्वरद्वारा प्रवर्तक है। अतएव स्मरणकचन नहीं होने वाला।

सैन्य उदाहरण लीजिए। आप घर में निरुक्त कर उठान पर पतन है। माग में मेरुही सीढ़ी—पुनः पतन यही सीढ़ी रिश्ताशाखात प्राणों का अवलम्बन करत जान है। उठान में यह पतन का रिश्ता

गता—गुप्त—दृष्ट—पुष्प—यत्नादि पर भी आप की दृष्टि जाती ही है। क्या पर लौटने के पीछे आप को उन सब पर्यों का स्मरण रहता है।। नहीं इसलिए कि आपका यह दृष्टिकर्म ईश्वरानुगत बना हुआ स्वामयिक है। अतएव इन्द्रधनुष से उदग्गुण संस्कारों का प्रतिकल्पन नहीं हो पाता। यदि आप मानसकामना को समझी बना देते हैं तो अवश्य ही तद्विशिष्ट संस्कार प्रतिकल्पन क बन जाये हैं। मान लीजिए—किन्ही पुष्पविशेष पशु—पक्षि विशेष किंवा पुष्प—फल विशेष के प्रति आपकी कामना आकर्षित हो जाती है, तो अवश्य ही उदग्गुण संस्कार प्रतिकल्पन क बन जाता है। और उसकी स्मृति उसकी पुनःप्राप्ति—दर्शन—के लिए आपको प्रेरणा देती है। अतएव कहना, और मानना पड़ेगा कि, स्वामयिक कर्म जनित संस्कार ईश्वरानुगत बनते हुए वही अवश्य हैं वही कृत्रिम कर्मजनित संस्कार बीभानुगत बनते हुए अवश्य हैं। इस तत्त्व को समझ लेना ही तो मोक्ष के निष्काम—कर्मयोग का एक अंग होना है। जीवनयात्रा निरन्तर आप कर्मवशक्त शौचिक कर्मों का अनुगमन करते हैं। जब कुछ छुट्टे—बैठे—बोले—लगे, परन्तु अपनी इच्छा को ईश्वर में अर्पित करें। कभी कर्म जनित संस्कार प्रतिकल्पन के प्रवक्तृ बन जायें एवं आप ऐसा करते हुए 'न करोति न सिद्ध्यते' को अतिवर्णना बना देंगे। कामनासिद्धि से क्षोभजनक कुछ होता है, कामनिष्काम में क्षोभजनक कुछ होता है। कुछ अनुकूलवेदना है, कुछ प्रतिकूलवेदना है। दोनों में ही अग्रान्ति है। यदि कामना नहीं है तो प्राप्ति में भी क्षोभ नहीं होता अग्रान्ति में भी क्षोभ नहीं होता। समस्त स्थितियों में वह स्थिरप्रज्ञ आध्यात्मिक आनन्द अनुकूल अग्रान्ति—निष्काम—बना रहता है। अतएव सर्वकर्म—परिष्कार हो नोदक्य है। निष्काम ही अंग बन जाता है—

न जातु कस्य कमानाद्युपभोगेन शाम्यति ॥

इविषा कृष्णवर्त्मन भूय एषामिवर्तते ॥१॥

यस्त्वैतान् प्राप्नुयात् सबान्, यस्त्वैतान् केनसांस्त्यजेत् ॥

प्रापद्यात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥२॥

भुक्त्वा—सृष्ट्वा—न दृष्ट्वा न—युक्त्वा—प्राप्या न यो नरः ॥

न हृष्यति, म्लायति वा, स विद्येयो मितेन्द्रियः ॥३॥

—मनु २।६१-६२-६३ ॥

६३—भावना—वासना—संस्कारात्मक कर्मात्मा, एवं बन्धनविमोचक आर्षविद्यानुगत—धर्मबुद्धियोग—

भावना—वासना—अन्तःकरणमूलक बन जाते हैं, इस प्रश्न का प्राथमिक विरोधवा किन्ना गया। और यह स्पष्ट किया गया कि, अपेक्षाबुद्धि के संस्कार अन्तःकरणमूलक हैं एवं अपेक्षाबुद्धि से संस्कारजन्य नहीं होता। जब दो शक्तियों में अपेक्षाबुद्धिजनित संस्कारों के कारणत्व का भी सम्बन्ध कर लीजिए। अपेक्षा—बुद्धि के कारणत्व से ही संस्कारजन्य में कारणत्व व्यवस्थित रहता है। सामान्य अपेक्षा से बन्धन सामान्य रहता है विशेष अपेक्षा से विशेष। सामान्य—विशेष अपेक्षाओं से उत्पन्न सामान्य—विशेष संस्कार अपेक्षा के वैयर्थपर्यन्त से प्रधानप्रयत्न पर लक्षित रहते हैं। विशेष अपेक्षाजनित संस्कार वैयर्थपर्यन्त का कभी कभी अतिवर्णन भी कर सकते हैं, अतकि उपाहारण से स्पष्ट है। आपसे एक व्यक्तिकिन्ही विषय के सम्बन्ध में प्रश्न करता है। किन्तु (संस्कार) सामान्य अपेक्षाजनित है अतएव वह विशेष अपेक्षाजनित विशेष संस्कार के

नीचे दबा हुआ है। अतएव प्रश्न के साथ ही उसका उद्गम नहीं होने पाता। आप उत्तर देते हैं—‘उद्दिष्ट। योद्धा सोचने’। इस उत्तर के साथ ही आप उसी प्रकार सोचने लगते हैं, जैसे एक व्यक्ति कान्ते में रखी हुई वस्तु को टोलने लगता है। बुद्धि का व्यापार आरम्भ होता है। कालान्तर में आप उस दमे हुए संस्कार को उठ निकालते हैं और प्रश्नकर्त्ता का समाधान कर देते हैं। हूँटने वाली बुद्धि है, हूँटा जाने वाला तब संस्कार पुञ्ज है, एवं संस्कारपुञ्जभावार प्रज्ञानपरतल है। क्योंकि प्रज्ञानपरतल पर उष्णस्वरूप से अनन्य संस्कार प्रतिष्ठित रहते हैं, अतएव सामान्य शक्तिवासी विज्ञानात्मा उद्भव उसे नहीं पा सकता। अतएव उसे प्रयास करना पड़ता है और प्रयास की सफलता पर उसके मुख से उसी प्रकार ‘लीजिए, सुनिए, यद्वा आगमा’ के शब्द निकल पड़ते हैं जैसे कि कान्ते में खोबने वाली के मुख से वस्तु मिलने पर ‘मिल गई—मिल गई’ यह वाक्य निकल पड़ता है। इस हूँटने से वस्तु मिल जाती है। अतएव मानना पड़ता है कि, प्रज्ञान से सम्पत्तिपूर्ण कर्म्मरत्ना पर अक्षय ही संस्कार प्रतिष्ठित रहते हैं, विनश्वर मूलजनक अपेक्षामय ही बना रहता है। कभी कभी ऐसा भी होता गया है कि अनुपप्राप्त करने पर भी स्मरण नहीं होता। इसके दो कारण हैं। यदि अपेक्षा-बुद्धि सामान्य है, निश्चय है जो सद्गुरु संस्कार योग्य समय पीछे ही विज्ञान (नष्ट) हो जाते हैं। इन नष्ट संस्कारों की स्मृति अस्मत्त्व है क्योंकि स्मृति संस्कारमूला है। वृत्त कारण नु याद आने का है—संस्कार का पौर्वापर्य्य। पूर्वकाल में अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न संस्कार उत्तरकाल में अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होने वाले संस्कारों के नीचे दब जाते हैं। अतएव सामान्यबुद्धि उन पूर्व संस्कारों के अन्वेषण में असमर्थ हो जाती है। इस संस्कारालम्ब-मीमांसा से निष्कर्ष हमें यही निश्चयना है कि, ज्ञान-कर्म्ममय कर्म्मरत्ना के ज्ञानत्व से संयुक्त क्रममय मन के प्रबोधन से ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अपेक्षाबुद्धिविषयक से जो संस्कार उत्पन्न होते हैं, वे—‘मादना’ नाम से स्मरित हुए हैं। एवं कर्म्मोक्त्य से संयुक्त काममय मन के प्रबोधन से कर्म्मोद्भिदों के द्वारा अपेक्षाबुद्धि-संस्कार से जो संस्कार उत्पन्न होते हैं वे—‘वासना’ नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। कर्म्मरत्ना में वे दो प्रकार के संस्कार ही प्रतिष्ठित रहते हैं। वृत्ते शब्दों में इस संस्कारद्वयी का नाम ही ‘कर्म्मरत्ना’ है। संस्कारी कर्म्मरत्ना ही क्रम-मृत्यु की शुद्धता में आश्रय रहता है जिससे उन्मुक्त करने के लिए गीताशास्त्र का निष्कामकर्म्मयोग प्रवृत्त हुआ है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा है—अवश्व आर्पणार्थात्मिक ‘आपविद्या’, एवं जिसके आधार पर प्रतिष्ठित है—‘धर्म्मबुद्धियोग’।

६४—स्वधर्म-परधर्म्मलुगत आत्म-अनात्म-भाव—

वृत्ती दृष्टि से संस्कारों के महत्त्व का समन्वय कीजिए। धर्म्म, अन धैर्य्य, देहधर्म्म, वे चारों विधा-बुद्धि के स्वाभाविक धर्म्म हैं। ऐसी विधाबुद्धि आत्मवत्त्वा के विधायक से युक्त रहती हुई आत्मबुद्धि है। ऐसी आत्मबुद्धि से युक्त प्रज्ञानसम्पत्तिपूर्ण कर्म्मरत्ना (बीजकला) वस्तुतया ‘आत्मा’ है। अधर्म्म (अनिनिवेश) अज्ञान (अविद्या) रागद्वेष (आकर्षण), अनेधर्म्म (अभिप्राय) वे चारों विधायक अविद्याबुद्धि के स्वाभाविक धर्म्म हैं। ऐसी अविद्याबुद्धि आत्मवत्त्वा के अविद्यामाग से युक्त रहती हुई अनन्यबुद्धि है। ऐसी अनात्मबुद्धि से युक्त प्रज्ञानसम्पत्तिपूर्ण कर्म्मरत्ना वस्तुतया अनात्मा है, आत्मस्वरूप में वञ्चित है। इसी पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर यह कहा जा सकता है कि धर्म्मवि चारों विधाबुद्धिधर्म्म कर्म्मरत्ना में स्वधर्मधर्म्म हैं, एवं अधर्म्मवि चारों अविद्याबुद्धिधर्म्म कर्म्मरत्ना के अधर्म्म हैं। अब एक स्वधर्मधर्म्म पुरोचित है उन्हीं एक धर्म्मों कर्म्मरत्ना स्वरूप से पुरोचित है। जिस दिन यह स्वधर्मधर्म्म आवृत्त हो जाता है, उस दिन आत्मा का स्वरूप भी विरोधित हो जाता है।

६५-अन्तरङ्गप्रकृतिविजिह्वे निगुण अभ्ययपुरुष—

‘प्रकृति’ शब्द ही प्रतीक-धर्म है, वैसाकि ‘बन्धनरूपपरिचय’ नामक परिच्छेद में स्पष्ट किया था बुद्ध । अन्ता पुरुष है । पुरुष प्रकृति के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता । किन्तु पुरुष न रहनी, उस दिन पुरुष भी न रहेगा । इसी आधार पर—‘प्रकृति-पुरुषं चैव विद्वयनादी उभावपि’ यह विद्वान्त स्थापित हुआ है । प्रकृतितत्त्व अन्तरङ्ग, वहिरङ्ग मेरु से दो स्तरों में विभक्त माना गया है । अक्षर एवं आत्मक्षर की सर्वत्र अन्तराङ्गप्रकृति है, इसका पुरुषस्वरूप में अभ्यय है । अन्तरङ्ग अभ्ययपुरुषात् अक्षर-आत्मक्षर-नामक अन्तरङ्गप्रकृति का भी समाधान ने—‘ह्यविर्भा पुरुषो लोके सारथाक्षर एव च’ इत्यादिक्रम से ‘पुरुष’ नाम से व्यक्त कर दिया है । अन्तरङ्गप्रकृति ही अभ्ययपुरुष का स्व-स्वयं है, इसी के आधार पर पुरुष सत्प्रकृतगत बनता है । अभ्ययपुरुष का विशेषात्मक इसी अन्तरङ्गप्रकृति पर अवलम्बित है । अतएव इसे हम अभ्ययेश्वर का ‘स्वधर्म’ कह सकते हैं । अन्तरङ्गप्रकृति का आत्मक्षरस्वयं वक्ष्यति विगुणमप्यक्षरम् है और इस दृष्टि में त्रैगुण्य भी वक्ष्यति इक्षरवत्त्वम् बन रहा है । तथापि अभ्ययपुरुष के विद्या-कर्म-धर्मों की श्रमण के कारण इसकी आकृति का प्रमाण उस पर नहीं होने पाता । अतएव वह गुणमय विश्व में व्याप्त रहता हुआ भी ‘निगुण’ ही रहनापरा है । वैसाकि निम्न लिखित मीमांसकन में प्रमाणित है—

अनादिश्चाभिगुण्यत्वात् परमात्मायमभ्ययः ।

शरीरस्थोऽपि कान्त्ययः ! न करोति, न लिप्यते ॥

गीता १३।३१।

६६-अमृत-मृत्यु-मात्रावश्रम ज्ञानकम्मात्मक अभ्ययपुरुष—

‘आत्मप्रकृति’ लक्षणा अन्तरङ्ग-प्रकृति क्योंकि कभी नहीं बतलाई अतएव इसे ‘निष्ठाप्रकृति’ कहा जा सकता है । विद्वान् और मूख दोनों में वह समानरूप में प्रवर्तित रहती है किन्तु समानता का व्यक्तार्थ नहीं है कि ज्ञान-कर्म-कर्मित आत्मा-आत्मा-वैराग्यी न न इच्छा हाथ हाथ न इष्टि होती । अस्तु—‘एव निष्ठा महिमा ब्रह्मणे न कर्मणा बद्धते, ना कर्त्तव्यात् क कर्तुना न वह तदा जनयिष्यत् कर्त्तव्यता ही भी रहती है । किन्तु निष्ठा स्वकर्मलक्षणा यह अन्तरङ्गप्रकृति तन्मय हो जाती है उस दिन अभ्ययपुरुष मायाकर्मन में विमुक्त हो अक्षरवत् परात्पर-परमेश्वर में विर्जीन हो जाता है । कर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य-बन्धन ही आत्मा के स्वधर्म हैं इससे इन आन्ति में नहीं वह जाना चाहिए कि—अविद्यालक्षित कर्म आत्मा का स्वधर्म नहीं है । वह अनेकता स्पष्ट किया था बुद्ध । कि आत्म-विज्ञान-मनोमय विद्यामय, एवं मनः-प्राणाजडमय अविद्यामय (कर्ममय) दोनों आत्मस्वरूप में अमृत हैं । जैसे विद्या (ज्ञान) आत्मा का स्वधर्मस्वरूप स्वधर्म है तथैव अविद्या (कर्म) भी आत्मा का स्वधर्मस्वरूप ही माना गया है । ज्ञान-कर्म दोनों के सम्प्रतिपक्ष का ही नाम प्रकाशित है । इसका अर्थ ज्ञानमय कर्ममय अमृत है अर्थात् कर्ममय अमृतमय मृत्यु है । इत्यकार—‘अमृतं च यः सुसुखं बभूव साक्षादमृतम् न ।’ के अनुसार अमृत-विद्यामय मय अविद्यामय (कर्म) भी आत्मस्वरूपप्रतिष्ठा बनता हुआ स्वधर्मकोटि में ही निहित है ।

विद्या (ज्ञान) यत् अविद्या (कर्म) भी आत्मा का स्वामाधिक धर्म है । अतएव प्रयास करने पर भी कर्म का परित्याग नहीं किया जा सकता । अतएव जो वेदान्ती (कर्मस्वागानुयायी ज्ञानयोगी, विशुद्ध सांख्य-निष्ठ) ज्ञानयोग को कर्मस्वागालक मानते आ रहे हैं, वह उनकी ऐकान्तिक भ्रान्ति ही है । कर्म से विद्याकृत आत्मा का स्वरूप ही स्वधर्म है । जिस दिन यह निःशेष काय्या, उस दिन ही आत्मस्वरूप ही विधीन हो जाय्या । अतएव सर्वकर्मस्वागालक्ष्य, अतएव असम्भव इस कल्पित सांख्यनिष्ठात्मक संन्यासयोग (ज्ञानयोग) का आमुक्तचूड़ लपटहन करते हुए भगवान् ने कहा है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

कार्यते ह्यवश कर्म सर्व प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

—गीता ३।३।

६७—कामत्यागात्मिका कर्मसंश्रद्धात्मिका संन्यासनिष्ठा, आर अव्ययपुरुष—

जब कर्म का परित्याग नहीं, तो त्यागात्मक संन्यास की क्या परिभाषा !, 'त्यागेनैकेऽमृतस्यमानशुः' का क्या सात्वर्त्य ! प्रश्नों का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं—

काम्यानां कर्मणां न्यास संन्यासं कवयो विदुः ।

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्याग विचक्षसा ॥

—गीता १८।२।

विद्यात्मक स्वरूपधर्म, एवं अविद्यात्मक (कर्मरहितक) स्वरूपधर्म स्वयं स्वस्वरूप से आत्मधर्म बनते हुए अकचन हैं । दोनों का समत्व ही दोनों के स्वधर्मत्व का स्वरूपसंरक्षक है । दोनों में से जो भी नियम बन जाता है वही अकर्मरूप में परिणत होछा हुआ अकचन बन जाता है । केवल विद्या भी प्रविचक्षिका है, केवल अविद्या भी प्रविचक्षिका है । दोनों की नियमता का मूलधारण है—कामनामयी रति, फलाच्छेदक अमिनिवेश, बोल कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है । 'विद्यानां रता' * से स्वयं उपनिषद् ने भी रति को ही विद्या का भी अकचनप्रयत्न कल्प स्वीकार किया है । कामना से दोनों का समत्व सन्निवृत्त हो जाता है । यह कामनामयी नियमता ही अकचन का मूल है । इसी तत्व का स्वीकरण करते हुए भगवान् ने यह विद्वान्त व्यापित किया है कि—

अनाभितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।

स संन्यासी, स योगी च, न निरग्निर्नचाक्रिय ॥

—गीता ६।१।

* अन्धं समं प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासत ।

ततो भूय इव ते समो य उ विद्यायां रता ॥

—इशोपनिषद्

है। पाँचों के २१ कम से दो विभाग हैं। महाभुगल स्वायम्भुव अभ्यस्त, तर्गमित विष्णुभुगल पारमेष्ठ्य भ्यस्त महान् दोनों की समष्टि एक विभाग है, इसे ही हम विष्णुवत् लक्षणक 'महान्' करते हैं।

१०१-महिरक्षप्रकृति, और आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति-त्रयी—

इन्द्राभुगल और वायव्य, सोमाभुगल चान्द्र अभ्यस्त, अश्विभुगल पार्थिव आकाशतत्त्व इन तीनों उच्च प्रकृतियों की समष्टि का एक विभाग है। महान् के साथ इन तीनों का सम्बन्ध होता है। इसी से विष्णुवत् लक्षणक अभ्यस्तगमित महान् पञ्चगुणक बन जाता है। सौरतत्त्व के सनावेश से महान् में 'अहङ्कृति' का, चान्द्रतत्त्वसमावेश से महान् में 'प्रकृति' का, एवं पार्थिवतत्त्वसमावेश से महान् में 'आकृति' का समावेश होता है। आकृतिमात्रप्रकृति प्राणिकी, तथा प्रकृतिमात्रप्रकृति चन्द्रमा, दोनों को अपने गर्भ में रखने वाले अहङ्कृतिमात्रप्रकृति के सूर्य के परमोत्पत्तुगत शरीरार्पणमात्रकर्त्त से अभ्यस्तगमित महान् में सत्त्व-रज-तम, इन तीन गुणों का प्राबुभाव होता है। सूर्य का परमेष्ठी महान् के चारों ओर परिभ्रमा लगना ही सौरशरीर-पूर्णमान है। सौर अहङ्कृतिमात्राभुगल और प्रकृति से युक्त बड़ी महान् 'लविकी प्रकृति' है। 'विश्वं देवानां-मुदगात्' के अनुसार सौर सत्त्व देवतमक देवता है। लक्षणभुगल महान् का इसी देवतत्त्व से सम्बन्ध है। अतएव सात्विकी प्रकृति को अवरय ही 'देवीसम्पत्' कहा जा सकता है। सूर्यगमित चन्द्रमा के प्रकृतिमात्र से बड़ी महान् 'रा सी' प्रकृति है। 'चन्द्रमसाग्नेवां श्रुतव आभूतम्' इत्यादि बौद्धिक-विज्ञानानुसार चान्द्रतम-तत्त्व मानवर्ण का उत्पादन है। शरीरभुगल महान् का इसी मानवर्ण से सम्बन्ध है। अतएव राक्षसीप्रकृति को अवरय ही 'मानवीसम्पत्' कहा सकते हैं। सूर्यगमिता प्राणिकी के आकृतिमात्र से बड़ी महान् 'लमयी' प्रकृति है। 'यतेन (शरीरेण) ह्यसु श्लोकं लेप्स्यन्तो मम्यन्ते (दां उप)' के अनुसार पार्थिव-सूर्यविक्रम समन्वयान-आकृतिमात्रप्रकृति अतएव नामक अग्नि ही आसुरेष्टि का बनक माना गया है। अतएव तत्त्व-सम्बन्ध लमयीप्रकृति को अवरय ही 'आसुरीसम्पत्' कहा जा सकता है। सौर अहङ्कृतिमात्रभुगल व्योमिन्य अह महान् 'सत्त्व' है। सूर्यगमित पार्थिव आकृतिमात्राभुगल सूर्यविक्रमदिगुगल तमोमेव अह महान् 'तम' है। एवं सूर्यगमित चान्द्र प्रकृतिमात्राभुगल सत्त्व्य (अतएव सत्त्व तमोमेव-व्योमिस्तमोमेव) भाग 'रज' है।

१०२-बाह्-अम-अभाद-मयी पञ्चगुणात्मिका महिरक्षप्रकृति—

सौ देवैर कि-चन्द्रमा का जो माय सूर्याभुगल रहता हुआ प्रकाशित रहता है, वह सत्त्वानक चन्द्रमा है। सूर्यविक्रमदिगुगल क-अग्निवत् अर्द्ध चन्द्रमा रजोवर्ण है। एवं सत्त्व्यमाय रजोवर्ण है। टीक एवं प्रकार सूर्यसम्बन्ध-सारतत्त्व से महान् में ही सूर्यभुगल अर्द्ध महान् सूर्यविक्रमदिगुगल अर्द्ध महान्, एवं सत्त्व महान् में से सत्त्व ('बाह्'), तम (अम्यकार) रज (अम-माय), ये तीन अवरयामेव होता है। तत्त्व और बाह्ति का एक गुण है वह लविकी देवप्रति का मूलाकार है। रज और प्रकृति, दोनों का एक गुण है वह राक्षसी मानवप्रति का मूलाकार है। तम और आकृति, दोनों का एक गुण है एवं यह सूर्यभुगल ही मूल-टीका है-तत्त्व-अमुरज्य समस्त मायां च महती (महाशक्ति) (एत शरीर-२१। २०-२१) अतएव कि-चन्द्रमा मन्त्रिकस सौरतत्त्व बुद्धितत्त्व है तन्मय मनुष्य मनुष्य है। तन्-आकृति-मनुष्य शरीरभुगल को प्रकृति बुद्धि-वर्णन को

समदर्शन से युक्त विश्वदृष्टिपूर्णाक विषमवर्तन ही गीता का निष्कर्मकर्मयोग है। विषमता का प्रवेश होता ही तब है, जब कि आत्मदृष्टि को छोड़ कर हम विशुद्ध विषमदृष्टि के आधार पर विश्वधर्म प्रतिष्ठित कर देते हैं। समदर्शन में विश्वगुण आत्मगुणरूप में परिणत होते हुए वहाँ समता के प्रवक्तृ बनते हैं वहाँ विषमदर्शन में वे ही विश्वगुण आत्मगुण (आत्मधर्म) के आधारक बनते हुए विषमता के प्रवक्तृ बन जाते हैं। गुणपरिव्याप्त विषमवर्तनविधि का कारण नहीं है। क्योंकि गुणमय विश्व में गुणप्रधान शरीर से युक्त रहने वाली आत्मात्मकस्या के लिए गुणपरिव्याप्त एकान्तता असम्भव है। इसे तो गुणमय विश्व में रहते हुए, स्वगुणानुगत स्वधर्म का पालन करते हुए ही निगुणसम्पत्ति प्राप्त करना है। और इसका एकमात्र उपाय है—गुणात्मक कर्मों को निष्काममार्ग से श्रुत कर देना। ऐसे कर लेने से गुणमय विश्वधर्मों के ब्यापकदुःपासन से लोकसंसारमूलक व्यवहार की भी रक्षा हो जायेगी एवं गुणातीत आत्मधर्म भी सुरक्षित बना रह जायेगा। यही तो निष्कामकर्म का अभूतपूर्व—अस्तुपूर्व कोशक है, जो 'धर्मबुद्धियोग' नाम से व्यवहृत हुआ है।

१००—बहिरङ्गप्रकृति, और अव्यक्तगर्भित महान्—

अब दो शब्दों में गुणात्मिका बहिरङ्गप्रकृति के गुणमात्रों की भी मीमांसा कर लीजिए। तात्त्विकी, यथोक्ती, तामसी, मेघ से आम्बुजप्रकृति तीन विचल मावों में परिणित रहती है। तात्त्विकी प्रकृति 'वैधासम्पत्' है तामसी प्रकृति 'आसुरीसम्पत्' है एवं यथोक्ती प्रकृति 'मानवीसम्पत्' है। योगमायाश्रितका इस एक ही बहिरङ्गप्रकृति को हमने मौक्तिक विश्वापेक्षया 'अव्यक्त' कहा है और साथ ही इस अव्यक्त को बहुसंख्य श्रुति-मायात्मक बताया है। यह अव्यक्त प्राणतरंग ही अपने प्राणायामक अव्यक्तस्व का सुरक्षित (असुरक्ष) रक्ता हुआ मनु के मर्त्य बाष्प मात्र को स्वभावार (तप) से स्वस्व-परमेष्ठी के रूप में परिणत कर 'सत्सुख' वा 'वैधासु' प्राप्तिरात्' म्याप से स्वयं भी इसी के गर्भ में प्रविष्ट होजाता है। इस गर्भमात्र से प्राणमयान का ब्रह्म स्वधर्म, एवं बाष्प से उत्पन्न आपोमय ब्रह्म पारमेष्ठी, दोनों के समन्वित रूप को ही निगुणात्मिका 'बहिरङ्गप्रकृति' मान लिया जाता है। आपोमय परमेष्ठी 'महान्' है, प्राणमय स्वधर्म अव्यक्त है। अव्यक्त अव्यक्त है महान् व्यक्त है। व्यक्तव्यक्त की गुणात्मिका व्यक्तप्रकृति महान् है अव्यक्तव्यक्तस्वधर्म अव्यक्त है। व्यक्तव्यक्तव्यक्त सनतनः के अनुसार-आत्म-आचार-आत्मचर की समष्टिरूप ईश्वर इन दोनों में प्रविष्ट रहता हुआ 'सनातन' सत्त्व है। अव्यक्त स्वधर्म, और व्यक्त महान्, दोनों की समष्टि को आप इच्छित 'महान्' कह सकते हैं कि सनातन पुनर्विनिर्वाह अव्यक्त स्वधर्म उत्पन्न धर्म्याय से माहर्गर्भ में समाविष्ट है। यह 'महान्' अपने प्रातिस्विक स्वस्व से अभी केवल किण्वत् सत्त्वमूर्ति है। किण्वमावोत्पत्ति इसी महान् से आगे 'बाष्प-अन्न-अन्नान्' इन तीन मावों से उत्पन्न होती है। भूधिराज गावत्राणिप्रधान बनता हुआ अन्नाद्यप्रकृति है अग्नि ही अन्नात् है। कन्धमा घोर प्रधान बनता हुआ अधप्रकृति है घोर ही 'एष वै सोमो राजा वैधानामर्न्त-यन्ध्रमा' के अनुसार अन्न है। सूर्य तात्राणिगर्भित इन्द्रप्रधान बनता हुआ वायुप्रकृति है 'वागिन्द्र' के अनुसर वायुत्राणि गर्भित इन्द्र ही वाक् है। इत्येवम् वागिन्द्रात्मक सूर्य, अन्नमात्रात्मक यन्ध्रमा, एवं अन्नाद्यात्मक भूधिराज तीनों उच्च शक्तों में क्रमशः वाक्-अन्न-अन्नाद्य ये तीन प्रकृतिमात्र प्रविष्ट हैं। पारमेष्ठ्य आत्मा प्रकृतिमात्र स्वात्मभूत 'प्राण' प्रकृतिमात्र दोनों के मिलाने से स्वधर्म परमेष्ठी, सूर्य अन्ध्रमा धूमिरी, पाँच विश्वपदों के कन्धमा प्राण-आप-वाष्प-अन्न अन्नाद्य ये पाँच प्रकृतिमात्र होजाते हैं। पाँचों की समष्टि ही बहिरङ्गप्रकृति

६८-विद्या-अविद्या-प्रकृतिविशिष्ट अव्ययपुरुष—

आनन्दविज्ञानमोक्ष विद्याया (आत्मा का विद्याभाग) आधर के सहयोग से पुष्पित-प्रसक्त होता है, एवं मनध्यायब्रह्मम अविद्याभाग (आत्मा का कर्मभाग) आत्मधर के सहयोग से विकसित होता है । अतएव विद्याआत्मगुणता अक्षय्यकृति को हम 'विद्याप्रकृति' कह सकते हैं, एवं अविद्याआत्मगुणता आत्मब्रह्मकृति को 'अविद्याप्रकृति' कहा जा सकता है जैसा कि—'हृदं त्वविद्या, ह्यमृतं (अमरं) तु विद्या' (रब) इत्यादि उपनिषद्भूति से भी प्रमाणित है । विद्याप्रकृति (आधर) अविद्याप्रकृति (आत्मधर), दोनों का समस्त ही आत्मविद्या (आत्मज्ञान) आत्मा-विद्या (आत्मकर्म) ही आत्मतमता की प्रतीका है । विद्या-अविद्याविज्ञान आधर-धर-प्रकृति का वह समस्त ही विद्या-अविद्यात्मक आत्मा की अन्तरात्मकृति है, स्वहम है स्वहम ही । अन्तरात्मकृति की स्वाभाविक कर्मता कवी विषमता में परिकट हो जाती है, इस प्ररत का उत्तर है—'बहिरात्मकृति' ।

६९-गुणात्मिकाबहिरात्मभावभा 'वेदप्रकृति', एवं तन्मूलक कर्मबुद्धियोग—

आत्मधर की अपेक्षा अक्षय्यत्व अव्यक्त है अव्यक्त आधर की अपेक्षा आत्मधर व्यक्त है एवं बहिरात्मकृतिरूप विधरधर (अप्रवर्णीकृत गुणधर) की अपेक्षा व्यक्त आत्मधर अव्यक्त है । वास्तव्य-विरव की उपपत्तानुगत विधरब्रह्मकृति की अपेक्षा आधरब्रह्म-आत्मधर भी अव्यक्त ही बन रहत है । इसके अतिरिक्त व्यक्त विरव की अपेक्षा से (आत्मकलापेक्षया व्यक्त कवी हुई भी) बहिरात्मकृति (विधरधर) अव्यक्त बन रही है । विरवापेक्षया अव्यक्त' नाम से व्यक्तत्व की जाने वाली बहिरात्मकृति ही वैधरिक विरव का मूल जाती है । इस बहिरात्मकृति के—'मात्र-आप-वाक्-अन्त-अन्तरा' वे पाँच विरव हो जाते हैं, जिनके क्रमिक विरव का 'आत्मस्वरूपप्रतिपत्ति' में विस्तार से स्वीकारण किया जा चुका है । प्रत्यक्षत्व इन पाँचों का मूल है, नवी अव्यक्तत्व है, किसे हमने पूर्व में आर्यमानवधम्म का मूलप्रवक्तृ कहलाया है । बहिरात्मकृतिरूप इत अविद्याप्रकृति से ही विर-वेक-आधर-गन्धर्व-प्रवादि प्राणों के द्वारा वैधरिक विरव तथा विरवधर्म में प्रतिष्ठित प्रवा, एवं प्रवागुणत कर्त-अकर्त-धर्मों का विरव हुआ है । मात्रात्मक वाक से अविद्यामूल है । मात्र-वाक् की लमछि ही बहिरात्मकृति की शुद्धप्रमात्मक कवीनाली से अविद्यामूल है । अतएव इस बहिरात्मकृति की 'वेदप्रकृति' कहा जा सकता है बिल्के लम्बक में प्रवागुणत में 'सर्व वेदात् प्रसिद्धपति 'वेदप्रमोहि निर्बमो'—'वेदरात्रवेम्ब एवाही प्रबक् संस्कारचनिर्ममे' इत्यादि विज्ञान स्थापित किए हैं । आत्मब्रह्मपुण्य, अविद्यात्मक विद्याभाग का विरव हती बहिरात्मकृति में आकर हुआ है । इसके पक्षि की छवि मानवीछवि है भक्तछवि है गुणतीव्र लमछवि है आत्मछवि है । अतएव—'तत्र ब्रह्म ब्रह्म मयति इत्यपनुदार नही विभिन्नगुणमूलक मय-ब्रह्म-विह-ग्राह-प्राणी का ब्रह्मान है । बहिरात्मकृतिमूल लमि वैधरिकीछवि है कर्मछवि है गुणमयी विषमपुष्टि है विरवपुष्टि है । आत्मतत्ति ही विरवपुष्टि की मूलप्रतीका है । विरवछवि विभिन्नगुणमूल होने से विभिन्नधर्मात्मिक है । आत्मतत्ति गुणतीव्र जाती हुई अविष्मधर्मात्मिक है । विभिन्नधर्मात्मिक आत्मधम्म है विभिन्न कतन विरवधम्म है । आत्मधर्मात्मिक प्रतिष्ठित विरवधम्म बही ब्रह्मपुण्यता के अरव धान्तिप्रद है वही आत्मधर्म से बधित विरवधम्म आत्मविषमता के अरव कतन हुए अरापित के प्रवर्धक मार्गें गए हैं । आत्मतत्तिमूलक

समदर्शन से युक्त विश्वदृष्टिमूलक विषमवर्तन ही गीता का निष्कामकर्मयोग है। विषमता का प्रवेश होता ही तब है जब कि आत्मदृष्टि को छोड़ कर हम विशुद्ध विषमदृष्टि के आभास पर विषयधम्म प्रतिष्ठित कर देते हैं। समदर्शन में विषयगुण आत्मगुणरूप में परिणत होते हुए वहाँ समता के प्रभाव क बनते हैं वहाँ विषमदर्शन में वे ही विषयगुण आत्मगुण (आत्मधम्म) के आभास बनते हुए विषमता के प्रवक्तृ बन जाते हैं। गुणपरिष्ठाग विषमतानिवृत्ति का कारण नहीं है। क्योंकि गुणमय विश्व में गुणमयान शरीर से युक्त रहने वाली अप्यारमर्शका के लिए गुणपरिष्ठाग एकान्तता असम्भव है। इसे तो गुणमय विश्व में रहते हुए, स्वगुणानुगत स्वधम्म का पालन करते हुए ही निगुणसम्पत्ति प्राप्त करना है। और इसका एकमात्र उपाय है—गुणात्मक कर्मों को निष्कामभाव से युक्त कर देना। ऐसा कर लेने से गुणमय विषयधम्मों के यथावस्तु पालन से लोकोत्तरमूलक व्यवहार की भी रक्षा हो जायेगी एवं गुणातीत आत्मधम्म भी सुरक्षित बना रह जायेगा। यही तो निष्कामकर्म का अमृतपूर्व—अमृतपूर्ण कोशल है, जो 'धर्मसुद्धियोग' नाम से व्यवहृत हुआ है।

१००—बहिरङ्गप्रकृति, और अव्यक्तगर्भित महान्—

अब दो शब्दों में गुणात्मिक बहिरङ्गप्रकृति के गुणमात्रों की भी मीमांसा कर लीजिए। सात्विकी, राजसी कामदी, भेद से अव्यक्तप्रकृति तीन विषय मात्रों में परिचित रहती है। सात्विकी प्रकृति 'वैशासम्पत्' है कामसी प्रकृति 'आसुरीसम्पत्' है एवं राजसी प्रकृति 'मानवीसम्पत्' है। वागमायारिक्त हूँ एक ही बहिरङ्गप्रकृति को हमने भौतिक विश्वोपेक्षया 'अव्यक्त' कहा है और साथ ही इस अव्यक्त को भूतलविश्व भूपि-मावात्मक कहलाया है। यह अव्यक्त प्राणतत्त्व ही अपने प्राणायामक अव्यक्तरूप का सुरक्षित (अनुगुण) स्वभाव हुआ बल के मध्य बाह्य भाग को स्वस्वापार (तन) से व्यस्त-परमेष्ठी के रूप में परिणत कर 'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविरात्' ग्याय से स्वयं भी इसी के गर्भ में प्रविष्ट होजाता है। इस गर्भीभाव से प्राणप्रधान अव्यक्त स्वधम्म, एवं बाह्य से उत्पन्न आपोमय व्यक्त पारमेष्ठी, दोनों के सम्मिश्रित रूप को ही विगुणात्मिका 'बहिरङ्गप्रकृति' मान लिया जाता है। आपोमय परमेष्ठी महान् है, प्राणमय स्वधम्म अव्यक्त है। अव्यक्त अव्यक्त है, महान् व्यक्त है। सात्विकात्म्य की गुणात्मिका व्यक्तप्रकृति महान् है। अव्यक्तप्रकृति स्वधम्म अव्यक्त है। 'अव्यक्तव्यक्तजन सनातन' के अनुगुण-अव्यक्त-असुर-आत्मधर्म की समष्टिरूप ईश्वर इन दोनों में प्रविष्ट रहता हुआ सनातन' तत्त्व है। अव्यक्त स्वधम्म, और व्यक्त महान्, दोनों की समष्टि का आप इसलिये 'महान्' कह सकते हैं कि, सनातन पुण्यपरिणित अव्यक्त स्वधम्म सत्सृष्ट्वात्म्याय से महद्गर्भ में समाविष्ट है। यह 'महान्' अपने प्रातिविक्रिक स्वरूप से अभी केवल विशुद्ध लक्ष्यमूर्ति है। विगुणमात्रोत्पत्ति इसी महान् से आगे 'बाह्य-अभास' इन तीन भावों से उत्पन्न होती है। भूपिण्ड नामधार्मिकप्रधान बनता हुआ अभासप्रकृतिक है अग्नि ही अभास है। चन्द्रमा नाम प्रधान बनता हुआ अभासप्रकृतिक है, धोम ही 'एष धी मामो रात्रा दधानामग्ने—यच्चन्द्रमा' के अनुगुण अभास है। सूर्य सावित्राग्निगर्भित इन्द्रप्रधान बनता हुआ बाह्यप्रकृतिक है 'वागिन्द्र' के अनुगुण सावित्राग्निगर्भित इन्द्र ही बाह्य है। इसप्रकार वागिन्द्रात्मक सूर्य, अग्निसामात्मक चन्द्रमा, एवं अभासात्मक भूपिण्ड तीनो उत्तर लोको में क्रमशः बाह्य-अभास-अभास' व तीन प्रकृतिभाव प्रविष्टित हैं। पारमेष्ठिक आप' प्रकृतिभाव स्वाधम्मप्र प्राण प्रकृतिभाव दोनों के मिलान से स्वधम्म परमेष्ठी मूल्य चन्द्रमा भूपिणी, पवि विषयों के क्रमशः प्राण-आप-बाह्य अभास अभासः व पवि प्रकृतिभाव होजाता है। पवि की समष्टि ही बहिरङ्गप्रकृति

है। पाँची के २३ अंश में ही विभाग है। ब्रह्मानुगत स्वायम्भुव अव्ययत, तर्कमिती विष्णुवतुगत पारमेष्ठ्य व्यस्त महान् दोनों की समष्टि एक विभाग है, इसे ही हम विद्युत् लक्षणात्मक 'महान्' कहते हैं।

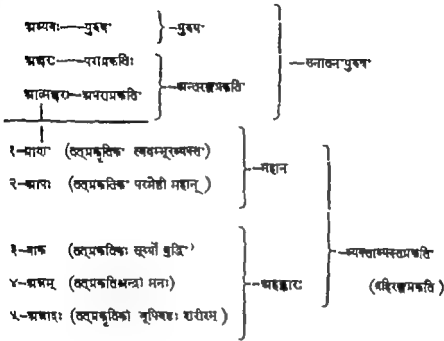
१०१-बहिरङ्गप्रकृति, और आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति-त्रयी—

ब्रह्मानुगत और आकृतत्व, सोमानुगत आन्तर आकृतत्व, अव्ययनुगत पार्थिव अभासत्व इन तीनों उत्तर प्रकृतियों की समष्टि का एक विभाग है। महान् के साथ इन तीनों का सम्बन्ध होता है। इसी से विद्युत् लक्षणात्मक अव्ययत्वमिती महान् पदगुणक बन जाता है। औरतत्व के अभावे से महान् में 'अहङ्कृति' का आन्तरत्वअभावे से महान् में 'प्रकृति' का, एवं पार्थिवत्वअभावे से महान् में 'आकृति' का अभावे हो जाता है। आकृतिमात्रवर्तिका वृषिणी, तथा प्रकृतिमात्रवर्तक चन्द्रमा दोनों को अपने गर्भ में रखने वाले अहङ्कृतिमात्रवर्तक सूर्य के परमेष्ठ्यनुगत दशरूपमात्रवर्तक से अव्ययत्वमिती महान् में स्वन-रव-तम इन तीन गुणों का प्रादुर्भाव होता है। सूर्य का परमेष्ठी महान् के पारों और परिक्रमा लगाना ही औरत-वृणमान है। और अहङ्कृतिमात्रानुगत और प्रकाश से युक्त बड़ी महान् 'लक्ष्मिणी' प्रकृति है। 'चित्र देवाना-मुद्राणा' के अनुसार और तत्व वैभवमक देवता है। लक्ष्मनुगत महान् का इसी वैभवत्व से सम्बन्ध है। अतएव लक्ष्मिणी प्रकृति को अवश्य ही 'देवीसम्यन्' कहा जा सकता है। सूर्यमिती चन्द्रमा के प्रकृतिमय से बड़ी महान् 'रात्री' प्रकृति है। 'चन्द्रमसाश्रेता श्रुतव आश्रुतम्' इत्यादि कौशिक-सिद्धान्तानुसार आन्तरात्म-तत्व मानववर्ण का उपादान है। दशोऽनुगत महान् का इसी मानववर्ण से सम्बन्ध है। अतएव राक्षसीप्रकृति को अवश्य ही 'मानवीसम्यन्' कहा सकते हैं। सूर्यमिती वृषिणी के आकृतिमय में बड़ी महान् 'अमली' प्रकृति है। 'यतेन (शरीरेण) ह्यमु शोकं जल्पन्तो मम्यन्ते (हा उप) के अनुसार पार्थिव-सूर्यविक्रम समप्रधान-आकृतिमात्रवर्तक लहरका नामक अग्नि ही आनुष्ठीति का जनक माना गया है। अतएव तत् सम्बन्धतामलीप्रकृति को अवश्य ही 'आमुष्ठीसम्यन्' कहा जा सकता है। और अहङ्कृतिमात्रानुगत व्योमिर्मय अहं महान् 'लव' है। सूर्यमिती पार्थिव आकृतिमात्रानुगत सूर्यविक्रमिगुणगत तमोमय अहं महान् 'तम' है। एवं सूर्यमिती आन्तर प्रकृतिमात्रानुगत तान्त्र (अतएव लव तमोमय-व्योमिस्तमोमय) आय 'रव' है।

१०२-आह-अस-असाद-मयी पदगुणात्मिका बहिरङ्गप्रकृति—

यौ हेतिर कि-चन्द्रमा का जो माग सूर्यानुगत रहता हुआ प्रकाशित रहता है वह लक्ष्यमक चन्द्रमा है। सूर्यविक्रमिगुणगत अश्रवाशित अहं चन्द्रमा रजोवर्णक है। एवं तान्त्रमाग रजोवर्णक है। ठीक इसी प्रकार सूर्यमात्र-सारतन्त्र में महान् में ही सूर्यानुगत अहं महान् सूर्यविक्रमिगुणगत अहं महान्, एवं लक्ष्य महान् मेर त लव (प्रकाश) तम (अस्पष्ट) रव (तमवर्णक) ये तीन अवस्थाभेद होता है। तम और अहङ्कृति का एक कम है वह लक्ष्मिणी देवमृति का मूलधार है। रव और प्रकृति, दोनों का एक गुण है वह राक्षसी मानववर्ण का मूलधार है। तम और आकृति दोनों का एक गुण है, एवं वह लक्ष्मिणी की मूलप्रतिष्ठा है-तन्त्र-अमुरेष्ट्या तमश्च माया च प्रवृत्ति (प्रकाशिका) (उप १०१-१५)। यौ भी लक्ष्य कि का जानता है कि-लव-अहङ्कृति की लक्ष्यमय औरतत्व बुद्धितत्व है तन्त्रमात्र मनुष्य देवता है। रव-प्रकृतिमयिण्य आकृतत्व प्रज्ञामय है लक्ष्यमात्र मनुष्य मनुष्य है। तमा-आकृति-लक्ष्मिणी पार्थिवतत्व शरीर है लक्ष्यमात्र मनुष्य लक्ष्म है। अनुप्रकृति मनुष्य शरीरानुगत को प्रधान मानता है। मानववर्णक मनुष्य मन-राशि की गुण मानता है। एवं वैभववर्णक मनुष्य बुद्धिविज्ञा को

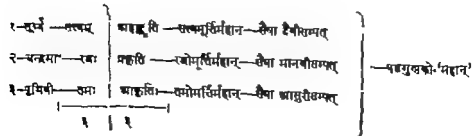
ही अपना पुरुषार्थ समझता है। तत्पर्यं प्रकृत में यही है कि—अप्यक्तवर्गिता विद्युत्कृतकत्वा 'महान्' नामकी बहिरङ्गप्रकृति सूर्य-चन्द्रमा-पृथिव्यनुगत-वाक्-आम्र अन्नाद इन तीन बहिरङ्गप्रकृतियों से बहुगुणाधिक्य मन जाती है, वैद्यकि पक्षिल से स्पष्ट है—



१-सूर्यः सतनुगत-अहङ्कार विभाव—सतनुगतो महान्—'सात्त्विकीप्रकृति'

२-चन्द्रमा, सतनुगत-प्रकृतिमाया—सतनुगतो महान्—'यमलीप्रकृति'

३-पृथिवी, सतनुगत-आत्मविभाव—सतनुगतो महान्—'तामसीप्रकृति'



१०३-मानवसगानुगता गुणामक्ति-

उक्त मीमांश से इस प्रश्न का भी समाधान हो जाता है कि, ईश्वर में गुणास्तित्व क्यों नहीं होती !, जबकि वह भी जीवन् गुणात्मक विश्व में निश्च प्रसिद्ध है। जीव ही गुणकम्पन से क्यों बाध्य हो जाता है !, जबकि वह ईश्वर का ही अंश है। जीववृत्ति का मूलाधार सूर्य माना गया है। वैयकि-‘सूर्य आत्मा अग्रा स्तरमुपरप’ इत्यादि मन्त्रभूति से प्रमाणित है। सूर्य ही अपने दूर्यपूर्णमात्मक परिस्रमण से स्व (सूर्य)-अग्रमा-हृयिरी के द्वारा महान् को सत्त्व-रज-तमो-भागों से, तथा अहङ्कृति-महृति-आहृति-महो से महान् को बहुगुणक बनाता है। अतएव वीर जीवतर्ग में ही सूर्यानुगत गुणवृत्त का प्राधान्य रहता है। विशेषतः मानवतर्ग ही प्रतिद्वन्द्वक चन्द्रमा स्नेहगुणक है। अतएव इसी र्ग में गुणास्तित्व का उदय होता है।

१०४-गुणवृत्ती का व्युद्भूत-

उक्त तीनों गुणों का परस्पर व्युद्भूत होता है। इस व्युद्भूत से प्राक्किमात्र में गौण-प्रधानरूप से तीनों का समावेश हो जाता है। इत्येक प्राची में मात्रातात्पर्य से कतिपि तीनों गुण प्रतिष्ठित हैं तथापि-‘छादन्त्यत्र’ से वह प्राची उद्गुण नाम से ही स्पष्टकर विज्ञा जाता है कि प्राची में व्युद्गुण का प्रधानरूप से विकसित रहता है। महान्मानुगता इसी गुणवृत्तिजन को लक्ष्य बना कर प्रगच्छन् मनु मे कहा है—

१—मर्च, रज, स्तमस्त्वं धीन् विषादात्मनो गुणान्।

यध्याप्येमान् स्थितो मत्तान् ‘महान्’ सर्वानशेषतः ॥

२—यो यदैषां गुणो ददे साकष्येनातिरिच्यते।

त त्वा तद्गुणप्राप्य त करोति शरीरिखम् ॥

—मनु १०।२४-२५।

१०५-मर्च-रज-स्तम-महृतिमेदमिषा मानववृत्ती-

हा शब्दों में मानव-महृतिरी का स्वकल्पविषय भी प्राप्त कर लीजिए, जो कि ‘मार्चमिषा’ का मुख्य अर्थवत्त्व निश्च माना गया है। मर्चो गमानदृष्टि से देवता विमल लौकिक पराजों में उस एक अविमल आत्मकतत्त्व पर दृष्टि रखना एवमिषा ज्ञान ‘मार्चिक’ है ॥ विभिन्नदृष्टिपूर्वक वृत्त्याभावनाम विभिन्न ज्ञान ‘राजम’ है ॥ एवं तत्त्वज्ञान, ज्ञानाभ्यन्तर्ज्ञान, ज्ञानमूर्ति का ही प्रधान लक्ष्य बनने जाता, ज्ञानवृत्ति-

०-मर्चभूतेषु येनक आरमभ्ययमीक्षते ।

अविमल विमलतेषु तद्वान विदि साधिकम् ॥

—गीता १८।२०।

= गृह्यस्त्वेन तु यद्वान नानाभाषान् वृत्तिगिषान् ।

वति सर्वेषु भूतेषु तद्वान विदि राजसम् ॥

—गीता १८।२१।

यस्य ज्ञान 'तामस' है - । रागद्वेषादयः आसक्तिरहित फलकामनाविपुक्त, प्रकृतिविद्ध, नियतकर्म (निष्काम-
कर्मयोगसंज्ञाय धर्मबुद्धियोग) 'सात्त्विक' है A । बहुपरिग्रहसाध्य, अतएव क्लान्तिजनक, उदयाप्याकाश-
मूलक, 'अहङ्कारेण' मावात्मक कर्म (काम्यकर्मयोगसंज्ञाय वेदोक्त कर्मकाण्ड), 'राजस' है B । "हमारे
स्वार्थसाधक अनुकूलकर्म से समाप्त का वैसा अपकार होगा, स्वयं हमारी क्या दशा हो जायगी, हमें अपने अनुक-
ूलकर्म में अपने पुण्यसंस्कारों की, आध्यात्मिक बल की शान्ति की किस प्रकार बलि बतानी पड़ेगी, हमारे कर्म
से किन्हीं निरपराधों का सर्वनाश हो जायगा, इत्यादि अनुकूल, सुख, हितारिपरिणामों की उल्लेख कर अपने
आपको-हम सब कुछ कर सकते हैं, करेंगे," रूप से अपने आपको सर्वशक्तिशाली मानने का दम्भ करते हुए
मोक्षार्थक जो कर्म किया जाता है वही 'तामस' है C । फलसंश्लेष से विमुक्त अपने आपको 'अहङ्कारेण' हठ
अहंभाव से वृथ्वा रखने वाला हानि-हानि, दोनों में चूर्च रखने वाला, व्याधयुक्त, पञ्चप्राप्ति-अप्राप्ति, दोनों
स्थितियों में शान्त बना रहने वाला कर्मकर्ता सात्त्विक है D । फलसंश्लेष फलप्राप्ति के लिए उक्त लालाक्षित
परपीडनप्रवर्तक, शौचान्तर-परवृत्त, योग्यीसी लक्ष्यता पर हा-हा रूप से अष्टाष्टरास करने वाला, बोझी की
निष्कलता से 'हान-हान' करने वाला कर्मकर्ता 'राजस' E है । अस्तव्यस्तरूप से अविबभितरूप से, अस्म-

—यच्च कृत्स्नबदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहेतुकम् ।

अतत्कार्यबदन्यथा तत्तामसमुदाहृतम् ॥

—गीता १८।२१।

A-नियत सङ्गरहितमरणोद्भवतः कृतम् ।

अकलप्रोप्सुना कर्म यच्चत्साधिकमुच्यते ॥

—गीता १८।२३।

B-यच्च कामेप्सुना कर्म साहचारेण वा पुन ।

क्रियते बहुलायासं सत्राजसमुदाहृतम् ॥

—गीता १८।२४।

C-अनुबन्ध स्वयं हिसामनवेत्त्य च पौरुषम् ।

मोहादारम्यते कर्म यच्चतामसमुच्यते ॥

—गीता १८।२५।

D-मुक्तसङ्गोऽनर्हवादी च ब्रह्मत्साहसमन्वितः ।

सिद्धयसिद्धयोर्निर्निहारः कर्षा सात्त्विक उच्यते ॥

—गीता १८।२६।

E-रणी कर्मफलप्रोप्सुर्लुब्धो हिसात्मकोऽश्रुपि ।

हर्षशोकान्वितः कर्षा राजसः परिचीक्षितः ॥

—गीता १८।२७।

वरिष्ठ ढंग से कर्म करने वाला कार्यार्थविबेकज्ञानशून्य, बेव-विज-गुह-अज्ञेय आदि सम्मान्य महातुमावी के बगले उड़ते-उड़ते बगलार करने वाला (विनयशून्य) अपने मन बाह्य, प्राण (संनय-शून्य-कर्म) से लगा दूरी की निन्दा करने वाला समलोचना करने वाला आवश्यक कार्यों में भी बाधते बना रहने वाला अन्त के मिल जाने पर भी अपने आपको दुःखी-निर्धन-पोषित करते रहने वाला, अ-किञ्चित् समय में पूरे हो जाने वाले कर्मों को दिनों-मासों-वर्षों का अनुगामी बनाने वाला, एवंविध कर्मकला 'तामस' कहलाया है F । (विरोध विचार के लिए देखिए गीता १८ अष्टाव, सूत्र २२ से ४ 'ओष्ठ पर्यन्त, एवं उपलुप्य गीताविज्ञानशून्य) ।

१०५-राजर्षि मनु सम्मत गुणत्रयस्वरूपदिग्दर्शन—

राजर्षि मनु करते हैं—'बो मनुष्य वेगम्यास में रह रहते हैं शास्त्रोक्त स्नानादि शुद्धिकर्मों का बचाव पावन करते हैं इन्द्रियसंयमपूर्वक लोक-वेद-अवधारणों का सम्पादन करते हैं अहर्निश वानादि उत्क्रियाओं में लपट रहते हैं उन्हें उत्कृष्टप्रधान समझना चाहिए' * । लक्ष्मीवृत्त कर्मों के आरम्भ में पूर्ण बलि करने वाले बोड़े में ही अपना धर्म्य लो वेने वाले अराजकीय कर्मों में प्रवृत्त होते रहने वाले निन्दित कियों की आर आत्मकत बने रहने वाले महातुमावी को रजोगुणप्रधान मानना चाहिए + । परतन्मति का लक्ष निः-इष्टि से ताजते रहने वाले अहर्निश क्रोधात्मकता की ही अपना आराध्य बनाते वाले (निशानु) अवीर, क्रूर, ईरवर-परलोच्यदि में कि बात न रखने वाले, आचारशून्य, अपने आनको लक्ष मरीच करते हुए दूसरों के बगले हाथ डैलाने वाले ऐसे प्रमाणीमनुष्यों को तमातुप्रधान मान लेना चाहिए X । किन (द्विज-बोरी-मिष्ठाभरण-अमकममक-यत्-परतर्कमन आदि आदि) कार्यों को करता हुआ, बो कर्मकला अपने अन्तर्गत में लक्ष्य का अनुभव करता है तमन-

F-अपुरुः प्राकृतः स्वप्न शठो नैकृत्तिकोऽलसः ।

विपत्नी दीपमूत्री च कला तामस उच्यते ॥

—गीता १८२८।

*-वदाम्यासस्तपोमानं शापमिन्द्रियनिग्रहं ।

वर्मक्रियत्तमचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥

—मनु १२।३१।

—आरम्भरुचिताऽभ्यस्यसत्त्वस्यपरिग्रहं ।

विपयोपसेवा चात्रस राजस गुणलक्षणम् ॥

—मनु १२।३२।

X-सोमः सज्जोऽष्टिः काव्य नास्तिर्कर्म मिश्रचिन्ता ।

पाणिप्लुता प्रमादस्य तामसं गुणलक्षणम् ॥

—मनु १२।३३।

पर जो अनुमान लगा लेना चाहिए कि, लक्षानुमन करने वाले ऐसे सब कर्मों समीक्षणप्रधान हैं A ।
 इन कर्मों से (धर्मशास्त्र-स्मार्तकर्म-स्वातन्त्र्य-बापी-रूप-सङ्गागनिर्माण-व्याज-अनायास-आदि कर्मों) व्यक्ति संसार में अपना नाम चाहता है जो निषनाकस्था में भी कुली नहीं देखे चाते उनके ऐसे कर्मों से अनुमान लगा लेना चाहिए कि, ये समीक्षणप्रधान हैं B । जो व्यक्ति अपने आपको स्व से सीखने वाला बनाए रखते हैं, अथवा तो जो वेदार्थतत्त्वपरिचय के लिए सदा साक्षात्कृत रहते हैं, जो अपने शास्त्रानुगत) कर्म करते हुए कभी लक्षणा का स्मरण भी नहीं करते बिनके ऐसे कर्मों से बिन्दे उदा आत्मसन्तोष प्राप्त होता रहता है, उनके ऐसे कर्मों से हमें यह अनुमान लगा लेना चाहिए कि, ये व्यक्ति सत्वगुणप्रधान हैं C । यही गुणव्यपरीक्षा की सामासिक D (सविष्ट और साविक) निष्ठा (कसौटी) है । समीक्षण उदा धर्म (फलधर्म) को लक्ष्य बनाता है, रसगुण उदा धर्म को आराध्य बनाता है एवं सत्वगुण उदा मोक्षमूलक धर्म को लक्ष्य बनाता है । सांख्यिक निषयमोक्षपरिचयका धर्म है जनसङ्घर्षनिषङ्गता धर्म है, एवं वैशेषिक अनुसृत्यपूर्वक पारलौकिक निषेधनाकाशित का लक्षण धर्म है—'तत्समाधर्म परमं वदन्ति' ।

तमसो लक्षणं कामो, रजसस्त्वर्थ उच्यते ।

सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेवां यथोचरम् ॥

—मनु १२।३८

१०६—गुणात्मिका प्रकृति का आत्ममूलक त्रिबुद्ध्याव, एवं तन्मूलक नव (६) योनि-विवर्त-
 गुणमेव से सम्बन्ध रखने वाली योनियों का भी सामासिक स्वीकरण कर लीजिए । सत्वगुणात्मिका
 वैशेषिक से सम्बन्ध रखने वाली गति उत्तमा है रजोगुणात्मिका मानवीयमेव से पुत्र गति 'मध्यमा'

A—यत्कर्म कृत्वा कुर्वन् च करिष्यन् चैव लज्जति ।

तन्मेव विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ।

—मनु १२।३१

B—अनास्मिन् कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्पलाम् ।

न च शोचत्यसंपत्तां तद्विधेयं तु राजसम् ॥

—मनु १२।३६

C—यत्सर्वेणैच्छति ज्ञातुं यन्न सज्जति चाधरन् ।

येन तुप्यति आत्मास्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥

—मनु १२।३७

D—अप्राणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम् ।

इदं सामासिकं धेयं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥

—मनु १२।३८

है, एवं तमोगुणात्मिका आमुही सम्पद्युक्त योनि 'अधमा' है । मनःशान्तिवाङ्मय आत्मा के प्रकृतिविक्रियुक्तमात्र के अन्तर्ग ॥ क्योंकि प्रत्येक गुण विह्वलमात्र से विह्वलमात्रक है । अतएव तीन गतिरों के अन्तर्गत नौ विभक्त हो जाते हैं । व्यक्तिक गुणोत्पन्न महानात्मा से युक्त कर्मात्मा स्वयंभोनि का अधिकांशी बनता है रजोगुणोत्पन्न कर्मात्मा मानवभोनि का अनुगामी बनता है, एवं तमो-गुणात्मिक कर्मात्मा को तिप्युत्पन्नोनि का अनुगमन करना पड़ता है । विषाकर्म्म के कारणानुगत गुणत्रय-कारण्य से इन्हीं तीन के अन्तर्गत ६ विभक्त बन जाते हैं वैयक्तिक राक्षस ने कहा है—

१-यन यस्तु गुणेनैषां संसारान् प्रतिपद्यते ।

तान् समासुन वक्ष्यामि सबस्यास्य पथाक्रमम् ॥

२-देवत्वं सात्त्विकं यान्ति, मनुष्यत्वं च राजसा ।

तिर्य्यक्त्वं तामसा नित्यं, मित्यपा त्रिविधा गतिः ॥

३-त्रिविधा त्रिविधं तु विज्ञेया गीत्सिकी गतिः ॥

अधमा-मध्यमा-प्रथा च कर्म-विधा-विशेषतः ॥

—मनुः १२-३६, ४, ४१ ।

चतुर्धा रजस्तम, त्रिगुणवित्, पाराश-सोऽपि कथयात् अलंकारीय चतुर्धीय वदताह है । इन्हीं ही लोकमात्रा में 'अध' कहा गया है । अधोनि-अन्तर्ग-लता-गुण-आदि अन्तःलंकारीय 'मूलवीर्य' नाम से व्यञ्जित हुए हैं । चतुर्धीय और मूलवीर्य, दोनों अपने प्रयास से स्वस्वान्त्याग में अन्तर्ग रूढ़े हुए स्वत्मान में ही प्रतिष्ठित रहते हैं अतएव इन्हीं 'स्वाध' नाम से भी व्यञ्जित किया गया है । एवंविध स्वाधप्रपञ्च, एवं कर्म कीट, मल्ल लर्प कञ्चप, पशु मृग, वे 'लंकारीय' नामक जीव (१) अधमा तामसी योनि से उत्पन्न हैं । तमोगुण का आत्यन्तिक विकृतिरूप ही अधम तमोगुण है । तत्पुक्त कर्मात्मा को उक्त योनिमें से ही कारण्य से कोई ही योनि प्राप्त होती है । हाथी, अश्व, गृध्र, मोक्ष, सिंह, व्याज, शूकर, बरह, ये योनिमात्र (२) मध्यमा तामसी योनि है । अष्टाश्वक बाण्ड उपर्यापदी (मरुकादि) गुल्फवर पुष्प, राक्षस, शिशाच इत्यादि योनिमात्र (३) उत्तमा तामसी योनि है । इत्यन्तर तमोगुण के कारण्य से एक ही तमोगुण योनिवर्गी का प्रवर्तक बन रहा है ।

वो जन्मिय ज्ञानकर्म से मुक्त हो जाता है बित अमरात जन्मि का पञ्चोन्नीय लंकारीय (१२ वर्ग) अतिप्रमत्त हो जाता है स्वधर्मात्मुत वही जन्मिय 'मल' जन्मि वदताह है जिसे लोकमात्र में 'वात्सिन्नुत' (वर्तन्नुत) उपाधि से अलङ्कृत किया जाता है । ऐसे मल जन्मि में मत्स्यलक्षणा (वात्सिन्नुत जन्मिणी) से उत्पन्न लक्ष्मि मल्ल मल्ल निष्कामि, नट, करण लत, इविह, आदि उपलब्धि-नामों से प्रतिष्ठित हुए हैं । यन्त्रकारी राक्षसेवक 'मल' वदताह है । सिंगे हुए मल हाथी को कथावत

॥ आत्मानुबन्धी इह विह्वलमात्र का विचार वैज्ञानिक विवेचन इत्यादिनिषिद्धान्त्याप्य-अधमत्ववद ने देलना चाहिए ।

(कोष्ठा-वर्ण) से क्या में करना इन्हीं का कार्य है। राक्षसाणा में ये लोग 'सप्तमार' नाम से प्रसिद्ध हैं। राक्षसाणा में यष्टिचारका करते हुए हारादि की व्यवस्था करने वाले (द्वितीयादी-छन्दार) पुरुष भी इसी मध्य-कोटि में अन्तर्भूत हैं। शक्ति-रक्षा-दोषक आदि साधनों में द्वारा कलाप्रदर्शनपूर्वक लोकप्रचार करने वाले 'नट' कहलाए हैं। बाहुपुङ्गव-विभिन्न व्यायामकुशल पुरुष (पारलवान) 'मस्त्र' कहलाए हैं। शतस्यन्ध्याय के द्वारा, शतस्यन्ध्याय के द्वारा मध्यस्यन्ध्याय के द्वारा भीष्मनिर्वाह करने वाले पुरुष शत्रुबीची-य तबीची-वानबीची कहलाए हैं। ये सब योनिमात्र (१) 'अधमा राजसी योनि' है। अमिष्टिक राक्षस, शक्ति प्रविष्टि क्षत्रियवर्ग, राक्षसी, एवं क्षत्रियों के कुलपुत्रोद्दिष्ट ब्राह्मण शास्त्रविद्यारथ पुरुष, इत्यादि योनिमात्र (२) 'मध्यमा राजसी योनि' है। गन्धर्व, गुण्डक, यक्ष, देवयोनि के अनुयायी विद्याधरदि, अष्टराष्ट्र, इत्यादि योनिमात्र (३) 'उत्तमा राजसी योनि' है ०।

वानप्रस्थी, संन्यासी, ब्राह्मण, विमानचारी पुरुष (योनिर्वा) नक्षत्र, दैत्य, इत्यादि योनिमात्र (१) 'प्रथमा सात्त्विकी योनि' है। यक्षधर्म्य ब्राह्मण, वेदस्त्वर्ग्य श्रुति, अग्निमानि देववर्ग अग्निष्वादादि स्वविष पितर, ध्रुवादिप्रधान ज्योतिर्गोत्रक, कर्तव्य, शम्भु, इत्यादि योनिमात्र (२) 'मध्यमा सात्त्विकी योनि' है। चतुर्मुख-भस्मा, मरीचादि सर्वाप्रवर्तक श्रुति, धर्म, महान् अव्यक्त, इत्यादि योनिमात्र (३) 'उत्तमा-सात्त्विकी योनि' है। मानवधर्म्यधारणोपबर्धिता गुणानुगता नवधा विभक्ता योनियों का यही विगन्धन है +।

१०७-अप्रकृतिसत्त्वस्था गुणमयी महत्प्रकृति, एव तद्व्यवधिभोक्तृ—

उक्त प्राकृतिक-विषय-विरलोपय का निष्कर्ष यही है कि, अव्यक्तता वस्तुतया आत्मा है, अक्षयस्मयस्मय इवही अन्तर्प्रकृति है। एवं प्राकृतिक अव्यक्तता के भीम शरीरानुगता अज्ञातप्रकृति, सोमात्मक चान्द्र प्रज्ञानात्मानुगता अज्ञातप्रकृति, इन्द्रात्मक सौर विज्ञानात्मानुगता वायुप्रकृति ब्रह्मात्मक स्वात्मन्मय अव्यक्ततात्मानुगता प्राणप्रकृति इन चारों विचारप्रकृतिओं को तथा वैश्वानरत्मक अर्धज्ज्ञानवर्ग वैश्वानरौष्ठरत्मक अन्तर्ज्ज्ञान वै से प्राज्ञात्मक सम्यग्धीव इन विभिन्न पार्थिव कर्मात्म्याओं को स्वर्ग में प्रतिष्ठित करने वाले विष्णुवात्मक पारमेष्ठ्य महानात्मा से अनुगत 'अप्रकृति' ही त्रिगुणमावात्मिक

✽ मन्त्रो मन्त्रश्च राजन्याव्रात्याभिस्त्रिविरेव च ।

नटरश्च करशरश्चैव खसो ब्रविद्ध एव च ॥

—मनु १०।२२।

+ अहङ्कृतिमूलक-श्रुति प्राणानिकथन गोपगर्ग महतिमूलक-देवप्राणानिकथन कर्तृत्वं एवं प्राकृतिमूलक पितृप्राणानिकथन शक्तिर्ग इन् तीनों प्राकृत स्त्रो मे सम्पन्न करने वाला वर्गमेदप्रमक प्रजास्वरूप ब्रह्म ही विगन्धन है, जिते यथाकर्तृ न जानने के कारण ही आत्म का केवल प्राकृतिक मानव प्राकृतिमूलक शक्ति को ही मानवस्वरूप की व्यवस्थापिका मानने मनमान की मद्दी प्राप्ति कर रहा है जिसके कुप्यारणामस्वरूप मानव का प्रकृतिमे-निकथन देवप्राणात्मानुगता शक्ति स्वकय आत्र सर्वथैव अव्यक्तविवर बन गया है जिसके इतिहास का महान् सम्बन्ध 'नामक स्वतन्त्र नामविधि निबन्ध मे विचार से स्वरूपविरलोपय हुआ है।

[illegible]

१०८—नैसर्गिकग्रहणि, एवं साम्प्रतिकग्रहणि च व्यपदिशन्तु—

[illegible]

१०६—अधिकारसिद्धा सांस्कारिकी, तथा जन्मसिद्धा नैसर्गिकी प्रकृति—

‘अधिकारसिद्धा’ संस्कारिकी प्रकृति की प्रतिष्ठा जन्मसिद्ध नैसर्गिकी प्रकृति की कटाई है। ‘अधिकार’ शब्द सर्वव्यवस्था का सूचक है। जिसके नीचमें मैं जन्मते वो वर्ण प्रतिष्ठित रहेगा, वह उत्तुंगत संस्कार का ही अनुगामी बनेगा। ‘प्रकृतिविशिष्ट’ ‘प्रातुवर्त्यम्’ वाक्य वहाँ जन्मसिद्धा नैसर्गिकी प्रकृति का समर्थन कर रहा है, वहाँ—‘संस्कारविरोधाय’ (वसिष्ठस्युति) वाक्य अधिकारसिद्धा सांस्कारिकी प्रकृति की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। ‘संस्कारतत्त्व’ मावनाभासनसम्बद्ध ‘ज्ञानकर्मासंस्कार,’ ‘वैधसंस्कार’ मेरे से दो मार्गों में विभक्त माना गया है। जन्मसिद्ध संस्कार देश-काल-पात्र-द्रव्य-शुद्ध-शाश्वत-आदि दोषों से स्व-विक्षेप से मुक्तित करने रहते हैं। अतएव ऐसा जाता है कि, जन्म के बाधक विषय, बाधणी मात्र से उत्पन्न भी उत्पत्ति जन्मते बाधक रहती हुई भी बाधक्य से वञ्चित रह जाती है। इन बाधक्य दोषों का हटाने के लिए, जन्मसिद्ध बर्तनीयता की कमी पूरी कर उसे सर्वोद्गीर्ण बनाने के लिए, साथ ही उसमें वैशिष्ट्य आधान के लिए वैज्ञानिकों ने उत्तुङ्गसुगुण तत्त्व द्रव्यवाचनों के द्वारा दोषमार्बक-हीनाङ्गपूरक-अविशेषाधानात्मक जिस वैज्ञानिक प्रकर का आविष्कार किया है वही वैधसंस्कार कहलाया है, जो भीत-स्मर्त्ता गर्माधानादि संस्कार नाम से प्रसिद्ध है। जन्मसिद्धा नैसर्गिकी, अधिकारसिद्धा सांस्कारिकी प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली बर्तनीयकस्या का, तथा वैध-गर्माधानादि संस्कारों का गीताभूमिका ‘स-न नयनों में विस्तार से विरोधोपलब्धि का पुष्ट है। जन्मसिद्धा प्रकृति की क्या पहिचान है, प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् ने कहा है—

मुक्तमज्ञोऽनर्हवादी पृथुत्साहसमन्वित ।

सिद्धपसिद्धयोर्निर्जकार कथा सात्त्विक उच्यते ॥१॥

रागी कम्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचि ।

दृष्योक्तान्वित कथा राजस परिकीर्षित ॥२॥

अयुक्तः प्रकृतः स्तम्भ शब्दो नैकृतिकोऽलस ।

विषादी दीपधृत्री च कथा तामस उच्यते ॥३॥

—गीता १८।२६ २७ २८।

११०—निग्रह किं करिष्यति—

भगवान् कहते हैं कि बिलकी जैसी प्रकृति है उसे बाध्य होकर उमीका अनुसरण करना पड़ता है। हमने आधार पर प्राचीन भाषा में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है—कि ‘कथा का पट्टा सुभाष जाती जीव से’। बिलका जैसा जन्मसिद्ध स्वभाव है, वह उसके मरने पर ही मिथ्या है क्योंकि जन्मसिद्ध प्रकृति नहीं जाती का नष्टी। वहाँ स्वभाव में स्वयमर्तलक्षणा अंतराङ्गप्रकृति अभिप्रेत नहीं है। अतएव जन्मसिद्धा नैसर्गिकी बाह्यप्रकृति ही अभिप्रेत है। मान लीजिए, बिली का स्वभाव कठोर है। गुह्येन प्रयात्पूषक समझते हैं-कि, ‘देना क्रोध का परिप्राग कर दो वह मनुष्य का स्व स नष्ट शत्रु है। क्रोध एक प्रकार का वह रुद्राग्नि है जो नर्वर में तपकाल उत्पन्न होता है। अग्नि ही शरीर का वल है। यदि तुम इस शरीर से बाहिर निकल रहे, तो निर्वाच बन जाओगे। वह न्यायानकर्ता अग्नि बाहिर न निकल पाए, इसलिए तुम्हें हमें (कथानि

को) पी जाना चाहिए,। शुक्रदेव के हम मार्ग को हम अन्य समझ रहे हैं। मान रोत है-वातय में शेष समाप्त शत्रु है। यह सब कुछ जनस-जनस-मानते हुए भी निश्चयानुसार जांच उक्त ही पता है। क्यों, सम्पत्ति सम्पत्ति। सम्पत्ति गौतमगुप्त ही तो हमारा उक्त है जैसा उक्त होता है हमसे शेष ही तो कार्य निष्कर्ष है। इसी आधार पर यग्यज्ञ न कहा है-‘प्रवृत्ति भूमि भूमि निम्न’ कि परिष्कृत है।

१११-पुण्य-पापादि द्वन्द्वों का विध्वनन—

अब एक उक्त्यरूपा प्रकृति (शब्दाव) स्वस्वरूप में सुरक्षित है जब तक उसका निग्रह अस्मत्त्व है यही उत्तरार्थ है। इसीसे यह भी उक्त निकल आता है कि यदि किसी उपाय में उक्त का स्वरूप बरत दिया जाता है तो प्रकृति का भी नियर्थार्थ सम्भव बन जाता है। अब एक शेष है जब तक प्रकृत्यधर्म का अङ्गुष्ठ रहना अनिवार्य है। हाँ बाधुरूप-उपाय प्रवेश में यदि मंत्र दया जाता है तो प्रकृत्यधर्म का प्राकृत्य सम्भव है। प्रकृतिविरथ्य ही धम्म विरथ्य का मूल माना गया है। यी देविण्ड, संस्कारान्तरों में अन्त्याख्या भी देवी-तन्त्रम् आनुलिङ्गम् बन जाती है आनुलिङ्ग देवीतन्त्रम् में परिणत होनी देवी गई है। कृष्ण-अत-अपराध-आदि अतिविक संशयों के समावेश में अनुसम्पन्न दृष्टि होते हैं दिव्यन स्वर विरहित हो जाते हैं। अशुभ-पञ्चनादि अस्मत्त्व-मन्त्रों से उत्पन्न अस्मत्त्व संस्कारों में देवीतन्त्रम् प्राकृत्य हो जाती है। अतन्त्रांश यही है कि, अनेकविधवर्णित अनुसम्पन्न गन्तार (आयना) एवं अनेकविधवर्णित अस्मत्त्व संस्कार (अयना) ही अन्तरात् प्रकृतिविरथि आत्मा के धर्म-आनादि स्वाभाविक अस्मत्त्वधर्मों को आहूत कर उसे अस्मत्त्व देवर्तिसी, तथा अविचारविह्वल संस्कारों की देवी आनुलिङ्गम् में अस्मत्त्वविरथ कर देते हैं। इसी अस्मत्त्वविरथरूप-संस्कार-अस्मत्त्वधर्म में इन उक्त्य संगतिही में भविष्यीय के रूप अस्मत्त्व का अस्मत्त्व बन हो जाता है। शुभ आत्मनाशान्ता से देवीतन्त्रम् का निगम होता है अशुभ-मात्रनाशान्ता से अशुभ-मात्रनाश हो जाता है। अतन्त्रा और हुए दोनों आत्मना पर निर्भर है। यदि आत्मनाशान्ता नहीं है तो न पुण्य है न पाप है न अस्मत्त्व है न दृष्ट है। न न है न दृष्ट है।

११२—मनुष्यात्मक परब्रह्म, एवं अध्यात्मिक परब्रह्म—

वित्त प्रकार आनुवंशिकप्रवृत्ति पाप आत्मा को परकृत बनाता है एवमेव देवत्वप्रवृत्ति पुण्य से भी आत्मत्वात्म्य प्राप्त हो जाता है। आत्मत्वात्म्य के लिए दोनों का परिष्कार अनिवार्य है। तभी स्वस्वभावका विवेकप्रतिपत्ति का उदय सम्भव है। इसी आधार पर—‘उमे पाप-पुण्ये विभूय विद्वन्त एवास्ति दुष्पा है।’ दोनों दृष्टिपर आत्मत्वकृतता के आधार हैं कि दोनों ही आत्मन्तु हैं। स्वधर्म आत्मन्तु नहीं है अपितु वह निर्य है प्रवृत्तिवशा (अन्तरात्मप्रवृत्तिवशा) है। कौत्सात्मिक धर्म आत्मन्तु है अतएव हमें ‘स्वधर्म’ न कह कर आत्मन्तु, अतएव आश्रितधर्म ही कहना चाहिये। ‘धर्मिणा (आत्मना) श्रितो’ निर्वचन से दोनों ही आत्मत्वात्म्य प्राप्त करने से ‘धर्म्ये’ नाम से व्यवहृत होते हैं। इन दोनों धर्मों में से शुद्ध

• न धर्मशास्त्रं पठतीति क्लृप्तं, न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः ।

‘स्वभाव’ एवात्र तथातिरिच्यते यथा अकृत्या मधुर गन्नां पयः ॥

संस्कारात्मिका देवीसम्पत् से सम्पुष्ट होना है, अतएव इसे 'संस्कर्म्म' कहा जाता है। एवं अशुभसंस्कार-
त्मिका आशुरीसम्पत् प्रत्यवायजननी बनती हुई अघर्म्म नाम से व्यपकृत हुई है। संस्कर्म्म से आत्मघर्म्म
आहत अर्थात् होता है, परन्तु उसकी स्वरूपज्ञानि नहीं होती। अतएव इसे 'घर्म्म' कोटि में अन्तर्भूत मान
लिया जाता है। परन्तु अघर्म्म से आत्मस्वरूपावरण के साथ साथ आत्मपतन भी होता है, अतएव
एवविध (अशुभसंस्कारात्मक) आहितघर्म्म को 'अघर्म्म' कहना अनर्थ बन जाता है।

११३-घर्म्म, एवं अघर्म्मात्मक इन्द्रनिर्वर्तक घर्म्मबुद्धियोग—

मान लेते हैं देवीसम्पत् सम्पुष्टजननी है। परन्तु है तो यह भी आत्मस्वरूप के स्वाभाविक घर्म्म को
आहत करने वाली ही। आगन्तुक भक्ता हो, अथवा ब्रुप, अन्तर्लोकस्वा यह आगन्तुक ही है परया ही है।
सहस्रगुणित भक्ता होने पर भी आगन्तुक आगन्तुक ही रहेगा। इस आगन्तुकभाव से ही देवी, आशुरीसम्पत्-
लक्षण समयाविध आहितघर्म्म (घर्म्म, अघर्म्म) आत्मा की स्वाभाविकता के निरोधी बनते हुए तबत
अघर्म्म कोटि में ही निहित है। अन्यत्र घर्म्मात्, अन्यत्राघर्म्मात् (कटाप ० १२।१४ के अनुसार घर्म्म-
अघर्म्मातीत आत्मा कने हन इन्द्रमायी को अपना उपकारक मान सकता है। घर्म्म संस्कार आत्मा में अनुकूल
तरङ्ग उत्पन्न करता है, अघर्म्म संस्कार प्रतिकूल तरङ्ग उत्पन्न करता है। घर्म्म संस्कारावुगत बुद्धानुभव में भी
आत्मा स्वकेन्द्र को छोड़ देता है, अघर्म्म संस्कारजनित बुद्धानुभव में भी आत्मा स्वप्रविष्ट से व्युत्त होता है।
है। स्वाभाविक, शिवादात्मक, आत्मशान्ति का दोनों में ही सम्भव है। अतएव इस दृष्टि से दोनों ही स्वाभ्य
न्न रहे हैं। अघर्म्म से होने वाले अनर्थ स्पष्ट हैं। घर्म्म से होने वाले अनर्थों का भी बुद्धानुभवत्वरूप
से अनुमान लगाया जा सकता है। किसी व्यक्ति को घर्म्म (पुण्य) संस्कारावरण कहीं से सम्पत्ति प्राप्त हुई।
शिव प्रकार शरीर में कैसा गया वेला क्षणमात्र के लिए शरीर की शान्ति भङ्ग कर देता है एवमेव विद्व-
त्सम्पत् ने आत्मशान्ति को क्षणमर के लिए विनश्वित कर दिया। आगन्तुक सम्पत्ति ने काम-लोभ को
उत्साहित किया। सम्पत्ति-परिग्रह बढ़ने लगा। इसप्रकार अनर्थपरम्परा ने कम ले डाला। कहना पड़ेगा,
और मानना पड़ेगा कि, क्षणतरङ्गमय यह पुण्यवानुगत संस्कार भी तबत शान्ति का प्रतिकम्पक ही है।
तभी तो घर्म्म जनित बुद्धि भी 'अनुकूलवेदना' (श्रुता हुआ दुःख) नाम से ही व्यपकृत हुआ है। विद्वान्त व्य-
पकृत हुआ है कि, आत्मता के अनुग्रह से उत्पन्न मानना-बाधना-वैचार-वर्णिकपनरूप घर्म्माधर्माभिनिवेश
आत्मस्वरूपघर्म्म का प्रतिकम्पक बना हुआ अपने परिवाद के अनुपात से समग्र समय पर-नीर्धेयगच्छस्यु-
परि च दशा चक्रमिन्द्रमय के अनुसार उपकीर्तित किया करता है। इसे कैसा हृदय बाध है, आत्मा की
स्वाभाविक शान्ति का उन्मूलन ही है, इस प्रश्न का एक समाधान आर्षविद्यानुगत यही 'घर्म्मबुद्धियोग' है।

११४-भोग, प्रतिबन्धकत्व, एवं समग्र, लक्षण संस्कारनिषत्तिका उपायप्रयी—

अभिनिवेशात्मक संस्कारों को हटाने का एक मात्र उपाय है-इनके साथ होने वाली आत्मा की प्रविष्ट
को हटाना। प्रविष्टमेव ही संस्कारनिवृत्ति है। प्रविष्टमेवनामिका यह संस्कारनिवृत्ति तीन उपायों से सम्भव
है उपाय का क्रमिक विवरण कराया जाएगा है। अपेक्षाबुद्धि-वहृत् मानकमानना के द्वारा शान-कर्मनिष्ठप्रवृत्ति
मानना-बाधनमय संस्कार, वर्णिकपन-द्वारा आत्मा में अभिनिवेश (अभिनिवेश-मनस) देवानुपगत
(विशेष आत्मस्वरूप आहत होता है) की निवृत्ति के ये तीन उपाय क्रमशः भोग, प्रतिकम्पकत्व, समग्र,

इन नामों से व्यञ्जित हुए हैं, जिनमें से पहिले कर्मप्राप्त 'मोग' नामक प्रथमोपाय की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। गुणत्रयानुगत प्रकृतिविश्व कर्म परिपाक (संस्कारमोग) ही 'मोग' है। स्त-
ताया गया है कि, पाण्डुरी के विश्वमाय से प्रत्येक काष्ठात्मसंस्था में तीनों गुणों का उद्वेग रहता है। इनमें
लक्ष्मण सुखानुरागी है रजोगुण दुःखानुरागी है एवं तमोगुण मोहानुरागी है। सुखप्रवृत्ति लक्ष्मण से दुःख-
प्रवृत्ति रज से एवं मोहप्रवृत्ति तम से होती है। रजोगर्भित लक्ष्मण सद्बुद्धि है, रजोगर्भित तम अशुद्धि है। सद्बुद्धि
देवबुद्धि है अशुद्धि असुरबुद्धि है मानवात्मा दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित है। इस रूप से जीवन में तीनों
का मोग होता रहता है। कभी मनुष्य सुखी होता जाता है कभी दुःखार्थी में निमग्न हुना जाता है एवं
कभी स्थूल सा प्रतीत होने लगता है। जीवन पर दृष्टि डालिए, तीनों का प्रत्यक्ष होनादग। आपके जीवन
में आपने कितना सुख मिला है वह सुखी लक्ष्मणानुगत देवबुद्धि (शुभसंस्कार) का मोग है।
कितना दुःख मिला है वह रजोगुणानुगत असुरबुद्धि (अशुभसंस्कार) का मोग है। एवं लक्ष्मणदेवबुद्धि-
दृष्टि-लक्ष्मण मोह तमोगुणानुगत पशुबुद्धि का मोग है। वास्तव्य यह है कि, लक्ष्मणानुगत देवबुद्धि रजोगुण-
असुरबुद्धि एवं तमोगुणानुगत, पशुबुद्धि तीनों का 'सुख-दुःख-मोह' रूप से आपके जीवन में मोग होता रहता
है। कभी आप अपने आन को सुखी पाते हैं तो कभी दुःखी पाते हैं कभी आप कुपित रहते हैं। जिस
कर्म आप सुखी हैं स्वीकार कीजिए उस समय आपके लक्ष्मणक शुभसंस्कार का मोग होता है दुःखदशा
में रजोमय अशुभसंस्कार का मोग होता है एवं मोहदशा में तमोमय अशुभसंस्कार का मोग होता है।
इत्येवम् आपके जीवन में समयभेद से तीनों गुणानुगत संस्कारों का मोग होता रहता है जिसका निम्नलिखित
शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

१—सर्वं ज्ञानं, तमोऽज्ञानं, राग-द्वेषौ च स्मृतम् ।

एतद् व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताभिरं तेषु ॥

२—उद्य यत् प्रीतिसयुक्तं किञ्चिद्व्यक्तमि लक्षयेत् ।

प्रशान्तमिव शुद्धात् 'मन्त्र' तदुपचारयेत् ॥

३—यद्य दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।

सद्-रजा' प्रसिद्धं विद्यात् सततं हारि दहिनाम् ॥

४—यद्य स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् ।

अप्रतक्ष्यमविज्ञं 'तम' तदुपचारयेत् ॥

—अनुः ११११ २० २८, २९, ३० ।

लक्ष्मण जीवन की लाहिरि, कैवल्य एक अहोरात्र में ही तीनों के मोगों का प्रत्यक्ष कर लीजिए। दिन-रात
में अनेक अवसर तो ऐसे आते हैं, जिनमें हमारा मन प्रवृत्त रहता है हम अपने अन्तर्बोध में धान्ति का
अनुभव करते हैं। कई अवसर आते हैं जिनमें मन अज्ञान-मोह-दुःखी बन जाता है। एवं ऐसे भी अवसर
आते हैं जिनमें हम अपने आपको सुख कर कुपित से विचार-विशेष शून्य में अपने हुए निर्विकल्पविमुक्त
बन जाते हैं ममारी का ही दशा होजाती है। इत्येवम् अपने एक वैदिक जीवन में ही तीनों मार्गों का

अनुभव करते रहते हैं। यही नीति अनुभव ही सांस्कारिक कर्मों का उपचयलक्षण मोक्ष माना गया है। जो भोक्ता आत्मधारण पर लक्षित है, वे दस गुणानुगता भोगश्री के रूप से ही कर्मों की प्रतीति होते रहते हैं। इस क्रमिक भोग से जिस समय उचित संस्कार निर्माण होता है उस समय आत्मा पूर्णरूप से स्वतन्त्र हो जाता है। इस मोक्ष के सम्बन्ध में हमारा प्रवास व्यर्थ है। प्रकृति के अनुसार अब जिस उचितकर्म का प्रवास आत्मिक प्रारम्भ बन जाता है उसका उही कर्म से मोक्ष होता रहता है। यही संस्कारोपचय का पहिला प्राकृतिक 'भोग' रूप उपाय है।

द्वितीय उपाय है—प्रतिबन्धकत्व। आत्मा में जैसे, एवं जिस आत्मा के भावना-वासना-संस्कार प्रसिद्धि हैं उनसे विहाय संस्कारों के आ जाने से (विहाय संस्कारों के उचित संस्कारों की अपेक्षा करना होने पर) पूर्णसंस्कार उही प्रकार अभिवृत्त हो जाते हैं, जैसे खैर प्रकाश के आकर्मण्य से (दिन में) रहती हुई भी अन्तर्भावना स्वस्वरूप से अभिवृत्त हो जाती है। उक्तगुणानुगता वैदिकप्रणाली में वेदप्रकाशमेद से अनेक आत्माओं में विभक्त है, एवं उक्तगुणानुगता आधुनिकप्रणाली में आधुनिकप्रणाली से अनेक आत्माओं में विभक्त है। वैदिक-सम्पत्तियों आधुनिकसम्पत्तियों की, तथा आधुनिकसम्पत्तियों वैदिकसम्पत्तियों की जैसे प्रतिबन्धकता है तबै इनमें परस्पर भी प्रकाशमेदानुगता आत्मावेद से परस्परिक प्रतिबन्धकता विद्यमान रहती है। परस्पर विरुद्ध इन सम्पत्तियों की गीत-प्रधानता से इनका परस्पर अभिन्न वृत्ति करता है। इस अभिन्न से अभिवृत्त संस्कार स्वप्राकर्म-प्रदर्शन में अस्मर्थ हो जाता है। मान लीजिए—किसी व्यक्ति में आधुनिकप्रणाली विकसित है, इसके प्रकाश से इसका आत्मा उक्तगुणानुगता बन रहा है। इससे बचने का एक यही उपाय है कि वह व्यक्ति आधुनिकप्रणाली के विरोधी वैदिकप्रणाली का अनुगमन (संस्कार) करे। अन्तर्भावनामयि के उपाय से जैसे विद्यमान की आत्मा की वादकता नष्ट हो जाती है एकमेव आत्मप्रियत आत्मन्तु धर्मात्मका आधुनिकप्रणाली-रूप अनुभव संस्कार उचितकर्म स्वप्राकर्म धर्मात्मका वैदिकप्रणाली-रूप अनुभव संस्कार के आ जाने से नष्ट हो जाते हैं। वृत्ति के उपायसे अस्मर्थ ही वृत्ति का विनाश सम्भव है। मगधवारचन नैगमिक-आगमिक अनुगमनादि के फल से उत्पन्न अनुभवकारी से निश्चयेन उचित वृत्ति नष्ट हो जाते हैं। आत्मन्तु धर्मात्मका उचित संस्कारों के नाश का यही 'प्रतिबन्धकत्व' रूप द्वितीय उपाय है।

तृतीय उपाय है 'समस्त'। भोग और प्रतिबन्धकत्व उक्त दोनों उपायों की अपेक्षा यही सर्वोत्तम, और ब्रह्म उपाय है। कारण स्पष्ट है। समस्त से विद्यात्मन की अभिवृद्धि होती है एवं विद्यात्मनमिद्वि से अविद्यात्मन स्वतः निर्मल बन जाता है। विद्यात्मन साक्षात् ज्ञानबोधिर्भावना प्रदीप्त विद्युत् है। जिस प्रकार उच्चतम लौह-लवण पर गिरने वाले बलकण लवणकण मिलीन हो जाते हैं तबै प्रथम विद्यात्मनोदय से उत्पन्न, एवं उत्पन्न होने वाले संस्कार उचितकर्म अस्मत्ता हो जाते हैं। प्रथम ज्ञानात्मिक कर्मसंस्कारकर्मों की निरोधकता में परिणत कर जाता है, वैदिक-ज्ञानात्मिक सर्वकर्मार्थि अस्मत्ता कर्मों से तब (गी ४।१७) इत्यादि मगधचन से प्रमाणित है। इस तृतीय उपाय की सर्वोत्तम-भेदता का एक दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए, एवं समन्वय करने से पहिले भोग, और प्रतिबन्धकत्वका उपाय दोनों उपायों के तत्त्व का अन्वेषण कर लीजिए। संस्कारकर्म की स्वस्मयीभावना करते हुए पूरा पूरा मैं इनकी उचित आरम्भ, मुक्त, वे तीन अवधारणें बलवर्त हैं। इन तीन के अतिरिक्त सांस्कारिक कर्मों के सम्बन्ध में एक चौथा विभाग और मानना चाहिए, किन्तु आगामी संस्कारों से सम्बन्ध है।

११५-कर्मस्वरूपसम्पादिका प्रक्रम-अभिक्रम-ध्यूहन-श्रयी-

प्रक्रम, अभिक्रम, ध्यूहन इन तीन तर्कों के सम्बन्ध से त्रिविध संस्कारों का स्वरूप सम्पन्न होता है। कर्त्तर्य कर्म प्रक्रम है, पुनर्प्राप्तकर्म अभिक्रम है, एवं अनेक पुनर्प्राप्तकर्मों की समष्टि 'ध्यूह' है। आप अपने घर से निकल कर वेष्टवर्तन के लिए जाते हैं। यह गमनकर्म आपका पुनर्प्राप्तकर्म है, क्योंकि गमन से पुनः का (आप्तका) वेष्टवर्तनरूप कार्य (कर्म) सिद्ध होता है। इस पुनर्प्राप्तकर्म गमनकर्म का स्वरूप अनेक क्रियाओं से सम्पन्न हुआ है। एक पीव आगे रहता, एक पीछे रहता इस क्रम से अनेक पाण्डित्यों के बाधकर्म से इस एक गमन का स्वरूप बनता है। गमनकर्म पुनर्प्राप्तकर्म 'कर्म' नामक कर्म है। पाण्डित्य अनेक गतिकर्मों के सम्बन्ध से क्योंकि इस एक 'ध्यूह' कर्म पुनर्प्राप्तकर्म का स्वरूप सम्पन्न होता है अतएव वह अन्तर्गत गतिकर्म-**'कर्त्तर्यकर्म'** (कर्म के स्वरूप निम्नांश अन्तर्गत कर्म) कहलाए हैं। कर्मना कर लीधिए-एक पाण्डित्य एक प्रक्रम है जिस एक पाण्डित्य के लिए लोकप्रिया में-**'पौवडा'** शब्द व्यपकृत हुआ है। प्रत्येक पौवडा में श्री बरणि सूक्त-सूक्तम्-सूक्तम् अन्तर्गत अनेक गतियों का समावेश रहता है एक पौरे से दूसरे पौरे पर्यन्त व्याप्त एक प्रक्रम में श्री अन्तर्गत गतिकर्म अनेक प्रक्रम व्यपस्थित हैं। परन्तु सूक्तत्वात् उनकी ओर न बाधक हम एक पाण्डित्यरूप एक प्रक्रम की ही परा एक कर्त्तर्य कर्म मान लेते हैं, जो विज्ञानमय में 'प्रक्रम' कहलाया है जिस गतिकर्म में स्थिति-मति दोनों भावों का सम्बन्ध है। घर से निकल कर वेष्टवर्तन पर्यन्त पहुँचने में मार्ग के साधन से एकपाण्डित्यरूप ऐसे अनेक प्रक्रमकर्मों का अनुगमन करना पड़ता है तब कहीं बाधक 'वर्तन करने गए हैं' इस एक पुनर्प्राप्तकर्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। अन्तर्गत क्रियाओं के बाधक से ही या एक गति का स्वरूप निम्नांश माना गया है ॥ कर्त्तर्य करने का यही है कि कर्त्तर्यकर्म रूप कर्म 'प्रक्रम' है। इन अनेक प्रक्रमों से सम्पन्न पुनर्प्राप्तकर्म कर्म 'अभिक्रम' है यही गमन-वाचनात्मक एक कर्म-संस्कार है। अपने जीवन में हम अनेक प्रक्रमगति लेते ऐसे अनेक अभिक्रमकर्मों का अनुगमन करते हैं। अन्त आत्म-वरात्म में अनेक अभिक्रमकर्मों की लता सिद्ध हो जाती है। अतः कर्म सांसारिक पुनर्प्राप्तकर्म-अभि-क्रमकर्मों की समष्टि ही 'कर्मध्यूह' (कर्मों का तन्त्रांश का घर) कहलाता है, जिसे व्यवहार में 'लक्षित-संस्कार' कहा गया है।

प्रक्रमकर्मगति-अभिक्रमकर्मों की समष्टिरूप 'लक्षित संस्कारमति' ही कर्मध्यूह है, एवं इन्हीं के उद्वेग का हम विचार करना है। कर्मध्यूहमक गमनात्मक लक्षित संस्कारपुत्र में से उदर-वामप्रवृत्ति के मूलभूत द्विती एक अभिक्रमकर्म-संस्कार का व्यापार हुआ हमले कमरूप भोग हुआ। आगे चल कर कोई लक्षित अभिक्रमकर्म का लक्ष्य आनुर्वाचक भाग का कोई सांसारिक लक्ष्यिक भाग का, कोई लक्ष्यभोग का, कोई लक्ष्यभोग का, कोई लक्ष्यभोग का प्रवर्तक बना। जो विज्ञान प्रवर्तक बनता गया, वह अभिक्रमकर्म लक्ष्य इन्द्रिय गया। लक्षितकर्म ध्यूह में से मयानुगत (व्यापारस्थिति) बने हुए इन लक्षित अभिक्रमकर्मों की समष्टि ही 'प्रारम्भकर्म' नाम से व्यपकृत हुई जिसका अन्तर्गत लक्ष्य भोग पर ही माना गया है।

ॐ गुणभूतैरपि समूह क्रमवन्मनाम् ।
पुदपा प्रफन्निताम् प्रियणि व्यपदिरयत ॥

‘नामुक्तं स्वीयत्वं कर्म कल्पकोटिशतैरपि’—‘प्रारब्धकर्मयोगां भोगाद्देव क्षयः के अनुसार प्रारब्ध-
अभिक्रमकर्मों की निवृत्ति एकमात्र छत्रभोग पर ही निर्भर है। जिस समत्वयोगलक्षण निष्कामकर्म योग को
सर्वज्ञेय-मेढ्र कलाया जाता है, वह भी प्रारब्धकर्मों को निःशेष बनाने में एकान्त ही है।
जब तक तीर हाथ में है, तभी तक उसे रोक्क जा सकता है। जब तीर हाथ से निकल गया तब उसे रोक्कना
तीरन्दाज की शक्ति के बाहर है। ठीक वही अवस्था यहाँ समझिए। सविशेषकारण्यूह के अभिक्रमकर्म
जब तक व्यापारानुगामी नहीं बन जाते, जब तक वे संचित करने रहते हैं, एवं तब तक उनका समत्वयोग से निम्नत्रय
भी किया जा सकता है। परन्तु जब वे अभिक्रमकर्म व्यापारोन्मुख बन जाते हैं, आरम्भ हो जाते हैं, तब विनाश
योग के अन्य किसी भी उपाय से उनका निवारण सम्भव नहीं है।

११६-माय्यवाद की बटिल समस्या, और उसका निराकरण—

आब का मायवादी भारतीय प्रजा के सम्मुख आज एक बड़ी बटिल समस्या उपस्थित कर रहा है।
प्रसङ्गोपात्त उसका भी निराकरण कर लेना चाहिए। सर्वसाधारण के मुँह से यह सुना जाता है कि—‘बैसा हमारे
माय्य में लिखा है हमें बैसा ही फल भोगना पड़ेगा। माय्य की रक्षा कभी नहीं मिल सकती’। इसी किंवदन्ती के
आधार पर वह प्रश्न खड़ा होता देखा गया है कि—‘जब कि माय्य में लिखा मिट नहीं सकता तो पुनर्प्राप्ति के
लिए शास्त्रों में विहित-वर्ग-कर्म अनुष्ठान जब, यदि विधि-विधानों का क्या प्रयोजन?’। एक मनुष्य ऐसी
हुआ है अपने माय्य से। रोग मिटना लिखा होगा, तो वह नियत समय पर मिट ही जायगा। यदि उसके माय्य
में वह लिखा होगा कि—‘तुम्हारी इस रोग से मृत्यु होगी’ तो वह माय्यानुसार मर ही जायगा। यदि माय्य में पुनर्
पाना है, तो उसे कोई रोक नहीं सकता। यदि पुनर् पाना लिखा है तो उसे कोई भी विधि-विधान मिट नहीं
सकता। फिर शास्त्रज्ञ प्राणियों का वह कहना कि, ‘रोगप्राप्ति के लिए मृत्युजब का जप करो बहुत बहुत
ज्ञान करो, दान करो,’ इत्यादि का क्या अर्थ?। माय्यवाद की इसी समस्या में पड़ कर आज भारतवर्ष
पुनर्प्राप्तिहीन बन जाता है। यदि किसी व्यक्तियों ने यह आश्वासन दिया दिया कि—‘तुम्हारे माय्य में बहुत
सम्पत्ति है,’ तो उत्कृष्ट हम पुनर्प्राप्ति की नमस्कार कर लेते हैं। क्या व्योम्नि का फलादेश मिथ्या है?, क्या
माय्यवाद निरव्यय है? क्या विधि-विधान निरव्यय हैं?, नहीं, सर्वथा नहीं। फिर माय्यवाद का क्या अर्थ?।
तब तो कर्मवाद को ही प्रधान मानना चाहिए। इन सब समस्याओं के निराकरण के लिए हमें पहिले
‘माय्य कहते किसे है?’ इस प्रश्न की ही सीमासा करनी चाहिए।

प्रकृत-अभिक्रमसमक ब्रह्मसत्त्व तत्त्वितरंस्कारण्यूह का नाम है—‘माय्यवाद,’ एवं वर्तमानब्रह्मानुगत
कर्मण्युही का नाम है—‘कर्मवाद,’ जो स्वरूपजनक करते हैं एवं जो स्वरूपपुत्र माय्यवादरूप में परिणत
होया जाता है। तात्पर्य यही हुआ कि पूर्वजन्म में हमने जैसे शुभ-अशुभ कर्म किए थे उनसे उत्पन्न शुभ-
अशुभ स्वरूपों में से कुछ का तो पूर्वजन्म में ही भोग-कारण बन हो गया। अभिक्रमानुगत-परमवक्रम में भिन्न
भोग का पूर्वजन्म में अवसर नहीं आया वे स्वरूप आत्मा में संचित रह गए। इन पूर्वजन्मानुगत-शुभाशुभ-
कर्मस्वरूपों की समष्टि ही भारतीय परिभाषा में—‘माय्य’ नाम से व्यवहृत हुई—‘माय्य कर्म शुभाशुभम्’
(कमान्तरंशुभाशुभकर्ममिदं कल्पना अतएव ‘कर्म’ नाम्नीय प्रसिद्धा—भोगवशिता शुभाशुभस्वरूपा—
माय्यम्)।

महर्षि के अनुसार तो यही निष्कर्ष निकलता है कि पूर्वजन्म में ललितसंस्काररूप 'माय्य' के अनुसर ही पुन-पुन-रोमाँ की प्राप्ति होनी चाहिए। और ऐसा ही होता भी है। परन्तु जो माय्य वर्तमान कर्म की मलप्रतिष्ठा करता है उनके सम्बन्धितमाय्य, प्रारब्धमाय्य भेद से दो विभाग हो जाते हैं। जो ललित अभिन्नमाय्यक माय्य (संस्कार) व्यापारशील नहीं करता वह तो ललितमाय्य है एवं जो अभिन्नमाय्यक माय्य (संस्कार) बल पड़ता है वह प्रारब्धमाय्य कहा जाता है। ललितमाय्य को उपायविरोध से नियन्त्रित किया जा सकता है किन्तु प्रारब्धमाय्य का विभी भी उपाय से निरोध सम्भव नहीं है। यदि हमने कोई उपाय नहीं किया, तो उभयविध माय्य प्रारब्धकर से मुक्त होकर ही बौद्ध बनेगा। यदि उपाय किया तो ललितमाय्य की विकल्प हो सकेगी। 'माय्य का विनाश टकता नहीं इस किंवदन्ती का उपाय न करने की दशा में वह कार्य होगा' - 'उभयविध माय्य का विनाश टकता नहीं। एवं उपाय करने पर वह कार्य होगा कि- 'ललितमाय्य का विनाश उपाय से टल सकता है किन्तु प्रारब्धमाय्य का विनाश नहीं टल सकता'। इसी से वह भी ठिक हो गया कि शास्त्रोक्त विधि-विधानों से ललितमाय्यरूप मुक्त को मुक्तस्वरूप में परिवर्तित किया जा सकता है। क्या प्रारब्धमाय्य के लक्षण में विधि-विधान लक्ष्य निरर्थक हैं? नहीं। यह तो स्पष्ट है कि विधि-विधान प्रारब्धमाय्य की वीक्षण नहीं कर सकते और एतावत ही यदि विधि-विधानों को नियमित करना चाहे, तो भी ठीक है। परन्तु विधि विधानों से आत्मा में एक ऐक्य कलक उत्पन्न हो जाता है जिसके प्रवेश से आत्मा लज्ज हो जाता है। इन लक्षणों का टल यह होता है कि विधि-विधानों के आभाव में प्रारब्धमाय्यरूप निर्वन्त बना हुआ जो आत्मा प्रारब्धमाय्य के भोग में अविरतबन्ध से केन्द्रबिन्दु बनता हुआ बचकर हो जाता है विधि-विधान-बन्ध बन्धित मुक्तसंस्काररूप से आत्मा की वह निर्वन्तता नष्ट हो जाती है। और वह शान्तिपूर्वक प्रारब्धमाय्यानुगत भोगों की योग्यता में लक्ष्य हो जाता है। मान लीजिए-विभी को प्रारब्धमाय्यक रतनरत्नका का आत्मा करना पड़ा। अविशिष्टक ने आवेष्ट किया इस नीलम पद्मिनी। नीलम पद्मिनी से महारा का योग बड़ बाका यह बात तो नहीं है। प्रारब्धमाय्यक महारा का जब तो इन्ने अक्षय भोगना पड़ेगा। पान्तु इस भोग से होने वाली अशान्ति से वह अक्षय क्या रहेगा। क्योंकि नीलम में शनिप्राय की प्रचलता है। इन्ने बारह करमे से लक्ष्मीवर्णनविशेषानुसार नीलमरत्नकी शनिप्राय का बीषा आक्रमण इन नीलम पर हुआ। और इनप्रकार शनिप्रायानुगामी आत्मा शनिप्राय के मलान् आक्रमण से क्या रह बाका। प्रारब्धमाय्यबन्धित अनिर्वाच्य मोर्ष में भी इमाय आत्मा अपनी पिरति न छोड़ पड़े अन्ति यह प्रेम्पूर्ण-शान्तिपूर्ण इनके अनुगमन में लक्ष्य हो जाय, एकमात्र इन शान्ति-स्वरूपन-मायाशक्ति के लिए ही अनिर्वाच्य माय्य के लक्षण में भी महर्षिों ने विधि-विधानों की उपयोगिता स्वीकार की है। मानते हैं विधि-विधानों से ललित माय्य के प्रारब्धमाय्यक अभिन्न (व्यापार शील संस्कारिक पुरापर्यक्रम) का माय्य लक्ष्य नहीं है। परन्तु विधि-विधानाभ्यास में इन प्रारब्धमाय्य बन्धित भोगों से आत्मा निर्वन्त बना रहता हुआ बने प्रारब्धमाय्य (फलानुभव) बना रहता है जैसे विधि विधानानुगमन में इन अभिन्न के रहने पर भी लक्षण के कारण यह प्रारब्धमाय्य नहीं बनने पाय। विधि-विधान-बन्धित मुक्त संस्काररूपक चमत्कार अभिन्न (प्रारब्ध) की वर करने में आत्मार्थ रहता हुआ भी लोभमाय्यनुसार मायावी मित्रों में आत्मार्थ रहता हुआ भी आत्मा को प्रारब्ध से बचाने में अक्षय लक्ष्य हो जाता है और इनप्रकार प्रारब्धमाय्यों के लिए आवेष्ट विधि-विधानसमक अनुष्ठानादि बन्ध आत्मा को एक बल ही प्रय से बचाने में लक्ष्य हो जाता है। अभिन्नमाय्यक प्रारब्धमाय्य के लक्षण

रक्तने वाले शान्ति-स्वर्त्यजन-प्रपन्नक विधि-विधानात्मक-धम्म की इसी उपादेयता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्कमनाशोऽस्ति, प्रत्यवायो न विद्यते ।

स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य श्रायते महतो भयात् ॥

—गी० २।४०।

निष्कर्ष यह निकला कि, धर्म्म-कर्म-उपायना-अनुष्ठानाणि कर्म्मों से सम्बन्धितमात्र का अवरोध हो जाता है, प्रारब्धमात्रजनित भोग भोगने का बल मात्र हो जाता है । यही इन विधि-विधानों की अमि धर्म्म (सम्बन्धितमात्रावरोधना) और अपेक्षिक (प्रारब्धमात्रावरोधना) उपबोधिदा है । एक उत्तर का और विश्लेषण कर लीजिए । मान लीजिए, एक व्यक्ति प्रारब्धकर्मवशात् बन्ध हुआ, जिसका भोग केवल बन्धन पर विद्यमान है । इस प्रारब्धकर्म से व्यक्ति काय अवरोध हो गया है किन्तु इससे मृत्युयोग नहीं है । औन जानता है कि-रोगात्मक भोग के बनक इस प्रारब्ध अभिक्कम के रोगात्मक भोगरूप से चीख होते ही सम्बन्धितमात्रावरोध में से वह अभिक्कम प्रारब्धकर्म में परिणत होने वाला है जिसका भोग है-‘मृत्यु’ । यदि प्रारब्ध कर्मदशा में वह व्यक्ति मृत्युञ्जयादि विधि-विधान कर रहा है अथवा तो उत्तरेवा ब्राह्मण से करता रहा है, तो सम्बन्धित भुक्तकृत से (आगे वाकर प्रारब्धमात्रकर्म में परिणत हो जाने वाला, किन्तु) अभी सम्बन्धितमात्रकर्म में ही परिणत मृत्युभोगजनक, सम्बन्धित (किन्तु प्रारब्धोन्मुक्त) वह अभिक्कम क्षीय बन जाता है । इस प्रकार प्रारब्धमात्रजनित रोगात्मक भोग में कृतप्रदानद्वारा शान्तिप्रदान करने के लिये राध इसके लक्ष्य से रोगी मृत्युभोगजनक सम्बन्धित मात्रा के क्षयद्वारा महामयकर्म कृत्य से मो बाध पा जाता है । किंतु समझ औन या सम्बन्धित अभिक्कम प्रारब्धकर्म में परिणत होकर क्या अहित कर देता है ? यह इन सामान्य व्यक्तियों के लिए बैसे अज्ञात विषय है, एवमेव शास्त्रीय विधि-विधानों से बनित भुक्त संस्कारजनित किंतु समझ सम्बन्धितमात्रा, और प्रारब्धमात्र में क्या परिवर्तन कर देता है ? यह भी अज्ञात विषय ही है । सभी तो इस संस्कारिक मात्रावाद को ‘अज्ञात’ कहा गया है । मान लीजिए-भुक्तसंस्कारजनक अनुष्ठानादि धम्म-कर्मों से न तो रोगनाशक प्रारब्धमात्र में ही कोई शान्ति मिली न मृत्युयोग का ही अवरोध हो सका । फिर भी इसे निरर्थक इसलिए नहीं माना या कहा कि इस धर्म्मानुष्ठान से उत्पन्न भुक्त संस्कार इस धम्म में न लगी, किसी न किसी धम्म में प्रारब्धदशा में आकर अवरोध ही अनुष्ठानादी केण । धर्म्मवश प्रत्येक दशा में अभ्युदयजनक ही है । इससे यदि वास्तविक कल नहीं होता, तो एतावत् ही इसे अनुपादेय नहीं ठहराया जा जाता । शास्त्रोक्त विधि-विधानात्मक धर्म्म-वश की इसी सार्वत्रिक-आवश्यक उपादेयता का समर्थन करते हुए भगवान् कहते हैं—

पाव ! नैवेह, नामुत्र, विनाशस्तस्य विद्यते ।

न हि कम्पात्तकृतं कश्चिद् दुर्गतिं यात ! गच्छति ॥

प्राप्य पुण्यकृतान्शोकान्-उपिप्त्वा शास्वतीं समा ।

शुचीनां भीमतां गह योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥

१

—गीता ६।४०, ४१।

प्रारम्भिकार्थ की अतिशय प्रकृता से मान लीविए यावज्जीवन धर्ममार्ग का अनुसरण करते हुए भी एक परम धार्मिक व्यक्ति जीवन पर्यन्त दुःखी ही बना रहा। क्या ऐसे व्यक्ति के धर्मबन्धित सुख धर्म परते गए ?। मगधान् करते हैं—नहीं। इन सुख-संस्कारों के बल से इसे परलोक में उद्गति प्राप्त होगी। एवं उत्तर जन्म में अस्मत्त कुल में यह जन्म होगा। 'अच्छा' लडा 'अच्छा' की रहेगा। मलेशिका न रहने परलाय हुआ कुनीन अपने संस्कारकाल में प्रारम्भिकता होने वाले मलेशिका को अवरण ही निर्बल बना देगा। इसीलिए तो मगधान् ने कहा है कि, अष्टाध्याय्यार्थ (माय्यार्थ) की समस्त सुलभ्यते में बड़े बड़े विद्वान् भी कुण्ठित हो जाते हैं। मानवीय मन अपने बल पर इनका इष्टिमित्येव निर्णय कर डाले वह अस्मत्त है। किन्तु तत्त्वज्ञानियों में अपनी बोधवृत्ति से इन तर्कों का त्यागकार किया है, उनका कथनरूप वास्तव ही हमारे लिए अमृत का एकमात्र निरापद पन्था है। किन्तु भी स्वर्गीकरण किन्तु काम तथापि अष्टाध्याय्यज्ञानशून्यो के लिए माहुर अष्टाध्याय्यज्ञानशून्य व्यक्ति के द्वारा किया गया वह 'अष्टाध्याय्यज्ञानशून्य' सर्वज्ञाना लोकोत्तरेक नहीं बन सका—'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं तं धर्माध्याय्यव्यवस्थिते इत्येव शरणीकरणीयम्' ।

११७-समचोपाय की सर्वव्याप-धेनुता—

प्रकृतमनुश्रवणः । 'मोक्ष' रूप प्राकृतिक उपाय ने प्रारम्भिकार्थ (प्रारम्भिकार्थ) को अवरण दीप्त हो जाते हैं, परन्तु अष्टाध्याय्य (अष्टाध्याय्य) धर्मों के लोकोत्तर रह जाते हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि, इस प्राकृतिक मोक्षमार्ग से इस जन्म में न गयी, तो किसी न किसी जन्म में तो अष्टाध्याय्य संस्कारों का बल ही ही बाधण। फिर पुण्यार्थ करने की क्या आवश्यकता ?। पारब्रह्मण्यार्थान्तर से सुसंस्कृत एक मित सम्भवतः इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य बना कर विवेक में कहा करते हैं कि—“मादं बर द्रुम मर करते हो कि, बिना प्रयास के भी एक दिन अष्टाध्याय्य संस्कारों का प्रारम्भिकता होने वाले मोक्ष से एकजन्तु उपलब्ध हो ही बाधण तो फिर हम धर्म-धर्म के पक्षों में हम क्यों पड़ें ?। धर्म-धर्मों पर करने करने मोक्षे कभी मुक्त हो क्यों हम मोक्षी देर में स्वर्ग पहुँचेंगे”। इन वाचक-विचारों को इसीलिए हमें निरस्त मानना पड़ेगा कि विविध विज्ञानमय धर्माध्याय्यलक्षण पुण्यार्थ न करने से प्रारम्भिकधर्मबन्धित शुभ-शुभमोक्ष अतिरिक्त ने ज्ञाना को उत्तीर्ण करते रहेंगे। धर्म-धर्म के पक्षों के अतिरिक्त दृष्ट्य का भी कुछ हम करेंगे, करते हैं, वह अष्टाध्याय्य-धर्मों का ही तो पक्ष माना जाएगा। उनके अनुप्राण से आत्मपरीक्षा ही स्वरूप से उत्पन्न होगी ही, इसके अतिरिक्त विवेक-मोक्षी मित्रों का वह सुखलान भी दूर बाधण कि अष्टाध्याय्य धर्मों का प्रारम्भिकता से स्वतः एवं मोक्ष हो बाधण। अष्टाध्याय्य धर्मों का मोक्ष अवरण हो बाधण परन्तु इस मान जीवन में हम को धर्म करेंगे, उनके आध्यात्मिक संस्कारों की हम करेंगे, किन्तु जीवन में हीन नहीं हैं। आध्यात्मिक संस्कारों का प्राणम न कभी निष्ठण करीगा, एवं न मित्रों का शुभ-स्वप्न कभी लक्ष्य हो लगेगा ।

• अष्टाध्याय्य और पुण्यार्थार्थ की विचार तात्त्विक मीमांसा के लिए देखिए—अष्टाध्याय्यपत्र पत्रमय निरुक्त का 'दुःखसम्पदमोक्षा' नामक द्वितीय पत्र ।

तात्पर्य—गुणानुगत भोग—उपाय से प्रारम्भकर्ममात्र का ही स्वप्न होगा। उचितकर्म एवं आगामी कर्म, इन दो का स्वप्न भोगोपाय से न हो सकेगा। सात्त्विक संस्कारभोग मुक्तात्मक है, राक्षस संस्कारभोग दुःखात्मक है, एवं तामस संस्कारभोग मोहोत्पन्नक है यह पूर्व में कहा जा चुका है। तीनों गुण परस्पर स्वप्नाविरुद्ध हैं। तीनों में अनन्य शत्रुता है। तीनों परस्पर एक दूसरे का अभिमित्र करते रहते हैं। बड़ा हुआ स्वप्नगुण रक्ततमोगुणों का, बड़ा हुआ रक्तगुण स्वप्न-तमोगुणों का, एवं बड़ा हुआ तमोगुण स्वप्न-रक्तगुणों का अभिमित्र करता रहता है। तीनों स्वप्न अभिमित्रत्व से परस्पर शत्रुत्व नष्ट है, परन्तु स्वप्नकार यह है कि, तीनों एक दूसरे के आश्रित स्नेह करते हैं। रक्ततम को मूल बना कर ही स्वप्नगुण प्रतिष्ठित रहता है, स्वप्न-तम को मूल बना कर ही रक्तगुण विकसित होता है एवं स्वप्न-रक्त को आधार बना कर ही तमोगुण स्वप्नाधार में समर्थ बनता है। पुत्रप्रसव में माता को पुत्रजननप्रयुक्त परम सुख भी है, एवं जननप्रयुक्त कष्ट भी है। हमारा स्वप्नानुगत प्रत्येक सुख दुःखमूलक है, रक्तगुणानुगत प्रत्येक दुःख सुखमूलक है, एवं तमोगुणानुगत प्रत्येक मोह सुखदुःखमूलक है। इसप्रकार परस्पर आश्रयता परस्पर अभिमित्र, परस्पर मिथुनता को अपने कर के ही हो गुणा नुगता मात्रावली प्रकट होती है, वैसाकि—‘अन्योऽप्याभिमित्र-आश्रय-जनन-मिथुन-पूतयश्च गुणाः’ (तत्त्वप्रकाश) इत्यादि दार्शनिक सिद्धान्त में भी प्रमाणित है। भोगानुगत स्वप्नगुण मलिनस्वप्न है। शुद्धस्वप्न गुणमय्यादा से असीत है। मलिनस्वप्नानुगत कर्म गुणात्मक बनते हुए बहो कर्मन के प्रवर्तक हैं बहो शुद्धस्वप्नानुगत कर्म गुणात्मक बनते हुए कर्तव्यबोध कर्मननिवर्तक माने गए हैं।

जैसे गुणानुगत भोग से प्रारम्भ का उपसृष्ट होता है, वैसे प्रतिक-वस्तु नामक दूसरे उपाय से उचित संस्कारों का उपसृष्ट नहीं होगा, अतः अभिमित्रमात्र होगा। ‘पुरयेन पापमपनुदति पापन पुत्रयमपनुदति’ इति श्रुति सिद्धान्त के अनुसार कर्म जनित पुत्रवर्धनकार से उचित अशुभ संस्कारों का अभिमित्र हो जायगा। तात्पर्य—भोगोपाय में प्रारम्भकर्म पुण्य-पापात्मक दोनों संस्कारों का उपसृष्ट होगा है। एवं प्रतिक-वस्तु उपाय से पाप, अपराध हा पुण्य, दोनों में से एक उचित संस्कार का अभिमित्र होगा। यहाँ आकर हमें इति निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, धर्माचरणाय प्रतिक-वस्तु नामक उपाय भी शाश्वतस्वप्न का कारण नहीं बन सकता। शास्त्र-विद्वद् धर्माचरण ही कर्म योग है। कामनामय इति कर्म योग से मानते हैं प्रारम्भभोगों में आत्मा उत्तीरित नहीं होता। तब ही उचित संस्कारों में से अशुभ संस्कारों का अभिमित्र भी हो जाता है। परन्तु इतने न तो उचित संस्कारों का आश्रयित्व उच्छेद ही होता, एवं न आगामी संस्कारों का ही निरोध होता। अतएव—‘प्लवा इति अट्टा प्लवाणा—अप्राप्तोक्तप्रसव पशु कर्म के अनुसार यत्न-तरो-दान-इह-आर्त्ता-दत्तादि-सर्वधर्मात्मक शास्त्रीय कर्म भी कामना के लक्ष्य में गुणात्मक बनते हुए पुण्य के धर्म पुण्यार्थ-लक्ष्य आत्मकर्मनियमों के कारण नहीं बन सकते। अतः प्रारम्भ में परस्पर प्रकृत कर्म योगनिष्ठ के इति काम-प्रतिपक्ष गुणमात्र का लक्ष्य बना कर ही मगधान् में ‘श्रेष्ठव्यवस्था येन’—‘कामात्मन-स्वर्गपरा’—‘भार्गव्य-प्रसन्नानाम्’—इत्यादिक्रम से इति कामकर्म योग का पूर्ण निरोध किया। और तब ही इति लक्ष्य में यह संशयन अनिवार्य माना कि, मिथुनमात्र-निरोधण के लिए द्वय धर्म करने इति धर्म पथ से कामना का बहिष्कार करना पड़ेगा। कामनिर्वाह से प्रकृतमूलक यह कर्म निहितमूलक बन जायगा। एवं निहितमूलक ऐसा कर्म निष्कामकर्मयोग बन जायगा, जिसने आगामी संस्कारों का भी निरोध हो जायगा उचित संस्कारों का भी उपसृष्ट हो जायगा, एवं प्रारम्भ-भोग-भुक्ति में आगामी स्थिति भी न

होमा । यही वह तीसरा 'कर्म' नामक उपाम है जो अपने ही अतिराग से योग, और काम्यकर्म-बोधात्मक प्रतिफलक नामक दोनों उपामों की अपेक्षा ज्येष्ठ, तथा मोक्ष बन रहा है ।

११८-निष्कामकर्मयोगसंज्ञा समन्वययोग-

काम्यकर्म योग प्रवृत्तिकर्म है, एवं यह मलिन कल्याणगत है । अतएव यह स्वयं भी संस्कारकर्मनप्रवर्तक बन रहा है, तथा आगामी संस्कारकर्मननिवृत्ति में भी यह असमर्थ है । हाँ केवल वञ्चित संस्कारों का अभिभव इसके लक्ष्य है । निष्कामकर्मयोग निवृत्तिकर्म है, यह शुद्ध कल्याणगत कला हुआ गुणातीत है । अतएव यह स्वयं भी संस्कारकर्मननिवर्तक है एवं आगामी संस्कारकर्मन का भी आवश्यक है तथा इसके प्रवृद्ध ज्ञानाग्नि-द्वारा वञ्चित संस्कारों का भी आत्मनितिक उपक्षय हो जाता है । जो कर्म कर रहे हैं, वे ज्ञानी बाहर वञ्चित-संस्कारकर्म में परिणत होते हुए आत्मकर्मन के कारण न करें वा पहिले से वञ्चितकर्म हैं-वे प्रारम्भकर्म में परिणत न हो कर तत्रैव नष्ट हो जायें प्रारम्भकर्म वञ्चित योगों से आत्मा उपरिष्ठित न हो, वह स्वयंमोक्षन विधि एकमात्र हत निष्कामकर्म योग पर ही निर्भर है । आत्मा स्वस्वकर्म से पवित्रानन्दन है । आनन्द विज्ञान तथा तीनों आत्मा के अमृतवर्त्म है । एवं विनाश, बाध्य हुआ वे तीनों मृत्युवर्त्म हैं । जब तक प्रवृत्तिप्रधान काम्यकर्म का साम्राज्य है तब तक तीन मृत्युवर्त्म सुपविष्ट हैं, अतएव तब तक अमृतवर्त्म का निष्पन्न अवलम्ब है । बन्ध पथ यही अमृतलोक है जो निवृत्तिप्रधान है । निवृत्तिप्रधान निष्कामकर्म योग-गुणान से आत्मा में संस्कारकर्मनकर्म से अभिनिविष्ट रहता का आत्मनितिक उपक्षेपक हो जाता है एवं प्रत्यक्षकर्म ललाविष्टवी विनाश विमलविष्टवी बाध्य तथा आनन्दविष्टवी हुआ तीनों मृत्युवर्म्मा से आत्मा कुटक्षरा पा जाता है । यही निष्कामकर्मयोग तुष्टियोग, अतएव अतंगवर्त्मकर्मन से 'वर्त्मतुष्टियोग' कहाया है, जिसका मोक्षिककर्मकर्म अमुक्तानप्रकार तथा अन्यन्त अतिराग कहलाने वाली किया ही 'अपरिधिपा' कहाई है ।

११९-वर्त्मयोग, आर वर्त्मतुष्टियोग-

लोकप्रवञ्चित-काम्यकर्मयोग गुणागुणावी छव-संस्कारों का बनक बनता हुआ 'वर्त्मयोग' अवश्य है । परन्तु अमना (बीषेष्टा) की प्रधानता से इसके हत वर्त्मयोग में श्रुतिप्राधान्यक, अतएव अतङ्ग, अतएव य अभिनिवेशात्मकसंस्कारकर्मननिवर्तिका विद्यातुष्टि का अध्यय के विद्यामय से छायाव योग नहीं हो पाया । अतितु अमनामक संस्कारकर्मनकर्म अभिनिवेश से यह तुष्टि अपने आपकी कामनामक मन के प्रति उपरिष्ठित करती हुई अपने अतङ्ग श्रुतिप्राधान्य से वञ्चित होकर अध्यय के अविद्यामान की अनुपमिनी बन जाती है । 'तुष्टियोग' लक्ष्य से वञ्चित होता वर्त्मयोग कामनाप्राधान्य से स्वर्गि मुक्तों का लक्ष्य बनता हुआ भी अपने कामनामक विगुणामक से ललता आत्मकर्मन का ही कारण बना रह जाता है । एवं'वर्त्म वर्त्मयोग ही भगवान् की दृष्टि में लक्ष्य सिद्ध हुआ है । वर्त्मवाम की हत अभिनिवेशात्मिका विमोक्षिका से बचने के लिए लक्ष्यवादिकी में यह उपाय हमारे सामने रहता कि कर्म का एकमात्र बरित्याय कर देना चाहिए । लक्ष्यनिधी के हत उपाय का भगवान् ने प्रवक्ष्य शब्दों में इच्छित लक्ष्यन निधा कि, कर्म आत्मा का लक्ष्य है अतएव उक्त पञ्चमस्तः परिणाम अवलम्ब है । इसके अतिरिक्त काम्य अपने स्वरूप से स्वयं कर्मन का भी कारण नहीं है । कर्मलक्षण अनभय कर्म कर्मन का कारण नहीं, कर्म लक्ष्यमध्य में लोकप्रवृत्तकर्म लोच-काम्युद्यत का अभाव, इन्हीं लक्ष्य कारणों से कर्मलक्ष्यतुष्टिक-

संख्या संस्मृतिज्ञा (ज्ञानयोग) का कोई महत्त्व नहीं। काम्यकर्म योग प्रत्येक दशा में कर्त्तव्य का कारण, कर्म त्यागसंयम ज्ञानयोग असम्भव, ऐसी दशा में हम निष्ठ मार्ग का अनुसरण करें। इसी प्रश्न के समाधान के लिए भगवान् ने निष्कामकर्म योग का स्वरूप हमारे सामने रक्खा है। शास्त्रसिद्ध, वर्णाश्रमानुगत आधिकारिक बन्धनवाचक कर्मों को ईशकामानुगत बना देने से काम्यकर्मयोग निष्कामकर्म योग बन जाता है। और ऐसे कर्म योग से उत्पन्न संस्कार अभिनिवेशात्मक कर्त्तव्य के कारण नहीं बन पाते। अस्तित्व कर्त्तव्य निवृत्त कर्म बन जाते हैं। किस प्रकार राक्षसविद्या की मूलप्रतिष्ठा 'अनासक्ति' है, राक्षसविद्या की मूलप्रतिष्ठा 'ईश्वरानन्यता' है, सिद्धविद्या की मूलप्रतिष्ठा 'अन्तर्बोधि' है, एवमेव इस आर्षविद्या की मूलप्रतिष्ठा 'निवृत्तकर्म' माना गया है। ज्यों ज्यों आप समर्थानुगत-विषयमर्त्तनरूपक निवृत्तकर्म रूप धर्म का अनुगमन करते जायेंगे त्यों त्यों अभिनिवेशात्मक संस्कारकर्त्तव्य शिथिल होते जायेंगे। यही इस धर्मबुद्धियोग की साम्यावस्था कहलाएगी। अभिनिवेश की आत्यन्तिक निवृत्ति पर धर्मबुद्धियोगानुगता बुद्धि धर्म्य के साथ युक्त होती हुई सिद्ध-धर्म बुद्धियोगसम्पत् प्राप्त कर लेगी। इसप्रकार धर्मबुद्धियोगोद्भूत साथ धर्म बुद्धियोग से कालान्तर में सिद्धधर्मबुद्धियोग प्राप्त हो जायगा। सामान्यतः, व्यवहार, शुभशुभ, आदि सांसारिक इच्छाओं से भिन्न आप विचलित न पायें, बिना आप का लोक-धर्म्युद्वेग के लिए कर्म में प्रवृत्त देखें बिना उदात्तप्रसाद से सम्पन्न देखें समस्त जीविए उन्हे धर्मबुद्धियोग-निष्ठा प्राप्त करली। एवंविध योग ही गीतासम्मत धर्मयोग है—

धूर्त्तन्वेदह कर्माणि जिजीविषेच्छर्त्त ममा॥

एवं त्वयि नान्यथेष्टोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

—ईशापनिषत्

१२०—धर्ममार्ग, और नीतिमार्ग—

एवंविध धर्म बुद्धियोग ही भारतीय 'साम्ययोग' है जिसे वह मान्यता में हम 'साम्यवाद' कह सकते हैं जिसका 'धर्मनीतिमूलक साम्यवाद' नामक पूर्ण परिच्छेद में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। जिसका निष्कर्ष यही है कि धर्ममूला नीति ही भारतीय साम्यवाद है जिसका आधार विचारमा बना हुआ है। धर्ममूला नीति ही भारतीय राजनीति है, जो धर्म में ही अन्तर्भूत है। अतएव राजनीति का सम्बन्ध भारतीय शास्त्र कलागणों वहाँ धर्म का ही संरक्षक माना गया है। वह मान्य युग में स्थित प्रजा जिसे राजनीति कहती है वह राजनीतिपथ भारतीय परिभाषा में अधर्म्मपथ ही कहलाया है। क्योंकि धर्मव्यभिक्ता अधर्म्मस्थित ऐसी राजनीति से कभी आत्मसाप्ति नहीं मिल सकती। 'पोलीटिक्स' नाम से प्रत्यक्षमात्र में प्रसिद्ध राजनीति को आधार बनाने वाला विषयमर्थानुगत-समर्थानात्मक कथित साम्यवाद बलुगन्ध विषमवाद ही है, जिसका मूल आधार भूतोपधि ही माना गया है जो कि भूतोपधि 'उत्पत्ति' निर्वाचन के अनुसार आत्मसाप्ति में भूतोपधि का कारण बनती हुई भी अन्तर्धोगत्वा समर्थानात्र का ही कारण बनती है, यद्यपि सामान्य मनु ने कहा है—

अधर्म्मोऽप्येवमेव तावत् ! ततो भद्राणि पश्यति ।

एत सपत्नाञ्जयति समूहस्तु विनश्यति ॥

—मनु ४।१०४।

[illegible]

पर अशान्ति का प्रसार करना ही उन काकसर्पों पर इनका प्रधान पुरुषार्थ बन जाता है, वैसाकि धर्मवन्धित, अतएव धर्मस्वरूपमूला वर्धमाननीति के दुष्परिणामों से सर्वथा प्रमाथित है।

उपर धम्म मूला नीति में विरवारमा लक्ष्य बना रहता है। धार्मिक पुरुष का वह हा प्रत्यक्ष रहता है कि, उस शरीरों में वह एक ही ईश्वरत्मा प्रविष्ट है। अतएव उसकी वह निष्ठा हो जाती है कि विरवारान्ति से ही स्वप्नप्रशान्ति-सुख सम्भव है। इस व्यापक निष्ठावृत्ति के प्रभाव से वह निःस्वार्थ विरवाभ्युत्थार्थ ही कर्मों में प्रवृत्त होता है। अतएव प्रारम्भकर्म अनित्य पुष्पादि के आक्रमण होने पर भी इसकी अप्रमत्तमत्तया स्वामात्मिक शान्ति से व्युत्पन्न नहीं होने पाती। यह विरवार कीविए कि, नैतिक पुरुषों के कर्म वहाँ भूतमात्र-प्रधान हैं, वहाँ धार्मिक पुरुषों के कर्म प्राणमात्राप्रधान हैं। प्राण स्वस्वरूप से अतृप्त है, अतएव उत्पन्न कर्म संस्कारकचन से घृण्य रहते हुए सूतस्थिति में आत्मा को आलस्य नहीं होने देते। भूतस्मृति भी मिला जाती है और उसकी आवृत्ति न होने से आत्मशान्ति भी सुरक्षित रह जाती है। ऐश्वर्यौक्तिक अमृत्युद्वय तथा पारलौकिक निज्येयस दोनों पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं। एवं वही 'अतोऽमृत्युद्वयनिःश्वससिद्धि' स धर्म्म' लक्ष्य धर्म्ममार्ग का सर्वोत्कृष्टत्व है। भूत स्वस्वरूप से अतृप्त है। अतएव उत्पन्न कर्म संस्कारकचन-महावि के कारण बन जाते हैं। करने भर के लिए आरम्भ में भूतस्थितपुरुष नैतिक पुरुष भूतस्मृति प्राप्त अक्षय कर लेते हैं। परन्तु प्राप्ति में, प्राण के संरक्षण में संस्कारकचन में, परशान्ति में तत्त्व आवाद-मस्तक इस भूतस्थित्युत्था में अशान्ति का ही साक्ष्य रहता है। धार्मिक आधिभौतिक-प्रायों में संशयित, अतएव केवल ऐश्वर्यौक्तिक अर्थिक सुकप्रवर्तक भूतमात्राप्रधान नीतिमार्ग में, एवं दिव्य-आधि-दैविक तत्त्वों से संशयित, अतएव-उभयलौकिक शारवण्यान्तिप्रवर्तक प्राणमात्राप्रधान धम्म मार्ग में वही महान अन्तर है जिसे लक्ष्य बना कर ही जीवनयात्रानिर्वाह के दृष्टभूत धर्म्म और नीति नामक दोनों मार्गों में से किसी एक का अनुसरण करना चाहिए।

१२१-आर्पविद्यानुगत धर्म्मबुद्धियोगनिष्कम्प—

अनेक दृष्टिों से आर्पविद्यानुगत धर्म्मबुद्धियोग के स्वकम्प-विरलेषण की चेष्टा को गर्ह। 'अपिमि-बहुधा गीतम्' (११।४) के अनुष्ठान मन्त्रद्वारा महर्षिर्वा के द्वारा आदिष्ट शास्त्रसिद्ध वर्णान्मातृगुप्त कर्म' ही 'कम्म बोम कम्मवा'। मगवान् ने इसका लोकप्रवृद्धि से रक्षित अवसर किया परन्तु संशोधन के साथ। अतिशयप्रभातानुगत कम्म बोम स्वर्गादि अन्न फलों से अपिमिनेष्ट का कनक बन रहा था। अन्नप्रमातृक-परित्याग का लक्ष्य बना कर मगवान् ने इस कम्म बोम को बुद्धियोगतत्त्व प्रदान की। इसी संशोधन से अतिशयप्रदायकशक्ति वह कम्म बोम 'निष्कामकम्म वागात्मक'—'धर्म्मबुद्धियोग' कहलाया जिसके समर्पक चचन—गी म् बहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथम स्तर में उद्भूत कर दिए गए हैं (देखिए पृष्ठ ३४० से ३४८ पर्यन्त)। धर्म्मबुद्धियोगानुगता आर्पविद्या का वही संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है।

इति-बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचनात्मक द्वितीयप्रकरणं

‘धम्मबुद्धियोगानुगत-आपविद्यास्वरूपनिर्वचनम् नामक-

प्रथमस्तम्भः

(२)—१

श्री

‘बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचन’ नामक
द्वितीयप्रकरणान्तर्गत

‘धर्मबुद्धियोगानुगत-आर्षविद्यास्वरूपनिर्वचन’ नामक
प्रथमस्तम्भ-उपरत

(२)-१

श्रीः

अथ-बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचनात्मके
द्वितीयप्रकरणे

‘ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत-राजविद्यास्वरूपनिर्वचनम्’ नामक
द्वितीयस्तम्भ

(२)-२

में स्वच्छन्द विहार करता रहता है, एवमेव हृदयस्थ आत्मा अपने प्राणात्म से हृत् प्राणमण्डल में स्वच्छन्द विचरण करता रहता है। अतएव प्राणात्मक यह धाममण्डल हृदयस्थ आत्मा का 'विभूतिमण्डल' कहा जाय है। यही मण्डल 'महिमा मण्डल' नाम से व्यक्त हो हुआ है। बलुपिरक हृदयस्थ आत्मा का पहिला प्रपत्तिस्थान (व्यपत्तिस्थान) है अतएव विज्ञानमध्य में वह खुरस्यपिण्ड 'पद्म' कहा जाय है। बहिर्मुखित आत्मा का द्वितीय प्रपत्तिस्थान है अतएव यह 'पुनःपद्म' कहा जाय है। हृदय 'हृत्पुच्छ' है, पिरात्मक 'पद्' अन्तःपुच्छ है मण्डलात्मक 'पुनःपद्' 'बहिःपुच्छ' है। हृत्पुच्छात्मक तत्त्व मनोमय आत्मा है यही उक्त है, यही 'पद्मपति' है। अन्तःपुच्छात्मक तत्त्व प्राण है यही कार्य है यही 'पद्म' है। बहिःपुच्छात्मक तत्त्व वाक् है यही अशीति है यही 'पद्म' है। मनः प्राण-वाक्-उक्त्य-कार्य-अशीति, व्युपत्ति-पद्म-पुच्छ, इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध विस्तृत यही तत्त्व 'प्रकाशपति' कहा जाय है जो अपने हृत्पुच्छ की अपेक्षा से अनिरुद्ध, अन्तःपुच्छ की अपेक्षा से खुरीण एवं बहिःपुच्छ की अपेक्षा से सर्व नामों से प्रसिद्ध हुआ है। हृदय भी यही है अन्तःपुच्छ भी यही है, बहिःपुच्छ भी यही है—'प्रकाशविस्तेवर्ध सर्वं, बहिर्दं किञ्च'।

३-ईश्वर क विविध विवध, और उसके विविध ऐश्वर्य-विवर्ध-

प्रत्येक बलुपिरक के केन्द्र में प्रतिष्ठित अनिरुद्धप्रकाश ही तत्त्वतः का 'ईश्वर' है। हृत् उक्त्यात्मक हृत् ईश्वर (अन्तर्धामी) का प्राण-वाक्मय बहिर्मुखित ही हृत्प्रकाश 'ऐश्वर्य' है। महिमा मण्डल ही ऐश्वर्य है। और मण्डलमण्डल स्वर्णेश्वर का ऐश्वर्य है, अन्तःपुच्छात्मक मण्डल अक्षरेश्वर का ऐश्वर्य है। पार्थिव रणधाममण्डल पृथिवीश्वर का ऐश्वर्य है नमस्त्यागमण्डल अक्षरेश्वर (स्वप्न) का ऐश्वर्य है वास्तवमण्डल धारणेश्वर का ऐश्वर्य है। स्व पर ए व पृथिवी के केन्द्रस्थ ईश्वरों के नमस्त्याग मण्डल-अक्षरमण्डल अन्तःपुच्छा-रन्तःपुच्छा ऐश्वर्यों को अपने ऐश्वर्यमण्डल में मुक्त रखने का अकारणीय विरक्त्यैक-परिवेष्टिता अक्षरत्व नामक गोदरीपुच्छेश्वर का ऐश्वर्यमण्डल अन्तःपुच्छात्मक पद्माक्षर है। पद्माक्षरात्मक ऐश्वर्य से मुक्त महामायावन्दित एते एते अक्षरम ईश्वर, और उनके ऐश्वर्यों का अपने धर्म में रखने वाला परमेश्वर परमेश्वर है। यही ईश्वर है, और यही उक्त्य-अक्षर्य है। अक्षर ईश्वर है अक्षरमण्डलमय वास्तवमण्डल ऐश्वर्य है। यही विभूति, वैश्वर्य सारणी पुनःपद्म वपटकर, महिमा आदि विविध नामों से प्रसिद्ध हुआ है। अक्षरम भी ऐश्वर्याशाली उही ईश्वर का अक्षर बना हुआ आध्यात्मिक ईश्वरकन मे लुभित है। अतएव कर्ण विरक्त्यैक्य उही का ऐश्वर्य है। ईश्वर-वास्तवमण्डल की अपेक्षा से अक्षरम कर्ण ऐश्वर्यों का अधिष्ठान बन रहा है। यही 'ऐश्वर्य' नाम की मण-उत्पत्ति है जिसके अक्षरम म बीच में प्रगल्भा का उपावेश हो रहा है।

४-विभूति, एवं योग-लवण ऐश्वर्य-

विभूतिमण्डल ईश्वर्य ही 'आद्यमण्डल' माना गया है। वह आद्यमण्डल, अन्तर्धित बहिर्धित, ऐश्वर्य म दा मानों में विभक्त है। आद्यमण्डल विभूति अन्तर्धित है भूतमण्डल विभूति बहिर्धित है। आद्य इन्द्रियमण्डल, शरीर मण्डल, पुनः, आदि अन्तर्धित में अन्तर्धित है। एवं अनुचर पशु आदि चेतनमण्डल, तथा अक्षर, अक्षर, आद्य उपाद्य भाग (उपाद्यवैक्य) आदि अपरमण्डल रानी का बहिर्धित में अन्तर्धित है। अक्षर इन उपाद्य भागों में विभूतिमण्डल आद्यमण्डल तथा अन्तर्धितमण्डल में प्रतिष्ठित रहता है। बहिर्धित-

सीमा पर्यन्त आत्मा व्याप्त रहता है, इसी आधार पर भुक्ति का "यावद्विषयं, तावद्भूतमा" यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है। यदि उभय विषय के साथ आत्मा का विभूति सम्बन्ध है तो आत्मैश्वर्य (आत्मविकाश) पूर्वक से विकसित है। कारण-विभूतिसम्बन्ध असङ्गतसम्बन्ध है। असङ्गतसम्बन्ध का अर्थ है जैसे बल में रहता हुआ भी अकारणित से दृग् रहता है, एवमेव असङ्गतसम्बन्धित आत्मा असङ्गतसङ्ग विभूतिसम्बन्ध से सङ्गतसम्बन्धित विषयों में प्रवृत्त रहता हुआ भी विषयात्मक से निर्गुण रहता है। यदि उभयविषय के साथ आत्मा का योगसम्बन्ध है, तो आत्मैश्वर्य सामान्यरूप से विकसित रहता है। यदि उभयविषय के साथ आत्मा का कर्मसम्बन्ध है तो आत्मैश्वर्य स्वतन्त्र-विपरीतसिद्धि से व्याप्त होता हुआ अपना विश्वव्यापक ऐश्वर्यवर्धन स्वीकार करता है। अतएव कहना पड़ेगा कि, योग और विभूति, इन दो सम्बन्धों में ही अन्तर्विषय-विविधियुक्त आत्मा का ऐश्वर्य नामक मग स्वकर्मात्मक स्वरूप से विकसित रहता है। अतएव मगवान् ने बुद्धियोग के विकास के लिए अन्धकारमा के विभूति, तथा योग, इन दो सम्बन्धों में ही उपादेय माना है। देखिए !

एतां विभूतिं, योगं च, मम यो वेति तच्चत ।

सोऽविकम्पन योगेन युज्यते नात्र संशय ॥

—गी १०।५१

५ ऐश्वर्य की साध्य, तथा सिद्धावस्था—

आत्मैश्वर्य ही विश्वेश्वर्य की प्रतिष्ठा है, एवं प्रायैश्वर्य ही भूतेश्वर्य की आधारभूमि है। स्थिति का ही स्वीकारण कीजिए। आत्मा अपने प्राणप्रधारक से ऐश्वर्यशाली है विभूतिमान् है, महिमान् है। ऐसे विभूतिमान् आत्मा के साथ मुक्ता बुद्धि भी ऐश्वर्यशालिनी बनी रहती है। एवं विद्याबुद्धि से मुक्त मन मानव संकल्प तथा विचारबाध, सबकुछ ऐश्वर्यशाली बने रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों की दृष्टि में ही ऐश्वर्य रहता है। लोकमान्य में ऐसे व्यक्तियों के लिए ही 'निगाहरीलत' उपाधि प्रयुक्त हुई है। आत्मैश्वर्यविकाश से इनका अन्तर्बन्ध स्वयं पूर्णभाव के ही दर्शन करता रहता है। इस पूर्णभाव के अन्तर्गत से अन्त-भूतेश्वर्य अपने आप इनका मोक्ष बन जाता है। जो व्यक्ति अपने अन्तर्बन्ध में यह मानना रखते हैं कि, हम उस ऐश्वर्यशाली ईश्वर के बन्ध हैं हममें सब कुछ है, हमारा सब कुछ है उनकी इस अस्तिमान्ता कर्मात्मकता का नाम ही 'ऐश्वर्य' है। इसी आत्मैश्वर्यमात्मकता से भूतेश्वर्य अविमर्शित ही इनका कीर्तन बन जाता है। ठीक इसके विपरीत किन्हीं यह मानना रहती है कि, हम तो दरिद्री हैं हमारे पास क्या रहता है हमारे पास सब नहीं-किसी नहीं, उनका आत्मैश्वर्य इस मनोमात्मक आत्मैश्वर्य से अविभूत हो जाता है। फलस्वरूप ऐश्वरी नास्तिमान्ता कर्मात्मकता के अनुगामी पुरुषों का पक्ष से वे विद्यामान भूतेश्वर्य की उन्निवृत्त हो जाता है एवं आत्मैश्वर्यमूलक आत्मा भी भूतेश्वर्य से भी वे विभूत रह जाते हैं। विश्ववर्धन से आत्मा अपने ऐश्वर्यवर्धन से विकसित होकर भूतेश्वर्य पर अपना प्रभुत्व रखने में समर्थ होता है विद्याबुद्धिस्त बरी वर्धन ऐश्वर्य का हेतु बनता हुआ (आत्मैश्वर्यवर्धन का कारण बनता हुआ) तात्कालिकभाव से 'ऐश्वर्य' नाम से व्यक्त होता हुआ है। आत्मज्ञानगत ऐश्वर्य महिमा-मयव्यवस्था है, यही किञ्च ऐश्वर्य है, यही प्राप्ति है। बुद्धियुक्त ऐश्वर्य ऐश्वर्यवर्धन ऐश्वर्य है, यही साध्य ऐश्वर्य है, यही 'ऐश्वर्यबुद्धि' नाम की विद्याबुद्धि है, जो 'अस्तिमान्ता' नामकी अविद्याबुद्धि को हटा कर आत्मा के महिमावर्धन ऐश्वर्यवर्धन का कारण बनती है।

ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत-राजविद्यास्वरूपनिर्वचनम्

द्वितीयस्तम्भ

१-अस्मिता के प्रतिद्वन्द्वी 'ऐश्वर्य्य' का स्वरूपोपक्रम-

ऐश्वर्य्य, और अस्मिता, दोनों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी ठरते हैं। ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या के स्वरूपपरिचय से पक्के इन दोनों का स्वरूप-परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक होगा। प्रत्येक वस्तुस्वरूप इत्य, सूर्य, मेरु से दो मार्गों में विभक्त रहता है। जिस वस्तु को हम अपने चक्षुषों से देखते हैं वही इत्यभाग है, जो हमारी कल्पनासीमा से बहिर्भूत है। जिस वस्तु को हम अपने हाथों से छूते हैं वही सूर्यभाग है, जो हमारी दृष्टिसीमा से बहिर्भूत है। जिसे हम देखते हैं, उसे छू नहीं सकते। एवं जिसे हम छूते हैं, उसे देख नहीं सकते। इत्यभाग 'वस्तुपियङ्ग' कहलाया है। सूर्यभाग 'वस्तुमयङ्गल' कहलाया है। वस्तुपियङ्ग आम्बेदात्मक है। वस्तुमयङ्गल सामवेदात्मक है। दोनों के मध्य में मुक्त आकाशात्मा अवस्थित मनुवेद है। मनुवेद क्या है, आकाश-रूप पियङ्ग धामरूप मयङ्गल दोनों वसोनाथ हैं। मयङ्गलवत् मनुवेद 'रसवेद' है। पियङ्गलवत् आम्बेद 'आम्बोवेद' है। एवं मयङ्गलवत् सामवेद 'वितानवेद' है। इन तीनों व्यक्तिक वेदों का विग्रह वैज्ञानिक निरूपण उपनिषद्बिज्ञानमाध्यमभूमिका-द्वितीयस्कण्ड में द्रष्टव्य है। प्रकृत में वस्तुव्यापि केवल वही है कि, प्रत्येक पदार्थ को हम पियङ्ग, और मयङ्गल, इन दो मार्गों में विभक्त पाते हैं। पियङ्ग हमारे स्पर्श का लक्ष्य बनाता है, मयङ्गल हमारी दृष्टि का विषय बनाता है।

२-यजुर्मय वस्तु, आहूयवस्तुपियङ्ग, एवं साममय वस्तुमयङ्गल-स्मक सर्वमूर्ति प्रजापति-

वस्तुपियङ्ग की मूलप्रतिष्ठा वस्तु का हृदय (केन्द्र-गम) माना गया है। 'वरिष्ठं वस्तुनु वनानि विश्वा' के अनुसार केन्द्र के आचार पर वस्तुपियङ्ग प्रतिष्ठित रहता है। केन्द्र में प्रतिष्ठित आगति-गति-निवृत्ति-रूप अन्तर्मामी प्रजापति ही उस वस्तुपियङ्ग के आदान-विनिर्वाहक कर्म की आचारभूमि बन रहा है। केन्द्रत्व यही अन्तर्मामी विज्ञानमार्गा में 'हृदय' कहलाया है। यह उच्चस्वतन्त्र ही वस्तुपियङ्ग का आत्मा है, जो आत्मतत्त्व मन-प्राण-वायुमय माना गया है। मनोक्त से यह आत्मा हृदय में प्रतिष्ठित रहता है। वैद्यकि-हृत्प्रतिष्ठं पराजिह्वं अविष्टं तस्मै मनः शिषसंक्षयमस्तु' इत्यादि श्लुःश्रुति से प्रमाणित है। उनकरूप हृदय मनोमय आत्मा हृदय में उठी प्रकार प्रतिष्ठित है। जैसे कि वृहतीन्द्र (विश्वहृत्) के केन्द्र में उक्त्य (शिष्य) रूप सूर्य प्रतिष्ठित है। जैसे विन्ध्यलग्न (उन्धालग्न) सूर्य से चारों ओर खरिमबी विनिर्गत है। एवमेव इस उन्धालग्न मनोमय हृदयस्व आत्ममित्र से प्राणस्मिन् खरिमबी बाणापारेण अन्धालवृत्ति निर्गत है। बाणापारेण यक्षिणी विरत प्राणलग्न यही खरिममयङ्गल वस्तुपियङ्ग का अहोर्मयङ्गल कहलाया है। यही अहोवेद के सम्बन्ध से 'साममयङ्गल' कहलाया है। वित्तप्रकार एक शालक अपने उन्धमयङ्गल

में स्वच्छन्द विहार करता रहता है। एतएव हृदयस्थ आत्मा अपने प्राणरूप से इस प्राणमण्डल में स्वच्छन्द विचरता करता रहता है। अतएव प्राणायामक यह साममण्डल हृदयस्थ आत्मा का 'विभूतिमण्डल' कहा जाता है। यही मण्डल 'महिमात्मण्डल' नाम से व्यवहृत हुआ है। कल्पविद्य हृदयस्थ आत्मा का पश्चिमा प्रपक्षिस्थान (प्राप्तिस्थान) है अतएव किञ्चनमन्त्रा में यह स्वरूपविद्य 'पद्म्' कहा जाता है। धर्मिण्डल आत्मा का द्वितीय प्रपक्षिस्थान है अतएव यह 'पुनःपद्म्' कहा जाता है। इत्य 'हृत्पुष्ट' है, पिच्छात्मक 'पद्' अन्तःपुष्ट है, मण्डलात्मक 'पुनःपद्' 'बहिःपुष्ट' है। हृत्पुष्टात्मक तत्त्व मनोमय आत्मा है यही उक्त है, यही 'पशुपति' है। अन्तःपुष्टात्मक तत्त्व प्राण है यही अर्क है, यही 'पारा' है। बहिःपुष्टात्मक तत्त्व वायु है यही अशीति है यही 'पशु' है। मन-वायु-वाक्-उक्त-अर्क-अशीति-पशुपति-पारा-पशु, 'स्वादि विविच नामो से प्रसिद्ध विवेक यही तत्त्व 'प्रकाशति' कहा जाता है, जो अपने हृत्पुष्ट की अपेक्षा से अनिरुद्ध, अन्तःपुष्ट की अपेक्षा से लक्ष्मीय एवं बहिःपुष्ट की अपेक्षा से सर्व नामों से प्रसिद्ध हुआ है। इत्य मी यही है अन्तःपुष्ट मी यही है बहिःपुष्ट मी यही है- प्रजापतितत्त्वबोध सर्व, पवित्र किञ्च ।

३-ईश्वर के विविध विवरण, और उसका विविध ऐश्वर्य-विवर्ध-

प्रत्येक कल्पविद्य के केन्द्र में प्रसिद्धि अनिरुद्धप्रकाशति ही उक्त का 'ईश्वर' है। इस उन्मत्तप्रक हृत् ईश्वर (अन्तर्धामी) का प्राण-वायुमय बहिर्मण्डल ही इत्या 'ऐश्वर्य' है। महिमात्मण्डल से ऐश्वर्य है। स्वर प्रकाशमण्डल ऊर्ध्वेश्वर का ऐश्वर्य है चन्द्र व्योमनामण्डल चतुर्ध्वर का ऐश्वर्य है। पार्थिव रणतटमण्डल पृथिवीश्वर का ऐश्वर्य है नमस्तानुमण्डल आम्बुतेश्वर (स्वप्न) का ऐश्वर्य है सरस्वान्तमण्डल धारमेष्ठय ईश्वर का ऐश्वर्य है। स्व पर ए का पृथिवी के केन्द्रमय ईश्वरों के नमस्तानु सरस्वन्-स्यमन्त्र का नमस्तानु-रक्तमण्डल ऐश्वर्य को अपने ऐश्वर्यमण्डल में मुक्त रखने वाला आचारपाटीय विरक्त्यैक-परिवेष्टित अक्षय्य नामक पोद्धारोपकरणेश्वर का ऐश्वर्यमण्डल अनापनय पद्माक्षय है। पद्माक्षयामक ऐश्वर्य से मुक्त महाभावाविद्ध ऐसे ऐसे अक्षय्य ईश्वर, और उनके ऐश्वर्यों को अपने मर्म में रखने वाला पश्यतस्त परमेश्वर है। यही ऊर्ध्वेश्वर है, और यही उक्त ऊर्ध्व-ऐश्वर्य है। आत्मा ईश्वर है आत्मप्राणगमित वायुमण्डल ऐश्वर्य है। यही विभूति, बन्धकर्म, साक्षी, पुनःपद् वपटेश्वर, महिमा आदि विविध नामों से प्रसिद्ध हुआ है। जीवन्मा मी ऐश्वर्यमाली बली ईश्वर का अक्षय्य कला हुआ आन्ध्यात्मिक ईश्वरका ये अभिषेक है। अतएव लम्बी विवेकैश्वर्य यही का परम्प है। जीवेश्वर-वायुमय तन्त्र की अपेक्षा से जीवन्मा लम्बी ऐश्वर्यों का अभिषेक बन रहा है। यही ऐश्वर्य नाम की मग-अवधि है जिसके तन्त्र के जीव में मणवका का उभावे हो रहा है।

४-विभूति, एवं योग-सदृश ऐश्वर्य-

विभूति-सदृश ऐश्वर्य ही 'आत्मविद्य' माना गया है। यह आत्मविद्य आत्मविद्य, बहिर्विद्य देव में हो ध्याती में निरुद्ध है। प्राणप्रधान विद्य अन्तर्विद्य है भूतप्रधान विद्य बहिर्विद्य है। प्राण हृत्प्रधान शरीर की पुन आदि अन्तर्विद्य में अन्तर्भूत है। एव अनुभूत, पशु आदि जलमण्डल, तथा अक्षय्य, कर्म प्राणव उपाय भाग्य (कर्मण्यैव) आदि अपेक्षमण्डल धनी वा बहिर्विद्य में अन्तर्भूत है। आत्म हन उपाय विद्या में विभूतिमण्डल यागसम्यग् तथा बन्धनसम्यग् से प्रतिष्ठित रहता है। बहिर्विद्य-

हीमा पर्यन्त आत्मा व्याप्त रहता है। इसी आधार पर भुक्ति का “यावद्विर्त्तं तावदात्मा” यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है। यदि उभय विषय के साथ आत्मा का विभूति सम्बन्ध है तो आत्मैश्वर्य (आत्मविशेष) पूर्णरूप से विकसित है। अतएव-विभूतिसम्बन्ध असङ्गसम्बन्ध है। असङ्गसम्बन्धविशेष पथ जैसे बल में रहता हुआ भी अक्षतचित्त से पूर्य रहता है, एवमेव असङ्गसम्बन्धविशेष आत्मा असङ्गसङ्ग विभूतिसम्बन्ध से सङ्गसम्बन्धविशेष विषयों में प्रवृत्त रहता हुआ भी विषयव्यतिरेक से निर्लिप्त रहता है। यदि उभयविषय के साथ आत्मा का योगसम्बन्ध है, तो आत्मैश्वर्य सामान्यरूप से विकसित रहता है। यदि उभय विषय के साथ आत्मा का कथनसम्बन्ध है, तो आत्मैश्वर्य असङ्ग-विषयव्यतिरेक से बाह्य होता हुआ अपना विश्वव्यपक ऐश्वर्यभूमि को देता है। अतएव कहना पड़ेगा कि, योग और विभूति, इन दो सम्बन्धों में ही अन्तर्विर्त-परिवर्तितानुगत आत्मा का ऐश्वर्य नामक मग्न स्वधर्मात्मक स्वस्वरूप से विकसित रहता है। अतएव मग्नान्ते शुद्धियोग के विकास के लिए आत्म्यात्मा के विभूति, तथा योग, इन दो सम्बन्धों को ही उपादेय माना है। देखिए !

एतां विभूतिं, योगं च, मम यो वेति तत्त्वतः ।

सोऽविकम्पन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥

—गी १०।७।

५ ऐश्वर्य की साध्य, तथा सिद्धावस्थाएँ—

आत्मैश्वर्य ही विभूतिशक्त की प्रतिष्ठा है, एवं प्रायैश्वर्य ही भूतेश्वर्य की आधारभूमि है। स्थिति का यो एकाग्रचित्त कीविष्ट। आत्मा अपने मायाप्रसारधर्म से ऐश्वर्यशाली है विभूतिमान है, महिमायुक्त है। ऐसे विभूतिमान आत्मा के साथ जुड़ा शुद्धि भी ऐश्वर्यशालिनी बनी रहती है। एवं विद्याशुद्धि से युक्त मन मानव संकल्प तथा विचारबाध, संकुच ऐश्वर्यशाली बने रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों की दृष्टि में ही ऐश्वर्य रहता है। लोकमाया में ऐसे व्यक्तियों के लिए ही ‘निगूह्यलोक’ उपाधि प्रयुक्त हुई है। आत्मैश्वर्यविशेष से इनका अन्तर्बोध स्वयं पूर्णमन के ही दर्शन करता रहता है। इस पूर्णमाणा के आत्मज्ञान से बाह्य-भूतेश्वर्य अपने आप इनका योग्य बन जाता है। जो व्यक्ति अपने अन्तर्बोध में यह भावना रखते हैं कि, हम उस ऐश्वर्यशाली ईश्वर के बंध हैं हममें उस कुछ है, हमारा सब कुछ है उनकी इस अस्तिमान्ता स्थापना का नाम ही ‘ऐश्वर्य’ है। इसी आत्मैश्वर्यमायना से भूतेश्वर्य अनिमज्जित ही इनका अभिज्ञान बन जाता है। ठीक इसके विपरीत किन्तु यह भावना रहती है कि हम तो दखिरी हैं हमारे पास क्या रहता है हमारे पास यह नहीं-यह नहीं, उनका आत्मैश्वर्य इस मनोमायनात्मक अनेकैश्वर्य से अभिमूढ हो जाता है। फलस्वरूप ऐसी नास्तिमान्ता आत्मनायना के अनुगामी पुरुषों का पहिले से विद्यमान भूतेश्वर्य भी उन्मिक्त हो जाता है एवं आत्मैश्वर्यमूलक आगामी भूतेश्वर्य से भी वे वधियत रह जाते हैं। जिस धर्म से आत्मा अपने ऐश्वर्यभूमि से विकसित होकर भूतेश्वर्य पर अपना प्रभुत्व रखने में समर्थ होता है विद्याशुद्धिपथ बरी धर्म ऐश्वर्य का हेतु बना हुआ (आत्मैश्वर्योद्भव का कारण बना हुआ) आन्ध्रधर्मन्याय से ‘ऐश्वर्य’ नाम से प्रकट हुआ है। आत्मतनुगत ऐश्वर्य महिमा-महदलात्मक है यही विद्या ऐश्वर्य है, यही प्राप्त्य है। सुदुपलुगत ऐश्वर्य ऐश्वर्यलघक ऐश्वर्य है, यही आध्य ऐश्वर्य है, यही ‘ऐश्वर्यशुद्धि’ नाम की विद्याशुद्धि है, जो ‘अस्तिताशुद्धि’ नामकी अभिधाशुद्धि को हट कर आत्मा के महिमानाश्रय ऐश्वर्योद्भव का कारण बनती है।

६-आत्मविकास की प्रतिपत्ति का अस्मिता-

आत्मा ईश्वर है, ईश्वर की ईश्वरता ही उसका ऐश्वर्य है। आत्मा स्वभावतः अपने व्यापक पूर्ण-अवस्था 'ब्रह्म' से विकसित है। यह विकास ही आत्मेश्वर की ईश्वरता है। अतः आत्मविकास ही ऐश्वर्य है। व्याप-आपूर्ण-सर्वव्यापक अनात्मब्रह्म हैं। इनके समावेश से आत्मा का स्वामात्रिक विकास उठी प्रथम अवस्था हो जाता है जैसे कि भूमरूप यम (बी) अपने अणु-परिमाणु विकासधर्म से वृद्धि रह जाता है। किन्तु अणुपरिमाणु अणु के प्रत्याघात से जैसे पुष्पवृद्धि का विकास अवस्था हो जाता है। किन्तु अनात्मब्रह्मों से आत्मा अपने विकासत्मक ऐश्वर्य से अभिभूत हो जाता है, आत्मविकासप्रतिक्रिया की अभिवृद्धि ब्रह्म (किन्तु आत्मब्रह्मविषयक अवस्था) 'अस्मिता' कहलाता है। अस्मिकता ही अस्मिता है।

७-स्मित, हास, और आह्लाहास-स्वरूपविगृह्य, एवं अस्मिताभाव-

'स्मित-ईप्सुसन्' के अनुहार विकास ही ईश्वर-इहन् लक्ष्य स्मितभाव है। जिस इति के लिए लोक में 'मन्दस्मित' शब्द प्रयुक्त हुआ है वही स्मितभाव है। मन्दस्मित ही ईश्वर-इहन् है वही स्मितभाव है और वही आत्मैश्वर्य का प्रतीक है। हास (हँसी) उत्पन्न स्मित हास अह्लाहास मेघ से तीन भागों में विभक्त माना गया है। जिस हास में इन्द्रधनु के दर्शन नहीं होते किन्तु प्रथम की शब्दवृत्ति नहीं होती, वह हास मन्दहास ही 'स्मितहास' कहलाता है। वह हास क्षीणवृत्ति में प्रवृत्ति है। आत्मवृत्ति गुणमी उन्मूलन में प्रवृत्ति रहने वाले विद्वानों का 'स्मितहास' ही माना गया है। जिस हास में हाँस जिस भावे है 'हा-हा-ही-ही' शब्दवृत्ति प्रवाहित होती है किन्तु अह्लाहास इन्द्रधनु-शब्दवृत्ति नहीं हास 'हास' नामक हास माना गया है। किन्तु अह्लाहास मध्यभूमि में प्रवृत्ति रहने वाले लौकिक मनुष्यों का लक्षण वही 'हास' बना कहा है। जिस हास में हाँसों के साथ साथ मुक्तिपर भी अस्मिताप्रकार से चोका हो जाता है नाक-आन-आँस-हास-मैद, किन्तु अह्लाहास अह्लाहास शरीर विषय अपनी स्वामात्रिक श्रुति को कर किन्तु अह्लाहास बन जाता है अह्लाहा-ही हो ही-हासि रूप से जिस में शब्दवृत्ति वास्तव का भी अस्मिताप्रकार कर जाती है बिदे देव-हुन कर पास बैठने-बसने वाले शान्तवृत्ति प्रथम स्थान हो पड़ते हैं, मध्यमक उस से अह्लाहास वही हास 'अह्लाहास' कहलाता है। विचारवृत्ति से अह्लाहास रक्तने वाले अह्लाहासप्रकार से अह्लाहास वृत्ति रहने वाले अह्लाहासप्रकारगामी, अह्लाहास अह्लाहास ही अह्लाहास की आत्मवृत्ति बना कहा है। स्मितहास आत्मैश्वर्य का अनुगामी है हासप्रकार हास वृत्तिवृत्ति का अनुगामी है एवं अह्लाहास विचारवृत्ति-विचारवृत्ति मध्यवृत्ति का अनुगामी है। क्योंकि स्मितहास आत्मैश्वर्यानुगामी है अह्लाहास वृत्तिवृत्ति ने ऐश्वर्यविषयक लोका को 'अस्मिता' नाम से व्यक्त कर जाता है अह्लाहास अह्लाहास शब्द आत्मैश्वर्यमूलक स्मितभाव (विकासभाव) का ही अभाव व्यक्त कर रहा है।

८-आत्मैश्वर्य का प्रतीक स्मितहास, और तद्विरोधिनी अस्मिता-

स्मितभाव ही आत्मैश्वर्य का प्रतीक है हास और अह्लाहास आत्मैश्वर्य से वृद्धि है। अह्लाहास स्मितभावप्रकार ऐश्वर्य की प्रतिपत्ति में अस्मिता में 'अस्मिता' शब्द का प्रयोग ही अस्मिता माना है। स्मित भाव ही आत्मैश्वर्य का प्रतीक क्यों है? हास और अह्लाहास को आत्मैश्वर्यानुगामी क्यों नहीं माना गया? वह कि अह्लाहास विकास हास और अह्लाहास में भी विद्यमान है, हासप्रकार प्रतीक के अभाव के

लिए हमें 'स्मित' भाव के वैज्ञानिक भाव का स्वीकरण करना पड़ेगा। कहा गया है कि अस्मितालक्षण ब्रह्मचर्य के प्रवेश से आत्मा का विद्वत्लक्षण स्वाभाविक ऐश्वर्य अभिवृत्त होता है। पञ्चस्कन्ध अस्मितालक्षण पुरुषों के मुख से कहा होना—वीर्यवत्त्वक बाह्य निष्ठा करते हैं। ऐसे व्यक्ति पदे पदे ब्रह्म, तन्मय होकर, एक तन्मय अनुपात के अनुगामी बने रहते हैं। क्या ऐश्वर्यलक्षण विद्वत्त्वधर्म के अनुगामी पुरुष 'हम पूर्ण सुखी हैं, हमारे पास सब कुछ है, हमें क्या कमी है' इत्यादि वाक्यप्रयोगों के द्वारा अपने ऐश्वर्य धर्म का बड़ा आरोप के साथ ब्रह्मान किया करते हैं? क्या आत्मैश्वर्यानुगामी पुरुष प्राप्त भूतेष्वर्थों से अतिशय रूप से आह्लासित बन कर हास्यमय हास किया अह्लासहास के अनुगामी बन जाते हैं? क्या आत्मैश्वर्य के प्रतीक ये ही वाक्य धर्म हैं? सीमांत कीर्ति।

६-आत्मामिमान, एवं आत्मातिमान का स्वरूपविमर्श—

सुनते हैं, एक बार वेदता और अश्वत्थों में मयानक संघर्ष (युद्ध) छिड़ गया। दोनों शस्त्रास्त्रों से युद्धभक्त होकर ब्यूह(मोर्चा) बना कर युद्ध में प्रविष्ट हो गए। इस वेदाश्वत्थयुद्ध में अधिक संख्या वाले अश्वत्थ पराजित हो गए, एक विद्वत्प्राणी ने वेदताओं का संवरण किया। ऐसा क्यों हुआ? इसका उत्तर देते हुए श्रुति ने यह कहा है कि, वेदता अस्मिमान् यो हिन्दु अश्वत्थ अस्मिमान् यो। आत्मामिमानो वेदता संख्या में बढ़ते रहते हुए भी जीत गए, एक वास्तविकता अश्वत्थ संख्या में अधिक रहते हुए भी हार गए—'ते हासुरा—अस्मिमानेनैव पराबभूवुः' (शुक्ल ५।१।१।१)। प्राकृतिक अद्वैता 'मान' है। यह 'मान' स्वयं अस्मिमान् अस्मिमान्, भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। अस्मिमान्स्वयं मान का अन्तर्बन्धनगुण 'आत्मा' से सम्बन्ध है। एक अस्मिमान्स्वयं मान का अद्वैतगुण शरीर से सम्बन्ध है। विद्यावृद्धिद्वारा अस्मिमान्स्वयं ही अस्मिमान् है एवं यही 'आत्मामिमान' कहा गया है या कि अस्मिमान्स्वयं का प्रथम स्वरूप माना गया है। अपने आपको (आत्मा को) साक्षात् ईश्वर का अथ अन्तर्गत हुए ऐसे तन्मयानन्दधन मानना, क्या अपने अन्तर्गत में परिपूर्णता का अनुभव करना कमी आत्मा को हीन न मानना, कमी मुख से—'हम तो दास हैं, दासदास हैं' अस्मिमान् हैं निर्जन हैं अस्मिमान् हैं ऐसे हीनता—स्वयं स्वयं न निष्ठा अस्मिमान् ठीक इसके विपरीत क्या 'हम साक्षात् मन्त्र के अर्थ हैं अथवा सब विषय सम्पत्तियों से परिपूर्ण हैं' स्वयं हैं? यह मानना करते रहना यही 'आत्मामिमान' है। अथवा आत्मामिमान का अर्थ है, और कभी होता है? हीन प्रत्यक्ष का समाधान करते हुए मगान् करते हैं—

उदरेदात्मनस्तमानं नात्मानमवसादयत् ॥

आत्मैव आत्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन ॥१॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य यनात्मैवात्मना जित ॥

अनात्मनस्तु शत्रुष्वे वर्षतात्मैव शत्रुवत् ॥२॥

—गीता ६।५, ६।

१०-‘उदरेदात्मना आत्मानम्’ का तात्त्विक समन्वय—

‘आत्मा से आत्मा का उद्वार करना चाहिए आत्मा को कभी नष्ट नित्यता चाहिए। आत्मा ही आत्मा का शत्रु है एवं आत्मा ही आत्मा का मित्र है’ प्रथम श्लोक का यही अर्थार्थ है। सर्वप्रकारण मनुष्य

[illegible]

‘प्रत्यगात्मा से शारीरिक आत्मा को शक्तिशाली बनाओ। प्रत्यगात्मा की उपेक्षा कर शारीरिक आत्मा को पतनोन्मुख न बनाओ’। अपने आप से ही अपना उत्थान सम्भव है इस वाक्य का ‘अपने शब्द बीजात्मा का सूचक है एवं ‘आप’ शब्द ईश्वरात्मा का सूचक है। यही अपना (बीजात्मा का) आप (प्रत्यगात्मा) है। जो अपना आपा भिगाड़ लेता है, वही पतित होता है। इसी आधार पर यह लोकव्यक्ति प्रयत्नित है कि ‘अमुक ने अपना आपा सुधार लिया, अमुक ने अपना आपा भिगाड़ लिया’।

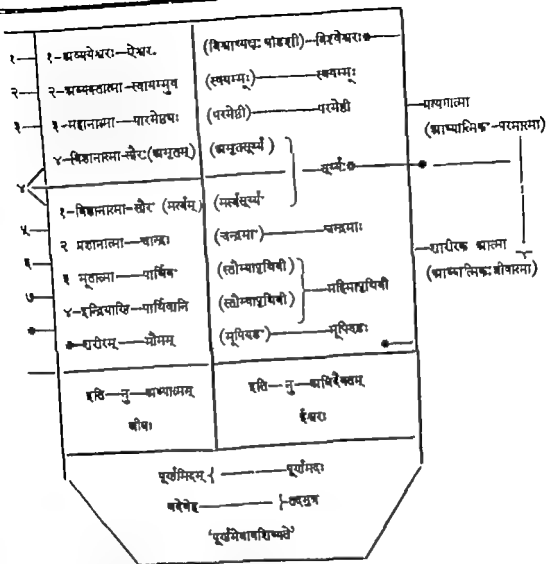
११-ईश्वरवेष्टानिवन्धना महीती समस्या—

प्रथम श्लोक के ‘छन्द्रेवात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्’ इस पूर्ववचन का समन्वय तो हो गया। परन्तु इसी समन्वय ने—‘आत्मैव छात्मनो बन्धुरात्मनैव रिपुरात्मनः’ इस उच्चर वचन के सम्बन्ध में एक बह्यत्मा समस्या उपस्थित कर दी। प्रसङ्गोपात् उसका भी निराकरण कर लीजिए। समस्या है ईश्वरवेष्टा के सम्बन्ध में। पूर्वपरिभाषा के अनुसार उच्चर वचन के ‘आत्मैव’ का अर्थ होगा—प्रत्यगात्मा एवं ‘आत्मनः’ का अर्थ होगा—शारीरिक आत्मा, जिसका अर्थ होगा यह कि ‘ईश्वर ही बीजात्मा का मित्र है एवं ईश्वर ही बीजात्मा का शत्रु है’। विशिष्टाद्वैतसम्प्रदाय के अनुसार अनन्तकालावगुणाकर-परमब्रह्मस्थित-वत्ता हुआ ईश्वर भी क्या राम-द्रोपमूलक मित्रता-शत्रुता-भावों का अनुगामी बना रहता है?। क्या वह समदर्शी नहीं है?। क्या वह भी बीजात्मों की भाँति किसी बीज का मित्र, और किसी बीज का शत्रु बना रहता है?। उच्चर में हाँ भी कहा जा सकता है, और ना भी कहा जा सकता है। इन परस्पर विरुद्ध दोनों उत्तरों के समन्वय के लिए ही ‘ईश्वरवेष्टा’ से सम्बन्ध रखने वाली समस्या की मीमांसा अपेक्षित है।

आस्तिक प्रथा का यह विश्वास है कि, बिना ईश्वर की इच्छा के एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। ईशानी किरपा किता ना पान पक्ष हाजी राके इस गुणवर्तमाधायित्व के अनुसार प्रत्येक कर्म की प्रवर्धिका ईश्वरवेष्टा ही है जिस ईश्वर की इच्छा की हम ‘ईश्वरकृपा’ भी कह सकते हैं। इस सम्बन्ध में लोकव्यक्तियों (नास्तिकों) के अनेक विरोधाप उपस्थित होचते हैं। वे आस्तिक प्रथा से प्रश्न कर बैठते हैं कि, ‘यदि ऐसा है तो तो संसार में कोई बुरा काम है ही नहीं। मद्यपान बोरी ईश्व, भ्रष्टारामन अमङ्गलद्वेष, आदि आदि बिलों की अलङ्कार्य हैं, उन सबका मूल भी यदि ईश्वरवेष्टा ही है, तो इन्हें कुछ क्यों कहा जाय?। क्यों कहा जाता है?। वृत्त प्रश्न यह उपस्थित होता है कि—‘दिलते हैं, एक बार बोरी करने से पहिले बागदम्य-मैरव-आदि में से किसी नियत हृदयेन से प्रार्थना करता है कि ‘यदि आज मैं बोरी करने में सफल होना, तो आपको अमुक मंत्र से सम्पन्न करूँगा। यह भी मान लेते हैं और यह मान्यता गलत भी है कि, ईश्वरदेवानुग्रह से बोरी करने में वह सफल होजाता है। प्रश्न होता है कि, क्या ईश्वर बोरी जैसे निन्द्य कर्म का भी सहायक बन जाता है?। सभी पापकर्म यदि पुण्यकर्मों की भाँति ईश्वरवेष्टा से ही सम्बद्ध हैं तो पापकर्मों से बचने के लिए प्रयत्न होने वाला शास्त्रोपदेश तो व्यर्थ है ही इसके साथ साथ संसारतानरसमुद्र र्थ ईश्वर पर एक बहुत बड़ा फल भी आरोपित होजाता है। यदि नहीं, उसकी इच्छा ही अस्वकर्मों की भी प्रवर्धिका है, तो इसका इरादा हमें क्यों मिले?। मिलता है इसीलिए तो समस्या और भी बहल बन जाती है। ब - लता के निराकरण के लिए आत्मलोचनपरम्परा का अन्वेषण अपेक्षित है।

१२-आध्यात्मिक-आत्मसोपानपरम्परा—

वैचारिक विद्वानों तथा सांसारिक कर्मों का मोक्षार्थी, उत्तर है—‘मोक्षार्थी’। मोक्षार्थी का स्व-स्वरूप। उत्तर है—‘आत्मा इन्द्रिय, मन का समुचित रूप। अर्थात्प्रधान वैश्वानर, क्षिप्राप्रधान वैश्वानर, रान-प्रधान अथ हीनों की समष्टि ‘आत्मा’ है, यही वेदाभिमान की शारीरिक आत्मा है। ज्ञानकर्मनिष्ठपरम, और प्रधानमन दोनों इस आत्मा के कर्मों के लक्षण हैं। प्रधानमनोयुक्त इन्द्रियवर्ग से भी आत्मा भावना-वाचना-रूप से वास्तविक कर्ममोक्ष में समर्थ बनता है। अतएव मोक्षकर्म से ‘आत्मा-इन्द्रिय-मन’ हीनों की ही इन ‘मोक्षार्थी’ श्रेणी के लिए कि—‘आत्मे-न्द्रिय-मनो-युक्त ‘मोक्षे’ लब्धकर्मनीयिण’ इत्यादि उप-निषत्सुति से प्रमाणित है। उसके पक्षिण स्थान इन्द्रियों का है अनन्तर वैश्वानर-क्षिप्रा-मूर्ति पार्थिव कर्मार्थी का स्थान है। अनन्तर वायु प्रधानात्मा (मन) का स्थान है। अनन्तर और विज्ञानात्मा (इन्द्रि) का स्थान है। अनन्तर पारमेष्ठि महात्मा का स्थान है। अनन्तर स्वात्ममुक्त आत्मार्थी का स्थान है। एवं वर्णित में प्रत्यक्षात्मा नामक अव्ययपुरुष प्रवर्तित है ‘अव्ययत्न पुरुषः परः, पुरुषात् परं किञ्चित् सा कष्टा, सा परा गतिः’। आत्म के ‘आत्मरक्षणप्रतिपक्षि’ नामक प्रकरण में इस आत्मसोपानपरम्परा का विस्तार से विवेचन किया जा चुका है। प्रकृत में इस विवरण में यही निष्कर्ष निकलता है कि, अव्ययेश्वर, अव्यय, महान् विज्ञान प्रधान आत्मा, इन्द्रियवर्ग इन सब धारणों का इसी रूप से आत्मसोपान में लक्षित हुआ है। इन सब संस्थाओं में अव्ययेश्वर नाम की पहिली संस्था ‘प्रत्यक्षात्मा (ईश्वर) है एवं आत्मा नाम की दूसरी संस्था ‘शारीकप्रत्यक्षात्मा (जीव) है। अव्यय महात्मा, इन दो संस्थाओं का प्रधानतः प्रत्यक्षात्मा व अव्यय है एवं महान् इन्द्रियवर्ग इन दो संस्थाओं का प्रधानरूप से शारीक आत्मा से सम्बन्ध है। चौथी विज्ञानात्मकस्था प्रत्यक्षात्मा शारीक आत्मा दोनों के मध्य में प्रवर्तित पक्षी हुई ‘वैश्वानरप्रत्यक्षात्मा’ से दोनों की अनुमाहिता की हुई है। तात्पर्य यह निकलता कि अव्ययेश्वर, अव्यय, महान् समूह विज्ञान, धारों की समष्टि प्रत्यक्षात्मा है। एवं सर्व विज्ञान प्रधान आत्मा, इन्द्रियवर्ग, धारों की समष्टि शारीक-आत्मसंस्था है।



१३-ईश्वरेच्छासहकृत असङ्ग कर्मों की अवन्तनता—

उक्त आध्यात्मिक आत्मसोपानपरम्परा को अन्त्य बना कर ही ईश्वरेच्छा से सम्बन्ध रखने वाली पूर्वोक्त पद्धति-तत्त्वा की सीमा का कीर्ण है। आध्यात्मिक ईश्वर आन्वयेपरम्परा है। इसकी इच्छा ही ईश्वरेच्छा है, वही निष्कामकामात्मिक उद्विगताकांक्षा नाम की ईश्वरकामना है। जिसका विशद स्वरूप पूर्वपरिच्छेदों में 'कर्मविवेक-विक्रमपद्धते' इत्यादि रसोक्तवर्णन में कलावाय का पुत्र है। इस ईश्वरकामना का सर्वप्रथम व्युत्पत्तिकारण ईश्वरकामना से सम्बन्ध होता है। आध्यात्मिक के द्वारा ईश्वरकामना आध्यात्मिक के लक्षिकारणस्थित महानात्मा में व्युत्पत्ति होती है। महानात्मा के द्वारा ईश्वरकामना महारक्षिकारणस्थित अमृतसूर्यमन्त्र, अतएव धर्म-अन-

वैराग्य-देशधर्म नाना श्री मण्डलपुत्री से मुक्त अवतरण च विद्यावृद्धपारम्य विज्ञानात्मा में प्रविष्ट होती है, और वही आकर ईश्वरभक्तता का एक प्रक्रम समाप्त हो जाता है। अन्धवधर में आरम्भ कर अमृतविज्ञानात्मा परमार्थ उरविद्याकाशालय, निष्काममहाप्रतिष्ठा विद्यावृद्धिपद्धति अवतरण अवस्था अवतरण च सम्पन्ननिर्वाण ईश्वरभक्तता का अन्तर्गत-अन्धवधित आत्मा रहता है। इस इच्छा से मुक्त शारीरक आत्मा के अन्तर्गत भी काम है, वे सब निष्कामकर्ममयक अकर्मकर्म हैं। ऐसी ईश्वरभक्तता से प्रभुल शीघ्रता के सभी काम सत् हैं। ऐसे पुरुषों की बड़ी अकर्मकर्म में प्रवृत्ति ही सम्भव नहीं है। यदि ऐसे पुरुष कभी किसी अकर्मकर्म में प्रवृत्त हो देखे मुन चाते हैं तो हमें कोई गुप्त साधनमूल्य निहित रहता है जो मानवीय दृष्टि से परे की वस्तु है। नास्त्य फल च कर्मका सोध्य मीयत न मानवचरन-न पिण्डचरन' (श्री भा उप १।१।) क अनुसार ईश्वरभक्तता को मूल मानने वाला व्यक्ति कर्म अपनी माता (परशुरामभक्त) तथा पिता का भी मार बला है वह भी उसे तादृशित पाठक नहीं होता-‘लियन् न स पापन’। क्योंकि, वस्तु सर्वकर्म प्रकाशक की इच्छा में समर्पित रहता है जो कि प्रत्यक्षचर्येच्छा सर्वथा अकर्मक है। भूति का उत्तरार्थ यही है कि, एवम्बिब योगसुखात्मा शान्त पुरुष से पहिले तो किसी भी निम्न कर्म की सम्पन्नता ही नहीं है। यदि वह अनिश्चितकाल स्वर्गपावन के लिए कभी किसी निम्न कर्म में प्रवृत्त होना भी चाता है, तो हमें निश्चित करना चाहिए कि, ईश्वरभक्तपुरुष उत्तम इस निम्न कर्म से भी अचर्य ही कर न कर छोड़स्युक्त होने वाला है। वीर्यम परमहीन के बल-आहार विहार वेष्ट-भुन कर हम आरम्भमूल्य का रह जाते हैं। परन्तु विद्यावृद्धि, वे विधि-नियम से परे हैं। न समुद्र उनका मला ही कर सकता, न मय उनको हानि ही पहुँचा सकता। विधि-नियमक शास्त्रोपदेश आत्मशास्त्र उन लौकिक मनुष्यों के लिए अनिवार्य हैं, जो लोकप्रतिष्ठानमय इन्द्रियारामपरामर्श हैं। स्वर्ग को देखिए न मूलप्रतिष्ठान मूल उसे दास्युक्त नहीं बना सकता। यही नहीं किन अकर्मकर्मों के सब इच्छा सम्भव हो जाता है वे सब शीघ्रदिव का जाती हैं। अस्तव्य-वैद्य-उत्-अकर्मकर्ममय में विमृष्टि के सम्बन्ध से रहता हुआ भी तत्पुत्र शुभ-अशुभ-वैद्यक सम्बन्ध में आश्रय नहीं होता, तबसे अहंम ईश्वरभक्तता से कुछ शीघ्रता सर्व अन्तर्गी बनता हुआ विमृष्टि के सम्बन्ध से सर्वत्र व्याप्त रहता हुआ भी निश्चित बना रहता है। अवतारपुरुष, सुकर्मगो, अन्धवधित मय सब इसी विमृष्टि के उदाहरण हैं। मन्वान् यम शास्त्रनियम की उपेक्षा कर आसुर्य भी शरीर के उत्थित वेर का उद्योग हैं। परन्तु हम नहीं का सकते। कारण हम अन्धवध नही हैं। ईश्वरभक्तता के अनुसंधान का ही हम नहीं का पाए हैं। किन्तु दिन हम भी वैद्य कन जातीं तब सब कुछ हमारे लिए भी सम्भव मान लिया जायगा। निष्कर्ष यही है कि, अमृतविज्ञानात्मिक विद्यावृद्धिपरमार्थ ईश्वरभक्तता सम्बन्ध से निश्चित, अन्धवधित से अनाद्य रहती हुई अकर्मकर्म की रहती है। ऐसी ईश्वरभक्तता से मुक्त शीघ्रता के सभी काम अकर्मकर्म में सत् हैं।

१४-ईश्वरभक्तता के सम्बन्ध में समस्यात्मक प्रश्नोत्थान—

आध्यात्मिक जीव वैधानर-वैद्य-माधुर्ग्य शारीरक आत्मा है। इसके उत्तर माय में तो इन्द्रियकर्म प्रतिष्ठित है एवं पूर्वमाय में प्रकृतमय एवं तत्पूर्वमाय में मन्धविज्ञानात्मा प्रतिष्ठित है किन्तु सर्वमाय के सम्बन्ध से अमिदिवेद्य-अमिदता-आलस्य-अविद्या इन चतुर्विध वदोद्य-सम्पत्तियों के प्रद्वय की योग्यता मान्यो मय है। अन्धवध-महात्-आय परम्परा अमृतविज्ञानात्मा में आश्रय अन्धवधर की कामना का अनुसंधान के

ज्ञाप मर्त्यविज्ञानात्मा मे आगमन होता है। उद्धार मर्त्यविज्ञानसमिप्यवस्थित प्रज्ञानमन मे वह ईशकामना युक्त होती है, प्रज्ञानमनोद्धार प्रज्ञानमन समिप्यवस्थित शरीरजडीन मे ईशकामना का आगमन होता है। एवं बीजद्वारा वह ईशकामना बीजसमिप्यवस्थित इन्द्रियवर्ग के साथ संयुक्त होती है। मर्त्यविज्ञान से आरम्भ कर इन्द्रियवर्ग पर्यन्त व्यापि ईशकामना का शरीरक-आत्मानुगत यही रूप प्रकट है। इसप्रकार अमर्येश्वर-गता यही मूलमूला ईश्वरेच्छा अभ्यवधार से आरम्भ होकर तदुत्तरार्थी अभ्यक्त-महान्-अमृतविज्ञान-मर्त्यविज्ञान-प्रज्ञान-आत्मा मे परम्परा मूल होती हुई इन्द्रियवर्ग पर विभाम करती है। इन्द्रियेन्द्रा बीजेन्द्रा प्रज्ञानेन्द्रा, मर्त्यविज्ञानेन्द्रा, अमृतविज्ञानेन्द्रा महाविन्द्रा, अभ्यक्तेन्द्रा के सतों व्याप्यसिपि इन्द्राएँ परम्परा प्रविष्ट अभ्येश्वरेन्द्रा के ही धाराधिकरूप हैं। और इस दृष्टि से बीजेन्द्रा-मानसेन्द्रादि से सहज सम्बन्धवात् सहजकर्म ईश्वरेन्द्रामूलक ही माने गए हैं। सम्बन्ध बिना ईश्वरेन्द्रा के सहयोग के मनुष्य 'वृक्षस्य कुक्षीकरयोऽप्यशकः'। यही वह प्रश्न उपस्थित होता है कि, यदि ऐसा है, तो क्या बोधी-हिंश-आदि निन्द्य कर्म भी ईश्वरेन्द्रा से होते हैं? किं इव प्रश्न का उक्त ईश्वरेन्द्रा के परम्परायुगत मोग की दृष्टि से वह भी दिया जा सकता है कि, 'हो निन्द्य कर्म भी ईश्वरेन्द्रा से ही सम्बन्ध रखते हैं। इसी पर दूसरा यह प्रश्न उठ जाता है कि यदि ऐसा है, तो रास्त्रोत्तरेण का क्या प्रयोजन? हम क्यों निन्द्य कर्मों का निन्द्य बल भोगते हैं? और ईश्वर भी क्या गुणरमक अक्षकर्म का प्रेरक बन कर अपने समस्त से बञ्चित होता हुआ कलाहलासन बन जाता है?।

१५- 'यथोदकं दुर्गे वृष्टम्' का तात्त्विक समन्वय, एवं प्रश्नसमाधि—

उक्त प्रश्नों के सम्बन्ध में हमें यह करना पड़ेगा कि, प्राकृतिक वैदिक सौमिक सम्बन्धवात् राष्ट्रीय कर्म्म तथा प्राकृति-समोमूलक सौमिक सम्बन्धवात् व्यावहारिक अक्षकर्म, तथा निन्द्य कर्म, इन सब कर्मों का मूल ईश्वरेन्द्रा नहीं है अपितु बीजेन्द्रा है। क्या बीजेन्द्रा उक्त परम्परायुगा ईशकामना के मोला से ईश्वरेन्द्रा का ही स्मान्तर नहीं है? है, और अवश्य है। फिर फिर आचार पर बीजेन्द्रा का ईश्वरेन्द्रा से पार्यन्त माना गया है। एकमात्र इसी प्रश्न के उत्तर पर समस्या का निपटारा हो जा है, जो उत्तर निम्न स्थिति उपनिषद् वि से प्रमाणित है—

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।

एवं घम्मान् पृथक् परपस्तानेषानुविधावति ॥

—कठोपनिषत् ४।१४।

एक बहुत बड़ा पर्वत है। उस विशाल पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर एक दुर्ग (भिक्षा) बना हुआ है। दुर्ग अनन्ताक्षरा से वेष्टित है। अनन्ताक्षरा के अन्दर में हम्न-पर्वत-बूम-बोधि-धरिण-बाधु-के समस्त से समुत्पन्न मेघ आ जाते हैं। पानी दुर्ग पर भरने लगता है। दुर्ग पर भरत हुआ पानी पर्वत पर जाता है पर्वत से निर्गमित हो कर वह अण्डा पर आ जाता है। मुख्य पराका पर आया हुआ पानी इतकता विमल बदल विभिन्न मार्गों से प्रवाहित होता हुआ पराका में व्याप्त हो जाता है। अति कड़ी है—मेघा-पारभूत अनन्ताक्षरा कलागारभूत आभ्यरात्र मेघ येचरिषतबल, दुर्ग, पर्वत पर्वतोत्पन्नपक्ष पराका सब स्वच्छ हैं निम्न हैं। पराका पराका के विमल विभिन्नमार्ग अक्षच्छ हैं मलिन हैं। इन विभिन्न पर्वों के अणुप्रमन से ही स्वच्छ-निर्मल भी सब अक्षच्छ और मलिन हो जाता है। ठीक यही परिचित यहाँ अक्षच्छ। अनन्ताक्षरा के रथान मे अनन्ताक्षराक्षत्र, अतएव 'अनन्ताक्षरा' नाम से प्रसिद्ध 'प्रसगात्मा' नामक अक्षच्छे-

रबर है। नमस्त्वात्-आकारात्तद्वय आत्मवशात्मा का भी इसी में अन्तर्भाव है। महानात्मा मेघस्थानीय है। महा-
नात्मा में परिपूर्ण सोमरस बलस्थानीय है। विज्ञानात्मकम्परिष्कृत प्रज्ञानात्मा बुर्गस्थानीय है। शारीरकात्मा
बैधानिकम्परिष्कृत अरुणासोम से कृतकम बना हुआ पर्वत स्थानीय है। पञ्चभौतिक पार्थिव शरीर पर्वतोपर्यन्तकम
पण्डित है। इत्यपर अरुणाक्षरा मेघ बल बुर्ग, पर्वत, पर्वतोपर्यन्त-स्थानीय आत्मवशात्मा-मर्मित आत्मवेरवर,
महानात्मा सोम, प्रज्ञानात्मकमर्मित विज्ञानात्मा, शारीरकात्मा, शरीर, ये सब आध्यात्मिक पर्व स्वरूपम से
अनन्त्याकारादिक स्वच्छ है, निम्न ल है। सब में बड़ी अलख अभिन्न-निम्न ल आत्मरस, और उरियताका
राष्ट्रता ईश्वरमना प्रवाहित है। परन्तु विभिन्न-विभक्त-मार्गस्थानीय विषयानुगत इन्द्रियरग अपनी पदार्थ-
इति के कारण विषयास्त बन्ता हुआ अस्वच्छ है मलिन है। इसके सम्पर्क में आते ही महानात्मयुक्त
चैतन्यरस, कृपा ईश्वरमना स्वरूपम से स्वच्छ-निम्न ल राखी हुई भी विभिन्न ऐन्द्रियक वर्मों की ओर
अनुपादन करने से आत्मच्छ-मलिन हो जाती है। इन्द्रियानुगत पृथक वर्मों का अहमप्रमना ने अनुगमन
क्यों किया, इतना उत्तरावित्त भी सम्भवत हीना पर नहीं है। कारण-विन इन्द्रियों से बीजमा
विभिन्न वर्ममयक राक्ष गुणरमक विषयों की ओर अनुपादन करता है उन इन्द्रियों का स्व स्वर्ग प्रभावति की
ओर से बहिष्कृत है। सभी इन्द्रियों के द्वार बहिष्कृत हैं। बहिष्कृत इन्द्रियवर्ग यदि व्याप्त विषयों की ओर
अनुपादन करे, तो इन्हें इन्द्रियों का, और बीजमा का क्या मत है। बापल-विकल्प-तद्वय अतएव
मृत्युवर्माभ्यन्त बीजमा भाङ्गमुख इन्द्रियवर्ग के अनुग्रह से यदि विभिन्न वर्ममनुपादन करता हुआ मृत्युमय
कन बाधा है तो इन्हें इसका क्या दाय है। इस स्थानाधिक-माकृतिक-मृत्युवर्म से बचने का एक उपाय
है। बड़ी उपयुक्त बुद्धियोग ब्रह्माय है। इन्द्रियमयपूर्वक इन्द्रियों को अन्तु ल बनाए, पाप वर्ममनुपादन
अवकट हो बाध्या। बीजमा का विषयविधि से योग हो बाध्या। विषयविधि का आत्मवेरवर से स्थानाधिक
योग है। तपोमयानुगत बुद्धियोग से बीजमा का भी आत्मवेरवर से योग हो बाध्या। प्रजाप आत्मवेरवर क
अमृतवर्म का बीजमा से योग हो बाध्या और इत्यपर बीजमा अमृतवाम कर योग विर बुद्धि-
योगप्रमक उपाय का निम्न विहित उपनिषद् वि से स्पष्टकरण हुआ है—

पराञ्चि स्नानि व्यहसत् स्यम्भूस्तस्मात् पराक् परपति नान्तरात्मन् ।

कस्मिन्दीरः प्रत्यगात्मानमैकग्राह्यपञ्चमृतवमिच्छन् ॥

—अष्टोपनिषद् ११।११

इन्द्रियात्कृतक राक्षसिककारकजनकम आवरण वह कृष्ण-आधार (अज्ञा काच) है किन्तु
होकर ज्ञान बाली अलक्यात्मिका भी सूर्यरश्मिमा कृष्णवर्ण में परिणत हो जाती है। सूर्यरश्मिमाकार
स्वरूपम से कर्षवा अल-निर्मल-स्वच्छ है। आप अपने जल-पट्ट के आगे जला काच लड़ा कर देते हैं।
इत में हाकर ज्ञान बाली अल श्री प्रकाश आपके लिए कला कन बाध्या। टीक यही स्थिति बहो दमभिर।
इन्द्रियात्कृतिक के अनुग्रह से आध्यात्मरम्या में अधिकजनकम से प्रसिद्धि मयना-अहमात्मक वरवर गुणात्मक
कृष्णबाध्यात्मक आवरण है। आगत संसार प्रमनमन में प्रसिद्धि होकर मनोमय कन राते हैं। मन पर
विषयिका बुद्धि प्रसिद्धि है। विज्ञानबुद्धि के प्रकाश से ही वो मन्मनम प्रकाशित होता है। सूर्यरश्मिमा ही
तो प्रसिद्धन क सम्पन्न से अग्रमा का ज्योतिः स्वकम में परिणत करती है। सूर्यस्थानीय विज्ञानप्रमा (विषा
बुद्धि) का प्रकाश स्वत निर्मल है। परन्तु अन्तरस्थानीय प्रमनात्मा मन) अहमरूपम से कृष्ण का

या है। अतएव तत्रागत निर्मल भी विज्ञानप्रकार मलिन बन रहा है। संस्कारमय मन क्षेत्र में भुक्त यही विज्ञानात्मा अविद्यात्मक है यही अविद्याबुद्धि है जो मन के प्रति आत्मसमर्पण कर अपने स्वामयिक विद्या-बुद्धिधर्म से वंचित हो रही है। मन में विज्ञानज्ञाया आया हुआ आत्मज्योतिरंश, तथा ईशकामना संस्कार-सम्बन्ध से इसप्रकार स्वामयिक स्वतन्त्राविवेकाय से अभिभूत होकर आगन्तुक तमोगुण की अनुप्राप्ति बन जाती है। संस्कारमय यही ईशकामना गुणसम्बन्ध से 'बीजकामना' कहलाने लग जाती है। यही बीजकामना तन्मायाकाया कहलाई है जिसका भ्रमबुद्धियोगप्रकरण में विच्छेदण किया जा चुका है। संस्कारस्वेन यह इच्छा बीजकामना है, यही फल का निम्न कर्मप्रवृत्ति का मूल कारण है और इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि, 'ईश्वरेच्छा कमी निम्न कर्मों को प्रेरणाजन प्रदान नहीं करती'। संस्कार बनापि इच्छा है यही, जो परम्परया आगत है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि, 'निम्न कर्मप्रवृत्ति भी ईश्वरेच्छा पर ही अवलम्बित है'। इस-प्रकार पूर्वकथनानुसार इस समस्या के ही-ना-दोनों ही उत्तर मिल सकते हैं। हमारे अपने सत्कारिक क्षेत्र से ईश्वरेच्छा जहाँ हमारे (बीजकामना के) दुःख का कारण बन जाती है वहाँ हमारे अपने धाम्य बुद्धियोग से ईश्वरेच्छा हमारे कर्मानों की निवृत्ति का कारण बन जाती है। संस्कारकथनस्वेन यही प्रत्यगात्मा शारीरिक आत्मा का शत्रु बन कर उसे पठेन्मुख बना देता है, एवं संस्कारकथनानामात्र में यही प्रत्यगात्मा शारीरिक आत्मा का मित्र बन कर उसे संसारसागर से बचा ले जाता है।

१६-आत्मैव आत्मनो बन्धुः बुद्धियोगानुष्ठानेन, एव आत्मैव रिपुरात्मनः आसक्तिबन्धनेन

तत्त्व का सम्बन्ध भी कीजिए कि, न ईश्वर हमारी मलाई में लगेय देता, न बुराई में। इस स्वयं उसकी ज्योति से अपनी मलाई भी कर सकते हैं, बुराई भी। हमारी बाँसों के घामने कहा काच है। अपने स्वभाव से स्वयं पैलटी हुई श्वेत-सूर्यज्योति हमें काली दिखाई देने लगती है। इसमें न तो सूर्यज्योति का अनुग्रह है न निमग्न है। उसे श्वेत बनाए रखना भी हमारा अपना पुरुषार्थ है। कहा बना कर देखना भी हमारा पुरुषार्थ है। इसी आचार पर-सुखस्य दुःखस्य न काड्यि वत्ता, परो दृष्टातीति कुबुद्धिरेया स्वकर्मसुत्रमविदो हि लोकः यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। उपयोग करने वालों की योग्यता से अच्छी बख्त बुरी भी बन जाती है। अच्छी भी बनी रहती है। ईशज्योति स्वयं तम है। हम अपने क्षेत्र से (संस्कारसे) उसे मलिन बना कर उसे अपना शत्रु बना कर जहाँ-तहाँ निम्न कर्मों का भी अनुगमन कर सकते हैं, एवं बुद्धियोग से उसे स्वस्वकर्म में विकसित रखते हुए जहाँ-तहाँ अकथनकर्मों का भी अनुगमन कर सकते हैं। इसी तत्त्व की शक्त बना कर भगवान् ने कहा है-आत्मा (प्रत्यगात्मा ही बुद्धियोगसम्बन्ध से) आत्मा का (शारीरिकआत्मा का) मित्र बन कर आत्मा का (शा आ का) उधार कर देता है, एवं आत्मा ही (आद्यकि-सम्बन्ध से) आत्मा का शत्रु बन कर आत्मा को गिरा देता है-आत्मैव आत्मनो बन्धुः बुद्धियोगानुष्ठानेन, एवं आत्मैव रिपुरात्मनः आसक्तिबन्धनेन।

१७-बन्धुरात्मात्मनस्तस्य' इत्यादि उत्तर श्लोकमन्वयः—

'बन्धुरात्मनस्तस्य' इत्यादि प्रथम श्लोक के सम्बन्ध की पंथा की गयी। 'बन्धुरात्मनस्तस्य' इत्यादि द्वितीय श्लोक से इसी सम्बन्ध का स्पष्टीकरण हुआ है। भगवान् कहते हैं-मित्र शारीरिक आत्मा (बीजकामना) का द्वारा (बुद्धियोगानुष्ठान से) प्रत्यगात्मा (ईशकामना) श्वेत किया जाय। उस शारीरिक आत्मा का प्रत्यगात्मा बन्धु बन जाय। अर्थात् स्वस्थान में विपरकृत म प्रविष्टि प्रत्यगात्मा उस शारीरिक आत्मा का

लिए कन्तु विद्ध हो जाता है जो शारीरिक आत्मा यगन्नुग्रह से संस्कारकरणों को इत्यथ हुआ प्रत्यक्षमा के निर्मल ज्ञानपक्ष को अपने आधिकार में कर लेता है 'उत्प्राप्तमन'-(शारीरकमन) मन्त्रा (प्रत्यगात्मा) यगन्तु (मभति), यनात्मना (शरीर-मन्त्रना), आत्मैव (प्रत्यगात्मैव) जित- 'यही आत्मसम्पन्न है-जितवा 'यगन्तुप्रत्यगात्मनस्तस्य यनात्मैव' आत्मना जित इत आत्म में समर्थ हुआ है। ठीक इतक विनयी जो शारीरिक आत्मा इन्द्रियगुण सत्त्विकचित्तों की आशक्ति में आच्छादित हो जाता है उतक अपना आत्मस्वरूप धर्मात्मक आत्मसम्पन्न ने आत्मस्वरूप में परिणत हो जाता है। सत्त्विकचयन से आत्मना कने हुए (आत्मविक्षय में बन्धन कने हुए) शारीरिकआत्मा का वह प्रत्यगात्मा कन्तु न रह कर शक्तु बन जाता है। और उत दया में वह प्रत्यगात्मा ही (इस शारीरिक आत्म के साथ) शक्तुम् स्वप्नार करने वाला सिद्ध हो जाता है। 'शक्तुम्' का तात्पर्य नहीं है कि प्रत्यगात्मा अपनी आत्मा से न कन्तु है, न शक्तु है। शीघ्रता की योग्यता के कारण से ही वह कन्तुम् और शक्तुम् बन जाता है। 'सात्त्विकिक-अनधरात आत्ममनः (आत्मस्वरूपवर्जितस्य जीवात्मनः) शक्तुम् (प्रत्यगात्मनः) शक्तुमात्र परिणत सति) आत्मैव (प्रत्यगात्मैव जीवात्मना सह) शक्तुम् बनें' नहीं आत्मसम्पन्न है जितवा- आनात्मनस्तु शक्तुम् परित्याग्य शक्तुम् इत आत्म व समर्थ हुआ है।

१८-मनो-वाक् का 'अहमेयो' गाथा—

प्रत्यक्षवा आत्मोद्धार-आत्मपूजन की मीमांसा करने पड़े। अब पुनः प्रकृत की आत्मा पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। कदाचित् गवा था कि वक्ष्य आत्ममिमान से बंध गये, एवं शक्तु आत्ममिमान से दूर गये (५११/५५)। आत्मा से कई वर्णनसुत प्रत्यगात्मा (आत्मैव) आत्मैव है। इस आत्मा का पूर्ण विच्छेद ही आत्ममिमान है जितवा केवल आत्मवर्णन से सम्भव माना गया है। आत्ममिमान की कई पक्ष नहीं है। जितवा को विच्छेदका विद्या गया है कि—“एकद्वार मन, और वाक् में अहमेयोमन को होकर व पर्यवस्य पड़ा। मन बह्य था में गुम से रहा हूँ क्योंकि मैं बैठा व कन्तु करता हूँ ठहरे बैठा ही अप्रकार करना पड़ता है। वाक् कहते थी, मैं गुम से बही हूँ। मैं न होऊँ, तो तुम्हारा व कन्तु कमी आत्मैव में परिवर्तन न होत। इसप्रकार मन वाक् को हस्तगत करवाया था एवं वाक् मन को हस्तगत करवा रही थी। दोनों बंध निराव में अन्तर्बन्ध हो गये, तो प्रकाश (प्रत्यगात्मा) के कर्तव्य पक्षे। प्रकाश ने यह निर्णय कर बताया कि, 'तुम दोनों में मन ही भेद है'। प्रकाश के इत निर्णय से अन्तर्बन्ध होकर वाक् ने अपना येन इन राशियों में प्रकाश कर दाता कि— 'हे प्रकाश! आपने आज मुझ मन की आवेक्षा कथ्य करा है। अतएव आज मे मैं आपके लिए 'अहमेयोमन' ही बनी रहूँगी। आत्मस्वरूप व से उत वाक् ने प्रकाश के लिए सम्पन्न करना छोड़ दिया'। अतएव आज भी मन में प्रकाश के लिए जो कर्म किया आज दे वह वर्णन (वर्णन-मिमांसावाक के) ही किया जाता है' (रेलिय यत राजा वा)।

१९-आत्ममन, एवं आत्ममन-व्यपारों का पक्ष—

वस्तुतः आत्ममन का नहीं है कि, इत्यथ प्रत्यगात्मा ही प्रकाश है। वह अनेक है एवं बही वाक् का प्रकाश है। वाक् बह्य था है। प्रत्यगात्मावाक्य कर्म उपाय ही होता है। यतो वाको निर्वर्तन्त आमाप्य मनसा सह' के अनुसार कई वाक् का गमन कर्त्तव्य अवश्य है। और बही आत्ममिमान का वास्तविक परिचय है। कन्ता नहीं, आत्ममन रत्नता (व्यपकता अपने आपकी परिपूर्ण वाक् आत्ममन में प्रकट करना अपने आपकी विनक

रीति । विनय-रीतिता का यह तात्पर्य नहीं है कि, आप अपने आपको अत्यन्त-मूर्ख-निर्धन कह कर मोहित करते हैं । अस्मि 'सोडरिस सोडरिस' के अनुसार आपका विनय केवल—'तब ठीक है, मगवान् का अनुग्रह है, उस आनन्द है, धीनयान्त्रा का निर्धार हो रहा है', एवंविध सामान्य वचनों के द्वारा ही प्रकट होना चाहिए । आत्माभिमान केवल आत्मसम्पत्ति है । अतएव वह केवल अस्तर्जगत् की ही बख्त बनी रहनी चाहिए । एवं इसके लिए आपको खदा स्पर्श बना रहना चाहिए । आपकी इन्द्रियाँ शरीर, आदि भी भौतिक बनते हुए बाह्यमय ही हैं । क्योंकि पाँचों भूतों का मूल वायुत्व ही है । अतएव आपका आत्माभिमान यदि इन्द्रियों पर, शरीर पर थोड़ा भी झलक आया, तो आत्माभिमान का स्वल्प विगड़ जायगा आत्माभिमान वागतिमानरूप में परिणत होकर अस्मिानी असुरों की मूर्ति परामर्श का कारण बन जायगा । आपकी बायीं, दाहिनी नाक, हाथ, पैर, मस्तक आदि की किसी भी चेष्टा में अभिमान की झलक नहीं रहनी चाहिए । क्योंकि शब्द चेष्टानुगत अभिमान आत्माभिमान न रह कर वागतिमान बन जाता है । साथ ही विनय का अनुचित उपयोग करते हुए आपको ऐसी चेष्टाओं का प्रदर्शन भी नहीं करना चाहिए जिससे कि आप स्वयं ही दीन-हीन-मूर्ख-प्रतीत होने लगें । यह स्पष्टीकरण इसलिए करना पड़ रहा है कि आप आत्माभिमान वागतिमानरूप में परिणत हो रहा है । विद्या-वैभव से सम्पन्न व्यक्ति अपनी बायीं से चेष्टाओं से अपना क्लान करते नहीं आघाते । विद्याविमानों ऐसे व्यक्त कर-येमे छाती तान कर खलते हैं । माँओं इन्होंने विश्वविजय कर लिया हो । चाहे जिसको मूर्ख नास्तिक कह बैठना प्रजावाहों का उद्धार करते रहना, 'सर्व पवित्रता' का चरित्रार करते रहना वही इनका विद्याविमान है जो निश्चयेन किसी समय परामर्श का कारण बन जाता है । वही दया घनास्मिनिभा की है । अपने समकक्षों को छोड़ कर अन्य लघाचार्य व्यक्तियों से बात करने में भी वे घनमदान्ध अपनी मान हानि समझते हैं । घनास्मिनि से विद्वानों का अपमान करना अपनी कुशलता-वस्तुत्व का लक्षण करते रहना ही इनकी बोक्कनचर्च की रहती है । निश्चयेन विद्याविमानका घनिकों का यह घनास्मिनि मी एकदिन इनके ऊर्ध्वगता का ही कारण बन जाता है । इसके साथ ही आत्माभिमान के तारिक्त स्वरूपज्ञान से वञ्चित रहने कारण विनयपथ के अनुगामी किन्ते एक विद्वान् भी हम 'कुछ नहीं जानते हम तो मूर्ख हैं' इत्यादि हीन शब्दों में अनुचित विनय का प्रदर्शन करना अपना कष्टम्य मान बैठते हैं । एवमेव विनयरीति किन्ते एक वनिक कीर्ण-मस्तिन कस्व पहिने हुए, हमारे पास क्या रक्ता है हम तो आपके दास हैं । इत्यादि वाक्यों का प्रयोग करते रहने में ही अपना गौरव समझने की भूल करते रहते हैं । ऐस विनय मी एक प्रचर की आश्रमप्रचाराया कनता हुआ वागतिमान बन कर परामर्श का कारण बन जाता है । एवं पूर्वोक्त उद्ग्रहवाक्यका वागतिमान मी परामर्श का कारण बन जाता है । 'असम्भेध स मयति-असम्भेधोति नव चत्' भुक्ति कह रही है कि—'विनय के भ्रम में पड़ कर यदि हम 'कुछ नहीं हैं-हम क्या जानते हैं' इस न-न का पारायण करत रहे तो इस अलुचचारवाक्यक अस्मिनि से हम स्वयं किसी दिन अपना अस्तित्व ही का केनेंगे । न मिथ्या विनय का प्रदर्शन उचित न उद्ग्रहता-त्मक वागतिमान का प्रदर्शन उचित । क्योंकि दोनों ही अस्मिनिस्वेन परामर्श के शत्रु बन रहे हैं । मगवान् के अनुग्रह से हम कुछ ठीक है । इस सामान्यवाक्यप्रयोग के अतिरिक्त जो व्यक्ति बात बात में मगवधाम का लम्पुट आघाते हुए अपने विद्यावैभव का क्लान करत नहीं आघाते मगवान् ने उन्हें समग्रतः प्राणी कहा है । एवं ऐसे वागतिमानियों की परामर्शमूला वृत्तियों का विगडर्शन करत हुए ही मगवान् ने कहा है—

२ -वागविमानी दाम्भिक विद्वानों, शास्त्रकों, तथा धनिकों का आत्यन्तिक परामर्श—

“कमी शान्त न होने वाली कामना के कुपक में डूब कर दम्भ, मान मड से भुस्त होते हुए व्यक्ति मोहका अहम्-परिधरी का लक्षण करते हुए आत्महत्या कीया अपवित्र बने रहते हैं (गी १९।१)। ऐसे अनात्मकारी दम्भी पुरुषों की कामचिन्ता कमी नहीं मिलती। काम-भोग परमेश्वर अतएव सदा चिन्ता-भुक्त ऐसे व्यक्तियों का जन्म-मृत्यु प्रवाह प्रलयवस्था में ही बधता है (१९।११)। एवम्बिध कामकारी पुरुष केन्द्रों आशापाशों से आबद्ध रहते हैं। आशानुगत दम्भ, क्षीर कामनिरोधबन्धित क्षेत्र से भुक्त रहते हुए वे पुरुष अपने काम-भोग की विधाया शान्त करने के लिए ही अन्वय्य से अलक्ष्य करते नहीं आ पाते (१९।१२)। ‘आब मैत्र (अमरान् की हृषा मे) यह पा लिया, कल मेरा अमुक मनोरथ सिद्ध होमया, मेरे काम में अमुक सम्पत्ति है कल क्षीर भी सम्पत्ति मिल जायगी (१९।१३) मैंने अपने बाहुकल से अमुक रातु को मार दिया है वृद्धों को भी मार डालूँगा मैं तर्जमार्थ हूँ, मोसी हूँ, सिद्ध हूँ क्लेशाम् हूँ कुली हूँ (१९।१४) आत्म्य (शुद्धनस्यमम कर्तुमिति) हूँ, अमिन्नवान् (विद्वान्-वक्ता) हूँ मेरा कैसा आब (इत नगर में) क्षेत्र है मैं सब करूँगा वान करूँगा, प्रसन्न हूँगा” इसप्रकार ये वागविमानी अज्ञान से किमोदित बने रहते हैं (१९।१५)। अपने आप को स्वयं ही कर्मा मानने का अतिमान करते हुए, अन्यायोपाशित बनने धनी, लूटनेमेधी परस्परवर्ग के द्वारा प्राप्त मान से मानी मरनेमर बने हुए ऐसे ही अज्ञातिमानी केवल अपने नाम के लिए ही दम्भपूर्वक भिना ही शास्त्रविधि के वृद्धन-पाठ-उपासना-कथा-यज्ञ-आदि का आह्वार किन्तु करत हैं (१९।१७)। क्या दृष्टा होती है इन अतिमानियों की अन्त में १, शून्यम्।

तानहं द्विषत् क्रूरान् ससारणु नराधमान् ।

धिपान्यजस्रमशुमानासुराप्तेव योनिषु ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।

मामप्राप्यैव कान्तेय ! ततो यान्त्यधर्मा गतिम् ॥

✻ * ✻

अन्य तु— एतन्निमुक्त कान्तय ! तमाद्वारस्त्रिमिनर ।

आचरस्यामन भेषगन्तो याति परां गतिम् ॥

✻ * ✻

२१—स्मितहासानुगत उपांशुभावनविध धन आत्मैरवश्यम्—

उक्त विवेचन में कहना बही है कि आत्मा वाचस्पत्यैरा (वाचस्पत्यैरा) में खीभूत है। अतएव आत्मवीर्य शम्भुलक्षित बन कर ही विकसित होता है। शम्भु के द्वारा ज्ञान करने से आत्मवीर्य अभिभूत होजाया है। जलस्वरूप एवम्बिध वाच्यमान में मनुष्य पराभूत होजाया है। तमभ्य अपने वाच्य महान् परम मार से इत महका का ज्ञान मत करो, बही आत्माभिमान है और बही आत्माद्वार का अन्वय्य मय्य है। अन्वय्य का यदि आर शम्भु के द्वारा मष्ट करत हैं तो यह वागविमान है। अतएव महका का ज्ञान न करने के लक्ष भाष हीनसमूहक शम्भु का भी प्रयोग मत करो। वागविमान न बुझावत आत्मविमानमूलक वह पूर्णव्यय ही आत्मोद्वार के लिए निःशेष-कथा है। एवम्बिध आत्माभिमान में न दम्भमय होत होत न अज्ञात

होता । होता है केवल उपाय-आत्ममूलक मन्दहास, स्मितहास । आत्मवीर्यशाली महापुरुषों के मुख पर मन्दहास की प्रतिच्छया सर्वदा अङ्कित रहती है । जिनका आत्मवीर्य्य वागसिमान से, एवं अम्यान्व अक्षर्यादि पाप्मा-रंक्षकों के समावेश से हीनवीर्य्य बन जाता है उनका आत्मा, बुद्धि, मन, इन्द्रियवर्ग शरीर, सब कुछ मुग्ध होते हैं । यह मुग्ध ही स्मितभाव की विरोधिनी, ऐश्वर्य्य की विरोधिनी 'अस्मिता' है । स्मित, हास, अष्टहास तीनों में से स्मितभाव ही आत्मविद्या का सूत्रक है । अतएव आत्मनिरास्तरूप, स्मितभाव-त्मक ऐश्वर्य्यमग के प्रतिहन्त्री आत्मसंकोचरूप अनैरवर्त्यमात्रत्मक क्रेश के लिए 'अस्मिता' शब्द का प्रयोग करना अनुरूप माना गया है, जिस अस्मिता के स्वरूपविरुद्धता के लिए ही हमें आत्मासिमान-आत्मासिमान का स्वरूप कलना पड़ा है । और यही ऐश्वर्य्य, तथा अस्मिता-मात्री का संवित् तात्त्विक विरुद्ध है जिसके आकार पर ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता राक्षसिया का स्वरूपज्ञान अवलम्बित है ।

२२-ईश्वर का ऐश्वर्य्य—

प्रत्येक मनुष्य का हृद्य आत्मा उस वस्तु का प्रातिस्विक ईश्वर माना गया है । इस प्रातिस्विक हृद्य ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाला तत्त्वस्तु का महिमामयत्व ही तत्त्वस्तु का ऐश्वर्य्य माना गया है । एवं अकलक व्यक्तिमेव से विभिन्न बन हुए प्राणी-रक्षा के अर्थात् (राक्षी) आध्यात्मिक ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाले ऐश्वर्य्य का ही स्वरूपविरुद्धता हुआ है । अब दो शब्दों में समस्तपालक, प्रियव्यापक, आधि-दैविक ईश्वर के ऐश्वर्य्य का स्वरूपपरिचय करा देना भी आवश्यक होगा । आनन्द-विज्ञान-आत्मर्मोमेन विद्यात्म्य को अपनी मूलप्रतिष्ठा कानि वाला, मनःप्राणवाक्मय कर्माध्यय को स्वस्वरूपनिर्मात्र बनाए रखने वाला ब्रह्मेन्द्रविष्णुसामानिकरूप-कलापमन्त्रकालम्क-पराप्रकृति नामक अक्षर को निमित्तकारण बनाए रखने वाला, प्रत्य-भाष-वाक्-अक्ष-अज्ञादलक्षण-कलापमन्त्रक-अपराप्रकृति नामक आत्मक्षर को उपरालकारण बनाए रखने वाला अक्षय-अक्षर-आत्मक्षर-अक्षि से बोधराफल को रहने वाला वेद लोक-वेद-भूत-पशु-लक्षण-कलापमन्त्रक अक्षिरूपकृति से मुक्त वाक्-अक्ष-अक्षि इस शुद्धव्य से शुद्धस्मा-स्म में परिचय रहने वाला एवं अर्पणेश्वर्य्य निरूपण-अक्षरपणेश्वर्य्य निरूपण-अक्षयपणेश्वर्य्य निरूपण-अक्षि से प्रसिद्ध उत्पत्तिस्थे ॥ ईश्वर है । इस आधिदैविक ईश्वर की ईश्वरता ही ऐश्वर्य्य कहलाया है ।

उक्त लक्षण आध्यात्मिक ईश्वर की ईश्वरता आध्यात्मिक, आक्षेपिक, अक्षेपिक, मेव से तीन शब्दों में निरूपित मानी गई है । ज्ञानज्योतिर्मयत्व आध्यात्मिक है, यही इक्ष्वा प्रथम, तथा मुख्य ऐश्वर्य्य है । विद्यात्मक कर्मपण्ड उक्त आक्षेपिक है यही इक्ष्वा विश्वरूपरक्षणक दृष्टा ऐश्वर्य्य है । पाञ्चमीतिक अक्षेपिक उक्त अक्षेपिक है यही इक्ष्वा विश्वामक तीसरा ऐश्वर्य्य है । ज्ञान-विद्या-अर्थात्मिका इस ऐश्वर्य्यमयी से मिले हुए प्रियेश्वर सर्वत्र विफलि हो रहा है । विविध ऐश्वर्य्यशाली इस ईश्वर की ईश्वरता इस लिए अक्षुण्ण है कि, वह स्वयमय मायाशील विधातील अक्षयक-अक्षय परस्पर परस्पर के प्रति अनन्यनिष्ठा से आत्मसमर्पण किए हुए है । परस्पर परस्पर के परमैश्वर्य्यप्रधान से ही यह ईश्वर ऐश्वर्य्यशाल बनता हुआ है । और यही आधिदैविक ईश्वर के ऐश्वर्य्य का तात्त्विक स्वरूपदिग्दर्शन है ।

२३-जीव का ऐश्वर्य—

किस प्रकार महात्मापण्डित ईश्वर मायावीत परस्पर परस्पर का अंश है तबैव विश्वार्थ में रहने वाला योगमात्रावच्छिन्न प्रभावार्थ (अस्मादादि जीवार्थ) उस महात्मावी, ऐश्वर्यवन्तशरीरों विश्वेश्वर का अंश माना गया है। वह कारण है यह अर्थ है। कारण के धर्म ही तो अर्थस्वरूप के निर्माता माने गए हैं। सुतरां अंशो-ईश्वरकारण के अंशस्वरूप-जीवार्थ में भी कारणेश्वर में मूल तत्त्व हीन ऐश्वर्यधर्मों का भोग सिद्ध हो जाता है। ऐश्वर्यशाली ईश्वर जैसे अपने ज्ञानेश्वर से सर्वोच्च ज्ञानेश्वर से सर्वोच्च, तथा अर्थेश्वर से सर्वोच्च बना हुआ है, एवमेव सर्वशून्य जीवार्थ में 'पूर्वमिदं' पूर्वमिदम् के अनुसार ज्ञान-विद्या-अर्थ नामक हीन ऐश्वर्यों से निरूपित रहता हुआ परिपूर्ण है। जो यह है जो यह है। जो नहीं है, जो नहीं है, और तत्त्वदृष्ट्या वह सम्पूर्ण नवार्थ बन रहा है।

२४-ईश्वराश्रित, अत्यथ ऐश्वर्यशाली भी जीव का अज्ञानेश्वर—

किन्तु ! किन्तु इसविधि कि देखते हैं विविध ऐश्वर्यशाली बना रहता हुआ भी जीवार्थ अत्यथ, अत्यथ, अत्यथ-मार्गों का उपलब्ध प्रतीत हो रहा है। 'अमुक किन्तु हमारी समझ में नहीं आता' इस रूप से वह अपनी अत्यथ का परिचय दे रहा है। 'हम अमुक अर्थ करने में सर्वथा असमर्थ हैं' इस रूप से अपनी अत्यथ का अभिप्राय कर रहा है। एवं 'हमारे क्षेत्र में अमुक लक्षण-व्यक्ति का अभाव है' इस रूप से अपनी अत्यथ का परिचय दे रहा है। अन्तर्गत में ज्ञान-धर्म-अर्थ, हीन ऐश्वर्यों के परिपूर्ण मात्रा से विद्यमान रहते हुए भी जीवार्थ अपने आपको इन ऐश्वर्यों से वञ्चित मान रहा है। यावत् हमारे क्षेत्र में जन नहीं, कर्म नहीं, परमो अर्थ नहीं, परतो शान्ति नहीं इत्यन्तर्गत वह देखो वह न-न नाशपूर्ण अज्ञानेश्वर में ही वह जीवार्थ निमग्न वेला-गुना का रहा है। वह इसके अन्तर्गत में अत्यथ ऐश्वर्यशाली विद्यमान है तो फिर कभी जीवार्थ की यह दुःखता हुई, इसी अर्थ का उपादान करने के लिए 'अस्मिता' शब्द का जन्म हुआ है।

२५-लौकिक उदाहरण, और अस्मिता—

अस्मिता का जन्म होता क्यों है ? कभी जीवार्थ आध्यात्मिक अत्यथेश्वर-के आध्यात्मिक ऐश्वर्य-क्षेत्र में वञ्चित रह कर अपने आपको ज्ञान-विद्या-अर्थेश्वर्यों से शून्य समझ होता है। हरपात्रि घरनों का एकमात्र कारण है अस्मितामात्रात्मक विषय के साथ जीवार्थ का प्रतिकल्पन-तन्मय। अथ मूर्खता किन्तु उन्मत्त-प्रमाण करते हुए केन्द्रस्थ आध्यात्मिक से वञ्चित है। इसी आध्यात्मिकप्रमाण से उनमें बड़ता का उदय हो रहा है। बड़ता एक प्रकार का वह लौकिकार्थ है जिसके आगमन से विरूपण आत्मा का विरूपणलक्षण ऐश्वर्य अभिभूत हो जाता है। इस विषयलक्षणलक्षण बड़ता का मूल कारण कभी है उन्मत्तप्रमाणलक्षण ऐश्वर्य। इसके लक्षण से अत्यथ-आगत विषयलक्षण पहिले प्रमाणमन में प्रतिक्रिया होते हैं। प्रमाणलक्षण प्रमाणपरिणत विज्ञानार्थ (बुद्धि) में प्रतिक्रिया हो जाते हैं। इस परमपरिणत विज्ञानलक्षण से विज्ञानप्रमाण का ऐश्वर्यलक्षण स्वाध्यात्मिक ऐश्वर्यलक्षण अभिभूत हो जाता है। बुद्धि 'अस्मिता' बन जाती है। अत्यथ हो जाती है। अस्मिता (अस्मिता-अत्यथ) ऐसी बुद्धि ही अज्ञानेश्वरलक्षण शोक की प्रकृति का कारण

मन जाती है। अस्मिताश्रित बुद्धि ऐश्वर्यात्मक अक्षयश्रवर नामक अपने मूलतत्त्वा के विकासानुग्रह से वधित रह जाती है। अतएव रहते हुए भी आत्मेश्वर्य के बीजात्मा इस अस्मिताबुद्धि के निग्रह से बालवत् अपने आपको असमर्थ बना लेता है।

२६-बाल-शूद्र-मावानुगता अस्मिता का स्वरूपदिग्दर्शन-

संकुचित बुद्धि का नाम ही अस्मिता है, जिसका लौकिक उदाहरण बालक माना जा सकता है। एक बालक की बुद्धि प्रकृत्या अस्मितामय में परिणत रहती है। अतएव वह बात बात पर रोने लगता है, दुःखी हो जाता है। प्रत्येक शब्द सुनने से, किसी के धमका देने से वह जमक पड़ता है और मयत्रस्त बन कर दौड़ कर माता के अङ्गल में जा छुट्ता है। जनसमुदाय (मीड) को देख कर वह हक्का बक्का बना रह जाता है। चन्द्रमा से मन का निर्ममाण हुआ है। चन्द्रमा बोहराकन माना गया है। एक बर्ष में चन्द्रमा की एक कक्षा मन में प्रतिष्ठित होती है। इसप्रकार सोलह बर्ष में चन्द्रमा की सोलह कक्षाएँ मन की परिपूर्ण बनाती हैं। इससे पहले पहले चान्द्र मन अपूर्ण ही बना रहता है। चान्द्र मन ही बुद्धि का आचार है। क्योंकि सोलह बर्ष से पहिले पहिले बालक का मन अपूर्ण रहता है। अपरिणत रहता है, असिद्ध रहता है। अतएव उस तक कल्पितबुद्धि का भी पूरा विकास नहीं हो पाता। यही बालमायाश्रित स्वामाश्रित अस्मिता है। इसी आचार पर 'प्राप्तं तु पोहय वर्षे पुनर् मित्रवत्साधरेत्' यह विद्वान् स्थापित हुआ है। कारण स्पष्ट है। पूर्ण-सिद्ध चन्द्रमा पर ही सूर्य का पूर्ण स्थिर प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित होता है। १६ बर्ष से पहिले अपूर्ण के हुए चान्द्र प्रमान (मन) पर और विकास पूर्णतम से प्रतिबिम्बित नहीं होने पाता। अतः इससे पहिले पहिले ही बाल-बुद्धि पर माता-पिता आचार्यादि का अनुशासन बाल रहता है। १६ बर्ष के अनन्तर चान्द्र पोहय कक्षाओं की परिपूर्णता से और विकास पूर्णमासा से उत्पन्न हो जाता है बालक बालकनता छोड़ कर स्वतन्त्रमन बन जाता है। अतएव १६ से आगे इस पर अनुशासन नहीं किता जा सकता। बहि किया गया है तो वह विरोधी बन जाता है। इस अवस्था में तो शूद्रमात्र से ही हक्का निग्रहानुग्रह किया जा सकता है। १६ बर्ष पर्यन्त का अवधि अवस्था है इसकी बुद्धि अस्मिता है अपरिणता है। अतएव इस अवस्था पर्यन्त इससे किसी नियम पर परामर्श (राय) नहीं लिखा जा सकता। १६ बर्ष के अनन्तर ही लौकिक बुद्धि का परिणत आरम्भ होता है। शब्दकुसुप की आधु के १ बर्ष ५ -५ मेह से ही भावों में निपटता है। पहिले ५ बर्ष पर्यन्त मानव-बुद्धि का उत्प्रेरक उद्गम (जाड़ा) है उत्तर के ५ बर्ष पर्यन्त निग्राम (उतार) है। फलतः १६ बर्ष से आरम्भ होने वाली बुद्धिविज्ञान की अन्तिम विभाजनमूर्ति ५ बर्ष बन जाता है। यहाँ से आगे के ५ बर्षों में वयसि बुद्धि रहती तो है अधिराज्य से परिणत, किन्तु इन्द्रियशैथिल्य से इस उद्यमकस्या में अनवधानता (भूलना-किस्मिति) दोष का समावेश हो जाता है। अतएव ५ बर्ष के ऊपर की आयु का पुरुष लोकप्रवहारकालन में प्रमाद कर बैठता है। इसीलिए भारतीय वैदिकों में वह आदेश दिया है कि, ५ के अनन्तर तुम लौकिकप्रवहार का पध्याम कर अनवधानता बनी बनाना चाहिए- 'वर्गं पञ्च-शतो प्रवृत्तं'। तत्पर्य ५-से आगे तथा १६ से नीचे नीचे पुरुष की बुद्धि लौकिकप्रवहारकालन अस्मिता मायाश्रित बनी रहती है। अतएव इन दोनों अवस्थाओं में (बालक को, और शूद्र को, दोनों को) परामर्श की आवश्यकता रहती है। इस लौकिक-प्रावहारिक उदाहरण के द्वारा भी लौकिक अस्मितामय का समन्वय किया जा सकता है। राजक की अवस्था प्राकृतिक है, प्रावहारिक को अस्मिता आत्मगुह है। राजक की अस्मिता

जता है। बंशधों के पूर्वजैरव के कलानमात्र से हमारा सुप्त गौरव प्रभुत्व ही जाता है, अस्मिता हट जाती है।

6. सन के चारण मादों की विबदावली ने अनेक बार पराधित होते हुए चारियों को विजयलाम करवा है।

उ के लिए समुद्रतट पर समवेत नानरसमूह अब अङ्गागमन की मीमांसा आरम्भ करता है, तो

नक्षे की ओर उसका ध्यान आकर्षित हो पड़ता है, जो मार्कट अपने आपकी समुद्रोत्थाहन में पड़े हुए दृष्ट मीमांसा से तटस्थ बने एक ओर बैठे थे। अब इन्हें इनके स्वाभाविक ऐरवर्म्यकल का करवा जाता है, तो उत्पन्न आपकी अस्मिता प्रस्थापित हो जाती है। परिणाम क्या होता है?

ऐसे ऐसे शतशः उदाहरण उपरिष्ठ किए जा सकते हैं, जिनमें पहिले से विषमता

अरण दबा रहता है। अब अस्मिता के उपावधियों के द्वारा दृष्ट होने पर जाता है।

प्राप्तवस्तुता से असात्तर में अपने आप हट जाती है। प्राप्तवस्तु की अस्मिता इतनी है एकमात्र ऐश्वर्य-निर्भरता से, जिसके सम्मुख में भी एक लौकिक उदाहरण उपरिष्ठ किया जा सकता है।

२७—काम्य ऐश्वर्य की अनित्यता—

मान कीर्षि-वेद्याभिपति शास्त्र लोभैश्वर्य से सम्पन्न है। इस ऐश्वर्यसम्पन्न शास्त्र के वेदनमयी अनुचर शास्त्र के ऐश्वर्य से अनुपरीत रहते हैं, शास्त्र के ऐश्वर्य के मूल (माग-अवयव) को खोते हैं। यही इस अनुचरवर्ग का 'मतिवस्तु' है। इस मतिवस्तु के प्रमाण से अनुचरवर्ग की अस्मिता इती रहती है। शास्त्र का अन्तरात्मक प्रभाव के निती सम्पन्न धनिक की अपेक्षा आर्थिक दशा में कोई महत्त्व नहीं रखता। धनिक-कोट्यभिपति है शास्त्रानुचर अधिक से अधिक १-२ प्राप्त कर लेता है। इसप्रकार वनेश्वर्य की इति से सम्पन्न धनिक की अपेक्षा शास्त्रानुचर स्वया निम्न भेदि में प्रविष्टि है। परन्तु शास्त्र के मतिवस्तु से धनिक बर्हि बर्हि है बर्हि शास्त्रानुचर शास्त्र के उस मतिवस्तु से अनुपरीत है जो मतिवस्तु धनिक के निवेश्वर्य से बर्हि अधिक महत्त्वप्राप्ती है। यही कारण है कि सम्पन्न भी धनिक बर्हि शास्त्रानुचर से सम्पन्न बना रहता है बर्हि शास्त्रानुचर इस मय से किमुक्त बना रहता है। यही नहीं अपितु इसी मतिवस्तु के अनुग्रह से शास्त्र का एक सुख लेखक (अपवर्ग) भी सम्पन्न धनिक के लिए 'आप वो उनके पास आदमी है' इस वृद्धि-उत्पादकपूर्ण सम्पन्न बन जाता है। जब तक अनुचर शास्त्र का अनुचर है तभी तक वह इस लोभवस्तु पर किन्तु प्राप्त किए रहता है। किन्तु दिन बह अपने अधिकारवस्तुत्व मतिवस्तु से गिर जाता है उस दिन इन्हें बर्हि अपने स्वयं के अनुग्रह अस्मिता अन्त हो जाती है। यही मतिवस्तुत्व-अनुग्रह ऐश्वर्य का लौकिक उदाहरण है किन्तु अस्मिता से सम्पन्न है। अतएव हर्षवस्तु ऐश्वर्य 'अन्तमतिवस्तु' कहलाता है किन्तु शास्त्र प्रवर्ग प्राप्त नहीं किया जा सकता।

२८—ऐश्वर्यबोध का अभाव, एवं अस्मिता का अकर्मत्व, तथा तन्मूला दुःखप्रवृत्ति—

यह भी देना देना यद्यपि कि, कभी कभी रहती हुई भी ईश्वर्य (स्वाश्रित्यत्व) अकर्म के कारण किन्तु नहीं हो पाती और उस दशा में वह दुःखी-अकर्म्य बना रहता है। अपने ही पर में इन्तु गन्तु हुआ है। इन्तु उच्छ्व बोध नहीं है। इन्तुमात्रवर्गित दुःख इस पर आक्रमण करते रहते हैं। इस में तन्मूर्त बोधवर्ग प्रविष्टि है, परन्तु कुचक्रिनी ने—'दुःख कुच नहीं दुःख कुच नहीं' कह कर अपने स्वार्थवर्ग के लिए इन्तु अस्मिता में बाध रहता है। परिणामस्वरूप इस अपने आश्रित्य स्वार्थ अन्तम मानते हुए पचवर्ग बन जाते हैं। वर्तमान शिक्षाप्रवृत्ति में उपरीत अस्मिता इतिवर्ग ने ही वो मायवर्ग की स्वाभाविक ईश्वर्य की अस्मिता के आनन्द से आहत कर लिया है। 'हम कौन व कौन है? इतिवर्ग परनी का उत्तर देने वाला इतिवर्ग इन्तु कह लिया था कि—'दुःख अस्मिता से अस्मिता से अस्मिता-कुच न वे'। इस प्रकार शिक्षा से इन्तु पूर्णवर्ग अस्मिता होना जा रहा है। महाभारत युद्धप्रवृत्ति में अस्मिता की इती निधि ने अन्त के स्वाभाविक प्रवर्ग को अस्मिता कर लिया था। वह भी तो यद्यपि कि इस वार्ता के द्वारा अस्मिता का भी प्रवेश कर सकता है और अस्मिता इतिवर्ग ऐश्वर्य का अन्तम भी कर सकता है। दुःख करते हुए वो मस्ती में से किन्तु मस्ती के प्रति बनता—'शास्त्र अन्तु, मार लिया' इतिवर्ग अन्तु वार्ता की वार्ता का अन्तम करती रहती है किन्तु उस मस्ती में अस्मिताप्रवेश के द्वारा अस्मिता अन्तु अन्तु का अन्तु ही

जाता है। बराबों के पूरनौरव के क्लानमात्र से हमारा सुप्त गौरव प्रबुद्ध हो जाता है, अस्मिता दृढ़ जाती है। राक्षसपन के चारख माटी की बिखरावली ने अनेक बार पराजित होते हुए क्षमियों को बिखरलाभ कराया है। सीतान्तेधन के लिए समुद्रतट पर समवेत वानरसमूह जब लङ्कागमन की मीमांसा आरम्भ करता है, तो सद्य मावृति की ओर उच्छा ध्यान आकर्षित हो पड़ता है, जो मावृति अपने आपको ठमुद्रोत्साहन में अस्मय पाते हुए इस मीमांसा से लटख बने एक ओर बैठे थे। जब इनहीं इनके स्वाभाविक ऐश्वर्य्यक्ष का परिचय कराया जाता है, तो तत्क्षण आपकी अस्मिता पलायित हो जाती है। परिणाम क्या होता है? बड़ सबविदित है। एवमेव ऐसे ऐसे राक्षस उन्नाहरण उपरिष्ठ किए जा सकते हैं, जिनमें पहिले से विद्यमान भी ऐश्वर्य्य आगन्तुक अस्मिता के क्षरण दृष्ट रहता है। एव अस्मिता के उपायविधियों के द्वारा दृष्ट देने पर स्वता सिद्ध ऐश्वर्य्य मेधापात्रे सूर्य्यवत् प्रकट हो जाता है।

२६—आगन्तुक अस्मिता के द्वारा ऐश्वर्य्य का अभिमव—

ठीक वही स्थिति यहाँ समझिए। आगन्तुक अस्मिता के सम्बन्ध से बीवात्मा की बुद्धि आत्मैश्वर्य्यसं-
ग्रहक ऐश्वर्य्यद्विभूत अपने विद्यलक्षिमात्र से चञ्चित रह जाती है। इस स्थिति का यों भी समन्वय कर लीजिए कि अस्मिता के सम्बन्ध से अत्यन्त-अस्पष्ट-अस्पष्टि बने हुए बीवात्मा की बुद्धि भी अस्मिता (अविकसिता) बन जाती है। इस अस्मितलक्षि का उस ऐश्वर्य्यशाली प्रत्यगात्मा के साथ योग नहीं होने पाता। योग है और अवश्य है। परन्तु उसके और इनके योग में अस्मिता-प्रतिकन्धन का समावेश हो रहा है। अस्मिता अनैश्वर्य्यलक्षण अपूर्णमात्र है। उद्धार बीवात्मा में परम्परया मुक्त भी अस्मयैश्वर्य्य उल्लेख प्रभार अस्मितमात्र में हो परिणत हो रहा है जैसे कि कृष्णकाच के द्वारा आगत श्वेतारिम भी कृष्णरूप में परिणत हो जाती है।

३०—साक्षी सुपर्यसखा के साभिध्य से अस्मिता की निवृत्ति—

जैसे यह अस्मिता दृष्ट है, इस प्रश्न के समाधान के लिए ही प्राचीनी की आर से काम्य-मन्त्रियोग का आविष्कार हुआ है। संक्षेप उस समय आश्रयमेव विद्यलक्ष्य में परिणत हो जाता है, जब कि संक्षेप-
शाली व्यक्ति का किटी अपने से अधिक बलशाली सहायी व्यक्ति से सम्बन्ध हो जाता है। लौकिक उदाहरणों से स्थिति का समन्वय कीजिए। अपरिचित, एतावता ही विनासीय व्यक्ति के सामने एक कथ की किनेद-
इतिहास कुण्ठित हो जाती है, अस्मितमात्र में परिणत हो जाती है। वही बन्धा परिचित, एतावता ही सहायी माता-पिता-मृगनी-आदि के सामने आता ही पुण्यवत् विकसित हो पड़ता है। पूर्य-गुरुकनादि के सम्मुख हमारी मानस ग्यवना उनके आधिकारिक बलापात से दबी रहती है। परन्तु एक मित्र के सामने हमारा अन्तर्गत विकसित हो पड़ता है। लौकिक अपूर्णता की मूलकारणभूता अस्मिता तभी दृढ़ लक्ष्मी है जबकि बीवात्मा अपने सहायी कथ का आश्रय ले लेता है। आध्यात्मिक आश्रयेश्वर के अतिरिक्त इच्छा नित्य कथ दृष्ट और कोई नहीं है जो उक्त आश्रयेश्वर इसके साथ युक्त रहता है। 'हा सुपर्या सयुवा सन्वायो' इत्यादि बुद्धि के प्रमुख लक्ष्यसुपर्या नाम से प्रसिद्ध प्रत्यात्मलक्षण परमात्मा तथा मोक्षसुपर्या नाम से प्रसिद्ध शरीरकमललक्षण बीवात्मा लुण्ठ-लला (अभिज्ञमित्र) हैं। बीवात्मा अस्पष्ट-अस्पष्टि-अस्पष्टि मित्र है, परमात्मा सर्वज्ञ-सर्वशक्ति-सर्वविम मित्र है। जिस निर्धन का मित्र एक सग्न पतिव हो, वह कभी यह

नहीं पा लब्धा, परकि उक्त धनिक मित्र के साथ इस निर्धन मित्र का अनन्य सम्बन्ध रहे। सहायी परिपूर्णा ईश्वरकृपु के साथ बिना दिन इस आधुन्य भीष का 'मक्ति' सम्बन्ध हो जाता है उक्त दिन उक्त परिपूर्णा रक्की अपूर्णता को भी परिपूर्णताकन में परिणत कर देती है, और यही आकर भीष की अपूर्णतालक्षणा अस्मिता का एकात्मतः सम्बन्ध हो जाता है।

३१-अस्मितानिवर्तिका ईश्वरोपासना—

अन-किना-अर्थैश्वर्यपन ईश्वर की उपासना का अर्थ है-उक्त आर्त्तित विन्तन। इत विन्तनकम समनस्यव्यवहार से उक्त ऐश्वर्यवयी हकमें प्रवाहित होने लगती है। यही ईश्वरोपासना है जो अस्मितानिवर्तिका का मुख्य उपाय माना गया है। अपूर्णताभविता दुःखनिवर्तिका की अप्रमत्ता से सम्बन्ध रखने वाली यह उपासना उपासना न रह कर काव्य मक्तियोग बन जाती है जिसे मूलतःकाव्य में 'प्रोमामक्ति'-'कृपुको-पलना'-इत्यादि नामों से सम्बोधित किया गया है। इस काव्य मक्ति में क्या क्या होय है? इसका अनुमानकाय क्या है? इसका मूल लक्ष्य काव्यमा वीन है? उपासना और मक्ति में क्या अंतरतम्य है? इस काव्यमक्ति का समाधान ने उपायन कयी अविचार्य माना है? इत्यादि मक्ति-उपासना सम्बन्धी कव्यकाय प्ररनों की मीमांसा द्विपक्षालिपि 'मक्तियोगपरीक्षा' में की जा चुकी है। अत यहाँ निम्नोक्त अनानस्यक है। प्रकृत में विव्यमवृत्ति के बिना यही कह देना फर्याप्त होगा कि—

३२-काव्यमक्तियोगानुगता दोषपरम्परा—

'अम' उत्तर प्रत्येक दशा में त्रिगुणभाव का उत्पन्नक है। त्रिगुणभाव प्रत्येक दशा में आच्छिन्न का प्रत्येक है। एवं आच्छिन्न प्रत्येक दशा में अक्षमकवन का अग्रण्य है। इसका लौकिक दुःखों से दुःखदाय हो, हम अपनी अपूर्णता छोड़ कर परिपूर्णा बन जाय इस कामना में ईश्वरकामना के साथ काव्य अशक्त अस्माका-काका-लक्षणा कीकामना का भी अप्रवेश बना रह जाता है। अतएव ऐसी कामनी कृपुकोपलना काव्य कृपु कर्मकर आच्छिन्न का आत्मनितक निराकरण करने में असमर्थ बनी रह जाती है। किन्तु प्रथम-त्रिगुणव-विपक्ष यथा: के अनुसार काव्यकर्म त्रिगुणभावप्रत्येक करते हुए प्रत्येक की दृष्टि में स्वात्म है, प्रत्येक त्रिगुणविपक्ष कृपुकोपलना काव्य-मक्ति की समानता की दृष्टि में अक्षमता है। काव्य-मयी मक्ति में प्रेम का अस्तित्व सम्बन्ध है सम्बन्ध भी आ लक्ष्यी है अशक्त अस्मिता भी इत लक्ष्यी है। कल्प इतने विद्वत्ता का उदय नहीं होता। अक्षमकवन ही विद्वत्ता है, और यह गुणातीत है-'अनादि-स्वादिष्टा' 'स्वात् परमहमायमव्ययः'। उक्त कामभाव के सम्बन्ध से काव्य मक्तियोग का लक्ष्य कला है-अनुपपत्त-त्रिगुणभावप्रत्येक कृपुकोपलना। त्रिगुण विद्वत्ता और कृपु-अविचार बीजप्रदा, दोनों के मध्य में काम, तदनुकम्पी गुणभाव लक्ष्यवोमी प्रेमभाव आदि आदि अनेक विद्यतीय उक्त मक्तिकर्मों का सम्बन्ध हो जाता है किन्तु अशक्त बीजप्रदा का उक्त त्रिगुण परमहमा के साथ अनन्य सम्बन्ध नहीं हो पाया। यही काव्यमक्तियोग में प्रथम दोष है। दूसरा दोष है-अनवैशम्य का अक्षमकवन। विद्वत्ता अनप्राधान है इतने दान के सम्बन्ध से यह आशक्ति के लक्ष्य विनिमुक्त रहता हुआ वैराग्यमूर्ति है। अन-वैराग्यलक्ष्य त्रिगुण विद्वत्ता का आर अज्ञान-आशक्ति लक्ष्य कृपु बीजप्रदा के मध्य में जब तक अस्मितानिवर्तिका का अस्मात्त है वह वह विद्वत्ता की अन-वैराग्य-अज्ञाती के अनुग्रह से पीमाभा वनिष्ठ बना रहता है। अन-वैराग्य-अविचार

ऐसी मक्ति के अनुपायी मक्त प्रेमविभोर बन कर ग्राह्य रहा सकते हैं अन्य हो सकते हैं सम्भवतः परमपद भी प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु कत मयिच्छा से इनकी विन्मुक्ति हो जाती है। अतएव ऐसे काम्य-मक्तिमार्ग में काम्य-कर्मयोगार्थ वैयक्तिक स्वायत्तचन तो हो जाता है परन्तु लोकान्मुद्वेगसक लोकसंग्रह नहीं होने पाता। प्रत्यक्ष में देख लीजिए न-गुणात्मिका काम्यमक्ति दासभाव से मक्त को अस्मिता की अनुगामिनी बना रही है। आस्तिक मत्वा मगबाहिरों के सम्मुख अपनी दासता का क्लान करती नहीं आसती। दासभावना अच्छी हो अथवा बुरी, दासभावना धिर काम्यमत्त में आकर कालान्तर में अक्षयमेव अस्मिता की बननी बन जाती है। प्रेमभाव से मनोचरित्त स्वत्य नहीं रहने पाता। फलता एवंचि मक्तिमार्ग में बर्णाभमानुगत स्वधिशारत्थि कर्तव्यकर्म से भी विन्मुक्ति हो जाती है। इन्ही सब कारणों से कामनामयी यह मक्ति गीतादृष्टि से दोषावह ही मानी गई है।

३३-परम्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या का स्वरूपनिर्धार्य—

लोकस्वाहक भगवान् ने लोकप्रचलित इसी काम्य-मक्तियोग का कामना-उद्योचनपूर्वक काम्य-अचरानन्वतास्मावेश के द्वारा उद्योचन कर इसे निष्कामभावसक बुद्धियोगस्वरूप प्रदान करते हुए इसका 'देव्यबुद्धियोग' रूप से गीताशास्त्र में संग्रह कर लिया है, जो परम्यबुद्धियोग ज्ञान-वैराग्यपरिपूर्णा-निगुणमक्ति निष्कामोपासना आश्रयोपासना ईश्वरानन्वता, आदि नामों से सम्बद्ध किया जा सकता है। किंच प्रचार काम्य-कर्मयोग अद्वितीय में प्रचलित था एवमेव काम्यमक्तियोग प्रचलित' क्षत्रिय राजाओं में ही प्रचलनरूप से परम्परा प्रचलित था। अतएव क्यूला, उपप्रचारकादिभ्यः किया मीता में-'राजविद्या राजगुह्य पवित्रमिवमुत्तमम्' इत्यादि रूप से 'राजविद्या' नाम से सम्बद्ध हुई है। अतएव इसे हमने 'देव्यबुद्धियोगानुगता राजविद्या' नाम से सम्बद्ध करना अनव्यय माना है।

३४-प्राचीनाभिमत योगप्रयी का गीताचार्य क द्वारा सद्योचन—

काम्य-कर्मयोग में बर्णाभमतिष्ठ काम्य-कर्म का संग्रह अक्षय था परन्तु उल्लेख ईश्वरभावना का अभाव था। कर्मों मीमांसकों की दृष्टि में 'कर्म' ही ईश्वर बना हुआ था। इसी कर्माभिनिवेश से यह काम्य-कर्मयोग देव बन रहा था। भगवान् ने कामनास्वागूर्वक इसका बुद्धियोगस्वरूप प्रदान की। निष्काम-मायात्मक निष्काम-कर्मयोग में ईश्वरभावना का समावेश हुआ परन्तु गौणरूप से। प्रधानता कर्म की ही रही। एवमेव काम्य-मक्तियोग में ईश्वरभावना का समावेश अक्षय था, परन्तु प्रेमस्तिके के कारण इसमें बर्णाभमतिष्ठ कर्मसंग्रह उपेक्षणीय बन रहा था। मक्तों की दृष्टि में ईश्वरत्वामर्तकीर्तन ही प्रधान कर्म बना हुआ था। इसी मक्ति-अस्मिता से यह काम्य-मक्तियोग देव बन रहा था। भगवान् ने कामनापरिच्छिन्न से इसे बुद्धियोगस्वरूप प्रदान की। निष्काममायात्मक इस मक्तियोग में ईश्वरानन्वतापूर्वक बर्णाभमानुगत लोकसंग्रह सम्पत्तक बर्णाभमर्तक का भी समावेश हुआ। ईश्वरभावना प्रधान की, कर्ममात्र उपनुगामी बना। एवमेव कर्मतागसङ्घर्ष अनयोग में कर्म का समावेश कर इसे भी बुद्धियोगमयि प्रदान की गई और उद्घाटन इसे 'ज्ञानबुद्धियोग' रूप में परिचित किया गया। ज्ञान अक्षय प्रधान बना रहा परन्तु निःशुद्धिकर्म का भी समावेश होगा। इत्युक्त कामनामय कर्मयोग में कामत्याग के द्वारा कामनामय मक्तियोग में कामत्यागपूर्वक कर्मत्याग के द्वारा, एवं कामत्यागमय ज्ञानरूप में कर्मत्याग के द्वारा भगवान् ने भाष्यप्रचलित तीनों

विद्यार्थी का संशोधन किंवा। यही कारण है कि, गीता में प्रतिपाद्य कर्म-मयि-ज्ञान तीनों में से किसे भी बोध पर दृष्टि आसिए, अधिकांश कर्म का पक्षपात सर्वत्र समर्थित उपलब्ध होगा। भगवान् अनुन को कर्मभोग का उपदेश दे रहे हैं। साथ साथ अधिकारोंपित पुण्यकर्म की प्रधानता की ओर भी उक्त भाव आकर्षित कर रहे हैं। 'मयताऽसि' कहते हुए 'पुण्यकर्म' कहना भी नहीं भूलते। जानी कल्लाते हुए भी उसे कर्ममार्ग पर आकृष्ट कर रहे हैं। वह कर्म वह मयि वह ज्ञान किंतु कर्म के विना कर्मः अस्ति त्वार्थ, कर्तव्योपेक्षा तथा कर्मस्थगमाय समर्पित ॥

३५—ब्राह्मीनामिमता योगप्रणी की गीताभाष्य के द्वारा आन्यन्तिक उपेक्षा—

प्राचीनानामिदं इन तीनों योगों का लक्षण यद्यपि आत्मतत्त्व ही करता है। परन्तु अव्ययगर्भित अक्षर अक्षरगर्भित चतुः, तथा चरगर्भित विचरचर इन तीन आत्मविधियों को मूलप्रतिष्ठा कर्ता हुआ ज्ञान—मनित—कर्मयोग नामक प्राचीनयोग समस्तलक्षण उक्त बुद्धियोगसमस्त से बन्धित है किन्तु समस्तलक्षण अव्ययगर्भ से सम्बन्ध माना गया है। अव्ययगर्भित अक्षर अव्यय है कर्म त्यागलक्षण ज्ञानयोग का नही आचार है। यही केवल ज्ञान का संग्रह है। अक्षरचर आत्मा के अर्द्ध कर्मरूप से बन्धित ऐसा ज्ञानयोग समस्त के स्थान में स्थितता का ही बनक का हुआ है।

[illegible]

से इन लोकप्रचलित तीनों प्राचीन योगों का भी गीताशास्त्र में समग्र रूप से समाहित किया गया है। अर्थात् योगों में अस्मत्स्वाग्रपूर्वक, भक्तियोग में अस्मत्स्वाग्रपूर्वक, एवं ज्ञानयोग में अस्मत्स्वाग्रपूर्वक भगवान् ने तीनों में अस्मत्स्वाग्रपूर्वक प्रवृत्ति की। अतः तीनों अपूर्ण योग इस संशोधन से पूर्ण बन गए, समस्तलक्षण बुद्धियोग की प्रतिष्ठाया से युक्त होते हुए बुद्धियोग रूप में परिणत हो गए। गीता के द्वारा संशोधित वे ही तीनों योग गीतापरिच्छया में धर्मबुद्धियोग (धर्मयोग), ऐश्वर्यबुद्धियोग (भक्तियोग), एवं ज्ञानबुद्धियोग (ज्ञानयोग) नामी से स्पष्ट रूप से, तिनमें से आर्षविद्यानुगत धर्मबुद्धियोग का स्वरूप पूर्व स्तम्भ में ब्रह्माचार आश्रम है। ऐश्वर्यबुद्धियोग प्रकृत है, एवं ऐश्वर्यविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग का विरहोपश्रम अगले स्तम्भ में किया जावेगा।

३६—गीतामिमत्ता योगचतुष्टयी—

द्वितीय प्रश्नार्थनामिमत्तं त्रीनी योर्गो की प्रविष्टा कमरा अभ्यस्त-व्यस्त-व्यस्त नामक अभ्यस्तविवत्त ये एवमेव भगवान् के हाथ संशोधित बुद्धियोगात्मक इन त्रीनी योगों के आधार बने हैं। इस प्रावृत्तिक प्रश्न की भी मीमांसा कर ली है। यह बतलाया जा चुका है कि, बुद्धियोग का उक्त सर्वेश्वर अभ्यस्तता से सम्बन्ध है, जिसके गर्भ में अभ्यस्तताद्वारा व्यस्त-व्यस्त अक्षरार्थित ध्वर, एवं व्यस्त-व्यस्तार्थित विकारध्वर त्रीनी पूर्वोक्त आत्मविविक्त प्रविष्टित हैं। अभ्यस्तव्यस्त सर्वेश्वर हैं, इसका वाचक प्रत्यक्ष माना गया है, एवं यह योगपरिमित्यानुसार अविद्या अस्मिता, राग-द्वेष (आकर्षित), अमिनिवेश जैसी से सर्वथा दूर, धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य, इन चारों भागों से मिल्य परिपूर्ण, अवश्य पूर्ण भगवान् माना गया है। प्रत्यक्ष में अकार, लकार, मकार, य तीन मूलमात्रा हैं, एवं अर्धमात्रा अनुवृत्तव्य है। यही तुरीय पद माना गया है। इन चार भागों से उक्त सर्वेश्वर के सर्वव्यापक विद्याभ्यव, कामाभ्यव, कर्माभ्यव, ये चार विवत्त हो जाते हैं। सर्वव्यापक सर्वव्यापक है, यही वैद्यव्यस्तियोग नामक 'बुद्धियोग' का आधार बना हुआ है। विद्याभ्यव ज्ञानान्-विज्ञानमय है यही ज्ञानबुद्धियोग नामक 'ज्ञानयोग' का आधार बना हुआ है। कामाभ्यव मनोमय है, यही ऐश्वर्यबुद्धियोग नामक 'मक्तिव्योग' का आधार बना हुआ है। कर्माभ्यव प्राणवाक्कर्म है, एवं यही धर्म-बुद्धियोग नामक 'धर्मव्योग' का आधार बना हुआ है। तत्पर्य यही है कि, ज्ञानान्-विज्ञान-मन-प्राण-वाक्कर्म पञ्चकोशमात्रक अभ्यवपुरव के ज्ञानान्ताणि पञ्चकोशात्मक सर्वव्यापक, ज्ञानान्द्विज्ञानमय विद्याभ्यव, मनोमय कामाभ्यव, प्राणवाक्कर्म कर्माभ्यव ये चार विवत्त हैं। ये ही चारों अभ्यवविविक्त क्रमशः सर्वव्यापक, विद्यात्मा, कामात्मा, कर्मात्मा इन नामों से व्यक्त हुए हैं। सर्वव्यापक वैराग्यमय-प्रधान है विद्यात्मा ज्ञान-मय-प्रधान है कामात्मा ऐश्वर्यमय-प्रधान है, एवं कर्मात्मा धर्ममय-प्रधान है। वैराग्यमय से पुक्त सर्वव्यापक-सर्वव्यापक अपनी सर्वता के कारण सर्वव्यापक है। ज्ञानमय से पुक्त विद्यात्मा-सर्वव्यापक सर्वव्यापक है। ऐश्वर्यमय से पुक्त कामात्मा-सर्वव्यापक सर्वव्यापक है। धर्ममय से पुक्त कर्मात्मा-सर्वव्यापक सर्वव्यापक है। अकाराभ्यव से सर्वव्यापक विकारध्वरमा अनुवृत्ति है पराव्यापक के अक्षरार्थित ध्वरमा अनुवृत्ति है, पराव्यापक से अक्षरात्मा अनुवृत्ति है। अक्षराभ्यव के उपयोग से पञ्चित केवल विकारध्वरमा के आधार पर प्रविष्टित कर्माभ्यव यहाँ काम कर्माभ्यव है, यहाँ यही अक्षराभ्यव के उपयोग से निष्प्रमाणा में परिणत होकर हुआ धर्मबुद्धियोग है। पराव्यापक के उपयोग से पञ्चित, केवल ध्वरमा का आधार पर प्रविष्टित मक्तिव्यापक यहाँ काम मक्तिव्योग है, यहाँ यही पराव्यापक के उपयोग से निष्प्रमाणा में

परिणत होता हुआ ऐश्वर्य्यबुद्धियोग है। पराम्पन के लक्ष्यो से वञ्चित केवल आध्यात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित ज्ञानयोग यहाँ कर्मसाक्षात्कार ज्ञानयोग है यहाँ यही पराम्पन के लक्ष्यो से कर्मसाक्षात्कार में परिणत होता हुआ ज्ञानबुद्धियोग है। ऐसे साधक के मुख्य लक्ष्य बुद्धियोग है जो मग्नान् की अपनी प्रत्यक्ष बुद्धि में है। प्राचीनाभिप्रेत योगशरीर, तथा श्रुतसम्मत योगशरीर, दोनों में बड़ा स्वरूपभेद है, जिसका निम्न विहित परिलेखों से स्पष्टकर्य हो रहा है—

प्राचीनरामिमवा योगद्वयी—

१-अवस्था (अवस्था) - ज्ञानाधार (अवस्थागतज्ञान ज्ञानप्राप्ति) ।

२-अक्षरगर्भित-वृत्तत्वा (अक्षरगर्भितवृत्तत्वा) - भक्त्याधारः (भक्त्याधारः मल्लियोगः) ।

२-चरणभिद-विश्वरूपरत्ना (व्यवस्था) - कर्माचार (कर्मनामक कर्मयोग) ।



गौगचत्प्यामिमता—योगचत्प्यी—

१-मानवपिङ्गलमज्जासुखाहमयः-अम्ययः-सर्वाङ्गा-संयुताः (अथ माता)-सर्वाङ्गयः.

२-मानवविज्ञानमय-अव्ययः—विद्यमान-अव्ययमात्रादयः (अक्षरः) परम्परा

१-मनामयः-अभ्यस्य-कामाला-अप्यभ्यस्यकामालमायकः(अकृता)मनामयः

४-प्रमाणानुसृतः अभ्यसः—कर्मात्मन्यस्यसिद्धिमाह (मध्य) —असत्प्रमाण



१-सबान्यवः—बंरभ्वमगोपेठ—बंरभ्वमगोपेठ—बंरभ्वमगोपेठ (विद्यन्ता बुद्धियाम्) ।

२-सुखम्—इतिमगापठ—इतिद्विष्यगाथा(मृमि (संशोधित-इतिमगापठ) ।

३-पराशरस्यक-पञ्चम्यमग्नपत-संश्लेष्यद्विमाग्नपारभूमि (संस्थापित-मक्षिणगद) ।

४-अथरुम्ययः—पश्मिमगायतः—धम्मबुद्धियोगावात्भूमिः (सिंहोपनिषद्—धम्मयागः) ।



१७—अध्यात्मसंस्था-पुष्क पतुर्विष मनस्तन्त्र—

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि, वैश्वार्थबुद्धियोग की आधारभूमि मनःमय कामात्मक है। वही कामात्म्य 'श्रावर्त्तसत्' नामक तथ्य कहा जाया है। कामात्म्य से वशित, किन्तु प्रयत्नकामात्मक व्यक्त्यात्म-
कात्म्य से मुक्त वा भक्तियोग विवेकज्ञ के लक्षण से काम्य-भक्तिव्यापक में परिणत रहता है। यह इन

आत्ममय बोधसीयत्-अव्ययमन से युक्त होकर ईश्वरकामना के सम्बन्ध से निष्काम-भक्तिवागरूप में परिणत हो जाता है। अव्ययमनस्य में मुक्त मनस्तरुण का वैज्ञानिकों ने बहुतों विरोध किया है। वे चारों आध्यात्मिक मन क्रमशः 'चिदात्मना, चित्त, प्रज्ञान, वेदनीय' इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। भुव-भुवत्ता-भुविति का आधारमूल संकल्प-विकल्पात्मक इन्द्रियमन ही 'वेदनीयमन' कहा जाता है। निरव्ययव्ययमिन्द्रिय-मनस्य लक्षण के आधार पर ही इसे इन्द्रियमन कहा गया है। 'वाक्-माय-बुद्धि-भोग्य-मनोसि' इत सेव्यमन इन्द्रियमन में मुक्त मन यही संवेदनीय इन्द्रियमन है जिसका पार्थिव स्त्रीमन्त्रिणादी के विराग (२७) स्तोमात्मक चौथे आपोकोक में प्रतिष्ठित मारवररूप से निर्माण हुआ है। पार्थिव सोमात्मक यही इन्द्रियमन पहिला 'वेदनीय' मन है, जिसके लिए 'मन पशुानीन्द्रियाणि' प्रसिद्ध है। 'पञ्चवरा मनो होयम्' से भी यही मन अभिप्रेत है। वृत्त है प्रज्ञानमन। 'अव्यय में मनाऽभूत्तुन प्राज्ञासिपम' में पठित मन ही प्रज्ञानमन है। सर्वेन्द्रियों के सहयोग से यह वहाँ 'सर्वेन्द्रिय कहा जाता है वहाँ उक्त इन्द्रियलक्षण से अतीत रहता हुआ 'अनीन्द्रिय'-'अतीन्द्रिय' आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। चन्द्रमा इत मन का प्रभव है। इन्द्रियमन बहिर्मन या यह प्रज्ञानमन अन्तर्मन है। 'यत् प्राज्ञानमुत्त वेतो' इत्यादि यजुर्मन्त्र से इसी चान्द्र सोमात्मक प्रज्ञानमन का स्वस्मविरोध कहा हुआ है और वही अव्ययमनस्य में मुक्त वृत्त मन है। तीसरा मन 'चित्त' नाम से प्रसिद्ध है। अव्ययमना चिदात्मना है। यह महानात्म में गर्भ धारण करता है। चित् (अव्यय) के गर्भीमूल होवाने से महानात्मा भी चिन्मय बन जाता है और चित्तवृत्त महानात्मा का वही चित्तव्य विद्यासुखिलाङ्ग विज्ञानरूप से नित्य संभिद्ध है। अतएव 'सत्त्वात्वि महानात्म' इत्यादिसूक्त से विज्ञानात्मा को भी उक्त (चित्त) नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। योगभाषा के सम्बन्ध से यह महन्मन गुहात्मक बना रहता है। पारमेष्ठ्य महात्मे ही इच्छा प्रभव है। पारमेष्ठ्य सोमात्मक यही महन्मन 'चित्त-सर्व गुण' आदि विविध नामों से व्यवहृत हुआ है। पार्थिव सोमात्मक वेदनीय-इन्द्रियमन पार्थिव-कृष्णानि (मृष्णानि) के सम्बन्ध से, चान्द्र सोमात्मक-प्रज्ञान-अनिन्द्रियमन कृष्णचन्द्र के सम्बन्ध से दोनों मन स्व-स्व से कृष्ण हैं। परन्तु विज्ञानमनोसि के सम्बन्ध से तथा गर्भीमूल चिन्मनोसि के सम्बन्ध से चित्तव्य महन्मन स्वमनोस्मिन्म है। इसी के सम्बन्ध से चन्द्रप्रज्ञान, और पार्थिव वेदनीय मन भी स्वादिष्मान् बन रहे हैं।

चौथा मन 'चिदात्मना' नाम से प्रसिद्ध है। 'पशुवाल्गन्मन मेष्टमेववाल्गन्मन परम्' का अनुसार यह मन स्वात्ममन है। स्वकामम महन्मन कर्मात्मक प्रज्ञानमन, प्रज्ञाप्रज्ञात्मक इन्द्रियमन तीनों इसी के आधार पर प्रतिष्ठित हैं, तीनों इसी के मात्रामूल विवर्त हैं। वही अपने 'बहु स्थान' काम से कवीयान् बनता हुआ 'इवोक्तीमत्' नाम से व्यवहृत हुआ है। कामस्त्वमे समवर्त्तावापि मनसो रेताः प्रभव बवासीत्' जाता मन यही मन है। मनजयी करणमा है, यह चौथा अव्ययमन अवरारूप है, आत्मलक्षण है। स्व-कामात्मक, काममय वही मन अपनी अन्तरिचरि, बहिर्चरि से विदग्धमस्वरूप में परिणत रहता है। स्वगर्भिता रचरिति ही आनन्द-विज्ञान है, यही मुक्तिवाचिणी अन्तरिचरि है। स्वगर्भिता स्वचरिति ही माय-वाक् है, यही ध्वनिवाचिणी बहिर्चरि है। अन्तरिचरि हो अव्यय का पररूप है, बहिर्चरि ही अव्यय का अपररूप है एवं दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित, अतएव उभयपक्षक मन दोनों चरितियों से अनुप्राणित रहता हुआ अव्यय का परवररूप है। क्योंकि इसी के आधार पर, इसी की मुद्रा-रिचरि-कामना से अन्तः-बहिर्चरितियों का विकास हुआ है। अतएव इत अव्ययमन को अव्यय ही 'चिदात्मना' कहा जा सकता है। आनन्द-विज्ञानात्मिका

अन्तरिक्षेति ही परात्म्यलक्षण विद्यात्मा है। माया-मायात्मिका परिचिति ही आबल्यस्यलक्षण कर्मात्मा है। एव मध्यम मनोमय आत्म्य ही आत्मात्मा है यही परावर्तक्यम् है। इसप्रकार आत्म्य, महेश्वर, प्रधानेश्वर, ऐन्द्रियक विश्वेश्वर, इन चार तत्त्वों के आधार पर कर्मशा-विद्यात्मा चित्त, प्रधान, वेदनीय, इन चार प्रत्यक्षों का उद्भव हो जाता है। इन चारों में से ऐश्वर्य्यलक्षण बुद्धियोगानुष्ठान में जोये विद्यात्मा नामक आत्म्यमन के साथ ही अनन्तता स्थापित करनी पड़ती है। जिस दिन ऐश्वर्य्यबुद्धियोगादय के हेतुगत लक्षण ऐश्वर्य्यबुद्धियोग से इत विद्वत्तलक्षण आत्म्यमन का विकास हो जाता है उस दिन आत्म्येश्वर के विविध ऐश्वर्य्य का विकास हो जाता है। ऐश्वर्य्यविकास ही विद्यात्मा का अनुग्रह है। विविधव्यक्तक चकन ही इत अनुग्रह का फल है। चकन ही आत्मशान्ति है। किन्तु चित्ति के आत्मा बलवत्त्व रहता हुआ अग्रगण्य बना रहता है। आत्मचित्ति (आत्मज्ञान) से बन्धित प्राणी कभी शान्ति-लाभ नहीं कर सकता। 'जैन' (शान्ति-मूल) मिलेगा 'चकन' (आत्मचित्ति) से, तत्त्व विद्यात्मन के प्रति आत्मसमर्पण करने से। इसके बाद में प्राणी 'अचेत्' बना रहता हुआ अग्रगण्य के गर्त में पड़ा रहता है। 'अचेत्' (अचकन-अचित्ति-स्तनित-मनलक्षण अग्रगण्य) की निवृत्ति के लिए ही ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षण अस्मिन्नात्मिकत्व, निष्प्रममस्मिन्नात्मिक अनुष्ठान माना गया है जिसे छल्ल बनाने के लिए हमें पहिले आध्यात्मिक मनःकरण का विशेष करना पड़ेगा, तद्वारा चित्ति- (शान्ति) -कर्म प्रवर्तक स्वोच्छेद-नामक आत्म्यमन को लक्ष्य बनाना पड़ेगा। एवं लक्ष्यभूत आत्म्यमन के प्रति अनन्तचित्ति से आत्मसमर्पण करने के लिए गीताप्रारम्भ प्रतिपादित लक्षण ऐश्वर्य्य-बुद्धियोग का अनुगमन करना पड़ेगा।

१-विद्यात्मा—आत्म्यमन—स्वोपलक्ष्य मन—आत्ममन

—आवर्तक्य

२-चित्तम्—महामनः—गुणात्मक मनः—आत्मलक्षण

३-प्रधानम्—अनिन्द्रियमन—ऐन्द्रियमन—अन्तर्मनः

४-वेदनीयम्—इन्द्रियमन—मूर्खमन—बहिर्मान

विद्या

३७-ऐश्वर्य्यात्मक विकास का विविध स्वरूप—

ऐश्वर्य्यलक्षण विकास तथा अस्मिन्नात्मक संकोच दोनों प्रविष्टिद्वयों का अनेक दृष्टि से सम्बन्ध विद्यमान होता है। पुण्यशक्ति पर दृष्टि डालिए। कलिका (कली-बाड़ी) अस्मिन्ना है संतुष्टिवा है अचिक्रियता है। यही ऐश्वर्य्यलक्षण विकासमार्ग में आकर पूर्णविकास अचिक्रिय देश में व्याप्त हो जाती है। वा अस्मिन्नात्मक अस्मिन्ना द्वारा में आकर निरपेक्षित प्रदेश में प्रविष्टिवा थी, यही ऐश्वर्य्य की अनुगमिनी बन कर (चल कर) प्रादेशमित प्रदेशों पर होती है। ऊपर्य्य निष्प्रमममार्ग में चित्त की तथा स्वयंदेश में प्रविष्टिवा थी, निष्प्रमममार्ग में उल्लेखी की तथा अनुदेशममिनी बन जाती है। बलक वा विकास दृष्टान्तलक्षण मा, पुण्यशक्ति का विकास अधिकदेशमममिन्नात्मक है दोनों ऐश्वर्य्यों के स्वरूप में अभिन्नत्व है। स्वर्णविरह निरुत्साहता से स्वर्णप्राप्त प्रदेश में प्रविष्टिवा है। यही स्वर्णों के प्रसार में स्वर्ण्य्य प्रदेशमममममम में व्याप्त हो रहा है। यह अभिममममम स्वर्ण्य्यमम थी महिमा है यही इनका एश्वर्य्यात्मक विकास है। यदि स्वर्ण्य्य का इस महिमाका में विकास म होता था पार्थिव प्रजा स्वर्ण्य्यस्वाभावता से तर्कवा बलित रह जाती। यह विज्ञान

उक्त दोनों विकासों से विभिन्नकारीय है। पालक स्वयंरीखीमा से मुक्त रहता हुआ दत्तमूलक विकास का अनुगामी बनता है। पुष्पकविका स्वयंरीखीमा से प्रसूत हो कर अधिकदेशवासिमूलक विकास की अनुगामी बनती है। सूर्यानुगत विकास न तो सूर्यविन्नात्मक सूर्यागरी की दृष्टा से सम्भव रहता, न पुष्प-कविका की प्रति उत्पत्तानीय स्वयं सूर्यपिण्ड अधिक देश का अवगाहन करता। अपितु सूर्यपिण्ड ने निकलने वाली रश्मियों का रश्मिमण्डल ही इच्छा विकासक्रम स्वयं बना है। बन्ने की बुद्धि का वातन नही बढ़ता, अपितु उष्ण मृदुता-ओमलता हट जाती है, वह स्थिरवायुपन्न हो जाती है। यही बुद्धिस्वयं 'प्रोत्ति' कहलाई है। यही प्रोत्ति है। पुष्प में ठीक इसके उल्टा है। पुष्पकविका कठिन होती है हट होती है। पुष्प मृदु होता है। मृदुता में परित्यक्त होकर अधिक प्रवेग में व्याप्त हो जाने वाला वह पुष्पकविका का ऐश्वर्य बाह्यैश्वर्य से विभिन्न है। सूर्य में न कठिन है, न मृदुता है, एवं न अधिक देशवासिताह्वित ही है। अपितु रश्मिक्रम से इच्छा ऐश्वर्य विप्रक्षित होता है। इत्यकारं तात् पराधी के उक्त विभिन्नगुणक-प्राकृतिक स्वरूप-धर्मों के अनुक्रम ही तत्त्विकप्रकृतिक तत्त्वैश्वर्य विभक्त हो रहे हैं।

३८-महिमा, और विकास का पार्थक्य—

महिला को लक्ष्य बना कर ही ऐश्वर्य राज्य प्रमुक्त हुआ है। ईश्वरता सामर्थ्य एक कस्तुरविकाराप है। इत ईश्वरता का मध्य ही ऐश्वर्य कहलाता है। महिमा-शाली पुत्र ही ऐश्वर्य-सम्पत्ति से सम्पन्न बना रहता है। पूर्व के ऐश्वर्यस्वरूप-विगुह्यन से महिमा, और विकास की अभिपत्ता स्थिर हो रही है। परन्तु कस्तुर देखा है नहीं। महिमालक्ष्य ऐश्वर्य मित्र बलुल्लव है, एवं ऐश्वर्यविकास मित्र कस्तुरल है। उदाहरण के द्वारा सम्भव कीगिए। ऐश्वर्यलक्ष्य महिमा के रहने पर भी यदि उच्छा विकास नहीं होता तो इत विकास के अभाव में ऐश्वर्य के रहते हुए भी अश्वर्यमूला अस्मिता का प्रवेग हो जाता है। एक स्थान पर प्रकल्पित दीपक रहता है। दीपार्जिमण्डल (दीपकप्रारम्भक) दीपकिन (ली) का ऐश्वर्य है महिमा है। इमन उत दीपक को किसी कक्षादि के दक्कन से बाँक दिया। इत कक्ष आवरण से दीप-प्रकाश ऐश्वर्य का नाश हो गयी हुआ, परन्तु उच्छा विकास आवरण कक्ष मया। अतएव यो दीपक अपने ऐश्वर्य की विकासद्वारा में अन्वकार को अभिभूत कर देता था, यही दीपक आत्मलुप्त कक्षावरणरूप अस्मिता (संश्लेष) के सम्भव से ऐश्वर्य के विकास से बलित रहता हुआ अन्वकारमिमव में अक्षमर्ष बन गया। अविच्छलक्ष्य अस्मिता ने विद्यमान भी ऐश्वर्य के विकास का अभिमव कर डाला। इत सम्भव में यह भी स्मरण रहना चाहिए कि, आवरण की प्रकलता पर ही ऐश्वर्य का विकास अवबद्ध होता है। आवरण की उच्छादीयता पर, तथा आवरण की निर्मलता पर ऐश्वर्य का विकास कार्य अभिभूत नहीं होता। उदाहरण यही दीपक बन रहा है। दीपार्जि के बायी ओर कक्ष का आवरण लग रहा है। कक्ष आवरण अवश्य है, परन्तु वह उच्छादीय आवरण है। अतएव प्रकाशक ऐश्वर्य का प्रकाशक विकास अवबद्ध नहीं हो पाता। एक रश्मि कक्ष से बाँक को टक दिया। यह आवरण अभिप्राण के सम्भव से प्रकाश के लिए विद्यतीय अवश्य है, परन्तु यह निर्मल है तथा ही रश्मिकर्ष के कारण अश्रुता उच्छादीय भी। अतः इत आवरण के रहने पर भी प्रकाशऐश्वर्य का विकास एकच्छा अवबद्ध नहीं होता। मध्यप्रकाश-विकास सुप्रति रह जाता है। कनकना कक्षा कक्षा विच्छादीय आवरण अवश्य है परन्तु धुरप्रकाशको के पनीभूत न होने से एव वष विच्छादीय भी आवरण निर्मल बन रहा है। अतः देखा निर्मल-विच्छादीय आवरण भी प्रकाशविकास की मया

अभिभूत नहीं कर रहा। बनकण्ठ वरुण अग्निप्राकपतिपूर्व, अतएव धामध्वज कण्ड लोहादि विद्यार्थी आकरत भी हैं प्रकाशापेक्षया मल भी हैं। इनके आचमन से प्रकाशनिष्ठ अक्षरमेव तर्जमना अवस्थ होयता है।

३६-चतुर्विध आचरणों का करण प्रत्यय का अभिमत, एवं तन्मूला दुःखप्रवृत्ति—

ठीक यही स्थिति द्वाकसीवत-मनोमय अक्षयेश्वर के लक्षण में पड़ित हुई है। अक्षयेश्वर ज्ञानमोक्षिर्जन दीर्घादि—(लो)—स्थानीय है। सम्यक् अक्षयमर्कस्था में तथा अक्षयमर्कस्था के मोक्ष बहिर्निव पर्वत अक्षय आत्मरूपमन्त्रक रीत्ययामर्कस्थ-स्थानीय है। इसके वह ऐश्वर्यशाली बना हुआ है। मज्जित लक्षणानुगत कर्मों से उत्पन्न लक्षणस्थार लक्षणस्थ आचरण है। यह आचरणीय है। इसके रहने पर भी आत्मैश्वर्य-विशेष अवबद्ध नहीं हो पाता। एवविध प्राणी (जीवन्मा) को अक्षयैश्वर्यवृत्तिप्रकृत में 'एवं मा कुर्व' इत्यादि कम से आत्मविशेष प्राप्त होता रहता है। लक्षणस्थानुवाची एक व्यक्ति यदि लक्षणस्थार किसी अक्षयैश्वर्य में ज्ञात होना चाहता है तो निश्चित आत्मता उसे देक देता है। क्योंकि लक्षणस्थार-वरा उक्त आत्मविशेष का आचरण नहीं बना करता। लक्षणानुगत कर्मों से उत्पन्न लक्षणस्थार विद्यार्थी अवस्थ है परन्तु वह आत्मविशेषापेक्षया निर्बल है। अतएव इसे स्वतन्त्रव्यवस्थान माना जा सकता है। यही भी आत्मविशेष आत्मव्यवस्था से लब्धी बनता हुआ अक्षयैश्वर्यवृत्ति का आत्मव्यवस्था से निरोध करता रहता है। 'मत् करो ब्रह्म कुरु कर्म' वह एक निश्चय लक्षणस्थार में होता है। 'न करो तो अक्षय है, वह आत्मन्य निश्चय लक्षणस्थार में होता है। जोमर्कस्थ लक्षणस्थार कर्मों से उत्पन्न लक्षणस्थार निश्चित लक्षणस्थार विद्यार्थी अवस्थ है परन्तु लक्षणस्थार से इसे वनमात्र में परिवर्त होने का अवसर नहीं मिला है। यही कन कन कथावस्तु से लक्षणस्थार आचरण है। अतएव यही आत्मविशेष आचरण हो ही जाता है, परन्तु स्वतन्त्र विद्यार्थी लक्षणस्थार के द्वारा लक्षण आत्मविशेष का कन जीवन्मा पर अनुभव करता रहता है। विद्यार्थी लक्षणस्थार मनुष्य मनुष्य में लब्ध होता रहता है एकमेव लक्षणस्थार लक्षणस्थार का अक्षयैश्वर्यवृत्ति में 'अरे कुरु कर रहे हैं इस का से का कन उत्पन्न होता रहता है। विद्युद लक्षणस्थार कर्मों से उत्पन्न विद्युद लक्षणस्थार लक्षणस्थार विद्यार्थी है और आत्मविशेषापेक्षया अक्षयैश्वर्य मनुष्य भी। अतएव वह लक्षणस्थार वर-आचरण अक्षि-आचरण लोहा-आदि विद्यार्थी लक्षण आचरणों से लक्षणस्थार है। कन लक्षणस्थार पर इसकी अवस्था से प्रविष्ट हो जाती है तो आत्मैश्वर्यविशेष लब्धी अभिभूत हो जाता है। आत्मज्ञानमोक्ष लब्धी अक्षयैश्वर्य बन जाती है। लक्षण हुआ भी आत्मैश्वर्य इस लक्षणस्थार अक्षिप्रकृत से अक्षिप्रकृत बन जाता है। और इस रथा में पर्वत वर जीवन्मा उक्त लक्षणस्थार परमात्मा के अनुग्रह से लब्धी वक्षित हो जाता है। जो जीवन्मा लक्षणस्थार-लक्षणस्थार लक्षणस्थार में अक्षयैश्वर्यवृत्ति को आत्मज्ञानग्रह से किसी लक्षण कन लक्षण का, वही जीवन्मा विद्युद लक्षणस्थार में पर्वत वर आत्मस्थायी से वक्षित होता हुआ आत्मन्य-लक्षण-लक्षणस्थार लक्षण कर्मों में प्रवृत्त होता हुआ पर्वत वक्षित भी तो अपने आपकी हीन मानने के लिये लक्षण नहीं होता। लक्षणस्थार प्रवृत्ति ऐश्वर्यभी की वक्षि में पर्वत लक्षणस्थार, लक्षणस्थार जगत्मा आदि लक्षि विद्युदिव लक्षणस्थार, एवं निरर्थक हो करी रहती है। एवं लक्षणस्थार आत्मेश्वर की वक्षि में लक्षण अभिभूत एवविध मूर्तों का लक्षणस्थार लब्धी हो ही जाता है 'सर्वज्ञानविमूर्तान्तर-विद्युद-महान्तर्गत'। 'अक्षयैश्वर्य का लक्षणस्थार है-विद्युदस्थार मनोमय अक्षयैश्वर्य

का अभाव । पुरुष, रश्मिमेघ, भाग्यज्जलमेघ, धनज्जलमेघ आदि आवरण कमरा काच, रश्मिमेघ जलज्जल जलज्जल धनज्जल, नामक इन चारों दीपावरणों से छल्लित होत हुए कमरा अन्तर्लक्षणारण्य, रश्मिमेघारण्य, जलज्जलारण्य तथा जलज्जलारण्य एवं विद्युज्जल तमोर्लक्षणारण्य इन चारों के द्वारा आवरण है । पुरुष, रश्मिमेघादि चारों आवरणों से सूर्यप्रभात्मक ऐश्वर्य का नाश नहीं होता अर्थात् उस ऐश्वर्य के विकास का अविनाशकाय होता है । विनाशकाय से खटा हुआ भी सूर्यऐश्वर्य (सूर्यप्रभात्मक) जैसे अन्तर्लक्षण को हटाने में अक्षम यह बात है एवमेव खटा हुआ भी आत्मऐश्वर्य अविनाशकाय से संकुचित रहता हुआ अन्तर्लक्षणारण्य के निरन्तर से अक्षम यह बात है । अन्तर्लक्षण-आत्मा (जीवन्मा) परमात्मा का बंध होने से स्वतन्त्र से अविनाशकाय है, अन्तर्लक्षण प्रकाशकाय यह भी ऐश्वर्यत्रय से सम्पन्न है । तथापि अविनाशकायका अविनाश के आवरण से इसके ऐश्वर्य का विकास अविनाश हो जाता है यह पूर्व शक्तिशाली भी आत्मा अपने अन्तर्लक्षण शक्तिशाली मान बैठता है । और अविनाशकायका यह शक्तिशाली ही इसके अविनाशकाय बुद्धि का आवरण बन जाती है ।

४०-स्वाभाविक, और आत्मनुक विकास—

विकसित आत्मनुक स्वाभाविक, मेर से दो भागों में विभक्त माना गया है । आत्मविकसित स्वाभाविक है, इसे शरीर से नहीं जाना पड़ता । अर्थात् इस पर आप हुए अविनाशकाय को हटाने में मात्र मेरे अभाव सूर्यप्रभा यह स्वतन्त्र प्रकाश हो जाता है, वैयक्तिक-‘तुम्हें स्वयं योगसंश्लिष्ट’ अन्तर्लक्षण’ इत्यादि बचन में विद्युत है । लोकोपनिषत् आत्मनुक है । इसे प्रकाशपूर्वक शरीर से अक्षित करना पड़ता है । जिस प्रकार मृत्युशक्ति की प्रसिद्ध अन्तर्लक्षण मानी गई है एवमेव आत्मनुक लौकिक-भौतिक विकास की मूलप्रसिद्ध स्वाभाविक-आत्म-विकसित ही बना करता है । जिस प्रकार मृत्युशक्ति के अभाव से अन्तर्लक्षण विकसित हो पड़ती है एवमेव भौतिक आत्मनुक विकास से आध्यात्मिक आत्मविकसित पुष्पित-फलान्वित हो जाता है । एक लौकिक मनुष्य पूर्व बुद्धिमान खटा हुआ भी अविनाश शक्ति के अनुग्रह से आत्मनुक मृत्युविकसित से अक्षित होता हुआ सर्वथा अक्षय बन जाता है-‘विराजमानो गुणराशिनाम्ना’ प्रसिद्ध है । मृत्युशक्ति के द्वारा आगत अन्तर्लक्षण अन्तर्लक्षणार्थ में सूर्यप्रभा अक्षय बन जाता है, यह प्रत्यक्ष है । इसप्रकार आत्मनुक विकास से नूतन शक्तिशाली के द्वारा आत्मविकसित प्रकाश हो जाता है, जिसका अन्तर्लक्षण अक्षय बन जाता है । शिशु शरीर में आत्मा और शरीर, वे ही विभक्त हैं । स्त्री, वस्त्र, अक्षय मेर से शरीर विभक्त हैं । स्त्रीशरीर मृत्युविकसित है, वस्त्रशरीर मृत्युविकसित है एवं अक्षयशरीर मृत्युविकसित है । अन्तर्लक्षणार्थ अन्तर्लक्षणार्थ अक्षय अक्षय अक्षय शरीर मृत्युविकसित स्त्रीशरीर है । आकाशानन्दमानन्दमानन्दमानन्द पक्ष प्रकाश-अन्तर्लक्षण प्रकाशार्थ अक्षय मृत्युविकसित स्त्रीशरीर है । एवं विनाशकायविकसित प्रकाश (बुद्धिबुद्ध मन) मानव-मृत्युविकसित अक्षयशरीर है । अक्षयशरीर ऐश्वर्यकाय का अविनाश है सूर्यशरीर शरीरविकसित का प्रत्यक्ष है, एवं स्त्रीशरीर अक्षय है । शरीरविकसित से लौकिक शरीर मृत्युविकसित है । शरीरविकसित मृत्युविकसित में प्रसिद्ध प्रत्यक्षका से निम्न लक्षित शरीरका आत्मा प्रत्यक्ष है । यही आध्यात्मिक आत्मविकसित है । शिशु की यह आत्मविकसित तब तक अक्षय-प्रकार में सर्वथा अक्षय की रहती है जब तक कि इसकी शरीरविकसित मृत्युविकसित अक्षय प्रकाश विकसित नहीं हो जाती । बुद्धिमत्ता-अक्षय-प्रकाशकाय (अक्षयशरीर), शक्ति (आकाशकाय अक्षयशरीर) एवं शरीरविकसित लौकिक मृत्युविकसित अक्षय में विकसित है । अक्षय न शिशु में बुद्धि का विकास है न अक्षय का विकास है, न शरीर में बढ़ता है ।

अथएव यद् कार्यं मन्दबुद्धि-हीनकल-लक्षणात् क्वा बुद्ध्या हे । अथएव यद् अपन को अपने आप पर प्रविष्टित करने में प्रयत्न है । मूल बुद्धि ही तो रा पड़ता है । यमकान से उर बाधा है । आत्मनिर्मलता का स्व या अभाव रहता है । प्रत्येक क्रिया में परामर्श की लोभ क्रिया करता है । इन आर्थिकों से बाध होने के लिए माता शिवा का उपाय होता करता है । इस परधीनता से इच्छा अन्तर्गत दुःखी बना रहता है । यदि शिगु अन्त पाकर शिगुमन्त्र को काढ़ता हुआ जब बुद्धावस्था में परार्पण कर होता है, तो इसके तीनों गरीर, तीनों मूलकर्मिकों प्रारब्ध हो जाती हैं । शिगु-अवस्थाशुभला मूलसिद्धि ही जाती है । अथएव ज्ञानावस्थानुगत दुःखों में पुटप्रप विस्त बाधा है आत्मनिर्मलता का उदय हो या है । किहू है कि, दुःख का एक कारण अस्मिता ही है । अस्मिता परलक्षिता की कननी है, परलक्षिता अर्थात् की कननी है, अर्थात् सत्यता की कननी है एवं सत्यता ही दुःख-बुद्धि है । इस सत्यता का पूर्ण करने के लिए मनुष्य यदि परामर्श का अवलम्बन होता है तो सत्यता अधिक मात्रा में प्रारब्ध हो जाती है । परलक्षितता ईश्वर सत्यताविशिष्ट का कारण कनती दूर और अधिक दुःख का कारण बन जाती है । पुटलक्षणा दुःख तो आत्मनिर्मलता पर ही अवलम्बित है । यद् आत्मनिर्मलता आत्मैककर्म-विश्रुत पर ही अवलम्बित है । आत्मैककर्म-विश्रुत अस्मितानिष्ठि पर ही अवलम्बित है । एवं अस्मितानिष्ठि राजविद्यानुगत वैश्वकर्मबुद्धिपद (वैश्वकर्मबुद्धि के मूल मूल बुद्धिपद) पर ही अवलम्बित है । परलक्षितपरलक्षिता अस्मितता नाम के आकार्य का होने का प्रारम्भ स्वतन्त्र कर्म विद्या ही गीताराम्य में 'राजविद्या' नाम से व्यवहृत हुए है । एवं राजविद्यानुगत कर्म ही परलक्षित उपाय नाम से व्यवहृत हुआ है जिसके उपर्यक्त बचन भी भू म में उद्धृत हुए हैं ।

४१-एतद्व्यवृद्धियोगानुगत राजविद्या का स्वरूपोपसंहार—

कनेह द्वितीये परलक्षितबुद्धियोगानुगत राजविद्या का स्वकर्म-विश्रुतत्व किं मन् । 'राजविद्या' शत्रुग्राह परिवर्तितमुक्तमय के अनुसार मूर्तिस्वरूपकत्व बुद्धि शक्तियों में प्रचलन से सम्पन्न व्यक्तित्व प्राप्तिक्रिया ईश्वर-व्यक्तित्वका मूर्ति ही 'मूर्तिपद' कहलाता । लोकलोकान् मगध ने आत्मस्वरूप में उपाय करने के लक्ष्य करने इस बुद्धियोगानुगत (गीताराम्य) में इच्छा की उपाय किया । आत्मस्वरूपानुगत आर्जन मूर्तिपद कामनाप्रधान क्वा बुद्ध्या अस्मितारूपक का कारण बन या बा । मगध ने कामनापरिवर्तनमक लोकावन के द्वारा इस काम्य मूर्तिपद का निष्पन्नमय प्रदान कर इसे बुद्धियोगानुगत का अनुगामी बनाया । मगध के द्वारा संश्लेषित शत्रुनुव निष्पन्नमूर्तिपद 'परलक्षित-बुद्धिपद' की उत्पत्तिबान्धिका विद्या ही 'राजविद्या' कहलाता ।

इति-बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिबन्धनात्मक द्वितीयप्रकरण

'अथव्यवृद्धियोगानुगत-राजविद्यास्वरूपनिबन्धनम्' नामकः

द्वितीयस्तम्भ

(२)-२

श्री

‘बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचन’ नामक
द्वितीयप्रकरणान्तर्गत

‘ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत-राजविद्यास्वरूपनिर्वचन’ नामक
द्वितीयस्तम्भ-उपरत

(२)-२

श्री

अथ-बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचनात्मके
द्वितीयप्रकरणे

ज्ञानबुद्धियोगानुगत-सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचनम् नमः

तृतीयस्तम्भ

(२)-३

ज्ञानबुद्धियोगानुगत-सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचनम्

तृतीयस्तम्भ



१-अविद्याचतुष्टयीरूप आवरण—

‘अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशा, पञ्च क्लेशाः’ (पा० वा सू) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार बीजप्रमाणों से उसकी अपनी ईश्वरानुगता मगबता से बधित रहने वाले क्लेश अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश भेद से पाँच भागों में विभक्त माने गए हैं। इन्द्रियगत विज्ञानोत्पत्ति-प्रत्यात्मा अन्वयप्रधान कलता हुआ ज्ञानात्मा है यही ज्ञानात्मक आनन्द-विज्ञान-मनोमय माना गया है। आनन्द-विज्ञान-मनोमय अन्वय ॥ मुक्तिराश्री की विद्यात्म्य माना गया है। विद्या का अर्थ है यही है कि, ज्ञानात्मक अन्वय ही विद्यात्मक अन्वय है। अतएव अन्वयात्मकान को हम ‘विद्या’ नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। जिस प्रकार अविद्या का प्रतिद्वन्द्वी ज्ञान है अस्मिता का प्रतिद्वन्द्वी ऐश्वर्य है, राग-द्वेष का प्रतिद्वन्द्वी वैराग्य है अभिनिवेश का प्रतिद्वन्द्वी धर्म है, एवमेव अन्वयविद्या विद्या विद्यात्म्य का प्रतिद्वन्द्वी अविद्यामान माना गया है। अन्वयशक्ति ज्ञानव्योति ‘विद्या’ है। इस विद्यामिका ज्ञानव्योति के स्वाभाविक विस्तार को आहत कर देने वाला विद्याविरोधी आवरण ही ‘अविद्या’ है। अविद्याप्रलब्ध विद्यात्म्य से मुक्त बीजाक्षर ही उक्त पञ्च क्लेशों की आचारभूमि बना रहता है। अविद्याप्रलब्ध विद्यात्म्य ही अविद्यात्म्य है, जैसा कि अनुन्द में ही स्पष्ट किया जाने वाला है।

२-विद्या-अविद्यात्मक अन्वय के सूर्यनिबन्धन चार-चार विध—

विद्यात्म्य स्वरूप से एकात्मक है यही सर्वान्वय है। एवमेव अविद्यात्म्य भी स्वस्वरूप से एकात्मक ही है एवं वही असर्वान्वय है। सर्वत्रात्मक विद्यात्म्य बुद्धिगत विद्याचतुष्टयी के सम्बन्ध से चार भागों में विभक्त हो जाता है। एवमेव असर्वत्रात्मक अविद्यात्म्य बुद्धिगत अविद्याचतुष्टयी के सम्बन्ध से चार भागों में विभक्त हो जाता है। बुद्धितत्त्व आध्यात्मिक आत्मतत्त्वानुपरम्परा के मध्य में उही प्रकार प्रतिष्ठित है जैसे कि बुद्धिप्रमथ सूर्य आधिदैविक संस्कारपञ्चपत्रों विश्व के कन्द्र में प्रतिष्ठित है। पञ्चपत्रों विश्व के कन्द्र में प्रतिष्ठित सूर्य के ऊपर महान् परमेष्ठी, अन्वयस्वरूप स्वर्गभू एवं ‘गोवर्गपुरुष’ नामक ईश्वरान्वयपुरुष, व अमृतत्वा प्रतिष्ठित हैं। एवमेव सूर्य से नीचे अश्रमा, पार्थिव देवस्वरूपमा भूपिण्ड, व तीन मर्त्यात्मा प्रतिष्ठित हैं। मध्यस्थ सूर्य का अमृतत्वानुगामी ऊर्ध्वभाग अमृतसूर्य है मत्यात्मानुगामी अधोभाग मर्त्यसूर्य है। इस प्रकार मध्यस्थ सूर्य अमृत-मर्त्य इन दोनों आत्मतत्त्वविधियों से युक्त बना हुआ है। सूर्य में ऊपर ऊपर अमृत का लक्षण है नीचे नीचे मृत्यु का लक्षण है, जैसा कि—‘तद्यत्किञ्चाप्युपाधो न माविश्यान् मम तन्मृत्युनाशम्’ (रात १।५।१।५) इत्यादि ब्राह्मणभूति से प्रमाणित है। मध्यस्थ सूर्य में आनन्द-पापीय दोनों धर्मों का समन्वय ग्रहणा प्राप्त है। अतः—‘निवेशयन्मृतं मत्पञ्च’ इत्यादि यजुर्गानुगार मध्यस्थ सूर्य में दोनों धर्मों की सत्ता निज ॥ जाती है।

३-विस्वमय्यस्य हिरण्यगर्भमुक्तिं धूर्त्य, एवं उसके चार विभूति-विवर्ध—

अथबानर्धक मयस्य सूर्य पर इति इति। क्योंकि गीतागोविन्द की बुद्धिवैभवाद्युपेक्षी का आधार बुद्धिमय ही सूर्य है। मयस्य सूर्य का ऊर्ध्वानुगत अमृतलक्षण अर्धभाग एक स्वतन्त्र तत्व है जिसे वेदानिष्ठ ने 'सावित्राग्नि' नाम से सम्बोधित किया है। यह सावित्राग्नि अमृतानि है यही अमृतलक्षण अमृतमेव वेदतत्त्व है जिसका उपनिषद्बिद्वान्माध्यमगोविन्द द्वितीयलघु में विस्तार से विवरण दे चुका है। प्राणवेदात्मक सावित्राग्निलक्षण अमृतानिरूप अमृतसूर्य के गर्भ में ऊर्ध्वस्थित उसमें तीन अमृतमात्रों के प्रकर्षण शक्त रहते हैं। महान् परमेष्ठी अव्यक्त स्वयम् पूज्य अमृतसूर्य, इन तीनों ऊर्ध्वस्थित अमृतमात्रों के प्रकर्षण शक्त अमृतसूर्य में अन्तर्ध्यात सम्बन्ध से मुक्त रहते हैं। अमृतसूर्य इन तीन प्रकर्षण शक्त से तथा अपने अमृतमात्र माय से अमृतसूर्य चतुष्कल्पित रहता है। अथवा निम्नलिखित प्राणवेदात्मक अमृतसूर्य का प्राणवेदानुप्राण वेदात्मक कर्म ही प्रकर्षण है। अमृतसूर्य में अन्तर्ध्यात सम्बन्ध से प्रतिष्ठित महान्-परमेष्ठी के प्रकर्षण शक्त अनुप्राणित इष्ट-ऊर्ध्व-वै-कर्म पारमेष्ठ्य तत्व ही 'ऐश्वर्य' है। अमृतसूर्य में अन्तर्ध्यातसम्बन्ध से प्रकृत अव्यक्त स्वयम् के प्रकर्षण शक्त अनुप्राणित अव्यक्त तत्व ही 'ज्ञान' है। एवं अमृतसूर्य में अन्तर्ध्यातसम्बन्ध से मुक्त पूज्य ईश्वरसम्बन्ध के प्रकर्षण शक्त अनुप्राणित क्मात्म तत्व ही वैराग्य है। वैराग्य क्मात्म की प्रातिस्विक विभूति है। अमृतसूर्य में यह वैराग्यविभूति जाती है पूज्य पुनःकर्म से। कर्म अव्यक्त स्वयम् की प्रातिस्विक सम्पत्ति है। वैराग्य पूर्व स्तम्भ के 'अर्धमात्रमिता वैराग्य' विषयनिरूपण में स्पष्ट किया जा चुका है। अमृतसूर्य में यह ज्ञानविभूति जाती है अव्यक्त स्वयम् से। ऐश्वर्य महान्-परमेष्ठी की प्रातिस्विक विभूति है। महामात्रज्ञान को ही पूर्व ज्ञान में हमने ऐश्वर्य कहा है। प्राणवेदात्मक ही महामात्रज्ञान माना गया है। ऐश्वर्यज्ञान प्राण तत्व ही पारमेष्ठ्य तैत्तल है। अथवा तत्त्वज्ञान से ऊर्ध्व विभूति अव्यक्तमेव ऐश्वर्य नाम से सम्बोधित की जा सकती है। अमृतसूर्य में यह ऐश्वर्यविभूति जाती है महान् परमेष्ठी से। कर्म अमृतसूर्य की प्रातिस्विक विभूति है। कारण प्राकृतिक आधिकारिक-निष्प-कर्म ही कर्म है। निष्प कर्मात्मक कर्म की मूलप्रतिष्ठा माना गया है वेदतत्त्व-वैराग्यज्ञान ही निबन्धी। अमृतसूर्य अमृतमात्र से अमृतवेदात्मक (विष्णुमात्रात्मक वेदात्मक) माना गया है। अथवा वैराग्य कर्मात्मक का अर्थ ही अमृतसूर्य की प्रातिस्विक विभूति माना जा सकता है। अथवा पुनः स्वयम् परमेष्ठी, इन तीन अमृतमात्रों की वैराग्य ज्ञान ऐश्वर्य, नाम की विभूतियों के प्रकर्षणसम्बन्ध आगमन से एवं स्वानुगत कर्माविभूति से ऊर्ध्वस्थित अमृतमात्रों से अनुगत अमृतसूर्य कर्म ज्ञान वैराग्य, ऐश्वर्य इन चार विभक्त मात्रों में परिणत हो रहा है। जो सावित्राग्नि ही 'हिरण्यगर्भ' कहलाता है। यही आधिरैविक विभक्त का 'बुद्धि' तत्व है जो कि विश्वेन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ विश्व का सम्भालन कर रहा है। एही आधार पर पुनःपुनः ने कहा है—'हिरण्यगर्भा भगवानेव-बुद्धि' इति स्मृत (महाभाष्य)।

चतुर्विध-विभूतिमात्रानुगतोऽमृतसूत्र्य —

- | | | | |
|------------------|------------------|----------------------------------|---|
| १-विशेषाध्यक्षः— | याज्ञिकीपुरुष — | वैराग्यविभूतिपुरुष (अमृतसूत्र्य) | } —सैषा-अमृतसंस्था
(अमृतसूत्र्यसोपानपरम्परा) |
| २-विश्यादिः— | अभ्यस्तस्वयम्भू— | ज्ञानविभूतिपुरुष (अमृतसूत्र्य) | |
| ३-विशेषोपादानम्— | महान्परमेशो— | एतद्व्यविभूतिपुरुष (अमृतसूत्र्य) | |
| ४-विशेषसाक्षी— | अमृतसूत्र्यः— | धर्मविभूतिपुरुष (अमृतसूत्र्य) | |



- | | | | |
|---------------------------|---|------------------------|---|
| १-पुरुषप्रवर्गशाश्वतः— | — | अमृतसूत्र्य-वैराग्योपत | } स एष अमृतसूत्र्यः—
चतुर्विधविभूतिपुरुष |
| २-स्वयम्भूप्रवर्गशाश्वतः— | — | अमृतसूत्र्य-ज्ञानोपत | |
| ३-परमेश्वरप्रवर्गशाश्वतः— | — | अमृतसूत्र्य-ऐश्वर्योपत | |
| ४-स्यानुगतविभूतिगर्भित | — | अमृतसूत्र्य-धर्मोपत | |



४-हिरण्यगर्भे सूत्र्य के चार पाप्मा-विवश-

मन्त्रस्य सूत्र्य के ऊपानुगत-अमृतसूत्र्य-अमृतसूत्र्य अत्र भाग से सम्बन्ध रखने वाली विभू-
तिचतुष्टयी की मीमांसा के अनन्तर मन्त्रस्य सूत्र्य के अधोभागापानुगत-मन्त्रसूत्र्य-मनुसूत्र्य अत्र भाग से
सम्बन्ध रखने वाली पाप्मा-मनुष्य की मीमांसा की चार पाठों का ध्यान आवश्यक किया जाता है। जिन
प्रकार सूत्र्य का कर्म्ममगानुगत अमृतसूत्र्य तत्त्व 'आधिरानि' नाम से सम्बद्ध हुआ है, तदनुगत प्राग्वह
अधिरानि वेद नाम से प्रसिद्ध हुआ है। एवमेव अधोभागापानुगत-मनुसूत्र्य तत्त्व 'गायत्रि' नाम से तथा
तदनुगत भूतवेद (विशुद्धात्मक वेदतत्त्व पौन्यवेद) गायत्रीमात्रिकवेद नाम से प्रसिद्ध हुआ है। भूतवेदतत्त्व
गायत्रिमात्रिक मन्त्राभिन्नसूत्र्य मन्त्र सूत्र्य के गर्भ में अत्राऽवस्थित चन्द्रमा-पाथिरवेदक्यात्मा-भूतिरूप, इन
तीनों मन्त्राभिन्नसूत्र्य के प्रत्यक्ष अन्तर्गत हैं।

आधिरानि इन तीन प्रवर्गों से, तथा अपने मन्त्र-अत्र भाग से मन्त्रसूत्र्य भी अमृतसूत्र्य-मनु-
सूत्र्य का हुआ है। मन्त्राभिन्नसूत्र्य भूतवेदतत्त्व मन्त्रसूत्र्य का भूतवेदानुपद्वि विशुद्धात्मक ही अन्तर्मा-
त्रिक अमितिपरा तत्त्व है। मन्त्र सूत्र्य में अन्तर्मात्र सम्बन्ध से प्रतिष्ठित चन्द्रमा के प्रवर्गांश से अन्त-
रहित मन्त्रात्मक तत्त्वविशेष ही अन्तर्मात्रसूत्र्य अस्मिता है। मन्त्रसूत्र्य में अन्तर्मात्र सम्बन्ध से भूत
पाथिर दैत्य के प्रवर्गांश से अनुपद्वि तत्त्व तत्त्वविशेष ही अन्तर्मात्रसूत्र्य 'माह' (अधिरानि) है। एव
मन्त्रसूत्र्य में अन्तर्मात्र सम्बन्ध से भूत भूतिरूप के प्रवर्गांश से अनुपद्वि भूत नामक तत्त्वविशेष ही तत्त्व-
मात्रात्मक 'आसक्ति' है। मन्त्राभिन्नसूत्र्य अन्तर्मात्र अन्तर्मात्र का प्रातिष्ठिक पाप्मा है, मन्त्रसूत्र्य में यह अन्तर्मा-
त्रात्मक पाप्मा आया है भूतिरूप में। मन्त्राभिन्नसूत्र्य अधिरानि पाथिर दैत्य का प्रातिष्ठिक पाप्मा है। मन्त्रसूत्र्य में यह
मन्त्रात्मक पाप्मा आया है पाथिर दैत्य से। अन्तर्मात्रसूत्र्य अस्मिता चन्द्रमा का प्रातिष्ठिक पाप्मा है। मन्त्रसूत्र्य
में यह अस्मिता पाप्मा आया है चन्द्रमा से। अधिरानि सूत्र्य अमितिपरा मन्त्रसूत्र्य का प्रातिष्ठिक पाप्मा है।

मन्त्राभिन्नसूत्र्य पाथिर-दैत्य चन्द्रमा इन तीन मन्त्राभिन्नसूत्र्य का प्रातिष्ठिक पाप्मा अमिति नामक तीन

पाप्माओं के प्रत्यक्षस्वरूप द्वारा आगमन से एवं स्वानुगत अभिनिवेश-पाप्मा से अज्ञानपरिवृत मत्त्वान्वयी से अनुगत मत्त्वस्य अभिनिवेश नष्ट आर्तक अभिमता इन चार विषय-मात्रों में परिकृत होशय है ।

चतुर्विध-पाप्ममावातुगतो मत्त्वस्य —

- | | |
|--|------------------|
| १-सूक्ष्मादी-मत्त्वस्य — अभिनिवेशरूपमात्रेण युक्तः (निरूप्यता) | } — ईश मत्त्वस्य |
| — मनाद्यदी-मत्त्ववत्तना — नोहानमात्रेण युक्तः (मात्रमात्र) | |
| — प्राज्ञादी-मत्त्वदे-स्वरूप-अभिनिवेशरूपमात्रेण युक्तः (मत्त्वमात्र) | |
| २-सूक्ष्मादी-मत्त्वस्य — आत्मवैतानमात्रेण युक्तः (मात्रमात्र) | |

- | | |
|---|---------------------|
| १-स्वातुगतचान्दमिद — मत्त्वस्य — अभिनिवेशरूप | } — च एष मत्त्वस्यः |
| २-चन्द्रप्रकाशगर्भित — मत्त्वस्य — नाम पद | |
| ३-पार्थिव इ प्रकाशित — मत्त्वस्य — अभिमतापद | |
| ४-सूक्ष्मप्रकाशगर्भित — मत्त्वस्य — आत्मतुल्य | |

१-अमृतविभूतिचतुष्टया, एवं मत्त्व पाप्मा-चतुष्टयी का अनान्तव्याप्तक आन्तव्य-

सौमिक विषयसम्पन्नरूपन हो आर्तक का कनक बना करता है । भूमिख मूढविषयप्रचन है । अतएव नृसिंहानुगत पाप्मा को अक्षय्य हो 'आत्मिक' नाम से व्यक्तित किया जासकता है जो नृसिंह अमृतान्वयी में से पावणी पुरपाप्मय में तथा जो भूमिखानुगत आत्मिकवत्तना पुरपाप्मयपानुगता वैराग्यविभूति से अनुज्ञेय है । "त आर का मत्त्वमृति" एवं तदनुगत आत्मिक, तब आर का पुरपाप्मय, एवं तदनुगत वैराग्य, दोनों का अनन्तव्य (प्रतिनिहित) हो इन का आन्तव्य (अनुज्ञेय) है । एक क खदे पर दृष्ट नहीं रह्य यही इन-दोनों का अनन्तव्यवत्तक अनुज्ञेयवत्तक है । पार्थिववत्तक म तत्त्वस्य स्वतः वाचा पार्थिव वत्तकवत्तक वाचमय आसन्न हो अनैश्वर्यवत्तक अभिनिवेश का कनक बना करता है । पार्थिववत्तक 'वृषपात्र' का यक्ष वरपात्ररूप । "त भूति के अनुज्ञेय आसन्नप्रधान है । अतएव पार्थिव वैराग्यचतुष्टय पाप्मा को अक्षय्य हो अभिमता नाम से व्यक्तित किया जासकता है । "त पार्थिव इक्षय्य अमृतान्वयी में से मत्त्व परमेश्वरी से तथा पार्थिव इक्षय्यचतुष्टय अभिनिवेशान्ता महान्-परमेश्वरपुनः प्रकाशविभूति म अनुज्ञेय है । दोनों परस्पर प्रतिनिधी हैं । चन्द्रमा व चन्द्रक स्वतः काका चन्द्र गेतामात्र । चन्द्रमा-चन्द्रमा-वत्तकवत्तक से अशान्तवत्तक मंह का कनक बना है । चन्द्र गेतामात्र हो अक्षय्य-वत्तक मंह का आसन्न है । अतएव चन्द्रमानुगत पाप्मा को अक्षय्य हो 'मिद' नाम से व्यक्तित किया जासकता है । यह चन्द्रमा अमृतान्वयी में से व्यक्तित स्वामन् म तथा चन्द्रमानुगत मोह-पाप्मा अमृतवत्तकवत्तकवत्तक आत्मविभूति म अनुज्ञेय है । दोनों परस्पर प्रतिनिधी हैं । मत्त्व-स्य स्वय-गावरी-मात्रिक वैराग्यक कनकमा गता है । मत्त्व के तत्त्वस्य म यह वेद त्रिगुणमात्रवत्तक बन जाता है । त्रिगुणमात्र ही प्रथममहद्वय अभिनिवेश का कनक बना गया है । अतएव मत्त्वस्य-नृक मात्र वैराग्यक पाप्मा का अक्षय्य हो 'अभिनिवेश' नाम से व्यक्तित किया जासकता है । यह मत्त्वस्य अनन्तव्यचतुष्टयी में से अन्त के अमृत-मत्त्व से तथा मत्त्वस्यचतुष्टय अभिनिवेश पाप्मा अमृतवत्तकवत्तक वैराग्यविभूति से अनुज्ञेय है । दोनों परस्पर प्रतिनिधी हैं ।

६-इत्थरानुगता विमृष्टि, एवं पाप्मा का समन्वय—

[illegible]

७-त्रीषस्तुगता विभृति, एवं पाप्मा का समन्वय—

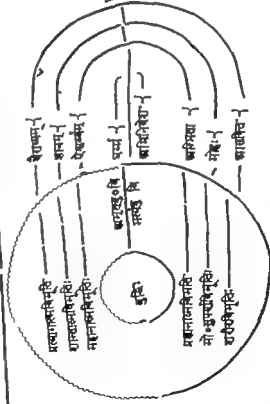
[illegible]

सर्वमग्रह (नैपा-अव्यात्ममंस्था) —

—अष्टौ बुद्धयः—इति हि प्राधानिका आहुः—

- | | | |
|-------------------------------|-----------------|------------|
| १-प्रसङ्गात्मा (देवराः) | —शेषाव्युक्तं— | —अमृतात्मा |
| २-पान्दुरात्मा (कर्मराः) | —अनपुक्तं— | —अमृतात्मा |
| ३-माहात्मा (पारमेष्ठ्याः) | —ऐरक्यव्युक्तं— | —अमृतात्मा |
| ४-अमृतविज्ञानात्मा (अमृतवीरः) | —अमृतपुक्तं— | —अमृतात्मा |

—वशिष्टममृतम्—



—आयः समवर्षाणः—

—विद्याविद्यात्मिका बुद्धिः—

—विद्याबुद्धिः—

- १-शेषव्युद्धिः
- २-अनपुद्धिः
- ३-ऐरक्यव्युद्धिः
- ४-अमृतव्युद्धिः

४-अमिनिषेणपुंवि

१-मोक्षव्युद्धिः

२-अमिषव्युद्धिः

१-आवृत्तिव्युद्धिः

—वशिष्टं मर्त्यम्—

- | | | |
|-----------------------------------|-------------------|------------------|
| ४-मर्त्यविज्ञानात्मा (मर्त्यवीरः) | —अमिनिषेणपुंवि | —मर्त्यव्युद्धिः |
| १-प्रव्याप्तात्मा (अनपुः) | —अमिषव्युद्धिः | —मर्त्यव्युद्धिः |
| २-मोक्षविमृष्टिः (पारमेष्ठ्याः) | —मोक्षव्युद्धिः | —मर्त्यव्युद्धिः |
| ३-मर्त्यविमृष्टिः (मर्त्यमः) | —आवृत्तिव्युद्धिः | —मर्त्यव्युद्धिः |

८-अभिहित-आध्यात्मलुप्त आत्मविनिर्ण के उपक्रमोपसंहारस्थान—

आरम्भ में अधिप्राप्त विद्याध्वय को अधिधाम्य कहलाया गया है। अमृत-मर्यात्मक सूर्यमण्डल के विद्यार्थक अमृत शर अथ मण्डल में मुक्त विद्याधिमन्त्र सूर्यचतुष्टयी से मुक्त आधिदैविक अमृतसूर्य महान्तरमेष्टी, अध्वस्तस्वयम्भुर्गर्भित पोद्गरीपुष्प विद्याध्वग (सूर्यविद्याधाम) से मुक्त रहता हुआ विद्याप्रस्त विद्याध्वय है। अमृतमर्यात्मक सूर्यमण्डल के अधिधाम्य मन्त्र शर अथ मण्डल में मुक्त अधिधाम्य अथ स्वयम्भुष्टयी से मुक्त आधिदैविक मन्त्र सूर्य-चन्द्रमा-पार्ष्वि देवतय, दोनों को स्वयं में प्रतिष्ठित रहने वाला मन्त्रिहस्तन्त्रित पोद्गरीपुष्प अधिधाम्यग। (सूर्य-अधिधाम्यग) से मुक्त रहता हुआ अधिधाम्य अधिधाम्य है। विद्याध्वय का उपक्रम पोद्गरी से है उपसंहार मूर्तिरह पर है। अधिधाम्य का उपक्रम मूर्तिरह से है उपसंहार पोद्गरी पर है। यही स्थिति अध्वस्तस्वयम्भुर्गर्भित अमृत-मर्यात्मिक बुद्धि के विद्यार्थक अमृत अथ मण्डल में मुक्त विद्याधिमन्त्र बुद्धिचतुष्टयी से मुक्त आध्यात्मिक विद्याबुद्धि, पार-मन्त्र्य महान्, स्वयम्भुष गान्ध्याली दोनों को स्वयं में मुक्त रहने वाला प्रकाशय विद्याधाम्य (विद्याबुद्धि) से मुक्त रहता हुआ विद्याप्रस्त विद्याध्वय है। अमृत-मर्यात्मिक बुद्धि के अधिधाम्य मन्त्र अथ मण्डल में मुक्त अधिधाम्य बुद्धिचतुष्टयी से मुक्त, आध्यात्मिक अधिधाम्य, गान्ध प्रकाशय पार्ष्वि मेन्त्र्यमन्त्र, दोनों मर्यात्मकस्याधों को स्वयं में मुक्त रहने वाला मन्त्र्य अधिधाम्य (अधिधाम्य) से मुक्त रहता हुआ अधिधाम्य अधिधाम्य है। विद्याध्वय का उपक्रमस्थान प्रकाशय है उपसंहारस्थान शरीर है। अधिधाम्य का उपक्रम स्थान शरीर है, उपसंहार स्थाप प्रकाशय है। इत्यन्तर मन्त्र्य विद्याधिमन्त्र बुद्धि के विद्या अधिधाम्यग के लक्ष्य लक्ष्य से यही प्रकाशय प्रकाशय (विद्याध्वय) रूप से विच्छिन्न हो रहा है एवं यही प्रकाशय मन्त्र्य (अधिधाम्य) रूप से अनुग्रह बन रहा है। बुद्धिमन्त्र विद्या अधिधाम्यग ही प्रकाशय के विच्छिन्न-उद्योग के कारण है, यही निष्कर्ष है।

९-सिद्ध-साध्यावस्थाया बुद्धियोगचतुष्टयी का पाथ्य—

स्थिति की स्वच्छता के लिये बुद्धियोग के लक्ष्य-सिद्ध-क्यों का स्वीकरण कर दीजिए। 'बुद्धिगत-स्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथम प्रकरण में हमने स्वयं 'अध्वयपुष्प' को भी बुद्धिगत कहलाया है एवं अध्वयपुष्प (विद्याध्वय) की विच्छिन्नोद्योग देहान्तरि धम्मविद्य बुद्धि को भी बुद्धियोग कहा है। दोनों में अध्वयपुष्प बुद्धियोग का 'विद्युत्विद्यमान' है एवं बुद्धिप्राप्त बुद्धियोग 'आध्वयबुद्धियोग' है। विद्युत्विद्यमान बुद्धियोग है अनुग्रामी योगी 'बुद्धियोगी' है। अध्वयपुष्प बुद्धियोग है अनुग्रामी योगी बुद्धियोगी है। बुद्धियोगी 'आध्वय' है बुद्धियोगी 'आध्वय' है। 'आध्वय' बुद्धियोगी तं प्राक्कानिहमन्त्र्यम् इत्यपि श्लोकप्रसिद्ध 'योग' शब्द विद्याध्वयपुष्प अध्वयपुष्प-बुद्धियोग का शब्द है एवं 'तस्मात्प्राप्त्य युग्मस्य योगा-कर्मसु कोराध्वय'—'बुद्धियोगानुपाधित्य इत्यपि भीष्मप्रसिद्ध योग शब्द अध्वयपुष्पपुष्प बुद्धियोग बुद्धियोग का शब्द है। विद्युत्विद्यमान ही आध्वय बुद्धियोग है। अध्वय बुद्धियोग तो विद्युत्विद्यमान के लक्ष्य का कारण बनता हुआ बुद्धियोग का हेतुत्व था है। अतएव विद्युत्विद्यमान-बुद्धियोग को यही अध्वयबुद्धियोग आध्वयबुद्धियोग अध्वयबुद्धियोग, इन नामों से व्यवहृत किया गया है यही अध्वयपुष्पपुष्प देहान्तरिबुद्धियोग आध्वयबुद्धियोग अध्वयबुद्धियोग, अध्वयबुद्धियोग, अध्वयबुद्धियोग, इन नामों से व्यवहृत हुआ है।

१०—प्राचीनाभिमत योगप्रयी के आधारभूत आत्मविषय—

[illegible]

११-गीतासम्मत योगचतुष्टयी क आधारभूत आत्मविषय —

अब गीतामिमसा योगावतुष्टयी का समन्वय कीजिए । गीतायोग की आचारभूमि अमृतात्मवत्त्वा है । यहाँ अभ्यस, आचर, चर तीनों का समन्वय है जब कि प्राचीन योग आचर-चरानुगत वनछा हुआ भी अभ्यस-मन्त्रि से बहिष्कृत था । अमृतात्मसंस्था का उपसंहार यद्यपि अमृतात्मिन्द्र बुद्धि ही बन रही है । तथापि 'न्यामृतं मृत्युमिर्विना'—'आमृतं मृत्यारमृतम्' इत्यादि क अनुसार इसका उपसंहार मत्स्य शरीर पर मान लिया जाता है और यही प्रत्यगात्मसंस्था तथा अभ्यस की सब व्यापित्तलक्षण नव सा है । प्राणायामरूप अभ्यस आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-आद्यमय है । इसके लक्षि-व्यक्तिक से वा विगत अविदेवत और अभ्यक्त में प्रविष्ट रहते हैं । लक्षिकर अभ्यस का उपक्रम प्रत्यगात्मा है उपसंहार शरीर है । अविदेवत में पाहरी उपक्रम है । इस आचारप्राप्त्य लक्ष्यभूमि की पौन्य कणार्ध अभ्यस-आचर-चर-भेद से विरहित बन कर सर्वत्र व्याप्त हो रही है । अविदेवत में योगशी, अभ्यक्त लक्षणम् महानपरमेश्वर अभ्यात्म में प्रत्यगात्मा स्वायम्भुव शास्त्रमा पारमेष्ठ्य महानत्मा तीनों की लक्षि में आनन्दविज्ञानप्रधान अभ्यसात्मा का भाग है यही पदोली अभ्यस-म-

रूपा है। अविदेवत में विद्याविद्यात्मक मूर्त्य, अध्यात्म में विद्याविद्यात्मिका पुष्टि इन दोनों में मनःप्रधान सम्प्रदायों का भेद है। यही दूसरी अक्षय्यात्मकस्था है। अविदेवत में चन्द्रमा पार्थिव देवत्व, मूर्ति, अध्यात्म में चन्द्र मन पार्थिव मूर्तिमा भौम शरीर तीनों की समष्टि में प्राणव्यापकमान सम्प्रदायों का भेद है। यही तीसरी अक्षय्यात्मकस्था है। प्रथम रूपा आनन्दविज्ञानाभ्यासानुगता आभ्यस्यरूपा है, द्वितीयरूपा मनोऽभ्यासानुगता अक्षय्यात्मकस्था है तीसरी रूपा प्राणव्यापकमानानुगता अक्षय्यात्मकस्था है। यही चौथीपुरुषाभ्यास की सम्प्रदाय का लक्षित प्रमाण है। इस सम्मूर्ति पौष्टी-अभ्यास की प्रातिष्ठिक विमूर्ति वैराग्य है। कर्तव्य बुद्धियोग सिद्धबुद्धियोग है। कर्तव्य विद्याव्यापकमानानुगता वैराग्यबुद्धियोग सम्प्रदाय है। इस वैराग्य-बुद्धियोग में तत्त्वानुगता प्रमाण है। अतएव इस बुद्धियोग में सम्प्रदाय अन्तर्भूत है। केवल वैराग्यबुद्धियोग के अनुगता ने ही शेष तीनों बुद्धियोग गन्तव्य का जाने हैं। अतएव वैराग्य-धर्म-ज्ञानबुद्धियोग-नामक तीनों बुद्धियोगों में भी अनुगता न धर्मबुद्धियोग का समावेश माना है, वैराग्य कर्तव्यक वचनों के द्वारा भू. म. कर्तव्य में स्पष्ट किया जा चुका है।

१२-अप्ययान्मातुगत एक ही धुन्विष्योग के चार विभिन्न योगविवर्तों का समन्वय—

[illegible]

सिद्ध-साध्य-योगचतुष्टयी-परिलक्षा —

(१)				
१-नोदगीपुण्यांमया—	मत्सगात्मा	वैराग्यबुद्धियोगात्मा	वैराग्योत्तुक्रियानुद्धियोग	
२-अभ्यस्तस्यमभू—	शान्तात्मा	ज्ञानबुद्धियोगात्मा	ज्ञानोत्तुक्रियानुद्धियोग	
३-महान्परमेष्टी—	महानात्मा	ऐश्वर्यबुद्धियोगात्मा	ऐश्वर्योत्तुक्रियानुद्धियोग	
४-अमृतस्य—	अमवविज्ञानात्मा	धर्मबुद्धियोगात्मा	धर्मोत्तुक्रियानुद्धियोग	
अविदेशतम्	अभ्यासतम्	सिद्धबुद्धियोगचतुष्टयी	साध्यबुद्धियोगचतुष्टयी	

(२)

- १-साध्यलक्षणावैराग्योत्तुक्रियानुद्धियोगेन—सिद्धलक्षणा—अभ्यसात्मक—वैराग्यबुद्धियोगात्मा
- २-साध्यलक्षणाज्ञानोत्तुक्रियानुद्धियोगेन—सिद्धलक्षणा—अभ्यसात्मक—ज्ञानबुद्धियोगात्मा
- ३-साध्यलक्षणाऐश्वर्योत्तुक्रियानुद्धियोगेन—सिद्धलक्षणा—अभ्यसात्मक—ऐश्वर्यबुद्धियोगात्मा
- ४-साध्यलक्षणाधर्मोत्तुक्रियानुद्धियोगेन—सिद्धलक्षणा—अभ्यसात्मक—धर्मबुद्धियोगात्मा

(३)

- १-वैराग्यममोषेण—आत्मनिष्ठके शानिर्वर्तिना—वैराग्यबुद्धिः—लक्ष्ण—वैराग्यबुद्धियोग—साध्य
- २-ज्ञानममोषेण—आत्मनिष्ठके शानिर्वर्तिना—ज्ञानबुद्धिः—लक्ष्ण—ज्ञानबुद्धियोग—साध्य
- ३-ऐश्वर्यममोषेण—आत्मनिष्ठके शानिर्वर्तिना—ऐश्वर्यबुद्धिः—लक्ष्ण—ऐश्वर्यबुद्धियोग—साध्य
- ४-धर्मममोषेण—आत्मनिष्ठके शानिर्वर्तिना—धर्मबुद्धिः—लक्ष्ण—धर्मबुद्धियोग—साध्य
- १-साध्यवैराग्योत्तुक्रियानुद्धियोगेन विकसित—वैराग्यसाध्यता—वैराग्यबुद्धियोग—सिद्ध
- २-साध्यज्ञानोत्तुक्रियानुद्धियोगेन विकसित—ज्ञानसाध्यता—ज्ञानबुद्धियोग—सिद्ध
- ३-साध्यऐश्वर्योत्तुक्रियानुद्धियोगेन विकसित—ऐश्वर्यसाध्यता—ऐश्वर्यबुद्धियोग—सिद्ध
- ४-साध्यधर्मोत्तुक्रियानुद्धियोगेन विकसित—धर्मसाध्यता—धर्मबुद्धियोग—सिद्ध

- (४) १-वराभ्येतुहन्तभ्यनुद्विषोमेन—वैराभ्याभ्यपत्तक्षरा—सिद्धनुद्विषोमेदवः
 २-ह्यनहेतुहन्तभ्यनुद्विषोमेन—हानाभ्यपत्तक्षरा—सिद्धनुद्विषोमेदवः
 ३-येरकर्महेतुहन्तभ्यनुद्विषोमेन—अरकर्म्याभ्यपत्तक्षरा—सिद्धनुद्विषोमेदवः
 ४-वर्म्महेतुहन्तभ्यनुद्विषोमेन—वर्म्माभ्यपत्तक्षरा—सिद्धनुद्विषोमेदवः



[५]—विद्याभ्ययस्य-उपक्रमोसहारी—

अधिदैवतम् — अभ्यस्तम्

- १-मोहशीतुस्याभ्ययः—प्रकाशमा]—विद्याभ्ययस्य-उपक्रमस्थानम्
 २-अभ्यस्तस्वप्नम्—राजसमा
 ३-महान् परमेष्ठी—महानामा } —विद्याभ्ययस्य-मध्यस्थानम्
 ४-अमृतमूर्त्यः — अमृतविज्ञानमा]—विद्याभ्ययस्य-उपसंहारस्थानम्



(६) —अविद्याभ्ययस्य-उपक्रमोसहारी—

अधिदैवतम् — अभ्यस्तम्

- ४-मृतमूर्त्यः—मृतविज्ञानमा]—अविद्याभ्ययस्य-उपक्रमस्थानम्
 ३-बन्धमा—प्रधानमा
 २-पार्थिवदेवमृष्टः—पार्थिवमोक्षाला } —अविद्याभ्ययस्य-मध्यस्थानम्
 १-मूर्तिवन्धः—शरीरम्]—अविद्याभ्ययस्य-उपसंहारस्थानम्



(७) - अन्यष्टया विद्याभ्ययस्योपक्रमोपसंहारी—

अधिदैवतम् — अभ्यासम्] - विद्याभ्ययस्योपक्रमस्थानम्

१-बोद्धशीपुत्राभ्ययः — प्रत्यगात्मा

२-अभ्यस्तस्वयम्भू — शान्तात्मा

३-महान्परमेष्ठी — मोक्षनात्मा

४-अमृतसूर्यः — अमृतविज्ञानात्मा

५-मर्त्यसूर्यः — मर्त्यविज्ञानात्मा

६-बन्धमाः — प्रकानात्मा

७-पार्ष्वदेवकृत्यम् — पार्ष्वमोक्षकृत्यम्

८-भूविदः — शरीरम्] - विद्याभ्ययस्योपसंहारस्थानम्



(८) - अविद्याभ्ययस्योपक्रमोपसंहारी—

अधिदैवतम् — अभ्यासम्

१-भूविदः — शरीरम्] - अविद्याभ्ययस्योपक्रमस्थानम्

२-पार्ष्वदेवकृत्यम् — पार्ष्वमोक्षकृत्यम्

३-बन्धमाः — प्रकानात्मा

४-मर्त्यसूर्यः — मर्त्यविज्ञानात्मा

५-अमृतसूर्यः — अमृतविज्ञानात्मा

६-महान्परमेष्ठी — मोक्षनात्मा

७-अभ्यस्तस्वयम्भू — शान्तात्मा

८-बोद्धशीपुत्राभ्ययः — प्रत्यगात्मा] - अविद्याभ्ययस्योपसंहारस्थानम्



(६)	<p>भूयिष्ठमनकलम्ब्य भूयस्त्वित्तद्वारा आत्मदर्शनम् शरीरमकलम्ब्य भूयस्त्वित्तद्वारा आत्मदर्शनम्</p>	<p>—अविद्याभ्यस्यदर्शनम्—तेषां अनात्मद्वि (अत्र आत्मा उपसंहारः, शरीर-उपक्रमः)</p>
	<p>बोद्धशीपुरुषाभ्यस्यमकलम्ब्य अनात्मत्वित्तद्वारा आत्मदर्शनम् प्रत्यक्षमात्मानमकलम्ब्य अनात्मत्वित्तद्वारा आत्मदर्शनम्</p>	<p>—विद्याभ्यस्यदर्शनम्—तेषां आत्मद्विः (अत्र आत्मा—उपक्रमः, शरीर उपसंहारः)</p>

(१०) आत्मसोपानपरम्परानुगता—अभ्यस्यसंस्थात्रयी—

अभिवैबल्यम् — अभ्यात्मम्

१	<p>१ बोद्धशीपुरुषाभ्यस्य — प्रत्यक्षात्मा १ अभ्यस्यत्त्वबन्धु — शान्दात्मा १ महान्परमेष्ठी — महानात्मा</p>	<p>—अमृतत्वबन्धुना 'अभ्यस्यत्त्वा' प्रथमा</p>
२	<p>१ अमृतत्वं — अमृतविज्ञानात्मा २ मर्त्यत्वं — मर्त्यविज्ञानात्मा</p>	<p>—अमृतमर्त्याभ्यस्यपाना 'अभ्यस्यत्त्वा' द्वितीया —</p>
३	<p>१ चन्द्रमा — प्रधानात्मा २ पार्थिवदेवकलम्ब्य—पार्थिवमौलतात्मा १ भूविद्वत् — शरीरम्</p>	<p>—मर्त्यभ्यस्यपाना—चरत्त्वा तृतीया</p>

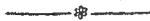
(११) प्राचीनामिमता योगत्रयी, तदाधारभूताः—आत्मनिर्वर्णमात्रारथ—

शरीरापक्रमात्तुगता—मर्त्या—कुलपु पसंहरादिमका मर्त्यात्मसंस्था प्राचीनायिनतयोगप्रसिद्धा—

अभिवैबल्यम् — अभ्यात्मम्

मर्त्यत्वं — मर्त्यात्मा — अक्षरमा (अभ्यस्यत्त्वा) — ज्ञानबोधाधारभूमिः
चन्द्रमा — प्रधानात्मा — अक्षरमर्त्यात्मा (अक्षरमाभ्यस्यत्त्वा) — मर्त्ययोगधारभूमिः
भूविद्वत् — शरीरम् — अक्षरमर्त्यात्मा (अक्षरमाभ्यस्यत्त्वा) — मर्त्ययोगधारभूमिः

१-अध्यात्ममानुषा	यागः-ज्ञानयागः	} पार्थिवदेवसत्यानुगतः-पार्थिवमोक्षरत्ना योगानुष्ठाना अविद्यामुद्रियोगसाधनम् यत्नः योऽप्यसम्
२-अध्यात्ममानुषा	योग-भक्तियोगः	
३-अध्यात्ममानुषा	योग-कर्मयोगः	



(१२)-गीतामिमता योगचतुष्पदी, तदाधारभूता-आत्मविशेषभावाच्च-

आत्मोपक्रमानुगता-अमृता-बुद्धयः पञ्चदशारम्भिका शरीरोपसंहारात्मिका वा अमृतमत्स्यसंस्था-

गीतामिमतयोगप्रविष्टा

तत्र-सर्वाध्यायानुगता येराग्यबुद्धियोगानुगता आत्मसंस्था प्रथमा-

अध्यायोपक्रमात्मिका, शरीरोपसंहारात्मिका, सत्तात्मिका

नवाध्याय -

अर्धिवतम्

अध्यात्मम्

१-आत्ममार्गः-अध्यायः	}	१-योगश्रीपुरुषार्थसूत्र-प्रथमाध्यायः	}	येराग्यबुद्धियोगमिति-
२-विज्ञानमार्गः-अध्यायः		२-अध्यात्मसूत्रम्-शान्तिप्रथमा		ज्ञानबुद्धियोगः
		३-महान्याससूत्रम्-महान्यासः		
३-मनोमार्गः-अध्यायः	}	४-अमृतसूत्रम्-अमृतविज्ञानात्मिका	}	वैष्णवो ग-येराग्यबुद्धियोगः
		५-मर्त्यसूत्रम्-मर्त्यविज्ञानात्मिका		
४-प्रज्ञामार्गः-अध्यायः	}	६-चन्द्रमा-प्रज्ञानात्मिका	}	
५-आत्ममार्गः-अध्यायः		७-पार्थिवदेवसूत्रम्-पार्थिवमोक्षरत्ना वैष्णवो ग-येराग्यबुद्धियोगः		
		८-भूविश्वम्-शरीरम्		

पार्थिवदेवसत्यानुगता-पार्थिव-मोक्षरत्ना योगानुष्ठाना

धर्म-ज्ञान-येराग्यबुद्धियोग-योगसाधनम्

असङ्गमात्रेण सर्वविधायां योगफलम्

त एव-सर्वविद्यानानुगतो येराग्यबुद्धियोगः-सर्वविद्या

(१३)—प्राचीनामिच्छा-संशोधिता-सुखियोगात्मिका-योगप्रपी, तदाचारमृतान्यात्म-
विवर्तानि च—

१-अनिन्दविज्ञानमयाध्यतनुगत, अभ्यस्तान्मूला अभ्यस्तान्मोपक्रमोपसंहायस्मिन् अभ्यस्तप्रधाना-प्रथमा संस्था
—‘अननुदियोगमूमि’—

२-मनोमयमध्यतनुगत, महानात्ममूला, महानात्मोपक्रमोपसंहायस्मिन् अभ्यस्तप्रधाना-द्वितीया संस्था
—‘ऐश्वर्यसुखियोगमूमि’—

३-प्राक्कायमयाध्यतनुगत, विज्ञानात्ममूला, विज्ञानात्मोपक्रमोपसंहायस्मिन् अभ्यस्तप्रधाना तृतीया संस्था
—‘चर्मसुखियोगमूमि’—

१-अकर्तृत्वम्, अनिन्दविज्ञानमयः ‘परात्मनः’ (अकृतज्ञः)-तनुगतः-अकृतज्ञः-अभ्यस्तान्मा
—अननुदियोगाचारः—

२-अकर्तृत्वम्, मनोमयः ‘परावस्तुत्वम्’ (अकृतज्ञः)-तनुगतः-अकृतज्ञः-महानात्मा
—ऐश्वर्यसुखियोगाचारः—

३-अकर्तृत्वम्, प्राक्कायमयः ‘अवस्तुत्वम्’ (अकृतज्ञः)-तनुगतः-अकृतज्ञः-विज्ञानात्मा
—चर्मसुखियोगाचारः—

*-कर्तृत्वम्, अनिन्दविज्ञानमयः-प्राक्कायमयः-कर्तृत्वम्-तनुगतः-कर्तृत्वम्-महानात्मा
—ऐश्वर्यसुखियोगाचारः—

स यः-गीतारादान्तः

१३-पातञ्जल योगसूत्र क ‘अविद्या’ शब्द का समन्वय—

विशेषकर वैराग्य की प्रतिष्ठितिनी यत्-होपात्मिका आत्मस्ति है, ऐश्वर्य की प्रतिष्ठितिनी अनिमित्त है
धर्म का प्रतिष्ठितिनी अनिमित्त है। यद्यपि ज्ञान का प्रतिष्ठितिनी ‘मात्र’ माना गया है किन्तु तिर यन्मार्शन
में ‘अविद्या’ शब्द प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि सामानिक इति वे ज्ञान के प्रतिष्ठितिनी को ‘अविद्या’ शब्द से
अपेक्षित करना उचित नहीं माना जा सकता है तथापि विज्ञानाचार्य दत्ते अविद्या न कह कर ‘मोह’ करना ही
अनर्थ करता है। कारण यह है। ऊँचास्मिन् बायीं सुखिर्वा बायीं ‘अविद्यासुखि’ है यही मयास्मिन् बायीं
सुखिर्वा ‘विद्यासुखि’ है। विद्या का प्रतिष्ठितिनी शब्द अविद्या ही हो सकता है। विद्यात्मक धर्म ज्ञान वैराग्य
ऐश्वर्य, इन चार मायों में विभक्त होता हुआ चार प्रयत्न प्रयत्न नामों से अपेक्षित हुआ है। ऐश्वर्य द्वारा में
बायीं विद्याओं के सम्बन्ध में प्रतिष्ठितिनी बना हुआ ‘अविद्या’ शब्द केवल अनिमित्त के लिए प्रयुक्त नहीं
होता। यदि समुदाये दृष्टा शब्दाः-अवयवैरेवपि वस्तुता’ ग्याय वे पायीं अविद्यासुखिर्वा के लिए प्रयुक्त
अविद्याशब्द अवयवमूला ज्ञानविद्या का प्रतिष्ठितिनी मान कर तत्प्राप्त वे योगदर्शन में ‘अविद्या’ शब्द प्रयुक्त हुआ
है तो इष्टावधि है। तब ही ज्ञानसत् धर्म-ऐश्वर्य-वैराग्य, इन तीनों के प्रतिष्ठितिनी के लिए भी ‘अविद्या’
शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। परन्तु वेधते हैं-सुखार ने इन तीनों के प्रतिष्ठितिनी के लिए अविद्या-

शब्द का प्रयोग न कर उनके वास्तविक-विषय-आग्निनिवेश, आग्निमात्र, गगनदेव, नामों का ही प्रयोग किया है। अब दोनों के लिए नियत नामों का उल्लेख हुआ है तो चौथे ज्ञान की प्रतिबिम्बिता के लिए भी 'मोक्ष' शब्द का ही प्रयोग होता चाहिए या और इस विज्ञानबुद्धि से 'आध्यात्मिकतागगनदेव आग्निनिवेशाः पञ्च-कक्षेष्टाः' का रूप 'मोक्षस्मितागगनदेव आग्निनिवेशाः पञ्च कक्षेष्टाः' यही होना चाहिए या। समझ है सुन्दर ने—'ज्ञान का सर्वत्र विद्या से होता है, अधिष्ठा ज्ञान की शक्ति है'—यन्त्रिणाहृष्टिरोमणि इस इन्द्रियधार (लोकेन्द्रियधार) के आधार पर सामान्य जनों की सुविधा के लिए अधिष्ठा शब्द का प्रयोग कर दिया हो। अतः, वस्तुतः यही है कि, सिद्धविद्यागुण ज्ञानबुद्धियोग के स्वस्वरूपविषय के लिए ज्ञान, और लक्ष्यविद्वाही मोक्ष इन दो शक्तियों का स्वस्वरूपानुपपत्ति है। इसी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

१४-उभयज्योतिःप्रकाशक अन्तर्ज्योतिर्लक्षण प्रत्यगात्मा—

'अमृतं वैद्य मृत्युञ्जयं सर्वसङ्गहमनु न ।' इत्यादि योगसिद्धान्तानुसार आत्मा अमृत-मृत्यु, इन दोनों मार्गों से मुक्त है। अमृतमात्र ज्ञान है, मृत्युमात्र कर्म है। ज्ञान की विरवादीयकत्वा 'रह' है, कर्म की विरवादीयकत्वा 'बन' है। बलावस्था में परिणत कर्म मृत्यु रहता है। अतएव सर्वत्रविशिष्ट परात्पर रमैक्यजन बनता हुआ विगुह ज्ञानमात्रा (रहामात्रा) बन रहा है। इस कर्मात्मकविशिष्ट विरवादीय परात्पर को ही परातीति माना गया है। योगातीति यही परात्पर आपन अक्षिजित् प्रवेश से प्रहमाया' नामक सीमा-भावावस्था का लक्षणियोग से सीमित होकर 'अमृत्यपुरुष' नाम से व्यवहृत होने लगता है। इस अमृतेश्वर में स्वतन्त्र ज्ञानका स्वात्मिक कर्म का भी उल्लेख होना चाहिए। स्व-रूप की वाग्धावस्थाका यही अमृतमात्रा 'ज्ञानकर्मात्मा' कहा जाता है। ज्ञानरहता यह ज्ञानमात्रा है, कर्मरहता कर्मात्मा है। ज्ञानमात्रा सर्वत्र अमृत है, कर्मात्मा सर्वत्र मृत्यु है। दोनों के धाम्य से यह अमृत्यपुरुष समस्तलक्षण बुद्धिधाम्य से निरम-मुक्त रहता हुआ नित्यमुक्त है। यही ज्ञानकर्मात्मकमूर्ति अमृत्यपुरुष आध्यात्मिक-इन्द्रियविषय 'प्रत्यगात्मा' है, जिसे हमने 'वैद्यात्म्य' नाम से व्यवहृत किया है, एवं जिसे सर्वयोगलक्षण 'वैद्यमृत्युविद्या' की आधारभूमि कहा जाता गया है। ज्ञान और कर्म के समस्तलक्षण वैद्यात्म्य से यह प्रत्यगात्मा स्वस्वरूप से नित्य शान्त है। बोधस्थिति है आध्यात्मिक समुद्रका अचलप्रतिष्ठ है। यह स्वात्मिकी सिद्धा शान्ति ही इन्द्रिय स्वतन्त्र है। नित्य स्वस्थ इस ज्ञानकर्मात्मक प्रत्यगात्मा का ही नाम है—'अन्तर्ज्योतिः'। अन्तर्ज्योतिः ही आत्मप्रकाश है, आत्मप्रकाश ही आत्मज्योतिः है, यही अन्तर्ज्योतिः है।

इस अन्तर्ज्योतिर्लक्षण आत्मप्रकाश के ज्ञानज्योतिः, मृत्युज्योतिः, मेर से दो विपरीत मार्ग गए हैं। स्वात्मिक अन्तर्ज्योतिः ज्ञानज्योतिः है बलात्मिक कर्मात्मक मृत्युज्योतिः है। संकुचित लक्ष्य का विकसितरूप ही उस लक्ष्य का ज्योतिर्मात्र है। यह आध्यात्मिक ज्ञान, और कर्मरूप से ही विकसित हुआ है। अतएव उनके स्वतः विकसित ज्ञान और कर्मलक्ष्य को अन्तर ही स्मृतिः शब्द से व्यवहृत किया जातकता है। उभय-ज्योतिर्मूर्ति यह प्रत्यगात्मा अपने ही ज्ञान-कर्म-लक्षण से ज्योतिष्मान् बना हुआ है, अतएव यह प्रत्यगात्म-ज्योतिः 'स्वज्योतिः' बना हुआ है। अमृतलक्षण ज्ञानज्योतिः, मृत्युलक्षण कर्मात्मज्योतिः, इन दोनों स्वज्योतिषों से ज्योतिष्मान् बना हुआ स्वज्योतिर्धन प्रत्यगात्मा ही 'अन्तर्ज्योतिः' है यही विज्ञानमात्रा में 'पुरुषज्योतिः' नाम से व्यवहृत हुआ है।

शब्द का प्रयोग न कर उनके वास्तविक-नियत-अभिनिवेश, अस्मिता, यगद्देव, नामों का ही ग्रहण किया है। वन ठीनों के लिए नियत नामों का उल्लेख हुआ है जो चौथे ज्ञान की प्रतिद्वन्द्वता के लिए भी 'मोह' शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए या और इस विज्ञानदृष्टि से 'अविद्यास्मितारागाद्वेषाभिनिवेशा' पञ्च-क्लेशों का ही प्रयोग होना चाहिए या और इस विज्ञान दृष्टि से 'अविद्या' ज्ञान की शक्त है—'यमित्याहृष्टिरोमणि' इस प्रत्यक्ष-प्रकार ने—'ज्ञान का उदय विद्या से होता है अविद्या ज्ञान की शक्त है'—यमित्याहृष्टिरोमणि इस प्रत्यक्ष-प्रकार (लोकस्वबाह्य) के आधार पर सामान्य बर्णों की सुविधा के लिए अविद्या शब्द का प्रयोग कर दिया है। अस्तु, यदवश्य वही है कि, विद्वन्निष्ठानुगत ज्ञानबुद्धिवोग के स्वस्वरूपविचय के लिए ज्ञान, और उपनिषद्गीता मोह, इन दो सर्वों का स्वस्वरूपानुसंग प्रयोजित है। इसी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

१४-उभयज्योतिःप्रवर्तकं अन्तर्ज्योतिर्लक्ष्य प्रत्यगात्मा—

“अमृत येन मृत्युश्च सर्वसङ्गाहममुन ।” इत्यादि गीतादिद्वान्छानुसार आत्मा अमृत-मृत्यु इन दोनों भावों से युक्त है। अस्तमात्र ज्ञान है, मृत्युभाव कर्म है। ज्ञान की विरहावस्थावस्था ‘रस’ है, कर्म की विरहावस्थावस्था ‘वज्र’ है। वज्ञावस्था में परिणत कर्म मृत्यु रहता है। अतएव सर्वव्यापिगुण पदपर विरवाटीवस्थावस्था ‘वज्र’ है। वज्ञावस्था (वज्ञात्मा) बन गया है। इस कर्मास्तन्त्रविरहित विरवाटीव पदपर को ऐक्यजन बनता हुआ विरवाट ज्ञानात्मा (वज्ञात्मा) बन गया है। इस कर्मास्तन्त्रविरहित विरवाटीव पदपर को हो योगाटीव माना गया है। योगाटीव यही पदपर अपने यत्किञ्चित् प्रवेश से महाभावा नामक सीमा-मात्रप्रवक्तृ का विरवाट से सीमित होकर अमृतपुरुष नाम से व्यक्त होने लगता है। इस अमृतेश्वर में स्वात्मक ज्ञानकर वज्ञात्मक कर्म का भी उल्लेख होजाता है। रस-वज्र की साम्यावस्थाक पद अमृतयात्मा ‘ज्ञानकर्मात्मा’ कहलाया है। ज्ञानवृत्तया वह ज्ञानात्मा है, कर्मावृत्तया कर्मात्मा है। ज्ञानभाव लक्षण अमृत है, कर्माभाव अवच्छाद्य मृत्यु है। दोनों के साम्य से यह अमृतपुरुष समत्वलक्षण बुद्धिवेग से नित्य-युक्त रहता हुआ नित्ययुक्त है। यही ज्ञानकर्मात्मक अमृतयात्मा आध्यात्मिक-द्वयवस्थित ‘प्रपञ्चमा’ है किन्तु हमने ‘सर्वव्याप’ नाम से व्यक्त किया है एवं विवेकलक्षण ‘वैराग्यबुद्धिवेग’ की आचारभूमि वृत्तया मया है। ज्ञान और कर्म के समत्वलक्षण वैराग्य से यह प्रपञ्चमा स्वत्वकर्म से नित्य शाश्वत है, योगवृत्त है आध्यात्मिक समत्वलक्षण वृत्तया प्रपञ्चमा है। यह साम्यात्मिकी निरवाटान्ति ही इसकी स्वत्वमा है। नित्य स्वत्व इस ज्ञानकर्मात्मक प्रपञ्चमा का ही नाम है-‘अन्तर्गम्यति’। अन्तर्गम्यति ॥ आत्मप्रपञ्च है, आत्मप्रपञ्च ही आत्मव्यक्ति है यही अन्तर्गम्यति है।

इस अन्तस्त्वोक्तिर्ब्रह्म आत्मप्रकाश के ज्ञानव्योति, भूतव्योति मेद से दी विवर्त माने गए हैं। स्वात्मिब्रह्म ज्ञानव्योति ज्ञानव्योति है कलात्मिब्रह्म कर्मव्योति भूतव्योति है। संकुचित तत्त्व का विकसितरूप ही उस तत्त्व का व्योतिर्मात्र है। यह आत्मात्मक ज्ञान और कर्मरूप से ही विकसित हुआ है। अतएव उसके स्वतः विकसित ज्ञान, और कर्मरूप को अवरूप ही व्योति। राज्य से व्यवहृत किया जातप्रथा है। उभय-पयोधिर्भूति यह प्रत्यगात्मा अपने ही ज्ञान-कर्म-विशेष से व्योतिष्मान् बना हुआ है, अतएव यह प्रत्यगात्म-व्योति 'स्वव्योति बना हुआ है। अमृतलक्षणा ज्ञानव्योति, मृतलक्षणा कर्मव्योति, इन दोनों स्वव्योति का से व्योतिष्मान् बना हुआ स्वव्योतिर्पन प्रत्यगात्मा ही 'अन्तस्त्वोति' है यही विज्ञानमापा में 'पुरुषव्योति' नाम से व्यवहृत हुआ है।

१५-विश्वनिब-वन पुरुषज्योतिः-प्रकृतिज्यातिः-विषर्ष-

बैशानिमीयं न कदा है—पुरुषश्चास्ति पार्थ क्योतिषा के द्वारा विश्वानुगतानी गृहीत है। प्रश्न होता है कि, पुरुषश्चोतिर्लक्षणा अन्तर्गोति (अन्वयगोति) को विश्वानुगता कना देने वाली उन पार्थ क्योतिषों का क्या स्वरूप है। इस प्रश्न का समाधान हुआ है—वहियोति के द्वारा। 'प्रकृति—पुरुष' का विद्वत्पराधी समन्वयि' सिद्धान्तानुसार पुरुषत्व प्रकृतित्व से निरूपित है। प्राणा, आपा, वाक् धाम् धाम्, मेद से प्रकृतित्व (वहिराद्यहति) पञ्चमा विमल माना गया है। पञ्च-पोतिस्तथा यह प्रकृतित्व ही भूतत्व का प्रत्यक्ष विरह का उत्पादन माना गया है। क्योंकि पञ्चोतिर्लक्षणा यही वहिराद्यहति पञ्चभूतत्व का निरवकाश का कारण (उत्पन्न) बनती है अतएव इस प्रकृतित्वोति को अवरय ही 'वहियोति' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। जिस प्रकार अन्तर्गोतिर्लक्षणा पुरुषश्चास्ति ज्ञान—कर्म के मेद से ज्ञानश्चास्ति भूतश्चास्ति इन दो भावों में विभक्त रहती है, एवमेव वहियोतिर्लक्षणा प्रकृतित्वोति भी ज्ञान—कर्म के मेद से ही ही भावों में विभक्त मानी गई है। दोनों में अन्तर केवल यही है कि अन्तर्गोति के दोनों पक्ष बर्तमानता में परिचित रहते हैं वहीं वहियोति के दोनों पक्ष विरमावस्था में परिचित रहते हैं। अन्तर्गोति के ज्ञान—कर्म सम्प्रत्यय के कारण बर्तमानता विद्यमान है। वहीं वहियोति के ज्ञान—कर्म विरमावस्था के कारण अतीततावस्था से भूतश्चास्ति विमान है। अतएव उभयविभक्त्यो मी पुरुषश्चास्ति विमान—मया में केवल 'ज्ञानश्चास्ति' नाम से, एवं उभयविभक्त्यो मी प्रकृतित्वोति केवल भूतश्चास्ति नाम से व्यवहृत कर दी गई है। उभयविभक्त्यो पुरुषश्चास्ति के ज्ञान पक्ष अन्तर्गोति अन्वयगोति, क्योतिर्लक्षणा है। इत्यदि अनेक क्योतिनाम हैं। उभयविभक्त्यो प्रकृतित्वोति के भूतश्चास्ति वहियोति विरमश्चास्ति, क्योति इत्यदि अनेक क्योतिनाम हैं। पुरुषश्चास्ति आत्मा है प्रकृतित्वोति इस आत्मा का शरीर है। जिस प्रकार आत्मा शरीर से निरूपित है एवमेव यह पुरुषश्चास्ति प्रकृतित्वोति से निरूपित है। पञ्चभूतत्व प्राणिक विरह ही प्रकृतित्वोति है पञ्चभूतत्व निरवकाश ही पुरुषश्चास्ति है। निरवकाश विरह का कारण है, वहियोति अन्तर्गोति के वीर्यिकाम का आधार है।

१६—पुरुष, एवं प्रकृति-ज्योतिषों के पाँच पाँच अवान्तर विभाग—

[illegible]

नाम ही 'आत्मज्योति' है। आनन्दज्योति से अज्यस्य स्वयमूलक्षणा प्राणज्योति विज्ञानज्योति से परमेश्वरी-लक्षणा अक्षज्योति मनोज्योति से बागलक्षणा सूक्ष्मज्योति, प्राणज्योति से अक्षलक्षणा चन्द्रज्योति, एवं बागज्योति से अक्षलक्षणा पृथिवीज्योति अनुपदीय है। इन पाँचों मन्त्रजातिषो से (प्रकृतिज्योतिषों से) पाँचों ज्ञानज्योतिषी (पुरुषज्योतिषी) विरचानुगत बनी हुई हैं। ज्योति यस्तुन ज्ञानात्मक रस का ही नाम है। यही ज्ञानरस क्लृप्तप्रवृत्तारम्भ से, हिंसा क्लृप्तप्रवृत्ति के उत्तरोत्तर घनीभूत होने से पाँच रूपों में परिणत हो जाता है। क्लृप्तप्रवृत्तारम्भानुगता ज्ञानज्योति के क्लृप्तप्रधान रूप ही 'कर्म' कहलाए हैं। ज्ञान का क्लृप्तानुगत रूप ही कर्म है। अतएव कर्म को भी 'ज्योति' नाम से व्यक्त करना अन्वर्थ बन जाता है। निष्कर्ष यही हुआ कि पञ्चधा विभक्त पुरुषज्योति ही अन्तर्ज्योति है यह ज्ञान-कर्म मेद से हिंसा विभक्त है एवं यह लभ्यमास्थापका है। पञ्चधा विभक्त प्रकृतिज्योति ही बहिर्ज्योति है यह भी ज्ञानकर्म मेद से हिंसा विभक्त है, एवं यह विषमास्थापका है। पञ्चज्योतिर्लक्षणा आत्मा, पञ्चज्योतिर्लक्षणा प्रकृति, दोनों भी समष्टि 'पुरुष' है। एवं 'पञ्चज्योतिरयं पुरुष' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पुरुषलक्षणा में मुक्त आत्मज्योति भी पञ्चधा विभक्त है, प्रकृतिज्योति भी पञ्चधा विभक्त है। निम्न लिखित पण्डितों से इस प्रतिपादित ज्योति-विदत्त का महीमांति स्वीकार हो रहा है।

- { १-आत्मज्योति (ज्ञानज्योति-अन्तर्ज्योति-पुरुषज्योति) }
 { २-विरज्योति (भूतज्योति-बहिर्ज्योति-प्रकृतिज्योति) }

१-आत्मज्योति

१-आनन्दज्योति

२-विज्ञानज्योति

३-मनोज्योति

४-प्राणज्योति

५-बागज्योति

ज्ञानज्योति (१) आनन्दविज्ञानमनोज्योतिपुरुष-ज्ञानात्मा-ज्ञानज्योति:

कर्मज्योति: (मनप्राणबाह्जज्योतिपुरुष-कर्मोत्पत्ति-भूतज्योति)

आत्मज्योति:
५

ॐ

२-विश्वज्योतिः

१-प्रणम्योतिः

२-अपम्योतिः

३-बागम्योतिः

४-अक्षम्योतिः

५-अक्षद्वयोतिः

—मनम्योतिः (प्राण-अब-बाहमयी-प्रकृतिः)—शून्यप्रकृति—ज्ञानम्योतिः

—कर्मम्योतिः (बाह्-अक्ष-अक्षद्वयमयी-प्रकृतिः)—कर्मप्रकृति—मृतम्योतिः

—बहिर्ज्योतिः
५

ॐ

— ॐ —

पुरुषात्मा	—प्राकृतत्मा	—अविद्युक्तम्	अव्यक्तम्	
१-ज्ञानम्योतिः	—प्रणम्योतिः	—अबम्योतिः	शान्तत्मा	पुरुषम्योतिः
२-विज्ञानम्योतिः	—आपोलक्षणा	—परमेष्ठी	महानात्मा	प्रकृतिम्योतिः
३-मनम्योतिः	—बागलक्षणा	—अमृतसूर्या	विद्यापुष्टिः	ज्ञानम्योतिः
४-मनोमयिः	—बागलक्षणा	—अमृतसूर्या	अविद्यापुष्टिः	
५-प्राकृतमयिः	—अक्षद्वयमयी	—चक्षुःमा	मन	
६-अक्षमयिः	—अक्षद्वयमयी	—अक्षद्वयमयी	शरीरम्	
अक्षम्योतिः	—विश्वम्योतिः			
पुरुषम्योतिः	—प्रकृतिम्योतिः			

—पुरुषम्योतिरयं पुरुषः
पुरुषत्वेन प्राकृत्या च
अनन्यथा पञ्चम्योतिः।

१७-घननिवर्तक-प्रवर्तक-पुरुष-प्रकृति-ज्योतिर्विवर्ण-

‘तमेव आत्ममनुमासि सर्वे, तस्य भासा सर्वमिदं विभासि’ इत्यादि श्रुति के अनुसार आत्म-
 भासित्वं च प्राप्नुयन्तीति ही विश्वज्योतिर्विवर्णं प्रकृतिरिति की आचारभूमि है। प्रसंगात्मलक्षणा
 आत्मन्योति ही तो शास्त्रादि लक्षणा प्रकृतिरिति-पञ्चक में परम्परया अवतीर्ण हुई है। स्वस्थान में
 यही आत्मज्योति है, विश्वस्थान में यही भूतज्योति है। आत्मज्योति निरुपाधिक है, भूतज्योति रोपाधिक है।
 निरुपाधिक आत्मज्योति त्रिगुणभाज से बहिर्भूत है रोपाधिक भूतज्योति त्रिगुणभाजकान्त है। गुणातीता
 आत्मज्योति अपने ही गुणात्मक भूतज्योतिर्लक्षणा वरण से उठी प्रकार आहत हो जाती है, जैसे कर्णनामि
 (मकड़ी) स्वोत्पन्न बाल से, पुरुष स्वोत्पन्न केशलोमी से छोड़ स्वोत्पन्न किट्ट (रँग) से, तथा दुग्ध
 स्वोत्पन्न ‘शर’ (वर-मलाई) से आहत हो जाता है। अपिदैवतस्था में ज्ञान-कर्म-सञ्चालक पोद्धार-
 पुरुष (ईश्वर) है। पूर्वकर्मनाशक अपिदैवत संस्था पुरुषप्रधाना है। पुरुष के ज्ञान-कर्मभाज सम्भावना
 फल है। इस सम्भाव के कारण, गीता के शब्दों में समस्तलक्षण बुद्धिबोधभाव से प्रकृत्यनुगत भूतज्योति
 का आवरण उठे आहत करने में अक्षम रह जाता है। अतएव वहाँ स्वज्योतिर्विन आत्मा उदा त्वत्स्व
 से विकसित रहता है। पण्डित आत्मास्थित्या का प्रथम मुख्यकर्म से ‘प्रकृतिस्त्व बनता है। प्रकृति-सृष्टि
 भूतप्रधाना है। भूतकर्म का उपक्रम भी प्रकृति है, उपसंहार भी प्रकृति है, वैद्यकि-‘अक्षय्यदीनि भूतानि,
 अक्षय्यकनिधयमेव’ इत्यादि गीताप्रधान से प्रमाणित है। अक्षय्य (लक्ष्मी) अक्षय्यपुरुष रहता है, पण्डित
 कर्म (उत्पत्ति) प्रकृति के हाथ ही होता है-‘मय्यक्षय्येण प्रकृति सृजते स चराचरम्’। प्रकृति जीवन्त
 का भूतप्रधान है। प्रकृति गुणामिका बनती हुई उत्पन्न-रज-समोमयी है। अतएव प्रकृतिभाव से सम्बन्ध
 रखने वाला ज्ञान भी त्रिगुणभाज में परिणत हो जाता है, एवं कर्म भी त्रिगुणात्मक बन जाता है। कदाचित्
 गया है कि अन्तज्योतिर्विवर्ण आत्मा का आनन्दविज्ञानमनोमय भाग ज्ञानज्योति है, मन-प्राणबुद्धि भाग
 कर्मज्योति है, यही भूतज्योति है। इत्यकार केवल आत्मज्योतिर्विवर्ण अन्तज्योति (ज्ञानज्योति) में ही
 ज्ञानात्मा, कर्मात्मा, के सम्बन्ध से ज्ञान-भूत, दोनों ज्योतिर्विवर्ण का उपयोग सिद्ध हो रहा है। यह भूतज्योति
 आत्मा का स्वरूपकर्म है अतएव यह कथननिवर्तक बनती हुई आत्मस्वरूप में ही अन्तभूत है।
 अतएव आत्मगुण ज्ञान, भूत, दोनों ज्योतिर्विवर्ण के केवल ‘ज्ञानज्योति’ नाम से ही स्पष्ट कर दिया
 जाता है। एवमेव बहिर्ज्योतिर्विवर्ण विश्व का शास्त्रात्म-महानात्मा-विद्याबुद्धिमय भाग ज्ञानज्योति है
 अविद्याबुद्धि-मन-शरीरमय भाग कर्मज्योति है, यही भूतज्योति है। इत्यकार केवल विश्वज्योतिर्विवर्ण
 बहिर्ज्योति (भूतज्योति) में ही ज्ञानात्मा, कर्मात्मा के सम्बन्ध से ज्ञान भूत, दोनों ज्योतिर्विवर्ण का उपयोग
 सिद्ध हो रहा है। यह उपमात्मिक भूतज्योति आत्मा का परधर्म है अतएव यह कथननिवर्तक बनती
 हुई आत्मस्वरूप से वृषक मानी गई है। अतएव विश्वानुगत ज्ञान, भूत, दोनों ज्योतिर्विवर्ण के केवल ‘भूतज्योति
 नाम से ही स्पष्ट किया गया है।

५५

(१) आत्मज्योतिः, पुरुषज्योतिः, अन्तर्ज्योतिः, ज्ञानज्योतिः, स्वज्योतिः—

१-आनन्दविज्ञानमनामयोऽब्जय—ज्ञानात्मको विद्यात्मा—ज्ञानज्योतिः

२-मनःप्रापवाह्यमयोऽब्जय—कर्मात्मको भूतात्मा—भूतज्योतिः

} ज्ञानज्योतिः १

५६

(२)-विश्वज्योतिः, प्रकृतिज्योतिः, वह्निज्योतिः, भूतज्योतिः, परज्योतिः—

१-शान्तात्म-महानात्म-विद्याबुद्धपारममयः—ज्ञानात्मको विद्यात्मा—ज्ञानज्योतिः

२-अविद्याबुद्धपारम-प्रज्ञानात्म-वारीतात्ममय—कर्मात्मको भूतात्मा—भूतज्योतिः

} भूतज्योतिः २

५७

१८-शुद्धसत्त्वगुणता सिद्धविद्या—

कस मया है कि—‘अनादिपरब्राह्मणुत्पत्तयः परमात्मात्मकमयः’ के अनुसार ज्ञानकर्मात्मिकतामय प्रत्यात्मसत्त्वय कर्ममयुक्त गुणातीत कला हुआ निगुण है। इस निगुणभाव के कारण ही विद्याबुद्धि-बलव्ययी से सम्बन्ध गीतानुगत बुद्धियोगबलव्ययी निगुणभाववर्तिका कला हुई अकल्पना सिद्ध हो रही है। प्रत्यक्षमानुगत अन्तर्ज्ञान तथा अन्तर्कर्म विगुणवर्तिका ज्ञान, एवं विगुण निवृत्तिकर्म है। यह ज्ञान और कर्म दोनों स्वस्वरूप से परस्परविरुद्ध अमृतभाव से सम्बन्ध है। नानाशब्द मूलभाव का प्रवेश यहाँ करना आवश्यक है। गुणातीत यही आत्मज्ञान विगुणवर्तिका ज्ञान अज्ञात है। आत्मकर्म विगुणवर्तिका कर्म अज्ञात है। एवंविध ज्ञानिक ज्ञानाचार पर प्रसिद्धि ज्ञानिक निवृत्तिकर्म ही ज्ञानबुद्धियोगानुगत सिद्धविद्या की मूलप्रतिष्ठा कला है। जितने स्वस्मकिलेक के लिए ही ज्योतिर्विभवों का प्राक्किक स्वीकरण हुआ है।

१९-गुणानुगत-ज्ञानकर्माद्वन्द्व के विविध विवरण—

अब दो शब्दों में गुणानुगत ज्ञानकर्माद्वन्द्वों का भी स्वस्वरूपविषय प्रस्तुत कर लीजिए। प्रकृतिज्योतिः की लीला में मुक्त आत्मता कर्मात्मा दोनों विधों गुणव्ययी के सम्बन्ध से होने लीन भागों में विभक्त हो रहे हैं। यह विद्या ही इस विषयव्ययी का आयुष्मात्र है। शान्तात्मानुगत ज्ञान मन्त्रितत्त्वगुणानुगत ज्ञान है। अनुगत अविद्याबुद्धि-वह्नि कर्म मन्त्रितत्त्वगुणानुगत कर्म है। यह पहिला ज्ञानकर्माद्वन्द्व ही प्राची-नामिमत् ‘ज्ञानयोग’ की प्रतिष्ठा है। यही प्रत्यात्मानुगत निगुणतामय ज्ञानकर्म से मुक्त होकर गीतामिमत् ‘ज्ञानबुद्धियोग’ में परिणत हो जाता है। महानात्मानुगत ज्ञान रबोगुणानुगत ज्ञान है। अनुगत प्रज्ञानयन्त्र-वह्नि कर्म रबोगुणानुगत कर्म है। यह दूसरा ज्ञानकर्माद्वन्द्व ही प्राचीनामिमत् मन्त्रियोग की प्रतिष्ठा है। यही प्रत्यात्ममयमय से मुक्त होकर गीतामिमत् ‘देहकर्मबुद्धियोग’ में परिणत हो जाता है। अविद्या-बुद्धयानुगत-ज्ञान अविद्यागुणानुगत ज्ञान है। अनुगत शरीरानुगत कर्म तपोगुणानुगत कर्म है। यह तीसरा ज्ञानकर्माद्वन्द्व ही प्राचीनामिमत् कर्मयोग की प्रतिष्ठा है। यही प्रत्यात्ममयमय से मुक्त होकर

यं अग्निमत 'अर्धसुखियोग' स्वल्प में परिणत हो जाता है। तत्पर्यय वह निकला कि, प्राकृतप्रसवितों में से शान्तात्मा महानात्मा अमृतविविधानात्मा, ये तीन तो ज्ञानात्मा हैं एवं अर्धविविधानात्मा प्रधानात्मा शरीरात्मा, तीन कर्म्मरत्मा हैं। शान्तात्मानुगत ज्ञान एवं अर्धोक्तज्ञानात्मक कर्म्म तात्त्विक ज्ञानकर्म्म इन्द्र है। प्रधानप्रमानुगत ज्ञान एवं प्रधानात्मक कर्म्म राक्षस ज्ञानकर्म्म इन्द्र है। अमृतविविधानात्मक ज्ञान एवं शरीरप्रमक कर्म्म ताम्र ज्ञान कर्म्म इन्द्र है। शान्तात्मक ज्ञान सत्त्वानुगत 'ज्ञान' है महानात्मक ज्ञान रजोऽनुगत 'विज्ञान' है * विद्या-बुद्धिपात्रमक ज्ञान तमोऽनुगत 'अज्ञान' है। इसप्रकार शान्तात्म-महानात्म-विद्याबुद्धिपात्रमक प्राकृत ज्ञान सत्त्व-रज-तमोमेह से ज्ञान-विज्ञान-अज्ञान, इन तीन भावों में परिणत हो रहा है। यही गुणात्मिक ज्ञानययी का परिचय है। अविद्याबुद्धिपानुगत कर्म्म सत्त्वानुगत 'कर्म्म' है प्रधानात्मक कर्म्म रजोऽनुगत 'विकर्म्म' है। एवं शरीरप्रमक कर्म्म तमोऽनुगत 'अकर्म्म' है। इसप्रकार अविद्याबुद्धिपात्रम-प्रधानात्म-शरीरप्रमक प्राकृत कर्म्म सत्त्व-रज-तमोमेह से कर्म्म-विकर्म्म-अकर्म्म इन तीन भावों में परिणत हो रहा है। ज्ञान और कर्म्म वह प्राकृतिक इन्द्र अनुकूलवेदानात्मक सुख की प्राप्ति का कारण माना गया है, जो सत्त्वतः दुःख ही है। विज्ञान विकर्म्म और अज्ञान-अकर्म्म, दोनों इन्द्र प्रतिकूलवेदानात्मक दुःख की प्राप्ति के कारण माने गए हैं। सुख-स्ययक दो हैं दुःखप्रवर्धक चार हैं। अतएव अन्तर्मोक्षोर्द्धक प्रत्यात्मा के अनुग्रह से पञ्चित बहिर्योर्द्धोर्द्धक प्राकृतप्रमा के निविधपण में यह बीमारता प्रकृता अविद्या में डुबती ही को रहते हैं तबिबारार्थ ही प्रत्यगात्म्यानुगत-सुखियोगस्याम् (गीता) प्राप्ति हुआ है।

१	१-शान्तात्मा	(ज्ञानात्मा) - सत्त्वानुगत ज्ञानम् - ज्ञानम्	— ज्ञानात्मक
	२-महानात्मा	(ज्ञानात्मा) - रजोऽनुगत ज्ञानम् - विज्ञानम्	
	३-विद्याबुद्धिपात्रमा	(ज्ञानात्मा) - तमोऽनुगत ज्ञानम् - अज्ञानम्	
२	१-अविद्याबुद्धिपात्रमा	(कर्म्मरत्मा) - सत्त्वानुगत कर्म्म - कर्म्म	— कर्म्मरत्मा
	२-प्रधानात्मा	(कर्म्मरत्मा) - रजोऽनुगत कर्म्म - विकर्म्म	
	३-शरीरप्रम	(कर्म्मरत्मा) - तमोऽनुगत कर्म्म - अकर्म्म	

सत्त्व-रज-तमोमेह-अविद्या

* यहाँ विद्या से त्रयीविद्या अभिप्रेत है जो सूर्यमूला है विद्युत्प्रकाशमय अविद्याविद्या विद्या है, जिसके लक्षण में 'त्रैगुणविषय वेदा' कहा गया है। एवं, जो नेत्रोक्तस्थीमव विद्यामय कर्म्म की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है।

१	१-ज्ञानात्मननुगतं—ज्ञानसङ्घर्ष—'ज्ञानम्' २-अविद्यासङ्घननुगतं—कर्मसङ्घर्ष—'कर्म'	ज्ञानकर्ममात्रा—याचीनामिमताज्ञानयोगप्रकार.
२	१-विज्ञानात्मननुगतं—विज्ञानसङ्घर्ष—'ज्ञानम्' २-अज्ञानात्मननुगतं—विज्ञानसङ्घर्ष—'कर्म'	विज्ञानविकर्ममात्रा—या चाम्भविज्ञानमात्रा
३	१-विद्यात्मननुगतं—अज्ञानसङ्घर्ष—'ज्ञानम्' २-गरीपनुगतं—अज्ञानसङ्घर्ष—'कर्म'	अज्ञानकर्ममात्रा—या चाम्भविज्ञानमात्रा

२०-प्राकृतात्मत्रयी, एवं तदनुगता प्राचीनामिमता योगत्रयी—

अज्ञानरूपक कर्मरूपक कर्मप्रत्येक का प्रवर्तक बनता हुआ ही काम्य कर्मरूपका की प्रतियोग करता है। यहाँ ज्ञान अविद्याय रूप से काम्यप्रत्येक के द्वारा अभिभूत रहता है। अतएव अज्ञानरूपक ज्ञान अज्ञानरूपक कर्म 'अविद्या' रूपक कर्म होने के रहते भी यह योग केवल 'कर्मयोग' ही कहलाया है। विज्ञानरूपक विकर्मरूपक कर्मप्रत्येक का प्रवर्तक बनता हुआ ही काम्य प्रतियोग की प्रतियोग करता है। विज्ञानविकर्मरूपक ज्ञान अज्ञानरूपक कर्मरूपक के मध्य में प्रतियोग रहता हुआ ज्ञानकर्मरूपक के ज्ञान मध्य से अज्ञानरूपक कर्मरूपक के कर्ममध्य में होने के कुछ बना हुआ है। अतएव उनका योग यह योग 'मैत्रेय' कहलाया है। अतएव अर्थ है ज्ञानरूपक आधिरैमिष्ठिक कर्मरूपक आधिरैमिष्ठिक रूपक इन दोनों का समन्वित रूप। अज्ञानरूपक कर्मरूपक ज्ञानप्रत्येक का प्रवर्तक बनता हुआ ही कर्मरूपकसङ्घर्ष ज्ञानरूपक की प्रतियोग करता है। यहाँ कर्म अविद्यारूपक से ज्ञानप्रत्येक के द्वारा अभिभूत रहता है। अतएव अज्ञानरूपक ज्ञान कर्मरूपक कर्म 'अविद्या' रूपक कर्म होने के रहते भी यह योग केवल 'ज्ञानयोग' ही कहलाया है। ज्ञान आधिरैमिष्ठिक रूपक माना गया है। कर्म आधिरैमिष्ठिक रूपक माना गया है। ज्ञानात्मक कर्मरूपक ज्ञानप्रत्येक से आधिरैमिष्ठिक है, अतएव तदनुगता प्राचीनामिमता ज्ञानप्रत्येक में लक्षण-लक्षण होने आधिरैमिष्ठिक माने गए हैं। विज्ञानरूपक विकर्मरूपक उन्मत्तरूपक में उन्मत्तरूपक है। अतएव तदनुगता प्राचीनामिमता मल्लियोग में लक्षण आधिरैमिष्ठिक माना गया है, लक्षण आधिरैमिष्ठिक माना गया है। अज्ञानरूपक अज्ञानरूपक कर्मप्रत्येक से आधिरैमिष्ठिक है। अतएव तदनुगता प्राचीनामिमता कर्मरूपक में लक्षण, लक्षण होने आधिरैमिष्ठिक माने गए हैं। अतएव कर्म-ज्ञान-मैत्रेय-मैत्रेयप्रत्येक में अविद्या से निकलता हुआ का प्रवर्तक है।

१	ज्ञानात्मक ज्ञानम्—आधिदैविकम्—साध्यम् ज्ञानात्मक कर्म—आधिदैविकम्—साधनम्	ज्ञानकर्मात्मानुगतो ज्ञानयोग—आधिदैविकः
२	विज्ञानात्मक ज्ञानम्—आधिभौतिकम्—साध्यम् विक्रमात्मक कर्म—आधिभौतिकम्—साधनम्	विज्ञानविक्रमात्मको मरिचयोग—दैविकभौतिकः
३	कर्मात्मक ज्ञानम्—आधिभौतिकम्—साध्यम् कर्मात्मक कर्म—आधिभौतिकम्—साधनम्	अज्ञानाकर्मात्मकः कर्मयोग—आधिभौतिकः

२१—निरूपिता योगप्रयी की प्रासङ्गिकी विषय समस्या—

समस्या का अमी पुर पुर स्वीकरण इसलिए नहीं हुआ है कि बुद्धव्यवहार के अनुसार 'अकर्म' का अर्थ निरर्थक कर्म माना गया है, विकर्म का अर्थ शास्त्रविरुद्ध कर्म माना गया है, तथा कर्म का अर्थ शास्त्रसिद्ध कर्म माना गया है। एवमेव अज्ञान का अर्थ मोह, विज्ञान का अर्थ विरुद्धज्ञान एवं ज्ञान का अर्थ शास्त्रज्ञान माना गया है। ऊपर प्राचीनाभिमत योगप्रयी ज्ञान-कर्म-अज्ञानात्मिकता भले ही हो, परन्तु है वह शास्त्रसिद्ध। वेदशास्त्र के कर्मप्रधान आचारमाग के आधार पर वेदोक्त अन्य कर्म योग प्रसिद्ध है। आरस्त्य मूल के आधार पर अम्य मरिचयोग प्रसिद्ध है। एवं उपनिषद्माग के आधार पर ज्ञानयोग प्रसिद्ध है। और तीनों योग कर्मों शास्त्रसिद्ध ग्रन्थ ज्ञानप्रत्य संन्यस्त, तीनों आश्रमों से अनुगत हैं। अकर्म तो उसे कहना चाहिए, जिसका कोई फल न हो। विकर्म तो उसे माना जाना चाहिए, जिसमें शास्त्रविधि की उपेक्षा हो। अज्ञान तो उसे कहना चाहिए, जहाँ बुद्धि कुचिन्त होबाती हो, विज्ञान तो उसे मानना चाहिए, जिसमें शास्त्रज्ञान की उपेक्षा हो। येलते हैं—वेदोक्त कर्म—मरिच-ज्ञान तीनों ही योग शास्त्र-सिद्ध ज्ञान-कर्मात्मक कर्म हुए हैं। फिर योगप्रयी के सम्बन्ध में अज्ञान-अकर्मादि को किन आधार पर मूलमरिच मान लिया गया है, यह एक समस्या उपस्थित होबाती है जिसके निराकरण के लिए उक्त इन्द्र-प्रयी के शिष्टमात्र को स्वीकरण आवश्यक बन रहा है।

२२—आत्मानुगता ज्ञानकर्माश्रयी के सहजसिद्ध त्रिषुमान—

मनस्तत्त्व ज्ञानमय है आणवत्त्व क्रियामय है बाह्यत्व अर्थमय है। मनोमय ज्ञान 'ज्ञान' है, प्राण-मयी क्रिया 'कर्म' है एवं बाह्यमय भूत 'अर्थ' है। त्रिषुपपन्न में 'ज्ञान-कर्म-अर्थ' पर ही सब कुल विभान्त

है। शुभप्रतिष्ठ निरुद्धाव के कारण लक्षणगुण-मनोव्यापारबन्धन इत कम्यमय के दृश्य दृश्य हीन विवक्षित है। पदमि तीनों विवक्षितों का पूर्ण लक्षणों में अनेकधा विवक्षित किया जा चुका है, तथापि यही भी अन्वय के लक्षण के लिए उत्तम दिगुर्धन आचरण बन जाता है। पहिले क्रमपाठ निरुद्धाव (मनोव्यापारबन्धन) मन का ही निरुद्धाव हीन है। मनोमय मन आनन्द है इसी के आधार पर 'अपने मनमें ही' मगन, मन के मन में ही लुप्त' इत्यादि विवक्षितों प्रवर्तित हैं। मनोमय प्राण 'विज्ञान' है इसी के आधार पर 'मनोयोगपूर्वक-विचारसुक्षिप्तपूर्वक क्रम करते हैं' यह विवक्षित प्रवर्तित है। मनोमयी वाक् 'मन' है एवं इसी के आधार पर 'उनका क्रम ज्ञानपूर्वक हुआ है' अतएव उनका सिद्धार्थ (वाक्यमय अर्थ) उनके ज्ञान की प्रसिद्धि है' यह विवक्षित प्रवर्तित है। इत्यन्तर एक ही अन्वयमय निरुद्धाव से आनन्द-विज्ञान-मनोमयी में परिचित हो रहा है यही पहिला मतलब है, यही अमृततत्त्वा किन्ना अमृतता है यही अन्तर्धर्मोक्ति का अन्वयमोक्ति है। प्राणमय मन 'मन' है, प्राणमय प्राण 'प्राण' है प्राणमयी वाक् 'वाक्' है। इत्यन्तर एक ही अन्वयमय निरुद्धाव से मन-प्राण-वाक्मयी में परिचित हो रहा है यही दूसरा मतलब है यही महात्मा किन्ना कम्यमय है यही अन्तर्धर्मोक्ति तथा विवक्षित का परस्पर सम्बन्ध है। वाक्मय मन 'वाक्' है वाक्मय प्राण 'प्राण' है, वाक्मयी वाक् 'अग्नि' है। इत्यन्तर एक ही अन्वयमय निरुद्धाव से वाक्-प्राण-अग्नि-मयी में परिचित हो रही है। यही तीसरा मतलब है यही शुभप्रतिष्ठा किन्ना अमृतता है, यही अन्तर्धर्मोक्ति का अन्वयमोक्ति है। इत्यन्तर 'तदेव शुभं तद्वत् तदेवामृतमुच्यते' के अनुसार उत्तराव मन-प्राण-वाक्मय यही अन्वयमय निरुद्धाव से अमृततत्त्व का ज्ञान प्राण अन्तर्धर्मोक्ति का अन्वयमय अमृतता इन तीन विवक्षित-मयी में परिचित हो रहा है। आनन्दविज्ञानमनोमय मनोविषय अन्वयगुण बनता हुआ अन्वयमय है एवं वाक्-प्राण-अग्निमय गुणविषय चरानुगत बनता हुआ चरानुगत है। यही अन्वयमय मनस्वेन विचार बनता हुआ अन्वयमय है यही अन्वयमय मनस्वेन विवक्षित बनता हुआ अन्वयमय है एवं यही अन्वयमय वाक्स्वेन विवक्षित बनता हुआ चरानुगत है। वाक्मय शुभप्रतिष्ठा किन्ना अमृतता है, एवं मनोमय अमृततत्त्वा विवक्षित है। वे तीनों विवक्षित अन्तर्धर्मोक्ति एक के तीन विवक्षित हैं, यही यौग्य अन्तर्धर्म है किन्ते पूर्व में हमने अन्वयमय अर्थ है एवं किन्ते अन्तर्धर्म वेदमन्त्रविचार की आधाररूपि वस्तुता गया है। ज्ञान 'कर्म'-विज्ञान-विद्वान् अज्ञान-अकर्म उत्तम तीनों ज्ञानों की मूलप्रतिष्ठा अन्तर्धर्मोक्ति तीनों विवक्षित ही करते हैं। अन्तर्धर्म उत्तमविषय है विद्वान् विद्वान् रवोविषय है अज्ञान-अकर्म उत्तमविषय है। मनोव्यापार वाक्मय के निरुद्धाव की मिति यह शुभप्रतिष्ठा भी निरुद्धाव में ही परिचित रहती है। उत्तमगुणात्मक उत्तम मनोमय आनन्द ही उत्तमगुणात्मक रव मनोमय विज्ञान से उत्तमगुणात्मक उत्तम मनोमयी वाक् से अनुपदिष्ट है, यही पहिला मतलब है। रवोत्तमगुणात्मक उत्तम प्राणमय मन से रवोत्तमगुणात्मक रवप्राणमय प्राण से रवोत्तमगुणात्मक उत्तम प्राणमयी वाक् से अनुपदिष्ट है। उत्तमगुणात्मक उत्तम वाक्मयी वाक् से उत्तमगुणात्मक रव वाक्मय प्राण से उत्तमगुणात्मक उत्तम वाक्मय अग्नि से अनुपदिष्ट है।

२३-अमृत ब्रह्म शुभ-समष्टिरूप न्तुप्राप्त अन्वयमय क माता, और अमात्रा-मात्र-

उत्तमगुणात्मकी शुभप्रतिष्ठा की प्रसिद्धि है रवोत्तमगुणात्मकी महात्मा की प्रसिद्धि है एवं उत्तमगुणात्मकी अमृततत्त्वा की प्रसिद्धि है। उत्तमगुणात्मक अमृततत्त्वा ज्ञानकम्यमय है रवोत्तमगुणात्मक महात्मा विद्वान् विद्वान्मयी है, एवं

उभोगुणानुगत शुक्लत्वा अज्ञानात्मकत्वात् । विगुणत्वम् इति तीनों आत्मविवर्तों में स्वगुणानुगत अमृतत्व-
विवर्त गुणत्रय की प्रतिच्छाया से युक्त रहता हुआ भी अपने स्वानुगत-अव्ययानुगत-विशुद्धसत्त्वानुगत-स्वरूप से
गुणादित माना गया है । विशुद्ध स्वभावक समष्टिलक्षण सर्वव्यय, और सत्त्वानुगत अमृतत्वव्यय, दोनों अमिश्र
हैं । अतएव सर्वव्ययक इति अस्वभाविकलक्षण-सत्त्वत्वक अमृतत्वविवर्त को भी गुणादित ही माना जायगा ।
गुणत्रयी का वास्तविक विग्रह होता है वृक्षी ब्रह्मात्मविवर्त में । तीसरा शुक्लत्वविवर्त गुणत्रयी का अत्य-
न्तिक विकसितरूप है अतएव शुक्लत्वक विग्रह से अनुगत गुणभाव गुण न कहला कर 'आवरण' नाम से
व्यवहृत हुआ है । शुक्लत्वानुगता गुणत्रयी 'आवरण' है, ब्रह्मात्वानुगता गुणत्रयी 'गुण' है, अमृतत्वानुगत
गुणभाव 'कला' है, एवं सर्वव्ययानुगत निगुणात्मक गुणभाव (विशुद्धसत्त्वभाव) 'माय' है । मायानुगत
सर्वव्यय, कलानुगत अमृतत्वानुगत गुणानुगत ब्रह्मात्मा एवं आवरणानुगत शुक्लत्वा, यही त्रुत्पादत्रय है
जिससे तीन पाद मात्रात्मक (व्यवस्थात्मक) हैं, चौथा पाद अमात्मिक है । इसी आधार पर—'चतुष्टयं वा इदं
सर्वम्' अनुगम प्रतिष्ठित हुआ है । इन आत्मविवर्तों को सत्त्व बनाये हुए ही हमें ज्ञान-कर्म-द्वन्द्वों का
समन्वय करना है । अतः समन्वय से पहिले पहिलेकद्वारा उक्त विवरण चतुष्टयी को सत्त्व बना लेना चाहिये ।

- (१)-१-ज्ञानव्यवधानमनःप्राणबाह्वन-सर्वव्ययः—'माया'—शुक्ल-निगुणात्मा (विस्थादितः)
२-ज्ञानव्यवधानमनोमय-—असर्वव्ययः—'कला'—शुक्ल-विशुद्धसत्त्वत्मा (विस्थादितः)
३-मनःप्राणबाह्वन-—असर्वव्ययः—'गुण'—शुक्ल-गुणात्मा (विस्थादितः)
४-बागापोऽग्निमयः—असर्वव्ययः आवरण-शुक्ल-आवरणात्मा (विस्थादितः)



- (१)-१-निगुणात्मा—सत्त्वत्व—तदेव—सर्वव्ययोति }
२-सत्त्वत्मा—अमृतत्व—अमृतत्व } अन्तर्व्योति } —आत्मव्योति }
३-गुणात्मा—ब्रह्मात्मा—तदेव ब्रह्म } परिर्व्योति } —विरच्योति }
४-आवरणात्मा—शुक्लत्व—तदेव शुक्लत्व } } —प्रकाशः }
} } (आत्मन्वी)



- (१)-१-सदस्या-सध्यप-परस्पर-पुस्त-समाधिक-सत्यपदकोटः
 २-सदस्यस्या-सध्यपस्या-समाधिक-सत्यपदकोटः
 ३-सदस्या-सद्यप्या-उपसर्गमन्त्र-स्वरा
 ४-शुद्धस्या-स्वरा-मन्त्रमन्त्रः-कर्तव्यः

उत्तरोपनिषत्
'सोम' इति

(६)-

- १-मनोमन्त्रं मन-मानम् (मानम्)-मानमन्त्रं मानम्
 २-मनोमन्त्रः प्राणः-विमानम् (विमान)-विमानमन्त्रः विमानम्
 ३-मनोमन्त्रो वाक्-मन् (मन्)-मानमन्त्रोऽर्थः-मानमन्त्रम्
 १-मानमन्त्रं मन-मन् (मानम्)-मानमन्त्रं मानम्
 २-मानमन्त्रः प्राणः-मानम् (मानम्)-मानमन्त्रः मानम्
 ३-मानमन्त्रो वाक्-वाक् (मन्)-मानमन्त्रोऽर्थः-मानमन्त्रम्
 १-मानमन्त्रं मन-मानम् (मानम्)-मानमन्त्रं मानम्
 २-मानमन्त्रः प्राणः-मानम् (मानम्)-मानमन्त्रः मानम्
 ३-मानमन्त्रो वाक्-वाक् (मन्)-मानमन्त्रोऽर्थः-मानमन्त्रम्

- (५)-१-मानमन्त्रम्-मानमन्त्र-मानमन्त्रम्
 २-मानमन्त्रम्-मानमन्त्र-मानमन्त्रम्
 ३-मानमन्त्रम्-मानमन्त्र-मानमन्त्रम्

(६) प्रकारान्तरेषु—

- १-ज्ञानन्दविज्ञानमनःप्राणवागृषण-सर्वाभ्यस्यः-परस्पर (माया) -सर्वाचारो निराचारा
 २-ज्ञानन्दविज्ञानमनोऽस्तर्वाभ्यस्य-—-—-—-गुरुषु (कला) -विरवाचारो निगुणा
 ३-मनोमयोऽस्तर्वाभ्यस्यः-—-—-—-प्रकृतिः (गुणा) -विरवकरीं सगुणा
 ४-प्राणवाक्मयोऽस्तर्वाभ्यस्यः-—-—-—-विकृतिः (आत्मरक्षणम्) -विरवममवा वाक्पणा



(७) गुणानुगतविवर्धमाणाः—

(सर्वसमृद्धः)—

१-ज्ञानन्दविज्ञानमन-मनोमय-प्राणगमिता-वाक्-सत्त्वात्मा-सर्वाभ्यस्यः]-सर्वाभा (१)-सर्वतन्त्रम्

- | | |
|--|----------------------------------|
| ज्ञानन्दमयं मनः (मनः) -सत्त्वानुगतं सत्त्वम् (सत्त्वम्) -परस्परः | } आभ्यस्यत्मा (२)-सत्त्वतन्त्रम् |
| २-विज्ञानमयं मनः (प्राणः) -सत्त्वानुगतं रजः (सत्त्वम्) -परवराभ्यस्यः | |
| मनोमयं मनः (वाक्) -सत्त्वानुगतं तमः (सत्त्वम्) -अवराभ्यस्यः | |

- | | |
|--|------------------------------|
| मनोमयः प्राणः (मनः) -रजोऽनुगतं सत्त्वम् (रजः) -शान्दात्मा | } आक्षरत्मा (३) रजस्तन्त्रम् |
| ३ प्राणमयः प्राणः (प्राणः) -रजोऽनुगतं रजः (रजः) -महानात्मा | |
| वाक्मयः प्राणः (वाक्) -रजोऽनुगतं तमः (रजः) -विज्ञानात्मा | |

- | | |
|--|------------------------------|
| आक्षरमयी वाक् (मनः) -तमोऽनुगतं सत्त्वम् (तमः) -विज्ञानात्मा | } आक्षरत्मा (४) तमस्तन्त्रम् |
| ४ आक्षरमयी वाक् (प्राणः) -तमोऽनुगतं रजः (तमः) -प्रज्ञानात्मा | |
| अक्षरमयी वाक् (वाक्) -तमोऽनुगतं तमः (तमः) -राणीयत्मा | |



१-सर्वज्ञानात्मकः—सर्वव्यापकः—सर्वव्यापकविशेषाचारभूमिः	गीतात्मिका—योगचतुष्टयी (निर्गुणा—योगचतुष्टयी)
२-सर्वज्ञानात्मकः—पराव्यापकः—ज्ञानबुद्धिविशेषाचारभूमिः	
३-सर्वज्ञानात्मकः—पराव्यापकः—देशव्यापकविशेषाचारभूमिः	
४-सर्वज्ञानात्मकः—अव्यापकः—धर्मबुद्धिविशेषाचारभूमिः	

१-सर्वज्ञानात्मकः—मानवज्ञाना—कर्मसाधनबोधनयोगाचारभूमिः	माचीनामिका योगचतुष्टयी (सुखा—योगचतुष्टयी)
२-सर्वज्ञानात्मकः—मानवज्ञाना—कामनास्यनिराकरणयोगाचारभूमिः	
३-सर्वज्ञानात्मकः—विज्ञानात्मक—काम्यकर्मयोगाचारभूमिः	

१-सर्वज्ञानात्मकः—विज्ञानात्मक—सांख्यिकप्रमाणयोगाचारभूमिः	लोकप्रमाण योगचतुष्टयी (वाचस्पति—योगचतुष्टयी)
२-सर्वज्ञानात्मकः—मानवज्ञाना—लौकिकप्रमाणयोगाचारभूमिः	
३-सर्वज्ञानात्मकः—वाचस्पति—लौकिकप्रमाणयोगाचारभूमिः	

२४-गुणालगात ज्ञानकर्मचर्या के विवरण (६) —

ज्ञान विधान अज्ञान, तीनो राज्य एक विवरण के आधार पर तीन तीन वर्गों से सम्बन्ध रखते हैं। पहिले ज्ञानार्थकरी का ही सम्बन्ध कीविष्ट। ज्ञान के अर्थ होते हैं—सर्वज्ञान, सात्विकज्ञान, व्यस्यज्ञान। सामान्यज्ञान सर्वज्ञान है। सामान्यज्ञानार्थक राज्यज्ञान सात्विकज्ञान है। सामान्यज्ञानार्थक लौकिक ज्ञान व्यस्यज्ञान है। यही स्थिति विज्ञानात्मक ज्ञान की है। 'वि' उपसर्ग के विरोध, विविध विवरण, तीन वर्ग हुए हैं। यत्किन् विरोधज्ञान भी विधान है। विविधज्ञान भी विधान है। विवरणज्ञान भी विधान है। विरोधज्ञानात्मक विज्ञान सर्वज्ञानात्मक ज्ञान का अनुगामी है। विविधज्ञानात्मक विज्ञान सात्विकज्ञानात्मक ज्ञान का अनुगामी है। एवं विवरणज्ञानात्मक विज्ञान व्यस्यज्ञानात्मक ज्ञान का अनुगामी है। यही स्थिति अज्ञानात्मक ज्ञान की समझिए। 'अज्ञान' राज्य सम्बन्धी 'नम्' अभावार्थक नहीं है। अष्टि पर्यं का 'मन्' आरोप अनुगत अर्थ, यहाँ का ही अर्थक कदा हुआ है। आरोपज्ञान भी अज्ञान है। अनुगतार्थक ज्ञान भी अज्ञान है, अज्ञान भी अज्ञान है। आरोपज्ञानात्मक अज्ञान सर्वज्ञान से अनुगतार्थक (लौकिक) अज्ञान सात्विक ज्ञान से, एवं व्यस्यज्ञानात्मक अज्ञान व्यस्यज्ञान से अनुगत है। यही ज्ञान-विज्ञान-अज्ञान त्रयी के विवरण का सविष्ट निरूपण है।

इसीप्रकार कर्म-विकर्म-अकर्म तीनों शब्द भी विद्वद्भाष के आधार पर तीन तीन अर्थों में विभक्त हो रहे हैं। तत्त्विक कर्म शास्त्रीय कर्म, व्यावहारिक कर्म तीनों 'कर्म' कर्म शब्द से संघटित हैं। आत्मज्ञानात्मक तत्त्व ज्ञान से छद्मकर्म (प्रकार्यकर्म) सत्त्व आत्मनिकम्पन तात्त्विक कर्म अनुपपन्न हैं। आत्मज्ञानोपसिक्त शब्दज्ञानात्मक शास्त्रज्ञान से शास्त्रीय कर्म अनुपपन्न हैं। एवं लोकव्यवहारसत्तात्मक व्यवहारज्ञान से व्यावहारिक कर्म अनुपपन्न हैं। यही पक्षिणी कर्मत्रयी है। विरोपकर्म, विविधकर्म, विद्व-कर्म, तीनों 'विकर्म' शब्द से संघटित हैं। विरोप कर्म विरोप ज्ञानाधार पर, विविध कर्म विविध ज्ञानाधार पर, एवं विद्व कर्म विद्व ज्ञानाधार पर प्रतिष्ठित हैं। यही वृक्षी विकर्मत्रयी है। आरोप कर्म, अमात्मक संस्कारिक अनुभवसत्त्व कर्म अल्पकर्मोत्पन्न (निरर्थककर्मोत्पन्न) कर्म, तीनों अकर्म अकर्म शब्द से संघटित हैं। यही तीसरी अकर्मत्रयी है जिसे आरोप कर्मोत्पन्न अकर्म सत्त्वज्ञान से अनुभवकर्मोत्पन्न अकर्म शास्त्रज्ञान से तथा अल्पकर्मोत्पन्न अकर्म व्यवहारज्ञान से अनुपपन्न माना गया है।।

निष्कर्षतः विद्वद्भाष से ज्ञानत्रयी, कर्मत्रयी, दोनों के ८-८ विषय हो जाते हैं। पूर्वप्रदर्शित गुणानुगत ८ विषय मर्कों के साथ क्रमशः इन ८ ज्ञानकर्मोत्पत्तियों का सम्बन्ध माना गया है। इस सम्बन्ध स्वल्प ज्ञान से ही उस विपक्षिपक्षि का मत्तोपस्थिति निराकरण होमाता है, विलम्ब पूर्व में उल्लेख हुआ है। वृक्षव्यवहार लोकव्यवहार है लोकव्यवहार लौकिक ज्ञान-कर्मोत्पन्न है। एवं लौकिक ज्ञानत्रयी, कर्मत्रयी का अर्थ होता है व्यवहारज्ञान, विद्वज्ज्ञान अन्त्यार्यज्ञान एवं व्यवहारकर्म, विद्वकर्म निरर्थक-कर्म। उभर प्राचीनामिमत्त योगत्रयी की ज्ञान-कर्मत्रयी के ज्ञान-विज्ञान-अज्ञान, तथा कर्म-विकर्म-अकर्म, शब्दों का वृक्ष अर्थ है। एकमेव गीतामिमत्त संशोधिता योगत्रयी की ज्ञान-कर्मत्रयी का वृक्ष ही अर्थ है। अर्थात् से तीनों योगत्रयों के सिद्ध प्रयुक्त तीनों ज्ञानकर्मोत्पन्न अथवा विद्वद्भाषानुगत विभिन्न अर्थमन्त्रों से स्वयं निर्बिरोध सम्पन्न हो रहे हैं, बल्कि परिशेषों से स्पष्ट हो रहा है

१-तत्त्वज्ञानम्—(१)-तत्त्विककर्म

२-शास्त्रज्ञानम्—(२)-शास्त्रीयकर्म

३-व्यवहारज्ञानम्—(३)-व्यवहारिककर्म

ज्ञानत्रयी-कर्मत्रयी

१-विरोपज्ञानम्—(४)-विरोपकर्म

२-विविधज्ञानम्—(५)-विविधकर्म

३-विद्वज्ञानम्—(६)-विद्वकर्म

विकर्मत्रयी-विकर्मत्रयी

१-अरोपज्ञानम्—(७)-अरोपकर्म

२-अनुभवज्ञानम्—(८)-अनुभवकर्म

३-अस्त्यज्ञानम्—(९)-अस्त्यकर्म

अज्ञानत्रयी-कर्मत्रयी

गीताप्रमीक्षा-अरोपज्ञान-अनुभवज्ञान-अस्त्यज्ञान

१-अस्त्यज्ञानम्—ज्ञानम्

२-अस्त्यकर्म—कर्म

ज्ञानकम्पाख्या (अस्त्यनुष्ठान-परिष्कारः)—ज्ञानबुद्धियोगाभाट

१-विरोधज्ञानम्—विज्ञानम्

२-विरोधकर्म—विक्रम

विज्ञानकम्पाख्या (अस्त्यनुष्ठान-परिष्कारः)—

देवर्ष्यबुद्धियोगाभाट

१-अरोपज्ञानम्—अज्ञानम्

२-अरोपकर्म—अकर्म

अज्ञानकम्पाख्या (अस्त्यनुष्ठान-परिष्कारः)—

वर्णबुद्धियोगाभाट

गीताप्रमीक्षा-अस्त्यज्ञान-अनुभवज्ञान-अरोपज्ञान

१-अस्त्यज्ञानम्—ज्ञानम्

२-अस्त्यकर्म—कर्म

ज्ञानकम्पाख्या (अस्त्यनुष्ठान-परिष्कारः)—ज्ञानबुद्धियोगाभाट

१-विरोधज्ञानम्—विज्ञानम्

२-विरोधकर्म—विक्रम

विज्ञानकम्पाख्या (अस्त्यनुष्ठान-परिष्कारः)—

देवर्ष्यबुद्धियोगाभाट

१-अनुभवज्ञानम्—अज्ञानम्

२-अनुभवकर्म—अकर्म

अज्ञानकम्पाख्या (अस्त्यनुष्ठान-परिष्कारः)—

वर्णबुद्धियोगाभाट

योगाचार्य-योगपरीक्षा	१-सर्वज्ञानम्—ज्ञानम्	ज्ञानकर्मरूपा (समोऽनुगतः—विज्ञानरूपा)—ज्ञानयोगाचार्य
	२-समावहारिककर्म—कर्म	
	१-विद्वज्ज्ञानम्—विज्ञानम्	विज्ञानविकर्मरूपा (समोऽनुगतः—अज्ञानरूपा)—वेदायोगाचार्य
	२-विकृतकर्म—विकर्म	
	१-अज्ञानम्—अज्ञानम्	अज्ञानकर्मरूपा (समोऽनुगतः—अपौरुषेयम्)—कर्मरूपाचार्य
	२-अज्ञेयम्—अज्ञेयम्	

सर्वसंग्रह —

१-सर्वसंग्रह	{ विद्यारूपा (ज्ञानरूपा) कर्मरूपा (कर्मरूपा) }	ज्ञानकर्मरूपा—वैराग्यबुद्धियोगाचार्य (१)
१-परमसंग्रह	{ सत्त्वज्ञानम् (ज्ञानरूपा) सात्त्विककर्म (ज्ञानरूपा) }	ज्ञानकर्मरूपा—ज्ञानबुद्धियोगाचार्य (१)
२-परमसंग्रह	{ विद्वज्ज्ञानम् (विज्ञानरूपा) विकृतकर्म (विकर्मरूपा) }	विज्ञानविकर्मरूपा—वेदायोगाचार्य (१)
३-अज्ञानसंग्रह	{ अज्ञानम् (अज्ञानरूपा) अज्ञेयकर्म (अज्ञेयकर्मरूपा) }	अज्ञानकर्मरूपा—अज्ञेयबुद्धियोगाचार्य (२)
१-शास्त्रज्ञानम्	{ शास्त्रज्ञानम् (ज्ञानरूपा) शास्त्रीयकर्म (कर्मरूपा) }	ज्ञानकर्मरूपा—ज्ञानयोगाचार्य (१)
२-महानात्म्या	{ विद्वज्ज्ञानम् (विज्ञानरूपा) विकृतकर्म (विकर्मरूपा) }	विज्ञानविकर्मरूपा—वेदायोगाचार्य (१)
३-विज्ञानरूपा	{ अनुभवज्ञानम् (अज्ञानरूपा) अनुभवकर्म (अज्ञेयकर्मरूपा) }	अज्ञानकर्मरूपा—अज्ञेयबुद्धियोगाचार्य (२)

गीतामित्रा योगबुद्धि

आत्म्यात्मनोऽनुगत

गीतामित्रा योगबुद्धि

आत्म्यात्मनोऽनुगत

से ही उत्पन्न होता है। अपने विचारों के अन्त्य कामना के प्रतिफल से सफल न होने पर ही संघर्ष का कर्म होता है। शरीर शिरोऽग्नि का संघर्ष ही शरीराग्नि के शिव-शान्त-आप्य माग को सुखा कर उसे रक्त अग्राण्त आग्नेय भाव में परिवर्तित कर देता है। कामप्रत्यापातजनित इस संघर्ष से उत्पन्न प्रवृत्त शरीराग्निताप ही श्लेष है, अतएव श्लेष को 'श्लेषाग्नि' नाम से व्यवहृत किया गया है। कामप्रत्यापातजनित संघर्ष से उत्पन्न श्लेष ही अग्राण्तिमूलक श्लेष है। इस श्लेषात्मक श्लेष से—'हम अमुक सम्पत्ति की कामना करते हैं' इस मानस-काममय संस्कार का अभिभव होता है। हमें यह मान होने लग जाता है कि अमुक व्यक्ति के काम ने ही हमारी इच्छा का अपरोच किया है। इस संस्कारपात से हमारा मन आकुल हो पड़ता है, मन ही मन हम भुँकता पड़ते हैं। इस भुँकताहट का, मानस श्लेष का प्रभाव पड़ता है उस बुद्धि पर, जो प्रतिस्मिन्नरूप से 'मन' पर प्रतिष्ठित रहती है। फलस्वरूप इस कामप्रत्यापातजनित मानस श्लेष से उत्पन्न प्रतिष्ठित बुद्धि भी लुब्ध पड़ती है। बुद्धि का श्लेष बुद्धि के स्वाभाविक उस विकास का अपहरण कर लेता है जो विकास शिवतत्त्वज्ञान लक्षण व्यवधान कहलाता है। 'तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नाशमिवाग्निमसि' से इसी अपहरण का स्पष्टीकरण हुआ है। शान्त समुद्र में एक नौका बही बही बाधी है। नौका में यात्री बैठा है। वायु का भ्रंश आता है, समुद्र में क्वार आघात है पानी, नाव, यात्री, सब कुछ अस्थिर हो पड़ते हैं। कामसमष्टि कामसमुद्र है, इन्द्रियाधिष्ठित प्रज्ञानमन, शरीर, प्रज्ञानसम्पत्तिगत विज्ञानबुद्धि नौका है मोक्षा बीजात्मा यात्री है। काम का प्रतिफल धातु है। इसके प्रत्यापात से पड़िते समुद्र (जल) स्थानीया कामना लुब्ध होती है, कामश्लेष से मन लुब्ध होता है, मानस श्लेष से बुद्धि लुब्ध हो जाती है, बुद्धिश्लेष से यात्री बीजात्मा की स्वाभाविक शान्ति उत्कम्पित हो जाती है। काम के चरम सीमा पर पहुँचते हैं जैसे नौकास्थ यात्री इसका स्पर्श बना रह जाता है किन्तु व्यक्तिमूढ़ बन जाता है, एवमेव श्लेषात्मक श्लेष के चरमसीमा पर पहुँचते ही बुद्धि का स्वाभाविक इतिवृत्तमेव 'कतम्यम्' अथवा 'निश्चयमेव व्यवहारमयम्' कुण्ठित हो जाता है, कुछ सुझाव नहीं देता अन्वय परिधिस्थित हो जाती है। यह श्लेषान्धता ही चरम सीमा पर पहुँचा हुआ कुण्ठित मान ही विज्ञानमाया में मोह' किंवा 'संमोह' कहलाता है। तात्पर्य यही निकला कि शान्त-कर्म हस्तों के पारस्परिक संघर्ष से उपमर्दित, कामप्रत्यापातजनित श्लेष की चरमसीमा से उत्पन्न जो एक बहुधात्मक संस्कारविरोध है वही 'मोह' कहलाता है, जो दार्शनिकतमस में 'मुग्धावस्था' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

२७-सङ्ग-काम-श्लेष-संमोह-स्मृतिविभ्रम-बुद्धिनाश की मोहमूला परम्पराएँ—

'मुग्घर्द्धसम्पत्तिः, परिशयात' (शां. सू. १।२।१) का अनुधार मुग्धावस्था में आमत, सुगुप्ति, दोनों सम्पत्तियों का उपभोग होता है। आधा जगना आधा खेना इष्टी का नाम मुग्धावस्था है। आमत दशा में बलु-मुग्घ-रुत-पादादि की बाधेवाट रहती है वे भी वहाँ विद्यमान हैं। आप ही मुग्धावस्था में जो विवेकादि धर्म अस्त हो जाते हैं वे भी वहाँ उपलब्ध हैं। काल गूली है, रेल रेंदे है, यही

॥ "कामं समुद्रमाविशस्याह । समुद्र इव हि कामः ।

नेव हि कामस्यान्तोऽस्ति । न समुद्रस्य" ।

—ने० शा० रा० रा० ६।

वाप्यत-धर्म है। परन्तु सामने से और निकल गया हुआ बोध नहीं यही मुक्त-धर्म है। बोलते हैं सुनते हैं चलते हैं, परन्तु कुछ का कुछ बोझ पड़ते हैं कुछ का कुछ सुन पड़ते हैं। यही के यही घेर पड़ने लगे हैं। इसप्रकार बलवत्तः सुधाकरणा में बलवत्-सुमुक्ति दोनों अवस्थाओं के धर्म समाधि रहते हैं। आध्यात्मिकी ज्ञान-धर्म मोक्षार्थों को अव्यवस्थित दशा में परिणत कर देने वाला कोषबन्धित बहुधर्म ही मोक्ष है यही जित (मनोमुक्तावृद्धि, किंवा बुद्धिबुद्धि मन) का वैश्वरूप है वैश्वरूप ही मोक्ष है। जित प्रकाश मेधावरण से रहता हुआ भी प्रकाशविकसित अवस्था हो जाता है। एवमेव मोहावरण से रहता हुआ भी स्मृतिशून्य ज्ञानकोटिनिष्ठ अवस्था हो जाता है। प्रकाशरूप मोहानुग्रह से शून्य-स्मृति का अवरोध हो जाता है और यही मोक्ष स्मृतिप्रकाश का जनक बन जाता है। स्मृतिप्रकाश धर्मनिर्वाणमिष्टा बुद्धि के सायसायविकेक का उन्मेषक बना हुआ बुद्धिस्वरूप का ही उन्मेषक बन जाता है। विवेकभाव ही बुद्धिनाश है। विवेकभाव में धर्मविवेक बाध रहता है और यही धर्म-कोष-मोह-स्मृतिप्रकाश-बुद्धिनाश-परम्पर से जीवन्मा फिती दिन सर्वज्ञत्वविमल बना हुआ नष्ट हो जाता है, जित विनाश के इस पारम्परिक इतिहास का निम्न क्लिप्त एवों में निरलेख्य हुआ है-

ध्यायतो विषयान्पुनः सङ्गस्तेषूपजायते ॥

सङ्गात् सञ्जायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥१॥

क्रोधोऽहं भवति संमोहा, समोहात् स्मृतिविभ्रमः ॥

स्मृतिप्रकाशः पुद्गिनाशः, पुद्गिनाशात् प्रखरपति ॥२॥

—गीता २।१२, १३।

२८-कलित बुद्धि का स्वरूपसमन्वय, एवं मोहपाशनिःस्पृश्यप्रदङ्गन—

किन्तुप्रकार होनालो से स्वच्छ भी कल की स्वच्छता मस्तिनता के रूप में परिणत हो जाती है। एवमेव इस मोहावरण से स्वच्छ भी ज्ञानकोटि की स्वच्छता मस्तिनता के रूप में परिणत हो जाती है। मोहानुग्रह यह मस्तिनता ही विभ्रममया में 'कलित' बनता है। कलित शब्द के 'कल-इल' से हो विभाज्य है। कल शब्द विभाग-सम्बन्ध का स्वक है ('कल संक्रान्ते') इसीसे 'कल' शब्द निष्पन्न हुआ है। एवमेव 'कलित-इल' से कलितशब्द सम्पन्न हुआ है। प्रकाश मन ही कामना के द्वारा सर्वप्रथम मोक्ष का उन्मादक बना हुआ उन्मादक में परिणत होता है। स्वयं ज्ञानेकत्व में प्रकाशमन कलानुगत (विभिन्नसंयम्यनुगत) विभिन्न विषयों का अनुग्रही बनता हुआ ज्ञानाभावात्मक कामाभा में आलस्य रहता है। मोहावरण स्वयं नानात्व से ज्ञानात्मक है। इनके समावेश में प्रकाशमन का सायसायक इतरत कलामात्र में परिणत होता हुआ कलितक 'कलित' बन जाता है। इसीसे, स्वयं ज्ञानाभावात्, नक्षत्रादि कलामात्रों के सम्बन्ध से ही विरक्त 'कलित' कहलाता है। शैलिक-'अनाद्यनन्तं कलितमस्य मध्यं, सूक्ष्माविसूक्ष्मं कलितस्य मध्यं' (रवे १५० २।१२, १३।) इसप्रकार उपनिषद्बुद्धि से प्रभावित है। बुद्धि अपने स्वरूप से व्यक्तवाच्यमिष्टा बनती हुई एकध-मुपय है। अत्यन्त कलामात्र से अलसता है। 'व्यक्तवाच्यमिष्टा बुद्धिरेकहं कुरुन्वन् P के अनुग्रह अननुग्रहबुद्धि एकभिनी रहती हुई कलामात्रता से खींचूत है। कलित मन (विषयवर्तमानरूप कलामात्रमध्य-मोहमुक्त मन) से कुछ बुद्धि मनोमत्त कलामात्र से कुछ हीकर अभ्यव्यवस्था में परिणित होती हुई 'कलित'

का प्रती है, वैसाकि-‘यत्प्राज्ञाधानन्ताम् बुद्धयोऽन्यथसायिनाम् इत्यादि बचन से स्पष्ट है। ‘यह चरों कि यह, यहाँ यह कि वहाँ’-इत्यकार की नानासंख्यानुगता-अभिधम्ममित्र विचारभाव ही कठिना- बुद्धि का आधार बनती है। इसी के अनुग्रह से भुव एवं मोक्षम से अन्तर्गम्य से सदा सदा में उद्देश- धरान्तिमय-दुःख परम्यरात्री का स्रोत प्रवाहित रहता है।

किरी ने निन्दा कर दी, व्याकुल हो पड़ा। किरी ने सम्पत्ति का अपहरण कर लिया, सिद्ध होगा। अमुक ने हमारे साथ रह किया था अमुक सह कर बैठेगा अमुकने अमुक समझ देखा वह सिद्ध था, अमुक के देख करने की सम्भावना है इन सांसारिक भूत-भोतव्य-प्रकारों से लक्ष्मण अन्तर्जगत् कमिष्ठ बना रहता है। देखा क्यों होता है, क्योंकि, आत्मा अवलम्ब है। मगधार् कहते हैं—यह मोहकलित बुद्धि का फल अनुपह है। जलज बुद्धि कलिका रहेगी तब तक निश्चयेन भूत-भोतव्य वेदना के बन्धन बनते रहेंगे। मोहकलित हृदय को अन्तर्मूर्ति का उद्भव होबावया और उस जनभूमि में पहुँचने के अनन्तर तुम्हारे लिए कोई कुछ ही कहता कुतूहल रहे, निन्दा, अपराध स्मृति करता रहे, न निन्दाप्रवण से दुःख होगा, न स्तुतिप्रवण से हर्ष होगा। भोतव्य—एवं भूत-जनित वेदना से बचने का एकमात्र द्वार है—बुद्धि को मोहकलितवाक्य मना-पारा में उल्लूक करना—

यदा ते मोहकलिल बुद्धिर्भ्यसितरिप्यति ।

तदा गन्तासि निर्बेदं भोक्तव्यस्य भूतस्य च ॥

—विषा० २५२५

२६-नमः च समन्वय-

॥ रसोऽयं सर्वं भूतेश्च के समन्वय से उत्पन्न अथवा स्वयं के विरोधी इस मोक्षमार्ग को मन से कैसे हटाना चाहें ?, वीर्याभिमत ज्ञानबुद्धिमान इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। ज्ञान का प्रतिष्ठापी अज्ञान ही मोक्ष है वही अज्ञानमूर्ति के द्वारा कलिलमय का बनक बनवा है। वसु अम-वेदाय-वेदवर्ष्य चारों के प्रतिष्ठानी अज्ञान-अज्ञान-अज्ञान-अज्ञान, इन चारों के 'नन्' का कार्य क्या है ?, यह भी प्राचीनक समझ है किन्तु निरुद्ध कर होना प्रसिद्ध होगा। 'नन्' का अर्थ अज्ञान ही होता है 'नन्' का कार्य 'अज्ञान' भी होता है। अज्ञानाभाव, ज्ञानाभाव, वेदायामाव, वेदवर्ष्याभाव, क्या अज्ञान-अज्ञानाभि से यह अज्ञानाभाव नन्वर्ष्य समिप्रेत है ?। नहीं, इसलिप कि अज्ञान विरोधी अज्ञानावस्था का बनक नहीं बना करता। नाशित ही अज्ञान है न होना ही अज्ञान है। अज्ञानाभाव ही यदि अज्ञान होता तो इसे वही प्रत्यक्ष का कारण न माना जाता। अज्ञान एक कस्तुरित माना गया है, इससे अज्ञान

• नाशं परं कर्मनिबन्धकान्तं सुमुपतां तीर्यपदालुषीधनात् ।

न पत् पुनः कम्मसु सज्जते मनो स्रस्तमोर्म्पा कलिलं ततोऽन्यथा ॥

—भीमपूरभागवत ६।२।४६।

उत्तरायण की उत्पत्ति मानी गई है जो अग्रायण से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। यही स्थिति 'अज्ञान' की है। भगवान् ने अज्ञान से ज्ञान को आहत मानते हुए यह स्पष्ट किया है कि, अज्ञानाहत ज्ञान ही मोक्षरूप में परिचित होता है—'अज्ञाननाशितं ज्ञानं तेन मुमुक्षुषि जन्तवः। अमाश्रमकं अज्ञानं वो अपरार्थं हि शून्यम्।' इससे आचरण अतन्मय है। आचरण बही बनता है जिसका भ्रम होता है तथ्य होती है। एवमेव आत्यन्तिकाहत अवैराग्य का 'नञ्' भी इसीप्रकार अग्रगण्य नहीं माना जा सकता कि, अवैराग्यरूप तत्त्व को भगवान् ने 'सङ्गात् सञ्जायते कामः' इत्यादि रूप से कामरूप कार्य का कारण माना है। यही स्थिति अनैस्वर्त्य की है। अस्मितालाक्षण अनैस्वर्त्य आत्मैस्वर्त्य का उही प्रकार आचरण माना गया है जैसे कि अज्ञान ज्ञान का आचरण। इसी आधार पर कहा जा सकता, खीर माना जा सकता है कि, अचर्यादि के 'नञ्' भावी का 'अभाव' कार्य नहीं है। फलतः इन 'नञ्' भावों की अस्वार्थकता ही सिद्ध हो जाती है। 'अस्यो बन्धः—अबन्धः, अर्थ ज्ञान—अज्ञानम्, अस्य वैराग्य—अवैराग्यम्' अर्थ अनैस्वर्त्य—अनैस्वर्त्य—पर अन्तर्गर्भ निर्वचन ही उत्तमस्मृत माना जाएगा। जिसका तात्पर्य यही निश्चयेण कि—अचर्यादिवो बन्ध एव अचर्यम्' अज्ञानाहत—अनमेवाज्ञानम् अवैराग्याहत वैराग्यमेव अवैराग्यम्, अनैस्वर्त्याहत—ऐस्वर्त्य—मेव अनैस्वर्त्यम्। इसी से वह भी तत्त्व निश्चय आया कि अचर्यादि आदिष्टाचर्यादिवो के आगमन में बन्धादि भवों का उत्पन्न नहीं होता अर्थात् अस्मिन्मयाव होता है। आचरण हटा दीजिए, सिद्ध बन्धादि बन्ध प्रकट हो जायेंगे। ननर्थ के हान सम्बन्ध के अनन्तर प्रकृत सम्बन्ध के मूलवियमन मानवविषयों को लक्ष्य कराए।

३०—मोक्षपरम्परालुगता ज्ञानलक्षदुर्बिदग्धता—

सामान्यतः अथ, एवं विरोधः अज्ञान ज्ञान ही अज्ञानाहत ज्ञान है यही अज्ञान' लक्षण मोक्ष है नहीं मन्त्र का प्रथम कणक है। कुछ बलना कुछ न बलना ही अज्ञान है यही 'पुण्येन्द्र लम्पति अक्षय मोक्ष है जिस मङ्गलमिच्छि को 'अज्ञ दग्ध' कहा जाया है। इसी के लिए 'अनलक्षदुर्बिदग्ध' राज्य प्रकृत हुआ है। 'द्वेन' के ज्ञान का ज्ञान है जिसने समय पर्यन्त स्थान पर ठहरी रहेगी, पर अज्ञान है। इन अज्ञान लक्षण से मोक्ष उत्पन्न हो जाता है मय हो जाता है—कहीं द्वेन निश्चय न जाय। सम्यक् मन्त्र बहती है। ज्ञान का स्वल्प प्रमा माना गया है। 'इन्द्रियमेव नान्ध्या' लक्षण निस्वयाम्बु ज्ञान ही 'प्रमोक्षण' है। इस प्रमोक्षण में वह अज्ञान अमाश्रि हो जाता है, वो यही अनिरवधारणक कथा हुआ अज्ञान अज्ञान आदि विविध भावी में परिचित हो जाता है। शुद्धज्ञान में भी मय का अन्तर्भाव है शुद्ध अज्ञान (बद्धता) में भी मय का अभाव है। महाभूतवास भी निर्मय है, ज्ञानतत्त्व भी निर्मय है। एक की निर्मकता बद्धमृता है एक की निर्मकता किन्मृता है। मयबल कथा है वह मयस्व विरक्त ज्ञान अज्ञान से आहत रहता है—

परच मूढतमो लोके यश्च बुद्धे परं गतः।

शेषे मुखमधत विलस्यत्यन्तरिता वनः॥

३१-मोहनिवर्त्तिक ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या—

मोह से मय, एवं मय की परमसीमा मृत्यु । इत्यपकार मोह ही कालान्तर में बह्मलक्षण—मृत्युमात्र का प्रवर्तक बन जाता है । निस्तत्त्व ज्ञानात्मक मोह यहाँ मय का कारण है, यहाँ तत्त्वज्ञानात्मक ज्ञान निःशेषता का प्रवर्तक है—‘तत्त्वज्ञानाति भेषसाधिगमः’ । प्रत्यक्षवर्त्तिक अज्ञान की निवृत्ति का एकमात्र उपाय है—अभ्यप्रवर्त्तिक तत्त्वज्ञान का अनुगमन । कलाया गया है कि मोहात्मक अज्ञान अपने कलाभाष से प्रज्ञान की स्थिर प्रज्ञा को विचलित कर देता है । प्रज्ञा के अस्थिर होने से उत्पत्ति बुद्धि विवेकशून्या बन जाती है । विवेकशून्या बुद्धि ही अस्थिर प्रज्ञा के द्वारा बीजतया को प्रज्ञापरवर्ष में प्रवृत्त करती रहती है एवं यह प्रज्ञापरवर्ष (नास्मन्मि—मूर्च्छा) ही स्वाभाविक योगमयत्ति से बीजतया को जड़ित रखता हुआ इसे अवि, हीन, मिथ्या योगादि किम्य चीनों में प्रवृत्त रखते हुए इसके अज्ञानमूलक—अज्ञानानुग—गुण का कारण बना रहता है । अपनी अतममरि की सीमा से अधिक कर देना अतियोग है । अतममरि से कम करना हीन-योग है । अतममरि के विपरीत करना अव्योक्तमक मिथ्यायोग है । मोहन करना चाहिए पाव मर, का गय एक सेर, वही अतियोग है । एक कर्त्तव्य ही काया, यह हीनयोग है । काया तो पाव मर ही, किन्तु प्रवृत्तिविरुद्ध लाया, वही मिथ्यायोग है । चीनों विषमयोगों का मूलपरवर्त्तिक प्रज्ञापरवर्ष है, प्रज्ञापरवर्ष की प्रवर्त्तिका मोहप्रवृत्त्या अविद्याबुद्धि है, और तत्त्व-माहात्म्यक यह अज्ञान ही प्रज्ञापरवर्त्तित गुण का कारण है । विरुद्धी ऐकान्तिक निवृत्ति के लिए ही ज्ञानबुद्धियोगानुगता सिद्धविद्या का स्वस्मविशेषण हुआ है ।

३२-सिद्धजाति में उत्पन्न सिद्ध कपिल की सिद्धविद्या, एवं तदनुगत ज्ञानबुद्धियोग—

सिद्धजाति में उत्पन्न, अत्यन्त ‘सिद्ध’ नाम से प्रसिद्ध महर्षि कपिल ही इस सिद्धविद्या के प्रथम प्रवर्त्तक थे । अभ्यक्तज्ञानानुग, अत्यन्त अज्ञानात्मक—अभ्यक्तज्ञानानुग ज्ञानयोग (प्राचीनाभिमत-ज्ञानयोग) के पञ्चासी कपिल का केवल अभ्यक्ता प्रवृत्ति पर ही विधान था । उनका ज्ञानयोग ‘पुरुषस्तु पुरुषरूपमात्राभिर्लक्षण’ के अनुसार अभ्यक्तमयत्ति से बहिष्कृत था । ‘अभ्यन्ति माया मूढाना मत्त एव दूषणादिधा—‘आहं सर्वस्य प्रभवः’ इत्यादि सिद्धान्त उनकी अभ्यक्तवृत्ति से परे की वस्तु बने हुए थे । मन्वाने ने * ‘अभ्यक्त व्यक्तिमापन्न मन्यन्ते मामधुदयः’ करते हुए इस अभ्यक्तमयत्ति ज्ञानविद्या (अभ्यन्तिविद्या) का लक्षण किया, और लक्षणमहर्षि से इसे बुद्धियोगमयत्ति प्रदान की ।

* अभ्यक्त व्यक्तिमापन्न मन्यन्ते मामधुदयः ।

परमाश्रम ज्ञानन्तो ममाभ्ययमनुत्तमम् ।

—गीता ७.२५

अधुदय—बुद्धियोगरहस्याभिधा, न तु अध्या । सिद्धकपिलस्य पूर्वाज्ञान-निष्ठत्वात् । बुद्धियोगस्तु महता फलेन विवृष्ट आसीत् । तद्विवृष्टत्वेव च तादृश-सांख्यनिष्ठाया प्राधान्यमासीत्तदनुगम् ।

बुद्धियोगसम्पत्ति प्रधान अक्षर्य की गई, और इसी आधार पर योगनिष्ठाकृ (संशोधित कर्मयोगसङ्ग्रह धर्म बुद्धियोगकृ) संस्मृतिहा (संशोधित-ज्ञानयोगसङ्ग्रह ज्ञानबुद्धियोग) की 'निर्भेदसकलसुखी' के अनुसार अनुसूच्यमान की गई । तथापि दोनों के समुत्पन्न में लोकसङ्ग्रह के पञ्चपक्षी मगवान् ने 'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते' करते हुए धर्म बुद्धियोगात्मक निष्कर्मकर्मयोग को ही प्रधानता इसलिये प्रधान की कि व्यक्तप्रकृतिप्रधान मानव के लिए कर्मयोगागुगत व्यक्त कर्म वहाँ अत्यन्त ही अधिकृत रहते हुए स्वयं को रहते हैं । वहाँ अभ्यक्तप्रकृतिप्रधान-ज्ञानयोगागुगत-अव्यक्तकर्म अत्यन्त ही अधिकृत, स्वयं को रूप से लोक अनुसूच्य के भी अभाव नहीं करते । 'वसन्तोऽधिपक्षरस्तेषामव्यक्तप्रसक्त-चतसाम्'—'ह्युत्सवारा निरिहा दुरत्यया दुरा पञ्चसत् क्वच्यो वदन्ति' इत्यादि से इस संस्मृतिहा की अभ्यक्तप्रकृति स्फुट ही प्रमाणित हो रही है । निम्न लिखित कथन भी सिद्धन्वितानुगत इस ज्ञानबुद्धियोग की इसी बलिष्ठता का समर्थन करता हुआ इस ओर मगवान् के धामन्य पञ्चपक्ष को ही व्यक्त कर रहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतसि सिद्धये ।

यत्सामसि सिद्धानां कश्चिन्मां वेचि तच्छत ॥

—गीता० ७।१।

वित्त द्वा में वेदतत्त्वप्रकाशक आग्निविज्ञान के साथ वेदसम्बन्धप्रकाशक द्रुव का सम्बन्ध था, उस वेदद्वय में प्रकृतिकृ इत बुद्धि की पर ही 'पाचमुचनकोट' के आधार पर वैदिकतत्त्वप्रकाशक व्यक्तित्व की । निरक्ष से (उद्धा से) आत्मम कर हिमात्मकपर्यन्त रहने वाली पार्थिव प्रका मनुष्य नाम से प्रसिद्ध थी, इसके उद्धाटन मनु के अतिशय-राज्यजनपत्त स्रष्टा अग्नि थे । हिमात्मक से आरम्भ कर अक्षतनी पर्यंत के मध्य का स्थान अन्तरिक्ष कक्षालय था इसमें रहने वाली प्रका 'देवयोनि' (दिव्ययोनि) कक्षालय थी बाहु यहाँ के राक्षसोत्पत्ति थे । एवं अक्षतानी से आरम्भ कर सुवेदपर्यन्त का पूरवेरा बहुलक कक्षालय था, यहाँ की प्रका देवदेवता नाम से प्रसिद्ध थी अग्निपति यहाँ के 'हन्त्र थे । अन्तरिक्ष में रहने वाली देवयोनिप्रका यक्ष विद्यावर, गन्धर्व किन्नर विद्याव सिद्ध, राजा, अक्षय मृत, आदि अनेक अतिथी में विभक्त थी । वक्ष्वाति कोशरणा में निष्कृत थी । विद्यावर, गन्धर्व किन्नर, अक्षय, वे बार का मनोकिनेहात्मक अति के अक्षय-मन्त्रात्मक थे । विद्यावक्ष्वाति राक्षसभाग का उद्धाटन करती थी । वक्ष्वात्त राक्षस्यो के आधीन था । मृतवाति सेनात्मक था । भूतवात्तों के अक्षयवेदपति (अक्षय) पक्षपति थे प्रधानसेनापति (कर्माध्वन्) पक्ष (वीर) स्वामिधर्मिक थे । इस सेनाविभाग के प्रधानमन्त्री (भार्गव-मिहिर) भूतपति कर्तृ थे । पार्थिव प्रका अक्षय ही इस ऐतिहासिक पद्धति का समर्थन नहीं करती । क्योंकि अन्यत्र तत्त्वों की क्लृप्ति के साथ साथ वैदिक ऐतिहासिक तत्त्व भी साथ लुप्त हो पक्षा है । तत्त्वोत्पत्ति से सम्बन्ध रहने वाले प्राकृतिक विद्यावक्ष्वाति प्राकृतिक देवयोनिवा हैं । एवं तदनुक्रम प्राकृतिक विद्यावक्ष्वाति ऐतिहासिक व्यक्तित्वों थी इस रहस्य का एकटीकरा उन्नी दिन लगभग कोण वित्त दिन धार्मिकता उत्पत्ति से वेदरात्मक के स्वाध्याय में प्रवृत्त होगी । यत्तत्त्वोत्पत्ति यही है कि, देवयोनिविशेष ही 'दिव्य' कक्षालय है । इस अति में ही कलित का कम हुआ था, अतएव अक्षय 'नृणां भी 'दिव्य' नाम से ही प्रसिद्ध होना स्वाभाविक था । ज्ञाननिष्ठ कलितदिव्य से ही वह अति धन्य बनी थी । अतएव विभूतिपदान में मगवान् ने

'सिद्धान्तं कपिलो मुनिः' कहते हुए इन्हें मुख्य स्थान प्रदान किया । ये ही सिद्ध ज्ञानविद्याप्रमद-ज्ञानयोग के प्रथम प्रवक्तृ हैं । अतएव इनका संश्लेषित ज्ञानसुविद्योग-रूप योग 'विद्य' नाम से ही गीताशास्त्र में प्रसिद्ध हुआ ।

३३-सिद्धकपिलातुलगा सिद्धविद्या—

जित प्रकाश 'ईश्वरानन्दस्य' राक्षसि का रहस्य वा एकमेव दत्त सिद्धविद्या का रहस्य 'अन्तर्बोधि' माना गया है । सिद्धविद्यातुलगा ज्ञानसुविद्योग से अन्तर्बोधिर्ज्ञान का ज्ञानज्ञान का ही उद्भव इत्यर्थ है । बोधिर्ज्ञानस्य का अन्तः-बोधि, मेरु से हो भागों में पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उनका सूर्य-चन्द्रमा के द्वारा मन्त्रोक्ति समन्वय किया जा सकता है । सूर्य चन्द्रमा, दोनों ही ज्योतिष्मत् हैं परन्तु दोनों की ज्योतिषी के स्वप्न में आरोपण का अन्तर है । सूर्य जहाँ चारों ओर से प्रकाशित है वहाँ चन्द्रमा अपने सूर्यानुगत अर्ध भाग से ही प्रकाशित रहता है । सूर्य को जैसे स्वप्नकार प्रकाश के लिए किसी अन्य ज्योति की अपेक्षा नहीं है वैसे चन्द्रमा स्वप्नकार प्रकाश में स्वच्छ नहीं है । अपने ही प्रकाश से स्वच्छता प्रकाशित सूर्य जहाँ 'स्वज्योतिः' कहा जाता है, एवमेव अन्य (सूर्य) प्रकाश से प्रकाशित चन्द्रमा अर्ध-भाग से प्रकाशित रहता हुआ 'परज्योतिः' कहा जाता है । चन्द्रमा में मुक्त वामज्योतिः अग्निप्राण ही चान्द्र परज्योति का आधार बना हुआ है । पुराणों में चन्द्रमा अग्नि के पुत्र माने गए हैं । अग्निप्रसवज्ञान के अनुसार अग्निप्राण पारदर्शकता का प्रतिरूपक माना गया है । पारदर्शकता के प्रतिरूप से ही वामज्योति पदार्थों का स्वप्न निर्माण हुआ है । बोधरी प्रजापति के अव्ययप्रधान असत्तात्मा अक्षुरप्रधान ब्रह्मात्मा अक्षुरप्रधान शुद्धतात्मा, इन तीन विक्तों में से ब्रह्मसक शुद्धचित्त ही वामज्योतिः सैव विद्य का उपलक्षणकारण कहा है । वाक्, आपा अग्नि-मेरु से यह शुद्ध तीन भागों में विभक्त है । वायुशुद्ध अग्नि है आपा शुद्ध वायु है एवं अग्निशुद्ध अक्षुर है । वाक्-आपा-अग्नि-मय अग्नि-वायु-अक्षुर इन तीनों पारमेष्ठ्य शुद्धों से ही वामज्योतिः-मातृविद्युति (देवकीविद्युति) का विकास हुआ है । इन तीनों में आपा शुद्धविद्युति स्फुटतः आपा वायु लेमाः मेरु से तीन भागों में विभक्त है । अग्नि-शुद्धविद्युति अक्षुर भी अग्नि-वम-आदिस्व-मेरु से तीन भागों में विभक्त है । परन्तु वायुशुद्धमय अग्नि एकात्म्या में ही परिणत रहता है । अतएव 'न जि' निर्बचन से इस अक्षुरप्रकृत से वामज्योति के हुए पारदर्शक्यप्रतिरूपक वाक्शुद्धसक पारमेष्ठ्य प्राण को वैदिकी ने 'अग्नि' नाम से व्यवहृत किया है । इसके अक्षिरिक्त यह सौरप्रकाश को भी बाध है । जित सूर्यविद्युति में अग्निप्राण पूर्वस्व से विकसित रहता है, उस वायु में से सौरविद्युति अक्षुरपरिणत नहीं बन सकती । सूर्यविद्युति को क्योंकि अग्नि का आधार है अतएव अनिराज्य का 'अक्षुरि अग्नि' यह निर्बचन भी विज्ञानसम्मत माना जा सकता है । पार्थिव अग्निप्राण क प्रवर्धभागे से ही चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई है अतएव इसे अग्निपुत्र माना गया है । इसी अग्निप्राण क सम्बन्ध से चन्द्रमा में पारदर्शक्यप्रतिरूपकत्व धर्म का उदय हुआ है । इसी धर्म से सूर्यविद्युति चन्द्रमा क आधार-पार (आरपार) नहीं निकल सकती । वायुशुद्ध सौरप्रकाश प्रतिरूपित हो जाता है । वहिन्नु नही चान्द्रप्रकाश 'परज्योतिः' है । इत्यकार भूतज्योतिषी में ही सूर्यज्योतिः 'स्वज्योतिः' है चान्द्र ज्योतिः परज्योतिः है । स्वज्योतिः अन्तर्बोधि है परज्योतिः वहिर्बोधि है ।

बुद्धियोगसम्पत्ति प्रदान करण की गई, और इसी आधार पर योगनिष्ठाया (संशोधित कर्मयोगप्रवृत्त) प्रथम बुद्धियोग (संशोधित-ज्ञानयोगप्रवृत्त) ज्ञानबुद्धियोग) भी 'निष्कामकरानुभूति' के अनुसार अनुभवप्रदा मान ली गई । तथापि दोनों के सम्मिलन में लोकसंग्रह के पक्षपाती मतान् में 'तपोस्तु कर्मसंन्यासास्तु कर्मयोगा विशिष्यते' करते हुए प्रथम बुद्धियोगप्रवृत्त निष्कामकर्म योग को ही प्रधानता इसलिए प्रदान की कि, व्यक्त्यक्तियुक्तमान मानव के लिए कर्मयोगानुगत व्यक्त कर्म बड़ा आवश्यक है यदिभूत रहते हुए व्यक्त बने रहते हैं । बड़ा व्यक्त्यक्तियुक्तमान-ज्ञानयोगानुगत-अव्यक्तकर्म आवश्यक के लक्ष्य लक्ष्य विरोधरूप से लोक सम्मुख के भी संशय नहीं करते । 'कलशाऽपि कतरस्तोपामव्यक्तसक्त-चतसाम्'-'ह्रस्व पाठ निरिक्ता तुरस्या दुर्ग पक्षस्तु कस्या दग्धि' इत्यादि से इस संशयनिग्रह की आवश्यकता स्पष्ट ही प्रमाणित हो रही है । निम्न लिखित कथन भी सिद्धयोगानुगत इस ज्ञानबुद्धियोग की सही बहिष्कार का समर्थन करता हुआ इस और मतान् के समान्य पक्षपात को ही स्पष्ट कर रहा है-

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धय ।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वधि तच्छत ॥

—गीता० ७।१।

किंतु मुझ में वेदतत्त्वप्रवृत्त का निश्चितचक्र के लक्ष्य वेदतत्त्वप्रवृत्त प्रवृत्त का सम्मुख था, यह वेदतत्त्व में प्रवृत्तिवत् इस दृष्टिकोण पर ही 'पापमुचनकोश' के आधार पर वैज्ञानिकमतकथा व्यवस्थित की । निरक्ष से (हाहा से) आरम्भ कर हिमालयपर्यन्त रहने वाली वार्षिक प्रवा मनुष्य नाम के प्रसिद्ध की, इनके सम्राट मनु व अस्थिरा-राज्यप्रपात् भारत अग्नि है । हिमालय से आरम्भ कर अष्टावसी पर्यन्त के मध्य का स्थान अन्तरिक्ष कहलाता था इसमें रहने वाली प्रवा 'देवगणि' (दिव्यदेवगणि) कहलाती थी, वायु यहाँ के राजदरबार था । एवं अष्टावसी से आरम्भ कर तुलसीपर्यन्त का भूपरिवृष्ट घुल्लुंग कहलाता था वहाँ की प्रवा 'देवदेवता' नाम से प्रसिद्ध थी अनिष्टि वहाँ के 'इन्द्र' थे । अन्तरिक्ष में रहने वाली देवदेवताप्रवा मनु विद्यावर गन्धर्व किन्नर, गिराज ठिह, राजस्रव आदि, भूत, आदि अनेक जातियों में विभक्त थी । नक्षत्राणि कोशप्रवा में निवृत्त थी । विद्यावर, गन्धर्व किन्नर, जम्बूत ये चार कर्मा मनोविनोदप्रवृत्त संग्रह के अन्तर्गत-प्रचारक थे । गिराजप्रवाति राजविद्या का राजाजन करती थी । नक्षत्रार्णव प्रवृत्तप्रवृत्ति के आधीन था । भूतप्रवृत्ति सेनाप्रवृत्त था । भूतगणों के अवलोकनायि (जम्बूत) गणप्रवृत्ति से प्रधानसेनाप्रवृत्ति (कर्माजन्तु' जोर जोर) स्थापितप्रवृत्ति है । इस सेनाप्रवृत्त के प्रधानमन्त्री (आर्मी-मिनिस्टर) भूतप्रवृत्ति वर व । आर्मीक प्रवा अवश्य ही इस एशिया प्रदेस का समर्थन नहीं करेगी । क्योंकि अन्यन्त लक्ष्य की विसृति के लक्ष्य लक्ष्य वैदिक एशिया तत्त्व भी आब लुप्त हो चला है । उत्प्रेषणता से सम्मुख रहने वाले प्रायःसक विद्यावरदि प्रायःविष देवदेवगणि हैं । एवं तदनुक्त प्रायःविष विद्यावरदि ऐतिहासिक व्यक्तियाँ थीं । इस रहस्य का स्पष्टीकरण उन्नी बिन सम्मुख कोणा अति बिन आर्यप्रवा राजप्रवृत्ति से वेदराज्य के स्वाध्याय में प्रवृत्त होगी । अन्तर्गत वही है कि, देवदेवगणियों ही 'किन्नर' कहलाते थे । इस बात में ॥ अतिशय का कम हुआ था अतएव अत्यन्त इनका भी 'किन्नर' नाम से ही प्रसिद्ध होगा आध्यात्मिक था । ज्ञाननिष्ठ कर्तव्यप्रवृत्ति से ही वह वांछि बननी थी । अतएव विद्वत्प्रवृत्ताना में मतान् में

‘सिद्धानां कपिलो मुनिः’ करते हुए इन्होंने मुख्य स्थान प्रदान किया । ये ही सिद्ध सत्स्मिन्निष्ठप्रमत्त-ज्ञानयोग के प्रथम प्रकृत क थे । अतएव इनका संशोधित ज्ञानबुद्धियोग-रूप योग ‘सिद्ध’ नाम से ही गीताशास्त्र में प्रसिद्ध हुआ ।

३३-सिद्धकपिलगुप्ता सिद्धविद्या—

जिस प्रकार ‘ईश्वरानन्तर्य’ राजविद्या का रहस्य था, एवमेव इस सिद्धविद्या का रहस्य ‘अन्तर्ज्योति’ माना गया है । सिद्धविद्यागुप्त ज्ञानबुद्धियोग से अन्तर्ज्योतिर्संज्ञया आध्यात्मन का ही उदय होता है । ज्योतिर्ब्रह्म का अन्तः-बहिः, मेद से दो भागों में पूर्ण में विभूतार्जन करवा गया है, उनका सूर्य-चन्द्रमा के द्वारा मसीमांशि समन्वय किया जा सकता है । सूर्य चन्द्रमा दोनों ही ज्योतिष्मान् हैं परन्तु दोनों ही ज्योतिषों के स्वस्म में प्रहोराज का अन्तर है । सूर्य सूर्य चारों ओर से प्रकाशित है वहाँ चन्द्रमा अपने सूर्यगुप्त अक्ष माग से ही प्रकाशित रहता है । सूर्य को जैसे स्वप्रकाश प्रसार के बिना किसी अन्य ज्योति की अपेक्षा नहीं है, वैसे चन्द्रमा स्वप्रकाश प्रसार में स्वटण नहीं है । अपने ही प्रकाश से सर्वमाना प्रकाशित सूर्य वहाँ ‘त्वज्योति’ कहलाया है, एवमेव अन्य (सूर्य) प्रकाश से प्रकाशित चन्द्रमा अक्ष माग से प्रकाशित रहता हुआ परज्योति कहलाया है । चन्द्रमा में मुख्य वामचन्द्र अग्निप्रण ॥ चान्द्र परज्योति का आचार बता हुआ है । पुरुषों में चन्द्रमा अग्नि के पुत्र माने गए हैं । अग्निप्राणविद्यान के अनुसार अग्निप्राण पादरक्षकता का प्रतिकल्प माना गया है । पादरक्षकता के प्रतिकल्प से ही वामचन्द्र पदार्थों का स्वस्म निर्मातृ हुआ है । बोधशी प्रकापति के ज्ञान्यप्रधान अस्वस्मा अक्षप्रधान महारमा अक्षप्रधान शुक्लरमा, इन तीन किन्तों में से ज्ञानात्मक शुक्लविषय ही वामचन्द्र मौलिक विश्व का उपदानकारण बनता है । वाक्, आपः अग्नि-मेद से वह शुक्ल तीन भागों में विभक्त है । वाग्शुक्ल अग्नि है, आपः शुक्ल चण्ड है एवं अग्निःशुक्ल अक्षिरा है । वाक्-आप-अग्नि-मय अग्नि-स्यु-अक्षिरा, इन तीनो पारमेष्ठ्य शुक्लों से ही वामचन्द्र-मीलितवृत्ति (द्वैतुनीवृत्ति) का निष्पन्न हुआ है । इन तीनो में आपः शुक्लपुत्रि वगुत्तल आपः वाक् सोमः मेद से तीन भागों में विभक्त है । अग्निःशुक्लपुत्रि अक्षिरा भी अग्नि-मम-आदित्य-मेद से तीन भागों में विभक्त है । परन्तु वाक्शुक्लमय अग्नि एकाक्षरमा में ही परिणत रहता है । अतएव ‘न त्रि’ निर्बचन से इस अक्षिरायकस से वामचन्द्र के हुए पारदर्शिताप्रतिकल्पक वाक्शुक्लमय पारमेष्ठ्य प्राण को वैज्ञानिकों में ‘अत्रि’ नाम से व्यवहृत किया है । इसके अतिरिक्त वह खेरप्रकाश को भी बताता है । जिस भूतपिण्ड में अत्रिप्राण पूर्णस्म से विकसित रहता है, उस वस्तु में से खेरपरिमयी आचारपर्यन्त नहीं बन सकती । सूर्यपरिमयी को क्योंकि अत्रि ला जाता है अतएव अत्रिप्राण का ‘असीति अत्रि’ वह निर्बचन भी विज्ञानसम्मत माना जा सकता है । पार्थिव अत्रिप्राण के प्रसर्वमाग से ही चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई है अतएव इसे अत्रिपुत्र माना गया है । इसी अत्रिप्राण के सम्बन्ध में चन्द्रमा में पारदर्शिताप्रतिकल्पकत्व प्रथम का उदय हुआ है । इसी प्रथम से सूर्यपरिमयी चन्द्रमा का आचार-पर (आपार) नहीं निकल सकती । परब्रह्मण खेरप्रकाश प्रतिकल्पित हो जाता है । बहिर्मुख यही चान्द्रप्रकाश ‘परज्योति’ है । इसप्रकार भूतज्योतिषों में ही सूर्यज्योति ‘त्वज्योति’ है चान्द्रज्योति पर ज्योति है । त्वज्योति अन्तर्ज्योति है परज्योति बहिर्ज्योति है ।

टीक यही स्पष्टता आध्यात्मिक गतिमान क सम्बन्ध में प्रतिष्ठित है। पुरुष, प्रकृति, मा' से सम्बन्धमत्तया या मनो में निरस्त है। इनमें पुरुषग्राहि (आत्मनः प्रीति) स्वस्वस्थानीय-परमपवित्रा आश्रयेण बला समुत्थानेति है। एवं प्रकृतिसंज्ञि चन्द्रस्थानीय परमेश्वरा परमात्मिकाद्वारा बहिरंगेति है। त्रिप्रकार रस-रस मेघ मं वेद्युक्त में विभक्त भूतग्रहेन सूर्य-चन्द्रमा-खरक-विष्णु-शक्ति मं पाँच नामों में विभक्त है एकमेव प्रकृतियोग्येषु आध्यात्मिक भूतग्राहि भी सम्बन्ध-महान्-निदान-प्रधान-भूतग्राह-नर मं पाँच ही भावों में विभक्त रहती है। आध्यात्मिक पुद्गाग्राहि इन आध्यात्मिक पाँचों प्राहुप्रमार्गयोगियों से निरालुक्त रहती हैं और 'पञ्चाशेरित्यं पुरुष इह अनुपम भुक्ति वा इव दृष्टि मं व्यक्तम् हा रहा है। स्वर्गादेकद्वारा भूतग्राहि से बुद्धि का एवं बाह्य ग्राहि, ज्ञाता भूतग्राहि न प्रधानमन का स्वरूप निम्नांक हुआ है। इन शरीर आध्यात्मिक भूतग्राहिओं के अथ ह्यस्य अन्तर्गतित्वं अग्रगत्या का सम्बन्ध रहता है। इन दोनों ग्राहिओं के मध्य में यदि मात्र नामक द्वय मन्त्रविज्ञ हा जाता है तो बुद्धिपुङ्गव अन्तर्गतेत्यक्ष ज्ञान अभिव्यक्त में परिणत हो जाता है। अज्ञानावृत्त ऐसी बुद्धि ही मोहल्लिता अज्ञानबुद्धि कहलाए है। यही अज्ञानबुद्धि इस प्रकार उक्त अन्तर्गतेति क अनुभव न विलिप्त होती हुए प्रधानावस्था हाइ एकाधि की बनती बनती हुई दुःखानुबुद्धि का कारण बन जाती है। अग्रग्राह्यनुपम-अज्ञानावृत्ता-अग्रग्राहि के अथ किन्हीं प्रतिकारक के अनन्तरावृत्ता-बुद्धिविद्या का योग होने के लिए मन्त्रस्थ मोह नामक अज्ञानावृत्त का हटाना आवश्यक है। मन्त्रस्थ मोह कठ इह दे, अनौपम्य की इच्छा, अज्ञानबुद्धिया प्रमुखा सिद्ध तथा हवी प्रन का उत्पादन कर रही है।

३४-ज्ञानबुद्धियोगानुमता सिद्धिर्वासा का स्वरूपनिष्पत्त्य—

प्रतिनिधित्व के विरोधक द्वारा अनुसूचित जातों के विरोध के विभिन्न दृष्टियों में सम्यक् किया गया। 'यन्ममपि सिद्धिर्ना करिष्यामि' बलि वरद' के अनुसर करीबान् विद्वानों में आकाश बामदेवपिनच अमृतनिधय क अनुसूची करिज्ञानुवाची विद्वानों में ही प्रधानरूप में परमन्त्र प्रवर्धित अन्तर्बोद्धन्वन्त दान ही सिद्धिर्ना को मूर्खानिन्तु बना। साक्षात्कारक भगवन् न साक्षात्कारक के महापुरुषक गाथास्तत्र में इस कथितनेत्र के भी संभ्रम किम्। सिद्धिर्नाप्रवर्धन्त यथार्थ अन्वयेन कम्प ग्यम् किन्तु क द्वारा बर्ही अस्मत्प्रपत्ता हुआ था बर्ही म्मायन् ने अन्तर्बोद्धन्त कथावन के द्वारा 'न कम्प यन्वद्वय जानक्या के अन्तर्बोद्धि प्रधान करते हुए इन बुद्धिरेणवन्त के अनुसूची बना। इसी अन्वयान्त्र में 'मानुसूचित जातों के विरोध के विभिन्न दृष्टियों में सम्यक् किया गया।

इति षड्विंशयोगानुगतसिद्धविद्यास्वरूपनिवचनान्तर्गत त्रितीयप्रकरणम्
'ज्ञानषड्विंशयोगानुगत-सिद्धविद्यास्वरूपनिवचनम्' नामकम्

पुनीयसुम्न

(2)-3

श्री

‘बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचन’ नामक

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत

‘ज्ञानबुद्धियोगानुगत-सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचन’ नामक

तृतीयस्तम्भ-उपपत्त

(२)-३

श्री

अथ बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचनात्मके
तृतीयप्रकरणे

वैराग्यबुद्धियोगानुगत-राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचनम्' नामकः
चतुर्थस्तम्भ

(२)-४



वैराग्यबुद्धियोगानुगत—राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचनम् चतुर्थस्तम्भः

१—वैराग्य, और आसक्ति शब्दों के लोकोपचलित अर्थ—

राजर्षिविद्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग में वैराग्य और उत्पत्तिमिद्विनी आसक्ति, इस द्वन्द्व की मीमांसा अपेक्षित है। अतः सर्वप्रथम इसी दोनों प्रतिद्वन्द्वियों का स्वस्म बुद्धियोगार्थमियों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। प्रचलित भ्रष्टा-विषाद के अनुसार वैराग्य' शब्द का अर्थ सांसारिक-परिग्रहों का त्याग समझा जा रहा है एवं 'आसक्ति' शब्द का अर्थ सांसारिक योग-विषयों में तल्लीनता समझा जा रहा है। विधि-निर्वचनमय शास्त्रीय कर्मों का स्त्री पुत्र-विवादि आर्थिक परिग्रहों का संस्था त्याग कर शून्य-भरखी में निवास करने वाले सर्वपरिग्रहत्यागी कायायक्याचारी वीतरागी ही वैराग्य के अनुगामी माने जा रहे हैं। ठीक इसके विपरीत सांसारिक प्रपञ्चों में निमग्न रहती ही आसक्ति का अनुगामी माने जा रहे हैं। निष्कर्षतः कर्ममात्र का परित्याग वैराग्य शब्द का एवं सांसारिक कर्ममात्र का अनुगमन आसक्ति शब्द का उत्तरार्थ माना जा रहा है। वचमान भास्य के प्राक्काय में यही वीतराग है, जिसने सब कुछ छोड़ छाड़ कर एकान्तघात कर लिया है जिसका बनसमाज से किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं है गीतापरिभाषानुसार का संस्था भयकर्मवचन है। केवल अपासक दण्ड-महल एवं शिलाखण्डपरिस्थाग नमो-नारायणोच्चारण ही ऐसे वैराग्यपथियों के परिचयचिह्न हैं। कर्मत्यागलक्षणा प्राचीनामिमता ब्रित सांख्यनिष्ठा (दानयोग) का पूर्व स्तम्भ में दिग्दर्शन कराया गया है वह सांख्यनिष्ठा ही सर्वव्यापार की दृष्टि में वैराग्य है। एवं 'आर्षेविद्यानुगत-धम्मबुद्धियोग' नामक स्तम्भ में कामनालक्षणा प्राचीनामिमता ब्रित सांख्यनिष्ठा (काम्य कर्म योग) का दिग्दर्शन कराया गया है वह योगनिष्ठा ही सर्वव्यापार की दृष्टि में 'आसक्ति' है।

२—प्राचीन व्याख्याताओं की वैराग्यदृष्टि, और उनका ज्ञानयोग—

प्राचीन दृष्टि से गीता केवल प्राचीनामिमता ज्ञान-मार्ग-कर्म, इन तीन पथों का प्रतिपादन कर रही है। वैराग्य शब्द के उत्तरार्थ का पक्षपात रखने वाले ज्ञानमिद्विनी का इस सम्बन्ध में यही मतानिवेश है कि गीता वस्तुतः कर्म और भक्ति का ही निकटतम अन्वय करती है। परन्तु शास्त्रीय कर्म और भक्ति साक्षात् कर्म से पुरुषार्थ नहीं है। पुरुष का परमपुरुषार्थ है 'मुक्ति'। मुक्ति का एकमात्र अर्थ है आत्मा की विमुक्त आनन्दस्थिति में प्रविष्टि कर लेना। कर्म और भक्ति में कर्म का अनुगमन तात्पर्य से आत्मा पर आसक्ति रहता है। अतएव कर्मानुगत कर्म और भक्ति कभी मुक्ति का कारण नहीं बन सकते। 'स्वागतेनेऽमृतत्त्वमानुषा' के अनुसार कर्मानुगत कर्म भक्ति-पथों की आनन्दस्थिति निश्चित ही विमुक्त आनन्द का कारण बना करती है। और सर्वविध कर्मत्याग से विच्छिन्न होने वाला ज्ञान ही

मुक्ति का प्रवक्तृ है। कर्म त्यागस्तत्र एवैविव वैराग्य ही मुक्तिप्रवक्तृ बनता हुआ पुरुष का परम (अन्तिम) पुरुषार्थ है। लगभग अविचारियों के प्रारम्भिक अभ्यास के लिए स्वचरुण से ही गीता में कर्म-मार्ग का संश्लेषण कर दिया है। बलुता गीता ज्ञानप्रधान अत्यात्मशास्त्र है ज्ञानव्याप्त्यर्थ है वैराग्यशास्त्र है।

३-वैराग्यमाबलुगत 'त्याग' शब्द के तात्त्विक अर्थ का उपक्रम—

प्राचीनाभिमत, सर्वप्रणिहत्यागस्तत्र वैराग्ययोग का अर्थ है—'ज्ञानयोग', किन्तु 'ज्ञानयोगपीठा' नामक भूमिका-खण्ड में विस्तार से उपलब्ध किया जा चुका है। केवल शम्भुद्वि से प्राचीनों के इस मन्त्र का, एवं वैज्ञानिकों के मन्त्र का निर्धारण सम्भव हो रहा है। वैज्ञानिकों का भी गीताशास्त्र के सम्बन्ध में यही मन्त्र है कि, गीता आधुनिकपरिणामपूर्वक वैराग्ययोग (मुक्तियोग) का ही उपदेश दे रही है। त्याग ही गीताशास्त्र का मुख्य उपदेश है। और इस दृष्टि से विज्ञानपरिणामपीठा भी यह कह सकता है कि, 'गीता शास्त्र में वैराग्यशास्त्र' है। वैराग्ययोग ही पुरुष का प्रधान पुरुषार्थ है। और यही आत्मा वह भी ज्ञानयोगपरिणामों की मूर्ति उनके कर्म त्यागस्तत्र ज्ञानयोग के सम्बन्ध में उनकी ओर से उपस्थित 'त्यागार्थकेऽमृतस्वमानसः' इस भुक्ति को अपने विज्ञानविद्वत् आधुनिकपरिणामस्तत्र वैराग्ययोग के समर्थन में उपस्थित कर सकता है। ज्ञानयोग भी त्यागप्रधान है। वैराग्ययोग भी त्यागप्रधान है। अन्तर केवल 'त्याग' शब्दार्थ में है। ज्ञानविद्वत् कहते हैं कर्म त्याग त्यागप्रधान है। वैराग्यविद्वत् कहते हैं आधुनिकपरिणाम त्यागप्रधान है। दोनों में किस की परिमार्था उपदेश है? इस प्रश्न का समाधान तब से पक्षित होने गीताशास्त्र से ही करना चाहिए।

४-गीताशास्त्र में प्रयुक्त 'त्याग' शब्दालुगत स्पष्ट, एवं उनका अक्षरावसमन्वय—

गीताशास्त्र में 'त्याग' की चर्चा ३ स्थलों पर आई है। उन स्थलों को अपनी दृष्टि के समान रख लीजिए, और फिर यह अन्वेषण कीजिए कि, गीता अपनी दृष्टि से 'त्याग' शब्द का क्या अर्थ कर रही है? केवल इसी प्रश्न के समाधान से वह कुछ स्पष्टि हो सकेगा। मुनिता के लिए वे ३ ही स्थल यहाँ उद्धृत कर दिए जाते हैं—

१-अन्य च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तक्रीडिता ।

नान्ताशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धनिशारदा ॥ गी० १।१६।

२-येपामर्षे ह्यहिंस्त नो राज्यं भोगा सुखानि च ।

त इमे ज्वस्तिष्ठा युद्धे प्राज्ञास्त्वक्त्वा धनानि च ॥ १।१७॥

३-कलैष्यं मा स्म गमः पाथ ! नैतन्मयुष्यपद्यते ।

युद्ध हृदयदौर्बल्यं त्यक्तश्चोपिष्ठ परन्तप ! ॥ १।१८॥

४-योगस्य कुरु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा धनञ्जय ! ।

मिद्वपसिद्धयोः समो भूत्वा समर्थ योग उच्यते ॥ २।४८॥

- ५-कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्ममन्वविनिर्मुक्ता पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ २।५१।
- ६-जन्म कर्म च मे दिव्यमेव यो वेति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ४।६।
- ७-त्यक्त्वा कर्मफलसङ्गं नित्यसृप्तो निराभयः ।
कर्मण्यपिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥ ४।२०।
- ८-निराशीयतचित्तात्मा त्यक्तसंशयः प्रहः ।
शरीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किञ्चिदपि ॥ ४।२१।
- ९-ब्रह्मण्यावाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्बसा ॥ ४।२०।
- १०-कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ४।२१।
- ११-युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारणं फले सक्तो निषिध्यते ॥ ४।२२।
- १२-संकल्पप्रभवान् कामास्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ ६।२४।
- १३-यं यं वापि स्मरन् मायं त्यज्यस्मन्ते क्लेशवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्धृत्मावमावितः ॥ ८।६।
- १४-ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रपद्यि त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ ८।१३।
- १५-भेयो हि ज्ञानमभ्यासात्, ज्ञानात्-ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्मफलत्यागः, त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ गी० १०।११।
- १६-अहिंसा-सत्य-मक्रोध-स्त्याग-शान्ति-रपैश्वनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मादवं ह्रीरघापलम् ॥ १६।१।
- १७-विविधं नरकस्यैतद्द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः-क्रोधः-स्तथा लोभ-स्तस्मादेतत्तुल्यं त्यजेत् ॥ १६।२।

- १८-सत्यास्य महानाहो ! तथमिच्छामि वेदितुम् ।
 त्यागस्य च हृषीकेश ! पृथक्कशिनिपूदन ॥ १८।१।
- १९-काम्यानां कर्मणां न्यास संन्यासं कथयो विदुः ।
 सर्वकर्मफलत्यागं प्रादुस्त्यगं विचक्षणा ॥ १८।२।
- २०-स्याज्य दोषवदित्यक्तं कर्म प्राहुमनीषिणः ।
 यद्वा दान-तप-कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ १८।३।
- २१-निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ! ।
 त्यागो हि पुरुषव्याघ्र ! द्विविधः परिकीर्तितः ॥ १८।४।
- २२-यद्वादान्तप-कर्म न त्यागः । कार्यमेव तत् ।
 यद्वा दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ १८।५।
- २३-एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
 कर्माभ्यानीति मे पाथ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ १८।६।
- २४-नियतस्य तु सत्यास-कर्मणो नोपपद्यते ।
 मोहाच्च तस्य परित्य गस्त्यायसः परिकीर्तितः ॥ १८।७।
- २५-दुःखमित्येव यत्कर्म क्षयकृत्क्षेममाप्त्यजेत् ।
 स कुशा रात्रस त्व ग नैव त्यागफलं मयत् ॥ १८।८।
- २६-कार्यमित्येव यत् कर्म नियतं क्रियतञ्जु न ! ।
 सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ १८।९।
- २७-न द्वेष्टपद्मफलं कर्म कुशले नानुपज्जते ।
 त्यागो सत्त्वसमाविष्टो मेधावी क्षिप्रसश्रयः ॥ १८।१०।
- २८-न हि दहसूता शक्यं त्यक्तु कर्मास्पृशोपत ।
 यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ १८।११।
- २९-सहर्षं कर्म कौन्तेय ! सदोपमपि न त्यजेत् ।
 सत्तारम्भा हि दापय धूमेनाग्निरिवाहता ॥ १८।१२।
- ३०-पुदपा विष्टुदपा युक्तो ब्रह्मात्मानं नियम्य च ।
 शय्यादीन् विपयांस्यपक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ १८।१३।

३१-विचिक्सेषी लघ्याशी यतवाक्प्रयमानस ।

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्य समुपाश्रित ॥ १८५७॥

३२-महद्भार वल दयं फर्म क्रोधं परिग्रहम् ।

विमुच्य निर्म्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १८५८॥

३३-महद्भूतं प्रसदात्मा न शोचति न फलुषति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मवर्त्मकिं समते पराम् ॥ १८५९॥



उदय स्वामी ने से 'अस्यै च यद्वा' शब्द - 'येषामर्थे काङ्क्षितम्' और्ध्व मास्म गम पाथ' इन १-१-३ रूपों के 'त्याग' शब्द का प्रकृत में सम्बन्ध नहीं है। शेष स्थलों में उपाय त्याग शब्द है। प्रकृत वैष्णवधर्मा से सम्बन्ध रखता है। मगवान् करते हैं-अनुन। तुम योग में प्रसिद्धि होकर आशक्ति-लक्षण वल वल परिचाय कर लक्षण-अवस्थाता वलों में समान बने रहते हुए ही कर्म करी, क्योंकि समत्व ही योग का स्वस्म माना गया है (४-जी २१८८)। मगवान् करते हैं-'विद्यान् भोग बुद्धि (विद्या-बुद्धि) से जुड़ रहते हुए (बुद्धियोग में प्रवृत्त रहते हुए) कर्म से उत्पन्न आशक्तिजनक फल का परिचाय करते हुए कर्मकचन से मुक्त होकर शाश्वतपद (मुक्ति) प्राप्त कर लेते हैं' (५-२१८१)। 'जन्म कर्म च मे विवस्म' (१-४१६) इत्यदि श्लोकमण्डित त्याग शब्द प्रकृत से असम्बन्ध है। मगवान् करते हैं-कर्मकला-बद्धि का परिचाय कर सदा दुष्ट रहने वाला स्वाकलम्बी बना रहने वाला पुण्य कर्म में प्रवृत्त रहता हुआ भी (आशक्तिबाग के प्रभाव से) मुक्त नहीं कर रहा (७-४१२)। मगवान् करते हैं 'अथाप्याकाङ्क्षाक्षया कर्मना से सम्बन्ध रखने वाले काम्य भोगों से वृत्त्य रहने वाला निराशी पुण्य संयमी बनता हुआ वयवाय परिधि की आशक्ति छोड़ देता है। ऐसा पुण्य शरीरभगवानुक्तभी (बीकनवाचक) कर्मों में (अश्रितवाकांक्षा शाय) प्रवृत्त रहता हुआ भी कर्मबन्धित होकर स्वयं निश्चय से बचा रहता है (८-४१२)। मगवान् करते हैं-'तो पुण्य (शारीरक कर्मना-बीकनवा अपने इतरक) प्रत्यागद (अवस्था) में आन लक्ष्ण कर्मों का वर्णित करता हुआ फलभगवानुक्ति की छोड़ कर कर्म में प्रवृत्त रहता है वह उन्हीं प्रभार अपने इन कर्मों से उत्पन्न बन्धन में बन्धित नहीं होता, जैसे सदा पानी में हवा हुआ भी कर्मल का पला पाना के लेप से लिप नहीं होता (९-४१२)। मगवान् करते हैं-योगी भोग (आशक्तिभगवानुक्ति बीकनवा बन रहते हुए भी आगामा-अवस्थावृत्त कर्मों के लेप से) आगमा को बचाए रखने के लिए वाय-मन-बुद्धि-इन्द्रियो क द्वारा कर्म-आशक्ति छोड़ कर कर्म दिया करते हैं (१०-४१२)। मगवान् करते हैं-'कर्म फल को छोड़ कर कर्म ॥ मुक्त रहने वाला पुण्य बर्हा विद्यामण्डित प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है वहाँ कामावधिकूर्वक कर्म फलों में आशक्त धमधमी पुण्य अध्यययोग से बन्धित रहता हुआ कर्म पाश में बाध हो जाता है (११-४१२)। मगवान् करते हैं-'अथाप्याकाङ्क्षामुलक काममय मन से उत्पन्न होने वाले कामनामय उद्वेग-विह्वल ही कामनाओं के जनक बनते हैं। इन मन्त्रवाचक कामनाओं का उन्मूलन परिचाय कर अपने मन से इन्द्रियो का वर्धमाना वध करना चाहिए (१२-४१२)। 'यं यं वाचि स्मरन् भावम्' - आत्मित्यवाचरं मम

इन ११ १४ शब्दों में पठित त्याग शब्द अष्टाष्ट है। मगवान् करते हैं—'अप्यस्य से ज्ञान मोक्ष है एवं
 पान व कर्म पक्ष का परिचयार्थ सर्वप्रथम है। इस कर्म पक्षत्याग से ही शब्द में शान्तिवृत्त मोक्षपक्ष प्राप्त
 होता है (१४-१५/१२)। 'आहिंसा सत्यमक्रोध' इत्यादि १९ में श्लोक में पठित त्याग शब्द अष्टाष्ट
 है। मगवान् करते हैं—'अप्य, अप्य, अप्य ये तीनों नरक के द्वार हैं। अस्तित्वकर्म को आहूत करने वाले
 आनन्द हैं। अतः इन तीनों का परित्याग कर देना चाहिए (१९-२०/१२)। अतः मगवान् से प्रश्न
 करते हैं कि—'अप्यन ! मैं संसार का यह सब जानना चाहता हूँ, त्याग का मौखिक स्वरूप जानना चाहता हूँ
 (१८-१९/११)। मगवान् उक्त देते हैं—'अतः ! विद्वानों ने (कर्मों के परित्याग को संघट्ट नहीं कहा है,
 अतः) कर्म कर्मों के परित्याग को संघट्ट माना है (मिश्र अर्थ यही निश्चय है कि, कर्मों का परित्याग
 का ही नाम संघट्ट है)। कर्मों के पक्षत्याग को ही विषयार्थों ने त्याग माना है (२०-२१/१२) किन्तु
 एक (अप्यनिष्ठ) विद्वानों का कहना है कि, कर्म दोगुना है अतः उसे छोड़ देना चाहिए। दूसरा एक
 (कर्म निष्ठ-योगनिष्ठ) यह कहता है कि, यज्ञ-दान-तपो-सङ्घट्ट विद्याभ्यास कर्म का परित्याग नहीं करना
 चाहिए। (इत्युक्त कर्म के संघट्ट में दो विविध मत प्रचलित हैं (२-१८/११)। अतः ! इस संघट्ट
 में (आद्य) द्वे में अपना मत बतला रहा हूँ। अतः ! आदि, अक्ष, अमर, ये से त्याग तीन प्रकार
 का माना गया है (२१-२२/११)। (मैत्री इति चे) यज्ञ-दान-तप कर्मों का कभी परित्याग नहीं करना
 चाहिए। क्योंकि (को मनीषी इनके परित्याग को अक्ष संघट्ट है उन्हें स्मरण रहना चाहिए कि) व
 तीनों कर्म (उन) मनीषियों के लिए भी पावन ही कहे हुए हैं। अतः तो मनीषियों की इति में तीनों
 कर्म दोगुना नहीं अतः पावन हैं दोगुना कर्म हैं। (२२-२३/११)। (क १, किं दया में १, कु १)
 इन्हीं कर्मों को वह कि पक्षप्रमाणित श्लोकों के द्वारा कर्म अतः से इनका अनुपपन्न किया जाता है। यही
 इस संघट्ट में मेरा निश्चित (अन्विष्ट) और सर्वज्ञ मत है। अतः ! प्रवृत्तिद्वारा नियत, स्वकर्मचक्र,
 प्राकृतिक कर्मव्यवस्था का परित्याग अवश्य है (२४-२५/११)। मोक्षार्थ इसके परित्याग की चेष्टा करना
 अतोद्भास्यत्व समस्त त्याग है (को वस्तुतः त्याग नहीं है त्याग का सूत्रमात्र है (२५-२६/११)। इस अनुक्त
 कर्म में कर्म परित्याग करना अथवा कर्मचक्र छोड़ना अथवा, यह निश्चय कर अपनी आत्मस्थिति के
 अनुग्रह से कर्म का परित्याग कर देगा यज्ञत त्याग है। ऐसे वाक्यों को भी त्यागफल नहीं माना गया।
 (१४-१५/१२) अतः कह कर त्याग की वास्तविक परिभाषा करते हुए मगवान् करते हैं—'अतः ! 'मैत्र
 यह कर्मव्यवस्था है। इस कर्मव्यवस्था से आत्मिक, और पक्ष-आत्मना का परित्याग करना हुआ को पुनः
 निश्चित रूप में प्राप्त रहता है (उस पुनः का कर्मागुण ऐश्वर्य कलावृत्तिव्यवस्था) त्याग ही वास्तविक त्याग है
 (कर्मव्यवस्था त्याग नहीं अतः पक्ष-आत्मनापरित्याग त्याग है) (२६-२७/११)। (पक्षप्रमाणितपरित्याग का
 पक्ष यह होता है कि, एतद्विषय) अतः ही के लिए न ही अक्षुण्ण कर्म (दातावद् ऐश्वरीयिक वास्तविक कर्म)
 होय का कारण बनता एवं न कुशल कर्म (निष्ठ वास्तविक वास्तविक कर्म) दान का कारण बनता। अतः
 कि कर्मों से ही नहीं करता वास्तविक कर्मों में शित नहीं होता। अतः कर्मव्यवस्था अन्विष्ट कर्मों में
 यज्ञपरित्याग का कर यह इनमें समभाव से प्राप्त रहता है। ऐश्वर्य त्याग पुनः निश्चय कर्म का यज्ञ
 हुआ सर्वकार्य से अनुपपन्न रहता है। 'निश्चित कर्म-विषय कर्मव्यवस्था' ऐश्वर्य कर्मव्यवस्था अतः कर्म
 नहीं होता' (२१-२२/११)। (अतः ! तब इस त्याग का नहीं है कि) देहपापी के लिए कर्मों का
 परित्याग सर्वथा अवश्य है। ऐसी परिस्थिति में त्यागी की त्यागी ब्रह्माण्ड, किन्तु कर्म कर्मों का परित्याग

न किया होगा (२८-१८११)। (बहुतेरे) तू समझता होगा कि, कर्म दोषयुक्त है। परे कर्म ही क्या जान
 कि-आदि) यथायाद आरम्भ दोषयुक्त है। (विशुद्धात्मक विश्व में तबैया दोषरहित कहने के लिए कुछ भी
 नहीं है)। देखी स्थिति में प्रकृतिविश्व वाद कर्म' यदि दोषयुक्त है, तब भी उनका परिष्कार नहीं करना
 चाहिए। (निराद कर्म दोष नहीं है दोष है गुणात्मिका प्रकाशमाधिका, एवं इती का परिष्कार अपेक्षित है।
 (२८-१८१८) (करना क्या चाहिए ?-सुन)। -विशुद्ध (विद्या) मुक्ति से मुक्त होकर वृत्तिगुण से आत्मसंयम
 रखता हुआ ऐन्द्रिक नियन्त्रकशुक्ल को छोड़ कर रमणसे से पचा रह कर, परमन्तमिय बन !, आत्माहारी बन !,
 अपने शरीर-बासी, मन को बरा में रखा ! सदा हृदयस्थ प्रसंगात्मा को कल्प बनाए रह !, अनाद्यतिरूप वैराग्य
 को आभार बना ! अहङ्कार, कल दर्व, काम, क्रोध परपतिह का परिष्कार कर !, ममत्व ख बना रह !। दोष
 फला हुआ निश्चयेन तू परमपद प्राप्त कर लेगा। (१, २२, २३, २४)।

५-भीता-पठित 'त्यता' शब्द का निष्कार्य-

५-गीता-पठित 'त्याग' शब्द का निष्पत्ति-
 शब्द से इति पर्यन्त गीताशास्त्र का मूलमार्गदर्शक पाठ्यपुस्तक किताब गया। यह वेदा की गई कि,
 श्री 'त्याग' शब्द कम प्रतिपाद्यार्थ में उपलब्ध हो जाय। परन्तु वेदा न केवल अर्थ ही गई, अर्थात्
 सर्व कम प्रतिपाद्य का समर्थन ही उपलब्ध हुआ। इस प्रकार गीताशास्त्र में प्रयुक्त त्याग शब्दों में ही
 वह समाधान कर दिया कि, गीताशास्त्रोपनिषद् आत्मसाक्षात्करण और योगों प्राचीनाभिमत कर्मत्यागसाधन
 ज्ञानयोग से क्या मिल सकता है जिसकी ओर से भगवान् न केवल बताये ही रहे हैं, अर्थात्
 'सर्वकर्मफलत्यागं प्राप्नुयस्मान् विमुक्तयः' करते हुए उच्च आत्मसाक्षात्करण ही कर रहे हैं। कम-
 त्याग के शब्द इति बुद्धिमेलित प्रथम की है एवं यही संतोषित मानकर गीता के शब्दों में
 'बलवृद्धिप्राप्त' कहा जाता है, जिसका पूर्ववर्तमान में विशेषण किया था हुआ है। गीता में त्यागशब्द
 सर्व प्रत्यक्ष-कर्म-आत्मिक के परिणाम के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। प्रत्यक्षमात्रिकप्रतिपाद्यार्थ
 प्रत्यक्षमात्रिकजनन आद्य बुद्धिमेल ही 'वैराग्यवृद्धिप्राप्त' कहा जाता है, जो गीताशास्त्र का प्रथम प्रतिपाद्य विषय
 है एवं जिसके दृष्टीकरण के लिए वैराग्य, आर्तित नामक दोनों प्रतिबन्धनों का वैज्ञानिक स्वतन्त्र-
 परिचय अवशिष्ट है। उद्योगवृद्धि यद्यपि विद्या का स्वतन्त्रनिर्वाचन समझ बन सकता है।

६-गीताशास्त्र का तात्त्विक नामकरण-

[illegible]

चतुर्थी है। इसी के स्वरूपपरिचय के लिए गीता में योगचतुर्थी का विशेषण हुआ है। अर्थात्कर्म से ब्रह्मचतुर्थी 'पुरुषविद्या' है, बुद्धिसम्बन्ध से योगचतुर्थी बुद्धियोग^३ है। उक्ततः 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' का निष्कर्ष निकलता है—'अध्यायपुरुषविद्यायां योगशास्त्रे'। अध्यायपुरुष पुरुष है बुद्धियोग प्रकृति है। गीता ने पुरुषमस्तिवत्त्वका आत्मविद्या की ओर 'ब्रह्मविद्यायां' से हमारा ध्यान आकर्षित किया है, एवं प्रकृतिमस्तिवत्त्वका योग की ओर 'योगशास्त्रे' से हमारा ध्यान आकर्षित किया है। समष्टिरूप से योगशास्त्र 'अध्यायविद्याशुद्ध योगशास्त्र' है। एवं व्यष्टिरूप से यही कर्माध्ययविद्यासङ्घट्ट रात्रिर्विद्याशुद्ध बुद्धियोगशास्त्र, पराध्यायविद्यासङ्घट्ट सिद्धविद्याशुद्ध ज्ञानयोगशास्त्र, परावराध्यायविद्यासङ्घट्ट रात्रिर्विद्याशुद्ध मन्त्रियोगशास्त्र, एवं अकराध्यायविद्यासङ्घट्ट आर्षविद्याशुद्ध कर्म योगशास्त्र, इन नामों से व्यञ्जित किया जा सकता है, परन्तु करना नहीं चाहिए। क्योंकि पर-रात्र-अकराविद्याशुद्ध ज्ञान-मन्त्रि-कर्म' मत्तुः बुद्धियोगात्मक ही है। अतः गीता का वास्तविक नामकरण 'अध्यायविद्यायां बुद्धियोगशास्त्र' यही होना चाहिए, वैयर्थ्य परितोष से रहित है।

१ ज्ञानकर्ममय प्रत्यक्षात्मा-सर्वाध्यायः	आत्मब्रह्म-रात्रिशुद्ध वैराग्यकर्म
२ कर्ममार्गमित्तज्ञानप्रधान पराध्यायः	आत्मब्रह्म-रात्रिशुद्ध ज्ञानकर्म
३ कर्मज्ञानोपमप्रधान परावराध्यायः	आत्मब्रह्म-रात्रिशुद्ध ऐश्वर्यकर्म
४ ज्ञानमार्गमित्तकर्मप्रधान अकराध्यायः	आत्मब्रह्म-रात्रिशुद्ध कर्मकर्म
सैष अध्यायविद्याचतुष्टयी	सैष अध्याययोगचतुष्टयी

१ सर्वाध्यायविद्यासङ्घट्टरात्रिर्विद्यानामकर्मविद्यायां बुद्धियोगात्मकं योगशास्त्रम्	याचीनष्टप्राप्त्यर्थमभ्यास- कर्मि गीताशास्त्रमभ्यासि
२ पराध्यायविद्यासङ्घट्टसिद्धविद्यानामकर्मविद्यायां ज्ञानयोगात्मकं योगशास्त्रम्	
३ परावराध्यायविद्यासङ्घट्टरात्रिर्विद्यानामकर्मविद्यायां मन्त्रियोगात्मकं योगशास्त्रम्	
४ अकराध्यायविद्यासङ्घट्टआर्षविद्यानामकर्मविद्यायां कर्मयोगात्मकं योगशास्त्रम्	

तदिदं ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रात्मकं गीताशास्त्रं व्यष्टिपष्ट्या

- १-रात्रविद्यायां वैराग्यबुद्धियांगशास्त्रम्—ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रम्
 २-सिद्धविद्यायां ज्ञानबुद्धियोगशास्त्रम्—ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रम्
 ३-रात्रविद्यायां देशकर्म्यबुद्धियोगशास्त्रम्—ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रम्
 ४-आर्षविद्यायां धर्मबुद्धियोगशास्त्रम्—ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रम्

तदिदं ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रात्मकं गीताशास्त्रम्—व्यष्टिदृष्ट्या

वैयानिकदृष्ट्या व्यष्टिमात्रम्—

अनि गीताशास्त्रनामानि

वैयानिकदृष्ट्या समष्टिमात्रात्मकं गीताशास्त्रस्य नामकरणम्—

ब्रह्मविद्यायां	योगशास्त्रं	वा	तदिदं—अभ्यस्यविद्यायां बुद्धियोगात्मकं गीताशास्त्रम्
आत्मविद्यायां	शरीरशास्त्रं	वा	
पुरुषविद्यायां	भक्त्योशास्त्रं	वा	
अभ्यस्यविद्यायां	बुद्धियोगशास्त्रं	वा	
सर्वविद्यायां	सर्वधर्मशास्त्रं	वा	



७-‘मग’ चतुष्टयी से अनुप्राणित मगबुद्धिया, तथा मगबुद्धि के चार-चार विवर्त—

आत्मविक्रम के लिए ‘मग’ शब्द निवृत्त है एवं आत्मसंकोच के लिए ‘कोश’ शब्द निवृत्त है। आत्मविक्रमका मग आत्मनन्द का कारण है, आत्मसंकोचका मग कोश आत्मदुःख का कारण है। मग और कोश सुख-दुःख के पर्याय नहीं हैं। अस्तित्व मग सुख का जनक है कोश दुःख का जनक है। धर्म ज्ञान-वैराग्य-देशकर्म इन चार मगों से आत्मा स्वरूप से ‘म’ भाव (विक्रमभाव) का प्राप्त हो जाता है। इससे आत्मा स्वभूमानन्द का मोक्षा बन जाता है। धर्ममार्गका अभिनिवेश आत्मनन्दका मोक्ष, रागद्वेषका आर्तक, अनैर्धर्म्यका अस्मिता, इन चार कोशों से आत्मा स्वरूप से क्लेशमग को प्राप्त हो जाता है। इससे आत्मा आत्मदुःख आत्मनन्दका दुःख का मोक्षा बन जाता है। कोशचतुष्टयी की निवृत्ति ही आत्मविक्रमोद का कारण बनती है। यही गीताशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। कोशचतुष्टयी स्वतः निवृत्त नहीं होती। अस्तित्व वैशेषिक की निवृत्ति के लिए प्रकृत का आगमन अपेक्षित है, एवमेव कोशनिवृत्ति के लिए मग प्रवृत्ति अपेक्षित है। मगचतुष्टयी की प्राप्ति का उपाय कथलाना ॥ गीता का दूसरा उद्देश्य है। वरुण शम्भो में

स्वभावात् दुःखी मनुष्य कैसे सुखी बने, गीताशास्त्र इसी प्रश्न के समाधान को मुख्य उद्देश्य बना रहा है। मनुष्य दुःखी रहता है क्लेशराजद्वयी से, सुखी बनता है भगवद्द्वयी से। चार क्लेशों से दुःख के कारण भी चार हैं चार भागों से दुःख के कारण भी चार ही हैं। भगवत्प्रवृत्ति का प्रसार ही समाधि है। समाधी मयान् में क्योंकि इन चार मयविद्याओं का विरोधस्थ किया है, अतएव प्रकाशमित्र वह विद्या का जो आधार 'मयविद्या' नाम से प्रसिद्ध हो गई है। प्रकाशमित्र विद्याचतुष्टयी हातभ्यभाव है। इस विद्या के आधार पर प्रतिष्ठित कथ व्यंग्य ही अनुष्ठेय मयायोगचतुष्टयी है, जो भगवत्प्रवृत्ति 'भगवद्भोग' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। भगविद्या किंवा भगवत्विद्या अम्भविद्या है, आत्मपरमेश्वर से वह चार भागों में विभक्त हो रही है। भगवद्भोग किंवा भगवद्भोग बुद्धियोग है। भगवद्भोग से वह भी चार ही भागों में विभक्त हो रहा है। सर्वभूतसत्त्वका भगवत्विद्या के आधार पर प्रतिष्ठित वैराग्यमयात्मक बुद्धियोगोदय से उत्पत्तिहन्त्री रणद्वेषसत्त्वका आत्मिक नामक क्लेश निवृत्त हो जाता है। पराभ्यस्तसत्त्वका भगवत्विद्या के आधार पर प्रतिष्ठित ज्ञानमयात्मक बुद्धियोगोदय से उत्पत्तिहन्त्री अज्ञानसत्त्वका मोह नामक क्लेश निवृत्त हो जाता है। परावराभ्यस्तसत्त्वका भगवत्विद्या के आधार पर प्रतिष्ठित ऐश्वर्यमयात्मक बुद्धियोगोदय से उत्पत्तिहन्त्री अनैश्वर्यसत्त्वका अस्मिता नामक क्लेश निवृत्त हो जाता है। एवं अकरोभ्यस्तसत्त्वका भगवत्विद्या के आधार पर प्रतिष्ठित कर्ममयात्मक बुद्धियोगोदय से उत्पत्तिहन्त्री अकर्मसत्त्वका अभिनिवेश नामक क्लेश निवृत्त हो जाता है। अम्भविद्यामित्र भगवत्विद्या से अनुगत बुद्धि-योगात्मक भगवद्भोग का प्रतिपादन करने का तो उद्देश्य ही गीताशास्त्र का यही निष्कर्ष है।

- १-सर्वभूतसत्त्वका भगवत्विद्या—उदुगता—वैराग्यमयोपेतो बुद्धियोग—उत्—आत्मिकक्लेशनिवृत्तिः
- २-पराभ्यस्तसत्त्वका भगवत्विद्या—उदुगता—ज्ञानमयोपेतो बुद्धियोग—उत्—मोहक्लेशनिवृत्तिः
- ३-परावराभ्यस्तसत्त्वका भगवत्विद्या—उदुगता—ऐश्वर्यमयोपेतो बुद्धियोग—उत्—अस्मिताक्लेशनिवृत्तिः
- ४-अकरोभ्यस्तसत्त्वका भगवत्विद्या—उदुगता—कर्ममयोपेतो बुद्धियोग—उत्—अभिनिवेशक्लेशनिवृत्तिः

ज्ञानमप्रतिमं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ।

ऐश्वर्यं चैव धर्म्मस्य सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥

—कामपुराणान्वर्ग—प्रक्रियापादे १४।

८-वैराग्यसुखी परित्याग का सहज स्वरूप दिग्दर्शन—

अभिनिवेशनिवर्तक कर्मबुद्धियोग आत्मनिवर्तक ऐश्वर्यबुद्धियोग एवं मोहनिवर्तक ज्ञानबुद्धियोग तीनों का पूर्व स्वरूप में क्रमिक निरूपण किया जा चुका है। प्रस्तुत छल्लम में गीताशास्त्र की हृदयकपा वैराग्यबुद्धियोगानुगता यत्किंचिदपि का ही स्वरूपनिर्लेपण अवस्थित है। छल्लममें में ही एक किंवा का चुका है कि, वैराग्यशब्द के प्रचलित कर्म स्वाग-परिग्रहस्वाग-उत्ताद-स्वाग-इन सबों का गीता के वैराग्य शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है। अष्टि स्वागतसत्त्व वैराग्य का गीताशास्त्र में कामनापरित्याग-अस्तपरित्याग-आत्मिकपरित्याग-ही धर्म है। परित्याग भी आत्मनिवर्तक नहीं, अष्टि सहकाम से। फिर का भी समर्थन कीजिए कि, 'हमने आत्मनिवर्तक छोड़ दी' वह कहने भर से ही आत्मनिवर्तक नहीं बनती। ऐसा परित्याग महत्त्व।

बानबुद्ध अन्तःप्राप्तचित्त को योग समझते हुए उससे पूछा करते हुए उसे छोड़ना तो एक प्रकार की बेप्राप्तचित्त ही है, जो रागासक्ति से भी कहीं मर्यादित है। राग-द्वेष की आत्यन्तिक निवृत्ति ही आसक्तिस्वभाव है। वह त्याग किया नहीं जा सकता अतः वैराग्यबुद्धियोगानुष्ठान से स्वतः हो जाता है। अथ बुद्धियोगनिष्पत्त्य में वह स्पष्ट किया गया है कि निष्प्रमदकम्म योग किया नहीं जाता, अतः वह प्रकृत्या स्वयं होता है। ठीक यही स्थिति आसक्ति-निवृत्ति की है। प्रकृति वैसी बन जानी चाहिये, जिस में न राग हो, न द्वेष हो। छोड़ दिया, छोड़ते हैं, छोड़ दूँगे छोड़ना चाहिये, कहना तो त्याग्य विषय के प्रति आसक्ति (बेप्राप्तचित्त) प्रकट कर रहा है। 'त्याग' का सत्य इसी लिए तो दुःख बना हुआ है। ईश्वरकृत निर्लेप बन कर रागद्वेषात्मक सर्वविध प्रपञ्चों में लोकसमूहद्वय प्रवृत्त रहते हुए भी उनमें आसक्ति न रहे, यही आसक्ति का स्वयं त्याग है। साधुसंग से ईश्वर कहीं नहीं है, सर्वत्र है। क्या वह लिप्त हो जाता है? नहीं। क्यों? इसलिए कि वह समस्तलक्षण वैराग्ययोग में समरियत है। यही ब्राह्मीस्थिति सहस्रचक्रियांग का आधार बनती है। ब्राह्मीस्थिति में प्रतिष्ठित होने के अनन्तर पञ्चमहावक्त्र इन्द्रप्रमद आत्मोद्भव स्वतः निवृत्त हो जाते हैं। कुछ न छोड़ना ही सच कुछ छोड़ना है, साथ ही सबकुछ छाक बेना ही सब कुछ ग्रहण कर लेना है, और यही त्याग तथा ग्रहण की वैज्ञानिक सीमा है। सर्वगुण ही तो निर्गुण कहलाता है, सर्वधर ही तो निराधार माना गया है। 'सद्यत् स्वकृपमात्रसे तेन तन स युज्यते' के अनुसार वह जिससे मिलता है, उससे ही प्रकीर्ण होने लगता है। यह स्वकृपता ही उलझी नीकमता है। विषय अनुभव से सम्बन्ध रहता है, रागद्वेष त्याग-ग्रहण की सीमा का अवलम्ब है। जिस प्रकार एक विषयावस्तु कामकाजी संवारी बिछाव करता है, वनछाव करता है, पुत्र कलाव का अनुगमन करता है, लौकिक काम्यों में ललित रहता है। क्या वैराग्यबुद्धियोगी इन सब प्रपञ्चों से दूर रहेगा? नहीं, वह भी संवारी की हो भाँति पूरा संवारी बना रहेगा। यही क्यों इसके वैज्ञानिक कर्म तो ऐसे युज्यस्थित होंगे किन्हें देख मुन कर संवारी भी बसित हो जायगा। क्या यही वैराग्य है? हाँ, निरन्तर गीताद्वय यही वैराग्य है, सहस्रयाग है। प्रवृत्तात्मक त्याग ही गीता का वास्तविक त्याग है। नानापापप्रमादप्रमद वर्त एव च कम्मसिद्धि करने वाले मगवान् ने अपने जीवन से भी तो त्याग का यही स्वयं हमारे सामने रक्ता है। मगवान् ने कभी गीताद्वय का पठित्याग नहीं किया, मगवान् ने कभी नारी को नरकादर नहीं बलताया कभी कभीरी बना नहीं पहना कभी बीर्य शीर्ष कुटियों में निवास कर माता नहीं बपी, संसार को लिप्ता करने वाले वैद्वान्तियों की भाँति मग को कीर्तिप्रसारण का भारेणोपरेण नहीं दिया। अतः मगवान् पापप्रकीर्ण अथमप्य-सर्वत्र यही सब कुछ करते रह, जो एक संवारी करता रहता है। पूर्वव्याप्तमनुभवत् मगवान् का लौकिक गुण या उनके पत्नी भी पुत्र थे लता थे सब कुछ था। वर्णानुगत सभी कुछ था। इन सब प्रपञ्चों में कन्वय रहते हुए भी मगवान् मगवान् थे। यही पूर्णग्रहणप्रमद पूर्णनिश्चिन्ता का वह दृष्टान्त उदाहरण है, जो स्वयं वैराग्यारोहा पर परित्त हुआ है। वेदान्ती क्या करते हैं क्या करते हैं, इसका हमसे कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारा सत्य है गीतासार। इसी के सम्बन्ध में हमें यह अन्वेषण करना है कि गीता वैराग्य के सम्बन्ध में क्या कहती है त्याग की क्या परिभाषा बताती है? एवं साथ ही वैराग्ययोगारोहा गीतापात्र स्वयं क्या करते हैं? मगवान् के जीवन से तथा मगदुपरेणमूल गीतासार से उभयथा यही प्रमाणित हमारा है कि कर्मावशित्यागपूर्वक स्वकर्मसंघर्ष ही गीता का पराग्ययाग है जिसके उन्नीकरण के लिए ही वैराग्यबुद्धियोगानुष्ठान सर्वप्रथमा प्रवृत्त हुए हैं एवं जिसकी अनुमति के लिए निम्न विहित विधायकता का

१-तपस्विभ्योऽधिक्यं योगी ज्ञानिभ्योऽपि भूतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यस्त्वाधिक्यं योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन ! ॥

२-योगिनामपि सर्वेषां मथ्यतेनान्तरात्मना ।

अदावान् भजते यो मां स मे युक्ततमा मत् ॥

—गीता ६।१६-१८॥

६-गीता के द्वारा सशोचिता योगप्रयी—

प्रथम अध्याय से आरम्भ कर ६ ठे अध्याय की समाप्ति पर्यन्त पूरे ६ अध्यायों में बुद्धियोगानुगता चर्चसिद्धि का प्रतिपादन हुआ है। ऊक्त दोनों श्लोक ६ ठे अध्याय के अन्तिम श्लोक हैं। इन्हीं पर चर्चसिद्धि का उपसंहार हुआ है। अतएव इनमें समस्तान् मे चर्चसिद्धि का निष्कर्ष रख दिया है। आत्मज्ञान योग आत्ममन्त्रियोग कर्म त्यागलक्षण ज्ञानयोग, तीनों का क्रमशः बाह्य-प्राप्त्य-मन-कलाओं से सम्बन्ध माना गया है। बाह्यप्राप्त्यार 'कर्म' कहलाया है प्रायश्चित्तप्राप्त्यार 'तप' कहलाया है, मनोप्राप्त्यार 'धर्म' कहलाया है। बाह्यमय कर्म, प्रायश्चित्त तप और मनोमय धर्म (कर्मना ह्यप्य) ये तीनों मनप्राप्त्यारकर्मन तब तक अच्छी प्रगति के सामान्य लक्षणगुणक माने गए हैं। अर्थात्—'सोऽप्यस्त स तपोऽतप्यस्त सोऽध्यात्मस्त' इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। कर्म योग समाप्तिपर बाह्य से सम्बन्ध रहता हुआ आध्यात्मिक है। मन्त्रियोग उपानयन प्रायश्चित्त से सम्बन्ध रहता हुआ मध्यम होने से उभयगुणक है। ज्ञानयोग कर्ममय मन से युक्त रहता हुआ आध्यात्मिक है। अतएव कहने का अर्थ है कि, उभयगुणक मन्त्रियोग मध्यम उपानयन प्रायश्चित्त से सम्बन्ध से 'उपानयन' भी कहला सकता है। अतएव ने इन तीनों प्राचीन योगों को लोकप्रचारित से बुद्धियोगानुगता प्रदान करते हुए गीताप्राप्त्यार में तीनों का संग्रह किया। वे ही संशोधित तीनों योग बान्धुविशेष (आत्मयोग) (मन्त्रियोग), धर्म बुद्धियोग (कर्म योग) नामों से सम्बन्धित हुए हैं।

१०—'तपस्विभ्योऽधिक्यं योगी' इत्यादि श्लोकात्मन्वय—

वैराग्यबुद्धियोगानुगता 'योगी' नाम से कामबुद्धियोगाधिकार 'ज्ञानी' नाम से वैश्वबुद्धियोगा-धिकार प्राप्तकृत तप-सम्बन्ध से 'तपस्वी' नाम से एव धर्मबुद्धियोगाधिकार 'कर्मि' नाम से सम्बन्धित हुआ है। सिद्ध किया है कि गीताप्रतिपादित चारों योगों में वैराग्ययोग भवप्राप्त्यार का अपना मत होने से अन्त्य है। एव सेच तीनों योग परमार्थ के संशोधितकरण होने से स्पष्ट है। वैश्वबुद्धियोग योगेश्वरी के अनुगता ज्ञानी-तपस्वी-कर्मि की अपेक्षा प्रथम वैराग्ययोगानुगता योगी का ही सर्वोत्कृष्ट स्वभाव सिद्ध है। प्रथम श्लोक से इसी स्वाभाविक स्थिति का स्पष्टीकरण हुआ है। अतएव ने कहा है—योगी (वैराग्यबुद्धियोगानुगता) ज्ञानी तपस्वी, कर्मि, तीनों से उच्च गुणिक में प्रसिद्ध है। अतः हे अनुज ! (इसके नेरी इति) योगी ही बनना चाहिए ।

- १-वैराग्यबुद्धियोगः—बुद्धियोग (योग) -सयोगाधिकारता-योगी (सर्वोभ्यनानुगत)
 २-ज्ञानबुद्धियोग—ज्ञानयोग (ज्ञानम्) -सयोगाधिकारता-ज्ञानी (मनोमयपरमप्राप्त्यनानुगत)
 ३-वैश्वबुद्धियोगः—मन्त्रियोग (तप) -सयोगाधिकारता-तपस्वी (प्रायश्चित्तप्राप्त्यनानुगत)
 ४-धर्मबुद्धियोगः—कर्मयोग (कर्म) -सयोगाधिकारता-कर्मि (बाह्यमयपरमप्राप्त्यनानुगत)

११-ज्ञानयोग, और कर्मयोग के सापेक्ष गौण-मुख्य-भाव—

जाती में वैराग्यमुद्रियोगात्मक 'योग' सर्वश्रेष्ठ है जारों योगियों में वैराग्यमुद्रियोगात्मक योग का अनुष्ठान योगी श्रेष्ठ है, यही प्रथम श्लोक का तात्पर्य है। इसी प्रसङ्ग में यह भी जान लेना चाहिए कि, संशोधित प्राचीनमिश्रित योगप्रणाली में तीन मुख्य हैं एवं तीन गौण हैं। ज्ञान-कर्मोपमा समन्वय से यद्यपि दोनों ही योग समस्तलक्षण मुद्रियोग से उत्पन्न होते हुए समान श्रेष्ठि में प्रतिष्ठित हैं। अतएव दोनों समानरूप से उपादेय हैं। तथापि अध्ययनविकास अनुष्ठानलोककर्म, लोकसंग्रह आदि विशेषताओं के कारण से दोनों में प्रथम-मध्यम-उत्तम भेद से भेदविभाग माना जा सकता है। पहिले प्रथम मुद्रियोगलक्षण कर्मयोग एवं ज्ञानमुद्रियोगलक्षण ज्ञानयोग, इन दोनों की गौणमुख्यता का समन्वय कीजिए। यद्यपि पराव्ययानुगत ज्ञानयोग अवरोधयानुगत कर्मयोगप्रवेष्टा अध्ययनविकास की दृष्टि से विशेष महत्त्ववाली है। अतएव केवल अध्ययनविकास कर्मयोगप्रवेष्टा ज्ञानयोग प्रधान, साथ ही भेष्य कर्मा है। तथापि अनुष्ठानलोककर्मोदि अन्य सभी दृष्टियों से ज्ञानयोग कर्मयोगप्रवेष्टा गौण ही बन रहा है। पराव्ययानुगत अध्ययनयोग ही ज्ञानयोग की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। अध्ययन के समन्वय से पराव्यय भी अध्ययनविकास में परिणत रहता है। इस अध्ययनविकास के कारण ज्ञानयोगानुगत कर्म भी अध्ययन बना रहता है। लोकसंग्रहक व्यक्त-सांसारिक-कर्मों में बढ़ने भर के लिए सहयोग रहता है। प्रधानदृष्टि अध्ययनज्ञान पर ही निर्भर रहती है। पराव्यय का समन्वय अक्षर्य है परन्तु वह अध्ययनविकास में परिणत होने से अपने स्वामयिक विकास से अभिभूत है। और इस दृष्टि से वो अध्ययनविकास भी वह ज्ञानयोग कर्म योगप्रवेष्टा गौण ही सिद्ध हो रहा है, जिस दृष्टि से पूर्व में हमने इसे मुख्य बताया था। व्यक्त समस्तगुणों मानव के लिए यह अध्ययनयोग ऊँचाव्यय बना रहता है, जैसा कि—'अध्ययना हि गर्वितुं सर्वं वैदुषुर्दुर्भिरयाच्यते' इत्यादि वचन से प्रमाणित है। ज्ञानमय अपने इसी अध्ययनविकास से व्यक्त शिवपराव्यय मानव के लिए ज्ञानयोग दुर्गमपथ है—'दुर्ग पयस्तु कथयो बध्नि'। 'अतस्तमपि सिद्धान्तं करिष्यामि वचि सक्त' कहते हुए भगवान् सिद्धियानुगत ज्ञानयोग में स्पष्ट हैं। अनुष्ठानलोककर्म का भी ज्ञानमय मान रहे हैं। अध्ययनविकासमय, अनुष्ठानलोककर्मोपमा, सर्वोपरि लोकसंग्रहमात्र, इन्हीं सब कारणों से ज्ञान योगप्रवेष्टा ज्ञानयोग अवरोधवि में प्रतिष्ठित हो रहा है। ऊपर कर्मयोग व्यक्त-अवरोधव्यय-के विकाससमन्वय से अनुष्ठानलोककर्म से एवं सर्वोपरि लोकसंग्रहमात्र से ज्ञानयोगप्रवेष्टा प्रधान बन रहा है। ज्ञानमयित ज्ञानयोग कर्मत्वानुगत कल्याणपथ है ज्ञानमयित कर्म योग कर्म परिग्रहानुगत संसारपथ है। कल्याणपथ में वैयक्तिक सम्मुख का अध्ययन है संसारपथ में वैयक्तिक सम्मुख के साथ साथ समग्रसारण का सम्मुख भी सुचित है। अतममुक्तिमार्ग नि भेदतमय दोनों पथों में समानरूप से प्रतिष्ठित है। एक के भी अनुष्ठान में दोनों सिद्ध हो जाते हैं। परन्तु लोकसंग्रहवि पूर्वोक्त विशेषताओं की दृष्टि से सर्वोपवेष्टा (ज्ञानयोगप्रवेष्टा) योगप्रवेष्टा (कर्म योगप्रवेष्टा) ही प्रधान एवं भेष्यकर्म है, जैसा कि निम्न विवरण भगवद्भक्त ने प्रमाणित है—

१-मांस्य-योगो गृध्नाला प्रवदन्ति, न परिहृता ।

एकमप्याभिन सस्यह-उभयोविदन्ते फलम् ॥

२-यत् सांख्ये प्राप्यते स्थान, तद्यौगैरपि गम्यते ।

एष्टं सांख्यं च योगं च यः पश्यति, स पश्यति ॥

३-संन्यासस्तु महानाहो ! इदं समाप्तमयोगत ।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नन्विरेवाधिगच्छति ॥

४-सत्यास कर्मयोगस्तु निभेयसकराणुमौ ।

तयोऽस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥

१२-कर्मयोग, और भक्तियोग के सापेक्ष गौण-मुख्य-भाव—

अथ ऐरवर्ष्यशुद्धियोगश्च मन्त्रियोगः च सम्भवति विधिः । ज्ञानयोगे न कर्म गर्भो मूलः, कर्मयोगे न ज्ञान गर्भो मूलः । किन्तु मन्त्रियोगे न ज्ञान-कर्म-वैराग्यशुद्धियोगश्च समुत्पत्तिः । अतएव ज्ञान-कर्मयोगा-पेक्षा मन्त्रियोगे समस्तकक्षयं बुद्धियोगके अधिक लक्षिकं माना जायते । परम्पर्यानुगत ज्ञानयोगे अथवा परम्परा-नुगत कर्मयोगे दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित परावर्त्यमानुसृत-महान्त-माधुर्य प्रतिष्ठित मन्त्रियोगे वास्तव में मध्यस्थ द्वैतभाव के सम्बन्ध से ज्ञान-कर्मोपक्रमोपापेक्षया इन्मूला समस्तकर्मवृत्ति से विशेषरूप से युक्त माना जायता । आध्यात्मिक परम्पर्यासम्पत्ति से इसे ज्ञानयोग माना जायता । आध्यात्मिक अथवा परम्पर्यासम्पत्ति से इसे कर्मयोग कहा जायता । अतएव इस मध्यस्थ मन्त्रियोग के सम्बन्ध में-‘एकमप्यारिषतः सम्पद्-उभयार्थिनिवृत्ते पञ्चमं स्वार्थना चरितार्थं मन्ना जायते । विराड्विभूतिस्त्वज्ञानात्कारोपस्थितः । इह मन्त्रियोगानुसृत कर्म में कर्मयोगात् अन्तर्बन्धित, अनुज्ञानलोककर्म लोकसंघाति विशेषणार्थे तो हैं ही, इसके अतिरिक्त इन्में अन्वयानुसृतकर्ममूलक वह प्रत्यक्षगुण भी विकसित रहता है जिससे ज्ञान, तथा कर्मयोग में अभाव है । इसके अतिरिक्त जैसे शास्त्रीय ज्ञानयोग (संन्यास), तथा शास्त्रीय कर्मयोग (यज्ञिककर्म) का अन्विष्टर केवल लक्षगुणानुसृत उचमयेनिर्वा (विराट्बन्धन) का ही है । जैसे मन्त्रियोग में कोई अन्वयता नहीं है । आत्मसम्पत्तकक्षया भक्ति का लक्ष को उमानाविष्टर है । पापवेनिर्वा भी इसके मुक्त हो जाती है + । समस्तकक्षय बुद्धियोग (वैराग्यशुद्धियोग) के लक्षिक रहने वाला समस्तकक्षय मन्त्रियोगे ज्ञानकर्मयोगादेष्वयं बुद्धियोग से ही

*—भक्त्या त्वनन्यथा शक्य अहमवबिधोऽह्नुनि ! ।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तच्चेन प्रवेष्टुं च परन्तप ! ॥

—भी०११।३५

+—मां हि पार्थ ! व्यपाभित्य वऽपि स्युः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैस्यास्तथा शूद्रा वैऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

—ਸ੍ਰੀ ਧਰਮ

पुष्ट हो जाता है = । इन्हीं सब कार्यों से हम मनितयोग को कर्मयोगपेक्षा प्रदान, एवं भेष्यपन्था मानने के लिए समर्थ हैं । इष्टप्रकार सर्वभ्येष्ट-सर्वभेष्ट-सर्वाम्ययानुगत वैराग्यमुद्रियोगात्मक मुद्रियोग से वृत्त स्थान परावराग्ययानुगत पूर्ववर्त्यमुद्रियोगात्मक मनितयोग का, तीसरा स्थान आचाराग्ययानुगत कर्ममुद्रियोगात्मक कर्मयोग का, एवं चौथा स्थान परावराग्ययानुगत ज्ञानमुद्रियोगात्मक ज्ञानयोग का सिद्ध हो जाता है । इसी से यह भी निष्कर्ष निकल आता है कि, ज्ञानी की अपेक्षा कर्मी भेष्ट है तदपेक्षया उपरवी (भक्त) भेष्ट है, एवं तदपेक्षया योगी भेष्ट है । ज्ञानयोग प्रथम स्थान है कर्मयोग मध्यम स्थान है मनितयोग उत्तम स्थान है एवं मुद्रियोग स्थानातीत है । परन्तु ध्यान रहे, यह गौण-मुख्यमात्र संशोधिता योग्यता से ही सम्भव रहता है । प्राचीनाभिमत कर्मकर्मयोग काश्च-साम्प्रदायिक मनितयोग, एवं कर्मस्वाभ्यस्तक्षण ज्ञानयोग दो मीमांसे से सर्वथा वहिष्कृत ही हैं । इसी वहिष्कोष को सत्य बना कर गीतानुगता योगवृत्तियों के भेद-विभागों का समन्वय करना चाहिए ।

- १-सर्वाम्ययानुगतो मुद्रियोग (वैराग्यमुद्रियोग)-सर्वभ्येष्ट-भेष्ट
- २-परावराग्ययानुगतो भक्तियोग (पेश्वम्यमुद्रियोग)-उत्तम
- ३-आचाराग्ययानुगत कर्मयोग (कर्ममुद्रियोग)-मध्यम
- ४-परावराग्ययानुगतो ज्ञानयोग (ज्ञानमुद्रियोग)-प्रथम



१३-भूमोदक, क्षीणोदक, एवं तदनुगत मन्मना-उन्मनाभाव—

‘सपत्तिभ्योऽपि च योगी ज्ञानिभ्योऽपि मत्तो भिक्क इत्यादि श्लोक से भगवान् ने यह सिद्ध किया कि, योगी (वैराग्यमुद्रियोगी) का स्थान सर्वोच्च है । इसने आगे ही-‘योगिनामपि सर्वेषाम्’ यह श्लाोक पठित है । भगवान् कहते हैं-‘सम्पूर्ण योगियों में मैं तो योगी मर्यादा अन्तर्गता से अद्यावृत्त मुझे मजता है वह योगी मेरी दृष्टि में मुक्ततम है’ । इस कथन से यही अति निकल रही है कि, एवं वैराग्यमुद्रियोग में भी भेदविभाग प्रसिद्धि है । वृत्ते शब्दों में वैराग्यमुद्रियोग भी दो भागों में विभक्त है । प्रथम स्वाभाविक बन जाता है कि उन दोनों वैराग्यमुद्रियोगों में क्या अन्तर है ? प्रथम-समाधान के लिए वैराग्यविद्याया अध्यय के ‘मन्मना, उन्मना’ नाम के दो विषयों को ही लक्ष्य जानना पड़ेगा । भूमोदक क्षीणोदक नामक दो पारिभाषिक शब्द क्रमशः उन्मना मन्मना-भावों का स्वीकरण कर रहे हैं । वही अध्ययना प्रकृति के द्वारा प्रियकर बना है, वह भूमोदक है, विलम्ब-‘सत्माद्या प्लुत्समात्मानम आकरोतः सम्भूतः’ इत्यादि वैतरीय-ग्रन्थ से स्वीकरण हुआ है । वही यह तब कुछ बना है इतना तत्पर्य है-वही सब कुछ है । तब में वही है

= -तपां सक्तयुक्तानां मज्जतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि मुद्रियोगं तं यन मायुपयान्ति तं ॥

क वही है। यही मूमाद्वि है एवं इस द्वि का अनुपपत्ति योगी परिणाम में भूमाग्रह को ही प्राप्त करता है। इसी भूमापरिणाम के लिए 'भूमोदक' (उदक-परिणाम) शब्द व्यवहृत हुआ है। भूमाग्राह योगी का सम्बन्धना है। अस्तन्नाम से 'ममना' कहा जाता है। वह सम्बन्धना प्रकृति के द्वारा सब कुछ उत्पन्न कर सब से भगवत् है इसका यही धीमाद्वि है, जिसका 'भूतेषु-भूतेषु निषिष्य पीरा' मेल्यात्मनोऽप्यमृता ममन्ति' इत्यादि श्रुति से स्वीकारण हुआ है। यही लक्ष्य आशङ्कन है "कथं व्यस्यन् यही है कि उनके आचार पर सब कुछ प्रतिष्ठित कायक है, परन्तु वह स्वयं इन सब से वृथक् है। यही धीमाद्वि है एवं "व द्वि का अनुपपत्ति योगी परिणाम में भीमाग्रह को ही प्राप्त करता है। इसी भीमापरिणाम के लिए 'भीमोदक' शब्द व्यवहृत हुआ है। भीमाग्राह योगी का सम्बन्धना ही अस्तन्नाम से 'उन्मना' कहा जाता है।

१४-ममना अव्यय, और उन्मना अव्यय—

इसी द्वि से उन्मना कीर्तिर । पापाय-लोभ-क्रोध-द्वेष-इह कुल्य वही है, इस व्यापक मन्त्रना से सब-सब में-सबको सम्बन्धना उन्मना 'ममनाग्रह' है। 'ज कुल्य यद्यपि उन्मने है परन्तु वह किसी में नहीं है—(न तद्वत् तदु, वे मयि) इस मन्त्रना से उन्मना सब से वृथक् उन्मना उन्मनाग्रह है। सम्बन्धना शोभनीयमन्त्रना नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्बन्धना की लक्षणा द्वि से यह सम्बन्धना 'ममना' बन जाता है। एवं सम्बन्धना की लक्षणा द्वि से यही सम्बन्धना 'उन्मना' बन जाता है। लक्षणा प्रत्यक्षविधिसे शिष्ट सम्बन्धना उन्मना है लक्षणाप्रत्यक्षविधिसे सम्बन्धना मन्त्रना है। ममना सम्बन्धना 'लक्षणा केवल' है उन्मना सम्बन्धना 'शिष्टाग्रह' ईश्वर' है। लक्षणाग्रह, ईश्वराग्रह, मेद से एक ही सम्बन्धना के दो विभिन्न विधों से होते हैं। लक्षणाग्रहानुगत वैराग्यश्रुतिसे ममनाग्रह है यही भूमोदकका परमस्ति का कारण करता है जो भूमोदकश्रुति 'अममना' नाम से व्यवहृत हुई है एवं जो इसी भीमा में प्राप्त हो जाती है जिसे यीश ने 'विदेहश्रुति' कहा है। इसका सम्बन्धना वैराग्यश्रुतिसे उन्मनाग्रह है, यही भीमाद्वि का कारण करता है जो भीमाद्विश्रुति 'ईश्वर' नाम से व्यवहृत हुई है जो ममनाग्रह मानी गई है, एवं जिसके लिए—'अनकल्पसहितसतो याति परं पतिम्' लिखित स्वप्ति हुआ है। यीश में सम्बन्धना के इन दोनों विधों का सब लक्ष्य स्वीकारण हुआ है ईश्वर निम्न लिखित कतिपय वचनों में स्पष्ट है।

१-मत्तः परतर नाथम् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।

मयि सर्वमिदं प्रातं मृष मयिगम्या इव ॥७॥

२-मया ठठमिदं सध जगत्स्यकभूतिना

मत्स्यनि सधभूतानि

॥ गीता ६.११ ॥

—ममनाग्रहः

३-न बाह्यं तेष्वपरिचितं

—गीता ६।४।

४-न च मत्त्वानि भूतानि परं मे योगमैश्वरम्

—गीता ६।५।

उत्पन्नात्मकः

५-भूतसूतं

गीता ६।३।

उत्पन्नात्मकः

६-न च भूतस्य

—गीता ६।४।

उत्पन्नात्मकः

७-ममत्मा भूतमात्मनः

—गीता ६।३।

उत्पन्नात्मकः

८-न विमर्शां प्रभुं साक्षीं निवासः शरीरं सुखम् ।

प्रभवा प्रलयस्थानं निधानं बीजमकम्बुम् ॥

—गीता ६।१७।

उत्पन्नात्मकः

९-अप्रपञ्चमन्ता च मर्चा भोक्तृ महेश्वरः ।

परमहमेति आप्नुयाद्ब्रह्मेऽस्मिन् पुरुषः परम् ॥

१०-यदा भूतपृथग्भावा मेकस्थमनुपरयति ।

तदा दध च विस्तारं ब्रह्म सम्यचते तथा ॥

—गीता १३।३०।

उत्पन्नात्मकः

११-सत्यान्वेष्यानि भूतानि च न सन्निहं सतम् ॥

—गीता ८।२३

—मन्मनाभ्यस्यः

१२-बहूनां सम्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ॥

—गीता ८।२४

—उन्मनाभ्यस्यः

१३-बाहूद्वयं सन्निहितं स नक्षत्रा मुदुर्लभम् ॥

—गीता ८।२५

—मन्मनाभ्यस्यः

१४-सर्वभूतहितं यो मां भक्त्यैकचित्तमास्थितः ।

सर्वथा बतमानोऽपि स योगी मयि वर्धते ॥

—गीता ९।११

—उन्मनाभ्यस्यः

१५-आत्मोपमन सर्वत्र समं पश्यति योऽमुनः ।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

—गीता ९।१२

—मन्मनाभ्यस्यः



१५-उन्मनायोगी, और उसका बाह्य वातावरण—

उन्मनाभ्यस्य एक मन्मनाभ्यस्य, दोनों के लक्ष्य दोन के लिए होने दो देखिये जो उदाहरण जाना पड़ता है। किसी नागप्राणी नगर में कल्पना कर लक्षित हो बुद्धियोगी नियम करते हैं। दोनों ही लोकोत्तराद्वय जन्मों में पूरा लक्ष्य प्राप्त कर रहे हैं। दोनों ही शास्त्रविद्वत् कर्माभ्यामुपलब्ध ब्रह्मजन्मों का लक्ष्य-ब्रह्मलोकनिर्वाणार्थक अनुगमन कर रहे हैं और वही एक दोनों कर्मन भगवत् पर प्रतिक्रिया है। वस्तु इतने के लक्ष्य वातावरणों में जीवनचर्याओं में इन विमर्श पाते हैं। एक बगी रूख संसार में

ही है, वह पड़स्यी भी है, यन्त्रवाक्य पारिवारिक स्थितियों का सुस्पष्टस्थित रूप से चला भी रहा है, लोकवाक्यों में भी माग होता है। परन्तु देखते हैं—उसका बाह्य वातावरण गम्भीर बना हुआ है। उदासीनता से ही वह सम्पूर्ण अनुगमन कर रहा है। सामान्य वैराग्यपूर्ण स्वभावण मोहन, अतिशय मौनमग्नत्व, और इन उदासीनताओं को धारण कर सांसारिक क्रम कलाओं में प्रवृत्ति, यही इस योगी का बाह्य वातावरण है। अनुमान लगाने वाले जान लेते हैं कि यह योगी कदा सन कुछ है सहयोग सन में प्रधान करता है, परन्तु कदाचित् इन सन प्रपञ्चों में इसका मोह नहीं है। ऐसा योगी कदापि स्वयं उसके सम्पर्क में बयातमय आता रहता है, परन्तु स्वभावधारण अपनी ओर से इस योगी के बाह्य—उदासीन वातावरण से सम्पर्क रखने में प्रवृत्त है। बिना प्रकार एक व्यक्ति अपने मित्र से निर्मय बन कर परामर्श करने में समर्थ होता है, वैसे इस योगी के सम्पर्क में जनसाधारण के पहुँचने का साहस नहीं होता। 'क्या कहेंगे, क्या समझेंगे' इन मय से पूर्वनिव योगी लोकसंवादक बना हुआ भी जनसाधारण के लिए एक बटिल समस्या बना रहता है। ऐसा योगी ही 'उदासीनवदासीन उन्मनायोगी कदाचारण। उन्मनात्मकसाक्षण किशुदात्मकधरमा को लक्ष्य बनाने से ही वैसे योगी का बाह्य वातावरण ऐसा रूप बना रहता है।

१६—उन्मनायोगी, और उसका बाह्य वातावरण—

अब दूसरे योगी के सम्पर्क में आइए। वह भी संजयी है, पड़स्यी है, सम्पूर्णवाक्य अनुसर, विर वाहन, आदि आदि सम्पूर्ण लोकवैभव उसके पाठ विद्यमान हैं। वह कुन्दर से कुन्दर वैराग्यपूर्ण धारण करता है, सर्वोत्तम धुस्पातु मोहन करता है, सबसे प्रसन्नतापूर्णक मित्रता वृत्तता है, मित्रगोष्ठियों में सेताह माग होता है मनोविनोदमिषा क्लेशाओं का अनुगामी बना रहता है, कभी से ईच्छा लेता है। वास्तव्य, इसका बाह्य वातावरण सर्वथा संसारगुप्त बना रहता है। सर्वसाधारण समझते हैं—वह हमारे ही वैद्य व्यक्ति है। उदासीनयोगी का सम्पूर्ण वातावरण जनसाधारण को उसके आत्मस्वरूप से अपरिचित रहता है। आप उसे पहिचान नहीं सकते। उसका बाह्य वातावरण उसके वास्तविक स्वस्व को ठेके रहता है। किन्तु आप इसे अपने समान ही एक संजयी व्यक्ति समझते हैं अपने से भी अधिक प्रपञ्ची। आपकी इस समझ से उसकी कोई हानि नहीं होती, आपका लाभ अभय हो जाता है। आप उसके मय नहीं करते, वह आपके लिए महर्ष (मैहमा) नहीं फूटा। उसके सम्पर्क से आप में कर्मधोरता समाधि हो जाता है। वह आप में बुद्धिमेव उत्पन्न नहीं करता आपकी, आपके कर्म को हीन नहीं करता। प्रत्येक कर्म्य के लिए 'बहुत कच्चा' करता हुआ वह आप में पुन मिल जाता है। और इतकपर वह आपके निकटतम सम्पर्क में आकर कम कमरा: आपका उन्मोहन कर देता है। उसे कोई नहीं जानता वह आपको जानता है। वह आप वष में है आप सब उसमें नहीं है 'न स्पर्शतेषु ते मयि'। आप सभी वैद्य प्रतीत होने वाला वह कम क्या कोशपरधर कर देता है। वह आपको वह विरहित होता है अधिक फल आपके सम्पूर्ण आता है। सर्वथा अज्ञातरा में रहने वाला सामान्य संजयी प्रतीत होने वाला ऐसा योगी ही 'मग्नता' कहा जाता है। सर्वस्वरगुप्त विराग्यविराग। इसकी प्रतीक्षा बना रहता है। मग्नतामयकलावृत्त सर्वोत्तम को लक्ष्य बनाने से ही पूर्वनिव योगी का बाह्य—एकवर्ण्य ऐश्वर्य सिंग बना रहता है। आप यह जान नहीं सकते कि, वह अमुक क्षम किन दक्षि से कर रहा है। वह यह उन्म भेषि के व्यक्तिता के सम्पर्क में आता है तो इसमें भी लोकसंवाद विरहित है। यदि निम्न भेषि के व्यक्तिता के सम्पर्क में आप उसे देखते हैं तो विरवात कीलिए, इसमें भी लोक का अनुसरण ही विरहित है। अचानक। यही आप से इस सम्पर्क में भूल न हो जाय। इससे आप उसके अनुसर से बटिल

एक जायेंगे। महामातरक्षुष में पवित्र भारतभूमि को सौम्याम्ब से देखा ही बौली मिता। मानवसमाज की क्रीन की, प्रजाति देव भी व्यामोह में पड़ गए। किसी ने उसे अपना लाडला पुत्र सम्भ्र, किसी ने अपना सखा माना तो दुष्टदुष्टि दुष्ट्योन्नाशि क क्षिप वह एक सामान्य मनुष्य ही बना रहा। उस युग में परि वर्ण्यना किसी ने सम्भ्र तो वे वे एकमात्र कुकुलपितृमह महामा भीष्य। स्वर्ग भीष्य के शस्त्री में हो उस बोली का स्वरूपपरिचय प्राप्त करना चाहिए—“अहं ह्य न वेदि” इत्यादि महामातरक्षुष से।

१७-‘योगिनामपि सर्वेषां प्रथमं’ इत्यादि श्लोकानुमन्य-

हैं या प्रकृत विषय का सम्बन्ध कीजिए । उम्मना योगी भी वैराग्यबुद्धियोगानुग्राह्य योगी है, एवं म-मना योगी भी वैराग्यबुद्धियोगानुग्राह्य योगी है । एक (उम्मना) मानस मन्त्रानुग्राह्य प्रसारण से बधित रहता हुआ योग मार्ग में प्रवृत्त हुआ है । दूसरा (मम्मना)—मन्त्रानुग्राह्याभ्यास कृता हुआ वह में गुल मिल रहा है । उम्मनायोगी का वैराग्ययोग एक प्रकार से सम्पूर्ण ज्ञानविज्ञान से सम्पुष्ट है । मम्मना-योगी का वैराग्ययोग अपने अभ्यस्तबन्ध से सम्पन्नता विकसित है । अतएव इन दोनों योगों में मम्मनायोग ही श्रेष्ठतम माना जायगा । एवं दोनों योगियों में मम्मनायोगी का स्थान ही सर्वोच्च माना जायगा । 'योगिनामपि सर्वेषाम्' इत्यादि द्वितीय श्लोक से इसी योगी का विशेषण हुआ है । श्रीयोगेश्वरमन्त्रानुग्राह्य उम्मनामात्रमन्त्र-ईश्वरव्याख्यानानुग्राह्य-वैराग्ययोगी केवल 'योगी' कहाएगा (१११), एवं श्रीयोगेश्वरमन्त्रानुग्राह्य मम्मनामात्रमन्त्र-ईश्वरव्याख्यानानुग्राह्य वैराग्ययोगी 'परमयोगी' कहाएगा (११२) 'तपस्विभ्योऽपि को योगी' इत्यादि पूर्व श्लोक में उम्मना वैराग्ययोगी का प्रतिपादन हुआ है । एवं—'योगिनामपि सर्वेषाम्' इत्यादि उत्तर श्लोक में मम्मना योगी के प्रतिपादन का विशेषण हुआ है । इस दृष्टि से—'मम्मना भव' आदि श्लोक श्रीयोगेश्वरमन्त्रानुग्राह्य श्रीयोगेश्वरव्याख्यानानुग्राह्य वैराग्यबुद्धियोग ही नीला का मुख्य अङ्गान्त बन रहा है । विशेष स्वकारपरिचय के लिए अनुपविष्टनी आदिस्वित्पद का स्वकारपरिचय ही अपेक्षित है ।

१८-सुखमृत्ता आत्मदोषपरम्परा-

आत्मधर्मापूर्वक सर्वकामकर्म ही गीता का वैयम्बुद्विधाम है। इस सम्बन्ध में वैयम्बुद्विधोपपन्न लभना-सम्पन्ना-विपत्तौ की प्रावृत्तिक सीमाओं की गई। अथ युक्त विपरीतमूढ वैयम्ब-और आत्प्रति नामक प्रतिद्वन्द्वित्वों के वैधानिश्चय की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। दुःखानिष्टि का कारण है अशान्तिविष्टि। कर्मिक माह-अभिमत आशक्ति-अभिनिवेश इन चार क्लेशों से ही दुःख का आगमन होता है। अशान्तिविष्टिपूर्वक दुःख की निष्टि करने वाले बुद्धियोग्यमक गीष्वास्तन न दुःख का निरोधक बल्कि दुःख आत्मविषयी आचरणों का हमारे सम्मुख रहना है जो आकषण क्लेशक मायों में विमलत मायें गए हैं। प्राहृजिक, क्लेशक आत्मदुःख, आदि विविध भेदनिष्ठ आचरण ही क्लेश हैं। क्लेश ही आत्मविषयकामुपपन्न आनन्दरूपी वा अभिभार कर्तुं दुःख आत्मदुःख के कारण बनते हैं। भगवत्प्रक आनन्दरूपिण का भी यदि 'आत्मदुःख' कहा न लक्य है तो अतोपपन्नक आचरणों का 'आत्मदुःख' कहा न लक्य है। विचार कीजिए, आनन्दरूपि भूतान्द किन किन बातों से बुद्ध हो कर भयलभ पर आनन्दीय होता है ?

वादि, वायु, अग्नौ, तीर्त्तरी त्रिभङ्ग कमलानदीय स्थित तस्मात्पुत्रमुक्त प्रारम्भ इत्यं (तस्मात्) ते कल्प्य
रहते ।। आद्यम एवमेव वैश्य, शूद्रा ये चार वर्गास्तृतीय एवं अनन्तर, जन्मसाधारण्ये, रास, भक्ष्य, वे पाद

अर्थात् वासिष्ठां वासिष्ठप्रियं मे अन्तर्भूत है। अन्तर्भूत ही उचित शुभा-शुभ संस्कार के प्रारम्भ संस्कारानुसार ही इन बातों वासिष्ठां मे से किसी एक वासिष्ठ (वर्णाश्रम) में प्राणी को जन्म लेना पड़ता है। सर्वव्यापक परमात्मा का अन्तर्भूत, अन्तर्गत तन्मित्र योगप्रामाण्यविशेष बीजात्मा का वास्तविक कर्मकृतात् वासिष्ठत्वन में आकर सीमित हो जाना अजन्मरूपक आत्मा का अजन्मरूपक पन जाना ही दत्त आत्मा का सर्वप्रधान वासिष्ठा-नामक (वसिष्ठसंस्कारक्या वासिष्ठा नामक) प्रथम आत्मदोष है। बिना प्रारम्भ कर्मों की अस्मर्य प्रेरणा से बीजात्मा बिना मोनि में जन्म लेता है, वे प्रारम्भकर्म ही स्वभावानुसार तथोद्दिष्ट स्व बीजात्मा के अनुकूल प्रतिकूल योगसंहर के कारण बनते हुए अनुकूल संस्कारानुगत अनुकूल वेदानात्मक सुख प्रतिकूल संस्कारानुगत प्रतिकूल वेदानात्मक दुःख इस सुख-दुःखद्वन्द्व के कारण बने रहते हैं। कभी सुख कभी दुःख कभी आशा, कभी हाहा, कभी अन्ध, कभी डरा, इस द्वन्द्वप्रलय से आत्मा की स्वाभाविक शान्ति अभिभूत रहती है। आत्मा कभी हर्षविरहे से सुख बना रहता है कभी दुःखविरहे से अश्रुत बना रहता है। वास्तविक, योगानुगत प्रारम्भ कर्मों की अस्मर्य प्रेरणा से इच्छा न रहते हुए भी बीजात्मा को-‘अनिच्छन्मपि वाच्येयं। बलप्रविष्ट निबोधित’ के अनुसार जन्म पन पन इन चोमबन्ध इन्द्रियों की अनुग्रही बना रहना पड़ता है और यही दुःख आत्मगत है। धन के लोभ्य शुक, और जननी के आनेप शोचिष्ठ, दोनों के मिथुनभाव में प्रविष्ट हो कर गर्भीभूत होने वाला औपचारिक बीजात्मा वासिष्ठ दुःखप्रद गर्भराज्य में नकमात्र पर्यन्त प्रसिद्ध रहता है। फलते है, यदि बीजात्मा में प्रसूरी को उस वृत्त का स्मरण भी हो वाच, तो इस समय से इसके प्राय ही उत्पन्न हो जाय। ‘मा वै हि राम। जननीछठरे निवासम्’ प्रसिद्ध ही है। गर्भराज्य के द्वारा निबन्धित होना हीका आत्मगत है।

कर्मवादि कीटपुच्छों से सम्बन्ध रखने वाले दुःखप्रमाणगत शुकदोष भिन्नेषु अस्मात् है शोचिष्ठ-दोष मत्तरेण अस्मात् है। प्राय-प्राय के शुक-शोचिष्ठ के प्रकर्षभाग से कृष्णरीति बीजात्मा शुक-शोचिष्ठ-बन्धित वाचमिक दोनों से भी अपने आपको नहीं बचा सकता। अगोचरीय महत्त्वा का भूगोलीय पार्थिव रत्ना में रहने वाला स्वाभाविक बीज ही ज्योति शास्त्र में ‘जन्म’ कहलाता है। इस जन्म से सम्बन्ध आक्रमण पञ्चक ही विज्ञानप्रदा में ‘अवपविशोन्मी’ कहलाता है। अवपविशोन्मी के केन्द्र का ही नाम ‘जन्म’ है। इस जन्मप्रकाश केन्द्र से सम्बन्ध आक्रमण में विषय आनुद, जैसे भी प्रद-नक्षत्रों का उत्पन्न में (गर्भाधान-काल में) बीज भी योग रहता है। वृत्त समय में गर्भाधान में प्रविष्ट होने वाले बीजात्मा में वृत्त समयानुसार बहाराओं का भी सम्बन्ध होता है। यही प्राकृतिक दोष माना गया है। इसी को ‘अलदोष’ कहा गया है। नाशितोष का भी इसी में अन्तर्भाव माना गया है। बिना पार्थिव प्राय से प्रसूरी का शरीर पुष्ट-परिबर्धित होता है वह पार्थिव तन्म भी अपने गुण-दोषों से इसका आचार करता है यही ‘शरीर’ कहलाता है। जन्म ही तदर्थीय मानवसमाज की वृत्त मान परिधिपथ से सम्बन्ध रखने वाले गुण दोष भी इसके अतिथि से किता मही रहते, किन्तु वेददोष में ही अन्तर्भाव माना जायगा। पार्थिव परिधिपथ के अनुक्रम प्राप्त होने वाला मनुज अन्न से गर्भराज्य में शरीर प्राणी इस अवदोष से भी मुक्त बना रहता है। शिष्टानुगत गुण-दोष भी इसके आचरक बने रहते हैं। इसप्रकार प्रारम्भकर्मबन्धित वाचमदोष (सीमादोष), आवाणदोष (वाशिष्ठदोष) इन्द्रानुभूतिदोष, मन्दोष, भिन्नेषु महोष, वेददोष, अवदोष, शिष्टदोष आदि आदि अनेक दोषप्रियदा मे मुक्त हो कर ही कर्ममोक्ष (वास्तविक कर्ममोक्ष) प्राणी परलोक पर अचरित होय है।

प्राक्प्रवर्तमानित दोहों के कुछ तो इसे अनिवार्यरूप से भोगने ही पड़ते हैं। इनके अतिरिक्त इत बलवान् कर्म में वह अपने इन्द्रियशोभात्मक प्रज्ञापरममूलक हीन-व्यति-मिथ्या-भोगसमय अदोहों से अन्यन्त आकर्यों का भी प्रवर्तक बन जाता है। पूर्ण परम्परा का अपमान होने नहीं पाया उस परम्परा उपर्युक्त ही जाती है। इसप्रकार अस्मन्माहिर्गमित सवित्र संस्कारयोग तथा क्रियमाणसंस्कारयोग इन उभयविध दोहों से बीजात्मा के लाक्ष्मीभूत प्रत्ययमात्मा की स्वाभाविक भगवत्पति आहूत हो जाती है। आत्मविभक्ततापला मगसम्पत्ति ही विदासम्पत्ति है। एवं आत्मसंकोचनक्षया क्लेशसम्पत्ति ही अविदासम्पत्ति है। विदासम्पत्ति वही आत्मराशति का मूल है वही अविदासम्पत्ति आत्मकान्ति का मूल है। और इसप्रकार स्वयं कृतिन-दासत्वक अविदासयोग से मानव बुद्ध्यात्मक बना रहता है जिस बुद्ध्यानुमूति का मूल आधार रागाद्वैराग्यिभ्य आनन्ति हो मानी गई है जिस राग द्वेष का निम्न विहित निर्बन्धन निम्न वा लक्ष्य है।

१६-आसञ्जन, और आसक्ति-

मुप्रसिद्ध 'आसञ्जन' तथा ही 'आसक्ति' है। आत्मा का प्रज्ञान मन के द्वारा विषय के साथ वह हो जाता ही आसक्ति है। आसक्ति एक प्रकार का स्नेहनबन्ध (गीष्, ल्याई,) है। अतएव आत्मा को स्नेह विषयों के साथ विषय देने वाला स्नेहलक्षितोप ही आसक्ति है। आत्मा का मनो द्वारा विषय में वह हो जाता आसञ्जन में 'मन का लगना' कहलाता है। विषय में मन का लगा रहना ही आसक्ति है। विषय के साथ होने वाला वह आत्मयोग (मन का लगाव) अनुकूलयोग प्रतिकूलयोग, मैद से हो ममी में विपक्ष माना गया है। एक व्यक्ति पूर्ण से पश्चिम की ओर जा रहा है दूसरा व्यक्ति पश्चिम से पूर्व की ओर जा रहा है। दोनों व्यक्तिों का सम्बन्धक-सम्बन्ध हो रहा है। इस सम्बन्धक सम्बन्ध से दोनों के मुक्तानिमूलक आत्म्ये निरुप पत्त्यर एक दूसरे में संलग्न हो जाते हैं। उन्हीं निरुप इन्हीं इन्हीं निरुप उन्हीं प्रवृत्ति जाती है। उन्में सम्बन्धक वह किन्तु संलग्न ही आसक्ति है, मन का लगन है। कैसी आसक्ति !, कैसा लगन ! सम्बन्धक सम्बन्धकानुगता अनुकूला आसक्ति, अनुकूल लगन ।

२० राग का तात्त्विक निर्बन्धन-

दोनों के शरीर एकदूसरे हैं। शरीर नहीं मिल रहे, वही सम्बन्ध हो रहा है। दोनों समान लक्ष्य-नुगामी को हुए हैं। इसी अनुकूलतावित्त को, अनुकूल लगन को वैज्ञानिकों ने—'राग' नाम से व्यक्त किया है। 'राग' शब्द में 'रा' 'ग' 'ध' के दो (रा-ग) अक्षर हैं। 'रा' का अर्थ है 'राग' (राना), 'ग' का अर्थ है—'गति' (जाना)। 'रा' शब्द दानार्थक है ('रा' दाने)। 'ग' शब्द गत्यर्थक है। राग, और गति, दोनों भावों के सम्बन्धक का ही नाम 'राग' है। राग-वृत्त-गान्धर्व इति रागा' राग शब्द का वही तात्त्विक निर्बन्धन है। अपनी सम्पत्ति देते हुए सम्पूनावस्थित विषय की ओर जाना, महाव होना ही 'राग' का तात्त्विक है। यह अपनी विषय उन्में देता हुआ उन्में अनुगामी बन रहा है। यह अपनी विषय उन्में देता हुआ उन्में अनुगामी बना हुआ है। सिद्ध है कि, राग छटा दो वस्तुओं के सम्बन्धक को आधार बना कर ही प्रवृत्त होता है। राग विहित बन कर ही स्वस्वत्व से विच्छिन्न होता है। 'रागान् रागा-रव्यतेऽनेनेति राग' निर्बन्धन भी प्रसिद्ध है। अनुकूलविषयक अनुकूलविषयक, एवं अनुकूलरार वर्यदा दोनों ही अनुकूला आसक्तिवर्ती राग में आसक्ति है।

२१-द्वेष का तात्त्विक निर्वचन—

राग से ठीक विपरीत 'द्वेष' भाव है। एक व्यक्ति पूर्व से पश्चिम उल्टे पाँव चला रहा है, दूसरा व्यक्ति पश्चिम से पूर्व उल्टे पाँव चला रहा है। इस विपरीत गति से दोनों का मध्य स्थान में सम्पर्क हो जाता है। दोनों के घुटभाग (पीठ) मिला जाते हैं। प्रथम भाग अक्षर्य मिल जाते हैं, परन्तु दृष्टि दोनों की सर्वथा विभिन्न रहती है। एक पूर्व की ओर देख रहा है, जो दूसरा पश्चिम की ओर देख रहा है। शरीर मिश्र हुए हैं, दृष्टि सर्वथा विभिन्न है, यही विपरीतयोग प्रतिकूलालम्बित है, यही प्रतिकूलालम्बित 'द्वेष' है। निम्नानुसार 'द्वेष' में 'दुर-यथा' ये दो विभाग हैं। 'दुर' शब्द दुष्टभाव का सूचक है, 'यथा' शब्द इच्छाभाव का सूचक है। दुष्ट इच्छा, विपरीत इच्छा, विपरीत क्रियावास्तविक ही द्वेष है। 'मवेद्व्यागमात्' न्याय से 'दुर' के रक्षार का लोप हो जाने से यथावत् द्वेष शब्द सम्पन्न हुआ है। राग में यदि आत्मसम्पर्क करते हुए विषय के साथ योग है, तो द्वेष में विषय से दृष्टे हुए विषय का स्वयं योग है। आत्मयोग बिना राग में है, उतना ही द्वेष में है। यही क्यों, रागापेक्षया द्वेष में आत्मयोग दृक्मूल बना रहता है।

रज्जु की सीधी प्रस्थि (गाँठ) राग है विपरीत (उल्टी) प्रस्थि द्वेष है। सीधी गाँठ की अपेक्षा उल्टी गाँठ का कपन अधिक दृढ़ होता है। राग में शरीर नहीं मिलते, दृष्टि मिलती है। द्वेष में दृष्टि नहीं मिलती, शरीर मिलते हैं। राग में आप दोनों अपने शरीर से घुस-घुस कर प्रवेशों में लगे हुए हैं। परन्तु आप उसे देख रहे हैं, वह आपकी देख रहा है। दोनों का दृष्टिपरवत्त्व सम बना हुआ है। दोनों का सहयोग हो रहा है। शरीर से घुसक स्थिति, किन्तु लक्षण एक यही समोदाहरण है। आप उल्टा मुँह करके लगे हो गए, पीठ से पीठ मिला ही। शरीरापेक्षया आप मिला गए, परन्तु दृष्टियाँ सर्वथा विभिन्न हो गईं। शरीर मिला रहे हैं परन्तु लक्षण सर्वथा विरुद्ध हो गए हैं। सहयोग में असहयोग हो रहा है सम्पर्क में असम्पर्क हो रहा है आन्तर्य में अनान्तर्य हो रहा है, मेल में बेमेल पतन रहा है। शरीरों से समानस्थिति, किन्तु लक्षण विभिन्न, यही द्वेषोदाहरण है। राग में विद्यागमनपूर्वक कम्पन है द्वेष में विषयगमनपूर्वक कम्पन है। स्वयं, विषय द्वैतक स्त्रि-रात्रि साक्षि प्राणी, पुत्र नर, साक्षि विषयी से हम बचते रहते हैं, इनसे विरुद्ध रहना चाहते हैं, परन्तु इनके आन्तर से मन आकाशित बना रहता है। राग में विषय का सम्पर्क है, द्वेष में विषयसंस्कार का सम्पर्क है। विषयसम्पर्क ऐन्द्रियक है संस्कारसम्पर्क मानसिक है। इन्द्रियापेक्षया मन अधिक शक्तिशाली है। अतएव इन्द्रियानुगत यमात्मक विषयकम्पनापेक्षया मनोऽनुगत द्वैतात्मक संस्कारकम्पन अधिक दृढ़ बना रहता है।

२२-रागद्वेष के अनुकूल प्रतिकूल भाव—

जित विषय से राग हो जाता है, विलम्बे आप राग रखते हैं वह विषय कदा कालों में समझा रहता है। १. शरीर मन उस ओर अनुभावन करता रहता है। जित विषय के साथ संस्काररूप से द्वेष होता है वह विषय भी कदा कालों में भूला करता है। य माहमक बुद्ध्यानुशासी रागापेक्षया बुद्ध्यानुशासी द्वेषकम्पन अधिक दृढ़ होता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, आप कभी मित्र को मूल लपेटे हैं, परन्तु रात्रि कभी नहीं

❖ "भोक्तृसारी वा इन्द्र । यत्र वा एष इन्द्र पूर्व गच्छति, एव तत्रापरं गच्छति" ।

मुक्ताय वा कर्म्य । मुक्तानां चाहते हैं परन्तु वह भूतना नहीं बनता । मानना पड़ेगा कि, उक्त श्लोक में अपेक्षा होवावसित कहीं अधिक इष्टमूल है । एक चमत्कार और दक्षिण । राम में दोनों मिश्रों के सम्मिश्रण का, आत्मव्यवस्था का परस्पर आदान-प्रदान है । इष्टमय कर्म्य का तो अपहरण कर लेता है परन्तु होप में भी आत्म में तो आदान-प्रदान आवश्यक ही रहता है । परन्तु आत्मन्तर में होप में इष्ट चर्मों का आदान हो जाता है । होप मनुष्य उक्त इष्ट की विधा का तो ले लेता है परन्तु अपनी विधा का प्रदान नहीं करता । कारण यह है । होप विषय प्रतिकूलता से ही लही, इसके मानन भगवत्पथ में स्वतन्त्रता पर पर कर देता है । इससे एक यह भी तत्त्व निष्कर्ष आता कि, विष्णु कियों से हीनचरितों से कुछदि मररो से होप करने वाला मनुष्य भी उन आत्मन्तु इष्ट चर्मों के सम्बन्ध से निष्कृष्ट हीनचरित कुछदि बन जाता है । जिसके साथ होप किया जाता है उसकी हानि नहीं होती होप करने वाला स्वयं अपनी हानि का चैठता है । यदि इष्ट के लक्षण उद्भूत किय, उदात्त चरित कुछदिमानव हैं तो होप करने वाला मनुष्य में उनके आत्मन्तु इष्ट चर्मों के सम्बन्ध में उद्भूत चरित कुछदिभूत बन जाता है । यक्य कर्म, विष्णुचरित में मयावत् समकृष्ट के साथ जीवन पर्यन्त होप किया । परिणाम इत होवावसित का यह हुआ कि, होप-यानकर्म के अन्तर्ग चर्मों का होपों यक्यादि में समावेश हो गया और स्वस्वरूप ये लोग उनसे इष्ट करते हुए मुक्त हो गए X । निष्कर्ष यही निष्कर्ष कि अनुकृपावसित राम है प्रसिद्धावसित होप है । कवनत्वेन दोनों समान हैं । अतएव 'रामहोप' दोनों को इस 'आवसित' नाम से व्यवहार कर सकते हैं एवं इतके व्यावसित इष्टानसित से दो विषय माने जा सकते हैं । आवसितकर्म्य रागादय के इष्टी व्यक्तित्व लक्षण विश्लेषण के आधार पर दोनों के निम्न सिक्कि लक्षण हो सकते हैं—

१-अनुकृपावसितकर्म्य—'राम'

२-प्रसिद्धावसितकर्म्य—'होप'

—आवसित

२३-रजोगुणमूक्त कर्मकोषग्रन्थ—

पूर्वी दक्षि में रागहोपवर्ती का सम्यक् वर्णन । आनन्दनित मानवार्थस्वर, कर्मवर्जित कर्म-कर्म, दोनों कर्म उक्तका से मनोव्यक्त पर प्रसिद्धि रहन है । उक्तविषय कर्म कर्मस्वर से भी प्रसिद्धि है एवं वक्तमान कर्म में कर्मवर्गीय से हुए आन-कर्मों में भी नवीन नवीन मानव-व्यक्त-कर्म उक्तका द्वारा उक्तका में परिणत होने रहन हैं । यज्ञितवर्गकर्म उक्त ही कर्मका कर्म (कर्म-इन्द्र) का कर्मका कर्म है । यज्ञितवर्ग कर्म उक्तका में मन पर प्रसिद्धि रहन है स्मृतिवर्ग कर्मका भी हो कर्मका हुआ करती है । यदि उक्तकर्म आनुकर्म है तो उनसे निष्कर्षने वाली कर्मता में अनुकर्म

X उक्त पुरस्तावत पयो मिद्धि यथा गत ।

द्विपमपि द्विपमपि, किमुतापोषप्रमिया ॥

—धम्मपदभाष्य

ही रहती है। यदि उत्पत्त्यकार प्रतिकूल हैं, तो उनसे विनिर्गत कामना भी प्रतिकूल ही रहती है। अनुकूल कामना स्नेहगुणप्रधाना है प्रतिकूलकामना तेजोगुणप्रधाना है। स्नेहगुणप्रधाना अनुकूल कामना में मन प्रभान बना रहता है तजोगुणप्रधाना प्रतिकूल कामना में शरीरगति प्रभान बना रहता है। मनप्रधाना अनुकूल कामना स्नेहगुणक सौम्य मन सम्बन्ध से ग्रहणशीला बनी रहती है, शरीरगतिप्रधाना प्रतिकूलकामना तेजोगुणक आग्नेय शरीरसम्बन्ध से परित्यागशीला बनी रहती है। मनोऽनुगत स्नेहगुणप्रधाना ग्रहणशीला अनुकूलकामना ही 'काम' नाम से व्यवहृत हुई है। शरीरानुगता तेजोगुणप्रधाना परित्यागशीला प्रतिकूल कामना ही 'द्वेष' नाम से व्यवहृत हुई है। इष्टप्रकार उत्पत्त्यकारगुण से कार्यस्वरूप में परिणत होकर निकलने वाली मानस कामना ही स्नेह-तेजोगुण भेद से अनुकूल-प्रतिकूल भावों में विभक्त होती हुई काममयी निकलने वाली मानस कामना है। स्नेह-तेजोगुण भेद से अनुकूल-प्रतिकूल भावों में विभक्त होती हुई काममयी कामना कोचमयी कामना, इन दो भावों में विभक्त हो जाती है। इन दोनों की मूलप्रतिष्ठा 'रजोगुण' माना गया है। ज्ञानप्रधान सत्त्वगुण में कामना की निष्ठिति है कार्यप्रधान रजोगुण में कामना का कामिभाव है। एवं क्रियाप्रधान रजोगुण में कामना का उदय है। ग्रहणभाव ही 'रजोगुण' है। रज्ज्वान ही 'रज' है ग्रहण ही रज्ज्वान है। यह ग्रहणभाव ग्रहणरसक ग्रहण, परित्यागरसक ग्रहण, दो भावों में विभक्त है। स्नेहानुगत ग्रहण ग्रहणरसक ग्रहण है तेजोऽनुगत ग्रहण परित्यागरसक ग्रहण है। ग्रहणरसक ग्रहण का आचार 'काम' है, ग्रहणरसक ग्रहण है तेजोऽनुगत ग्रहण परित्यागरसक ग्रहण है। ग्रहणरसक ग्रहण का आचार 'काम' है, परित्यागरसक ग्रहण का आचार 'द्वेष' है। दोनों रज्ज्वानरसक है। अतएव दोनों का मूल रज्ज्वानरसक रजोगुण ही माना जाना, वैराग्य निम्नलिखित भयवहचन से प्रमाणित है -

काम एव क्रोध एव रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशूनो महापाप्मा विदूयनेमिह वैरियम् ॥

—गी० १।३७।

२४-रज्ज्वानक का उदाहरण—

रजोगुणानुगत-वर्धित अनुकूल उत्पत्त्यकारगुणवर्धित शरीरगतिनिर्गमित मन से निकलने वाली रजिमयी ही 'काम' नाम की अनुकूल कामना है। यह अनुकूल कामना अनुकूल विषय के ही अनुगत बनी रहती है। अतएव कामादिमय अनुकूल कामना सुखानुशांति मानी गई है। गुण ही 'काम' है, मन ही अकार है। 'क-य-य-अ' के अनुसार गुण में (सुखानुगत अनुकूल विषयग्रहण में) जोतप्रोत्त मन ही 'काम' है। इस 'काम' से होने वाला अनुकूल क्रियागुणवत् अनुकूलकामात्मक अनुकूल उत्पत्त्यकारगुण ही रज्ज्वान है, यही रज्ज्वानक है किन्तु निम्न लिखित शब्दों में विशदपण किया जा सकता है।

आपने घर से निकल कर आप उद्यान में जाते हैं। मार्ग में आपकी दृष्टि किसी अस्थिरान सुन्दर दृश्य पर पड़ जाती है। आप कहना रुक जाता है। आप वहीं रुक जाते हैं, और मनोयोग पूर्वक उसे देखने में लग्न हो जाते हैं। विशेषमनोयोगानुगता इस लज्जयता से 'उपलम्बिभेद' नामक धीरे धीरे भाविक वेद से उठ दृश्य का आकार आपके मनमें लज्जित हो जाया है। और इष्टप्रकार उद्यानोद्देश्य से निकले हुए आप मार्ग में ही एक नवीन वस्तु का ग्रहण कर ले जाते हैं। आप आग घरपर निकल गए, सुन्दर दृश्य के लज्जित से घरपर लज्जित हो गए। किन्तु जिस दृश्याकार के साथ आपका सम्बन्ध हुआ था वह मन पर लज्जित गया। अब आपने वही तो वैदिकानिर्गम ने उठ बतने वाले आभारविशेष को 'वाचनाधकार' कहा है। आपने

मिठी बिन अतिशयकम से सुखाहु कलाकर ना किया। मुक्त कलाकर कलान्तर में रत्न-मल के अमिक विराजमान से रत्नसहस्रादिकम में परिणत होकर अपना अस्तित्व लो बैठा। परन्तु वह अपने स्वयं की रूप आपके मन पर लगा गया। वह स्वाद-रूप आपके मन पर बस गई। इसप्रकार हमारी के द्वारा कर्म-में जाने वाले विरहविशेष मनोबोग से स्वयं हटते हुए भी अपनी संस्कारात्मिका आकृति छोड़ जाते हैं। वही आकृति मन पर बसती हुई वाचना नाम से प्रसिद्ध हुई है।

आप पर लौट जाते हैं अन्त्यात्म कर्मों में व्यस्त हो जाते हैं। अन्त्यात्म कर्मजनित वाचनाओं से बाह्य हरबजनित वह वाचनासंस्कार योगी देर के लिए अभिभूत बन जाता है। परन्तु वह कर्मजनित से उन्मुक्त होते ही वह संस्कार उन्मुक्त हो पकता है। इस संस्कारोद्बोध का ही नाम 'स्मृति' (रह) है। स्वप्नपापेनुभा वाचना 'वाचना' है एवं स्वप्नपापेनुभा वाचना 'स्मृति' है। वाचना का निष्कारण रूप वाचना है अन्त्यापरक स्मृति है। पूर्वावस्था वाचना है उत्तरावस्था स्मृति है। इसी आधार पर वाचना स्मृति की बननी मान ली गई है। इसप्रकार समित्त संस्कारात्मिक वह सुन्दरवाकावलिना वाचना स्मृति के द्वारा आपके मन को वाचनासंस्कारानुगत (सम्कवी) उन्नी हरब की धार-जैसे पुनः उठ बैठा। इसप्रकार आकर्षित करती रहती है। वह संस्कारानुगत-अममय-आकर्षण ही आत्मजनित कर्म 'एग' किन्ना एगप्रति है। स्मृति ॥ एगावसित्तकृत विरहजनन की बननी करती है।

एगावसित्तजननी स्मृति का उद्भव क्यों और कब होता है! इस वास्तविक प्रश्न की भी सीमा का सीमा। वाचना नाम है कि, अन्त्यात्म कर्मों में व्यस्त हो जाने से सम्बन्धित संस्कारों के बन्ध से पूर्वसम्बन्धित संस्कार दब जाता है वाचना को स्मृतिरूप में परिणत होने का अवसर नहीं मिलता। आत्मविरह संस्कार-सन्धित विरहात्मिक भेद से हो भावों में परिणत जाता है। अन्त्यात्मिक एग संस्कारप्रति है वैयक्तिक रूप विरहात्मिक है। संस्कारएगावसित्त अममय है, वही विरहात्मिक की (स्मृति द्वारा) बननी करती है। विरहात्मिक वाचना है वह संस्कारएगावसित्त पर प्रतिक्रिया रहती है। इससे वह भी सिद्ध हो जाता है कि विरहात्मिक (हरप्रदान) वाचना में यदि विरहात्मिक है, तो संस्कारप्रति का उद्भव होता है। एवं वही संस्कारप्रति जाने बन कर उत्तरावस्था विरहात्मिकमात्र की स्मृतिद्वारा बननी करती है। यदि विरहात्मिकमात्र में विरहात्मिक का अभाव है तो सम्बन्धित संस्कार में मन बाधित नहीं होने पाता, और उठ दगा में हरप्रदान करत हुआ भी मन संस्कारएगावसित्त करत हुआ भी मन उठ संस्कार में बाधित नहीं होता। संस्कारप्रति-विरहित देते मन में जाने वाली भी वाचना धृति के द्वारा विरहात्मिक की बननी बनने में अममय रह करती है। अतः अममय होने उठ आत्मजनित मूलात्मिक के सम्बन्ध में ही क्यों और कैसे, प्रश्नों का समन्वय करना चाहिये।

२५-कर्मवत्त के चार विवरण, एवं रागात्मिक का समन्वय—

कर्मवत्त का चार भागों में विभक्त कीजिए, तभी इस वास्तविक-वास्तविक का भेदन है। उन्मय। कमान्तीम संस्कार एक विमय है। ऐहिक विरहात्मिकद्वारा दृष्ट विमय है। विरहात्मिकद्वारावसित्त ऐहिक-संस्कार तीव्र विमय है। ऐहिकसंस्कार से स्मृति के द्वारा उत्पन्न विरहात्मिकद्वारावसित्त बोधा विमय है। चारों में मूलतः कमान्तीम वह वास्तविक आत्म कर्म है किन्ती आत्मवत्त प्रेरणा से आप परतल पर

अश्वेतार्थ हुए हैं। कमन्तरीय संस्कारपुञ्ज में जो धर्म, जो गुण रहते हैं, आपका मन छत्ररुम ही धर्म-गुणक विषयवत्त्वात्कार में प्रवृत्त होता है। कमन्तरीय संस्काररसतम्य से ही ऐहिक कमन्तरीय विषयवत्त्वात्कार-कारों में तात्पर्य का उदय होता है। यदि आपके प्रकाशरसतम पर कमन्तरीय सुन्दररसतमक विवृत है यही आप अपने इस जीवन में सुन्दररस को देख कर प्रभावित हो सकते हैं। यदि कमन्तरीय सुन्दररस-सत्कार का अभाव है, तो इस जन्म में सुन्दर से सुन्दर दृश्य भी आपके मन को आकर्षित न कर सकेंगे। आप देखेंगे कि, कितने एक व्यक्ति तो लोभार्थ का अवलोकन करते ही अपनापन को बैठते हैं। उधर ऐसे भी कुछ व्यक्तियों की कमी नहीं किनके मन के लिए सुन्दरता का कोई धर्म ही नहीं है। कितने एक व्यक्तियों का मन बहाँ मूढत्व की चाल पर धिरकने लगता है, वहाँ कितने एक महापुरुष 'अमहिमपुणेयसी मूढत्वान्न' को धारितार्थ बनाते रहते हैं। कितने एक व्यक्ति सामान्य शिक्षित होते हुए भी व्याख्यानकुशल बन जाते हैं। उधर कितने एक परिवर्तनक सम्य में सर्वथा मुक्ति को ख बाटें हैं। उही विवृत मरिचिका से एक व्यक्ति की कान्छों से बहाँ पानी निकल पक्या है वहाँ अन्य व्यक्ति एक-दूसरे की भाँति उसे बचाया हुआ संस्कार भी नहीं करता। निर्द्वान्मात्र है। प्रत्येक माहरी की ऐहिक-विषयवत्त्वात्कार-अनुसन्ध-सोम्यता उस प्रस्था के कमन्तरीय तन्त्रित संस्कार की योग्यता से ही सम्भव रहा रही है। इससे स्पष्ट यही निष्कर्षता है कि विषय-साक्षात्कारपुञ्जता रागवन्धित की कननी कमन्तरीय संस्काररसिमा रागवन्धित ही है। यही आम्भर मूलास्मिति है यही ऐहिक विषयवत्त्वात्कार की कननी बनती है। उपास काट हुए आपकी मार्गिक सुन्दररसतमक वस्तुनिष्ठता के विषय ने आकर्षित नहीं कर लिया, यही आप उसके प्रभाव से प्रभावित होकर वही सारे ख गए, प्रेम का समाधान यही कमन्तरीय संस्काररसिमा दृशवन्धित है जो पहिले से आपके मनो पराजित पर अव्यक्त है। विरक्त कीविए, यदि आप में बाध दृश्य कदाचित् आम्भर दृश्यरसत्कार का (कमन्तरीय संस्कार का) अभाव पड़े, तो कभी आप उस बाध लेन्दम्य से राग नहीं कर सकते थे। किन्तु दृश्यलेन्दम्य-सत्कार पहिले से नहीं रहता, उन पर ऐसे बाध सुन्दर दृश्य का कोई प्रभाव नहीं होता। वही प्रथम क्षेत्र का विरोधक है।

कमन्तरीय दृश्यरसत्कारका आप में भी इस दृश्य को देखता हूँ-देखूँ दृश्यकार की रागवन्धित का मत का उदय होता है। वहाँ योग्य समझता है। पूर्वजन्मों में वह स्पष्ट किया जा चुका है कि, अन्ध-समझना उचित, अन्धत्व भेद से दो मातों में विभक्त रहती है। सुन्दर-असुन्दर, अच्छे-बुरे, जो भी दृश्य मार्ग में आँकी, वस्तुनिष्ठता का स्वभावक उनके साथ सम्भव होगा ही। वस्तुनिष्ठता किन्ना है, किन्ना अमना को आधार बना कर ही प्रवृत्त होती है। प्रत्येक ऐहिक व्यापार में मानसप्रमना का अनिवार्य सहयोग सिद्ध हो पाया है। वह लक्ष्यप्रमना ही उद्देश्यवर्तीभावप्रमना 'दृश्यप्रमना' कहलाई है विलक्षण पूर्वजन्मों में-निष्प्रमममनाश्रितका अमना का से विरोधक हुआ है। इस अमना में बुद्धि प्रचलन रहती है, मन भीषण रहता है। मनोप्राप्ति बुद्धि से सम्भव रहने वाली अमना ही लक्ष्यप्रमना है। कमन्तरीय-संस्कारधर्म्य से आप सुन्दर दृश्य की ओर आकर्षित हों, अथवा दो वी ही आपका मन उध ओर चला जाय यदि आपका मन लक्ष्यप्रमना का अनुयायी है, तो रहता हुआ भी कमन्तरीय संस्कारधर्म्य आपके मन को उस दृश्य विषयरसत्कार में आकर्षित नहीं होने देगा। ऐसा विरोधरस के विरव की सुन्दरता का अवलोकन

• मैं के आगे मूढत्व बनाता।

क्रिया, आगे निकल गए। जैसे अमुक ने धोम उत्पन्न नहीं किया, वैसे मुन्दर ने ध्यामोह में नहीं बाधा। और वीं उन्मिताका के अनुग्रह से आप ऐहिक कर्मागुण विपर्ययकारणित से बचे रह गए। इस क्रोधि में आगे की चक्रपरम्परा प्रबल हो जाती है। न बाधनासंस्कार को दृष्टमूल बनने का प्रसर प्रसिद्धा प्रताप न स्मृति का उदय होता, एवं न भविष्य में उदयन की शासक होती।

ऐहिक कर्मागुण विपर्ययकारण कथं प्राप्तिकर्म में परिणत होता है? प्रश्न का एकमात्र उत्तर है— उत्थाप्याकांक्षा का बीजप्रमना। यही 'कृत्रिम प्रमना' कहलाता है। इस प्रमना में अतृप्ता बुद्धि गौल रहती है स्वप्न मन प्रधान रहता है। बुद्धिर्गमित मन से सम्बन्ध रखने वाली प्रमना ही बीज की कृत्रिम वैधरिक-प्रमना है। कर्मान्तरीय उत्थाप्याकांक्षा स्वयं बीजका ना प्रधान था। उसने ऐहिक कर्मागुण स्वयं बीज-प्रमना को प्रोत्साहित किया मन बढ़ी बल गया। मन का यह प्रमना ही विरहात्मिक अनुष्ठान कहलाता। विरहात्मिक इसी अनुष्ठान से मन उस दृश्य विपर्ययन में लसीन हो गया। लसीनता से उत्पन्न दृश्य-संस्कार के स्वयं इसी लसीनता से मन आश्रय हो गया और वीं उत्थाप्याकांक्षा के अनुग्रह से मन विस्मयान बलित दृश्य संस्कार में आश्रय हो गया। वही आश्रय हो गया, प्रश्न का एकमात्र उत्तर बीजप्रमनामय मन का यही विरहात्मिक कर्मागुण है। किन्तु—'प्रायशः विपर्ययः पुनः सङ्गस्तेषूपजायते' इत्यादि शब्दों से विरहात्मिक बुद्धि है।

'विरहात्मिक अनुष्ठान' वाञ्छा मन के लिए एक बलित समस्या है। मन किसी भी विषय पर विरहात्मिकता बना रहे, यह असम्भव है। अकरुण ही वाञ्छा मन के विरहात्मिक अनुष्ठान-व्यवहार के लिए किसी अन्य विषय व्यवहारी की अपेक्षा है। वह व्यवहारी यौन है। वाञ्छा भी मन जैसे अनुष्ठान में समर्प हो जाता है। इत्यादि प्रश्नों का वैज्ञानिक विरोधपूर्वक उत्तर यही है—वहाँ का निष्कर्ष यही है कि मार्ग-अवस्था लेख्यवाक्य मन विरहात्मिकता बनाता है परन्तु अपने वीमा-मुक्त स्वभाविक अवधारण से उदरना नहीं जानता। उच्च आश्रित, अवस्था लेख्यवाक्य बुद्धितत्त्व अपने साक्षात्कारगुण स्वभाविक व्यवहार से उदरना जानता है परन्तु विरहात्मिक नहीं जानता। आश्रितकर्म में वेप, और उदरक, दोनों बर्ण अपेक्षित हैं। वह वही सम्भव है, जबकि लेह (वेप) बर्ण मन वेबो (उदरक) लक्षणा बुद्धि को अपने गर्म में प्रसिद्ध कर लेता है। विरहात्मिकता बुद्धि से मिला जाती है, अनुष्ठान मन से हो जाता है। दोनों के समन्वित समन्वित मन के विरहात्मिक अनुष्ठान उदर हो जाता है अतएव आश्रित का उदय हो जाता है। यही बुद्धिव्यवहार लोकप्रिया में—'विन्दन' कहलाता है। विन्दन करना अनुष्ठान करना बुद्धिव्यवहार है। विषय की रूप लेता है मन विरहात्मिक में परिणत होता है मन एव रूप को दृष्टमूल बनाती है बुद्धि यही वास्तव्य है। कौनो बुद्धि का व्यवहार, अपेक्षानुद्धि का व्यवहार। बुद्धितत्त्व के अपेक्षा-अपेक्षा-विषयों का भी पूर्व में ही विरोधपूर्वक क्रिया का उदय है। अपेक्षानुद्धि वहाँ उन्मिताका की बननी मानी गई है वहाँ अपेक्षानुद्धि उत्थाप्याकांक्षा की बननी मानी गई है। अपेक्षानुद्धि में मन बुद्धि के आश्रित रहता है। अपेक्षानुद्धि में बुद्धि मन की वरवर्तिनी बनी रहती है। अपेक्षा-बुद्धिव्यवहार मन बुद्धितत्त्व है अपेक्षानुद्धिव्यवहार मन मनोलाभ्य है। बुद्धितत्त्व मन उन्मिताका अनुष्ठान बनाता हुआ आश्रित से एवक है। मनोलाभ्य मन उत्थाप्याकांक्षानुष्ठान बनाता हुआ आश्रित से युक्त है। अतएव—बुद्धिव्यवहार मन कर्मान्तरीय उत्थाप्याकांक्षा से उत्थाप्याकांक्षा के द्वारा बाध दृश्य विपर्यय स्वयं सम्भव

हृद्मा बुद्धिसम्बन्ध मे मन वही चिरकालिक अनुष्णान मे प्रवृत्त हो गया। इस चिरकालिक अनुष्णान से मन हरविविधप्रवृत्ति संस्कार मे आसक्त हो गया। क्यों मन वास्तवसंस्कार मे आसक्त हो जाता है? प्रश्न की यही संक्षिप्त सीमांश है। कर्मान्तर्रीय संस्कारवृत्ति के अनुग्रह से उत्पन्न-एवं बनने वाली हुई मानस क्रमना का चिरकालिक अनुष्णान ही इस ऐहिक कर्मानुगत विषयसंस्कारवृत्ति का मूलकारण है। यही वृत्त चेतन का विस्तारण है।

कर्मान्तर्रीय संस्कारवृत्ति से आप हरय मे प्रवृत्त हुए, विषयवाच्यार्थकार की ओर अभिनिवेशपूर्वक आकर्षित हुए, अर्थात्वाकांक्षामूलक चिरकालिक अनुष्णान से सम्भाव्य विषय से उत्पन्न एतन्मि चेतन मे प्रतिष्ठित हरय संस्कार मे आपका मन आसक्त हो गया। यह सम्प्रतिष्ठापित कर आप पर लौट आये, अन्त्यान्त क्रम्यों मे व्यावृत्त हो गए। अन्त्यान्त क्रम्यों मे व्यस्त रहने से कुछ समय के लिए उस संस्कार का अभिमुख हो गया। परन्तु आसक्ति के अनुग्रह से यह हरयसंस्कार स्वतन्त्र उन्मूलक मे परिणत हो जाता है। उन्मूल से कार्य निकलना अनिवार्य है। प्रतिबन्धक जब तक रहेगा, कार्य न निकलेगा। वही प्रतिबन्धक हटने नहीं कि, उन्मूल से कार्य निकले नहीं। अन्त्यान्त क्रम्यों की व्यस्तता उस हरयसंस्कारवृत्ति के लिए प्रतिबन्धक समझी है। वह एक यह रहती है उस एक उसे कार्यप्रसार का अवसर नहीं मिलता। वही आप उन अन्त्यान्त क्रम्यों से उत्पन्न हुए नहीं कि, इस प्रतिबन्धक के हटने ही वही से कार्य निकल पड़ेगा। वही उन्मूलवृत्ति, उन्मूलविनिर्मुक्त कार्य-‘स्मृति’ कहलाई है। अन्त्यान्त क्रम्यों मे पड़ कर पोंड़ी बेर के लिए आप उसे मूल बतते हैं, अवकाश मिलते ही ‘किर घाट हो पकड़ी है। इस लोकस्थित ताम्रमणि अनुग्रही का यही उत्तर है।

स्मृति ने उचित होकर क्या किया?, प्रश्न की भी सीमांश कर लीजिए। काम से वह उत्पन्न होता है, अथवा वह से काम उत्पन्न होता है?, इस प्रश्न के उत्तर पर ही स्मृतिविवेक प्रश्न का उत्तर निर्भर है। अतः दो शब्दों मे पड़िये इसी प्रश्न के उत्तर का अन्वेषण कर लीजिए। केवल ऐहिक जीवन को आधार बना कर ही इस प्रश्न के उत्तर की सीमांश करनी पड़ेगी। नहीं तो इस काम-बोरे वह (आसक्ति) परम्परा की याह पा लेना असम्भव हो जायगा। श्रवण स्पष्ट है। कर्मान्तर्रीय सम्प्रवृत्त संस्कारवृत्ति (तह) का मूल पूर्वकर्मानुगत काम है। पूर्वकर्मानुगत काम का मूल उससे भी पूर्वकर्म का सम्प्रवृत्त है। इसप्रकार एवं प्रवृत्त इस काम-उन्मूलक का पर्यवसान समय लेना असम्भव बन रहा है। प्रश्न है केवल वर्तमान काम से सम्बन्ध रखने वाली सङ्गमर्षी, तथा कामभाषी का। इस काम मे ऊपर हरय देखने की क्रमना क्यों हुई?, इस प्रश्न का उत्तर तो कर्मान्तर्रीय सम्प्रवृत्त संस्कारवृत्ति (आसक्ति) ही है। यदि कर्मान्तर्रीय संस्कारवृत्ति न होत, तो हरयदर्शनक्रमना का उत्पन्न असम्भव था। इस दृष्टि से हरयदर्शनक्रम काम (हरय) को इन कर्मान्तर्रीय संस्कारवृत्ति की अपेक्षा से ‘सङ्गमर्षी’ मान सकते हैं। कर्मान्तर्रीय सम्प्रवृत्त संस्कारवृत्ति उन्मूल है इससे निकलने वाली हरयदर्शनक्रमना क्रमना (काम) कार्य है। और इस काम के सम्बन्ध मे- ‘सङ्गमर्षी सङ्गमर्षी काम’ (कर्मान्तर्रीयसंस्कारवृत्त्या हरयदर्शनानुगतवृत्त्योऽप्युत्पद्यते) यह कहा का सम्यक् है।

कर्मान्तर्रीय तह से हरयदर्शन की क्रमना हुई, कामनाकार्य से हरय वेला मन के चिरकालिक अनुष्णान से हरयविविध का ऐहिक कर्मानुगत नवीन संस्कारवृत्ति (हरयविविधदर्शनवृत्ति हरयसंस्कारवृत्ति) का उत्पन्न हो गया। हरयविविधवृत्ति तह (हरयसंस्कारवृत्ति) का मूल क्या? इसका उत्तर इस दृष्टि से

दुष्मा-‘ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तोपपज्यायते’ । विज्ञाप्य उत्तरार्थ यही है कि, कर्मान्तरीय तत्त्व से उत्पन्न काम का चिरकालिक अनुष्ठान ही ऐहिक कर्मानुष्ठान द्वारा संस्कारतत्त्व का बनक है । वृद्धे शब्दों में दृश्यकाम वही तत्त्व से उत्पन्न या वही प्रत्यक्ष काम से उत्पन्न है । कर्मान्तरीय तत्त्व से उत्पन्न काम (दृश्य) ने ही चिरकालिक अनुष्ठान के द्वारा दृश्यविषयसंस्कार को तत्त्व रूप में परिणत किया है, जो तत्त्व ऐहिक कर्मानुष्ठान एक स्वच्छ-नवीन उत्पन्न बन जाता है । जैसे कर्मान्तरीय संस्काररूप का सङ्गत्तम उत्पन्न में दृश्यार्थ-नानुगत कामात्मक कार्य का उद्भव हुआ या एवमेव इस कार्यरूप काम के चिरकालिक अनुष्ठान से उत्पन्न दृश्यसंस्काररूप-सङ्गत्तम नवीन उत्पन्न से भी दृश्यसंस्कार के पुनः प्रदानानुष्ठान कामनात्मक कार्य का उद्भव होना स्वाभाविक बन जाता है । यही कामना ‘स्मृति’ नाम से व्यक्त हो गई है । यह काम तत्त्वबन्धित माना जाया बिना के लिए ‘सङ्गात् सञ्जायते कामः’ कहा गया है । ‘तत्त्व से काम, काम के चिरकालिक अनुष्ठान से तत्त्व और इस तत्त्व से स्मृत्तुल्य-स्मृत्यात्मक काम’ इस प्रकार वर्तमान रूप में तत्त्व, और कामनाओं का यही पारंपरिक माना जाया ।

१-कर्मान्तरीयसंस्कारसङ्गात्-(कर्मान्तरीयसंस्कारात्)- दृश्यद्वयानुगतः-कार्यसंज्ञा-कामो जायते (संस्कारसङ्गात् दृश्यदर्शनेच्छा भवति) । अतश्च-सङ्गात् सञ्जायते कामः ।

२-सङ्गोत्पन्नकामस्य चिरकालिकानुष्ठानाद्व्यपारेण दृश्यदर्शनात् संस्काररूपक स्वतन्त्रोक्त-सञ्जायते । स एव स्वतन्त्रोक्त-दृश्यसंस्काररूपक-कामजनितः सङ्गात्-‘ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तोपपज्यायते’ । दृश्यसंस्कारसङ्गात्-कामात् सञ्जायते, इति भावः । ‘कामात् सञ्जायते सङ्गात्’ इति निष्कर्षः ।

३-ऐहिककामादुत्पन्नः सङ्गात् (दृश्यसंस्कारसंज्ञायाः स्वतन्त्रोक्तः) दृश्यविषयकामनामरूपो भवति स्मृतिरूपः । ‘पुनर्यं त दिदृशामि’ सैव एवं वाक्यः काम-सङ्गात्-सञ्जायते । अतश्च-‘सङ्गात् सञ्जायते कामः’ ।

१-सङ्गात् सञ्जायते काम (कर्मान्तरीयसंस्कारासंस्था-दृश्यद्वयानुगतः) ।

२-कामात् सञ्जायते सङ्गात् (चिरकालिकानुष्ठानात्मककामात्-दृश्यसंस्कारासंज्ञा-दृश्यः) ।

३-सङ्गात् सञ्जायते कामः (ऐहिककामानुगतनवीनसंस्कारासंस्था-दृश्यसंस्कारानुगतदृश्य-विषयमस्त्यनुपायनम्) ।



कर्मान्तरीय तत्त्व से [१] उत्पन्न काम ने दृश्यविषय का साक्षात्कार कराया । बिना के तत्त्व काममय मन के चिरकालिक अनुष्ठान से दृश्यविषय संस्काररूपक सङ्गमात्र में [२] परिणत हो गया । इस नवीन तत्त्व को लेकर आप पर लौट आएं । इस नवीन तत्त्व (कामजनित वाक्यसंज्ञासंज्ञा काचित) रूप उत्पन्न से कार्य-रूप काम [३] का उद्भव हुआ, वही उत्पन्नाधी काम ‘स्मृति’ कहलाया । इस अनुष्ठानक काम ने उद्भूत होकर क्या किया ? यह प्रश्न उपस्थित है । बिना दृश्य-ऐहिक विषय के दर्शन है दृश्यरूप

संस्कार आपके मनाधरायण पर लक्षित हुआ है मान लीजिए उस नगर हरस्य मौखिक विषय का नाम हो गया । ऐसी स्थिति में कल्पना इत्यन्त्या (सत्) से उत्पन्न क्रमात्मिक स्मृति केवल स्मृति रूप में ही परिणत रह जायगी । आप उस बीचमर स्मरण कर कर भी प्राप्त न कर सकेंगे । स्मृति समय-समय पर उदित होती रहेगी, आपकी स्वाभाविक शक्ति का उपदेश करती रहेगी । इस प्रकार मूलहरस्य के स्वरूपनाश की दशा में आपकी वह उदित स्मृति केवल आत्मबोध की बननी लगी रह जायगी । और यही उदित स्मृति वा एक परिणाम माना जायगा ।

मान लीजिए, आपके पुण्य से वह हरस्य विषय अपनी सुरक्षित है, नष्ट नहीं हुआ है । उस अवस्था में क्या आपका स्मृत्यात्मक उदित काम निश्चित उस हरस्य विषय पर एकाधिकार प्राप्त कर लेगा ? यदि विश्व में केवल आपकी ही सत्ता रहती, तो ऐसा एकाधिकार सम्भव था और उस दशा में वह हरस्य असंशय कदा हुआ आपके कथित पुण्य का धारण बन उठता था । परन्तु विश्व में आप ही तो नहीं हैं । और भी मनुष्य हैं उनके पास भी काममय मन है, वह है सद्गुणगुण भूत्वात्मक काम है । उन्होंने भी उस गुणर हरस्य को देखा है उन पर भी उस हरस्य की छाप लगी हुई है । अतएव वे भी स्मृत्याकर्षण से उसे अपने अधिभार में लाने के लिए लाक्षाप्ति हैं । कदा एक, चाहने वाले अनेक । लक्ष्य एक, लक्ष्यवेधन करने वाले अनेक । आप सब में से भी शक्तिशाली होगा यही उसे प्राप्त कर सकेगा । आपकी स्मृति ने स्मृत्यात्मक काम न आपकी उस हरस्य विषय की ओर प्रवृत्त किया । आपने देखा कि एक वृक्ष स्थित भी उसे अपना लक्ष्य क्या था है । इस स्थिति में आपके स्मृत्यात्मक काम का क्या परिणाम होगा ? इस प्रश्न का उत्तर कहिन नहीं । मानी हुई सत्य ही सर्वानुगत सत्य है कि, जिस वस्तु को हम चाहते हैं वो हमारी कामना का विषय बनी हुई है उसी पर यदि दूसरे की कामना का भी लक्ष्य है वो हमें उस अनिलक्षित-काम विषय की प्राप्ति में रुकावट हो जाता है । एक लक्ष्यमय एक लक्ष्यमय अनेक काम समन्वय से विरक्त क्षेत्रानुक्त-विषय कामों का संघर्ष हो पड़ता है । इस पारस्परिक कामसंघर्ष से कामियों का शारीरिक प्रदीप्त हो पड़ता है । यही कामरहित शारीरिकसंघर्ष 'क्रोध' कहलाता है । स्वकामप्रविकरक अन्यकामात्मक से मुक्त हमारा स्मृत्यात्मक काम संघर्ष में पड़ कर शारीरिकप्रदीप्तताका क्रोध भी जनक बन जाता है । इस प्रकार वपात्मक काम स्वप्रविकरकता से द्वेषात्मक क्रोधरूप में परिणत हो जाता है । कामविषयीभूत इत्यन्तरयत्न लक्ष्य गौण हो जाता है क्रोधविषयीभूत द्वेष स्थिति प्रधान लक्ष्य बन जाता है । 'किन्तु हमारी कामना में विघ्न उपरिभूत कर दिया, वह देते नष्ट हो उलझ कर दमन हो' इस लक्ष्यन्तरगमना का उत्पन्न हो जाता है । हम लक्ष्यस्युत बन जाते हैं । और यही उदित स्मृत्यात्मक काम का दूसरा परिणाम है ।

२६-काम-क्रोध-लोभप्रयी का उद्गम—

मान लीजिए आप सब कामकामियों में सर्वत्र हैं । अतएव आप उन लक्ष्य दमन कर देते हैं, लक्ष्यरूप हरस्य विषय केवल आप ही का अधिकार में आ जाता है । क्या यह परिणाम मुझावट माना जाय या यशस्व ? क्या इस एकाधिकार में आपका संप्रत्यक्ष काम अनुपलब्ध बना रहता है, यदि दृष्टांत । प्रथम प्रथम दिवस कामना से आपने हरस्य विषय का साक्षात्कार किया था उसने आपका मन पर चिरकालिक अनुपपन्न का हाथ उठाई वाचनात्मक लक्ष्य उठा कर आपकी स्वाभाविक शक्ति का उपदेश कर जाता ।

प्रपञ्चवर्णन में ही आत्मा के स्वामाधिक निष्काश के आगे एक पुँजली सी पतली सी बीमार लकी करी । आपने इस बीम की शान्ति का उपाय समझा—उस दृश्य विषय पर छाटा क लिए एकाधिकार स्थापित कर लेना । आपकी सरलता ने आपका उत पर एकाधिकार भी हो गया । परन्तु शान्ति उत्तरोत्तर पट्टी गई, अशांति उत्तरोत्तर बढ़ती गई । प्रायः वस्तु के संज्ञा में प्रायः वस्तु को अन्त्यात्मक से बनाने में प्रायः वस्तु के योगानुरूप शक्तिस्मरण में इत्यादि अनेक परिग्रहों में आपको ईदना पड़ा । इसके अतिरिक्त स्मृति के द्वारा भी यही आप हरन विषय से सम्पर्क क्राते गए, यही लो संसारत्मक सङ्गतक्षय उक्त इन आत्मिक आचरण पुट-सम्पुटी से अधिकाधिक दृढमूल बनता गया । उक्त के अधिकाधिक दृढमूल बनते रहने से उसने निश्चयन बाह्य कार्यरत काम (इच्छा) का शास्त्र होना हो एक बार का अधिकाधिक करने लगा । अतिशय व्यापार व्यस्तता से योगशक्ति बाह्य उत्तरोत्तर पटने लगी, बाह्य उत्तरोत्तर से अन्तः उत्तरोत्तर बढ़ने लगी । होते होते—सिखते—पकते—देवते देवते वह अचर्या (इच्छास्था) आपहुँची, किन्तु इन्द्रियवर्ग शिथिल हो गया । अन्तः परमवीम्य पर पहुँची, शक्ति का आत्मनिक हाथ हो गया । इस अवस्था में आकर आन्की इन्द्रियों आपका शरीर ही ब्रह्मानुसृत योग्यदार्थ के योग में पतिक्रमक बन गया । प्रत्यक्षमाने स्वयं आप ही को क्रोध का अधिष्ठान बना लिया । और भी आपके इस एकाधिकारक्षय रोगात्मक काम के ही द्वारा होनामक क्रोध उत्पन्न हो गया । अशांति लगी, कर्मसंभ्रम दृष्ट, शक्ति हुई नहीं, क्रोध अतिविधि बन गया । क्योंकि कामचलित आचरणपुटों की परम्परा से आत्मविज्ञान के आगे मोटी दीवाल लकी हो गई । इसी लिए वो भगवान् ने रक्तगुण से उत्पन्न इस काम-क्रोधरक्त को 'महापान्'—'महापाप्मा' कहा है । काम की मूल क्या कमी मिल लकी है । वह तो अतिशयित विषयमयि से संसार के द्वारा उत्तरोत्तर लकी मन्त्र काटी लकी है । जैसे आत्महविशुद्धि से अग्नि शान्त होनी की अनेका उत्तरोत्तर प्रवृत्ति होना रहता है । इसीलिए भगवान् ने इसे 'महापान्' (बहुत जान बूझा कमी लुप्त न होना बाता) कहा है । इनके अतिरिक्त यह आत्मा के स्वामाधिक निष्काश को भी बाध कर लेता है । अत्यन्त कामकाजी-विषयमोहापराध व्यक्त का लक्ष्यहीन न हो जाता है । वह विकर्षकत्वक बन जाता है । इसी आचरणचर्म के सम्मुख से भगवान् ने इसे 'महापाप्मा' कहा है । 'अशान्तता ये पाप्मा' के अनुसार मोक्षमार्गमुखा अमनासिद्धा अशानता स्वयं महापाप्मा है । यह स्वयं जैसे कमी लुप्त नहीं होती, अपने-इसके सम्पर्क में रहने बाह्य नित्यवृत्त आध्यामी अपनी स्वामाधिक शक्ति से अभिभूत होजाता है । अतएव एकाधिकार ही अचर्या अनधिकार, उन्मत्ता यह अमलकित स्वसहयोगिनी योगचलित का आत्मनिक करती हुई अन्तःशान्ता आत्मनिष्कलङ्कता स्वामाधिक शान्ति की अन्वयता शत्रु ही बन रही है । इसे छोड़ देने बाता ही—'शान्तिनान्नाति' न कामकाजी । दुष्पुरुष काम के 'नी बन्धन' इतिहास का दिग्दर्शन करत हुए भगवान् ने कहा है—

१—काम एव, क्रोध एव रजोगुणसमुद्भवं ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ गी ३।३५

८—न बाहु काम कामानामुपमोहन शाम्यति ।

हविषा कृष्णकर्मेभ भूय एवामिषद्वते ॥

२-धूमनाप्रियते वद्धि, र्यथादर्शो मलेन च ।

ययोन्नेनाश्रुतो गर्भ, स्वया तेन दमाश्रुतम् ॥ गी० ३।३८।

३-आश्रुतं ज्ञानमेवेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।

कामरूपेण कौन्तेय ! दुष्पूरं ज्ञानलेन च ॥ गी० ३।३९।

४-काममाधित्य दुष्पूर दम्भ-मान-मदान्विता ।

मोहाश्रुगृहीच्छाऽसद्ग्राहान् प्रवचन्तेऽशुचिप्रताः ॥ गी० १६।१

५-चिन्तामपरिमेयाश्च प्रलपन्तामुपाश्रिता ।

कामोपमोगपरमा 'एताव' इति निश्चिता ॥ गी० १६।११।

६-आशापाशशैर्बद्धा कामक्रोधपरायणा ।

इहन्ते काममोगायमन्यायेनार्यसञ्चयान् ॥ गी० १६।१२

७-अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमाश्रिता ।

प्रसक्ता काममोगेभ्यु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ गी० १६।१६।

८-प्रिविध नरकस्यैतत् द्वार नाशनमात्मनः ।

काम-क्रोधस्तथा लोमस्तस्मादतत् श्रयं त्यजेत् ॥ गी० १६।२१।

९-एतैर्षिमुक्तः कौन्तेय ! तमोऽग्नौस्त्रिभिर्नर ।

आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ गी० १६।२२।

१०-इन्द्रियाणि, मनो बुद्धि-रस्यापिष्ठानमुच्यते ।

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमाश्रुत्य दहिनम् ॥ गी० ३।४०।

११-तस्माच्चमिन्द्रियाण्यादां नियम्य भरतपम !

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशम् ॥ गी० ३।४१।

२७-'कामात् क्रोधोऽभिजायते' इति समन्वयः-

काम-काय-सोम तीनों अग्निजल हैं। तमो लक्ष्यमा है। लक्ष ही तीनों में 'काम' का प्रथम है। अतएव काम भी पूर्वकथनानुसार काय का जनक बन जाता है। एवं कामप्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति काय का कोषजनक बन भी रहा ही है। कामना का लक्ष्यमूत काय विषय कोष का लक्ष्यमूत इन्द्रिय नियम, तमो में काम श्रेयसय मन रणार्थक द्वेषावर्तक द्वारा व्यर्थम हो जाता है। लक्ष्य विषयों में मन का दर्शन हो जाता ही कामकायप्रवृत्ति तीव्रता लाभ पाव है। यही उक्ति शृणुयात्क काम का संक्षिप्त इतिरूप है या

विषयास्ति दद्या मे उभयथा श्लेष कीर लोभ का प्रसर्गक बना हुआ है। लोभ आसक्तिस्वरूप में प्रकट होता है। अतएव ह्य प्रसङ्ग में प्रसङ्गान् ने उसकी स्वतन्त्र गणना नहीं की है। इस अभेदित्व का निष्कर्ष यह हुआ कि, ऐहिक कर्मानुगत सङ्ग से उत्पन्न काम अनुसृतता में अलापर में कामप्रतिबन्धक बंधन प्रतिकूलता में लज्जित शारीरग्निसर्पारूप का श्लेष रूप में परिणत हो जाता है। इसी कामविराम को, स्मृतिविराम को लक्ष्य बना करमगान् ने कहा है—‘अमात श्लेषोऽभिजायो’।

२२—‘क्रोधाद्भ्रमति संमोहः’ का समन्वय—

सर्पारूपित क्रोधाग्नि से प्रकान मन पर प्रसिद्धि स्मारक संस्कारों में हलचल मच जाती है। प्रसिद्धि संस्कार अस्तव्यस्त हो जाते हैं। किम नमच क्या करना चाहिए, कय क्या करना चाहिए, कन कन नदी करना चाहिए ? यह सब व्यापार मानस संस्कारों के आधार पर निर्भर हैं। संस्कारों की दृक्-वृक्कर्म से (प्रकान प्रसक्त पर) अन्वयिषति-अन्वयिषति-ही विमल कर्मज्ज्ञाप की आधारभूमि बनती है। विमलस्व ने-अन्वयिषत रूप से प्रकान प्रसक्त पर प्रसिद्धि रहने वाले संस्कार ही ‘उत्पुष्ट’ संस्कार कहा जाए हैं। उत्पुष्ट-पुष्ट संस्कार ही वस्तु-स्मृतियों के द्वारा वस्तु कर्मज्ज्ञप्ति के अस्तव्यस्त करते हैं। जिस प्रकार एक पात्र में विमल अन्वयिषत रूप से प्रसिद्धि अनेक पदार्थ पात्रप्रस्थापन से अस्तव्यस्त होते हुए विमल-अन्वयिषत उत्पुष्टभाव को छोड़ कर अविमल-अन्वयिषत-अनुभवभाव में परिणत होते हुए एकत्र कर बन जाते हैं ठीक इसी भाँति एक प्रकानप्रसक्त पर विमल-अन्वयिषत-उत्पुष्टरूप से प्रसिद्धि-स्मृत्याधारित अनेक संस्कार शारीरग्निसर्पारूप श्लेष के प्रस्थापन से अनुभवभाव में परिणत होते हुए अलापर बन जाते हैं। संस्कारों की यह अलापरानुगता अनुभवभावस्था ही ‘संमोहः’ है। इसे ही वैचित्र्य कहा गया है। श्लेष में मनुष्य अन्धा हो जाता है’ यह किमनवी प्रसिद्ध है। इस अन्धता का उत्पत्ति है—संस्कारों की अनुभवता। कुछ ध्यान नहीं रहता। कुछ का कुछ ही पकड़ है। इस प्रकार कामविराम श्लेष को ज्ञान बन्धन कर ‘संमोहः’ का बन्धन बन जाता है—‘क्रोधाद्भ्रमति संमोहः’।

२६—‘संमोहात् स्मृतिविभ्रमः’ का समन्वय—

अन्वयिषत-विमल-उत्पुष्ट संस्कार ही तो स्मृति का मुख्यतः रक्षक थे। जब स्मृतिस्वरूप संस्कार ही अपना स्वयं संबंध में पड़ कर अस्तव्यस्त बना चुके, तो उस दशा में स्मृति कैसे अन्वयिषत रह सकती है ? पश्चात् संमोह के अनन्तर ही स्मृतिविभ्रम हो पड़ता है—‘संमोहात् स्मृतिविभ्रमः’।

३—‘स्मृतिश्च शास्त्रं बुद्धिनाशः’ का समन्वय—

बुद्धि अपना मानी गई है मन अथ माना गया है। अथ के आधार पर ही अथ का स्वस्वरूप मानी गई है। अतएव बुद्धि और अविज्ञानि से प्रसक्त होने के कारण आत्मेयी है अग्नि ही अथ माना गया है। अतएव मन अथ अस्वरूप से प्रसक्त होने के कारण लोभ है। लोभ ही अथ माना गया है। अतएव मन में प्रधानमन अथवा है, विज्ञानबुद्धि सत्य है। इसप्रकार लोभ, अतएव अज्ञानक प्रधानमन पर ही आत्मेयी, अतएव अज्ञानाद्विज्ञान बुद्धि प्रसिद्धि रहती है। प्रधानमन संमोह से अज्ञान हो जाता है इसी अज्ञान से अथ अस्तव्यस्त हो पड़ते हैं। अज्ञानाद्विज्ञान मन किम मनोऽप्यविज्ञान

संस्कारों के आचार पर ही तो बुद्धि प्रतिष्ठित रहती है। साथ ही इन संस्कारों के आचार पर ही तो बुद्धि का स्वस्वरूप स्थापित होता है। उदाहरणार्थ ही छोटी बुद्धि का स्वस्वरूप है। समोद्बोधनित स्मृतिविभ्रम ने संस्कारावच्छिन्न मन को संस्कारों के सहित आन्दोलित कर लिया। अब बुद्धि स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहे, तो क्या रहे? अपना स्वस्वरूप स्थापित करे। अतएव मानना पड़ेगा कि, स्मृतिभ्रम से बुद्धि का व्यवसायधर्म उच्छिन्न हो जाता है। व्यवसायधर्मोत्क्रान्ति ही बुद्धिनिर्माणा है। इसी आचार पर महाबान ने कहा है—स्मृतिभ्रंशान् बुद्धिनाशम्।

३१-‘बुद्धिनाशात् प्रणश्यति’ का समन्वय—

समोद्बोधनान्, इन्द्रबहुल, माध्यम्य, संसारयात्रा का यात्री जीवात्मा है। इन्द्रियमनोसुकृ कच व्य-
कर्मरूपा इत यात्री की यात्रा को निर्दिष्ट पूरी कर देने वाला यात्राचक्रण है। स्वयं संसार (नीका) है, जिसमें कर्मजातों को लेकर यात्री यात्रा के द्वारा पार पहुँचने का प्रयास कर रहा है। बीच ही में सुन्दर हरया-
मुखा कामविषय उपस्थित हो जाता है। काम श्लेष को निमग्न हो दे देता है। श्लेष संमोह का आभूतकार
कर होता है। संमोह स्मृतिविभ्रम को अवस्थिति बना होता है। स्मृतिविभ्रम उस बुद्धि के ‘इवमित्यमेव कर्त्तव्यम्’
‘एवं कर्त्तव्यम् इदं न कच व्यम्’ इत्यादि लक्ष्य लक्ष्यलक्ष्य स्वस्वरूपधर्म को अभिमूढ कर देता है, जो
व्यवसायधर्म का बुद्धि उक्त संसारजीका को स्वविक कच से पार लगाने में सफल नहीं रहती है। नीका के
इव लेक्या के मूर्च्छित होते ही यात्री नीका से टकरा जाता है। कर्त्तव्यधर्म भूल जाता है मूर्च्छित हो जाता
है, अपना आत्मविकलक्षय स्वयं को देता है और यों नारापरम्य का अन्तिम अभिनय उमात् हो
जाता है जिसका—‘बुद्धिनाशात् प्रणश्यति’ शब्दों में अर्जुन के प्रति व्योम प्रदर्शन हुआ है। स्मृतिधर्म
धर्म (कामना) उच्छिन्न हो कर क्या करता है? प्रश्न का यही पुनःपूर्व इतिहास है, जिससे प्राण पाने के
लिए ही मीठायास में वैराग्यबुद्धिबोधात्मक रात्रिविद्या का आनिर्माण हुआ है।

३२-‘व्यायतो विषयान् पुन’ का तात्त्विक समन्वय—

कतुर्दा विमल कर्मस्वरूप परिचय के प्रसङ्ग में ‘व्यायतो विषयान् पुन’ सङ्गस्तोत्रपञ्चायत
रात्रिदि रणावच्छिन्नचक्र इतिहास का दिग्दर्शन करना पड़ा। अब पुन प्रकृत की ओर पाठकों का ध्यान
आकर्षित किया जाता है। रणावच्छिन्न की बनती स्मृति कामादिधर्म है। स्वस्वरूप कच काम कर्मान्तरिण रणा
वन्ति से अन्तिम है। कर्मान्तरिण संस्कार कर्मान्तरिण रणावच्छिन्न है यही प्रथम कर्मविभाग है। इव कर्मान्तरिण
रणावच्छिन्न उक्त से विनिर्गत काम (इच्छा) ऐहिक कर्मानुगत विरवाद्याध्यात्मिक ऐन्द्रियक कर्म का
प्रवक्तृ बनता है यही द्वितीय कर्मविभाग है। कर्मान्तरिण रणावच्छिन्न उक्त से विनिर्गत धर्मिक काम
के विरवाद्याध्यात्मिक अनुष्ण से उक्त ऐन्द्रियक विषय का संस्कार प्रज्ञान परावर्तन पर उक्तधर्म से अवस्थित हो जाता
है। विषयलक्षणाध्यात्मिक कामावच्छिन्न ऐहिक-रणावच्छिन्न यद् संस्कारात्मक ही तीसरा कर्म विभाग है का
काम से उत्पन्न है। इत नवीन संस्कारावच्छिन्न कर्मान्तरिण से विनिर्गत स्वस्वरूपक काम से पुनः पुनः संस्कारानु
गत काम विषय की ओर मन का अनुधावन होता रहता है। यह विषयलक्षणाध्यात्मिक ही चतुर्थ कर्म
विभाग है, जो स्मृतिधर्मक काम से उत्पन्न है। इसप्रकार आध्यात्मिक कर्मगूढ़ को बार मायी में विमल
कच का प्रकट है। इन चारों में से मीठायास ने ऐहिक संस्कारावच्छिन्न से ही कचनपरावर्तन का

उपक्रम किया है। सङ्ग से काम उत्पन्न हुआ, काम से विषयसाक्षात्कार हुआ इसी काम के निरवधि-
मनुष्यान् से (यही लक्ष्य सङ्ग विषयदर्शन से) इस विषय सङ्गमयक संस्काररूप से प्रधान प्रयत्न पर प्रतिष्ठित
हो गया और इसे लेकर आप पर लीट आए, यहाँ तक की रियलि एक परम्परा है। हमने आपो में ही गीता
क-‘ध्यायते विषयान्’ इत्यादि श्लोक का आरम्भ होता है। पर आकर अन्तर्धान कामों में बहो आप स्वतः
हो गए, तो वह इतिवृत्तसंस्काररूप सङ्ग यही ही (अभिभूत) पड़ा रह गया। यदि आपने विरवधित्व के
ध्यानपूर्वक सतत बार बार स्मरण किया स्वभावमय काम का अनुमन किया तो ऐसे आत्म मन इस
संस्काररूप में आकृत हो जायगा इसी रियलि का- ध्यायता विषयान् पु सः सङ्गस्तेषूपजायते’ से स्वी करण
हुआ है। इस सङ्ग से देने हुए विषय को पुनः देने का इच्छा उत्पन्न हो जाती है इसी का ‘सङ्गान् सङ्गा-
यते काम’ में विस्तेष्य हुआ है। इच्छानुसार यदि हुआ आप उस दरव देने में लय हो गए, तो
उस पर एकाग्रचित्त प्राप्त कर लिया तो आत्मान्तर में शक्तिज्ञान से अभिभूत विषय संस्कार की व्यवस्था से
आत्म शारीरानि जुद्ध हो जायगा। यदि अन्य कामप्रतिफल के का करने से आपकी इच्छा सङ्ग न
हुई तो भी शारीरानि जुद्ध हो जायगा। इसप्रकार उभयथा सङ्गमित काम शारीरानिदोऽभ्युपगम्य कोच
का कनक का जायगा विषय-‘कामान् कोचोऽभिजायते’ से स्वीकरण हुआ है। कोच का उत्तर में
संस्काररूपस्वरूप-उन्मुच्यतासङ्ग सम्राट में परिणत हो जायगा, विषय-‘कोपात् भवति संमाहः’ से विस्ते-
ष्य हुआ है। संमोह वैश्व लक्ष्य स्मृतिविग्रम का कारण बन जायगा विषय-‘संमाहान् स्मृति-
विग्रम’ कहा गया है। स्मृतिविग्रम से बुद्धिस्वरूपमिनाराक कायकथाय (संवृद्धिवैग्रमय) का कन हो
पड़ेगा, विषय-‘स्मृतिग्रम गान् बुद्धिनाराः’ से विस्तेष्य हुआ है। इसप्रकार अन्तर्विग्रम अन्त का-‘बुद्धि-
नम्रात् प्रणययति सर्वमन्ना वरिष्यार्थं हो जायगा विषे वरिष्यार्थ न होने देने के लिए ही बुद्धिवैग्रमपुनरा
पञ्चमिविषय प्रवृत्त हुई है।

- १-कामान्तरपीयतविषयसंस्काररूप-———-ध्यायकर्मविभागः (संस्काररूपमभिन कर्मादि)
- २-ऐहिक-ऐन्द्रियकविषयसाक्षात्कार-——-द्वितीयकर्मविभागः (कर्मात्मकमभिन कर्मादि)
- ३-ऐहिक ऐन्द्रियकविषयसंस्काररूप-——-तृतीयकर्मविभागः (संस्काररूपमभिन कर्मादि)
- ४-ऐहिक-संस्काररूपगता विषयसाक्षात्काररूप-—-चतुर्थकर्मविभागः (कर्मात्मकमभिन कर्मादि)

१-प्रथमकर्मनखा विषयसाक्षात्कार-ऐन्द्रियकर्मविभाग-कामस्वोदका-—

सङ्गान् सङ्गायते काम (सङ्गात्-जन्मात्परीयसङ्गितसंस्कारसङ्गत्या-काम-
साक्षात्काररूपमा प्राप्नुयन्ति) ।

२ विषयसाक्षात्काररूपमूलस्य कामस्य-जन्मात्परीयसङ्गितस्य-विरवधित्वानुमनानात्-
द्वितीयकर्मणा समुत्पन्ने संस्कारे आसक्तिर्जायते संस्कार स्वतन्त्रोक्तकूपेण परिणतो भवति-
‘ध्यायते विषयान् पु सः सङ्गस्तेषूपजायते’ (तत्रैव स्थितस्व मनसा-विरवधित्वानुमनानात्-तेषु
रूपविषयपु-रणासक्तिरुत्पन्ना भवति) । स एव सङ्गपदार्थः-नवीमोक्त-ऐहिकमभ्यानुगत ।

३-तं गृहीत्वा गृहे परावर्तितास्तत्र भवन्तो भवन्तः । अत्र भगवानाह-

(१) - 'ध्यायतो विषयान् पु स सङ्गस्तेषूपजायते'

'द्वितीयकर्मणा समुत्पन्न संस्कारे यच्च सुखात्मककामेन पुन पुन संस्मरणं, तर्हि तस्मिन् मन आसक्तो भवति, तत्र रागासक्त्यां सञ्जाते ।

(२) - 'सङ्गात् सञ्जायते कामः'

'रमासक्त्यासञ्जानात्-संस्कारानुगतवाङ्मयविषयस्य पुनर्दर्शनकामना' ।

(३) - 'कामात् क्रोधोऽभिजायते'

पुनर्दर्शनकामसङ्गताया, विफलतायां वा बोधयथा शारीरग्नौ भोजनस्य क्रोधस्योदयः ।

(४) - 'क्रोधात् भवति संमोहः'

'बोभक्ष्यक्रोधात्-संज्ञितान्मुक्तसंस्कारा-अस्तव्यस्ता-अविमक्षा-सम्-उत्पन्ना जायन्ते' ।

(५) - 'संमोहात् स्मृतिविभ्रमः'

'संस्काराणां अस्तव्यस्तस्वात्-विमक्त-म्यवस्थित-धर्मानुगताया स्मृतेरभावः ।

(६) - 'स्मृतिविभ्रं शाब्दबुद्धिनाशः'

सुखमात्र बुद्धित्वरूपसंस्कारस्य व्यवसायसङ्गविषये कर्मस्योच्छेदप्रसङ्गः ।

सवित्—

१-ध्यायतो विषयान् पु स सङ्गस्तेषूपजायते ।

सङ्गात् सञ्जायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥

२-क्रोधात् भवति संमोहः, संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिविभ्रं शाब्द-बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

—गीता २।६० ६३।

३३-राग, और द्वेष का जन्य-जनक मान

रागोऽप्यानुगता रागावस्थि वा स्वल्प परिचय कर्तव्ये नृप यद् राग किञ्च गया है कि - 'रागोऽप्यानुगता-मयैत अनुकूलसंस्कारोक्त्यावस्थित शारीरग्निरिति मन से निकलने वाली अवांस्थि का परिमयी है। काम नाम की अनुकूल कामना है । अनुकूलकामनामिका अनुकूलसंस्कारकामनावस्थि ही रागावस्थि है । रागावस्थि कैसे कही जायती है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए ही यहाँ में आरम्भ कर उक्त श्रिय पर्वन्त काम-वस्मयता की प्रावृत्ति की मीमांसा करनी पड़ी । इसी रागावस्थि से द्वेषावस्थि वा स्वल्प-परिचय भी उत्पन्न है । रागावस्थि का मूल यदि सुखानुगामी काम है तो द्वेषावस्थि का मूल दुःखानु-

शास्त्री श्लेष है। उपर श्लेष नाम से उत्पन्न उत्प है। अतएव कामादिमन्त्र रागासक्ति में ही श्लेषात्मिका होपावन्ति अ भी शब्दार्थ माना जासकता है। प्रसङ्गात् इत्येक सम्बन्ध में भी दो शब्द रख देना अनावश्यक न माना जायगा।

३४-रागादौप का लक्षणसमन्वय—

श्रीगुणानुपद-सहित प्रतिकूलसंस्कारोत्पन्नचित्तमानस योगमर्मित शास्त्रीयमिति से निकलने वाली अर्थात्मिका परिमयी ही 'श्लेष' नाम की प्रतिकूलभावका है। यह प्रतिकूलभावना प्रतिकूल नियम के ही अनुगत की जाती है। अतएव श्लेषात्मिका प्रतिकूल कामना बुद्ध्यानुशासिनी मानी गई है। गुण में (दुःखा-नुमत् प्रतिकूल किरण के परिणामात्मक प्रवृत्ति में) श्लेषश्लेष मन ही श्लेष है। इस श्लेषात्मिका प्रतिकूल कामना (होपकामना) से उक्त प्रतिकूल-होप-कामनात्मक प्रतिकूल संस्कारकथन ही 'होपात्मक राग' है। यही होपात्मक है। आपकी इस प्रतिकूल-संश्लेष संस्कारानुगत प्रतिकूल काम (होपा) से पुरोऽवस्थित प्रतिकूल किरण पर पड़ी। आपका मन ज्ञान हो गया, आपने वहाँ से कहीं से कहीं मनको निष्कलना अवसर प्राप्त। परन्तु उसकी आप आपके मनोवृत्त पर लक्षित हो गई। यही आप स्वच्छन्दस्वयम् में परित्यक्त हो गई। अब जब भी स्मृति के द्वारा वह उद्भूत हो जाती है, वह होप नियम नन करते हुए भी आपको ज्ञान कला रहता है। यही होपात्मक का उदाहरण है। रागात्मक से यही अनुकूलवेदनात्मक गुण का अनुभव होता रहता है। यही इस होपात्मक में प्रतिकूलवेदनात्मक गुण का अनुभव होता रहता है। इसी आधार पर वैज्ञानिकों ने कहा है कि—'सुखानुरागिक-कामानुबन्धी-अनुकूल भावना-वासनासंस्कार के साथ होने वाला प्रधानमन का सामान्य प्रवृत्तिस्वरूप ही 'राग' है यही रागासक्ति है'। एवं-दुःखानुरागिक-श्लेषा-नुबन्धी प्रतिकूल भावना-वासनासंस्कार के साथ होने वाला प्रधानमन का यह-प्रवृत्तिस्वरूप सम्बन्ध ही 'होप' है, यही होपासक्ति है। इसी आधार पर इस दृष्टि से वैयर्थविरोधी राग-होप-इन्द्र का निम्न लिखित लक्षण किया जा सकता है।

१-सुखानुरागिक-कामानुबन्धी-अनुकूलभावनवासनासंस्कारैः अग्निगर्मितजनसं सामान्यप्रवृत्ति-वन्धनसम्बन्धः आसक्तिरूपो वा-**'राग'**। सौपा रागासक्तिः।

२-दुःखानुरागिक-श्लेषानुबन्धी-प्रतिकूलभावनवासनासंस्कारैः सोमगर्मितजनसं-दृढप्रवृत्तिवन्धन-सम्बन्धः आसक्तिरूपो वा-**'होप'**। सौपा होपासक्तिः।



३५-रागाकारात्मक प्रम के पाँच निमित्त क्षेत्र—

काम दृष्टि से 'रागद्वय' का सम्बन्ध कीजिए। जिस भौतिक नियम का हमारा मन प्रवृत्ति करना चाहता है उत नियम के प्रति मन का स्वाभाविक आकर्षण रहता है। एवं जिस नियम से हमारा मन हटना चाहता है उसके प्रति मन का विरोध रहता है। पहिले आकर्षणकलाप्रयोग का उदाहरण देखिए। पति का मन पत्नी की ओर पत्नी का मन पति की ओर स्वाभाविक आकर्षित रहता है। पिता-पुत्र पुत्र-पिता मित्र मित्र, हस्त्यदि स्पर्शों में दोनों का दोनों ओर समानाकर्षण है। आकर्षणकलाप्रयोग का अर्थ है मानस योग

रस का लक्ष्य की ओर प्रवृत्ति रहना । यही रसप्रसाह 'प्रेम' कहलाया है । अवयवयोगिक परप्रतिबोधि, परानुयोगिक अवयवप्रतिबोधि, समानानुयोगिक समानप्रतिबोधि, एकतोऽनुयोगिक सर्वांशुयोगिक सर्वप्रतिबोधि, मेद से इस रसप्रवृत्त्यक आकर्षण के बीच विचल हो जाते हैं । पिता आदि परों का पुत्रादि अवयवों के साथ ही स्वामा नष्ट प्रेमोपाकर्षण है यही अवयवयोगिक परप्रतिबोधि 'वात्सल्य' नामक आकर्षण है । वात्सल्यरस परों से प्रवृत्ति होकर अवयवों की ओर आ रहा है । इस रस का योग अवयवों से हो रहा है । अतएव इसे परप्रतिबोधि-अवयवयोगिक कहा जाता है । इस स्थिति को ठीक उल्लेख कर दीजिए । पुत्रादि अवयवों का पितादि परों के साथ ही स्वाभाविक प्रेमोपाकर्षण है यही परानुयोगिक अवयवप्रतिबोधि 'भद्रा' नामक आकर्षण है । भद्रारस अवयवों से प्रवृत्ति होकर परों की ओर आ रहा है । इस रस का योग परों से हो रहा है । अतएव इसे परानुयोगिक अवयवप्रतिबोधि कहा जाता है । एक मित्र दूसरे मित्र के लिए समान है । 'समानरीति-व्यसनपु मैत्री' सिद्धान्तानुसार समान वर्गियों में ही मित्रता का सम्बन्ध स्थापित होता है । एक मित्र से प्रवृत्ति होकर उसका प्रेमावस्य दूसरे मित्र की ओर आ रहा है, तो उस दूसरे मित्र का प्रेमावस्य इस प्रथम मित्र की ओर आ रहा है । प्रथम मित्र का प्रेमावस्य द्वितीय मित्र की अपेक्षा समानानुयोगिक, स्वप्रेक्षा समान प्रतिबोधि है, तो द्वितीय मित्र का प्रेमावस्य प्रथम मित्रापेक्षा समानानुयोगिक, एवं द्वितीय मित्रापेक्षा समानप्रतिबोधि बना हुआ है । दोनों के प्रेमावस्य परस्पर एक दूसरे के प्रति समानरूप से प्रवृत्ति हो रहे हैं । यही समानप्रतिबोधि-समानानुयोगिक प्रेमोपाकर्षण 'स्नेह' कहलाया है । भद्रा-वात्सल्य-स्नेह, तीनों आकर्षणों में आकर्षण-रसप्रयोगों के चित्र बनन हैं, समीप हैं । यह, वस्य, आभूषण, पुष्पक उद्यान, अन्न, आदि नष्ट वस्तुओं के प्रति भी प्रेमावस्य प्रवृत्ति रहता है । प्रवृत्ति होकर वह इन नष्ट वस्तुओं में आकर्षण हो जाता है । इसी आधार पर-'वायव्यचित्तं तप्यन्तमा' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है । इनमें न अनुयोगिकता है न प्रतिबोधिबद्धता । केवल हमारे रस का उनके साथ योग है । अतएव इस प्रेमोपाकर्षणरसक 'काम' नामक आकर्षण को एकतोऽनुयोगिक कहा गया है । पौर्वाभे प्रेमोपाकर्षण में भद्रा-वात्सल्य-स्नेह-व्यसन चारों आकर्षणों का समन्वय है, अतएव 'रति' नाम से प्रसिद्ध कर्तव्यक यह आकर्षण सर्वांशुयोगिक-सर्वप्रतिबोधि कहलाया है । इसके सर्वानुयोगिक सर्वअवयवप्रतिबोधि-व्याकर्षण एवं सर्वांशुयोगिक सर्वप्रतिबोधि, मेद से ही मेद मार्गें गए हैं । हम भद्रावस्य से ईश्वर की उपासना करते हैं किन्तु उपासना का वाङ्मयनन्दन वाङ्मयवत्स्वरूप स सम्बन्ध है । वाङ्मयवत्स्व से उपासना करते हैं किन्तु उपासना का नन्दनन्दनस्वरूप स सम्बन्ध है । हम स्नेहवत्स्व से उपासना करते हैं जो उपासना कृष्णवत्स्व अनुन के सम्बन्ध में वृत्ति हुई है । पापाश-आदि भगवन्मित्रोपासना (भगवत्पासना प्रतिबोधिपासना) का कामवत्स्व स सम्बन्ध है । स्वयं वन्द्यादि लक्ष्य प्रतीकोपासना का भी इसी कामवत्स्व में अन्तर्भाव है । एतद्वत्सर लक्षणवत्स्व के सम्बन्ध में चारों प्रेमोपाकर्षणों का सम्बन्ध हो रहा है । 'परं श्रुत्यत्राहं है, उपास्य है । उपासक जीवात्मा अवयव है । सर्वव्यापक कर्मवर्गों पर ईश्वर की न किसी पर भद्रा है न वात्सल्य है, न स्नेह है, न काम है, और यही वैज्ञानिक उपासना का उतर है किन्तु मन्त्रियोगपरीक्षापर्यन्तों में बहुधा प्रतियोग दिया आ चुका है । अतएव यह उपाकर्षण अवयवप्रतिबोधि ही माना जायगा । उपासक की भद्रा, वात्सल्य, स्नेह कामवृत्तियों की उपास्य ईश्वर की ओर ही अनुवृत्ति रहती है । अतएव एवंविध उपाकर्षण 'परानुयोगिक' ही माना जायगा । नमोकि परानुयोगिक-अवयवयोगिक इस आकर्षण में चारों का सम्बन्ध है, अतएव इस ईश्वरानुगत प्रेमोपाकर्षण का हम 'रति'

नामक-सर्वपदनुयोगिक-संसारप्रतिबोधिगता रक्षाकरण ही कहेंगे। किन्तु निष्पन्न यहो होगा कि सर्वस-
प्रसाहनात्मक 'एति प्र म का एक क्षेत्र उपास्य कथुया गद्य है। इस रति से जीव भी उन्मुक्त हो जाय है ॥

इसके उपाकर्ण का क्षेत्र दाम्पत्यमय है। दाम्पत्यमाधनुगत रक्षाकर्ण ही सर्वनुयोगिक सर्वप्रतिबोधिगता नाम का वृत्त उपाकर्ण है। पीछे पति के क्षेत्र से सम्बन्ध कीष्टि। पत्नी पति पर बढ़ा करती है उस आराध्य मानती है। पत्नी का अङ्गार पति के लिए प्रतिबोधि है पति के लिए अनुबोधि है। अतः प्रभर स्वकृत्य की दृष्ट्यात्म्या में माया के अन्तर्भाव में वास्तव्यरत उन्मत्त पत्नी है प्रबोध पति की दृष्ट्यात्म्या में भी 'बाधा' प्रविष्टिशी (मातृप्राधिपतिशी) पत्नी का वही वास्तव्यरत प्रवाहित होने लगता है, जो अनुभवेक्षण है। पत्नी का यह वास्तव्यरत भी पत्नी का प्रतिबोधि एवं पति के लिए अनुबोधि (अनुमुक्त) बन रहा है। 'सहस्यम्' चरत्तम् को चरितार्थ करने वाली पत्नी वास्तव्यरत पति की दृष्टिनी कनी रखती है। पतिमुक्त में मुक्तानुभव करने वाली पतिमुक्त में मुक्तानुभव करने वाली पत्नी अपना मित्रानुगत स्नेहरत भी पति की ओर प्रवाहित रक्ती है। यहाँ भी पत्नी का यह स्नेहरत पत्नी के लिए प्रतिबोधि, एवं पति के लिए अनुबोधि सिद्ध होता है। पति की कामानुगता पति, बाधवेद्यभूतानुगत बाधवेद्यम्य मन्दरत आदि के प्रति भी कामानुगता पत्नी आकर्षित रखती है। वही इसके कामरत का पति की धार ब्याव है। यहाँ भी पत्नी का कामरत इसके लिए प्रतिबोधि है एवं पति के लिए अनुबोधि है। इत्यन्तर पत्नी के मनोऽनुगत अद्यादि चारों रत 'प्रत्यनुबोधि-पत्नीप्रतिबोधि' रूप से सर्वलोक को हुए हैं। अतएव अनुर्विच इत सत्य-
मुक्त पत्नीप्र म को अक्षय ही 'एति' कहा जात्य है। ठीक वही स्थिति पत्नी-क्षेत्र के सम्बन्ध में पतिव
हु है। गृहप्रतिष्ठा-जीवन-पत्नी पति के लिए अर्द्धा है सम्माननीय है कैय कि 'यत्र नाप्येस्तु
पूरकता' इत्यादि अर्द्ध मनुबन्धन से प्रमाणित है। पति की वास्तव्यरत से भी पत्नी अनुगृहीत रखती
है। स्नेहलानुगति भी स्पष्ट प्रमाणित है। कामानुगत केशचतुष्टयानुगतादि विन्यक्तचरण कामरत प्रचरण
भी दृष्टि है। पति के वे अद्यादि चारों रत पति के लिए प्रतिबोधि है एवं पत्नी के लिए अनुबोधि
है। पति के मनोऽनुगत अद्यादि चारों रत प्रत्यनुगत पतिप्र म को अक्षय ही 'एति' कहा जात्य है। वही
'प्रत्यनुबोधि-सर्वप्रतिबोधि' लक्षण वृत्त उपाकर्ण है, किन्तु एक मात्र क्षेत्र दाम्पत्यमय ही माना गया
है। पत्नीप्र म की प्रविष्टा पतिप्र म है पतिप्र म की प्रविष्टा पत्नीप्र म है। उभयपक्षत रति उभयपक्षत है।
वही दाम्पत्यप्र मार्षण का वैधानिकस्वरूप है। निष्पन्नतः आर्क्षणकलाभाय उभयनिष्ठ ही हुआ करते हैं।
अतएव यही हुआ कि, विन्यक्तानुगत मानव उभयवाह ॥ आर्क्षणप्र म है एवं यह अर्द्ध-वास्तव्य-स्नेह-वाम-
रति, मेद से बद्धा विद्यत है यैव कि पतिक्षेत्र से स्पष्ट है।

६-कामं, क्रोध, मयं, स्नेह, मैत्र्यं, माहृदयं च ।

नित्यं इहा विदुषो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥

—श्रीमद्भागवत १० स्कं पू २३ अ० १५ श्लोक ।

बाटी है। योगात्मक सम्बन्ध आकर साम्यक है। योगात्मक सम्बन्ध विज्ञापनात्मक है यही तात्पर्य है। जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि कामानुगत मानव आकर का ही नाम राग, किंवा रागावृत्ति है। अतएव रागावृत्ति में मन रागानुगत जगत् क्रिय की ओर लगा आकर्षित रहता है। योगानुगत मानव विज्ञेय का ही नाम ज्ञेय किंवा ज्ञेयावृत्ति है। अतएव ज्ञेयावृत्ति में मन ज्ञेयानुगत बाध क्रिय से बड़ा रहता रहता है। दूसरे शब्दों में आक्षेप-गुणनप्रयोग ही राग है। विज्ञेय-गुणनप्रयोग ही ज्ञेय है। यही राग-ज्ञेय सम्बन्ध का तृतीय दृष्टिकोण है।

कामानुगताक्षरकलाप्रयोग — राग

योगानुगतविज्ञेयगुणनप्रयोग — ज्ञेय

} — आकर्षित

कामानुगताक्षरकलाप्रयोग — बा — राग

योगानुगत विज्ञेयगुणनप्रयोग — ज्ञेय

} — आकर्षित

३७ कामकोषानुपन्धी रागावृत्ति—

बांधी दृष्टि में रागावृत्ति का सम्बन्ध कीर्ति है। राग भी काममूलक है। ज्ञेय भी काममूलक है। रागकामना में रागावृत्ति का जगत् होता है। ज्ञेयावृत्ति से ज्ञेयावृत्ति का जगत् होता है। इत्यन्तर यद्यपि राग ज्ञेय दोनों का प्रवचक 'काम' ही है। तथापि इन दोनों में से काममूलक काम को ही 'काम' शब्द में ही व्यक्तित्व दिया जाता है। एवं ज्ञेयमूलक काम को 'बाध' न कह कर 'ज्ञेय' कहा जाता है। कारण यही है कि काममूलक काम शारीर्यधर्मित मन से निर्मित होता हुआ भुक्तानुगामी, अतएव लोभ है। उभर ज्ञेयमूलक काम मनोवर्त्मित शारीर्यधर्मित से निर्मित होता हुआ भुक्तानुगामी, अतएव आशेष है। आशेषजन्य अतएव लोभ लोभ लोभ है। अतएव लोभ मनोवर्त्मित रागानुगता कामना स्नेहलक्षणा आकरावृत्ति के द्वारा रागकथन की बननी बनती है। एवं आशेषजन्य रागानुगता ज्ञेयानुगता कामना तबोत्पत्त्या विज्ञेयवृत्ति के द्वारा ज्ञेयावृत्ति की बननी बनती है। ज्ञेयावृत्ति अक्षरकलाप्रयोग से ज्ञेयावृत्तिपरक परिष्कारात्मक कथन है। एतदन्तर्गत स्नेहसम्प्राप्त्य में ज्ञेयावृत्ति-प्रवृत्त्यात्मक कथन है। इसप्रकार रागानुगतावृत्ति प्रतिष्ठित एक ही काम मोक्षान्ति के लक्ष्यवशात्काम से कामात्मक काम आशेषात्मक काम इन दो स्वभावों में परिणत हो जाता है। कामात्मक काम 'काम' कहलाता है। आशेषात्मक काम 'ज्ञेय' कहलाता है। यही आधार पर कहा जा सकता है कि राग कामानुपन्धी है। एवं ज्ञेयावृत्ति भी है। राग में काम का साम्राज्य है किंवा काम में राग का साम्राज्य है। एवं ज्ञेय में ज्ञेय का किंवा ज्ञेय में ज्ञेय का साम्राज्य है। ऐसी स्थिति में यदि काम को राग का एवं ज्ञेय का ज्ञेय का कह कर फिर कहें, तब भी असुक्ति न होगी।

कामवर्त्मित राग से सम्बन्ध रखने वाली एक अनुकम्पनी में उत्पन्नविषयकता रहती है। रागावृत्ति के लक्ष्य को अपना कर अनुकूल वे-नारात्मक भुक्तानुगता करता हुआ कर्मावृत्ति-प्रवृत्ति कामावृत्ति रागी तत्त्वकाम को भी

- १-परमनुयोगिक-अवप्रतिबोधिर्क प्रेमार्कर्मणम् - 'भद्रा']-सत्त्वगुणाकर्षणम्
 २-अवप्रतिबोधिर्क-परमनुयोगिक प्रेमार्कर्मणम् - 'वात्सल्य' }-रजोगुणाकर्षणम्
 ३-समानप्रतिबोधिर्क-समानानुयोगिक प्रेमार्कर्मणम् - 'लेश' }
 ४-एकतोऽनुयोगिक प्रेमार्कर्मणम् - 'अमा']-तमोगुणाकर्षणम्
 ५-अर्धानुयोगिक-अर्धप्रतिबोधिर्क प्रेमार्कर्मणम् - 'रति']-सर्वगुणाकर्षणम्



३६-आकर्षण-विशेषशास्त्रक रागाद पठन्त-

सकलबन्ध-मानस प्रेमार्कर्मण का में दोनों का दोनों को आकर्षण होता है। एक दूसरे ने परस्पर एक दूसरे के प्रति आत्मसमर्पण कर सकता है। यह प्राकृतिक प्रेमार्कर्मण ही 'रमा', किंवा 'रागाद' है। ठीक इसके विपरीत इसी मानस रस का परस्पर विक्षेपण होता ही 'द्वेष' किंवा 'द्वेषाद' है। समने आपस राग लक्ष्य है। आपका मानस रस (व्यभिच) उसकी ओर लीचा जा रहा है उसका रस आपकी ओर लीचा जा रहा है। दोनों में रस का अणुमात्र भी स्थिर नहीं हो पाता है। प्रत्येक किंवा का लक्ष्य है कि, पूर्व में द्वेषादिक का निरक्षेपण करते हुए हमने मानस रस का सम्बन्ध स्थापना किया है। अब वहाँ यह कहा जा रहा है कि, दोनों के रसों का स्थिर भी नहीं हो पाता। यह कैसा दुर्भाग्यविशेष?। उत्तर स्पष्ट है। 'संयोग निप्रयोगप्रता' सिद्धान्तानुसार संयोग ब्रह्म विमोक्त है, तो वियोग संयोगान्त है। राग का कार्य है संयोग। निरास ब्रह्म-यह संयोगात्मक राग अवश्य ही 'अतिपरिचयबद्ध' के अनुसार किसी दिन वियोगस्वरूप में परिणत हो जाएगा और संयोगात्मक राग की यह विमोक्तिका दशा ही वियोगात्मक द्वेष रूप में परिणत हो जायगी। यो रगादिक ही किसी दिन द्वेषादिकरूप में परिणत हो जायगी। इस का कार्य है वियोग। यदि वह वियोग निरन्तर ही बना रहेगा, तो अवश्य ही वह किसी दिन संयोगरूप में परिणत हो जायगा और विमोक्त-रूप द्वेष की वह संयोगात्मक दशा ही संयोगात्मक रागरूप में परिणत हो जायगी। यो द्वेषान्वित ही आनन्द में रागादिकरूप में परिणत हो जायगी। राग का चरम परिणाम होय द्वेष, द्वेष का चरम परिणाम होय राग। होम का आनन्दितिक संयोग ही विमोक्तिका ब्रह्म है, एव ब्रह्म का आनन्दितिक विमोक्त ही संयोगात्मक द्वेष है। नही स्थिति ब्रह्मनिर्गमि होम मन से निर्गम अमानुषकी होमगुणक राग की, तथा होमनिर्गम रागीयति से निर्गम अमानुषकी ब्रह्मगुणक द्वेष के सम्बन्ध में पटित हुई है। जो राग है वही द्वेष है। जो द्वेष है, वही राग है। अम से ही रागीयति है अम से ही द्वेषोपपत्ति है। इस स्थिति को अक्षय में रक्त कर उत्तर का समन्वय कीजिए। इत्यादी का लक्ष्य है ब्रह्म पक्षि दोनों रसों का संयोग ही। विमोक्त संयोग को आधार बना कर ही प्रवृत्त होता है। योग ही विमोक्तगति का कारण होता है। सम्बन्ध होता ही तो सम्बन्धविच्छेद को अवसर मिलेगा। द्वेष में दोनों रसों का दोनों रागों के समुच्चय होते ही पक्षि ब्रह्म मर के लिए आनन्दरूप से सम्बन्ध हो जाता है। इस प्राकृतिक-आकर्षण-संयोग के सम्बन्धविच्छेदरूप में ही सम्बन्ध का विच्छेद हो जाता है। सम्बन्ध अपनी सम्पुष्टता छोड़ कर विमुक्तता में परिणत हो जाता है। उत्तरादिक विशेषात्मक द्वेष में भी मूल में सम्बन्धिका आवृत्ति की वृत्ति ही विमोक्त

बाती है। रागात्मक सम्बन्ध आश्रय/कारणक है। स्वभाविक सम्बन्ध विद्युपयात्मक है। यही तात्पर्य है कि हमें आचार पर यह कहा जा सकता है कि कामानुगत मानव आश्रय/कारणक का ही नाम राग किंवा रमात्मक है। अतएव रागात्मिक में मन रागानुगत बन्ध विषय की ओर धरा आकर्षित रहता है। श्रोत्रानुगत मानव विषय का ही नाम द्वेष, किंवा द्वेषात्मक है। अतएव द्वेषात्मिक में मन द्वेषानुगत बन्ध विषय से धरा हटता रहता है। वृक्षों वृक्षों में आश्रय गन्धप्रयोग ही राग है, विद्युपयात्मकप्रयोग ही द्वेष है। यही गगन धरन्त सम्बन्ध का सुवीर्य दृष्टिकोण है।

कामानुगताश्रयकत्वप्रयोग—राग

श्रोत्रानुगतविद्युपयात्मकप्रयोग—द्वेष

}—आश्रय/कारणक

कामानुगताश्रयकत्व—का—राग

श्रोत्रानुगत विद्युपयात्मक—का—द्वेष

}—आश्रय/कारणक

३७ कामकोबानुबन्धी रागद्वेषद्वन्द्व—

कोयी दृष्टि से रागद्वेषद्वन्द्व का सम्बन्ध कीजिए। राग भी काममूलक है। द्वेष भी काममूलक है। रागकामना से रागात्मिक का उदय होता है। द्वेषात्मिक से द्वेषात्मिक का उदय होता है। इतनाकार राग से राग द्वेष होती का प्रवक्तृ 'काम' ही है। तथापि इन दोनों में से रागमूलक काम को तो 'काम' शब्द से ही व्यञ्जित किया जाय है। एवं द्वेषमूलक काम को 'काम' न कह कर 'द्वेष' कहा जाय है। कारण यही है कि रागमूलक काम शारीरिकमार्गित मन से विनिर्गत होता हुआ सुखानुगामी, अतएव सौम्य है। उपर द्वेषमूलक काम मनमार्गित शारीरिक से विनिर्गत होता हुआ दुःखानुगामी, अतएव सौम्य है। आन्तरिक अतएव सौम्य स्नेह रहता है। अतएव सौम्य मनप्रधान रागमूलक कामना स्नेहवत्त्वा आश्रयकारक के द्वारा रागकामन की बननी बनती है। एवं आन्तरिकप्रधान द्वेषमूलक कामना स्नेहवत्त्वा विद्युपयात्मिक के द्वारा द्वेषकामन की बननी बनती है। इतनाकर अतन्मित्राभाव से अकामनात्मक परिणामात्मक बनने से रागकामन अकामनात्मक-अद्वेषात्मक बनने है। इतनाकर रजोव्यापारेण प्रतिष्ठित एक ही काम मोमादि के सम्बन्धकारण से कामकाम काम कोषात्मक काम इन दो स्वरूपों में परिणत हो जाय है। कामकाम काम 'काम' कहा जाय है। श्रोत्रात्मक काम 'द्वेष' कहा जाय है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि राग कामानुगामी है। द्वेष श्रोत्रानुगामी है। राग में काम का लक्षण है कि काम में राग का लक्षण है। एवं द्वेष में द्वेष का किंवा द्वेष में द्वेष का लक्षण है। किन्तु स्थिति में यदि काम को राग का एवं द्वेष का द्वेष का उदय कर किन्तु राग राग भी अत्यन्त ही है।

कामकाम राग से सम्बन्ध करने वाले लक्ष्य

मन्य को करना का अत्यन्त ही

अत्यन्त ही रहती है

कामकामी गामी

वैराग्य का कार्य होता है—काममूलक राग का अभाव । क्या वैराग्य शब्द से केवल काममूलक राग का ही अभाव अभिप्रेत है ? नहीं । अपितु वैराग्यशब्द राग द्वेष, मोह तीनों के अभाव का सूचक बन रहा है । अन्ते ! सुनिश्च ।।

३६—कामक्रोक्लोममूलक—रागादृष्टमोह—

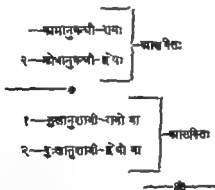
गीता ने रजोगुण से काम क्रोध की उत्पत्ति मानी है । क्रोध को लोभात्मक 'मोह' का भी उपलक्षण समझना चाहिये । और इस दशा में—'काम एषा, क्रोध एषा' रजोगुणसमुद्भवाः का कार्य—काम एषा, क्रोध एषा लोम एषा रजोगुणसमुद्भवाः यह समझना चाहिये । अज्ञानादृत ज्ञानलक्षण मोह लोभात्मक मोह भेद से मोह दो प्रकार का माना गया है । अज्ञानादृत ज्ञानलक्षण मोह को पतञ्जलि ने 'अविद्या' शब्द से व्यक्त कर दिया है । एवं इस अज्ञानात्मक मोह का प्रतिबन्दी ज्ञान माना गया है जिसका सिद्धविधानुगत ज्ञानप्रतिबन्दी-योग से सम्बन्ध है जिसका तृतीय स्वप्न में विस्तार से उपरहण किया जा चुका है । दूसरा लोभात्मक मोह उस अज्ञानात्मक—ज्ञानप्रतिबन्दी—मोह से पृथक् उत्पन्न है । लोभात्मक मोह की प्रसिद्ध अज्ञान नहीं है अपितु रागादृष्टावृत्ति है । अतएव इसे रागादृष्टावृत्ति कावृत्तिस्वरूप में ही अन्तर्भूत माना जायगा । अतएव इसका प्रतिबन्दी रजोदृष्टावृत्तिवत् वैराग्य ही माना जायगा । 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लोक्या' का मोह ज्ञानप्रतिबन्दी अज्ञानात्मक मोह है । एवं—'मोहावाप्त्यतो कर्म' (१८।१५)—'मोहादृष्टगुहीत्वात्सामाना' (१९।१)—'प्रमारी मोह एव च' (१८।१९)—का मोह वैराग्यप्रतिबन्दी कावृत्तिस्वरूप मोह है । ज्ञानप्रतिबन्दी मोह का मत अज्ञान है वैराग्यप्रतिबन्दी मोह का मूल लोभात्मिक आवृत्ति है । अतएव रागादृष्टावृत्ति कावृत्ति कावृत्ति कावृत्ति इन आवृत्तिस्वरूपों के साथ ही मोहादृष्टावृत्ति लोम का संग्रह हुआ है जिसका—'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं प्राप्तामनात्मन । कामा क्रोधा-तथा लोभः' इत्यादि जगत्प्रवचन से प्रमाणित है । काम—क्रोध—लोम तीनों लक्ष्यकारी हैं समानाचार्य हैं अमिष लक्ष्य हैं । राग कामलक्षणी है द्वेष क्रोधानुबन्धी है, मोह लोभानुबन्धी है । अतएव काम—क्रोध को लोम का एषा रागादृष्टावृत्ति का मोह का उपलक्षण माना जायगा । गीता ने रजोगुण से काम—क्रोध की उत्पत्ति मानी है जिसमें लोम का भी समावेश करना पड़ेगा, और कहना पड़ेगा कि काम—क्रोध—लोम, तीनों रजोगुणसमुद्भूत हैं । कामानुगत राग क्रोधानुगत द्वेष यदि रजोगुणमूलक बनते हुए एकात्मक (कावृत्तिस्वरूप) हैं, तो लोभानुगत मोह भी रजोगुणमूलक बनता हुआ अवश्य ही रागात्मक माना जायगा । 'राग' का कार्य होगा कावृत्ति । रागादृष्टावृत्ति (रजोगुणलक्षणा) यह आध्यात्मिक स्वीकृति काम—क्रोध—लोम—मूलक राग—द्वेष—मोह भेद से बिना विभक्त रहती है । अतएव वैराग्य के राग शब्द से 'राग—द्वेष—मोह' तीनों का ग्रहण किया जायगा । और उस दशा में वैराग्य शब्द का कार्य किया जायगा—राग—द्वेष—मोह—राहित्य ।

काम—रजोगुणमूलक—अतएव रागात्मक—कामराग—सन्मुखो राग—अनुभूत रागः

रागादृष्टमोह—रजोगुणमूलक—अतएव रागात्मक—क्रोधात्मक—सन्मुखो द्वेष—प्रतिस्मृत रागः

लोभः—रजोगुणमूलक—अतएव रागात्मक—द्वेषात्मक—सन्मुखो मोह—स्वप्नरागः

सुखानुरागी बनाने में लगे हुए बना रहता है। अपने के साथ राग है अतएव इससे जैसे आप सुखानुभव का रहे हैं, वैसे रागशब्दीभूत अपने को पिताना-पिताना-कनके पहिनाना—उत्ते के लिए यमलक्षण (लिप्थोना) ताना आदि ध्वनों के साथ आप इसे भी सुनी बनाने में लग्न रहते हैं। प्रत्येक प्रकार से इसे सुन्न पहुँचाने का ध्यान रखा है। 'इसे सुन्न मिलें इसे कोई छत्र न हो' राग में इसी सुखानुभव की प्रधानता रखी है, बां अन्तरंगत्व दुःखानुभवप्रतिष्ठा का कारण बन जाता है। यही वास्तव्य बालक के मरिचिकित् उदयन से आपके कुल का कारण बन जाता है। श्लेषधनिष्ठ होप में ठीक इसके विपरीत है। होप से सम्बन्ध रखने वाले सब अनुक्त्यों में तर्जविषयबद्धता रहती है। किरके क्षम होप होता है उस पर क्या श्लेषग्रह बाध्य रहता है। शत्रु का नामस्मरण होते ही दौड़ मित्र जाते हैं मुझी पैर जाती है। कैसे इच्छा सर्वनाम हा, कैसे यह दुःखी को? यह निश्चितकरणा प्रकरणता बाध्य हो जाती है। राग में मन क्योंकि कुल में जोरपाये रहता है अतएव मानान् फलक्षिति मे राग का—'सुखानुरागी रागा' वह लक्षण किया है। यहाँ 'कुल' से 'क्रम' ही अभिप्रेत है। किन्तु कार्य होता है—'क्रमानुबन्धी रागा'। होप में मन क्योंकि कुल में जोरपाये रहता है। अतएव इच्छा योगदर्शन ने—'दुःखानुरागी होप' यह लक्षण दिया है। यहाँ कुल से श्लेष ही अभिप्रेत है। अतएव इच्छा कार्य होता है—'क्रमानुबन्धी ह्रा'। वास्तव्य करने का गद्दी है कि नियन्-त्मन्वानुगत्य उदयनुकृष्टा द्वि क्रम है नादानुकृष्टा विषयवियोगानुगता अस्त्यनुकृष्टा द्वि श्लेष है। एम एवंविध क्रमानुबन्धी है सुखानुरागी है। होप एवंपि श्लेषानुबन्धी है, दुःखानुरागी है।



३८-रक्षोमुक्तक-ग्राम-कोष-मोह-

रामदेवार्थिक का अर्थ है कि रामदेव ही से सम्बन्ध किया गया। रामदेव दोनों काम-शेख-मूलक हैं। काम-शेख, दोनों लक्ष्य का समावेशन करता है। काम ही लक्ष्य दोनों का मूल है। अतएव योगशास्त्र-प्रतिष्ठ 'यग' शेष नामक दोनों ज्ञेयों की समष्टि को 'आवर्ति' नाम से व्यवहार किया जा सकता है। अतएव पाँच ज्ञेयों के स्थान में इस विद्वान्दृष्टि के कारण कार ही ज्ञेय रह सकते हैं। चात्तो ज्ञेयो मे से रामदेवार्थिक आवर्ति ज्ञेय का प्रतिष्ठात्री आवर्तिनिवर्तक मन ही वैराग्य नाम से प्रसिद्ध हुआ है। आवर्ति-ज्ञेय का प्रतिष्ठानुसार स्वल्प परिवर्तन करमा स्या। अन्य उपस्थित-ही-प्रतिवर्तक वैराग्य-मम का निवर्तन कप दिया जाता है। निवर्तमानमय का ही नाम 'वैराग्य' है। 'यग' काममूलक ब्रह्मत्व गत्य है।

४०-‘रजो रागात्मकं विद्धि’ का समन्वय—

‘रजो रागात्मकं विद्धि’ (गी० १२।५।) के अनुसार रजोगुण रागात्मक है आसन्नरसमक है। आसन्नरस क्योंकि कामासन्न-क्रोधासन्न-लोभासन्न मेघ से तीन मार्गों में विभक्त है, अतएव रजोगुण भी तीन भागों में विभक्त हो जाता है। कामासन्नानुगत (कामरगानुगत) रजोगुण अनुकूलावस्थित क, लोभासन्नानुगत (क्रोधरगानुगत) रजोगुण प्रतिकूलावस्थित क एवं लोभासन्नानुगत (लोभरगानुगत) रजोगुण स्वभावस्थित क कनक कनता है। रजोगुणमूला अतएव रागात्मिक अनुकूलावस्थित ही ‘रग’ नाम से, रजोगुणमूला अतएव रागात्मिक प्रतिकूलावस्थित ही ‘द्वेष’ नाम से, एवं रजोगुणमूला, अतएव रागात्मिक स्वभावस्थित ही ‘मोह’ नाम से व्यवहृत हुई हैं। इत दृष्टि से रज-द्वेष-मोह-तीनों का रागात्मकत्व स्थिर हो जाता है।

४१-त्रिगुणात्मक रजोगुण का त्रिवृद्भूत—

एक घट और। त्रिवृद्भाव के कारण मनाप्रज्ञाचाक्षुस् स्तब्ध-रजस्तमोक्षणा गुणत्रयी भी त्रिवृद्भाव में परिणत रहती है। किन्तु आर्सेविद्यानुगत धर्मेबुद्धियोगानिष्कम प्रथम धम्म में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। इस त्रिवृद्भाव के कारण मध्यस्थ रजोगुण भी स्वरूप रज, रजोभ्रम रज, तमोभ्रम रज, इन तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। स्वगुणात्मक रजोगुण काम क, एवं कामानुगत अनुकूलावस्थितस्वभाव ‘रग’ का मूल कनता है। रजोगुणात्मक रजोगुण क्रोध का एवं क्रोधानुगत प्रतिकूलावस्थितस्वभाव ‘द्वेष’ का मूल कनता है। तमोगुणात्मक रजोगुण लोभ का एवं लोभानुगत स्वभावस्थितस्वभाव ‘मोह’ का मूल कनता है। इसी त्रिवृद्भाव के कारण रग को स्वानुगत, द्वेष को रजोऽनुगत, एवं मोह को तमोऽनुगत माना जा सकता है। स्वगुण बुलानुरागी है। अतएव स्वगुणात्मक रजोगुण से समुद्भूत काम, एवं कामानुगत रग को बुलानुरागी माना जायगा। रजोगुण दुष्टानुरागी है। अतएव रजोगुणात्मक रजोगुण से समुद्भूत क्रोध एवं क्रोधानुगत द्वेष को दुष्टानुरागी माना जायगा। तमोगुण स्वप्नानुरागी है। अतएव तमोगुणात्मक रजोगुण से समुद्भूत लोभ एवं लोभानुगत मोह को स्वप्नानुरागी माना जायगा, अतएव त्रिवृद्भाव से स्पष्ट है।

१-स्वगुणात्मक-रज-सम्बूत काम-वदनुगतासक्ति-‘रग’ (बुलानुरागी)

२-रजोगुणात्मक-रज-सम्बूत क्रोध-वदनुगतासक्ति-‘द्वेष’ (दुष्टानुरागी)

३-तमोगुणात्मक-रज-सम्बूत लोभ-वदनुगतासक्ति-‘मोह’ (स्वप्नानुरागी)

४२-वैराग्य का तात्त्विक स्वरूप—

स्वगुणानुगत रजोगुण से उत्पन्न ‘काम’ से सम्बन्ध रखने वाले रग में ग्रहण है। रजोगुणानुगत रजोगुण से उत्पन्न ‘क्रोध’ से सम्बन्ध रखने वाले द्वेष में निवृत्ति है। एवं तमोगुणानुगत रजोगुण से उत्पन्न ‘लोभ’ से सम्बन्ध रखने वाले मोह में सम्मति है। इसप्रकार त्रिवृद्भावान्न एक ही

रागगुण क्रम श्रेय-शोभ द्वारा राग होय-मोह का बनक बना हुआ है। अतएव वैषम्य के राग राग्य का उपलक्षणविधि (गणयविधि) से रागगहारी होय मोह का भी समाहक माना जा सकता है। अतएव य वैषम्य का-‘रागद्वेयमाहारादित्य वैराग्यम्’-इह लक्षण किया जा सकता है।

४३-विषयानुगत रागद्वयमोहश्रयी का अनुमावित साहचर्यम्—

राग-होय-मोह तीनों में अनुमावित (कस्मिन्-कस्मिन्) साहचर्य माना गया है। कल्पना कीकिय, किसी व्यक्ति का मन कामात्मक राग से युक्त है। जबतक मन में कामात्मक राग रहेगा, तबतक श्रेयसमक होय तथा कामात्मक मोह को अवसर न मिलेगा। एकमेव श्रेयसमक होय की वृत्ति में राग-मोह को कामात्मक मोह की वृत्ति में रागहोय को अवसर न मिलेगा। राग प्रवृत्ति है, होय निवृत्ति है मोह स्वप्न है। जबतक प्रवृत्ति है, तबतक निवृत्ति-स्वप्न सम्भव नहीं। जबतक निवृत्ति है, तबतक प्रवृत्ति स्वप्न सम्भव नहीं। एवं जबतक स्वप्न है तबतक प्रवृत्ति-निवृत्ति सम्भव नहीं। तदर्थम्—तीनों एकत्रैक-बन्धेदेन (एक समय में) मनोचरवृत्त पर प्रवृत्ति नहीं रह सकती। प्रवृत्तिस्थान एक ही है पण्डु प्रवृत्ति-काल तीनों का विभिन्न है। पहिला एक है। पहलू देने वाले ८ हैं। आठों विपरीत एक ही समय में पहिल नहीं देते। आठों का समय उक्त एक ही पहिले के लिए दिनरात में १-१-पन्धे से विभक्त है। कालभेदेन विभिन्न भी आठों पहिलेदारों का परस्पर साहचर्य है। कई किसी का अनिष्ट नहीं करना चाहता। कई किसी का क्लेशमोहपूर्ण स्थान नहीं छीनता। दूसरे के आशाने से पहिला अपना अनिष्टार इस दूसरे को देख कर करता है। आशान-प्रदानात्मक बड़ी साहचर्यक्रम आशानों में चलता रहता है। ठीक यही विधि यही कर्मभित्त। मनोचरवृत्त का पहिल एक है। पहिल देने वाले राग-होय-मोह भाव तीन पहिलेदार हैं। रागवृत्ति में इस उक्त स्थान नहीं छीनता होयवृत्ति में राग उक्त स्थान पर आक्रमण नहीं करता। मोहवृत्ति में रागहोय उक्त स्थान पर रहते हैं। यही तीनों का अनुमावित साहचर्य है। अनुमावित इतिविद् करना पक कि, तीनों स्वरूपतः कर्षका विभिन्न हैं अतएव विरोधी हैं। अतएव तीनों साथ नहीं रह सकते। अनन्तव्यभिक्त देता आन्तव्य (अन्तःकरणिक देता सम्भव) ही अनुमावित (कस्मिन्) साहचर्य माना गया है। तीनों का, तीनों के मूलाधारमूल वृत्त-रज-सामागुणों का इही आन्त्यान्त्यामिस्यात्मक अनुमावित साहचर्य से परस्पर अभिमिश्र होता रहता है। कभी राग होय को हटा देता है कभी होय राग को, तो कभी मोह राग होय का हटा देता है। ‘अन्त्यान्त्यामिस्यामिस्रजननमिधुनसृज्यस्य गुणा’ (संक्षिप्तविरच) से इही अनुमावित साहचर्य का स्वीकारण हुआ है। इस सम्बन्ध के आधार पर राग को होय, तथा मोह का उपलक्षण मानते हुए वैषम्य का राग-होय-मोह राहित लक्षण सम्भव बन जाता है।

तर्जुनराज गुणविरहित उपलक्षणविधा से सम्बन्ध रखने वाले अनुमावित साहचर्य को प्रमादिक मानते हुए यद्यपि उक्त प्रकाशानुसार राग की होय-मोह का उपलक्षण मान कर वैषम्य का ‘रागद्वेयमाहारादित्य वैराग्यम्’ किया जा सकता है। तथापि इस उपलक्षणविधा में पूर्ण अनिवार्य प्रकट नहीं की जा सकती। इही स्वरूप के आधार से एक दूसरे दृष्टिकोण से राग को होय, और मोह का समाहक माना जायगा। विज्ञात करते हैं—राग-होय-मोह तीनों परस्पर वर्तना विकट है। कथन है भी कथार्थ। ऐसी दशा में—अनन्तव्य-मत्तवोरान्तव्यम् इस जगद्विराष्टि का लक्षण होत कर तीनों विरोधियों में कस्मिन् साहचर्य मानना ठीक

ही तीनों विरोधियों के अविरोध की कल्पना कर एक से तीन का ग्रहण करना सर्वानुगत पक्ष अवश्य हो सकता है। किन्तु इसे वस्तुानुगत-विज्ञानसिद्ध पक्ष नहीं कहा जा सकता। विज्ञानदृष्ट्या या वैराग्य का अर्थ केवल 'रम्यादित्य' ही सिद्ध होता है। यही उपलब्धविधायक कल्पित साहचर्य में अवधि है। इसकी निवृत्ति के लिए ही पाठकों का ध्यान अन्य उस दृष्टिकोण की ओर आकर्षित किया जाता है, जिसका प्रधानविषय से ही सम्बन्ध है।

४४-संस्कारानुगता रागद्वेपमोहप्रयी का वास्तविक साहचर्य—

विश्वानुगति मनोऽनुगति, मेद से राग-द्वेप-मोह त्रयी दो मार्गों में विभक्त मानी जा सकता है। कदा विश्वानुगत राग द्वेप मोह वास्तव में परस्पर विरुद्ध हैं। जिस वास्तविक के साथ राग है वही द्वेप नहीं। जिसके साथ द्वेप है उसके साथ राग नहीं। जिसके प्रति मोह है उसके प्रति राग-द्वेप नहीं। मित्र के साथ द्वेपभाव है शत्रु के साथ रागभाव है। इसप्रकार विश्वानुगत रागादि वास्तव में परस्पर विरुद्ध होते हुए एकत्र नहीं रह सकते। परन्तु मन से प्रतीत रागद्वेपमोह स्वस्मत्तः परस्पर विरोधी होते हुए भी एक ही प्रज्ञा चरित्स पर एक ही क्षण में निर्निरोध प्रतीति हो जाते हैं। वास्तविक विश्वानुगत राग-द्वेप-मोहों से उत्पन्न संस्कारत्मक रागद्वेपमोह संस्काररूप से (वाचनात्मक से) उसी प्रज्ञा चरित्स पर उसी प्रकार एक ही समय में निर्निरोध प्रतीति रहते हैं, जैसे की परस्परविरुद्ध विरुद्ध तम, और प्रकाश एक ही लंगोलीय घण्टस पर एक ही क्षण में, एवं परस्परविरुद्ध विरुद्ध पञ्चमासानुगत पञ्चमासाश्रित एक ही शरीर में एक ही क्षण में निर्निरोध प्रतीति रहते हैं। इस मनोऽनुगता रागादित्रयी का साहचर्य अनुमापित नहीं है। अस्तित्व वास्तविक है। अतएव इस वास्तविक साहचर्य की अपेक्षा से अवश्य ही राग से उत्पन्न साहचारी द्वेप का एवं द्वेप से उत्पन्न साहचारी मोह का ग्रहण कर वैराग्य का-‘रागद्वेपमोहादित्य’ लक्षण करना सर्वानुगता अभिविधि का अर्थ बन जाता है।

४५-मनोऽनुगता राग से युक्त रागद्वेपमोहप्रयी का वास्तविक साहचर्य—

अपिच विरुद्ध हो केवल 'राग' शब्द का ही है। साक्षिण इस साहचर्य का आभय। केवल राग-शब्द को लक्ष्य बना कर ही स्थिति पर दृष्टि डालिए। आसन्न ही राग है, राग ही आश्रित है। अनुकूल स्थिति हो प्रतिकूलस्थिति हो किंचित् सम्भाव्य ही, आश्रितस्वेन तीनों आश्रित है। आश्रित का ही नाम जब राग है तब तीनों ही आश्रितरूप हैं जो अवश्य ही राग-द्वेप-मोह तीनों का राग नाम से व्यवहार किया जा सकता है तीनों का राग शब्द से ग्रहण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त पूर्व कथनानुसार कर्तव्यानुगत रजोगुण ही कामदाय राग का रजोगुणानुगत रजोगुण ही अपेक्षाय द्वेप का एवं तमोगुणानुगत रजोगुण ही सौम्य दाय मोह का जब जब बन जाता हुआ है, रजोगुण ही जब राग है, जबकि तीनों ही रजोगुणामक हैं तो इस दृष्टि से भी तीनों का रागधर्मीय (रजोगुणत्व) केने दृष्टया जा सकता है। इसप्रकार इस दृष्टि से भी रागादि तीनों का केवल राग शब्द से ग्रहण करना सर्वानुगता बन जाता हुआ है। राग शब्द का रजोगुणार्थ मोहोदर के लिए लक्ष्य दीर्घ, लाघव 'आश्रित' अर्थ को आचार बना कर ही शिव का सम्भव कीर्ति। मन से परिपरीत संस्कारत्मक राग-द्वेप-मोह, तीनों भाव रागदाय ही मनो-चरित्स पर प्रतिष्ठित हुए हैं, यह इसलिये मानना पड़ता है कि आश्रित ही राग है। एवं जब आश्रित

नदी है तब तक न राग है न रौप है न मोह है । मन का स्वाभाविक-स्वभावानुगत-स्नेहगुणक सौम्यता ही मानस राग है यही मानस रागात्मक सौम्य स्व भावप्रधान, किंवा भावभावित है । इस भावप्रधान के कारण ही अनुकूल भ्रमना के द्वारा मुक्तानुरागी विपरीतकार के साथ मन का राग होता है । इसी भावप्रधान से प्रति-प्लुतनाम । के द्वारा बुक्तानुरागी विपरीतकार के साथ मन का रौप होता है । इसी भावप्रधान से स्वप्नभ्रमना के द्वारा स्वप्नानुरागी विपरीतकार के साथ मन का मोह होता है । भावप्रधान (भावभावित) स्वप्न से निस्पृहता भी राग है विपरीत भी राग है एवं विपरीत भी राग है । वास्तविक है । यदि विपरीत से भावप्रधान न हो तो भावप्रधान स्वप्नप्रधान ही न रहे । यदि रौप के साथ भावप्रधान न हो, तो निस्पृहता भावप्रधान रौप से युक्त हो जाए । एवमेव यदि भावप्रधान का मोह से राग न रहे, तो कभी भावप्रधान मोहप्रधान न रहे । दूसरे शब्दों में वास्तविक रूप में भावित न होने, राग राग न होने, स्वप्न रौप में भावित (राग) न होने, रौप रौप न होने । एवं स्वप्न मोह में भावित न होने, स्वप्न मोह मोह न होने । राग-रौप-मोह, तीनों को मन से चित्त करने वाला मनोऽवस्थित स्नेहगुणक सौम्य राग ही है । राग-अनुपम-भावित ही रागरौपमोहवती को मूलस्थिति है । इस प्रकार चापविधानुक्त भी राग-रौप-मोह भावों के परस्पर संबंध विभिन्न स्थान पर भी अवश्य इनके अवस्थिति होने पर भी विपरीत-मनोऽनुकूल-मानस प्रवृत्ति पर प्रवृत्ति-स्वभावप्रधान राग-रौप-मोह भावों के स्वभाव विभिन्न होने पर भी इनका मानस प्रवृत्ति पर कर्त्तव्य निर्मित न होकर है इच्छित, इसके अतिरिक्त भावप्रधान स्वप्न से तीनों के रागात्मक बन कर ही मनोऽवस्थित पर प्रवृत्ति होने से उक्त तीनों का 'राग' शब्द से ग्रहण किया जाना कर्त्तव्य विज्ञानसम्मत बन जाता है । अवश्य वैयर्थ्य के 'राग-रौप-मोह राहित्य' इस शब्द में किसी भी प्रकार-आराध्य को प्रवृत्ति होने का अवसर नहीं मिल सकता । केवल राग (भावप्रधानका भावित) के हट जाने से ही राग-रौप-मोह, तीनों हट जाते हैं । अवश्य रागात्मिक (भावप्रधानका भावित) नहीं राग-रौप-मोह को बनती है वही भावप्रधान रागरौपमोह भावों का विपरीत बना हुआ है और वही रागरौपमोहभावन भावों के अतिरिक्त वैयर्थ्य का अतिरिक्त स्वभावप्रधान है जिसके आधार पर वैयर्थ्यप्रवृत्तिगुणक रागविनिर्वाण नाम की विधा प्रवृत्ति है ।

४६-वैगम्यबुद्धियगानुगता वैराग्यविद्या (रात्रिपिंडिका)—

वैराग्यमार्गसेछा बुद्धि ही बार विद्याबुद्धिमें से 'वैराग्यबुद्धि' नाम की विद्याबुद्धि है। एवं यम-
होपमनोपञ्च बुद्धि ही बार अविद्याबुद्धिमें से आत्मबुद्धि नाम की अविद्याबुद्धि है। वैराग्यबुद्धि के
उत्पन्न से आत्मबुद्धि का प्रमाण कहा जाता है, एवं आत्मा कबन से विनिर्मुक्त हो जाता है। यही हल्की
कर्तव्यबुद्धिबुद्धि है। यही योग्य समझ लीजिए। वैराग्योपनिषद् से समझे पायि नष्ट हो जाते हैं, हल्का उत्पन्न
यही है कि, समझ लीजिए कि उत्पन्न रहने वाला अविद्याबुद्धि नष्ट जाता है। समझे पायि शरीर के धर्म हैं। जब
उक्त शरीर है तब तक समझे पायि का आत्मवैराग्य अभाव अस्मय है। समझे पायि विराग्यहृत्-परिपाम
का भार हल्की पर, वैराग्य का भार आत्मा पर, हल्का विराग्यहृत् से समझे पमोहमन संसार में अत्यधिक
कर्मों में अहोपनिषद् निम्न ज्ञान बुद्धि यही वैराग्यमार्ग से उत्पन्न रहता है यही गीता की सर्व-
परिपामहृत्परिपाम आत्मवैराग्य वैराग्यविद्या है किन्तु निम्नलिखित शब्दों में विराग्यहृत् बुद्धि है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसन्नमभिगच्छति ॥

—गीता २।१४।

वैराग्यबुद्धि की विपर्ययबुद्धि आधुनिकबुद्धि के उदय से बुद्धि का वैराग्यधर्म अभिभूत हो जाता है । फलतः इन्द्रियपर आत्मा भी आत्मतत्त्व बन जाता है । इसी के अनुसार से आत्मा न केवल अपने संस्कारिक रागादि संस्कारों में ही आसक्त होता, अपितु पुत्र-स्त्री-पुत्र-पुत्र-आदि पक्ष विचारों में भी यह आत्मसम्पर्क कर देता है । फलतः इनके दुःख से भी यह दुःखी बना रहता है । इस प्रकार आधुनिक की कृपा से यह अपने और पराए, सर्वविषय दुःखों का अधिष्ठान बना रहता है । इन सर्वविषय दुःखों की आत्मव्यतिकर निवृत्ति के लिए राम-होपमोक्षसंघाता आसक्ति का हथौड़ा आवश्यक है । इनके हटने से ही उदासीनसंघात समत्वयोग का उदय होता है । इस समत्वयोगोदय का हेतुमूल योग ही वैराग्यहेतुक बुद्धियोग कहलाता है जो साम्यधर्मा सिद्धवैराग्य-योगोदय का हेतु बनता हुआ आत्मबुद्धि न्याय से स्वयं भी वैराग्यबुद्धियोग ही कहलाता है । इस वैराग्यबुद्धियोग के कार्यकारण रहस्य का, अनुमानप्रकार का विरोध करके करने वाली विद्या ही वैराग्यविद्या कहलाती है ।

४७—आत्मस्थानव्रप्ती, और सम-विषय-योग, एव समत्वयोगानुगता राजपतिविद्या—

वैराग्यविद्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग का जहाँ आत्मस्थान से सम्बन्ध है वहाँ आत्मस्थानविद्यानुगत अभि-धायोग का शरीरस्थान, एवं संसारस्थान से सम्बन्ध है । इन दोनों स्थानों का भी प्राथमिक स्वरूप ज्ञान लीपिए । यह जानेकथ स्पष्ट किया जा चुका है कि आत्मा 'प्रजापति' कहलाता है । एवं प्रजापतिसंघात आत्मा की 'मन-प्राण-वाक्' त्रैय से तीन कलाएँ मानी गई हैं । इन में मन 'आत्मा' कहलाता है, प्राण 'शब्द' कहलाता है, वाक् 'पुरु' कहलाता है । मनोतत्त्व आत्मा 'उपनि' प्राणतत्त्व प्राण 'मर्क' है, एवं वाक्-तत्त्व पुरु 'अपति' है । तीनों की समष्टि ही 'प्रजापति' है । इन तीनों में वाक्-तत्त्व पुरु रूप अधोतिमय ही 'आप्रविष्ट' कहलाता है । इस में प्रतिष्ठित उपनिषद् आत्मा अपने प्राणरूप मर्क से स्वयंपर्यन्त व्याप्त रहता है । इसी आधार पर—'वाक्-विद्युत्-वाक्-विद्युत्' यह निगम प्रतिष्ठित हुआ है । वाह्यम आत्मागत अन्तर्निष्ठ, बहिर्निष्ठ, त्रैय से दो भागों में विभक्त मान्य गया है । वाह्यम अन्तर्निष्ठ वाह्यम वे निर-स्विके तत्त्व से रागप्रवृत्ति के द्वारा मन पर निरंतरस्पर्शों का उदय होता है बहिर्निष्ठ कहलाए । स्वयं मनः प्रतिष्ठित वाक् विषयनिष्ठ-आध्यात्मिक वाक्पुरुषोक्ति-विषयस्थान आत्मा का अवस्थित है । अन्तर्निष्ठ शरीर-नु-कपी है बहिर्निष्ठ संसारनुकपी है । इसी दृष्टि से उक्त संघात आत्मधर्मव्यति के इन्द्रियस्थान, शरीरस्थान संसारस्थान, वे तीन स्थान होकर हैं । इन्द्रियस्थान में इन्द्रियग्राह्य रूप उपनिषद् आत्म प्रतिष्ठित रहता है । शरीरस्थान में प्राणबुद्धि वाह्यम अन्तर्निष्ठ (रुक्म) प्रतिष्ठित रहता है । एवं अन्तर्निष्ठ में प्राणबुद्धि वाह्यम बहिर्निष्ठ (भौतिक विषय) प्रतिष्ठित रहता है । बहिर्निष्ठमभिगच्छता स्थान 'पुर-प्राण' कहलाता है अन्तर्निष्ठमभिगच्छता शरीरस्थान 'शरीर-प्राण' कहलाता है । एवं अन्तर्निष्ठमभिगच्छता दशाध्याय दशाध्यायण दशाध्याय (दशपुरुषोक्ति) कहलाता है जो अन्तर्निष्ठमभिगच्छता दशाध्याय भूमाध्यात्मिक प मन्त्राद्य व अभिष बनता हुआ तत्त्वमसि मान्य गया है जिस दि-अमोरोस्योक्तम् महता महीपमन्त्रात्म्य ज्ञानोनिहितो गुह्यमसि' इत्यादि जुटम प्रमाणित है । दशाध्यायमभिगच्छता दशाध्याय व आत्म

है। 'मी' आधार पर स्वयंस्व-नाशक-रत आत्मा को 'आकाशात्मा' माना गया है। वही आत्मा नानक प्रथम इन्द्रियव्यवस्थान है। शरीरस्थान इस आत्मा का प्राचक्ष्ण प्रथम प्रत्यक्षस्थान (स्पष्टि-स्थान) बना है, अतएव शरीरस्थान 'पुनः' कहलाया है। संशयस्थान प्राणव्याय आत्मा का द्वितीय प्रत्यक्ष-स्थान बना है। परिते इन्द्रियव्यवस्थान आत्मा प्राणव्याय में शरीर में पुनः संशय में प्रवृत्त होता है अतएव तन्मयस्थान 'पुनःपुनः' कहलाया है। 'पुनःपुनः' आत्मा का मरिमाणवत्ता है, 'पुनः' आत्मा का वृत्तिस्थान है यत्ना गन्ती-नृत है। 'त' वृत्ति में मनःप्राणव्याय-मय आत्मप्रवृत्ति विस्थान बना हुआ है। विस्थानस्थान प्रवृत्ति का आत्मप्रवृत्त इन्द्रियस्थान परिपूर्ण है। क्योंकि इन्द्रिय से चारों ओर समानरूप से आत्मप्रवृत्ति का विस्तार होता है। अतएव इन्द्रियस्थान समस्तव्यापक माना गया है। शरीरस्थानस्थान पर तथा संशयस्थान-स्थान पुनःपुनः दोनों स्थान छात्र हैं। अतएव विरम करते हुए वे दोनों स्थान विपद्येयानुगत माने गए हैं। ह्मन में शरीरस्थान शरीरस्थान को स्पष्टि है। शरीरस्थान इन्द्रियस्थान से आत्मम कर वृत्तिविपद्य-मय संशयस्थानस्थान संशयस्थान की स्पष्टि है। शरीरस्थान 'विस्थान' से आत्मम कर वृत्तिविपद्यस्थान संशयस्थान पर्यन्त संशयस्थान में निमग्न हो बना मर है। संशयस्थान से इत्या होय है। शरीरस्थान में निमग्न बना यम है। शरीरस्थान से इत्या होय है। एव इन्द्रियस्थान में प्रवृत्ति रत्ना रगदेयमोहान्ध है यही वृत्तिस्थान है। प्रवृत्तिस्थान प्रवृत्तिस्थान रग में भी विरमता है, पर्यन्तस्थान प्रवृत्तिस्थान रग में भी विरमता है। तन्मयस्थान पुनः मय में भी विरमता है। बना है केवल इन्द्रियस्थान में। वर वृत्तिस्थान प्रवृत्तिस्थान है—'समस्तव्याय' पर्यन्त-केवलवृत्तिस्थान पर, विरम मूत्रप्रवृत्ति रगदेयमोहान्ध मय रग है। निमग्न विरम गीतास्थान बनामवृत्तिस्थान वैद्यमयप्रवृत्ति रगदेयमोहान्ध मय, एव रगदेय वृत्तिस्थान बनामवृत्तिस्थान बनामवृत्तिस्थान का विरमता कर रग है—

१-योगस्य नृक कर्माणि सङ्ग स्थव्या धनञ्जय !

सिद्धपतिद्वयो समो भूषा 'समर्थ' योग उच्यते ॥२॥४॥

२-ईव तज्जितं सर्गो यो साम्य स्थितं मन ।

निर्दोषं हि मम ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि त स्थिता ॥३॥१६॥

३-सर्वभूतस्यमात्मानं सर्वभूतानि आत्मनि ।

इक्षत यागयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन ॥६॥२६॥

४-आत्मोपम्यन् सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं म योगी परमो मतः ॥६॥३२॥

४= ज्यः धृष्ट-वराभ्यपुत्रियोगानुगता राजपतिविद्या—

राजपति विद्या राजा मार्ग, इन चारों विद्याओं में राजपतिविद्या एवं वेद्यम-ज्ञान-एवम-वर्त्म इन चारों विद्याओं में वेद्यमविद्या एवं वेद्यम-ज्ञान-एवम-वर्त्म ही सबसे प्रथम है। अतएव वर मयान का अन्ता प्रवृत्तिस्थान मय माना गया है। मयान वर है— अर्जुन ।

अभ्यासार्थक यह योग का सबसे पहले मैत्रेय विद्वान् को उपदेष्टा दिया था। विद्वान् ने स्वपुत्र वैकुण्ठ मनु को यह योग प्रदान किया। मनु से यह उत्पुत्र अयोध्याधिपति इक्ष्वाकु में प्रसिद्ध हुआ। इक्ष्वाकु प्रयमोपरिष्ठ यह योग परम्परया राजर्षिर्बरापरम्परया में उपदिष्ट होता रहा। अजिष्वालात्मक अजयपान से अजान्तर में उस योग का स्वस्म्य विलुप्त हो गया था। आद्य उस विलुप्तयोग का (इस शरीर से) मैं पुनः मुझे उपदेष्टा कर रहा हूँ। 'एवं परम्पराप्राप्तमिदं राजर्षयो विदुः' के कारण ही यह भगवद्विद्या 'राजर्षिविद्या' नाम से प्रसिद्ध हुई। प्रथमाविष्कार का भेद्य वेदसुग में बहो मगवान् को मिला, बहो महाभारतयुग में इसके बीर्योद्धार का भेद्य भी मगवान् को ही प्राप्त हुआ। अतएव यह योग मगवान् का अपना सिद्धान्त माना गया। अतएव इसे गीताशास्त्र में योगकर्म की उपेक्षा के द्वारा प्रथम स्थान दिया गया। 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः' के अनुसार अविद्यात्मक मोह, अस्तिता, रागद्वेषास्मित आसक्ति, अभिनिवेश, यह क्लेशकर्म है। उत्तुल्लस ही ज्ञान-वेद्यवर्ग-वैराग्य-धर्म यह योगकर्म माना जायगा। इस दृष्टि से गीता में ज्ञान-वेद्यवर्ग-वैराग्य-धर्म, इसी कर्म से योगों का प्रतिपादन होना चाहिए था। परन्तु देखते हैं, तीसरे राजर्षिविद्यानुक्त वैराग्यबुद्धियोग के सम्बन्ध में कर्मविपर्यय हुआ है। आगे की योगतरी छो कर्मनुसार ही व्यवस्थित है। परन्तु तृतीय स्थान में प्रसिद्ध वैराग्ययोग को प्रथम स्थान दिया गया है। यह स्थानप्राथम्य भी वैराग्ययोग का प्रबान्तत्व ही प्रतिपादन कर रहा है। निम्न लिखित पीछावचन वैराग्यबुद्धियोग, एवं अनुगत राजर्षिविद्या इसी भगवन्तत्त्व का समर्पण कर रहे हैं—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति-मानवाः ।

श्रद्धावन्तोऽनुष्ठयन्तो मुच्यन्ते तेषां कर्मणि ॥

ये त्वेकदम्यद्यन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।

सर्वज्ञानविमूढास्तां विद्धि नष्टानचेतसः ॥

इति बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचनस्य के द्वितीयप्रकरणे

‘वैराग्यबुद्धियोगानुगत-राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचनम्’ नामकः

चतुर्थस्तम्भः

(२)—४



उपरतन्त्रेदं चतुःस्तम्भात्मकं-द्वितीयं प्रकरणम्

—२—

श्रीः

‘बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचन’ नामक
द्वितीयप्रकरणान्तर्गत

‘वैराग्यबुद्धियोगानुगत-राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचन’ नामक
चतुर्थस्तम्भ-उपरत

(२)-४

श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत प्रकरणत्रयात्मक-‘बुद्धियोगपरीक्षा’

नामक-पूर्वखण्ड-का

स्तम्भचतुष्टयात्मक-‘बुद्धियोगानु त्तविद्यास्वरूपनिर्वचन’

नामक

द्वितीयप्रकरण-उपरत

२



श्री।

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत-प्रकरणत्रयात्मक-‘बुद्धियोगपरीक्षा’नामक

पूर्वखण्ड का

‘बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार’ नामक

तृतीय प्रकरण

३



बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार (द्वितीय प्रकरण)

३

१-प्रतिपादित विषय की रूपरेखा—

प्राचीनामिमव कर्म-ज्ञान-महि-योगों का क्रमशः कर्मयोग-ज्ञानयोग-महि-योग-परिष्कारनात्मक भूमि-स्वरूपों में विस्तार से प्रतिपादन किया गया। अनन्तर गीता का मूल विद्वान्त 'बुद्धियोग' हमारे समुक्त उपरिपन्न हुआ। इसके स्वरूप-परिचय के लिए ही 'बुद्धियोगपरिष्कार' नामक पूर्वलेखक शिष्यद्वय द्वारा, जिसमें प्रधानतः दो प्रकरणों का समावेश हुआ है। 'बुद्धियोगस्वरूपनिर्बचन' नामक प्रकरण में बुद्धियोग के वास्तविक स्वरूप की सीमाएँ हुईं। एवं 'बुद्धियोगानुगत विद्यास्वरूपनिर्बचन' नामक द्वितीय प्रकरण में क्रमशः चर्मबुद्धि-योग ऐश्वर्यबुद्धियोग ज्ञानबुद्धियोग, वैराग्यबुद्धियोग इन चारों बुद्धियोगों के साथ साथ उत्पत्तिप्रभृत् आर्षविद्या राजविद्या, सिद्धविद्या, राजसिद्धि, बुद्धियोगानुगता इन चारों विद्याओं का चार परिच्छेदों में स्वरूप-दिग्दर्शन कराया गया। यही अन्तक प्रतिपादित विषय की रूपरेखा है।

२-तृप्ति-तृष्टि-तृष्टि-मुक्ति-गुणचतुष्टयी—

तृप्ति, तृष्टि, तृष्टि, मुक्ति, इन चार आध्यात्मिक गुणों से कर्मभेदा कर्मरत्ना मुक्ती रहता है। पूर्णतृप्ति का नाम 'तृप्ति' है, अर्द्ध तृप्ति का नाम 'तृष्टि' है। ईश्वरानुग्रह का नाम 'तृष्टि' है। भूतानुग्रह का नाम मुक्ति है। पूर्णतृप्तिचक्षुषा तृप्ति सर्वव्याप्यता का स्वाभाविक गुण है, अर्द्धतृप्तिचक्षुषा तृष्टि अस्वच्छात्मगमित मनोभय परव्यस्यता का स्वाभाविक गुण है, ईश्वरानुग्रहचक्षुषा मुक्ति महानात्मगमित आत्ममय परव्यस्यता का स्वाभाविक गुण है। एवं भूतानुग्रहचक्षुषा मुक्ति विद्यानानुग्रहगमित आत्ममय अवयवव्यस्यता का स्वाभाविक गुण है। चारों आत्मगुण चार आत्मवेदों में विभक्त हैं। इन चारों में सर्वव्याप्य क्योंकि सर्वत्रमय है अतएव तदनुगत तृप्तिगुण के गर्भ में अन्य आत्मगुणगत तृप्ति-तृष्टि-मुक्ति तीनों गुण अन्तर्भूत रहते हैं। अतएव च सर्वव्याप्यमातृगत तृप्तिगुण के उदय से शेष आत्मगुणगत तीनों आत्मगुण स्वतः उदित हो जाते हैं। चारों की अपेक्षा तृप्तिगुण का यही सर्वोत्तमोत्तम माहात्म्य है।

॥ 'मयवदनुग्रह' पदों के अनुसार शुद्धाहृतसमय में भगवदनुग्रह को ही योग किया बुद्धि माना गया है। ईश्वरवर्त्मतावेद्य ही भगवदनुग्रह है। इस अनुग्रहमात्र से जीव की अस्तित्व भूमात्र में परिणत हो जाती है। यह भूमा ही जीव की बुद्धि है। इसी बुद्धिप्रकल्प से वह वैश्वानरि कथ्यदाय (ब्रह्म-व्यदाय) 'बुद्धिमार्ग' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

३-मुक्तिगुणानुगत धम्मप्रद्विभोग—

(१)-सम्यक् योग धृतिवी पर प्रतिष्ठित है। परन्तु हम इन्हें प्राप्त करने में असमर्थ बने रहते हैं। इसके साथ ही किन मांगों का हम योग करते हैं, वे ही योग क्षणिक सुख उत्पन्न कर बाह्यलोभ तथा दुष्टप्रवृत्ति के ही कारण बन जाते हैं। यही पहिला दुष्ट है जिसके मूल में 'प्रवृत्ति लक्ष्य' 'अग्निवेश' नामक ऋषि प्रतिष्ठित हो रहा है। मुक्ति हो रही है फिर भी शून्य है। मुक्ति के रहते मुक्ति का अभाव हो रहा है। अग्निवेशमूला प्रवृत्तिवर्माणुगल येही मुक्ति सर्वथा अनुक्ति है। और यही दुष्ट का एक कारण है। इसी निष्ठि के लिए अकारणसम्प्रदायगत मुक्तिशून्य का समावेश आवश्यक है। तदर्थ अग्निवेशलक्षणा प्रवृत्ति का निराकरण अवशेषित है। तब शर्मसंस्था निष्ठि का अनुयमन अवशेषित है। एवं तदर्थ आग्निवेशलक्षणा-अग्निवेशनिकर्षक-निष्ठिचिन्मात्रक-शर्मसंस्थियोगानुष्ठान आवश्यक है। यही गीताप्रतिष्ठित, मुक्तिशून्य-प्रवृत्ति शर्मसंस्थियोग नामक उपाय है जो प्राचीनाभिमत आत्मकर्मयोग का ही संशोधित रूप है।

४-शुद्धिगुणानुगत एतद्व्यवस्थियोग—

(२)-बस-बाबर, बकसबाबू प्राधियों के द्वारा में योगदान-पुष्टिमात्रप्रवर्तक-ईश्वरकृत्य समाधि है। पण्डित यही हुई भी इत आत्मपुष्टि (ईश्वरकृत्यकामेश्वरकृत्य इश्वरपुण्य) से हम बलिष्ठ रह जाते हैं। ईश्वरकृत्यकामेश्वर पुष्टि न हो, यह बात नहीं है। बीजात्मा के साथ उल्ला कम्पन न हो, यह बात भी नहीं है। उनी की पुष्टि से अनुग्रह से इच्छा से जीव की आत्मपुष्टि में स्थिति है। पुष्टि जीव की मित रही है फिर भी वह शून्य है। पुष्टि के रहते पुष्टि का अभाव हो रहा है। अस्मिन्मूर्त्ता प्रवृत्तिमात्रपुष्टि ऐसी पुष्टि सर्वत्र अपुष्टि है। अस्मिन् अस्मिन् ने ईश्वरपुष्टि के स्वाभाविक विद्युत्तलक्ष्य परबर्म्भ को अनैश्वर्यकृत में परिवर्तित कर रक्खा है। संकुचित पुष्टि ॥ अपुष्टि है एवं यह भी दुःख का एक कारण है। इत की निहित के लिए, परबर्म्भकामेश्वरपुष्टि-पुष्टिगुण का अभाव अपेक्षित है। तर्ज ईश्वरगन्तव्य अपेक्षित ॥ तर्ज नम्पय अस्मिन्मूर्त्त का निरुद्ध अपेक्षित है। एवं तर्ज राक्षसपुष्टि अस्मिन्मूर्त्त-ईश्वरपुष्टिमात्र-परबर्म्भ-पुष्टिविद्युत्तलक्ष्य अपेक्षित है। यही गीताप्रतिनिधित, पुष्टिमात्रप्रवर्तक-उपाय 'ईश्वरपुष्टिबोध' नामक उपाय है, जो प्राचीनान्धित अस्मिन्मूर्त्त का ही उपायित रूप है।

५-तुष्टिगुणानुगत ज्ञानसुखियोग-

[illegible]

बुद्धि का अभाव हो रहा है। कारण, अज्ञानात्मक मोह ने ईश्वरीय बुद्धि के स्वाभाविक विकाशकक्ष्य अन्तर्ज्योतिःस्वरूप ज्ञान (अध्यात्मज्ञान) को अज्ञानरूप में परिणत कर रखा है। अज्ञानावृणा मोहात्मिक बुद्धि ही अतुष्टि है, एवं यह भी बुद्धि का एक कारण है। इसकी निवृत्ति के लिए पराम्पराप्रमानुगत तृप्तिगुण का समावेश अपेक्षित है। तदर्थ अन्तर्ज्योतिरनुगति अपेक्षित है। तदर्थ मध्यस्थ अतुष्टिलक्षण मोहावरण-निराकरण अपेक्षित है। एवं तदर्थ सिद्धिबिद्यानुगत मोहनिवर्तक-अन्तर्ज्योतिर्लक्षण-ज्ञानबुद्धियोगानुष्ठान अपेक्षित है। यही गीताप्रतिपादित-बुद्धिसुखप्रवर्तक उपाय 'ज्ञानबुद्धियोग' नामक उपाय है जो प्राचीनामिश्र कर्मत्यागकक्ष्य ज्ञानयोग का ही संशोधित रूप है।

६-तृप्तिगुणानुगत वैराग्यबुद्धियोग-

(४)-उक्त तीनों योग अर्थात्सर्वधरमा को आधार बनाते हुए अर्थात्मक है। अतएव तीनों केवल अपने अपने बुद्धि-बुद्धि-मुक्ति-गुणों के ही संभावक करते हैं। परन्तु चौथा सर्वाभ्यवसायानुगत वैराग्यबुद्धियोग क्योंकि सर्वात्मक है अतएव उससे स्वातन्त्र्य तृप्तिगुण के स्वयं स्वयं पर-परवर-अवरानुगत बुद्धि-बुद्धि-मुक्ति-गुणों का भी उत्पन्न हो जाता है। आपके अन्तर्बन्ध में इन्द्राक्षरागमिन्द्र इन्द्राक्षरा में कल्पकल्प-भाकर-आकाशात्मना-सर्वाभ्यवसायिकता से प्रतिष्ठित है, जो निराभय-न्याय्य रहता हुआ निरुद्ध है। तृप्तिगुणक, अतएव पूर्णतमक इसी सर्वाभ्यवसाय से आपका (जीवात्मा का) प्रबन्धवर्णक से उद्बन्धन हुआ है—'पूर्णात्-पूर्वमुवच्यते'। उक्त पूर्व के पूर्ण को लेकर आप स्वतन्त्रा पूर्णरूप ही हैं। अतएव आप भी स्वतन्त्र निरुद्ध-रत हैं। परन्तु देखते हैं, आप में तृप्तिगुण का अतिवृद्धि भी विकास नहीं देखा जा रहा। क्यों?, ऐसा क्यों हुआ?, उत्तर स्पष्ट है। आपकीव्यवहारी संस्कारों से सम्बन्ध रहने वाले आपके मन ने ही इस समस्या को बहिरा बना दिया है। औद्योगिक मन रवेगुणात्मक है। औद्योगिक मन में कल्पनावृत्ति प्रतिष्ठित है। इसी मानव रागादित से वे आगत संस्काररूपन अनुकूल-प्रतिफल-सम्पन्न-इन तीन सम्बन्धों के मेल से राग-द्वेष-मोह इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाते हैं। रागद्वेषमोहात्मिक यह आच्छिन्न मन के द्वारा तत्-प्रतिष्ठ बुद्धि के विद्यात्मक वैराग्यधर्म को अभिभूत कर हाथेली है बुद्धिगत तृप्तिप्रवर्तक वैराग्यधर्म अतुष्टिकर आच्छिन्नधर्मरूप में परिणत हो जाता है। यही रागादित-द्वेषावृत्ति-मोहावृत्ति-त्रयी वह मत्प्रावरण है जिससे बुद्धि से परे रहने वाले अर्थात्मकानुगत तृप्तिगुणानुष्ठान से आप बहिष्कृत रह जाते हैं। स्वाभाविक पूर्णता अपूर्णता के रूप में परिणत हो जाती है। अपूर्णता ही शून्यता है। शून्यता ही बुद्धि है। यही चौथा बुद्धि है जिसके मूल में आच्छिन्न प्रतिष्ठित है। इसकी निवृत्ति के लिए सर्वाभ्यवसायानुगत तृप्तिगुण का समावेश अपेक्षित है। तदर्थ अज्ञानात्मकानुगति अपेक्षित है। तदर्थ मध्यस्थ अतुष्टिलक्षण आच्छिन्नावरण-निराकरण अपेक्षित है। एवं तदर्थ रागद्वेषनिराकरण-आच्छिन्ननिराकरण-अज्ञाननिराकरण-वैराग्यबुद्धियोगानुष्ठान अपेक्षित है। यही गीतामिश्र-तृप्तिगुणप्रवर्तक-अतएव तृप्तिगमिन्द्र बुद्धि-बुद्धि-मुक्ति सुखप्रवर्तक-अतएव व सर्वानुष्ठानप्रवर्तक-उपाय वैराग्यबुद्धियोग' नाम से प्रतिष्ठित हुआ है जो सर्वाभ्यवसायिक भगवान् कृपा का अपना प्रातिष्ठिक मत है।

७-पुरुषनिष्ठाचतुष्टयी से अनुगता-पुरुषयोगचतुष्टयी-

आत्मसंज्ञा विद्या सिद्धविद्या कहलाती है एवं आत्मसंज्ञा योग सिद्धयोग कहलाता है। आत्मविद्या पुरुषविद्या किंवा आत्मविद्या है। आत्मयोग पुरुषयोग, किंवा आत्मयोग है। सर्वाभ्यवसाय निरुद्धता

(गू-त्मा निगुलबद्ध) है अतएव तद्व्याप्यव्यवस्था 'निर्लज्जात्मविद्या' कहलाई है। अन्धप्रज्ञात्मवर्धित परा-
म्भपक्षमा ईश्वरतामा (समुदायज) है अतएव तद्व्याप्यव्यवस्था 'इश्वरतात्मविद्या' कहलाई है। महानात्म-
वर्धित पराभवात्म्यपक्षमा बीजतामा (सर्विकारज) है अतएव तद्व्याप्यव्यवस्था 'बीजात्मविद्या' कहलाई
है। विज्ञानात्मवर्धित अक्षरात्म्यतामा भूततामा (निरिच्छिकज) वैचारिकज) कहलाई है। अतएव तद्व्या-
प्यव्यवस्था 'भूतात्मविद्या' कहलाई है। तत्त्वव्याप्यतामा अन्धव्यवस्था तृप्तिगुणात्मिका है। तृप्तिगुणयोगात्मक
अन्धव्यवस्था ही सिद्ध (नित्य) 'राग्ययोग' है। पराभवात्म्यतामा अन्धव्यवस्था तृप्तिगुणात्मिका है। तृप्तिगुण-
योगात्मक अन्धव्यवस्था ही सिद्ध 'ज्ञानयोग' है। पराभवात्म्यतामा अन्धव्यवस्था तृप्तिगुणात्मिका है। तृप्तिगुण-
योगात्मक अन्धव्यवस्था ही सिद्ध 'ऐश्वर्ययोग' है। अक्षरात्म्यतामा अन्धव्यवस्था तृप्तिगुणात्मिका है। तृप्तिगुण-
योगात्मक अन्धव्यवस्था ही सिद्ध 'धर्मयोग' है। 'हर्म विवर्तते योगो मोक्षप्रदानहर्मव्ययम्' इत्यदि शब्द-
पटित नाम सिद्धाकरमानस-उद्भूत अन्धव्यवस्थानुगत-अन्धव्यवस्था का ही वाचक बन रहा है। यह सिद्धयोग बुद्धि
पर अनुग्रह रखा है अतएव बुद्धिसम्बन्ध से इस अन्धव्यवस्था को भी 'बुद्धियोग' कहा जा सकता है। अतएव
पूर्वजन्तुओं में हमने सिद्धयोगों को वर-वर 'बुद्धियोग' नाम से व्यवहार कर दिया है। 'ब्रह्मि बुद्धियोगो वरः'
का 'बुद्धियोग' शब्द सिद्ध 'बुद्धियोग' का ही वाचक है। अन्धव्यवस्थानुगामी ही सिद्ध है, अन्धव्यवस्थात्मिका
योगानुगामी ही सिद्ध है। इसके और बीच के मध्य में बुद्धि प्रस्थित है। बुद्धि के द्वारा ही बीच का इस
बन्धनानुगामी से सम्बन्ध होता है। इसीलिए 'बुद्धिरक्षरिणः प्राप्यतो योगः' निर्वचन से यह सिद्धयोग भी
बुद्धियोग कहलाने लगा है।

८-प्रकृतिविद्याचतुष्टयी से अनुगत-प्रकृतिपोगचतुष्टयी-

त्रिदिविधात्मक-त्रिदिव्योक्तव्यवस्था प्रत्यक्षता (अन्धव्यवस्था) और चारिद्वयता (बीजता) के मध्य
में बुद्धितत्त्व प्रस्थित है यह कहा गया है। प्रकृतितत्त्वता विद्या अन्धव्यवस्था कहलाई है। प्रकृतितत्त्वता योग
व्यवस्था कहलाई है। प्रकृतिविद्या ही अन्धव्यवस्था है, प्रकृतियोग ही राग्ययोग है। 'प्रकृति' अक्षर का नाम
है। अन्धव्य-अक्षर-क्षर-तीनों में अक्षर सम्बन्ध है। तब आध्यात्मिक संस्था में बुद्धितत्त्व सम्बन्ध है।
अतएव बुद्धि ही अन्धव्यवस्था में अक्षरात्मिका प्रकृति है। अतएव व 'प्रकृतितत्त्व' का अर्थ-'बुद्धितत्त्व' ही
रेखा-मुखा काया है। प्रकृतिवृत्ता सम्बन्ध इस बुद्धि के परमान में वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य-धर्म-नामक सिद्ध-
व्यवस्था-त्रिदिविद्यात्मक अन्धव्यवस्था प्रस्थित है। वैराग्य-'वा' बुद्धि। परतस्तु 'त' से प्रमादित है। बुद्धि
के अक्षरत्वान में मोक्षानुगत-इन्द्रियवर्धित-वैचारिक मर्त्यमात्रात्मक-आश्रित-योग-अस्मिता-अभिनिवेशात्मक
मृत्युत्व प्रस्थित है। वा अमृतता का आकरक माना गया है। तब और अमृतत्वानुगामी है। इस और अमृत-
त्वानुगामी है। सम्बन्ध बुद्धितत्त्व में सम्बन्धता के कारण-'नियेरायप्रसूत मर्त्य' के अनुसर दोनों बन्धों का
उपायेन प्रकृत्य प्राप्त है। अमृतत्वानुगत वैराग्यादि सिद्धयोगों के जो सम्बन्धित बुद्धि में अन्ध बुद्धि की
प्राथमिकता कतु बन जाते हैं वे ही 'बुद्धिमय' कहलाए हैं। इनके सामान्य से-योग से बुद्धि 'म' मय को
(निमित्तमात्र का) प्राप्त हो जाती है। अतएव 'मं गच्छति ये बुद्धि' निर्वचन से बुद्धिमुक्त इन अमृतत्व-
प्रवर्धमात्रों का 'मय' कहा जाता है। एवमेव मर्त्यविद्यानुगत अमृतत्वतादि अमृतत्वता योगों के जो सम्बन्धित
मय की कृपा से बुद्धि में अन्ध बुद्धि की प्राथमिकता कतु बन जाते हैं, वे ही 'बुद्धिबन्ध' कहलाए हैं। इनके
सामान्य से-मय से-बुद्धि कलात्मकता को (संश्लेषमात्र को) प्राप्त हो जाती है। अतएव 'व्यवस्था-विज्ञान

भवति चेनु हि' निर्बन्धन से बुद्धिमुक्त इन मर्य विरह के प्रकर्ष मार्गों को 'क्लोरा' नाम से व्यञ्जित किया या व्यञ्जित है। आत्मनः वैराग्यादिकमा मगचतुष्टयी के एवं आत्मनः आदि क्लोराचतुष्टयी के भोगात्मक सम्बन्ध से (मुक्ति से) मन्त्रस्य-प्रकृतिलक्षण एक ही बुद्धितत्त्व के-वैराग्यबुद्धि, ज्ञानबुद्धि, ऐश्वर्य्यबुद्धि, धर्मबुद्धि, ये चार विद्यात्मक रूप, एवं आत्मज्ञानबुद्धि, मोक्षबुद्धि, अस्मिताबुद्धि अभिनिवेशबुद्धि, ये चार अविद्यात्मक रूप, सम्पूर्ण आठ योगाधिक विषय हो जाते हैं। आठों में विद्याबुद्धिचतुष्टयी 'प्रकृतियोग' है अविद्याबुद्धिचतुष्टयी 'प्रकृति-अयोग' है। प्रकृतियोगात्मक बुद्धियोग में बुद्धि प्रकृतिरूप की रहती हुई एकत्वधर्मलक्षण व्यञ्जयपरम की अनुगामिनी की रहती है। प्रकृति-अयोगात्मक बुद्धियोगनिष्ठानिन्त्युति में बुद्धि प्रकृतिविरहित होती हुई अव्यञ्जयपरम की अनुगामिनी बन जाती है।

विद्य प्रकृति मन्त्रस्य बुद्धि में अनुताम्यवानुगत सिद्धयोग प्रकर्षसम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहते हैं एवमेव अनुताम्यविद्याचतुष्टयी भी बुद्धि में युक्त रहती है। निरुद्धात्मविद्या का बुद्धिमुक्त माग ही 'अनात्मविद्या' कहा जाता है। ईश्वरात्मविद्या का बुद्धिमुक्तमाग ही 'अन्तर्मात्रविद्या' कहा जाता है। बीजरात्मविद्या का बुद्धिमुक्त माग ईश्वरात्मविद्या कहा जाता है। एवं सूक्ष्मविद्या का बुद्धिमुक्त माग ही 'निष्ठुक्तकर्मविद्या' कहा जाता है। अनात्मविद्या प्रकृतिविद्या है, वैराग्यबुद्धियोग प्रकृतियोग है। अन्तर्मात्रविद्या प्रकृतिविद्या है, अन्तर्बुद्धियोग प्रकृतियोग है। ईश्वरात्मविद्या प्रकृतिविद्या है, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग प्रकृतियोग है। निष्ठुक्तकर्मविद्या प्रकृतिविद्या है, धर्मबुद्धियोग प्रकृतियोग है। इस प्रकार चारों पुण्यविद्या, पुण्ययोग चार चार भागों में विभक्त हैं एवमेव लक्ष्मण बुद्धिलक्षण प्रकृति की विद्या, और भाग भी चार चार भागों में ही विभक्त हो जाते हैं।

६-विद्वत्विद्याचतुष्टयी से अनुगता-विद्वत्तियोगचतुष्टयी—

योगानुज्ञाता त्वनं बीजतमा विद्वत्तियोगात्मक मन्त्रा मया है। अतएव बीजतमा के द्वारा अनुष्ठेय विद्याओं तथा विद्यानुगत योगों को हम 'विद्वत्विद्याचतुष्टयी विद्वत्तियोग' नाम से व्यञ्जित करेंगे। पूर्व प्रकरणों में हमने बताया कि, पुण्यविद्या विद्या सिद्धविद्या है। पुण्यविद्या योग सिद्धयोग है। एवं प्रकृत्यात्मिक विद्या साध्यविद्या है तथा प्रकृत्यात्मक योग साध्ययोग है। वस्तुतः प्रकृतिविद्या और प्रकृतियोग भी पुण्यविद्या सिद्धयोग में ही अन्तर्भूत माने जायेंगे। पुण्यविद्या प्रकृति भी अनादिनिधना है। उसकी विद्या उसका योग भी अनादि है। अतएव इसे भी सिद्ध पदार्थ ही माना जायगा। साध्यविद्या बड़ी साध्य मानी जायगी, किन्तु अर्थ-कारणपरिज्ञानद्वारा योगानुज्ञानप्रकार में उपयोग होगा। एवमेव साध्य योग भी बड़ी साध्य माना जायगा किन्तु बीजतमा अनुज्ञान कर लेगा। विद्वत्विद्या ही अनुज्ञानप्रकार का प्रवर्णन करने वाली है। वा विद्वत्विद्या उपदेशात्मिक है। सिद्धविद्या का उपदेश करने वाली शब्दात्मिक-उपदेशात्मिका विद्या ही साध्य विद्या मानी जायगी। साध्यविद्या वस्तुतः विद्या नहीं है। सिद्धविद्या ही विद्या है। साध्यविद्या तो सिद्ध-विद्यस्वरूपपरिचय का साधनमात्र है। एतावता ही साध्यविद्या से इस साधन को भी 'विद्या' कह दिया जाता है। एवमेव सिद्धयोग का उपदेश करने वाला शब्दात्मक उपदेशात्मिक योग ही साध्ययोग माना जायगा। साध्ययोग भी वस्तुतः योग नहीं है। सिद्धयोग ही योग है। साध्ययोग तो सिद्धयोगस्वरूपपरिचय का हेतुमात्र है। एतावता ही इस हेतुयोग को भी 'योग' शब्द से व्यञ्जित कर दिया जाता है।

निरुद्धात्मविद्यात्मक वैराग्ययोग से अनुगृहीत अनात्मविद्यात्मक वैराग्यबुद्धियोग के सिद्धविद्यामात्र का (पुण्यविद्यार्मित-प्रकृतिविद्यामात्र का) उपदेश देने वाली विद्वत्तियोग-साध्यविद्या विद्या ही

‘राजर्षिविद्या’ कहलाई है। ईश्वरब्रह्मविद्यात्मक ज्ञानयोग से अनुप्राप्त ऐश्वर्यवैतिर्ब्रह्मत्मक ज्ञानबुद्धियोग के सिद्ध विद्याभाग का उपदेश देने वाली विद्वत्समुग्रा साध्यविद्या ही उपदेशक के सम्मुख से ‘सिद्धविद्या’ कहलाई है। बीजान्तविद्यात्मक ऐश्वर्ययोग से अनुप्राप्त ईश्वरानन्त्याविद्यात्मक ऐश्वर्यबुद्धियोग के सिद्ध विद्याभाग का उपदेश करने वाली विद्वत्समुग्रा साध्यविद्या ही उपदेशक के सम्मुख से ‘राजविद्या’ कहलाई है। भूतारब्धविद्यात्मक धर्मयोग से अनुप्राप्त निवृत्तधर्मविद्यात्मक धर्मबुद्धियोग के सिद्ध विद्याभाग का उपदेश करने वाली विद्वत्समुग्रा साध्यविद्या ही उपदेशक श्रुतियों के सम्मुख से ‘आर्षविद्या’ कहलाई है। यही पुरुष-प्रकृति-विद्याचतुष्टयी की स्वस्मन्निषयप्रदात्री विद्वत्विद्याचतुष्टयी का स्वल्प-संगमर्तन है। एतद्योग पुरुषयोगात्मक वैराग्ययोग से अनुप्राप्त प्रकृतियोगात्मक वैराग्यबुद्धियोग का अनुष्ठानात्मक निवृत्तिभावनात्मक साध्य योग ‘वैराग्यवैतुक्त-बुद्धियोग’ नाम से पुरुषयोगात्मक ज्ञानयोग से अनुप्राप्त प्रकृतियोगात्मक ज्ञानबुद्धियोग का अनुष्ठानात्मक निवृत्तिभावनात्मक साध्य योग ‘ज्ञानवैतुक्त बुद्धियोग’ नाम से पुरुषयोगात्मक ऐश्वर्ययोग से अनुप्राप्त प्रकृति-योगात्मक ऐश्वर्यबुद्धियोग का अनुष्ठानात्मक निवृत्तिभावनात्मक साध्य योग ‘ऐश्वर्यवैतुक्त बुद्धियोग’ नाम से, तथा पुष्पयोगात्मक धर्मयोग से अनुप्राप्त प्रकृतियोगात्मक धर्मबुद्धियोग का अनुष्ठानात्मक निवृत्तिभावनात्मक साध्य योग ‘धर्मवैतुक्त बुद्धियोग’ नाम से व्यवहृत किया जायगा। साध्यविद्यानुग्राह्य साध्ययोगचतुष्टयी (विद्वत्-विद्यानुग्राह्य विद्वत्योगचतुष्टयी) से, अनुष्ठान से समापन कीजाला का प्रकृतिविद्यानुग्राह्य प्रकृतियोगचतुष्टयी से सम्मुख होय। एवं प्रकृतिविद्यात्मिक प्रकृतियोगचतुष्टयी के द्वारा बीजाला का जन्तवोत्पत्त्या पुरुषविद्यानुग्राह्य पुरुषयोगचतुष्टयी से सम्मुख हो जायगा। साध्य है-पुरुषविद्यात्मिक पुरुषयोगचतुष्टयी। साध्य प्राप्त करने वाला है-कालात्मा। साध्यप्राप्ति का अनुष्ठानात्मक साधन है-विद्वत्विद्यानुग्राह्य विद्वत्योगचतुष्टयी। एवं साधन द्वारा साध्य पर पहुँचने का द्वार है-प्रकृतिविद्यात्मिक प्रकृतियोगचतुष्टयी। साध्य है करने का यही है निः, पुरुष-प्रकृति-विद्वत्, मेर से साध्य-साध्यद्वार साध्यव्यपनस्स से विद्या, एवं तदनुग्राह्य साध्यविवर्त छैन विवर्तनायी ने पवित्र हो गए हैं। अथवा प्रतिपादित विषयों का निम्नलिखित परिच्छेदों से महीमावि स्वीकार्य हो गया है।

(क)-प्रतिपादितविषयरूपरेखा-परिच्छेद-(१) १

- १-धर्मयोगपरीक्षा-धर्मयोगनिरूपिका (२ अष्टादशिका)
- २-ज्ञानयोगपरीक्षा-ज्ञानयोगनिरूपिका (१ अष्टादशिका)
- ३-प्रकृतियोगपरीक्षा-प्रकृतियोगनिरूपिका (२ अष्टादशिका)
- ४-बुद्धियोगपरीक्षा-बुद्धियोगनिरूपिका (२ अष्टादशिका)

पूर्वसाध्यविद्यात्मक बुद्धियोगपरीक्षायां—

- १-धर्मबुद्धियोगपरीक्षा
- २-ऐश्वर्यबुद्धियोगपरीक्षा
- ३-ज्ञानबुद्धियोगपरीक्षा
- ४-वैराग्यबुद्धियोगपरीक्षा

(ख)-तृप्ति, तुष्टि, पुष्टि, मुक्ति-गुणचतुष्टयी-परिलेख-(२)

- | | |
|-----------------------------|--------------------|
| १-पूर्णतृप्तिमात्र-तृप्तिः | } -आत्मगुणचतुष्टयी |
| २-आर्द्रतृप्तिमात्र-तृप्तिः | |
| ३-ईश्वरानुग्रहमात्र-पुष्टिः | |
| ४-मूढानुग्रहमात्र-मुक्तिः | |



(ग)-गुणानुगता-योगचतुष्टयी-परिलेख-(३)

- १-विहानात्मगर्भित-आवर्ण्यमात्रा भुक्तिगुणात्मका-उदनुगतो योगः 'वैद्यव्युदियोगः' ।
- २-महानात्मगर्भित-परवर्ण्यमात्रा तुष्टिगुणात्मका-उदनुगतो योगः 'ऐश्वर्यव्युदियोगः' ।
- ३-आवर्ण्यमात्रगर्भित-परवर्ण्यमात्रा पुष्टिगुणात्मका-उदनुगतो योगः 'ज्ञानव्युदियोगः' ।
- ४-वैद्यव्युदियोग-वैद्यव्युदियोगात्मा तृप्तिगुणात्मका-उदनुगतो योगः 'वैद्यव्युदियोगः' ।



(घ)-पुरुषविद्याचतुष्टय्यनुगता-पुरुषयोगचतुष्टयी-परिलेखः-(४)

(सिद्धविद्यानुगता-सिद्धयोगचतुष्टयी)

- १-वैद्यव्युदियोग-पुरुषविद्या-'निष्कामविद्या' (विद्यात्मकोऽप्ययः अव्यवस्थितश्च विद्या वा)
- २-परवर्ण्यमात्रा-पुरुषविद्या-'ईश्वरविद्या' (विद्यात्मकोऽप्ययः अव्यवस्थितश्च विद्या वा)
- ३-परवर्ण्यमात्रा-पुरुषविद्या-'जीवात्मविद्या' (विद्यात्मकोऽप्ययः अव्यवस्थितश्च विद्या वा)
- ४-आवर्ण्यमात्रा-पुरुषविद्या-'मूढात्मविद्या' (विद्यात्मकोऽप्ययः अव्यवस्थितश्च विद्या वा)

—तैषां पुरुषविद्याचतुष्टयी-विद्यावर्ण्यमात्रा



१-निरुद्धात्मविद्यात्मकमुक्तिगुणावच्छिन्नोऽम्बकयोगः-पुरुषयोग-‘वैराग्ययोगः’

योगात्मकोऽम्बकः-
अम्बकयोगो योगो वा

२-ईश्वरपदविद्यात्मकमुक्तिगुणावच्छिन्नोऽम्बकयोगः-पुरुषयोगः-‘ज्ञानयोगः’

योगात्मकोऽम्बकः-
अम्बकयोगो योगो वा

३-बीजपदविद्यात्मकः पुक्तिगुणावच्छिन्नोऽम्बकयोगः-पुरुषयोगः-‘देवार्जवयोगः’

योगात्मकोऽम्बकः
अम्बकयोगो योगो वा

४-भूतपदविद्यात्मको मुक्तिगुणावच्छिन्नोऽम्बकयोगः-पुरुषयोगः-‘वर्त्मयोगः’

योगात्मकोऽम्बकः
अम्बकयोगो योगो वा

—येषां पुरुषयोगोऽष्टादशो विद्याकल्पयन्ता

१-निरुद्धात्मविद्या-विद्या, -१-वैराग्ययोगो ‘योगः’

२-ईश्वरपदविद्या-विद्या, -२-ज्ञानयोगो ‘योगः’

३-बीजपदविद्या-विद्या -३-देवार्जवयोगो ‘योगः’

४-भूतपदविद्या-विद्या, -४-वर्त्मयोगो ‘योगः’

—पुरुषविद्यात्मिका पुरुषयोगोऽष्टादशी

१-निस्तमविद्यामस्तुतिगुणावच्छिन्नोऽप्ययोगः-पुरुषयोग-१८

२-ईशमविद्यामस्तुतिगुणावच्छिन्नोऽप्ययोगः-पुरुषयोग

३-बीजमविद्यामस्तुतिगुणावच्छिन्नोऽप्ययोगः-पुरुष

४-सूतामविद्यामस्तुतिगुणावच्छिन्नोऽप्ययोगः-

—हेरा

१-निस्तमविद्या-विद्या, -१-वैराग्ययोगो

२-ईशमविद्या-विद्या, -२-भक्तयोगो

३-बीजमविद्या-विद्या, -३-विष्णुयोग

४-सूतामविद्या-विद्या, -४-परमार्थ

(ख) सर्वसंग्रहपरिलेख (७)

- १-निरुपात्मविद्या—वैराग्ययोगः—सुखिगुणात्मकः (सिद्धापुरविविधा, योगश्च, सत्त्वविद्या, सत्त्वयोगः)
- २-अनात्मविद्या—वैराग्यबुद्धियोगः—सुखिगुणानुगतः (सिद्धप्रकृतिविद्या, योगश्च) द्वारविद्या, द्वारयोगः
- ३-राजविद्या—वैराग्यहेतुबुद्धियोग—सुखिगुणोदयहेतुः (आध्यात्मिकविद्या, योगश्च) अनुष्ठेयविद्या
अनुष्ठेययोगः
- १-ईश्वरवत्त्वविद्या—ज्ञानयोगः—सुखिगुणात्मकः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः)
- २-अन्तर्बोधिनिर्दिष्टा ज्ञानबुद्धियोगः—सुखिगुणानुगतः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः)
- ३-सिद्धविद्या—ज्ञानहेतुबुद्धियोग—सुखिगुणोदयहेतुः (आध्यात्मिकविद्या आध्यात्मयोगः)
- १-वीर्यश्रमविद्या—वेद्यार्थयोगः—सुखिगुणात्मकः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः)
- २-ईश्वरानन्दविद्या—वेद्यार्थबुद्धियोग—सुखिगुणानुगतः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः)
- ३-राजविद्या—वेद्यार्थहेतुबुद्धियोग—सुखिगुणोदयहेतुः (आध्यात्मिकविद्या आध्यात्मयोगः)
- १-भूतात्मविद्या—धर्मयोगः—सुखिगुणात्मकः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः)
- २-निवृत्तधर्मविद्या—धर्मबुद्धियोग—सुखिगुणानुगतः (सिद्धविद्या सिद्धयोगः)
- ३-आर्षविद्या—धर्महेतुबुद्धियोग—सुखिगुणोदयहेतुः (आध्यात्मिकविद्या आध्यात्मयोगः)

(ज) योगीभावपरिलेखः—(८)

- १-राजर्षिविद्यानुगतवैराग्यहेतुबुद्धियोगानुगता योगी—(मुक्तज्ञानयोगी—विशेषात्म्या)
- २-अनात्मविद्यात्मकवैराग्यबुद्धियोगे प्राप्यो योगी—(मुक्तसोपयोगी—मुक्तसाध्या)
- ३-निरुपात्मविद्यात्मकवैराग्ययोगे समाधि योगी—(मुक्तसोपयोगी—मुक्तसमाध्या)

(घ) विकृतिविद्यापदुष्टप्यनुगता-विकृतियोगपदुष्टयी-परिच्छेदः-(६)

(साध्यविद्यासुम्ता-साध्ययोगपदुष्टयी)

- १-निरुद्धसन्निवृत्तार्थसिद्धिनिवादात्तदार्ढ्यिका-विकृतिविद्या-‘राज्यविद्या’ (निवादात्क उपरोहा, उपरोहादिभिः विद्या वा)
 २-निरुद्धसन्निवृत्तार्थसिद्धिनिवादात्तदार्ढ्यिका-विकृतिविद्या-‘सिद्धविद्या’ (“ ”
 ३-निरुद्धसन्निवृत्तार्थसिद्धिनिवादात्तदार्ढ्यिका-विकृतिविद्या-‘राज्यविद्या’ (“ ”
 ४-निरुद्धसन्निवृत्तार्थसिद्धिनिवादात्तदार्ढ्यिका-विकृतिविद्या-‘साध्यविद्या’ (“ ”
 ५-निरुद्धसन्निवृत्तार्थसिद्धिनिवादात्तदार्ढ्यिका-विकृतिविद्या-‘साध्यविद्या’ (“ ”
 —तैषा विकृतिविद्यापदुष्टयी साध्यवस्तुपञ्चा

- १-राज्यविद्यापदुष्टप्यनुगता-विकृतिविद्या-‘राज्यविद्या’ (योगपञ्चा उपरोहा उपरोहासप्तको योगो वा)
 २-सिद्धविद्यापदुष्टप्यनुगता-विकृतिविद्या-‘सिद्धविद्या’ (“ ”
 ३-राज्यविद्यापदुष्टप्यनुगता-विकृतिविद्या-‘राज्यविद्या’ (“ ”
 ४-साध्यविद्यापदुष्टप्यनुगता-विकृतिविद्या-‘साध्यविद्या’ (“ ”
 —तैषा विकृतिविद्यापदुष्टयी साध्यवस्तुपञ्चा

- १-राज्यविद्या-‘विद्या’-(१)-‘राज्यविद्यापदुष्टप्यनुगता’-‘योगः’
 २-सिद्धविद्या-‘विद्या’-(२)-‘सिद्धविद्यापदुष्टप्यनुगता’-‘योगः’
 ३-राज्यविद्या-‘विद्या’-(३)-‘राज्यविद्यापदुष्टप्यनुगता’-‘योगः’
 ४-साध्यविद्या-‘विद्या’-(४)-‘साध्यविद्यापदुष्टप्यनुगता’-‘योगः’

—विकृतिविद्यापदुष्टयी विकृतिविद्यापदुष्टयी

(अ)-विद्यामानपरिलेखः (१०)

१-वैराग्यहेतुबुद्धियोगानुगता-राजविद्या-वैराग्यनिरूपणा, रागद्वेषमाहोपशमना ।

—सैषा गीतायां प्रथमा विद्या ।

२-ज्ञानहेतुबुद्धियोगानुगता-विद्याविद्या-ज्ञाननिरूपणा, अविद्यालक्षणेहोपशमना ।

—सैषा गीतायां द्वितीया विद्या ।

३-ऐश्वर्यहेतुबुद्धियोगानुगता-राजविद्या-ऐश्वर्यनिरूपणा, अस्मिन्मोक्षप्रदाना ।

—सैषा गीतायां तृतीया विद्या ।

४-धर्महेतुबुद्धियोगानुगता-आर्यविद्या-धर्मनिरूपणा, अस्मिन्मोक्षोपशमना ।

—सैषा गीतायां चतुर्थी विद्या ।



१०-पूर्वखण्डोपसंहारः—

अनेक दृष्टियों से गीताप्रतिपादित विद्याचतुष्टयी, तथा बुद्धियोगचतुष्टयी का स्वरूपविरलेपक किया गया । अब इस सम्बन्ध में वे प्रश्न शेष रह जाते हैं कि, इन चारों विद्याओं के सम्बन्ध में किन किन तत्त्वों का विक्षेपण हुआ है ? चारों बुद्धियोगों में किन किन अनुष्ठानप्रकारों का प्रतिपादन हुआ है ? कौन किस बुद्धियोग का अधिकारी है ? इन्हीं शेष प्रश्नों के समाधान के लिए बुद्धियोग-में ही पाठकों के सम्मुख 'गीतासारपरीक्षाप्रसङ्ग' बुद्धियोगपरीक्षा का 'चतुरस्रबद्ध' उपस्थित होने का रहा है । प्रस्तुत पूर्वखण्ड में विद्या-पुण्य विषय बुद्धियोग का परिचय कराने की चेष्टा हुई है, बड़ी गीता का प्रतिपाद्य विषय है । आत्मविक्षेप में वैराग्यविमुक्ति से सर्वोपरि साम्प्रदायिक संघर्ष के अनुग्रह से गीता का यह तत्त्व लभ्य हो चला या । बड़ी आत्म उसी गीताचार्य श्रीमद्भगवान् के अनुग्रह से पुनः दृष्टिपातानुगामी करने का रहा है । बुद्धियोगात्मक यह अस्तिमन् किन्तु मूलनक्ष्त्र प्रदीप्त दृष्टिकोण सम्प्रदायमयक्त बत मान विद्वत्सम्मान का अनुरञ्जन करें आवश्यक न करें ? यह प्रश्न उदा से ही शेष प्रश्न का का रहा है । अतः इस सम्बन्ध में कुछ न करना ही श्रेय-कथा है । हाँ, जो वास्तव में विश्वास है श्रेयफल के अन्वेषण है, और अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए गीताशास्त्र का आश्रय लेते हैं परन्तु दृष्टिकोण अन्तर ही वेने विश्वासों का किसी लीमाप्यन्त अनुरञ्जन का लक्ष्य । इसी बुद्धियोगानुष्ठानप्रदाना के साथ प्रकरश्रवणात्मक-बुद्धियोगपरीक्षापूर्वखण्ड उपरत हुआ है ।

—गीतासामनेन योगसमाप्त्यप्युत्प्रेषो भगवान् मधुसूदनः ।

‘बुद्धियोगपरीक्षा’ नामक

तृतीय प्रकरण उपरत

३



इति-प्रकरणश्रवणात्मिका-पूर्वखण्डात्मिका बुद्धियोगपरीक्षा उपरता

ओं-सद्-सह-प्रणमः

शान्ति ! शान्ति ! शान्ति !!!



१-रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवत् 'वैधियेयात्मा'—प्रसादमधिगच्छति ॥

(स एष-विषयमात्मा)

२-उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वाभ्यो मे मतम् ।

आस्मिन् स हि 'युक्तमात्मा' मामेवानुत्तमां गतिम् ॥

—गी० ७।१८ (स एष-युक्तमात्मा) ।

३-योगिनामपि सर्वेषां मद्गतैर्नान्तरात्मना ।

भद्रान् मज्जते यो मां स मे 'युक्तमो' मतः ॥

—गी० ७।१९ (स एष-युक्तमात्मा)

—एव-एव

(क)-योगमाधपरिलेखः (३)

(१)-राजविद्यात्मक-ऐश्वर्यहेतुक्रिययोगमुद्राग्नेन साधनभूतेन-बीजात्मना-अन्तर्यामिनिविद्यात्मक-ऐश्वर्यक्रियोगात्मके मङ्गलियोगे प्रवेष्टः । तद्द्वारा च निष्कालविद्यात्मक-ऐश्वर्ययोगात्मके पुरुषयोगे अपीति । तेषां बीजात्मनः कृच्छ्रमप्य, पूर्णमुद्रितामाः ।

(२)-विद्याविद्यात्मक-ज्ञानहेतुक्रिययोगमुद्राग्नेन साधनभूतेन-बीजात्मना-अन्तर्यामिनिविद्यात्मक-ज्ञानक्रियोगात्मके मङ्गलियोगे प्रवेष्टः । तद्द्वारा च ईशपरमविद्यात्मक-ज्ञानयोगात्मके पुरुषयोगे अपीति । तेषां बीजात्मनः कृच्छ्रमप्य, पूर्णमुद्रितामाः ।

(३)-राजविद्यात्मक-ऐश्वर्यहेतुक्रिययोगमुद्राग्नेन साधनभूतेन-बीजात्मना-ईशपरमविद्यात्मक-ऐश्वर्यक्रियोगात्मके मङ्गलियोगे प्रवेष्टः । तद्द्वारा च बीजात्मनः कृच्छ्रमप्य, पूर्णमुद्रितामाः ।

(४)-आत्मविद्यात्मक-आत्महेतुक्रिययोगमुद्राग्नेन साधनभूतेन-बीजात्मना-निष्कालविद्यात्मक-आत्मक्रियोगात्मके मङ्गलियोगे प्रवेष्टः । तद्द्वारा च-शून्यात्मविद्यात्मक-आत्मयोगात्मके पुरुषयोगे अपीति । तेषां बीजात्मनः कृच्छ्रमप्य, पूर्णमुद्रितामाः ।

(अ)-विद्यामावपरिलेखः (१०)

- १-वैराग्यहेतुबुद्धियोगानुगत-राजविद्या-वैराग्यनिरूपणा, रामदेवमोक्षोपशमभा ।
—तैषा गीतायां प्रथमा विद्या ।
- २-ज्ञानहेतुबुद्धियोगानुगत-विद्यविद्या-ज्ञाननिरूपणा अविद्याध्वनमोक्षोपशमभा ।
—तैषा गीतायां द्वितीया विद्या ।
- ३-देवार्थहेतुबुद्धियोगानुगत-राजविद्या-देवार्थनिरूपणा अस्मिन्मोक्षोपशमभा ।
—तैषा गीतायां तृतीया विद्या ।
- ४-वर्त्महेतुबुद्धियोगानुगत-सारविद्या-वर्त्मनिरूपणा, अभिनिवेशोपशमभा ।
—तैषा गीतायां चतुर्थी विद्या ।



१०-पूर्वखण्डोपसंहारः—

अनेक दृष्टियों से गीताप्रतिपादित विद्याचतुष्टयी तथा बुद्धियोगचतुष्टयी का स्वस्मविश्लेषण किया गया । अब इस सम्बन्ध में वे प्रश्न होय रह जाते हैं कि इन चारों विद्याओं के सम्बन्ध में किन किन दृष्टियों का विस्तरेषण हुआ है, चारों बुद्धियोगों में किन किन अनुष्ठानप्रकारों का प्रतिपादन हुआ है, और किन बुद्धियोग का अधिकारी है ? इन्हीं प्रश्नों प्रश्नों के समाधान के लिए बुद्धियोग-प्रैमी पाठकों के सम्मुख 'गीतासारपरीक्षाक्रमक' बुद्धियोगपरीक्षा का 'उपरसंहार' उपरिपठ होने का रहा है । प्रस्तुत पूर्वखण्ड में विद्या युक्त किन बुद्धियोग का परिचय करने की चेष्टा हुई है, वही विद्या का प्रतिपादित किया है । आश्रितिक्रम से वैराग्यविवृति से सर्वोपरि साम्प्रदायिक संपर्क के अनुग्रह से गीता का यह तत्त्व सत्य हो चला था । वही आत्म उसी गीताचार्य श्रीमधुसूदन के अनुग्रह से पुनः दृष्टिप्राप्तानुगामी करने का रहा है । बुद्धियोगात्मक यह अतिमूल्य किन्तु मूलतः प्रतीय दृष्टिकोण सम्प्रदायमत्त बत मान विद्वत्समाज का अनुष्ठान करे अथवा न करे ! यह प्रश्न क्या से ही होय प्रश्न बना का रहा है । अतः इस सम्बन्ध में कुछ न करना ही भेदा-सदा है । हाँ, जो वास्तव में विद्वान् हैं वेदाङ्गना के अन्वेषक हैं, और अपने इस उद्देश की पूर्ति के लिए गीताशास्त्र का आश्रय लेते हैं प्रस्तुत दृष्टिकोण आश्रय ही नैवे विद्वान्ओं का किसी भीमाप्यर्णत अनुष्ठान का लक्षण । इसी बुद्धियोगानुष्ठानक्रमना के साथ प्रकरखण्डात्मक-बुद्धियोगपरीक्षापूर्वखण्ड उपरत होता है ।

—श्रीमधुसूदनेन योगासमाप्त्ययुक्तोपशमोपशममनुष्ठानः—

'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक

तृतीय प्रकरण उपरत

३



इति-प्रकरणपातिमका-पूर्वखण्डात्मिका बुद्धियोगपरीक्षा उपरता

ओं-तत्-सद्-ब्रह्म नमः

शान्ति ! शान्तिः ॥ शान्ति ॥

श्री

प्रकरणत्रयात्मक-‘बुद्धियोगपरीक्षा’ नामक

पूर्वखण्ड का

‘बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार’ नामक

तृतीय प्रकरण उपरत

श्री

इति-गीताचिन्तनभाष्यभूमिकान्तगत-
सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक-तृतीयखण्डानुगता
'ग' क्खर विगात्मिका

बुद्धियोगपरीक्षा (पूर्वखण्डात्मिका)

उपरता

प्रीयतामनया बुद्धियोगनिष्ठो योगेश्वरः—

मगवान् मधुप्रज्ञः

इति शम्

राष्ट्रस्थानवैदिक-साहित्य-संस्थानअयपुर' के तत्त्वबोधन से अनुप्राणित
एव प्राच्य वैदिक-साहित्य की ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा परिभाषाओं में समन्वित
राष्ट्रभाषा हिन्दी में उपनिषद्

प्रकाशित-ग्रन्थों की सूची

[निष्ठा-मार्गशास्त्रग्रन्था-आह्वारों भाषाया]

ग्रन्थनाम	पृष्ठसंख्या	मूल्य
१—रातपथब्राह्मण हिन्दी-विज्ञानभाष्य-प्रथमकर्ण	६	१)
२—	४	१)
३—	४६०	१)
४—	४७	१९)
५—	१५	७)
६—रातपथभाष्य-वैद्यार्थी की विषयसूची	१०	२)
७—ईशोपनिषद् हिन्दी-विज्ञानभाष्य प्रथमखण्ड (१)	४	१९)
८—	५	१९)
९—मार्गशास्त्रभाष्य हिन्दी-विज्ञानभाष्य	६	१)
१०—गिरिविज्ञानभाष्यभूमिका-अहिरक्षपरीक्षा	५	१९)
११—	५	१९)
१२—	६	१५)
१३—	५	१५)
१४—	७	२)
१५—उपनिषदविज्ञानभाष्यभूमिका-प्रथमखण्ड (१)	५	१९)
१६—उपनिषदविज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्ड (२)	५	१५)
१७—	५	१५)
१८—आश्वविज्ञान-आरामविज्ञानोपनिषद्-प्रथमखण्ड (१)	५५	२)
१९—	६	१५)
२०—मातृवी हिन्दू-मानव और जलवी मनुष्यकृत-नयमखण्ड (१)	५५	—

विशदित रूप में प्रकाशित है। पुनः प्रकाशित होने पर ही वे उपलब्ध हो सकेंगे।